समाजशास्त्र परिचय

समाजशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का प्रामाणिक विश्लेषण

[भारतीय विश्वविद्यालयों के नवीनतम स्वीकृत पाठ्य-क्रमानुसार]

रामपालसिंह गौड़

प्रवक्ता समाजशास्त्र विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

रतन प्रकाशन मन्दिर

पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

प्रधान कार्यालय

अस्पताल मार्ग आगरा-3

प्रथम संस्करण १९५८
द्वितीय संशोधित संस्करण १९६०
तृतीय परिवर्द्धित संस्करण १९६६

मूल्य

बारह रुपये पचास पैसे मात्र

प्रकाशक

रतन प्रकाशन मंदिर
अस्पताल मार्ग, आगरा ३

मुद्रक

पदमचन्द जैन
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस
चन्द्रशेखर आजाद मार्ग आगरा ३

शाखाएँ

आगरा २	न्यू मार्केट राजामण्डी
दिल्ली ६	१६६३ नई सड़क, फर्स्ट फ्लोर पापड़ वाला कोठी
गोरखपुर	मोहल्ला मुफ्तीपुर
इन्दौर	गोराकुण्ड
जयपुर	धामानी मार्केट चौड़ा रास्ता
कानपुर	तिलक हॉल लेन, मेस्टन रोड
मेरठ	वेस्टर्न कचहरी रोड
पटना ४	खजांची रोड

पूजनीय माता पिता

को

सादर समर्पित

तृतीय संस्करण की भूमिका

'समाजशास्त्र परिचय' का तृतीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष है। इस पुस्तक के प्रथम दो संस्करणों और उनकी कई आवृत्तियों की हाथों हाथ बिक्री हो गई। विश्वविद्यालयों और कालेजों तथा उच्चतर विद्यापीठों के स्नातकीय अथवा समकक्ष कक्षाओं के विद्यार्थियों और साधारण पाठकों में यह पुस्तक अत्यन्त लोकप्रिय हुई। अनेक सुविज्ञ पाठकों, विषय के अध्यापकों तथा समालोचकों ने बहुत प्रशंसापूर्ण समीक्षाएँ अथवा सम्मतियाँ भेजीं। प्रायः प्रत्येक वर्ग ने पुस्तक का ऐसा स्वागत किया जो सम्भवतः अभी तक इस विषय पर प्रकाशित किसी भी रचना का नहीं हुआ। पुस्तक के उच्च स्तर, विषय वस्तु के प्रामाणिक प्रतिपादन और सरल पारिभाषिक हिन्दी में लिखे होने के कारण भारत के विश्वविद्यालयों और विद्यापीठों में इसे एक स्वीकृत पाठ्यपुस्तक के रूप में मान्यता मिली है। प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने पर पुस्तक में संशोधन-सुधार के कई उपयोगी सुझाव प्राप्त हुए थे जिन्हें द्वितीय संस्करण में सम्मिलित कर लिया गया था। पुनः जो कई रचनात्मक सुझाव आये हैं उनके ऊपर भी विचार किया और तीसरे संस्करण में प्रायः सभी पुराने अध्यायों में पर्याप्त सुधार किया गया है। कई बिल्कुल नए अध्याय जोड़ दिए गए हैं। नए अध्याय हैं: पशु और मानव समाज, सामाजिक परिस्थितिशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था के स्तर, सामाजिक विभिन्नीकरण, विज्ञान, प्रविधि एवं समाज तथा सामाजीकरण। पुस्तक में उपरोक्त सुधारों और परिवर्द्धनों ने इसे स्नातक कक्षाओं और साधारण पाठकों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक बना दिया है। आशा है अब हमारे पाठक 'समाजशास्त्र परिचय' को समाजशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की एक प्रामाणिक रचना के रूप में निस्सन्देह स्वीकार कर सकेंगे। हमें विश्वास है पाठक सदा की भाँति अपने बहुमूल्य रचनात्मक सुझावों तथा सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रियाओं से हमारा उत्साह बढ़ाते रहेंगे।

प्रस्तुत संस्करण में सुधार करने के लिए जिन महानुभावों के सुझाव मिले हम उनके बड़े आभारी हैं। पाण्डुलिपि तैयार करने तथा उसमें समय-समय पर सुधार हेतु सुझाव देने के लिये हम अपने कई विद्यार्थियों तथा सहयोगियों के हृदय से आभारी हैं। अन्त में प्रकाशक श्री पद्मचन्द जैन के प्रति भी आभार प्रकट करना जरूरी है क्योंकि इन्होंने प्रथम दो संस्करणों की बिक्री एवं विज्ञापन की सुयोग्य व्यवस्था करके हमारा उत्साह बढ़ाया है।

समाजशास्त्र विभाग,
गोरखपुर
१० अप्रैल १९६६

रामपालसिंह गौड़

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक के इस द्वितीय संशोधित संस्करण को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ा हर्ष है। लगभग डेढ़ वर्ष में प्रथम संस्करण की समस्त प्रतियों का बिक जाना पुस्तक की उपयोगिता का सूचक है। लेखक के लिए सबसे उत्साहवर्द्धक तो यह बात रही है कि इस पुस्तक के उच्च स्तर विषय के प्रतिपादन और प्रामाणिकता की प्रशंसा अनेक विद्वानों और समालोचकों ने की है। देश के हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में इस पाठ्य-पुस्तक तथा सहायक पुस्तक के रूप में पढ़ाया जा रहा है। आशा है यह संशोधित संस्करण पाठकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

लेखक उन सभी सहृदय पाठकों, विद्वानों और समालोचकों के प्रति हृदय से आभारी है जिन्होंने पुस्तक में संशोधन और सुधार करने के लिये बहुमूल्य सुझाव भेजे हैं और आशा करता है कि उसे इस प्रकार का सहयोग और सहायता भविष्य में भी मिलती रहेगी।

१५ सितम्बर १९६० ई०

रामपाल सिंह

प्रथम संस्करण की भूमिका

भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में सर्वोच्च परीक्षाओं के लिए अब समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्वीकृत है। जनसाधारण, समाज-सुधारकों, सामाजिक शिक्षा के संगठनकर्ताओं तथा नियोजन अधिकारियों की दिलचस्पी भी इस विषय में अधिकाधिक बढ़ रही है। इस कारण, हिन्दी भाषा में लिखी समाजशास्त्र की पुस्तकों की दिनों दिन माँग बढ़ रही है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तों तथा उसके अन्य विषयों पर जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे अत्यधिक थोड़ी हैं और नया प्रयास होने के कारण न्यूनाधिक दोषपूर्ण हैं। फलतः विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों की आवश्यकताओं की यथेष्ट पूर्ति नहीं कर पातीं। इस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से मैंने प्रस्तुत पुस्तक लिखी है।

प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्र के मूल तत्वों अथवा सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसलिए इसे 'समाजशास्त्र परिचय' की संज्ञा दी गई है। इसमें विशेष कर आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० (प्रथम वर्ष) कक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में प्रथम प्रश्नपत्र के अनुसार सामग्री का समावेश किया गया है। द्वितीय प्रश्नपत्र के लिये इस पुस्तक का द्वितीय भाग उपलब्ध है। "समाजशास्त्र परिचय' के दोनों भागों में सम्मिलित सामग्री समाजशास्त्र के सिद्धान्तों (Principles of Sociology) का आद्योपान्त विवेचन है इसलिये यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रथ का उद्देश्य पाठकों को समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तो से परिचित कराना है। यदि यह ग्रन्थ पाठको म विषय का यथार्थ दृष्टिकोण तथा उसके प्रति रुचि उत्पन्न कर सकेगा तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

पाठ्य पुस्तक लिखने मे लेखक को कई सीमाओं के अन्दर रहना पडता है। अस्तु इस पुस्तक की रचना म मैंने निम्न बातो पर विशेष ध्यान दिया है —

(१) पुस्तक की समस्त सामग्री प्रमाणित तथा वज्ञानिक हो और उसके विश्लेषण म सवत्र समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण बना रहे।

(२) विषय-वस्तु को तार्किक क्रम म रख कर प्रत्येक विषय का यथावश्यक विस्तार से विश्लेषण हो।

(३) समस्त सामग्री का विश्लेषण भारतीय सन्दभ म किया जाए। विदेशी समाजो से उदाहरण केवल तुलना की दृष्टि से लिए जाए।

(४) प्रामाणिकता लाने के लिय विभिन विद्वानो क विचारो की समीक्षा तो की जाए किन्तु फिर भी सामग्री क समग्र विश्लेषण म आवश्यक सरलता बनी रह।

(५) विषय का इतना सरल और सुबोध विवेचन हो जो इस शास्त्र के सशक्त और प्रगतिशील विकास म सहायक हो।

मैं अपने प्रयत्न म कहाँ तक सफल हुआ हू इसका निर्णय तो सहृदय पाठक तथा विज्ञ समालोचक ही करेंगे। मेरा उनसे नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तक की त्रुटियो की ओर ध्यान आकृष्ट करते रह और अपने रचनात्मक सुझाव मुझे भेजें जिनका मैं साभार स्वागत करूगा।

पुस्तक में मौलिकता कही भी नही मिलेगी। यह सम्पूर्ण कृति विभिन विद्वानो के विचारो पर आधारित है। हाँ सामग्री को प्रस्तुत करने के ढग मे न्यूनाधिक मौलिकता अवश्य मिलगी।

पुस्तक के लिखने मे जिन विद्वानो की कृतियो अथवा विचारो स मैंने सामग्री तथा पथ प्रदर्शन प्राप्त किया है उनका मैं हृदय से आभारी हू। व्यक्तिगत विद्वानो के प्रति आभार प्रदर्शन पुस्तक मे यथास्थान पृष्ठतल टिप्पणियाँ देकर भी किया गया है। अन्त मे जिन सज्जनो ने इस विनम्र प्रयास के लिये प्रेरणा अथवा सहयोग दिया है, मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

आगरा — रामपालसिंह

१५ नवम्बर, १९५७ ई०

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय		पृष्ठ
१	समाजशास्त्र क्या है ?	३
२	समाजशास्त्र एवं अन्य विज्ञान	३१
३	समाजशास्त्र की अध्ययन विधियाँ	४८
४	प्राथमिक परिभाषाएँ	६२

द्वितीय खण्ड

५	सामाजिक जीवन के कारक	८९
६	मानव और पशु समाज	१००
७	समाज और पर्यावरण	१११
८	भौगोलिक पर्यावरण	११९
९	संस्कृति और सभ्यता	१२६
१०	सम्पूर्ण पर्यावरण	१८०
११	वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण	१९४
१२	ग्रामीण और नगरीय जीवन	२०८
१३	सामाजिक परिस्थितिशास्त्र	२४१

तृतीय खण्ड

१४	सामाजिक संगठन या व्यवस्था के रूप	२५३
१५	सामाजिक व्यवस्था के स्तर	२६४
१६	सामाजिक विभिन्नीकरण	२७७
१७	सामाजिक समूह	२८५
१८	समुदाय एवं राष्ट्र	३१५
१९	प्रजातिक एवं जातीय समूह	३३२
२०	सामाजिक स्तरण—जाति और वर्ग	३५८
२१	सामूहिक व्यवहार (भीड़ श्रोतागण, जनता)	३९१

चतुर्थ खण्ड

२२	सामाजिक संस्थाएँ	४१९

ध्याय		पृष्ट
२३	परिवार एव विवाह	४३८
२४	ग्रार्थिक एव राजनतिक सस्याएँ	४६१
२५	धार्मिक एव सास्कृतिक सस्थाए	५२१
२६	विनान प्रविधि एव समाज	५३७

पञ्चम खण्ड

२७	व्यक्ति ग्रौर समाज	५४७
२८	सामाजीकरण	५६०
२९	सामाजिक ग्रन्त क्रिया	५८६
३०	सामाजिक नियन्त्रण	६२०
३१	सामाजिक परिवतन	६४४
३२	सामाजिक विकास एव प्रगति	६७३
३३	सामाजिक विगठन ग्रौर पुनगठन	६९१

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश

१ समाजशास्त्र क्या है ?
२ समाजशास्त्र एवं अन्य विज्ञान
३ समाजशास्त्र की अध्ययन रीतियाँ
४ प्राथमिक परिभाषाएँ

१

समाजशास्त्र क्या है ?

विषय-प्रवेश

प्रारम्भ से ही मानव-समाज के समक्ष दो प्रकार की समस्याएँ रही हैं। पहले प्रकार की वे समस्याएँ हैं जो मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्ध रखती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन प्रकृति से मिलते हैं। अतएव समाज को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए प्राकृतिक साधनों को जुटाने में जिन समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता रहा है उन्हें हम प्राकृतिक समस्याएँ कह सकते हैं। दूसरे प्रकार की समस्याएँ सामाजिक हैं। इनका क्षेत्र स्वयं मनुष्य का समाज है। समाज सहवासी मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के हरेक प्रकार और अंगों की एक व्यवस्था (System) होती है। यह व्यवस्था गत्यात्मक (dynamic) और विकासशील रही है। इसके विभिन्न अंगों को एकसूत्र (integrated) और स्थिर करने की समस्याएँ हमेशा से रही हैं। मनुष्य इन प्राकृतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास भी बराबर करता रहा है। किन्तु इन दोनों प्रकार की समस्याओं का स्पष्ट समाधान तभी सम्भव हो सकता था जब प्राकृतिक और सामाजिक तथ्यों और घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में निश्चित और पर्याप्त ज्ञान हो। प्रारम्भ में मनुष्य इन समस्याओं के समाधान का प्रयास अन्तर्ज्ञान (intuition) तथा सामान्य बुद्धि के आधार पर करता था। प्रधानतया वह परीक्षण एवं त्रुटि की विधि को अपनाता था। इस विधि से एक समस्या का जो भी हल (समाधान) मिलता उसको दूसरे समाज या परिस्थिति के मनुष्य अपना लेते थे। परीक्षण और त्रुटि की विधि के प्रयोग का क्रम एक समाज से दूसरे समाज में चलता रहता। कई बार इस विधि के निरन्तर प्रयोग से कुछ समस्याओं का समाधान भी मिल जाता था।

ज्यों ज्यों मनुष्य की सोचने की शक्ति का विकास होता गया वह अपनी समस्याओं का समाधान नए-नए तरीकों द्वारा ढूँढने लगा। शायद प्राकृतिक तथा सामाजिक तथ्यों और घटनाओं—प्रकृति और समाज के अस्तित्व और निरन्तर परिवर्तनों—के कारण ढूँढने के प्रयास में ही उसने ईश्वर की कल्पना की हो। उसके चारों ओर प्रकृति में जो कुछ भी था और हो रहा था उसका एक मात्र कारण ईश्वर के कार्य समझे जाने लगे। इस तरह धर्म मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र बनकर आया। धार्मिक पूजा-पाठ करके वह अपनी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करने

लगा। किन्तु धर्म भी उसकी प्रत्येक समस्या का यथेष्ट रूप से नहीं सुलझा पाता था। इसलिये उसने समाज और प्रकृति में होने वाली घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध (cause and effect relation) जानने के लिये जादू को अपनाया। जादू के अन्तर्गत विविध टोने-टोटका की क्रियाओं से वह अपने प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण (environments) को प्रभावित करने में तल्लीन हो गया। कई बार उसे मनचाहा परिणाम प्राप्त हो जाता था और जब कभी जादू से उसका मन्तव्य पूरा न हो पाता तो वह अपनी क्रिया में ही कहीं गड़बड़ी मान बैठता। पर जादू का क्रम भी आखिर में मनुष्य को सन्तुष्ट न कर पाया। वह जादू से अधिक प्रभावशाली विधि की खोज में चल निकला। इस खोज के दौरान में उसका मस्तिष्क बहुत सक्रिय हो गया। धर्म की शक्ति और सत्ता को फिर एक बार बहुत बल मिला। समाज और प्रकृति की घटनाओं के बारे में मनुष्य ने अधिक सम्पन्न कल्पना शक्ति तथा तर्क-बुद्धि से काम लिया। गंभीर विचारों और सिद्धान्तों का विकास हुआ। यह युग दर्शन (Philosophy) का था। किन्तु दार्शनिक विचार और तार्किक सिद्धान्त (Principles of Logic) भी मनुष्य को उसके चारों ओर होने वाली घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध पूर्णतया नहीं बता पाये। अतएव मनुष्य फिर भगीरथ प्रयत्न करने लगा। इस बार उसने जिस ज्ञान को विकसित किया वह उसके चारों ओर प्रकृति के तथ्यों और घटनाओं में कार्य कारण के सम्बन्ध को समझाने में समर्थ सिद्ध होने लगा। अपनी अभूतपूर्व सफलता से प्रोत्साहित होकर उसने प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयोग की गई इस विधि का उपयोग समाज के अध्ययन में भी किया। उसे इस क्षेत्र में भी सफलता मिली। इस सफल विधि से जिस ज्ञान भण्डार का विकास हुआ है उसे विज्ञान (Science) कहा जाता है। विज्ञान का विकास मनुष्य अनवरत, अबाध गति से करता जा रहा है। उसे विश्वास है कि विज्ञान के विकास और प्रगति से ही वह अपनी नित नई प्राकृतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हो सकेगा। तभी वह अपना और अपने समाज का कल्याण कर सकेगा।

वैज्ञानिक विधि का विकास

आधुनिक विज्ञान के विकास का प्रथम चरण १५वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था। इस समय से मनुष्य ने पहले प्राकृतिक समस्याओं का समाधान वास्तविक प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन से करना चाहा था। यह अध्ययन कोरी कल्पनाओं और तर्कों पर आधारित नहीं था। प्राकृतिक तथ्यों और घटनाओं के वास्तविक अध्ययन के लिये विविध विज्ञानों का उद्भव हुआ। इन विज्ञानों ने तीन शताब्दियों में ही महत्त्वपूर्ण उन्नति कर ली थी। इनकी सहायता से मनुष्य ने अपनी अनेक प्राकृतिक समस्याओं का समाधान कर डाला था। प्रकृति के पदार्थों, दशाओं और शक्तियों—संक्षेप में, प्राकृतिक साधनों का शोषण कर मनुष्य एक शानदार सभ्यता के [illegible] में जुट गया था। इस सभ्यता में हुई उन्नति से मनुष्य प्रकृति में कुछ न कुछ

संशोधन और परिवर्तन कर डालता था। वह प्रकृति का आंशिक नियन्त्रण कर चुका था। उसकी महान सफलताओं का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि प्रगति की उसकी धारणा दृढ़ हो गई। १९वीं शताब्दी तक यह धारणा इतनी प्रबल हो गई थी कि मनुष्य को विश्वास हो गया था कि समाज की प्रगति निर्दिष्ट आदर्शों और लक्ष्यों के अनुसार और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा की जा सकती है। समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ इसी काल में हुआ। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं (aspects) के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, विधिशास्त्र, आचारशास्त्र, आदि सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) का जन्म और विकास हुआ।

सभ्यता की उन्नति के जहाँ एक ओर मनुष्य अधिकाधिक प्राकृतिक समस्याओं का मुकाबला सब और विश्वास से करता और प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ाता जाता था, दूसरी ओर उसका समाज विकसित हो रहा था। समाज के विकास की गति पहले की अपेक्षा बहुत तीव्र हो गयी और इसलिए प्रचलित संस्थाओं, विचारों और आदर्शों में परिवर्तन भी बहुत तेजी से हो रहा था। इससे अनेक सामाजिक समस्यायें पैदा हो गई जो प्राचीन समस्याओं की अपेक्षा अधिक गम्भीर और जटिल थीं। इस परिस्थिति की सामाजिक आवश्यकताओं ने मनुष्य को सामाजिक विज्ञानों की उन्नति करने के लिए बाध्य किया। क्योंकि उसके सामने इन गम्भीर और जटिल समस्याओं का सुलझाना एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था।

समाजशास्त्र का जन्म और विकास

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों ने मनुष्य के व्यवहारों और सामाजिक सम्बन्धों तथा उनसे निर्मित रचनाओं (structures) तथा व्यवस्थाओं (systems) के विभिन्न पक्षों के विशेष अध्ययन को अपना उद्देश्य मान लिया। अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक व्यवहारों और उनकी उपजों का अध्ययन करता था। राज्यशास्त्र (Political Science) उन सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता था जो राज्य और सरकार द्वारा नियन्त्रित होते थे। मानवशास्त्र (Anthropology) ने आदिम समाजों (primitive societies) के क्षेत्र को चुना। आचारशास्त्र (Ethics) अच्छे तथा बुरे आचारों के अन्तर को समझकर समाज को नैतिक मार्ग पर चलने का सुझाव देता था। इसी प्रकार विधानशास्त्र (Jurisprudence), समाज-मनोविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के विशिष्ट पहलुओं (particular aspects) के विशेष अध्ययन में संलग्न हो गये। किन्तु इन एकांगी (one-sided) अध्ययनों से ऐसे ज्ञान का विकास नहीं हो पाया जो समग्र समाज की यथार्थ जानकारी प्रस्तुत कर सके। सम्पूर्ण समाज के सच्चे चित्र को खींचने में यह ज्ञान अपर्याप्त था। इस अभाव को कई समाज-विचारकों ने समझ लिया था। इनमें से फ्रांसीसी विद्वान अगस्त कोम्ट (August Comte 1798–1857 A. D.) अग्रणी था। उसने समाज के समग्र रूप का

वास्तविक अध्ययन करने के लिये एक विज्ञान की रूप रेखा तयार की और उसे अपने जीवन काल मे विकसित भी किया। इस विज्ञान को वह समाजशास्त्र (Sociology) कहता था। अतएव अगस्त कोम्त समाजशास्त्र का पिता कहा जाता है।

कोम्त ने अपनी पुस्तक *"Cours de PositivePhilosphic"* म जिस समाज शास्त्र की रूप रेखा प्रस्तुत की थी उसका कम या अधिक संशोधना के साथ, विकास उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म होता रहा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ मे भी विकास की गति कुछ अधिक तीव्र नही हो पाई। विशेषकर, प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् इस विज्ञान की व्यापक और तीव्र उन्नति हुई। वतमान समय म यह सामाजिक विज्ञान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसकी उन्नति और प्रसार के लिय हरक सभ्य राष्ट्र प्रयत्नशील है।

समाजशास्त्र के शशव काल म उसका पालन पोषण फ्रास के दुरखीम (Durkheim), लेप्ले (Le Play), डिडरो (Diderot), रूसा (Rousseau) मान्टेन (Montaign), ह्यूबर्ट (Hubert), टार्ड (G Tarde) हाल-बाक्स (Halbwachs) और मास (Mauss) के द्वारा म हुआ। मिल (Mill), बकल (Buckle), स्पेंसर (Spencer) ने ब्रिटेन मे समाजशास्त्र का प्रारम्भिक विकास किया। बाद के विद्वाना मे प्रमुख पट्रिक गेडे (Patrick Geddes), चार्ल्स बूथ (Charles Booth) हाबहाउस (Hobhouse) हाब्सन (Hobson) राबटसन् (Robertson) ग्राहम वालास् (Graham Wallas) वेस्टरमार्क (Westermarck), मरेट (Marret), कार-साण्डस (Carr Saunders) जिन्सबग (Ginsberg) और मनहीम (Mannheim) है। जमन समाजशास्त्रिया म स प्रमुख ये हैं —टानीज (Tonnies) रजल (Ratzel), मार्क स (Marx), हेगेल (Hegel) डिल्थे (Dilthey) मक्स वेबर (Max Weber) वीरकात (Vierkandt) जाज सिमल (George Simmel) और शेलर (Scheler)। फ्रास, ब्रिटेन तथा जमनी और अन्य यूरोपीय देशा म जिस समाजशास्त्र का विकास हुआ है उसे यूरोपीय समाजशास्त्र (European Sociology) की सज्ञा दी जाती है। अमरीका और रूस में इससे भिन्न समाजशास्त्र का विकास हुआ। अमरीका म तो समाजशास्त्र की इतनी अधिक उन्नति हुई है कि कई बार समाजशास्त्र को लाग अमरीकन विज्ञान (American Science) कह उठते हैं। लेस्टर वाड (Lester Ward), स्माल (Small), जनिकी (Znaniecki), गिडिग्स (Giddings), रॉस (Ross), पाक और बर्गेस (Park and Burgess), ओडम (Odum), सोरोकिन (Sorokin) जिमरमन (Zimmerman), पासन्स (Parsons), मकाइवर (MacIver) आगबन (Ogburn), हाउस (House), लुण्डबग (Lundberg), मटन (R Merton), डेविस (K Davis) तथा पालिन यग (Pauline Young) प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री हैं। इसी प्रकार रूस इटली, स्वीडन, दक्षिणी अमरीका चीन, जापान और भारत के समाजशास्त्रीय अध्ययन म अनेक विद्वाना का विशेष योगदान

रहा है। भारत में सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन प्रो० पैट्रिक गेडिस के नेतृत्व में बम्बई विश्वविद्यालय में १९१९ ई० में प्रारम्भ हुआ था। कालान्तर में यह विज्ञान देश के अन्य प्रमुख विश्वविद्यालयों जैसे कलकत्ता और लखनऊ में पढ़ाया जाने लगा। १९४७ ई० के पश्चात् तो यह विज्ञान भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाया जाने लगा। अनेक संस्थाओं में समाजशास्त्रीय शोध (Sociological Research) का कार्य हो रहा था तथा कई विश्वविद्यालयों के विभागों या विद्यापीठों में व्यावहारिक समाजशास्त्र (Applied Sociology) तथा समाज कार्य (Social Work) की शिक्षा दी जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 'आर्थिक और सामाजिक समिति" (Economic and Social Committee) के तत्वावधान में संसार के कई देशों में महत्वपूर्ण सामाजिक अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। संक्षेप में समाजशास्त्र का विकास किसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय बन गया है। इसके साहित्य का भण्डार बड़ी तेजी से समृद्ध हो रहा है।

परन्तु समाजशास्त्र को अभी भी एक प्रौढ़ सामाजिक विज्ञान बनने में काफी अवधि और प्रयत्नों की आवश्यकता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं जैसे इस विज्ञान ने शीघ्र ही (केवल १०० वर्षों में) अपनी शैशवावस्था पार कर ली है वैसे ही उपयुक्त काल में यह एक प्रौढ़ विज्ञान बन सकेगा। किसी विज्ञान की सतत् विकास-शीलता उसकी आन्तरिक शक्ति और उपादेयता की सूचक है।

समाजशास्त्र की आवश्यकता

वर्तमान समय में सामाजिक विज्ञानों—विशेषकर समाजशास्त्र की उन्नति की अत्यधिक आवश्यकता है। क्योंकि जहाँ प्राकृतिक पर्यावरण की शक्तियों पर मनुष्य का अधिक नियन्त्रण हो गया है और उस नियन्त्रण में वृद्धि होने की स्पष्ट सम्भावना है वहाँ उसका समाज उसके लिए एक भयानक समस्या बन बैठा है। तीव्र सामाजिक उन्नति और परिवर्तन से उसका सामाजिक पर्यावरण बहुत अधिक जटिल हो गया है। जिन सामाजिक शक्तियों या घटनाओं पर वह काबू पाने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है वे सभी स्वयं उसके द्वारा उत्पन्न हुई हैं। शासन सम्बन्धी तथा आर्थिक समस्याएँ निर्धनता, अपराध पतन और युद्ध कुछ ऐसी ही भीषण समस्याएँ हैं। ये आधुनिक मनुष्य को चुनौती दे रही हैं। हजारों सालों से मनुष्य प्रथाओं परम्पराओं तथा संस्थाओं का निर्माण करता आ रहा है। जनतन्त्र, विज्ञान सभाएँ पूँजीवाद समाजवाद और साम्यवाद की धार्मिक संस्थाएँ, एक विवाही परिवार, व्यावसायिक वर्ग अति उदार संस्कृतियाँ, धार्मिक संगठन सभी को मनुष्य ने सृजन किया है। इन्हें पृथ्वी पर मनुष्य के समाज में कोई दैवी शक्तियाँ नहीं लाईं। गाँवों से भारी संख्या में निष्क्रमण, शहरी जीवन के घृणित रूप—वेश्यावृत्ति, गरीबी भिक्षावृत्ति बाल अपराध, नृशंस अपराध, साम्प्रदायिक तथा प्रजातीय संघर्ष, विचारधाराओं के प्रचार के लिए बर्बर अत्याचार और दमन, राष्ट्रों में विकराल युद्ध तथा मानव

का पतन—य सब हमारे आधुनिक सभ्य समाज के लक्षण हैं। इस समाज की सभी बुनियादी (basic) संस्थाओं में इतना परिवर्तन हो रहा है कि मनुष्य बुरी तरह घबड़ा रहा है। व्यक्ति के चारों ओर समस्याएँ तथा प्रतिकूलताएँ जमघट लगाये हैं। मनुष्य ने जिस सामाजिक संगठन का निर्माण किया है शायद ही कभी पहले उसके लिए सामूहिक चेतन नियोजन किया हो।

चेतन नियोजन के अभाव का परिणाम बहुत दुःखदायी हुआ है। समाज के तत्त्वों में परस्पर इतनी प्रतिकूलता है कि वह अत्यन्त असुरक्षित और अस्थिर हो चुका है। मनुष्य की छोटी सी भी भूल उसकी गौरवमयी सभ्यता को अत्यल्प समय में नष्ट कर सकती है। इसलिए मनुष्य को स्वनिर्मित सामाजिक अस्तव्यस्तता (chaos) को ठीक करने के लिए विचार युक्त प्रयत्न करने चाहिए। समय की यही पुकार है। आधुनिक मनुष्य तथा उसकी सन्तान के लिए महान् कार्य सामाजिक संसार को समझना और उसका नियन्त्रण करना है जैसे कि अतीत की पीढ़ियों ने प्राकृतिक संसार को समझना और नियन्त्रण में लाना सीख लिया है।[1]

आधुनिक समाजशास्त्र का इतिहास केवल सौ वर्षों की संक्षिप्त अवधि का इतिहास है। इतनी ही अवधि में इस विज्ञान के अध्ययन की आशातीत उन्नति हुई है। प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१८) के पश्चात् तो समाजशास्त्र के अध्ययन को इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया है कि सभी सभ्य देशों में बड़ी तत्परता से इस शास्त्र की उन्नति की जा रही है। रूस द्वारा प्रचारित आर्थिक नियोजन की धारणा अब विस्तृत हो गई है। सर्वांगीण नियोजन को प्रगतिशील देशों ने सामाजिक कल्याण और समृद्धि प्राप्त करने के लिए एकमात्र प्रविधि (technique) स्वीकार कर लिया है। सर्वांगीण नियोजन का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग सामाजिक नियोजन है। सामाजिक नियोजन की सफलता तभी सम्भव हो सकती है जब उसके लक्ष्यों तथा नीतियों का निर्धारण सही सामाजिक तथ्यों पर आधारित हो। सामाजिक तथ्यों की सही जानकारी के लिए समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करना जरूरी है। इस आवश्यकता की पूर्ति समाजशास्त्र ही कर सकता है। यही कारण है कि समाजशास्त्र की उन्नति करने में उन्नत देश बड़ा तत्परता दिखा रहे हैं। समाज की उन्नति या मानव कल्याण के लिए हर प्रयत्न का आधार समाजशास्त्रीय ज्ञान होना चाहिए।

जो कुछ अभी तक लिखा गया है शायद उससे हमारे पाठकों को यह भ्रम हो गया हो कि समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता आधुनिक समाजों को ही प्रतीत हुई और अतीत में ऐसी आवश्यकता कभी नहीं हुई। सच तो यह है कि प्रारम्भ से ही मानव-समाज अपनी समस्याओं के बारे में सोचता रहा है। प्राचीन सभ्यताओं के साहित्य और इतिहास में उसके अनेक साक्ष्य मिलते हैं। चीन, भारत, रोम, यूनान,

1 Louis Wirth *Responsibility of Social Sciences* in Annals of the American Academy of Political and Social Science 143 151 Jan 1947 p 249

मिस्र आदि प्राचीन सभ्यताओं में समाज के तत्वों तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने के गम्भीर प्रयत्न हुए थे। इस बात के साक्ष्य भी मिलते हैं कि इन सभ्यताओं में मनुष्य ने अपने समाज को बदलने तथा उस पर नियन्त्रण पाने के भी महत्त्वपूर्ण प्रयास किए थे। उदाहरणार्थ भारत के धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों (Theologies and Codes) में समाजशास्त्रीय ज्ञान का बहुमूल्य भंडार है। हाँ, हम यह दावा नहीं करते कि इस ज्ञान का विकास आधुनिक वैज्ञानिक विधि द्वारा हुआ था।

समाजशास्त्र की परिभाषा

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। 'Sociology' का अर्थ है (Socio=समाज का logos=विज्ञान)। आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार समाजशास्त्र का अर्थ है "मानव समाज के विकास, प्रकृति और नियमों का विज्ञान।"[1] नीचे हम समाजशास्त्र की कुछ प्रसिद्ध परिभाषाओं को दे रहे हैं :

१. 'यह समाज का उसके समग्रत्व में व्यवस्थित वर्णन और व्याख्या है।'
—एफ० एच० गिडिंग्ज[2]

२. समाजशास्त्र मनुष्यों के अन्तःसम्बन्धों के रूपों का विज्ञान है।
—जॉर्ज सिमल[3]

३. समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है। —दुर्खीम[4]

४. समाज में रहने वाले व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र है।
—गिलिन और गिलिन[5]

५. समाजशास्त्र मनुष्यों की अन्तःक्रियाओं और अन्तःसम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।'
—मॉरिस गिन्सबर्ग[6]

६. 'सामाजिक सम्बन्ध मात्र समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।
—मैकाइवर और पेज[7]

---

1 Science of the development, nature and laws of human society
—Oxford Concise Dictionary

2. It is the systematic description and explanation of human society as a whole
—F H Giddings

3 Sociology is the science of the forms of human interactions
—George Simmel

4 "Sociology is the science of collective representations
—E Durkheim

5 "Sociology— — is the study of interactions of human beings living in society
—Gillin and Gillin

6 "Sociology is the study of human interactions, and interrelations their conditions and consequences
—Morris Ginsberg

7 "The subject matter of sociology is social relationships as such."
—MacIver and Page

७ "मनुष्य के सामाजिक जीवन तथा उसके और संस्कृति प्राकृतिक पर्यावरण, वंशानुक्रमण तथा समूह के सम्बन्ध के अध्ययन को समाजशास्त्र कहते हैं।"
——ऑगबर्न और निमकाफ[1]

८ 'समाजशास्त्र समाज के उन पहलुओं का अध्ययन है जो आवर्तक, स्थिर और सार्वत्रिक है और जो प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की विषयवस्तु से सम्बंधित हैं किन्तु फिर भी उनका विशिष्ट रूप से अध्ययन कोई भी सामाजिक विज्ञान नही करता है।"[2]

इनमे से प्रत्येक परिभाषा का एक निश्चित आधार है। यह आधार है परिभाषा लिखने वाले विद्वान् की इस शास्त्र की विषय वस्तु (Subject matter) और क्षेत्र (scope) के बारे में धारणा। अब प्रश्न यह है कि इनमे से किस को प्रामाणिक (standard) माना जाय? यह प्रश्न बहुत जटिल है। इसलिए इसका उत्तर दिये बिना ही हम संक्षेप में यह संकेत करना अच्छा समझते हैं कि समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र और विषय-वस्तु क्या है? इन्हे जान लेने पर इस शास्त्र की परिभाषा देने का प्रयास किया जायगा।

अध्ययन क्षेत्र (Scope of Study)

समाजशास्त्र के क्षेत्र (scope) के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियो में दो सम्प्रदाय हैं—(अ) विशेषात्मक (specialistic or particularistic) तथा (आ) समन्वयात्मक (synthetic)। इन सम्प्रदायो (schools) का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

विशेषात्मक सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का मुखिया जर्मन समाजशास्त्री सिमल (Simmel) है। वास्तव में, सिमल समाजशास्त्र की रूपकीय (formal) शाखा का प्रणेता था। टानीज (Tonnies), रास (Ross), मैक्स वेबर (Max Weber) वीसे (Wiese) वीरकान्त (Vierkandt) इस शाखा के मुख्य लेखक हैं। ये लेखक समाजशास्त्र को शुद्ध (pure) और स्वतन्त्र विशिष्ट शास्त्र मानते हैं। वे अन्य सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र से समाजशास्त्र के क्षेत्र को अलग रखना चाहते हैं। उनके अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक सम्बन्धो के कुछ विशिष्ट रूप (forms) हैं।

सिमल के विचार—सिमल का यह मत था कि समाजशास्त्र को रूपकीय (formal) व्यवहारो का अध्ययन करना चाहिए, प्रत्यक्ष और वास्तविक व्यवहारो का नहीं। वह सामाजिक सम्बन्धो के केवल अमूर्त या सूक्ष्म रूपों (abstract forms) का अध्ययन इस शास्त्र का विषय मानता था। संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता प्रति

1 Sociology is concerned with the study of social life of man and its relation to the factor of culture natural environment heredity and the group —*Ogburn and Nimkoff*

2 Sociology is the study of those aspects of society which are recurrent constant and universal and which belong to the subject matter of every Social Science and yet do not belong to it because no Social Science deals with them specifically —*P A Sorokin*

स्पर्धा, देशभक्ति, राजभक्ति, श्रम विभाजन, आज्ञापालन, नेतृत्व, आदि ऐसे ही सूक्ष्म रूप हैं। इन्हीं अमूर्त सिद्धान्तों के मूर्त या स्थूल रूपों (concrete forms) के भिन्न भिन्न विशिष्ट सामाजिक शास्त्रों में दर्शन होते हैं। सिमल के मत में समाजशास्त्र को भिन्न भिन्न सामाजिक विज्ञानों में काम करने वाले सूक्ष्म सिद्धान्तों को अलग निकाल कर उनका स्वतन्त्र रूप से वर्णन करना चाहिये। तभी इसकी स्वतन्त्र सत्ता रह सकती है। समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों में, सिमल के अनुसार यही भेद है कि समाजशास्त्र स्वतन्त्र रूप से उन सूक्ष्म सामाजिक विचारों या धारणाओं (abstract of social conceptions) का विवेचन करता है जिनके स्थूल रूप (concrete form) का विवेचन अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाज मनोविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान करते हैं। समाजशास्त्र और अन्य विशेष सामाजिक विज्ञानों में विषय-वस्तु का साम्य है किन्तु समाजशास्त्र इन विषयों का भिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करता है अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों की विभिन्न रीतियों (modes) के दृष्टिकोण से।[1]

स्माल के विचार—ये सिमल से मिलते हैं। वह समाजशास्त्र का विषय सामाजिक व्यवहारों का प्रजातिक रूप (genetic form) मानता है। वह कहता है कि यह सच है कि समाजशास्त्र का विषय समाज है किन्तु यह शास्त्र समाज में होने वाली सभी क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता। ऐसा करना किसी भी विज्ञान के लिये असम्भव है क्योंकि सामाजिक क्रियाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। समाज में कई संस्कृतियाँ भाषाएँ और धर्म होते हैं। सभी संस्थाओं और संस्कृतियों का अध्ययन करना किसी एक विज्ञान के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए समाजशास्त्र में इन सबका अध्ययन केवल प्रजातिक रूप में होता है। उदाहरण के लिये राजनीतिशास्त्र में सरकार के प्राचीन या आधुनिक रूपों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र सरकार का अध्ययन उस विशेष शक्ति (force) के रूप में करेगा जो समाज को संगठित रखती है। इसी प्रकार धर्मशास्त्र धर्म के भिन्न भिन्न रूपों का अध्ययन करता है परन्तु समाजशास्त्र धर्म का अध्ययन समाज का नियन्त्रण करने वाले प्रजातिक रूप में करता है। स्माल ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि समाजशास्त्र कृत्रिम समाज का अध्ययन नहीं करता। केवल विषय को सीमित करने के लिये यह प्रजातिक व्यवहारों का अध्ययन करता है। जब इन प्रजातिक व्यवहारों का वास्तविक या मूर्त रूप देखना पड़ता है तो समाजशास्त्र भिन्न भिन्न सामाजिक शास्त्रों से सहायता लेता है और उन शास्त्रों द्वारा दी गई सामग्री का समन्वय (synthesis) करता है। इसलिये समाजशास्त्र मानव समुदायों में पाई जाने वाली शक्तियों से सम्बन्धित समस्त उपलब्ध ज्ञान में साधारणीकरण (generalization) और संग-

---

1 Morris Ginsberg *Sociology* Oxford University Press London (19.3) p 9

2 Small *Sociology*

ठन (organization) करने का प्रयत्न करता है। किन्तु विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों के ज्ञान का समन्वय करते हुये भी समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान है।

वीरकान्त—विशेषात्मक दृष्टिकोण के प्रतिपादकों में दूसरे जर्मन समाजशास्त्री वीरकान्त ने लिखा है कि समाजशास्त्र एक निश्चित विज्ञान तभी हो सकता है जब यह मूर्त समाजों का ब्यौरेवार या ऐतिहासिक अध्ययन न करे। समाजशास्त्र का उद्देश्य उन तत्वों को ढूढ निकालना है जो इस विज्ञान के लिये मूल तत्व (irreducible categories) कहे जा सकते हैं। लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्द्धा, अधिकार भावना, लालसा आदि ऐसे मानसिक सम्बन्ध हैं जो मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़ते हैं। ये मानसिक सम्बन्ध समाज के मूल तत्व हैं। इन्हीं का अध्ययन समाजशास्त्र का क्षेत्र है। प्रेम के कारण परिवार का, द्वेष के कारण युद्ध का और सहकारिता के कारण सहवास का मनुष्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। इन मानसिक तत्वों के अंतिम रूपों (ultimate forms) का विवेचन करना ही समाजशास्त्र का क्षेत्र है। यदि इस विज्ञान के क्षेत्र को बहुत विस्तृत बना दिया जाता है तो यह विज्ञान अनिश्चित हो जाता है। इसलिये आवश्यक है कि इसके क्षेत्र को निश्चित कर दिया जाय और इसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, राजनीति शास्त्र आदि विज्ञानों में भटकने से रोका जाए। उदाहरण के लिए समाजशास्त्री संस्कृति के विकास का अध्ययन न करे क्योंकि यह विषय इतिहास के क्षेत्र में आता है। हाँ संस्कृति में परिवर्तन और स्थायित्व की मूलभूत शक्तियों की खोज करना समाजशास्त्र का काय है।

मक्स वेबर—उसने समाजशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित और स्पष्ट करने के उद्देश्य से महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। वह मानता था कि समाजशास्त्र का उद्देश्य (aim) सामाजिक व्यवहार का 'निर्वचन (अर्थनिर्णय interpretation) और समझना है मानव सम्बन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस सारे क्षेत्र में सामाजिक व्यवहार नहीं होते। सामाजिक व्यवहार वह क्रिया है जो कर्ता के इरादे (intention) से दूसरों के व्यवहार से सम्बद्ध है और उसी से निर्धारित (determined) होती हो। सत्य तो यह है कि हर मानव की अन्त क्रिया सामाजिक नहीं होती। दो व्यक्तियों के परस्पर सम्पर्क में आने पर वे एक दूसरे के प्रति जो व्यवहार या कार्य करते हैं उसे सामाजिक व्यवहार कहा जाता है। इसी प्रकार के सामाजिक व्यवहारों के घटित होने के अवसर या सम्भावना से मुख्यतया समाजशास्त्र सम्बन्धित है।

समाजशास्त्रीय नियम (Sociological laws) सामाजिक व्यवहार के क्रम के अनुभव सिद्ध या प्रयोगसिद्ध (empirically established) वे साधारणीकरण हैं जिनका अर्थ निर्णय किया जा सके अर्थात् जो समझाए जा सकें। मक्स वेबर परिवार, राज्य, गिरजे आदि सबकी परिभाषा विशिष्ट प्रकार के सामाजिक व्यवहारों के सदर्भ में करता है। वह सामाजिक समूहों का मानवगुणारोपण

(personification) करने का विरोधी है क्योंकि उनके मतानुसार उपरोक्त प्रवृत्ति ही समाजशास्त्री का घातक पाप है।

आलोचना

उपरोक्त और ऐसे ही विचारों में बहुत कुछ सत्य है। समाजशास्त्र के क्षेत्र की चाहे जो धारणा हो, इस विषय के अध्ययन में सामाजिक सम्बन्धों के वर्गीकरण और प्रकारों का समावेश अवश्यमेव होना चाहिये। किन्तु यह स्मरण रहे कि इस प्रकार के सम्बन्धों का अमूर्त (abstract) अध्ययन निष्फल रहेगा। मूर्त जीवन में इन सम्बन्धों का क्या स्वभाव और रूप है यह जानना अत्यावश्यक है। प्रतियोगिता, संघर्ष, द्वेष, प्रेम आदि का व्यावहारिक जीवन में क्या महत्व है और इनकी कैसे कैसे अभिव्यक्ति होती है। यह जाने बिना इन धारणाओं का अमूर्त अध्ययन कोरी मानसिक उड़ान रहेगी। अतएव सामाजिक संगठनों और संस्थाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह स्वीकार करते ही हम समाजशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करना पड़ जाता है। अर्थात् समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का सामान्य (general) अध्ययन तो करे पर उसके साथ ही इन सम्बन्धों का मूर्त जीवन में चरितार्थ होना भी अध्ययन करे। इससे अनन्तर हम विशेष समाजशास्त्रों (Special Sociologies) तथा अधिक साधारणीकृत अमनद्ध समाजशास्त्र में पारस्परिक सम्बन्ध का समझने की आवश्यकता पड़ती है।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय

यह सब स्वीकृत है कि सामाजिक जीवन के सभी भाग घनिष्ठता से सम्बन्धित और परस्पर आबद्ध हैं। समाज को हम एक सावयव (organism) न भी मानें तो भी यह स्वीकार करें कि समाज के स्वभाव में कुछ सावयविक (organic) है। कारण, इसके सभी भाग साथ-साथ काम करते हैं। एक भाग में परिवर्तन दूसरे को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार सारा समाज प्रभावित होता है। इसलिए यह परमावश्यक है कि समाज का सम्पूर्ण रूप में ही अध्ययन किया जाय और उसके विभिन्न तत्वों के बीच अन्तःक्रियाओं को समझा जाय। विशेषात्मक विचारधारा केवल सामाजिक जीवन के कारकों को ही प्रधानता देती है। उदाहरणार्थ राजनीति का विद्यार्थी राज्य को सारा समाज मान बैठता है। अर्थशास्त्री समाज के हर परिवर्तन का कारण आर्थिक दशाएँ मानता है। इसी प्रकार इतिहासकार किसी विशिष्ट संस्था या शक्ति को समाज में निर्धारक पद दे देता है। यही कारण है कि विज्ञान के क्षेत्र में निर्धारणवाद (Determinism)[1] के कई सिद्धान्त प्रचलित हो गये हैं। परन्तु इस प्रकार की धारणा एकांगी और सङ्कुचित है। सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्वों में अन्तःसम्बन्धों को व्यापक आगमन और तुलनात्मक विधि से ही ज्ञात किया

1 कुछ लेखक Determinism का हिन्दी पर्यायवाची नियतिवाद या भाग्यवाद मानते हैं।

जा सकता है। संस्कृति या समाज के विशिष्ट भागो से सम्बद्ध विशेष विज्ञान इस प्रकार की विधियाँ नही अपनाते। इसलिए, स्पष्ट रूप से एक ऐसे साधारण और क्रमबद्ध समाजशास्त्र (General and Systematic Sociology) की आवश्यकता है जो विविध विशेष विज्ञानो के परिणामो का उपयोग करें। यह मुख्यतया उनके अन्त सम्बन्धो पर अधिक जोर दे और सम्पूर्ण (whole) सामाजिक जीवन का निरूपण करे। समाजशास्त्र की यह धारणा समन्वयात्मक विचारधारा से साधारणतया सगत है।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के मुख्य विद्वान वार्ड दुरखीम और हावहाउस हैं। उनका मत है कि यदि समाजशास्त्र सिर्फ अमूर्त सिद्धान्तो या विचारो जैसे प्रतिस्पर्धा, घृणा, नेतृत्व, श्रम विभाजन और वर्ग विभाजन आदि का ही विवेचन करे और प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानो म उतर कर उन विचारो की मूर्त अभिव्यक्ति की पड़ताल न करे तो इस विज्ञान (समाजशास्त्र) का मूल्य ही क्या रह जाता है? यदि इन सूक्ष्म सिद्धान्तो या विचारको का निरूपण समाज के विभिन्न स्थूल क्षेत्रो म न किया जाये तो यह अध्ययन नीरस और प्रयोजन हीन होगा। समन्वयात्मक दृष्टिकोण वाले लेखको का मत है कि समाजशास्त्र का अपना क्षेत्र सकुचित, परिमित तथा सीमित न बनाकर व्यापक और विस्तृत बनाना होगा तभी यह समाजशास्त्र कहला सकेगा। अन्य विज्ञानो से पृथक होकर तो समाजशास्त्र कुछ रहता ही नही। सबके मेल से समाजशास्त्र बनता है। समाजशास्त्र मे सब विज्ञान आकर एक मूल हो जाते हैं इसमे सबका समन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध (Synthesis or correlation)[1] हो जाता है। इसलिये समाजशास्त्र एक विज्ञान नही विज्ञानो का विज्ञान' है और सभी विज्ञान इसके क्षेत्र म आ जाते हैं। इस तरह समाजशास्त्र का क्षेत्र विश्वकोषात्मक (ency clopaedic) और सारात्मक (synoptic) हो जाता है।

इन विद्वानो ने "विशेषात्मकता' के दुष्परिणामो—सकुचित दृष्टिकोणो जैसे भौगोलिक निर्धारणवाद, जविक निर्धारणवाद या तान्त्रिक और आर्थिक निर्धारणवाद के सिद्धान्त—की ओर सकेत किया है और सावधान किया है कि यदि समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र भी सकुचित रहा तो एक नया सिद्धान्त—सामाजिक निर्धारणवाद जन्मने की सभावना है। इसलिये समाजशास्त्र को अपना क्षेत्र व्यापक रखना चाहिए। यह सब दृष्टियो का स्वतन्त्र रूप न दिखाकर उनका समन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध दिखाना ही अपना क्षेत्र माने।[2]

चार्ल्स वार्ड—वार्ड समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञानो का रासायनिक समन्वय नवीन यौगिक (new compound) की भाँति करना चाहता था। वह कहता था कि

1 Synthesis का हिन्दी पर्यायवाची डा० रघुवीर ने सश्लेषण दिया है।
2 Ginsberg *Sociology* 1953 p 13

समाजशास्त्र न तो कोई एक विशिष्ट सामाजिक शास्त्र है और न सभी सामाजिक शास्त्रों की खिचड़ी। यह वह विज्ञान है जो सब सामाजिक विज्ञान आप से आप उन्नत करते हैं। यह प्रजातिर (genetic) वस्तु है और विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिभ (genesis) है। विभिन्न विशिष्ट सामाजिक विज्ञान इस सश्लेष या यौगिक के तत्व हैं जिनका इस शास्त्र में व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है और इन तत्वों से बनी हुई नई वस्तु निर्मायक तत्वों (Constituent element) से भिन्न और ऊँचे दरजे की होती है।[1]

दुरखीम (फ्रांसीसी)—इसका कथन है कि समाजशास्त्र को तीन भागों में बाँटा जा सकता है

(१) सामाजिक रूपशास्त्र (Social Morphology)

(२) सामाजिक शरीर रचनाशास्त्र (Social Physiology)

(३) सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)

सामाजिक रूपशास्त्र में वे सब विषय आते हैं जिनका आधार भौगोलिक है, जैसे किसी देश की जनसंख्या, उनका परिमाण, घनत्व वितरण तथा वृद्धि आदि। सामाजिक शरीर रचनाशास्त्र में वे सब विषय आ जाते हैं जिनका अध्ययन विशेष सामाजिक विज्ञान करते हैं जैसे अर्थ धर्म, भाषा, नीति, कानून आदि। इन विषयों का अध्ययन करने के लिए धर्म अर्थ कानून, भाषा, नीति आदि के विशिष्ट समाजशास्त्र विकसित हुए हैं।[2] इन्हें विशेष समाजशास्त्र (Special Sociologies) कहते हैं। सामान्य समाज शास्त्र (General Sociology) का उद्देश्य विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्रों में काम करने वाले सामान्य नियम (General laws) का पता लगाना है। समाजशास्त्र का यह भाग दार्शनिक है और दुरखीम का कथन है कि यह दार्शनिक विवेचन (Philosophical discussion) तभी सम्भव है जब समाजों के भिन्न भिन्न भाग —धर्म अर्थ, नीति, राज्य आदि के विशिष्ट सामाजिक शास्त्र अपना गहरा विवेचन करें।

हाबहाउस—इंगलैंड के समाजशास्त्री हॉबहाउस ने भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। वह कहता है कि विविध सामाजिक विज्ञानों का समन्वय ही समाजशास्त्र है। उसके अनुसार समाजशास्त्री को दो प्रकार का अध्ययन करना चाहिए—(१) अर्थशास्त्र या इतिहास अथवा अन्य विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन करते समय उन सिद्धान्तों पर विशेष मनन करना जिनका समाज के विकास के साथ सम्बन्ध हो अथवा जो परस्पर सम्बन्धित हों। यहाँ विविध सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तों का अध्ययन उन विज्ञानों में समन्वय करने के लिए किया जाता है।

1 Charles Ward *Pure Sociology* p 91

2 Sociology of Religion Sociology of Economic Life Sociology of Law, Sociology of Language and Sociology of Morals

(२) यह अध्ययन तब प्रारम्भ होता है जब समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानो की उन केन्द्रीय धारणाओं (central conceptions) को निकाल लेता है जिन पर सभी सामाजिक विज्ञान आधारित हैं। ये धारणाएँ वे स्थिर विचार है जो विविध विज्ञानो मे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं। इन केन्द्रीय धारणाओ को निकालने के लिए विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के आन्तरिक सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। यह जानना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त किस प्रकार इतिहास मे, इतिहास के निर्णय किस तरह राजनीति मे और राजनीति के तत्त्व किस प्रकार मनोविज्ञान मे ओत प्रोत हैं। समाजशास्त्र की यही दृष्टि 'समन्वयात्मकता' है।

गिंसबर्ग और सोरोकिन (Ginsberg and Sorokin)—इनके विचार भी उक्त विचारधारा से मिलते जुलते हैं। गिंसबर्ग के अनुसार दो विशिष्ट सामाजिक क्षेत्रो के बीच होने वाली अन्तक्रियाओ का अध्ययन करना समाजशास्त्र का मुख्य विषय होना चाहिये। इससे यह तात्पर्य है कि सामाजिक विज्ञान परस्पर सहायता लेते और देते हैं। सोरोकिन कहता है कि ऐसा कोई भी विज्ञान नही (शायद गणित को छोडकर) जो दूसरे विज्ञानो से स्वतन्त्र हो और उनके विषय और आँकडो से अछूता हो। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र की अन्य सामाजिक विज्ञानो से पृथक अपनी स्वतन्त्र सत्ता तो है किन्तु इसमे विशिष्ट सामाजिक विज्ञानो की खोजो का यथा उचित उपयोग होकर समग्र समाज का समन्वित ज्ञान सकलित किया जाता है।

आलोचना

समाजशास्त्र की उपरोक्त विरोधी दृष्टियो (views) की विवेचना से यह प्रकट होता है कि मूलत इन दोनो मे कोई आवश्यक सघर्ष नही है। सामाजिक सम्बन्धो को उनके कलेवर (content) से पृथक कर अमूर्त रूप मे अध्ययन कर परिणामो को प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यो से सम्बद्ध करके ही किया जा सकता है। यह काम सामाजिक जाँच पडताल के विभिन्न क्षेत्रो मे विशेषज्ञ ही सरलतापूर्वक कर सकता है। सामान्य या क्रमबद्ध समाजशास्त्र मे निरी नीरस एव अमूर्त श्रेणियो की सूची ही नही सम्मिलित होनी चाहिए। यह तभी सजीव हो सकती है, जब इसका सम्बन्ध इतिहास, मानवशास्त्र और सामाजिक सस्थाओ के मूल अध्ययन से रहे। समन्वय और ब्योरेवार या विशिष्ट (specialized) अध्ययन दोनो आवश्यक है और उन्हे साथ-साथ रहना चाहिए। गिंसबर्ग के मत से, समाजशास्त्र और जीवशास्त्र (Biology) मे इस मामले मे साम्य है। एक अर्थ से, जीवशास्त्र कई विज्ञानो का सग्रह है जो स्वय बहुत विशिष्ट है। किन्तु सभी मानते हैं कि सामान्य जीवशास्त्र (General Biology) भी एक विज्ञान है। इसी प्रकार, समाजशास्त्र मे अनेक विशेष विज्ञान (specialisms) हैं जो सामाजिक जीवन के टुकडो से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टिकोण से, समाजशास्त्र का अभिज्ञान (identification) सामाजिक विज्ञानो के एक समूह से होता है। दूसरे अर्थ मे, समाजशास्त्र स्वय एक विशेष

विज्ञान (specialism) है जिसका उद्देश्य अन्य ज्ञान शाखाओं (Disciplines) के पारस्परिक सम्बन्ध का मालूम कर सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य स्वभाव (Gener l character का विवरण प्रस्तुत करना है।[1] यह सामान्य समाज शास्त्र (General Sociology) है।

समाजशास्त्र का यथार्थ क्षेत्र

समाजशास्त्र का यथार्थ क्षेत्र जानने के लिए हमें इसकी विषय-वस्तु, सीमाओं एवं उद्देश्यों का ज्ञान कर लेना चाहिए।

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject matter)

सारोकिन के अनुसार समाजशास्त्र निम्नलिखित विषयों का शास्त्र है

(१) समाज के भिन्न भिन्न अंगों का आपसी सम्बन्ध (जैसे अर्थ वा धर्म कुटुम्ब और नीति न्याय और अर्थ अर्थ और राजनीति आदि का पारस्परिक सम्बन्ध)

(२) सामाजिक और असामाजिक का आपसी सम्बन्ध (जैसे भौगोलिक और जैविक शक्तियों का समाज से सम्बन्ध),

(३) वे सामान्य लक्षण जो समाज के सभी अंगों में समान रूप से मिलते हैं।[2] गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र के निम्नलिखित विषय बताए हैं

१ सामाजिक रूपशास्त्र (Social Morphology)—इसके अन्तर्गत (अ) जनसंख्या की संख्या और गुण का सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभाव का तथा (आ) सामाजिक ढांचे—सामाजिक समूहों और संस्थाओं के प्रमुख रूपों का अध्ययन होता है।

२ सामाजिक नियन्त्रण—विधि नीति, प्रथाओं रूढ़ियों, परम्पराओं, संस्थाओं धर्म तथा फैशन आदि तथा समाज पर नियंत्रण करने वाले अन्य कारकों का अध्ययन।

३ सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Processes)—समाज और व्यक्ति के बीच तथा समूहों के बीच होने वाली अन्तर्क्रियाएँ जैसे सहयोग संघर्ष प्रतिस्पर्धा अनुकूलन आदि।

४ सामाजिक व्याधिकी या सामाजिक विगठन (Social Pathology or Social Disorganisation)—इसके अन्तर्गत सामाजिक अव्यवस्थाओं एवं विगठन तथा उनके निराकरण का अध्ययन किया जाता है।

गिन्सबर्ग लिखता है कि चूँकि व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध (१) आपस में होते हैं (२) समाज से होते हैं, तथा (३) बाह्य जगत से होते हैं इसलिए जीवशास्त्र और मनोविज्ञान के नियमों का अध्ययन भी यह शास्त्र करता है।[3]

---

1 Ginsberg So ology p 17

2 P A Sorok n Contemporary Sociological Theories p 760

3 See Ginsberg's Sociology and Studies in Sociology" or his article The Problems and Methods of Sociology in The Study of Society (Ed Bartlit etc) Routledge & Kegan Paul Ltd London

हंटिंग्टन केरन्स (Huntington Cairns) ने लिखा है कि समाजशास्त्र का विषय वे मानवीय क्रियाएँ हैं जिनका शास्त्रीय ढग से अध्ययन किया जा सकता है। *समाज का सगठन, सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक परिवर्तन संस्थाएँ समूहो का सम्पर्क, उन्नति सामाजिक शक्तियां मानवीय प्रवृत्ति एकाकीता सामाजिक मूल्य,* सघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता सामाजिक विधाएँ झुण्ड, अपराध आदि विषयो का अध्ययन *इस शास्त्र की पुस्तको मे किया गया है। यद्यपि इनमे से कुछ विषयो का अध्ययन* अन्य शास्त्रो मे भी हुआ है तथापि इन सभी विषयो का अध्ययन केवल समाजशास्त्र मे हुआ है। समाजशास्त्र के इस अध्ययन का दृष्टिकोण भी कुछ निराला (unique) है।[1] जबतक विभिन्न सामाजिक विज्ञान सम्पूर्ण समाज के भागो को जो एक दूसरे से कतई पृथक नही हैं, अध्ययन करते रहेगे तब तक पृथक्ताए और वर्गीकरण अवश्य ही अस्थायी या सामयिक रहेगे। पर इतने पर भी समाज का अध्ययन समाजशास्त्र अपने ही *पृथक ढग से करता है। समाजशास्त्रीय रुख (Sociological attitude) सामान्य मानव क्रियाओ के उन तथ्यो पर बल देने (emphasis) का प्रतिनिधि* है जिसमे आर्थिक, भौगोलिक आदि विशिष्ट (Specific) कारको को पूर्ण महत्व दिया जाता है किन्तु क्रिया को उनमे से किसी के पृथक दृष्टिकोण से नही देखा जाता।

हंटिंग्टन केरन्स लिखता है कि जब तक समाजशास्त्री स्वय यह परिभाषित न करें कि उनके अध्ययन का विषय क्या है यह कहना उचित होगा कि समाजशास्त्र का विषय वही है जिस पर अपने को समाजशास्त्री कहने वाले लिखते हैं।[2] समकालीन (contemporary) समाजशास्त्र के सिद्धान्तो की समीक्षा करके सोरोकिन भी लिखता है कि समाजशास्त्र के नाम पर जिन विषयो का अध्ययन हुआ है वे समाजशास्त्र की परिभाषाओ मे इंगित विषयो से *भिन्न हैं। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि समाजशास्त्र का विषय ही अनिश्चित है।* कुछ समय पूर्व तो यह कहा जा सकता था किन्तु आधुनिक समाजशास्त्रियो ने इस विज्ञान के विषय को निश्चित और परिभाषित कर दिया है। इसका यह साक्ष्य है कि समाजशास्त्र के सिद्धान्तो की किसी पुस्तक को उठा लीजिए एक ही विषयो का उसमे समावेश होगा।

विषय के प्रधान भाग

समाजशास्त्र के विषय को दो प्रधान भागो मे बाँटा जा सकता है पहले में सामूहिक जीवन और सामाजिक विरासत (social heritage) से सम्बन्धित सभी मामले आते हैं। दूसरे मे मनुष्यो के व्यक्तित्व और उनके सामाजिक विकास मे सम्बन्धित सभी प्रश्न आते हैं। सामाजिक घटनाओ (social phenomenan) के इन दोनो पहलुओ *मे अविच्छिन्न अन्तसम्बन्ध है और दोनो ही एक यथार्थ मे*

1 Gurvitch and Moore *20th Century Sociology* New York (194.) p 5
2 *Ibid* p 4

अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य अपनी संस्कृति और समाज की उत्पत्ति है। वह उनमें और उनके साधन से जीवित रहता है। वह मानव इसलिए है कि ये दोनों ही उसके व्यक्तिगत संगठन में समाहित (संयुक्त) हैं। परन्तु संस्कृति और सामाजिक जीवन मानवीय प्रयत्नों और इच्छाओं की उत्पत्ति है। समाजशास्त्र सामाजिक यथार्थता के इन दो पहलुओं का विश्लेषण करता है और उन्हें उनके पारस्परिक अन्त:आश्रित सम्बन्धों में समझने का प्रयास करता है। इसलिए समाजशास्त्र की पहली समस्या मानव प्रकृति और व्यक्तित्व की उत्पत्ति और वृद्धि का अध्ययन है। वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रकृति और व्यक्तित्व की वृद्धि और परिवर्तन की प्रक्रियाएँ समाजशास्त्र की केन्द्रीय समस्याएं हैं। समाजशास्त्री की रुचि का दूसरा प्रधान क्षेत्र सामूहिक जीवन और सामाजिक विरासत है। मनुष्यों के समूह और समितियाँ, उनके हित, भावनाएँ संस्कृति और सभ्यता विभिन्न संस्थाएँ और पद्धतियाँ विश्वास रूप और सामाजिक नियन्त्रण के साधन और समाज के पर्यावरण उसके विकास, परिवर्तन और विघटन के कारण प्रभाव और क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र की दूसरी केन्द्रीय समस्याएं हैं।

समाजशास्त्री का मुख्य कार्य सामाजिक जीवन की क्रियाओं का विश्लेषण करना है। अन्य विज्ञान-वेत्ताओं की भाँति वह एसे सिद्धान्तों या नियमों को ढूँढ़ता है जो समाज की भविष्य की गति का पूर्व कथन कर सकें। पूर्व कथन की योग्यता ही नियन्त्रण का आधार है।'[1]

उपरोक्त विवेचन से यह भी संकेत मिलता है कि समाजशास्त्र का क्षेत्र क्या है? स्वरूपीय (Formal) समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित है। यदि हम उनकी धारणा स्वीकार करें तो समाजशास्त्र के बहुत से विषयों को हम निकाल देना होगा। जो कुछ शेष बचेगा, वह शायद समाजशास्त्र कहलाने का दावा न कर सके। समाजशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ही अपनाना उचित है। किन्तु यह ध्यान रहे कि समाजशास्त्र विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनावश्यक प्रवेश न करे, नहीं तो यह विज्ञान न रहकर सामाजिक विज्ञानों के परिणामों की खिचड़ी हो जाएगी। वास्तव में समाजशास्त्र मूलतः एक सामान्य समाज विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों मात्र का—किसी विशिष्ट सम्बन्ध का नहीं—अध्ययन कर समाज के समग्र रूप को हमारे सामने रखता है। समाजशास्त्र का, एक विज्ञान की दृष्टि से विशेषात्मक अध्ययन आवश्यक है परन्तु उस अध्ययन को सार्थक बनाने के लिए उसका समन्वयात्मक अध्ययन करना और भी आवश्यक है।

प्रो० हेज (Hayes) ने प्रत्येक विज्ञान के द्वारा अध्ययन किये जाने वाले तथ्यों को चार वर्गों में विभाजित किया है मुख्य समस्या या समस्या-तथ्य (problem

1 See Penter *Sociology* p 13

facts), (२) मुख्य समस्या के घटक-तथ्य (elemental facts) (३) प्रभावक-तथ्य (conditioning facts) तथा (४) परिणाम-तथ्य (resultant facts)।[1] समाज शास्त्र के तथ्य भी यही चार प्रकार के होते है। बस विज्ञान की मुख्य समस्या समाज' या सामाजिक सम्बन्ध है। इस समस्या के घटक-तथ्य मानसिक सम्बन्ध हैं—प्रेम, द्वेष, घृणा लज्जा प्रतिस्पर्धा तथा सहयोग आदि। इन घटक तथ्यो का विवेचन करने पर समाजशास्त्र मनोविज्ञान के क्षेत्र म स्वाभाविकतया प्रवेश करता है। समाजशास्त्र अपने प्रभावक तथ्यो—भौतिक आर्थिक राजनैतिक धार्मिक दशाओ का विवेचन करने पर—प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञाना की सहायता लेता है। अन्त मे अपने परिणाम-तथ्यो पर पहुँचने के लिये समाजशास्त्र भी अपने कुछ परिणाम निकालता है जिसे समाजशास्त्र का दर्शन कहा जाता है। प्रो० हेज के इस दृष्टिकोण को अपनाने से समाजशास्त्र के क्षेत्र के बारे मे दोनो विचारधाराओ का झगडा अपने आप समाप्त हो जाता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि समाजशास्त्र विभिन्न विशिष्ट सामाजिक शास्त्रो (special social sciences) के परिणामो की खिचडी नही है। ऐसा नही कि समाजशास्त्र कुछ राजनीतिशास्त्र से ले कुछ अर्थशास्त्र से, कुछ मनोविज्ञान अथवा इतिहास म और इन सब जूठनो को मिलाकर उस अपने अध्ययन का लेबिल लगा द। यह शास्त्र विशिष्ट सामाजिक शास्त्रो द्वारा प्रस्तुत ज्ञान का केवल साधारणीकरण (generalisation) ही नही करता। इसे एक साधारणीकृत (generalised) सामाजिक विज्ञान कहना भूल होगी।

समाजशास्त्र समाज की उत्पत्ति विकास, उसकी रचना एव रूपो सगठनो तथा सस्थाओ तथा उसमे परिवर्तन और विगठन का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। वह समाज पर सामाजिक (आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक नैतिक आदि) तथा असामाजिक बाह्य (जैविक और प्राकृतिक) प्रभावो का विश्लेषण करता है। इन सबके अध्ययन मे उसका अपना दृष्टिकोण एव उद्देश्य रहता है। अतएव यह शास्त्र स्वय एक विशिष्ट सामाजिक शास्त्र है जो समाज के विभिन्न क्षेत्रो म पाये जाने वाले मानवीय व्यवहारो और उनके परिणामो का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। कभी यह साधारणीकरण समाज के दो विभिन्न क्षेत्रो के व्यवहार म किया जाता है और कभी एक ही विषय के अन्तर्गत विभिन्न देशो के सामाजिक व्यवहारो म।

समाजशास्त्र की विभिन्न धारणाए

हम अपने विज्ञ पाठको को इस शास्त्र के बारे म किसी प्रकार का सन्देह या भ्रम नही रहने देना चाहते। यहाँ हम समाजशास्त्र की विभिन्न प्रचलित धारणाओ (conceptions) को सक्षेप म प्रस्तुत करके सही धारणा पर विचार करेंगे। एक ओर समाजशास्त्र को नीति निरपेक्ष (ethically neutral) सिद्धान्तो और

---

1 Hays *Sociology*

गवेषणा विधियों की नान शाखा कहते हैं जिसका विकास मानव प्रकृति और सामाजिक व्यवहार समझने के लिये किया गया है। दूसरी ओर सामुदायिक जीवन की मूल और तत्काल व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिये प्रयुक्त सहज-बुद्धि विधियों के समूह को भी समाजशास्त्र कहा जाता है। इसलिये आवश्यक है कि विद्यार्थी इस शास्त्र के विविध रुचि क्षेत्रों, दृष्टिकोणों एव अध्ययन-क्षेत्रों और अनुसधान की विधियों से प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर लें।

लोक समाजशास्त्र (Folk Sociology)

बहुधा कहा जाता है कि समाजशास्त्र उतना ही पुराना है जितना कि सामूहिक जीवन और उस पर सबव्यापी है उस मनुष्य के विचार। यह कथन पूर्णतया असत्य नहीं है। मनुष्यों के सम्पर्क में समूहों में उनके सम्बन्ध उतने ही सामान्य हैं जितना कि स्वयं मानव जीवन। लोगों का अपने वास-स्थान से समायोजन, विरोधी समूह से सघर्ष, रोग और दुर्भिक्ष का अनुभव, जनसंख्या का दबाव और निष्क्रमण (migration) वर्ग और जाति विभाजनों का विकास तथा व्यक्ति और सामूहिक जीवन के अन्य तथ्य सभी परिस्थितियों में लोगों को ज्ञात होते हैं। ये और अन्य सामाजिक घटनाएं सदैव से मनुष्यों के अवलोकन और विचार का विषय रही हैं। सर्वत्र मनुष्य सामूहिक जीवन की दशाओं और दूसरों से अपने सम्बन्धों और दायित्व के बारे में न्यूनाधिक सम्बद्धता से सोचता है। समाजशास्त्र का प्रारम्भ तब होता है जब मनुष्य सामाजिक यथार्थता और मानव सम्बन्धों के बारे में विचार करते हैं और सामान्य सिद्धान्त बनाते हैं।

अत्यन्त सरल आदिम समुदायों (primitive communities) में जीवन के सगठित ढग विचार और सिद्धान्त हैं जो क्रिया के ढगों की युक्तिपूर्वक व्याख्या करते हैं और उन्हें चिरस्थायी और सामान्य बनाते हैं। हर समूह में प्रथाएँ जनरीतियां (folkways) और नियम (rules) होते हैं जो उसके सदस्यों के लिये अपेक्षित व्यवहारों की परिभाषा करते हैं। क्रिया के इन्हीं ढगों से सम्बन्धित सामान्य नियम बन जाते हैं जिन्हें कहावतों और पौराणिक कथाओं (legends) में प्रत्यक्ष उपस्थित कर दिया जाता है। इस प्रकार की लोक बुद्धिमत्ता जनजीवन की समस्त दशाओं और सम्बन्धों पर परिव्याप्त होती है। सामाजिक जीवन की कोई भी ऐसी स्थिति उपज या अनुभव नहीं रहता जिससे सम्बन्धित कुछ न कुछ सामान्य अनुमान न बन गये हों। वास्तव में इस प्रकार के अर्थ निर्वारणों और सिद्धान्तों के बिना किसी समाज का जीवन व्यवस्थित ढग से नहीं चल सकता। यह आवश्यक है कि आदिम समाज के सिद्धान्तों की राशि बहुत कुछ अपरिपक्व, अपूर्ण और कभी-कभी आन्तरिक रूप से असम्बद्ध रहती है किन्तु वे सामूहिक अनुभव के परिणामों और बुद्धिमान व्यक्तियों (मनीषियों) के विचारों का वर्णन हैं तथा उनके आधार पर

सामान्य अनुमान प्रस्तुत करते हैं। इसी ज्ञान शाखा को लोक समाजशास्त्र कहा जाता है।

प्राचीन सभ्यताओं में इस ज्ञान शाखा का बहुत बड़ा भंडार है। जीवन के हर पहलू और मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार से सम्बन्धित धारणाएं अनुमान और कहावतें आदि हैं। उन सभ्यताओं के साहित्य कानूनों, नैतिक संहिताओं (moral codes) इत्यादि को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। उनका ज्ञान विज्ञान और समाज-दर्शन वास्तव में बहुत गहन अध्ययन का ही परिणाम था। विद्वानों और मनीषियों ने समाज एवं संस्कृति से सम्बद्ध जिस ज्ञान के भंडार को भरा है वह उनके गूढ़ विचार एवं गहरे परिज्ञान (deep insight) का साक्षी है। यद्यपि विभिन्न देशों और कालों में सामाजिक विचारों के कलेवर एक से नहीं रहे हैं उन पर स्थिति की छाप पड़ी है, फिर भी सभी जगह मनुष्य और समूह की प्रकृति का पर्यवेक्षण और उस पर साधारण नियम उसमें अवश्य सन्निहित हैं।

पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में लोक-समाजशास्त्र का आकार बहुत अधिक बढ़ गया है। इस अवधि में मानव प्रकृति और सामाजिक सम्बन्धों पर बहुत व्यापक विचार हुआ है। इसके कुछ भाग सरल और सादे साधारणीकरण मात्र हैं। पर परिवर्तनशील संसार में मनुष्यों के व्यवहारों का नियमित या दिग्दर्शित करने का यह प्रयत्न तो है ही। इनके कुछ भाग सरल दर्शन जो व्यक्तियों और समूहों के अनुभवों, पर्यवेक्षणों और पक्षपातों (biases) को व्यक्त करता है और जनगाथाओं (folklores) एवं परम्परात्मक आस्थाओं (traditional beliefs) जिन पर समसामयिक अभ्यास निर्भर करते हैं का प्रशंसात्मक ढंग से निरूपण करते हैं।

सामाजिक बुद्धिमत्ता की वर्तमान राशि में भी मानवीय और सांस्कृतिक यथार्थ पर विचार और साधारणीकरण सम्मिलित हैं। यह भी सहज बुद्धि का सहारा लेती है। इसे क्रमबद्ध एवं युक्तियुक्त विचार संग्रह नहीं कहा जा सकता। इसके विभिन्न अंगों की परिपुष्टि भी नहीं की गई। सामान्यतः निष्कर्ष यदा-कदा पर्यवेक्षण और सहज ज्ञान पर आधारित हैं। जो ऐतिहासिक घटनाओं समसामयिक समूह जीवन की मूर्त घटनाओं एवं मनुष्यों और समूहों में प्रकट सम्बन्धों से प्राप्त किया गया है। कभी-कभी इसमें गूढ़ पर्यवेक्षण और साधारणीकरण मिलते हैं। पर यह बहुत कम निःस्वार्थ या पक्षपात रहित है और शायद यह सम्पूर्ण गम्भीर कभी नहीं है।

आधुनिक लोक समाजशास्त्र के सबसे अच्छे उदाहरण वर्तमान समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के सम्पादकीय, टिप्पणियाँ और विशेष लेख या कालम हैं। लोकप्रिय साहित्य और लेखकों ने भी इस क्षेत्र में परम रुचि दिखाई है। कथाकारों उपन्यासकारों और नाटककारों ने तो मानव प्रकृति, सामाजिक जीवन और मानव सम्बन्धों पर अतुल ज्ञान भंडार प्रस्तुत किया है। हमारे शिक्षक और सरकारी मन्त्रिगण भी

इस होड़ में पीछे नहीं हैं। ये सब मानव प्रकृति और सामाजिक यथार्थ पर अपने व्यक्तिगत या वर्गगत विचार या उद्गार प्रकट करते हैं। इन सब विचारों में परम्परात्मक आस्थाओं से लेकर नैतिक भावनाएँ (moral sentiments) और वर्ग-पक्षपात, शास्त्रीय प्रकाशन और सूचना के अन्य स्रोत और मत भरे रहते हैं। ये बहुधा बहुत चतुरता और दक्षता से अपने अथ निर्णयों और साधारणीकरणों को प्रस्तुत करते हैं। जो बहुत कुछ सामाजिक विचारों के वर्तमान स्तर को प्रकट करते हैं। सामाजिक समस्याओं के पाठ्यक्रम में इसी जन-समाजशास्त्र का भरमार है। इसमें समस्त विवेचन सहज-बुद्धि के स्तर का होता है और प्रत्यक्ष ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है। इनके समाधान के लिए जो सुझाव दिये जाते हैं वे समूह के परम्परागत अभ्यासों से प्रेरित होते हैं। इसका प्रयोजन मनुष्यों की भावनाओं को जगाकर उन्हें ऐसी क्रियाएँ करने का प्रोत्साहन देना होता है जिसमें तत्काल प्रत्यक्ष सुधार काम किये जा सकें। वर्तमान लोक समाजशास्त्र की दूसरी शाखा सामाजिक सर्वेक्षण (social surveys) हैं। इनमें समाज की कुछ वर्तमान घटनाओं या समस्याओं के बारे में सारी सूचना एकत्र करके उसमें कुछ साधारण निष्कर्ष निकाले जाते हैं। परन्तु ये निष्कर्ष सभी देशों और कालों में मनीषियों के निष्कर्षों से बहुत अधिक भिन्न नहीं होते। रायटर का मत है कि उपरोक्त सभी धारणाएं समाजशास्त्र की बहुत व्यापक वर्तमान धारणाएं हैं।[1]

इतिहास का दर्शन (The Philosophy of History)

अनेक महत्त्वपूर्ण विद्वान समाजशास्त्र को इतिहास का दर्शन मानते हैं। इस धारणा के दो स्तर हैं, एक तो सरल लोक समाजशास्त्र में समा जाता है और दूसरा रहस्यमय (esoteric or mystical) विचार समूह में। कुछ इतिहासकार और अन्य विद्वान ऐतिहासिक घटनाओं के प्रवाह में नवीन अर्थों का समावेश करते हैं। वे इतिहास के तथ्यों को अन्तिम नहीं मानते। उनके मतानुसार इतिहास की अनोखी घटनाओं में कुछ प्रयोजन, शक्ति या प्रक्रिया, प्राकृतिक नियम या और कोई एकीकरण करने वाला सिद्धान्त ढूंढा जा सकता है जिससे ये सब पूर्वकथन योग्य घटनाओं के क्रम में लाई जा सकती हैं। एसे एकरूप करने वाले कारकों (unifying factors) और व्याख्यात्मक सिद्धान्तों के कई प्रकार और बड़ी संख्या है। एक दर्शन तो सभी घटनाओं को किसी दैवी व्यवस्था के अंग मानता है। ये सब सर्व शक्तिमान सत्ता की इच्छा की अभिव्यक्तियां हैं जिनके प्रयोजनों को मानव बुद्धि नहीं समझ सकती। यह दर्शन बड़ा सरल और कभी-कभी सन्तोषप्रद भी है। दूसरे दार्शनिक विचार समस्त घटनाओं अथवा क्रियाओं को विकासवादी सिद्धान्त में समझाने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास का प्रवाह एक ऐसा प्रगतिशील आन्दोलन बन जाता है जो सतत मनुष्यों के श्रेष्ठतर प्रकारों और सामाजिक संगठनों के अधिक अच्छे रूपों की ओर जा रहा

---

1 F B Reuter *Sociology* Dryden Press New York 1941 p 7

सामान्य अनुमान प्रस्तुत करते हैं। इसी ज्ञान शाखा को लोक समाजशास्त्र कहा जाता है।

प्राचीन सभ्यताओं में इस ज्ञान शाखा का बहुत बड़ा भंडार है। जीवन के हर पहलू और मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार से सम्बन्धित धारणाएँ, अनुमान और कहावतें आदि हैं। उन सभ्यताओं के साहित्य, कानूनों, नैतिक संहिताओं (moral codes) इत्यादि को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। उनका ज्ञान विज्ञान और समाज-दर्शन वास्तव में बहुत गहन अध्ययन का ही परिणाम था। विद्वानों और मनीषियों ने समाज एवं संस्कृति से सम्बद्ध जिस ज्ञान के भंडार को भरा है वह उनके गूढ़ विचार एवं गहरे परिज्ञान (deep insight) का साक्षी है। यद्यपि विभिन्न देशों और कालों में सामाजिक विचारों के कलेवर एक से नहीं रहे हैं उन पर *स्थिति की छाप पड़ी है फिर भी सभी जगह मनुष्य और समूह की प्रकृति का* पर्यवेक्षण और उस पर साधारण नियम उसमें अवश्य सन्निहित हैं।

पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में लोक-समाजशास्त्र का आकार बहुत अधिक बढ़ गया है। इस अवधि में मानव प्रकृति और सामाजिक सम्बन्धों पर बहुत व्यापक विचार हुआ है। इसके कुछ भाग सरल और सादे साधारणीकरण मात्र हैं। पर परिवर्तनशील संसार में मनुष्यों के व्यवहारों को नियमित या दिग्दर्शित करने का यह प्रयत्न तो है ही। इनके कुछ भाग सरल दर्शन जो व्यक्तियों और समूहों के अनुभवों, पर्यवेक्षणों और पक्षपातों (biases) को व्यक्त करता है और जनगाथाओं (folklores) एवं परम्परात्मक आस्थाओं (traditional beliefs) जिन पर समसामयिक अभ्यास निर्भर करते हैं का प्रशंसात्मक ढंग से निरूपण करते हैं।

सामाजिक बुद्धिमत्ता की वर्तमान राशि में भी मानवीय और सांस्कृतिक यथार्थ पर विचार और साधारणीकरण सम्मिलित हैं। यह भी सहज बुद्धि का सहारा लेती है। इसे क्रमबद्ध एवं युक्तियुक्त विचार संग्रह नहीं कहा जा सकता। इसके विभिन्न अंगों की परिपुष्टि भी नहीं की गई। सामान्यतः निष्कर्ष यत्र-तत्र पर्यवेक्षण और सहज ज्ञान पर आधारित हैं। जो ऐतिहासिक घटनाओं, समसामयिक *समूह जीवन की मूर्त घटनाओं एवं मनुष्यों और समूहों में प्रकट सम्बन्धों से प्राप्त* किया गया है। कभी-कभी इसमें गूढ़ पर्यवेक्षण और साधारणीकरण मिलते हैं। पर *यह बहुत कम निःस्वार्थ या पक्षपात* रहित है और शायद यह सम्पूर्ण गम्भीर कभी नहीं है।

आधुनिक लोक समाजशास्त्र के सबसे अच्छे उदाहरण वर्तमान समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के सम्पादकीय, टिप्पणियाँ और विशेष लेख या कालम हैं। लोकप्रिय साहित्य और लेखकों ने भी इस क्षेत्र में परम रुचि दिखाई है। कथाकारों, उपन्यासकारों और नाटककारों ने तो मानव प्रकृति, सामाजिक जीवन और मानव सम्बन्धों पर अतुल ज्ञान भंडार प्रस्तुत किया है। हमारे शिक्षक और सरकारी मन्त्रिगण भी

उपरोक्त तीनों धारणाएं वैज्ञानिक समाजशास्त्र (Scientific Sociology) की सही धारणा से बहुत दूर हैं।

समाजशास्त्र एक वैज्ञानिक ज्ञान शाखा

विज्ञान क्या है? इस प्रश्न पर विद्वानों ने गूढ़ विचार किया है। आज 'विज्ञान' की सर्वसम्मत परिभाषा शायद न मिले परन्तु यह स्वीकार किया जाता है कि 'विज्ञान' वह क्रमबद्ध (systematised) ज्ञान है जिसे वैज्ञानिक विधि (scientific method) से विकसित किया गया है। सत्य को खोजने या शोधने की अनेक विधियां या प्रविधियां हैं। इनमें से वैज्ञानिक विधि ही मनुष्य के मन की चंचलता (caprice) और इच्छित विचारों (wishful thinking) से परे है। जिसे वैज्ञानिक विधि कहा जाता है वह अन्य विधियों से मूलतः भिन्न इस बात में है कि वह यथासम्भव शंका को प्रस्थापित और विकसित करती है जिससे कि हम शंका से जो कुछ भी बच रहे वह सदैव सर्वोत्तम प्राप्य साक्ष्य से परिपुष्ट हो सके। जैसे जैसे नये साक्ष्य मिलते जाते हैं वे नई शंकाओं को जन्म दे सकते हैं जिन्हें सदैव सोचना विचारना चाहिए। 'वैज्ञानिक विधि का यही सार है कि इन शंकाओं को अब तक संकलित ज्ञान का अभिन्न अंग (integral part) मान लिया जाए। इस प्रकार से परिभाषित विज्ञान गत्यात्मक (dynamic) है। वह अपने क्षेत्र को सदैव गुणा करता है और इसलिये सदैव सत्यता के निकटतर आता जाता है।[1]

विज्ञान की एक दूसरी मोटी परिभाषा यह है 'यह घटनाओं के एक समूह (a set of phenomena) में प्रतिमान (pattern) को ढूंढ निकालता है। और यदि यह प्रतिमान मालूम हो गया तो फिर पूर्वकथन सम्भव हो जाता है। कार्ल पियर्सन की विज्ञान की परिभाषा बहुत प्रचलित है। तथ्यों का वर्गीकरण उनके क्रम का ज्ञान और उनके सापेक्षिक महत्त्व का परिचय प्राप्त करना विज्ञान का कार्य है।'[2]

वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किसी भी क्षेत्र के अध्ययन में किया जा सकता है। प्राकृतिक और जैविक क्षेत्रों में इसके उपयोग से प्रौढ़ विज्ञानों का विकास हुआ है। मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इस विधि को अपना कर बहुत प्रगति कर ली गई है। जैसे इलेक्ट्रान्स के व्यवहार में वैज्ञानिक प्रतिमान खोजा जा सकता है उसी प्रकार लोगों के व्यवहार में भी। विवेचना के इस स्तर पर सामाजिक विज्ञानों (Social sciences) और प्राकृतिक विज्ञानों (Natural sciences) में कोई अन्तर नहीं। वास्तव में विज्ञान होने के लिये प्रधान तत्व विधि है न कि विषय-वस्तु।[3] सामाजिक क्षेत्रों के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि का उपयोग उतना ही सफल हो सकता है जितना

---

1 Morris Cohen *Logic and Scientific Method* quoted by Stuart Chase in his The Proper Study of Mankind Harper Brothers New York 1956 p 6

2 The classification of facts the recognition of their sequence and relative significance is the function of science —*Karl Pearson*

3 Science goes with the method not with the subject matter —Stuard Chase *op cit* p 9

है। इसी प्रकार तीसर प्रकार के विचारा मे, भौगोलिक, जविक, प्रजातीय, वग सघष सम्बन्धी ग्रनक धारणायें निर्धारणवाद और सिद्धात प्रकट हुये है। इन सिद्धान्तो को सवमान्य व्याख्यायें स्वीकार किया गया है। इस प्रकार के सभी विचार समाज शास्त्र की उस धारणा के घातक है जिसे इतिहास का दशन कहा जाता है। इन सभी म मानव घटनाओ की पूवकथन (forecast) करन की इच्छा पाइ जाती है। किन्तु जब तक कोई प्राकृतिक प्रक्रिया या तार्किक सिद्धात न हो तब तक किसी तरह का पूवकथन तो असभव है। हाँ, भविष्यवाणी (prophesy) की जा सकती है।

कल्याणकारी अभ्यास और कायक्रम (Welfare Practices and Programmes)

हर समाज म बहुत से व्यक्ति और सस्थाए मानव पीडाओ को दूर करन क लिय प्रयत्नशील होते है। बहुधा उनके विश्वासो और काय कलापो को समाजशास्त्र की सज्ञा दी जाती है। चूकि, मानव सेवा की रुचियो और प्रयासो म बहुत अधिक विविधता है इसलिये उनको जो समाजशास्त्र कहा जाता है वह अस्थिर (discursive) और बहुत कुछ अपूण रह जाता है। सभी समाजो म पीडित और अभागे लोगो के कल्याण के लिये धर्मार्थ या सेवार्थ प्रयास किये गये है। स्थानीय निकायो ने इहे अपने मगलकारी कार्यों क रूप म किया है। इन सब प्रयासो प्रविधियो (techniques) और सम्बद्ध विचारो को 'कल्याणकारी समाजशास्त्र' (Welfare Sociology) कहा गया है। १६वी शताब्दी म सामाजिक और प्रशासनिक सुधारो की दिशा म अनेक प्रयास किये गये। इसी आदोलन और तत्सम्बन्धी अनेक काय-कलापो म वतमान व्यावहारिक समाजशास्त्र (Practical Sociology) एव प्रारम्भिक समाज काय (Social work) का जन्म और विकास हुआ। विशेषकर औद्योगीकरण और नागरीकरण के विस्तार स अनेक समाजो म कई भीषण समस्याए पदा हो गई, पारिवारिक विगठन जन-स्वास्थ्य शिक्षा अपगो या विकलागो की देखभाल और कल्याण शिशुकल्याण, निधनो क मकान की व्यवस्था दरिद्रता जेल सुधार वेश्यावृत्ति अस्पृश्यता निवारण आदि अनेक सामाजिक रोगो का उपचार करने के लिय आर्थिक और सामाजिक योजनाए बनाइ गई। काल्पनिक सर्वोत्तम समाज की स्थिति (Utopia) प्राप्त करने क लिये भी कई विद्वानो न योजनाए बना डाली। समाज को सकट से बचान क लिय इन रोगो और अभिशापो के निवारणाथ कायक्रम भी अपनाए गय। स्कूलो और कालेजो म आज भी सामाजिक समस्याओ का अध्ययन होता है। इन सब प्रयासो म जिस सामाजिक विचार सग्रह का विकास हुआ उस ही *कल्याणकारी (या मगलकारी) समाजशास्त्र* से सम्बोधित किया जाता है। इस समाजशास्त्र म नतिक और प्रशासकीय मागदशन क लिये एव व्यावहारिक ज्ञान-सग्रह और मगलकारी अभ्यासो एव अन्य अभ्यासो का एक समूह सम्मिलित होता है। जब इसे समाज काय की सज्ञा दी जाती है तो इसम उन प्रचलित नियमो और अभ्यासो का समावेश होता है जो सकट ग्रस्त व्यक्तियो और परिवारो के उपचार क लिय प्रयुक्त होते हैं।

उपरोक्त तीनों धारणाएं वैज्ञानिक समाजशास्त्र (Scientific Sociology) की सही धारणा से बहुत दूर हैं।

समाजशास्त्र एक वैज्ञानिक ज्ञान शाखा

विज्ञान क्या है ? इस प्रश्न पर विद्वानों ने गूढ़ विचार किया है। आज विज्ञान की सर्वसम्मत परिभाषा शायद न मिले परन्तु यह स्वीकार किया जाता है कि विज्ञान वह क्रमबद्ध (systematised) ज्ञान है जिसे वैज्ञानिक विधि (scientific method) से विकसित किया गया है। सत्य की खोज या शोधन की अनेक विधियाँ या प्रविधियाँ हैं। इनमें से वैज्ञानिक विधि ही मनुष्य के मन की चंचलता (caprice) और ऐच्छिक विचारों (wishful thinking) से परे है। जिसे वैज्ञानिक विधि कहा जाता है वह अन्य विधियों से मूलतः भिन्न इस बात में है कि वह यथासम्भव शंका को प्रोत्साहित और विकसित करती है जिससे कि इस शंका से जो कुछ भी बच रहे वह सदैव सर्वोत्तम प्राप्य साक्ष्य से परिपुष्ट हो सके। जैसे जैसे नए साक्ष्य मिलते जाते हैं वे नई शंकाओं को जन्म दे सकते हैं जिन्हें सदैव सोचना विचारना चाहिए। वैज्ञानिक विधि का यही सार है कि इन शंकाओं को अब तक संकलित ज्ञान का अभिन्न अंग (integral part) मान लिया जाए। इस प्रकार से परिभाषित विज्ञान गत्यात्मक (dynamic) है। वह अपने द्वार को सदैव खुला रखता है और इसलिये सत्य सत्यता के निकटतर आता जाता है।

विज्ञान की एक दूसरी मोटी परिभाषा यह है "यह घटनाओं के एक समूह (a set of phenomena) में प्रतिमान (pattern) को ढूँढ निकालना है।"[1] और यदि यह प्रतिमान मालूम हो गया तो फिर पूर्वकथन सम्भव हो जाता है। कार्ल पियर्सन की विज्ञान की परिभाषा बहुत प्रचलित है। "तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम का ज्ञान और उनके सापेक्षिक महत्व का परिचय प्राप्त करना विज्ञान का कार्य है।"[2]

वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किसी भी क्षेत्र के अध्ययन में किया जा सकता है। प्राकृतिक और जैविक क्षेत्रों में इस उपयोग से प्रौढ़ विज्ञानों का विकास हुआ है। मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इस विधि को अपना कर बहुत प्रगति कर ली गई है। जैसे इलेक्ट्रान्स के व्यवहार में वैज्ञानिक प्रतिमान खोजा जा सकता है उसी प्रकार लोगों के व्यवहार में भी। विवेचना के इस स्तर पर सामाजिक विज्ञानों (Social sciences) और प्राकृतिक विज्ञानों (Natural sciences) में कोई अन्तर नहीं। वास्तव में विज्ञान होने के लिए प्रधान तत्व विधि है न कि विषय-वस्तु।[3] सामाजिक क्षेत्रों के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि का उपयोग उतना ही सफल हो सकता है जितना

---

1 Morris Cohen *Logic and Scientific Method* quoted by Stuart Chase in his *The Proper Study of Mankind* Harper Brothers New York 1956 p 6

2 The classification of facts the recognition of their sequence and relative significance is the function of science —*Karl Pearson*

3 Science goes with the method not with the subject matter —Stuard Chase *op cit* p 9

प्राकृतिक क्षेत्र मे। यदि यह मान लिया जाय कि बाद वाले क्षेत्र म इस विधि क उपयोग से अधिक शुद्ध या अचूक ज्ञान सकलित होता है तो भी सामाजिक क्षेत्रा म विधि तो मूलत वही रहेगी। काल पियसन ने सही कहा है कि 'सभी विज्ञाना की एकता उनकी विधि म है।

समाजशास्त्र की प्रकृति

समाजशास्त्र एक विज्ञान ता है परन्तु कसा या किस प्रकार का विज्ञान है? वज्ञानिक विधि म तथ्यो का वर्गीकरण, उसम पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना, तथा उनके क्रमो (sequences) का वणन शामिल हाता है। इस विधि क उपयोग से जो क्रमबद्ध ज्ञान विकसित हाता है उसे विज्ञान कहा जाता है। समाजशास्त्र अपने विषय—मानव सम्बन्धो और सामाजिक घटनाओ—का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि स करता है। इसलिए यह एक विज्ञान है। इसमे सामाजिक घटनाओ के विद्यमान रूप का वास्तविक और सत्य वणन किया जाता है इसलिय यह प्रसत्यामक (Positive) विज्ञान है आदर्शात्मक (normative) नही। आदर्शात्मक विज्ञान जसे आचारशास्त्र म आदश प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका काय यह बताना है कि क्या हाना चाहिए (What ought to be)।

जहा तक शुद्धता या अचूकता (exactness) का प्रश्न है प्राकृतिक (भौतिक और जविक) एव सामाजिक विज्ञाना म अन्तर है। इसका मुख्य कारण प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो की विषय-वस्तु म भिन्नता है। प्राकृतिक तथ्य और घटनायें निर्जीव पदाथ हैं और जो सजीव भी हैं व भी मनुष्य के तुल्य नही हैं। प्राणि विकास की बहुत ऊची, चरम श्रेणी मे मनुष्य का स्थान है। दूसरे प्राकृतिक और जविक पदार्थों में उतनी जटिलता नही जितनी मनुष्य और उसक समाज म। तीसर, प्राकृतिक और जविक पदार्थों क विपरीत मानव म इच्छा और विवेक है। उनके अपने उद्देश्य, आदश और आकाक्षायें हाती है। चौथे, मानव सम्बन्धो और घटनाओ पर प्राकृतिक पदार्थों की भाति नियन्त्रित परीक्षण (controlled experiment) नही हो पाता। समाज वज्ञानिको की प्रयोगशाला तो जीते-जागते मानव समूह हैं। पाचवें, प्राकृतिक और जविक पदार्थों क वज्ञानिक को अपन अध्ययन म पूण विषय कता (objectivity) मिल जाती है। वह अपनी अध्ययन वस्तु का ही एक अग नही होना इसलिए उससे न ता पूवस्नेह (predilection) हाता है और न पूर्वाग्रह (pre judices)। समाज व वज्ञानिको को वज्ञानिक निलिप्ति (scientific detachment) प्राप्त करन म परम दरजे की कठिनाई का सामना करना पडता है। वह जिस समाज का अध्ययन करता है उसी का एक सदस्य भी है। डाक्टर और मरीज की इस दोहरी भूमिका (dual role) म उस बड परिश्रम और अध्यवसाय स ही सफलता मिलती है और अनत समाज या समूह का अध्ययन करना सरल नही है। इनके निहित स्वार्थों द्वारा समाज के अध्ययनकर्ता के माग म अनेक बाधायें डाली

जाती हैं। इसके अध्ययन के विषय ऐसे हैं जिनमे सडक पर चलने वाला आम आदमी दखल रखने का दावा करता है।

इन कठिनाइयो के होते हुए भी समाजशास्त्री अपने विषय के अध्ययन म वैज्ञानिक विधि का पूर्णतया अपनाता है। वह पयवेक्षण करके तथ्यो का सकलन करता है। तुलनात्मक अध्ययन कर इनका वर्गीकरण करता है। इस वर्गीकरण के बाद तथ्यो के समूहो म पारस्परिक सम्बन्ध (correlation) की स्थापना करता है। तदनन्तर इसस सम्बन्धित सामान्य नियम (Generalizations) प्रस्तुत करता है जिनका विशेष परिस्थितियो म सत्यापन (verification) करता है। तब वही नियम (Law) बनता है। इस नियम स वह पूव निर्धारित उपकल्पना (hypothesis) का स्वीकार या अस्वीकार करता है। यही नियम उस किसी विशिष्ट सामाजिक स्थिति के बारे म पूव कथन (prediction) करन की योग्यता प्रदान करते हैं।

पर समाजशास्त्र क नियम (Laws) प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो की भाँति पूर्ण या शुद्ध (exact) नहीं हो पाते। वे सावभौम सिद्ध नियम नही हैं। वे तो केवल सामाजिक प्रवृत्तियो (social tendencies) का व्यक्त कर सकते हैं। मनुष्यो के व्यवहार और सामाजिक घटनाएँ अत्यधिक भिन्नतापूर्ण हैं और साथ ही सतत् परिवर्तनशील भी हैं। इन विशाल अत्यधिक भिन्नतापूर्ण और अनवरत गत्यात्मक (dynamic) दशाओ या घटनाओ का न तो पूर्ण पयवेक्षण हो पाता है और न उनके बारे म सही पूव कथन। समाजशास्त्र और शुद्ध विज्ञानो म यही अन्तर है। समाजशास्त्र की इस प्रकृति को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है।

समाजशास्त्र के प्रकार
(Types of Sociology)

हम देख चुके हैं कि समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु मानव समाज है। यह आधुनिक समाज का अध्ययन करता है। इसके विपरीत मानवशास्त्र आदिम समाज का। मानव समाज क दो रूप हैं (१) विशिष्ट समाज जैसे भारतीय समाज चीनी समाज, ब्रिटिश समाज या रूसी समाज आदि। इन जीते जागते राष्ट्रीय (या प्रादेशिक) समाजो का अध्ययन समाजशास्त्र की पहली प्रधान समस्या है। (२) सामान्य मानव समाज जो सारे ससार भर म फैला है। इस अन्तर्राष्ट्रीय मानव समुदाय म प्रदेश धर्म भाषा अथवा अन्य कृत्रिम आधारो पर बने विभाजनो की उपेक्षा कर दी जाती है। इस समाज का अध्ययन समाजशास्त्र की दूसरी प्रधान समस्या है।

राष्ट्रीय समाजो के वैज्ञानिक अध्ययन म समाजशास्त्र ने बहुत प्रगति की है। पर वैज्ञानिक विधि का अधिकतम उपयोग करने पर भी समाजशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय शास्त्र का गुण बहुत कम मात्रा म विकसित कर पाया है। उन्नत विज्ञानो क विपरीत इस शास्त्र म अब भी राष्ट्रीय गुण है। इसका अभ्यास और दृष्टिकोण विभिन्न देशो म भिन्न भिन्न है। इसीलिये हम अंग्रेजी जापानी जर्मनी, अमरीकी या रूसी

समाजशास्त्र के उदाहरण मिलते हैं। दर्शन की भाँति समाजशास्त्र की भी यह सीमा (limitation) या अभाव है। भाषा कला और कविता की भांति दर्शन के राष्ट्रीय गुण का कारण तो समझ में आ जाता है। परन्तु जब समाजशास्त्र का आदर्श, अन्य विज्ञानों की भाँति, अवयक्तिक (impersonal) है तो फिर इसमें राष्ट्रीय गुण होना इसकी अपरिपक्वता का द्योतक है। वैज्ञानिक विधि की विविध आवश्यकताओं को यह तभी पूरा कर सकता है जब इसके इस अभाव को दूर करने के लिये और अधिक तत्परता से प्रयास किया जाय।

विशिष्ट समाजों के अध्ययन में समाजशास्त्र ने दो पद्धतियाँ अपनाई हैं। पहली पद्धति में सम्पूर्ण समाज (या समूह) का अध्ययन किया जाता है। दूसरी में उस समूह की विशिष्ट आकृतियां (features) या पहलुओं का अध्ययन होता है। पहले प्रकार के अध्ययनों के कुछ उदाहरण ये हैं —मीड दि अमरिकन करक्टर बेनेडिक्ट, क्राइसेन्थेमम एण्ड दि स्वोर्ड, जोन्स सर्वे आव मरसीसाइड, रुथ ग्लास सोशल बैकग्राउण्ड आव ए प्लैन, लिण्ड मिडलटाउन और मिडलटाउन रिविजिटेड फी पजट लाइफ इन चाइना यांग ए चाइनीज विलेज इत्यादि। दूसरे प्रकार के अध्ययन के उदाहरण भी उपलब्ध हैं जैसे पिलग्रिम टस्ट मन विदाउट वर्क रौंट्री और पावर्टी एण्ड प्राब्लेम, रिथ दि थेगी वानर और स्रोल सोशल सिस्टम्स आव अमरिकन एथनिक ग्रुप्स तथा अनेक संस्थाओं या स्थानीय समस्याओं के सामाजिक सर्वेक्षण।

सामान्य मानव समाज के अध्ययन में विशेषत दो प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है। प्रथम युद्ध के कारण और प्रभाव और सांस्कृतिक सम्पर्क जो विशिष्ट समाजों तक ही सीमित नहीं है। द्वितीय मानवीय सामाजिक जीवन का सामान्य पहलुओं का अध्ययन जो सभी समाजों में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विस्तृत और गहन अध्ययन किये गये हैं जो सम्पूर्ण मानव विकास के सामान्य सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त (dialectical principle of social change) कौम्त का तीन अवस्थाओं का नियम (law of three stages), टोयनबी की ए स्टडी आव हिस्ट्री और सारोकिन का Social and Cultural Dynamics इस श्रेणी में आते हैं।

सामान्य और विशिष्ट समाजशास्त्र

सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology) में सामाजिक जीवन के विकास और क्रिया के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है। इस समाजशास्त्र का परिचय' या समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त की संज्ञा देना बहुत प्रचलित है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय का निरूपण है। विशिष्ट समाजशास्त्रों के उदाहरण हैं कानून

का समाजशास्त्र या धर्म, शिक्षा परिवार जनसंख्या ग्राम या नगर इत्यादि के समाजशास्त्र ।[1]

समाजशास्त्र का प्रयोजन और कार्य

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि समाजशास्त्र, एक पाश्चिमोचित ज्ञान शाखा की हैसियत में समूह जीवन और मानव व्यवहार का नीति-तटस्थ (ethically neutral) अध्ययन है। इसका प्रयोजन सप्रमाण (valid) सिद्धान्तों का एक ऐसा संकलन करना है जो विषयक (objective) ज्ञान का एक काय हो और जिससे सामाजिक और मानवीय यथार्थता का निरूपण और नियन्त्रण सम्भव हो सके। इसका तत्काल सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं और उनके व्यावहारिक उपचार विधियों से नहीं है। यह तो ऐसी समस्याओं की अधिक पर्याप्त जानकारी करने के लिए एक आधार तयार करने का क्रमबद्ध प्रयास है और इन समस्याओं अथवा भविष्य में आने वाली अन्य समस्याओं का सामना करने के लिये एक अधिक प्रभावशाली ढंग के विकास करने का प्रयास है।[2] गिंसबर्ग के विचार से समाजशास्त्र का उद्देश्य सदैव सामाजिक तथ्यों और सम्पूर्ण सभ्यता के सम्बन्ध का निश्चित करता है।[3]

समाजशास्त्र एक प्रौढ सामाजिक सिद्धान्त (social theory) का विकास कर रहा है जो व्यावहारिक प्रयोगसिद्ध अध्ययनों का समन्वय है। इस सिद्धान्त की जाँच (test) वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में उपयोग करके की जाती है। सामाजिक गवेषणा (social research) का प्रयोजन समाज की स्थिर वृद्धि और प्रगति (stable growth and progress) करने की क्षमता (capacity) को नापना है। अतएव इस विज्ञान के दो काय हैं—(१) मानव समाज की सभी पार्श्वभूमि तथा मनुष्यों और पर्यावरण के अन्तःसम्बन्धों का वैज्ञानिक व्याख्या करना तथा (२) सतत् परिवर्तनशील संसार के प्रति समाज की समायोजन (adjustment) करके जीवित रहने और प्रगति करने की क्षमता को नापना।[4]

समाजशास्त्र और मानव कल्याण

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व समाजशास्त्र और मानव कल्याण (human welfare) के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। विज्ञान का चरम प्रयोजन कोई निष्क्रिय जिज्ञासा ही नहीं है। यह तो मानव कल्याण की वृद्धि है।[5] समाजशास्त्र का प्रयोजन सामाजिक पर्यावरण को नियन्त्रित करने की अधिक प्रभावशाली विधियों का विकास करना है। इस नियन्त्रण का आधार निश्चित करना महत्वपूर्ण है और यह आधार मानवीय मूल्यों से निर्धारित होता है। अतएव विज्ञान

1 विस्तृत जानकारी के लिये राइटर की सोशियोलॉजी पढ़िये।
2 E B Reuter *Sociology* p 12
3 Ginsberg *Sociology* p 18
4 H W Odum *Understanding Society* and Ginsberg *Ibid* p 17
5 Robert S Lynd *Knowledge for What?* Princeton 1939

को अवश्य ही मानवीय मूल्यो से दिग्दर्शित होना चाहिये। समाजशास्त्र को भी इन मूल्यो से दिग्दर्शन लेना चाहिये।

समाजशास्त्री को दोहरी भूमिका अदा करनी पडती है। वह एक वैज्ञानिक है और साथ ही एक नागरिक भी। चूँकि मानवीय सम्बन्धो म वह विशेषज्ञ है इसलिये उसका अपने समाज (या मानव समाज) के प्रति कर्त्तव्य है कि उसका कल्याण बनाये किन्तु *यहा यह ध्यान रहे कि समाजशास्त्र एक 'ज्ञान' है यह समाज के रोगो का कोई निदान शास्त्र नही है।*[1] समाजशास्त्री मानव सम्बन्धो और सस्थाओ आदि का अध्ययन इस उद्देश्य से करता है कि वह समाज के सामने उसका यथा-तथ्य चित्र रख दे तो समाज अपने सगठन मे सुधार करने की आवश्यकता को पहचान सकेगा।

यह समझना गलत है कि समाजशास्त्री की दिलचस्पी मानव कल्याण म नही है इसलिये वह अपनी वैज्ञानिक शोधो के परिणामो का सामुदायिक कल्याण के लिये उपयोग नही करना चाहता। शोध काय म सलग्न होने पर वैज्ञानिक विधि के सिद्धातो (canons) को कठोरता स पालने के लिये मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना पडता है। वैज्ञानिक के नाते समाजशास्त्री की प्रधान दिलचस्पी केवल समाज के समझने म है। *समाज स सम्बन्धित तथ्यो के परस्पर सार्थक सम्बन्ध का बताना ही उसका काम है।* किन्तु एक नागरिक के नाते समाज के कल्याण मे योग देना उसका कर्त्तव्य है।[2]

---

1 Sociology is a knowledge and not a therapy

2 Based on Nelson s *Rural Sociology* p 3

२

समाजशास्त्र एवं अन्य विज्ञान

मनुष्य ने अपने आस पास के प्रकृति और सामाजिक संसारों का वैज्ञानिक अध्ययन कर जो ज्ञान संचित किया है वह दो प्रकार के विज्ञानों में विभाजित किया जाता है

(१) प्राकृतिक विज्ञान और (२) मानवीय विज्ञान।

प्रकृति की भौतिक और जैविक घटनाओं (Physical and biological phenomena) और शक्तियों (forces) का अध्ययन करने वाले विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान कहलाते हैं और मनुष्य और उसके सामूहिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने वाले ज्ञानशाखाओं और विज्ञानों को मानव ज्ञान (humanities) और मानव विज्ञानों (human sciences) में सम्मिलित किया जाता है।

मनुष्य के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन सामाजिक विज्ञानों में होता है। इन विज्ञानों में राज्यशास्त्र सबसे प्राचीन है। उसके बाद अन्य विज्ञानों का आयु के अनुसार इस प्रकार क्रम है —अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र समाज मनोविज्ञान और सामाजिक मानवशास्त्र अर्थात समाजिक मानवशास्त्र सबसे नवीन विज्ञान है। इतिहास और भूगोल को वास्तविक सामाजिक विज्ञान नहीं माना जाता है। मानव-भूगोल तथा इतिहास को मानव ज्ञानों की श्रेणी में रखा जाता है।

'सामाजिक विज्ञानों' के लिए बहुधा 'सामाजिक विज्ञान' (Social science) की संज्ञा दी जाती है जो उन सब को एक रुधिर समूह (kinship group) में होने की ओर संकेत करती है। 'सामाजिक विज्ञान' की सरल परिभाषा यह है —'यह ऐसे अध्ययनों (studies) का एक समूह है जो मानव समूहों के सामाजिक जीवन के एक विज्ञान की स्थापना का उद्देश्य रखते हैं। इसके लिए अक्सर 'व्यवहार सम्बन्धी विज्ञान' (behavioural science) की संज्ञा भी दी जाती है। स्टुअर्ट चेज के अनुसार 'सामाजिक विज्ञान' (Social Science) मानव व्यवहार सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने के लिये वैज्ञानिक विधि का प्रयोग है।"[1] उपरोक्त पांच बड़े शास्त्रों के अतिरिक्त इतिहास भूगोल जनसंख्या शास्त्र (demo-

---

1 Social Science is defined as the u e of the scientific method to answer questions about human behaviour —Stuart Chase *op cit* pp ▮23

को अवश्य ही मानवीय मूल्या से दिग्दर्शित होना चाहिये। समाजशास्त्र को भी इन मूल्या से दिग्दशन लेना चाहिये।

समाजशास्त्री को दोहरी भूमिका अदा करनी पडती है। वह एक वज्ञानिक है और साथ ही एक नागरिक भी। चूँकि मानवीय सम्बन्धो मे वह विशेषज्ञ है इसलिये उसका अपने समाज (या मानव समाज) के प्रति कत्तव्य है कि उसका कल्याण बढाये किन्तु यहा यह ध्यान रहे कि समाजशास्त्र एक 'ज्ञान' है यह समाज के रोगो का कोई निदान शास्त्र नहा है।[1] समाजशास्त्री मानव सम्बन्धो और सस्थाओ आदि का अध्ययन इस उद्देश्य से करता है कि वह समाज के सामने उसका यथा तथ्य चित्र रख दे तो समाज अपने सगठन म सुधार करने की आवश्यकता को पहचान सकेगा।

यह समझना गलत है कि समाजशास्त्री की दिलचस्पी मानव कल्याण म नहीं है इसलिये वह अपनी वज्ञानिक शोधो के परिणामो का सामुदायिक कल्याण के लिये उपयोग नहा करना चाहता। शोध काय मे सलग्न होने पर वज्ञानिक विधि क सिद्धातो (canons) को कठोरता से पालने क लिय मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना पडता है। वज्ञानिक के नाते समाजशास्त्री की प्रधान दिलचस्पी केवल समाज के समझने म है। समाज स सम्बन्धित तथ्यो के परस्पर सार्थक सम्बन्ध को बताना ही उसका काय है। किन्तु एक नागरिक क नाते समाज के कल्याण मे योग देना उसका कत्तव्य है।[2]

1 Sociology is a knowledge and not a therapy
2 Based on Nelson s *Rural Sociology* p 3

२

समाजशास्त्र एव अन्य विज्ञान

मनुष्य न अपन आस पास के प्रकृति और सामाजिक सबारा का वैज्ञानिक अध्ययन कर जो ज्ञान सचित किया है वह दो प्रकार के विज्ञाना म विभाजित किया जाता है

(१) प्राकृतिक विज्ञान और (२) मानवीय विज्ञान।

प्रकृति की भौतिक और जैविक घटनाओ (Physical and biological phenomena) और शक्तियाे (forces) का अध्ययन करने वाले विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान कहलाते हैं और मनुष्य और उसके सामूहिक जीवन के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन करने वाले ज्ञानशाखाओ और विज्ञानो को मानव ज्ञाना (humanities) और मानव विज्ञाना (human sciences) म सम्मिलित किया जाता है।

मनुष्य के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन सामाजिक विज्ञानों में होता है। इन विज्ञाना म राज्यशास्त्र सबस प्राचीन है। उसके बाद अन्य विज्ञानो की आयु के अनुसार इस प्रकार क्रम है —अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, समाज मनोविज्ञान और सामाजिक मानवशास्त्र अर्थात सामाजिक मानवशास्त्र सबसे नवीन विज्ञान है। इतिहास और भूगोल को वास्तविक सामाजिक विज्ञान नहीं माना जाता है। मानव-भूगोल तथा इतिहास को मानव-ज्ञानो की श्रेणी म रखा जाता है।

"सामाजिक विज्ञाना के लिए बहुधा 'सामाजिक विज्ञान' (Social science) की सज्ञा दी जाती है जो उन सब को एक 'रुधिर समूह' (kinship group) म होने की ओर सकेत करती है। 'सामाजिक विज्ञान' की सरल परिभाषा यह है —' यह ऐसे अध्ययनो (studies) का एक समूह है जो मानव समूहो के सामाजिक जीवन मे एक विज्ञान की स्थापना का उद्देश्य रखते हैं।" इसके लिए अक्सर 'व्यवहार सम्बन्धी विज्ञान' (behavioural science) की सज्ञा भी दी जाती है। स्टुअर्ट चेज के अनुसार सामाजिक विज्ञान (Social Science) मानव व्यवहार सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देने के लिये वैज्ञानिक विधि का प्रयोग है।'[1] उपरोक्त पाँच बडे शास्त्रो के अतिरिक्त इतिहास भूगोल, जनसंख्या शास्त्र (demo-

---

1 Social Science is defined as the use of the scientific method to answer questions about human behaviour —Stuart Chase op cit pp 9 23

graphy) लोक प्रशासन विधिशास्त्र और शिक्षा आदि को अन्य विशिष्ट सामाजिक ज्ञान शाखाओं (social disciplines) में शामिल किया जाता है।

दर्शन, आचारशास्त्र तुलनात्मक धर्म साहित्य और कलाओं को मानव ज्ञानों (humanities) की श्रेणी में रखा जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में हम कुछ महत्त्वपूर्ण समाजिक विज्ञानों और अन्य विज्ञानों से समाजशास्त्र के सम्बन्ध का विवेचन करेंगे।

काम्ते (August Comte) समाजशास्त्र को सबसे व्यापक और अन्तिम शास्त्र मानता था क्योंकि यह मनुष्य जाति के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। वह कहता था कि मानव जीवन एक पूर्ण इकाई (whole unit) है और उसे राजनीतिक आर्थिक धार्मिक आदि परस्पर पृथक क्षेत्रों में नहीं बांटा जा सकता। विशेष सामाजिक विज्ञान समाज के विशिष्ट पहलुओं (specific aspects) का वर्णन करते हैं। उनमें से कोई सम्पूर्ण समाज का अध्ययन नहीं करता। अकेला समाजशास्त्र ही पूर्ण समाज का अध्ययन करता है। इसलिए अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में समाजशास्त्र पूर्ण शास्त्र है। वह इसे विज्ञानों का विज्ञान मानता था। हर्बर्ट स्पेंसर वार्ड दुर्खीम तथा हाबहाउस समाजशास्त्र को समन्वयात्मक (synthetic) विज्ञान कहकर इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा उच्च स्थान देने का सुझाव रखते थे।

गिडिंग्ज समाजशास्त्र को स्वतन्त्र शास्त्र मानकर कहता है कि इसको अन्य शास्त्रों पर कोई सत्ता प्राप्त नहीं है। वार्ड और वेबर का भी यही मत है। समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों का स्वामी है और न नौकर। उसे सहोदर ही समझना चाहिये। आजकल समाजशास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों की भांति एक स्वतन्त्र (independent) शास्त्र समझा जाता है, जिसका अन्य शास्त्रों से अन्योन्याश्रयता का संबंध (relation of interdependence) है।[1]

समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र (Economics) मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के आर्थिक पहलू का विज्ञान है। अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं का अध्ययन है जिनका लक्ष्य भौतिक साधनों को जुटाकर आवश्यकताओं की संतुष्टि करना है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन उत्पन्न करता है। धन के वितरण और उपभोग की समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र करता है। वस्तुओं की मांग क्या घटती बढ़ती है? उनकी पूर्ति कैसे होती है? इनके नियम बताना अर्थशास्त्र का काम है। देश में कितने धन का उत्पादन हो या कितनी वस्तुएँ और सेवाएँ पैदा की जाएँ जिनसे सम्पूर्ण देश का एक निश्चित जीवन स्तर लाया जा सके? उत्पादन के साधनों का

1 Gurvitch and Moore *op cit* pp 9 10

कैसा संगठन हो जिससे अधिकतम उत्पादन हो ? तथा अन्य देशों के साथ आयात निर्यात की कैसी नीति रखी जाए कि देश के उद्योग-व्यापार को क्षति न हो ? आदि प्रश्नों का अर्थशास्त्र उत्तर भर दे देता है। इन उत्तरों के अनुसार व्यवहार करना या न करना समाज तथा उसके सदस्यों की जिम्मेदारी है। सामाजिक क्रियाओं तथा मानव व्यवहार के इसी सामाजिक पहलू का अध्ययन करना समाजशास्त्र का विषय है। समाजशास्त्र मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभावों का भी अध्ययन है। समाजशास्त्र के नियमों तथा परिणामों को समाज में घटाकर उनकी यथार्थ अवस्था का पता लगाता है। बेकारी एक आर्थिक समस्या भी है और समाजशास्त्रीय भी। अर्थशास्त्र का काम बेकारी के कारणों का पता लगाना है किन्तु बेकारी के कारण हमेशा आर्थिक नहीं होते सामाजिक भी होते हैं। इन सामाजिक कारणों को हटाने के लिए सुझाव पेश करने में अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र की सहायता लेना अनिवार्य है। इसी प्रकार से स्वर्ण विनिमय एक संस्था है। इसका दोनों शास्त्र अध्ययन करते हैं। आर्थिक संस्था के रूप में स्वर्ण विनिमय के घटकों, संगठन कार्यों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन अर्थशास्त्र करता है। किन्तु इस संस्था में भी अन्य संस्थाओं के समान लगाए हैं। समाजशास्त्र अन्य संस्थाओं के साथ इसका अध्ययन करके इसका निर्धारण करता है कि सामाजिक जीवन में स्वर्ण विनिमय का क्या स्थान है ?

आधुनिक युग में व्यापक आर्थिक योजनाएँ बनाई जाती हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए न जाने कितनी योजनाएँ बनीं। आज भी युद्धोत्तर युग में देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पंचवर्षीय आदि योजनाएँ बनाई जा रही हैं। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले मनुष्य और उनकी संस्थाएँ होती हैं। योजना को अधिकतम सफल बनाने के लिए जनता का सक्रिय सहयोग आवश्यक है। इसे प्राप्त करने के लिए जनता की प्रथाएँ, विश्वास, संस्थाएँ तथा सामाजिक मूल्य समझने पड़ेंगे। बस यहीं समाजशास्त्र का सहयोग अनिवार्य हो जाता है। सच तो यह है कि समाज के आर्थिक तथा सामाजिक पहलू परस्पर बहुत घनिष्ठ हैं। एक का विवेचन करने में दूसरे का विचार करना जरूरी हो जाता है। इसलिए अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों का परस्पर निकट सम्बन्ध है। दोनों विज्ञान मिलकर ही किसी आर्थिक संस्था या सामाजिक समस्या का अधिक पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकते हैं। दोनों ही शास्त्र अपने अध्ययन में एक दूसरे के नियमों और परिणामों का प्रयोग करते हैं।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री और क्षेत्र में स्पष्ट अन्तर है। दोनों के दृष्टिकोण भी भिन्न हैं और उनकी अध्ययन विधियाँ भी पृथक्-पृथक्। समाजशास्त्र एक व्यापक शास्त्र अवश्य है किन्तु अर्थशास्त्र को इसकी एक शाखा मात्र नहीं कहा जा सकता।

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

मानवशास्त्र (Anthropology) मनुष्य और उसकी कृतियों का विज्ञान है। यह मनुष्य के भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन है। इसलिए इस विज्ञान की चार प्रमुख शाखाएँ हैं:

(१) भौतिक मानवशास्त्र अथवा मानव विकास और वृद्धि का अध्ययन

(२) प्राक् इतिहास और सांस्कृतिक मानवशास्त्र अथवा मनुष्य की कृतियों का अध्ययन

(३) नृवंशशास्त्र अथवा मनुष्य का प्रजातिक और सांस्कृतिक वितरण, और

(४) व्यावहारिक मानवशास्त्र अर्थात् यथार्थ जीवन में भौतिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्र की खोजों का प्रयोग।

मानवशास्त्र में आदिम समुदायों (primitive communities) अथवा आदिवासियों का अध्ययन होता है और समाजशास्त्र में आधुनिक समाजों का। जब समाजशास्त्र समाज के विकास का अध्ययन करता है तो मानवशास्त्र के ज्ञान का उपयोग करता है। प्रजाति (race) तथा संस्कृति का दोनों शास्त्रों में अध्ययन होता है। इसी प्रकार बहुत से अन्य ऐसे विषय हैं जिनका अध्ययन करना दोनों विज्ञानों का विषय है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी समता दोनों विज्ञानों में यह है कि दोनों ही मनुष्य के अध्ययन को अपना मुख्य विषय बनाते हैं। बहुत सी धारणाएँ जो समाजशास्त्र में संस्कृति, नस्ल, व्यक्तित्व आदि विषयों के विवेचन में प्रयुक्त होती हैं वे मानवशास्त्र से ली गई हैं। सांस्कृतिक अथवा सामाजिक मानवशास्त्र (Cultural or Social Anthropology)[1] के अनुकरण पर समाजशास्त्र की एक प्रमुख शाखा सांस्कृतिक समाजशास्त्र (Cultural Sociology) चल पड़ी है। लोक समाजशास्त्र (Folk Sociology) पर लिखे गए ग्रन्थ वास्तव में संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं और मानवशास्त्र के विचार और सिद्धान्तों का उपयोग कई देशों के समाजशास्त्र में किया गया है। परन्तु आधुनिक समाजशास्त्री मानवशास्त्रियों के विचार और सिद्धान्तों की अपेक्षा उनकी सामग्री का अधिक उपयोग करते हैं। मानवशास्त्री भी आदिम समाजों के कल्याण के लिए जिन योजनाओं को प्रस्तुत करते हैं उनके निर्माण में समाजशास्त्र की सामग्री का बहुत उपयोग करते हैं। फिर व्यावहारिक मानवशास्त्र और व्यावहारिक समाजशास्त्र दोनों की विधियाँ और लक्ष्य प्रायः एक से ही हैं।

समाजशास्त्र में आधुनिक समाजों का तुलनात्मक अध्ययन होता है। इस अध्ययन में कई बार समाजशास्त्री आदिम समाजों से उदाहरण लेता है क्योंकि आधुनिक समाजों की जटिल संस्थाओं, व्यवहार, समस्याओं और आन्दोलनों को पूर्वज समाजों के सरल ढाँचे अथवा जीवन के आधार पर ही समझा जा सकता है। मानव

---

1 Social Anthropology is the study of the development and various types of social life.—Majumdar & Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay (1956), p. 4

शास्त्री जनजातीय समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके जीवन, रीति रिवाज, सम्थाओं, कला, धर्म, भाषा तथा संस्कृति का ज्ञान प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र आधुनिक समाजों की रीति रिवाजों, संस्थाओं संस्कृति धर्म कला तथा सामूहिक व्यवहार का अध्ययन कर उनको कायम रखने वाले सामाजिक मूल्यों की भावना का पता लगाकर इन समाजों की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयत्न करता है। आधुनिक भारत में सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए जो योजनाएँ बनाई गई हैं उनमें दोनों आदिम तथा आधुनिक समाजों से आवश्यक तथ्य और सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का सहयोग लिया गया है। वास्तव में, दोनों विज्ञान मनुष्य और उसके समाज का ही अध्ययन करते हैं सिर्फ उनके दृष्टिकोण में अन्तर है। क्रोबर (Kroeber) का मत है कि सिद्धान्तत इन दोनों शास्त्रों का पृथक रखना कठिन है। होबल (Hoebel) विस्तृत अर्थों में दोनों को समान और एक मानता है। सामाजिक मानवशास्त्र तो समाजशास्त्र के अत्यधिक निकट है। वर्तमान समय में ग्रामीण समुदायों तथा कुछ अन्य सामाजिक घटनाओं का अध्ययन दोनों विज्ञानों से होता है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

समाज के राजनैतिक पहलू—जिसमें राज्य की आवश्यकता, राज्य के घटक राज्य तथा कानून, संविधान राज्य द्वारा समाज पर नियन्त्रण करने के साधनों का प्रयोग आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध—शान्ति विषय शामिल होते हैं—का अध्ययन राजनीतिशास्त्र (Political Science) करता है। राज्य की आवश्यकता सामाजिक विकास की किसी विशिष्ट अवस्था पर क्यों हुई इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजनीतिशास्त्र को समाजशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है। किस समाज में किस प्रकार का राज्य है? इसके कौन से कारण हैं? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मालूम करने में समाजशास्त्र द्वारा प्रस्तुत ज्ञान का उपयोग होता है। राज्य समाज पर नियन्त्रण करने के लिए कानून बनाता है। इन कानूनों का उद्देश्य प्रचलित सामाजिक मूल्यों और प्रथाओं तथा परम्पराओं के आधार पर निश्चित होता है। चूँकि सामाजिक नियन्त्रण की सबसे महत्वपूर्ण एजेंसी आज राज्य है इसलिए नियन्त्रण के आधार तय करने में राज्य को प्रचलित सामाजिक मूल्यों (प्रथाओं) पर विचार करना जरूरी हो जाता है। इन सामाजिक मूल्यों की प्रकृति और सापेक्षिक महत्ता निर्धारण करना समाजशास्त्र का कार्य है। राजनैतिक दल अपनी नीति का निर्धारण समाजशास्त्र के ज्ञान के आधार पर करते हैं। आधुनिक युग में सामाजिक समस्याओं का समाधान तथा समाज का नियोजित परिवर्तन राज्य के कार्यक्षेत्र में आता है। क्या राज्य के लिए अपने इस कार्य को करने में समाजशास्त्रीय तथ्य, तथा परिणामों की उपेक्षा करना सम्भव है? हिन्दू कोड बिल बनाने में भारतीय राजनीतिज्ञों ने बहुत अधिक समाजशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग किया है। राज्य की

शास्त्र को सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को केवल अनुमान के रूप में लेना चाहिए और उनकी जाँच सामाजिक व्यवहारों की कसौटी पर करनी चाहिए। यदि ये अनुमान ठीक निकलते हैं तो इनकी सहायता से सामाजिक व्यवहार समझाए जा सकते हैं और यदि ये ठीक नहीं निकलते तो समाजशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान के लिए नई सामग्री जुटाता है।

समाजशास्त्र और जीवशास्त्र

जीवशास्त्र (Biology) में हर प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन का अध्ययन होता है। जीवशास्त्र की दो विशेष शाखाएँ हैं —(१) वनस्पति शास्त्र और (२) जन्तुशास्त्र। जीवशास्त्र में मनुष्य की उत्पत्ति और विकास तथा उसकी शारीरिक और मानसिक रचना में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन होता है। यहाँ मानव प्राणी और पशुओं के भेद का विस्तृत विवेचन होता है। जीवशास्त्र का विकासवाला सिद्धान्त प्रायः सभी सामाजिक विज्ञानों में सम्मानित स्थान पा रहा है। इसी प्रकार जीवशास्त्र के अन्य दो सिद्धान्तों 'सर्वोत्तम का अतिजीवन' (Survival of the Fittest) और 'प्राकृतिक प्रवरण का नियम' (Law of Natural Selection) का भी सामाजिक विज्ञानों के दृष्टिकोण पर भारी प्रभाव पड़ा है। वंशानुक्रमण (Heredity) तो जीवशास्त्र का ही मुख्य विषय है। इसी प्रकार समाज में उपयोजन (adaptation) के सिद्धान्त को जो जीवशास्त्र का ही है अपनाकर सामाजिक उपयोजन का समझाने का प्रयत्न किया गया है। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि समाजशास्त्र में मनुष्य की प्रकृति (nature) उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन के अध्ययन करने में जीवशास्त्र के ज्ञान और नियमों का अच्छा उपयोग किया है। जब समाजशास्त्री मनुष्य के जीवन और समाज पर वंशानुक्रमण तथा पर्यावरण के सापेक्षिक महत्त्व को आँकता है तो जीवशास्त्र और भूगोल दोनों की ही सहायता लेता है। समाज को बहुधा एक सावयवी (organic) व्यवस्था कहा जाता है। इसका सही अर्थ जान कर हम यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि समाज एक सम्पूर्ण व्यवस्था है। इसके विभिन्न अंग-प्रत्यंग परस्पर अन्तःसम्बन्धित और अन्तःआश्रित हैं। अन्त में प्रजननशास्त्र (Genetics) जीवशास्त्र के ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग सिखाने वाली शाखा है। समाजशास्त्री इस ज्ञान शाखा की सहायता से मानव प्रजाति (Human Race) को सुधारने की सम्भावना की छान-बीन करता है।

समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र (Ethics) मनुष्य आचरण का निरूपण करके यह बताता है कि सदाचरण क्या है। मनुष्य की अच्छाई बुराई सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है और ये परिस्थितियाँ देश (समाज) और काल के साथ बदलती रहती हैं। जिस आचरण को आधुनिक भारत अच्छा समझता है उसी को बहुत सम्भव है प्राचीन भारत या मध्यकालीन भारत में बुरा समझा जाता हो। इसी तरह जो आचरण

भारत में निकृष्ट समझा जाता है वही इंगलैंड या अमरीका में आदर्श माना जा सकता है। आदर्श एक नहीं है और न उन्हें ईश्वर या अन्य अति प्राकृत (super natural) शक्तियों ने बनाया है। प्रत्येक समाज का अपना अपना आदर्श होता है। नैतिकता की धारणा सामाजिक संगठन और उद्देश्यों पर आश्रित होती है। मनुष्य अच्छे आचरण मूलतः इसलिए करता है कि इन आचरणों को समाज अच्छा मानता है। इन आचरणों में सर्वोचित नैतिक विचार उसकी संस्थाओं में निहित रहते हैं जिनका प्रभाव मनुष्य पर जन्म से ही पड़ने लगता है। नैतिकता एक सामाजिक धारणा है। वह सामूहिक अनुभव द्वारा निर्धारित होती है। अच्छे बुरे के विचार सापेक्षिक हैं। एक व्यक्ति का आचरण दूसरे की तुलना में अच्छा है। सदाचरण भी सामाजिक धारणा है और कर्तव्य भी। हम कर्तव्य की उपेक्षा इसलिए नहीं करते क्योंकि वह अतीत का आदेश है और वर्तमान या भविष्य की पीढ़ियों के लिए हितकर है।

जहाँ नीतिशास्त्र यह बताता है कि अमुक व्यवहार अच्छा या बुरा है वहाँ समाजशास्त्र इस व्यवहार (आचरण) का अध्ययन करता है और यह बताता है कि किस सामाजिक परिस्थिति (social circumstance) के कारण ऐसा आचरण हुआ है या होता है। समाज में तरह-तरह के रीति रिवाज मान्यताएँ परम्पराएँ और मूल्य होते हैं। समाजशास्त्री उनके अध्ययन से पता लगाता है कि उनके सद् असद् या उचित अनुचित के विषय में नीतिशास्त्र का विचार कहाँ तक युक्तिसंगत है। समाज की प्रगति (progress) का मूल्यांकन नीतिशास्त्र करता है और सामाजिक प्रगति के लिए किस सामाजिक कार्य की आवश्यकता होगी इसका निरूपण समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

समाजशास्त्र और इतिहास

इतिहास अतीत की कहानी है। किन्तु प्राचीन इतिहासकार केवल अद्वितीय (unique) घटनाओं का अध्ययन करते थे। वे अपने इतिहास सबको और तारीखों से स्थानों के नामों से और राजाओं तथा सेनापतियों के कारनामों से भर देते थे। आधुनिक इतिहासकार तारीख नाम स्थान या अनोखी घटनाओं पर अधिक जोर नहीं देते। वे समाज की धारा (current) का निरूपण करते हैं और अद्वितीय घटनाओं का विश्लेषण (analysis) और निर्वाचन (interpretation) केवल इसी उद्देश्य से करते हैं जिससे सामाजिक जीवन की धारा को समझने में सहायता मिले। आधुनिक इतिहासकार समाज को समग्र रूप में—उसके जनसाधारण के व्यवहार, संस्कृति की विशेषताएँ कला-कौशल, साहित्य तथा दमन अनोखी घटनाएँ—अध्ययन करते हैं जिससे आधुनिक समाज के व्यवहार को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से समाजशास्त्री को ऐतिहासिक सामग्री से काफी सहायता मिलती है। पाल बर्थ (Paul Barth) के अनुसार संस्कृति और संस्थाओं का इतिहास समाजशास्त्र को समझने और उसको सामग्री जुटाने में सहायक होता है। आरनाल्ड टायनबी

(Arnold Toynbee) की पुस्तक "ए स्टडी आव हिस्ट्री"[1] समाजशास्त्र को समझने में बड़ी सहायक सिद्ध हो रही है। अब इतिहास के अध्ययन में भी समाजशास्त्र की दृष्टि काम कर रही है। इतिहासकार समाजशास्त्र द्वारा दिये गये सामाजिक सगठन के सिद्धान्तों पर अपनी सामग्री सजाता है और उन सिद्धान्तों के आधार पर एतिहासिक काल का विवेचना करता है। दोनों शास्त्रों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। समाज का इतिहास समाजशास्त्र के बहुत निकट होते हुये भी समाजशास्त्र नहीं है। दोनों शास्त्रों के अध्ययन क्षेत्र अलग अलग हैं।

इतिहास का दर्शन (Philosophy of History) संसार की समस्त घटनाओं और विकासक्रम को किसी खास सिद्धान्त के द्वारा समझना चाहता है। समाजशास्त्र भी सामाजिक सगठन और विकास को किसी खास सिद्धान्त के द्वारा समझने का प्रयत्न करता है। इसलिये इतिहास के दर्शन और समाजशास्त्र के दृष्टिकोणों में समता है। कुछ लेखकों ने अपनी इतिहास के दर्शन की रचनाओं को समाजशास्त्र कहा है और यहा भी कहा जाता है कि समाजशास्त्र का जन्म इतिहास के दर्शन से प्रतिक्रिया (reaction) के रूप में हुआ है किन्तु समाजशास्त्र इतिहास के दर्शन से भिन्न है।"

समाजशास्त्र और समाज दर्शन

समाज-दर्शन (Social Philosophy) दो भागों में विभक्त है आलोचनात्मक या तार्किक और रचनात्मक या समन्वयात्मक। पहले भाग में सामाजिक विज्ञानों का तर्क (logic) और उनमें प्रयुक्त विधियों और सिद्धान्तों की प्रामाणिकता का अध्ययन किया जाता है। इसकी समस्याओं के दो उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। (१) क्या कानून एवं आवश्यक सम्बन्ध की दृष्टि से मानव प्रयत्नों के क्षेत्र में बना रहता है अथवा इस प्रकार की नियमितताओं और मानव इच्छा में कैसा सम्बन्ध है? (२) क्या वस्तुनिष्ठ तत्व का समावेश किसी गम्भीर सामाजिक साधारणीकरण में निश्चय संभव रहा है? समाज-दर्शन का रचनात्मक भाग सामाजिक आदर्शों की प्रामाणिकता या औचित्य पर विचार करता है। इस दृष्टिकोण से यह नीतिशास्त्र के परिणामों को सामाजिक सगठन और विकास की समस्याओं पर प्रयोग है। उदाहरणार्थ प्रगति की समस्या में दोनों समाजशास्त्र और समाज-दर्शन रुचि रखते हैं।

मानव समाज के तथ्यों और उनके अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में आता है और मानवीय मूल्यों का दार्शनिक व्याख्या के क्षेत्र में। सामाजिक विज्ञानों की प्रबल इच्छा वैज्ञानिक निलिप्ति (scientific detachment) बनाये रखने की है विशेषकर उन मामलों में जिनमें मानव के उद्भाव (passions)

1 Arnold Toynbee *A Study of History* Vols I—XIII
2. Ginsberg *Sociology* p 25

और पूवाग्रहा (prejudices) को स्थान है । व यह भी मानकर चलते हैं, यद्यपि इसकी सत्यता म सन्देह है कि मूल्य निर्णय (Value judgments) विषयगत (subjective) है और इसलिये उनका साधारण वैज्ञानिक विधि स परीक्षण नही किया जा सकता । परन्तु यह स्मरण रहे कि ये मूल्य स्वय एक प्रकार के तथ्य हैं अर्थात् व मूल्याकन की विधायें या क्रियायें हैं। क्या अन्तत नीतिशास्त्र समाजशास्त्र का ही एक भाग नहीं हो जाता जिसम उन टगा का अध्ययन होना है जिनम मनुष्य कुछ क्रियाओ को सामाजिक हित म स्वीकार करते हैं और कुछ का अस्वीकार या घृणा करते हैं ? इस दृष्टि से आचारशास्त्र उन समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दशाओ का अध्ययन हो जाता है जिनम नैतिक विश्वास और अभ्यास विकसित हुय हैं। दूसरे सामाजिक तथ्यो का अध्ययन करते समय हम मनुष्य के प्रयोजनो, आदर्शों और आकाक्षाओ (अभिलाषाओ) की उपेक्षा नहीं कर सकते। गिंसबर्ग ठीक ही कहता है कि उद्देश्य और अभिलाषाएँ (मानवो की) ही वह पदार्थ है जिससे सामाजिक घटनाओ की सृष्टि होती है। [1] सम्पूर्ण सभ्यता और समाज के अगो और उपागो को बनाये रखने और उनम प्रगति करने का प्रयास मनुष्य उनके प्रयोजनो अथवा ध्येयो के विचार से करता रहता है। यदि समाज और संस्कृति का कोई भाग या संस्था उनके आदर्शों और अभिलाषाओ के प्रतिकूल है तो वह खिन्न होता है।

मनुष्य की मानवता अधिकाश म उसके पास मूल्यो के होने से है। इसलिये समाजशास्त्री मूल्यो का विचार अवश्य करें। ये मूल्य मानव सम्बन्धो के मुख्य चालक (main springs) हैं। समाजशास्त्र एक विज्ञान है और उसका अध्ययन कम विषयता एव लगावरहितता से किया जा सकता है। किन्तु यह बात भी सत्य है कि— मानव गतिविधियो या सम्बन्धो म मानवीय मूल्यो के महत्व की उपेक्षा नही की जा सकती। समाजशास्त्री को दो स्तरो पर कार्य करना पड जाता है। प्रथम वह मूल्यो को तथ्य मानकर अध्ययन करता है, द्वितीय वह तथ्यो का मूल्य मानकर उन्हे सम्पन्न का प्रयास करता है। यह बात तक सम्मत है और उसे मान लेने पर "क्या है" और 'क्या होना चाहिए' के बीच की दूरी भी समाप्त हो जाती है। अन्त म इसी दृष्टिकोण को अपनाने पर हम अपने प्रिय ससार का परिवर्तन और सुधार करने म सफल हो सकते हैं।[2] इस विश्लेषण स समाजशास्त्र और समाजदर्शन म कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही रह जाता है। परन्तु इन दोनो ज्ञान शाखाओ के वास्तविक सम्बन्ध का सदैव सामने रखना चाहिये। यद्यपि इन दोनो का अध्ययन साथ-साथ हो सकता है परन्तु उनम व्यग्रता या गडबडी (confusion) न आ जाय।

---

1 Are not ends and strivings the very stuff out of which social happenings are made ' —Ginsberg *Sociology* p 27

2 Rumney and Maier *The Science of Society* Gerald Duckworth & Co Ltd London (1953) (Foreword)

(Arnold Toynbee) की पुस्तक 'ए स्टडी ऑव हिस्ट्री'[1] समाजशास्त्र को समझने में बड़ी सहायक सिद्ध हो रही है। अब इतिहास के अध्ययन में भी समाजशास्त्र की दृष्टि काम कर रही है। इतिहासकार समाजशास्त्र द्वारा दिये गये सामाजिक संगठन के सिद्धान्तों पर अपनी सामग्री सजाता है और उन सिद्धान्तों के आधार पर ऐतिहासिक काल की विवेचना करता है। दोनों शास्त्रों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। समाज का इतिहास समाजशास्त्र के बहुत निकट होते हुये भी समाजशास्त्र नहीं है। दोनों शास्त्रों के अध्ययन क्षेत्र अलग अलग हैं।

इतिहास का दर्शन (Philosophy of History) संसार की समस्त घटनाओं और विकासक्रम को किसी खास सिद्धान्त के द्वारा समझना चाहता है। समाजशास्त्र भी सामाजिक संगठन और विकास को किसी खास सिद्धान्त के द्वारा समझने का प्रयत्न करता है। इसलिये इतिहास के दर्शन और समाजशास्त्र के दृष्टिकोणों में समता है। कुछ लेखकों ने अपनी इतिहास के दर्शन की रचनाओं को समाजशास्त्र कहा है और कहा भी जाता है कि समाजशास्त्र का जन्म इतिहास के दर्शन से प्रतिक्रिया (reaction) के रूप में हुआ है किन्तु समाजशास्त्र इतिहास के दर्शन से भिन्न है।[2]

समाजशास्त्र और समाज दर्शन

समाज-दर्शन (Social Philosophy) दो भागों में विभक्त है आलोचनात्मक या तार्किक और रचनात्मक या समन्वयात्मक। पहले भाग में सामाजिक विज्ञानों का तर्क (logic) और उनमें प्रयुक्त विधियों और सिद्धान्तों की प्रामाणिकता का अध्ययन किया जाता है। इसकी समस्याओं के दो उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। (१) क्या कानून एवं आवश्यक सम्बन्ध की दृष्टि से मानव प्रयत्नों के क्षेत्र में कार्य करता है अथवा इस प्रकार की नियमितताओं और मानव इच्छा में कैसा सम्बन्ध है? (२) क्या वैयक्तिक तत्व को समाविष्ट किये बिना गम्भीर सामाजिक साधारणीकरण के लिये स्थान रहा है? समाज-दर्शन का रचनात्मक भाग सामाजिक आदर्शों की प्रामाणिकता या औचित्य पर विचार करता है। इस दृष्टिकोण से यह नीतिशास्त्र में परिणामों का सामाजिक संगठन और विकास की समस्याओं पर प्रयोग है। उदाहरणार्थ प्रगति की समस्या में दोनों समाजशास्त्र और समाज दर्शन रुचि रखते हैं।

मानव समाज के तथ्यों और उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में आता है और मानवीय मूल्यों का दार्शनिक शास्त्रों के क्षेत्र में। सामाजिक विज्ञानों को प्रायः इच्छा वैज्ञानिक निर्लिप्ति (scientific detachment) बनाये रखना पड़ता है विशेषकर उन मामलों में जिनमें मानव के उग्रभाव (passions)

1 Arnold Toynbee *A Study of History* Vols I—XIII

2. Ginsberg *Sociology* p 25

और पूर्वाग्रहों (prejudices) को स्थान है। वे यह भी मानकर चलते हैं यद्यपि इसकी सत्यता में सन्देह है कि मूल्य निर्णय (Value judgments) विषयगत (subjective) है और इसलिये उनका साधारण वैज्ञानिक विधि से परीक्षण नहीं किया जा सकता। परन्तु यह स्मरण रहे कि ये मूल्य स्वयं एक प्रकार के तथ्य हैं अर्थात् वे मूल्यांकन की विधायें या क्रियायें हैं। क्या अन्ततः नीतिशास्त्र समाजशास्त्र का ही एक भाग नहीं हो जाता जिसमें उन ढंगों का अध्ययन होता है जिनमें मनुष्य कुछ क्रियाओं को सामाजिक हित में स्वीकार करते हैं और कुछ को अस्वीकार या घृणा करते हैं? इस दृष्टि से आचारशास्त्र उन समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दशाओं का अध्ययन हो जाता है जिसमें नैतिक विश्वास और अभ्यास विकसित हुए हैं। दूसरे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करते समय हम मनुष्य के प्रयोजनों, आदर्शों और आकांक्षाओं (अभिलाषाओं) की उपेक्षा नहीं कर सकते। गिन्सबर्ग ठीक ही कहता है कि "उद्देश्य और अभिलाषाएँ (मानवों की) ही वह पदार्थ है जिससे सामाजिक घटनाओं की सृष्टि होती है।[1] सम्पूर्ण सभ्यता और समाज के अंगों और उपांगों को बनाये रखने और उनमें प्रगति करने का प्रयास मनुष्य उनके प्रयोजनों अथवा ध्येयों के विचार से करता रहता है। यदि समाज और संस्कृति का कोई भाग या संस्था उनके आदर्शों और अभिलाषाओं के प्रतिकूल है तो वह खिन्न होता है।

मनुष्य की मानवता अधिकांश में उसके पास मूल्यों के होने से है। इसलिये समाजशास्त्री मूल्यों का विचार अवश्य करें। ये मूल्य मानव सम्बन्धों के मुख्य चालक (main springs) हैं। समाजशास्त्र एक विज्ञान है और उसका अध्ययन कम विषयकता एवं लगावरहितता से किया जा सकता है। किन्तु यह बात भी सत्य है कि—मानव गतिविधियों या सम्बन्धों में मानवीय मूल्यों के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। समाजशास्त्री को दो स्तरों पर कार्य करना पड़ जाता है। प्रथम वह मूल्यों को तथ्य मानकर अध्ययन करता है द्वितीय वह तथ्यों का मूल्य मानकर उन्हें समझने का प्रयास करता है। यह बात तर्क सम्मत है और उसे मान लेने पर 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के बीच की दूरी भी समाप्त हो जाती है। अन्त में इसी दृष्टिकोण को अपनाने पर हम अपने प्रिय समाज का परिवर्तन और सुधार करने में सफल हो सकते हैं।[2] इस विश्लेषण से समाजशास्त्र और समाज-दर्शन में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु इन दोनों ज्ञान शाखाओं के वास्तविक सम्बन्ध को सदैव सामने रखना चाहिये। यद्यपि इन दोनों का अध्ययन साथ-साथ हो सकता है परन्तु उनमें व्यग्रता या गड़बड़ी (confusion) न आ जाय।

---

1 Are not ends and strivings the very stuff out of which social happenings are made? —Ginsberg: *Sociology* p 27

2 Rumney and Maier *The Science of Society* Gerald Duckworth & Co Ltd London (1953) (Foreword)

हम यह नहीं सोचना चाहिए कि घटनायें इसलिये होती हैं कि वे अच्छी हैं या वे बुरी हैं क्योंकि घटित होती हैं नहीं तो तथ्यों का कथन पक्षपातपूर्ण हो जायगा और हमारा मूल्यों का निर्णय भ्रष्ट हो जायेगा।[1]

हम समाजशास्त्र और समाज-दर्शन के उपयुक्त सम्बन्ध को बनाये तभी रख सकते हैं जब इस सम्बन्ध में व्युत्पत्ति (confusion) के खतरों को याद रखें। यदि हम आदर्श को यथार्थ मानें तो उसे पतित (निकृष्ट) बना देंगे और यदि यथार्थ में हम अपनी इच्छाओं और पूर्व स्नेहों या पक्षपातों (predilection) को थोपेंगे। मूल्यों तथा तथ्यों के अध्ययन को पृथक रखना चाहिये। हाँ, इस पड़ताल (inquiry) के दोनों प्रकारों को प्रन्तत समन्वय करके उन्हें साथ साथ लाना चाहिये। यदि उन्हें सर्वथा पृथक रखा जाय या उनके भेद को न समझा जाय इन दोनों स्थितियों में गड़बड़ी पैदा होगी। मानव जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन में सामाजिक विज्ञान और समाज-दर्शन का समन्वय आवश्यक है न कि उन दोनों का परस्पर विलयन (fusion)।[2]

सामाजिक विज्ञानों का एकीकरण[3]

विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। यदि उन सब का उद्देश्य सामाजिक घटनाओं (social phenomena) की पूर्ण व्याख्या करना है तो यह वर्तमान प्रचलित खण्ड-खण्ड विधियों से सम्भवतया नहीं प्राप्त हो सकता। ज्ञान के प्रयोजन के लिए सारे समाज और उसकी संस्कृति को एक ही क्षेत्र माना जाना चाहिए। सामाजिक विज्ञानों का चरम उद्देश्य यह है कि वे अन्तत उन सभी कारकों और सम्बन्धों को ज्ञात कर लें जिनको यदि सारूप्य में (synoptically) देखा जाय तो वे इस क्षेत्र की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। विशिष्ट शास्त्रों की उन्नति करना एक श्लाघ्य ध्येय है क्योंकि इसी से गूढ़ ज्ञान की अभिवृद्धि हो सकती है। परन्तु समाजशास्त्र और अन्य विशिष्ट विज्ञानों की अस्वाभाविक पृथकत्व समाज का एक पूर्ण ज्ञान शायद कभी भी विकसित नहीं कर सकेगा। उन्होंने एक सम्पूर्ण के टुकड़े करके आपस में बाँट लिए हैं परन्तु यदि इनके अध्ययन के परिणामों को एकत्र किया जाय तो वे उस सम्पूर्ण की पूर्ण जानकारी दे सकेंगे। इस वस्तु सत्य के प्रति सभी समाज वैज्ञानिक पूरी तरह से जागरूक नहीं हैं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है।

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण (integration) में इटिंग्टन कम से दो कठिनाइयाँ बताता है। प्रथम यह प्रचलित विचार कि समाजशास्त्र स्वयं होकर एक आधारभूत सामाजिक विज्ञान बनने का प्रयत्न करे। द्वितीय कुछ समाज

1 Hobhouse quoted by Ginsberg in his above book p [illegible]
2 A complete study of human life thus involves a synthesis but not a fusion of Social Science and Social Philosophy —Ginsberg *Ibid* p 37
3 Gurvitch & Moore *op cit* pp 10 19

शास्त्रियों का यह विचार कि समाजशास्त्र और सामाजिक विज्ञान अपनी विषय-वस्तुओं की अध्ययन विधि मे आमूल (radical) परिवर्तन करें जिसका उद्देश्य एक ऐसे केन्द्र बिन्दु (focal point) की खोज करना हो जो सभी ज्ञान-शाखाओं में सामान्यत पाया जाए और जो विशेषीकरण (specialization) के सभी लाभों को बनाए रखने के साथ ही एकीकरण के मार्ग का सकेत दे। 'सामाजिक विज्ञान विचार' (Social Science Thought) का नवीन आन्दोलन इस दिशा में अगला कदम है परन्तु इसकी सफलता अभी अत्यधिक सदिग्ध है। इन कठिनाइयों का एक सम्भाव्य समाधान (possible solution), कर्म के अनुसार एक नई ज्ञानशाखा की सृष्टि करने में हो सकता है। यह नई ज्ञानशाखा सामाजिक विज्ञानों के दर्शन (Philosophy of Social Sciences) के नाम से पुकारी जा सकती है। इसकी अध्ययन-वस्तु स्वय विशिष्ट विज्ञान हो सकते हैं और इसका कार्य इन विज्ञानों के अभ्यासों और मान्यताओं (assumptions) का समीक्षात्मक विश्लेषण होगा और अन्तत यह एक ऐसे सिद्धान्त (theory) का निर्माण करेगी जो समग्र समाज की समस्याओं का उत्तर दे सकेगी।

३

समाजशास्त्र की अध्ययन विधियाँ

समाजशास्त्र एक विज्ञान है। मूलतः विज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञान प्राप्त करने की एक विधि या रीति (method) से है। यह विधि ज्ञान प्राप्त करने की अन्य सभी विधियों से भिन्न है क्योंकि इसमें प्रयोग सिद्ध जाँचों (empirical tests) के प्रयोग पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। विज्ञान में अन्तर्दृष्टि और निगमनात्मक तर्क के प्रयोग की वस्तुतः गुंजाइश है किन्तु इनका निरीक्षण उन जाँच-पड़तालों से किया जाता है जिनमें दूसरी विधियों से निर्मित सिद्धान्तों (theories) की परीक्षा व्यवस्थित अवलोकन से होती रहती है।[1] अन्य विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र भी अपने विषय का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक विधि (scientific method) का प्रयोग करता है। कोई विषय विज्ञान है अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि उसमें वैज्ञानिक विधि का उपयोग होता है अथवा नहीं। अध्ययन की विधि या पद्धति ही किसी ज्ञानशाखा को विज्ञान या कला बना सकती है। समाजशास्त्र के एक विज्ञान होने की घोषणा पहले की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में विज्ञान की मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। उन्हीं के सन्दर्भ में समाजशास्त्र की अध्ययन विधियों का विवेचन करना उपयुक्त होगा।

विज्ञान की मूलभूत कल्पना

विज्ञान व्यवस्थित रूप से संगृहीत एक ज्ञान है। इसकी अध्ययन पद्धति का प्रयोग कुछ मान्यताओं पर निर्भर रहता है। प्राकृतिक अथवा जैविक विज्ञानों में होने वाले शोध अथवा अनुसंधान में निम्नलिखित तत्वों (या मान्यताओं) पर ध्यान दिया जाता है

(१) संसार की नियमितता—प्रत्येक वैज्ञानिक अनुसंधान यह मानकर चलता है कि हमारा संसार व्यवस्थित रूप में संगठित है। इसके सभी तत्व प्राकृतिक जैविक अथवा सामाजिक, सांस्कृतिक नियमित रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रकृति की

---

1 In essence the term science refers to a method of acquiring knowledge. It is a method which differs from all other methods of acquiring knowledge by its emphatic insistance upon rigorous empirical tests. In science there is ample room for the use of intuition and deductive logic but they are constantly checked by enquiries in which theories arrived at by these other methods are tested by systematic observations.

—Freedman etc *Principles of Sociology* p 25

प्रत्येक घटनाक्रम के पीछे एक नियमितता दिखाई देती है। ग्रीष्म गर्मी के बाद वर्षा होती है। चन्द्रमा रात्रि में ही उदय होता है और सूर्य का प्रकाश दिन में ही दिखता है। ऋतुओं में भी एक स्थायी क्रम है। गर्मी के बाद वर्षा फिर सर्दी और पुनः गर्मी। इसी प्रकार पौधों, जीव जन्तुओं तथा समस्त प्राकृतिक घटनाओं की उत्पत्ति विकास तथा नाश का एक निश्चित क्रम है। ब्रह्माण्ड में कहीं भी कोई अनियमितता नहीं दिखाई देती। प्रकृति के सभी तत्वों और घटनाओं का जो पारस्परिक सम्बन्ध है उसमें कार्य-कारण (cause and effect) का महत्वपूर्ण नियम काम करता है। अतः विज्ञान की यह मूलभूत मान्यता है कि उसी विषय अथवा घटना का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन हो सकता है जिसके तत्व नियमितता के सिद्धान्त से कार्य करते हों।

(२) घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का प्राकृतिक होना—विज्ञान की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि यह घटनाओं अथवा पदार्थों का विश्लेषण उनके अन्दर के तत्त्वों के आधार पर ही करता है। यदि किसी पशु या पौधा विशेष की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा पड़े तो वैज्ञानिक उसके कारण की खोज उस पशु अथवा पौधा के भीतर ही तलाश करेगा। वह इस बात से कदापि सहमत नहीं हो सकता कि पशु या पौधा की प्रतिबाधित वृद्धि का कारण किसी बाह्य अथवा अतिभौतिक शक्ति का कोप है। वैज्ञानिक का दृष्टिकोण धर्मशास्त्र अथवा जादूगर के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। वह ब्रह्माण्ड की किसी घटना का विश्लेषण एवं किसी सिद्धान्त अथवा नियम से नहीं करना चाहता जिसमें किसी निर्वचनीय शक्ति (जैसे भगवान या नियति) की कल्पना की गई हो।

(३) घटनाओं का अवलोकन और माप हो सकती है—विज्ञान की तीसरी मान्यता यह है कि प्रत्येक पदार्थ अथवा घटना का अवलोकन (observation) हो सकता है। जो वस्तु अवलोकन से परे है उसके अस्तित्व में वैज्ञानिक को सन्देह रहता है और जो घटना अवलोकनीय है उसे नापकर संख्यात्मक अथवा परिमाणात्मक भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। अवलोकन तथा परिमाप (measurement) की सहायता से विज्ञान तथ्यों का स्पष्ट करता है। अवलोकन से प्रारम्भ होकर पुनः अन्त में अवलोकन पर लौट आता है क्योंकि तभी तथ्यों की सत्यता की परीक्षा होती है।[1]

(४) घटनाओं का विषयक और निर्लिप्त अध्ययन सम्भव—विज्ञान की चौथी महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि वैज्ञानिक अध्ययनगत वस्तु या विषय से विषयकता (objectivity) तथा निर्लिप्ति या अलगाव (detachment) बनाये रख सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला में काम करते समय तटस्थ (neutral) होता है। उसे न किसी विषय के प्रति कोई पूर्वाग्रह (prejudice) होता है और न उसके प्रति पक्षपात (bias)। वैज्ञानिक सभी वस्तुओं अथवा घटनाओं के प्रति संवेगात्मक तटस्थता

---

1 Science begins with observation and ultimately returns to observation for verification of facts

(emotional neutrality) का दृढ दृष्टिकोण बनाये रखने में समर्थ है। यही कारण है कि विज्ञान को नीति-तटस्थ (ethically neutral) ज्ञानशाखा कहा जाता है। यदि वैज्ञानिक अध्ययनगत विषय के गुण-दोष का विचार कर उससे किसी भी अंश में प्रभावित होकर अपनी बुद्धि की स्वतन्त्रता अथवा निर्णय की स्वायत्तता खो बैठे तो वह उस विषय के बारे में सही ज्ञान देने में निश्चय ही असफल हो जायगा। अतः अलगाव और विषयरता (detachment and objectivity) विज्ञान की अनिवार्य मान्यता है।

(५) नियन्त्रित परीक्षणों की सम्भावना—वैज्ञानिक अध्ययन की एक आवश्यक मान्यता यह भी है कि अध्ययनगत विषयों अथवा घटनाओं का अवलोकन परीक्षण इच्छित दशाओं में हो सके। अतएव वैज्ञानिक के लिए प्रयोगशाला एक अनिवार्य आवश्यकता है। वह अपनी प्रयोगशाला में वस्तु के किसी भी पहलू का निरीक्षण विभिन्न परिवर्तित दशाओं में कर सकता है। ऐसी स्थिति को नियन्त्रित परीक्षण की स्थिति कहते हैं। उदाहरणार्थ चूहे को कैंसर रोग से पीड़ित कर विभिन्न जलवायुओं अथवा कृत्रिम वातावरणों में उसके उपचार का प्रयास किया जाता है तो नियन्त्रित परीक्षण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार सिगरेट के धुएँ में विभिन्न जन्तुओं में चूहों को रखकर सिगरेट के खतरों की जाँच करना नियन्त्रित परीक्षण का उदाहरण है।

(६) नियमों की सार्वभौमिकता—विज्ञान के नियम सार्वभौमिक (universal) होते हैं। गर्मी का अनुभव सभी को एक-सा होता है। वह सर्वत्र एक जैसी होती है। कार्यकारण के तत्वों में देशकाल की भिन्नता से कोई अन्तर नहीं आता। पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति सभी स्थानों पर क्रियाशील होती है। यदि मनुष्य चिन्ता के कारण शीघ्र बूढ़ा हो जाता है तो यह बात सभी ऐसे ही चिन्ताग्रस्त व्यक्तियों के लिए सत्य है। प्रकृति के किसी पदार्थ की रचना अथवा परिवर्तन के सम्बन्ध में देश-काल अथवा परिस्थिति के कारण कोई विशेष अन्तर नहीं आता। तूफान आने के पूर्व घर में सर्वत्र शान्ति छा जाता है। यह बात अमरीका पाकिस्तान भारत और रूस सबमें समानतया सही है।

(७) कठिन कार्य, धैर्य और सन्देह करने की मनोवृत्ति—विज्ञान की यह मान्यता है कि सत्य की खोज में अनवरत परिश्रम (hard work) और धैर्य (patience) की नितान्त आवश्यकता है। सत्य तक पहुँचने का कोई जल्दी का रास्ता (short cut) नहीं है और न परम सत्य मिलने तक वैज्ञानिक को धैर्यहीन अथवा निराश ही होना चाहिये। प्रत्येक घटना का विश्लेषण कार्य-कारण सम्बन्धों के सन्दर्भ में सम्भव है। किसी विषय का जानकारी विज्ञान की पहुँच के बाहर नहीं है। भौतिक संसार के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए यदि किसी में कठिन कार्य तथा धैर्य रखने की प्रवृत्ति क्षमता न हो तो उसे विज्ञान के क्षेत्र में कदापि पदार्पण नहीं करना

चाहिये। वास्तव में, जब तक किसी घटना का विश्लेषण उसकी यथार्थ सत्यता तक नहीं पहुँचा देता वैज्ञानिक उस घटना को एक अबोध बालक की भाँति सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखता रहता है। निरन्तर सन्देह विज्ञान की सबसे बड़ी कसौटी है।[1] यह सत्य है कि निरन्तर सन्देह के बाद जो भी तथ्य बचेगा वह सर्वश्रेष्ठ साक्ष्य से पुष्ट होगा।

उपरोक्त सभी मान्यताओं को भौतिक विज्ञानों में अपना लिया गया है। उनमें अवलोकन व परीक्षण होता है। वे प्रयोगशाला पद्धति का प्रयोग अनिवार्य रूप से करते हैं। वस्तुओं और घटनाओं के विश्लेषण में कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा नियमितता की खोज की जाती है। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में कठिन कार्य और धैर्य तथा निरन्तर सन्देह की प्रवृत्तियों का अभूतपूर्व प्रयोग हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप भौतिक जगत् के अध्ययन और नियन्त्रण में भौतिक शास्त्रियों ने अकथनीय सफलता प्राप्त की है।

वैज्ञानिक विधि क्या है ?

कार्ल पियर्सन के मतानुसार सत्य तक पहुँचने के लिए कोई संक्षिप्त पथ नहीं है। ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध ज्ञान के लिए हम वैज्ञानिक विधि के द्वार से ही गुजरना पड़ेगा।[2] वैज्ञानिक पद्धति क्या है ? यह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान किसे कहते हैं। साधारणतया भौतिक विज्ञानों भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव शास्त्र तथा प्राणि शास्त्र या भूगर्भशास्त्र आदि को ही हम विज्ञान की संज्ञा देते हैं। परन्तु विज्ञान का अर्थ केवल भौतिक विज्ञान नहीं है। मूलतः विज्ञान का अर्थ एक क्रमबद्ध या व्यवस्थित ज्ञान से है। ज्ञान में क्रमबद्धता तभी सम्भव है जब उसको किसी क्रमबद्ध या व्यवस्थित पद्धति से अर्जित किया जाय। अतः विज्ञान कोई भी विषय हो सकता है यदि उसका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से हो। लुण्डबर्ग के विचार से अध्ययनगत समस्या का न्यायपूर्ण व्यवस्थित अवलोकन, सत्यापन, वर्गीकरण और उसका निर्वाचन (कार्य-कारण व्याख्या) ही वैज्ञानिक पद्धति है।[3] इस विषय में स्टुअर्ट चेज की उक्ति का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उसके मतानुसार विज्ञान

---

1 Constant skepticism is the basic desideratum of science

Or

What is called scientific method differs radically from other methods by encouraging and developing the utmost possible doubt so that what is left after such doubt is always supported by the best available evidence —M R Cohen and E Nagel

2 There is no short-cut to truth no way to gain knowledge of the Universe except through the gateway of scientific method

—Karl Pearson *A Grammar of Logic and Science*

3 Scientific method refers to a judicious and systematic observation of the Phenomena under study their verification classification and interpretation —Lundberg *Social Research* p 5

Broadly speaking Scientific method consists of systematic observation classification and interpretation of data —*Lundberg*

पद्धति का सहगामी है विषय का नहीं ।'[1] अर्थात् किसी भी विषय के अन्तर्गत आने वाली घटनाओं की प्रकृति में यदि वे तत्व निहित हैं जिनकी मान्यताएँ उपरोक्त हैं तो उसका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से हो सकता है और वह विषय विज्ञान बनने का अधिकारी हो सकता है ।

बर्नार्ड ने विज्ञान की परिभाषा निम्नांकित छः प्रमुख प्रतिक्रियाओं के आधार पर की है जो उसमें घटित होती हैं —

(१) परीक्षण (testing), (२) सत्यापन (verification) (३) परिभाषा (definition) (४) वर्गीकरण (classification) (५) संगठन और अभिमुखन (organisation and orientation), (६) पूर्व कथन और व्यवहार (prediction and application) । कार्ल पियर्सन के विचार से वैज्ञानिक पद्धति की निम्नांकित विशेषताएँ हैं —[3]

(अ) तथ्यों का सावधानीपूर्वक एवं सही वर्गीकरण और उनके सह-सम्बन्धों एवं क्रमों का अवलोकन,

(आ) रचनात्मक कल्पना की सहायता से वैज्ञानिक नियमों की खोज

(इ) आत्मालोचना तथा सामान्य मस्तिष्कों के लिए समान प्रामाणिकता ।

इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक पद्धति की पाँच प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(अ) सत्यापनशीलता (verifiability)

(आ) वस्तुनिष्ठता (objectivity),

(इ) निश्चयात्मकता (definiteness)

(ई) सामान्यता (generality) और

(उ) पूर्व कथन करने की क्षमता (ability for prediction)

वैज्ञानिक पद्धति अध्ययन की व्यवस्थित कार्यप्रणाली (procedure) है जिसमें निम्नांकित अवस्थाओं अथवा चरणों (stages or steps) से होकर गुजरना पड़ता है—[4]

(अ) परीक्षण (testing or experimentation)

(आ) अवलोकन (observation)

---

1 Science goes with the method and not with the subject matter
—*Stuart Chase*

2 L. L. Bernard *The Field and Methods of Sociology* p. 31

3 (a) Careful and accurate classification of facts and observation of their correlation and sequences
(b) the discovery of scientific laws by aid of the creative imagination
(c) self-criticism and the final touchstone of equal validity for all normally constituted minds
—Karl Pearson *A Grammar of Logic and Science* (1911)

4 P. V. Young *Scientific Social Surveys and Research*

(इ) तथ्यों का संग्रह (collection of data)

(ई) तथ्यों का वर्गीकरण और परस्पर सम्बन्ध निर्धारण (classification and correlation of pacts)

(उ) अर्थ निर्धारण (निवचन या व्याख्या) एव साधारणीकरण (interpretation and generalization)

(ऊ) सत्यापन एव नियमों की स्थापना (verification and statement of laws)

प्रमुख वैज्ञानिकों की राय में वैज्ञानिक पद्धति के निम्नलिखित चरण हैं—

(१) उपकल्पना का निर्माण (Formulation of hypothesis)

(२) सामग्री का अवलोकन व सकलन (Observation and collection of data)

(३) सामग्री का व्यवस्थापन व वर्गीकरण (Processing and classification of data)

(४) निवचन का साधारणीकरण (Interpretation and Generalization)

(५) नियमों का सत्यापन (Verification of laws)

इन्हीं प्रणालियों के उपयोग से किसी भी विषय का अध्ययन वैज्ञानिक हो सकता है और उससे जो ज्ञान सकलित होगा वह विज्ञान की आधारभूत विशेषताओं के अनुरूप होगा। अतएव यह प्रश्न करना कि क्या समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग हो सकता है निरर्थक है। उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र या किसी भी सामाजिक विषय की आवश्यक पद्धति वैज्ञानिक हो सकती है। तो आइए देखें अभी तक समाजशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन किन रीतियों से होता रहा है और उनमें से कौन सी रीतियाँ वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक थी। अतत हम यह भी सकेत करना आवश्यक समझते हैं कि वर्तमान समय में प्रयुक्त समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ कहाँ तक वैज्ञानिक विधि की कसौटियों पर खरी उतरती हैं और यदि उनमें किसी प्रकार का अभाव है तो उसे दूर करने की दिशा में क्या प्रयास हो रहा है ?

समाजशास्त्र में प्रयुक्त अध्ययन रीतियाँ

(१) विपरीत निगमन विधि

बहुत काल से सकलन में तर्क की दो प्रसिद्ध विधियाँ, आगमन विधि (inductive method) और निगमन विधि (deductive method), प्रयुक्त होती आई हैं। इन दोनों विधियों में भेद यह है कि आगमन विधि विशिष्ट दृष्टान्तों (particular instances) से नियम (laws) निकालती है और निगमन विधि नियमों (laws) से प्रारम्भ करके उन्हें विशिष्ट दृष्टान्तों पर घटाकर

देखनी है । अर्थात्, प्रथम विधि में कई विशिष्ट घटनाएँ लेकर यह देखा जाता है कि क्या व्यावहारिक जगत में होने वाली ऐसी सभी घटनाओं की व्याख्या करने के लिए कोई सामान्य नियम बनाया जा सकता है । उदाहरणतः राम मर गया, श्याम मर गया, मोहन मर गया, जगदीश मर गया । इन व्यक्तियों की मृत्युएँ विशिष्ट घटनाएँ हैं । ये सभी व्यक्ति मनुष्य थे । यदि ऐसे ही अनेक व्यक्ति मरते पाये जायँ तो मनुष्यों के बारे में एक सामान्यीकरण किया जा सकता है जैसे मनुष्य मरणशील है ।

निगमन विधि उपरोक्त विधि के विपरीत है । इसमें किसी साधारण नियम का सत्यापन विशिष्ट घटनाओं पर घटाकर किया जाता है । उदाहरणतः मनुष्य मरणशील है । यह एक साधारण नियम है । यदि विशिष्ट मनुष्य भी मरणशील पाये जाएँ तो उपरोक्त साधारणीकरण सही सिद्ध हो जायगा और वह ज्ञान का एक भाग बन जायगा । अब देखिए अजीत एक मनुष्य है अतः वह मरणशील है । मोहन भी मनुष्य है अतः वह भी मर जायगा । निगमन विधि में साधारण घटनाओं से विशिष्ट घटनाओं की ओर जाते हैं ।

नियम (laws) दो प्रकार के होते हैं । जो नियम अवलोकन (observation) तथा परीक्षण (experimentation) से पुष्ट होकर बनते हैं उन्हें नियम कहा जाता है । किन्तु जो नियम अभी पूर्ण सत्य नहीं हो पाये उनके सत्यापन के लिए अब भी अवलोकन और परीक्षण हो रहे हैं उन्हें प्रयोगसिद्ध साधारणीकरण (empirical generalizations) कहा जाता है ।

आगमन विधि दृष्टान्तों को देखकर अवलोकन परीक्षण द्वारा "नियमों तथा प्रयोग सिद्ध साधारणीकरणों" का पता लगाती है । प्रत्यक्ष निगमन विधि (direct deductive method) का आधार नियम होते हैं । प्रयोगसिद्ध साधारणीकरण' विपरीत निगमन विधि (inverse deductive method) का आधार होते हैं । समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि कुछ सामाजिक विज्ञानों के आधार परीक्षणात्मक साधारणीकरण होते हैं । इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों का आधार निश्चित नियम (definite laws) होते हैं । सामाजिक विज्ञानों तथा भौतिक विज्ञानों के नियमों (साधारणीकरणों) में केवल विकास अथवा प्रौढ़ता के अंशों में अन्तर है ।[1]

समाज के दो या अधिक क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन विपरीत निगमन विधि में किया जाता है । जहाँ स्त्री धन की उत्पत्ति में सहायक और सामाजिक प्रतिष्ठा की वस्तु होती है वहाँ बहु भार्या परिवार पाये जाते हैं । आर्थिक

1 See especially the positivistic approach adopted by George Lundberg and Stuart C Dodd Lundberg's categorical statement that the laws of natural sciences and those of social sciences are quite similar in respect of their nature has been supported by many master sociologists of the positivistic and non positivistic schools including T Parson and R. Merton The position taken by McIver Znaniecki & Sorokin on this issue runs counter to the above view

व्यवस्था और नैतिक विचारों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार के सम्बन्ध औद्योगीकरण और पूंजीवाद में, शहरी जीवन और पारिवारिक विघटन, युद्ध और वर्ग भेदों में पाये जाते हैं। विपरीत निगमन विधि की पहली सीढ़ी पर समाज के भिन्न भिन्न पहलुओं में कृत्यात्मक सह-सम्बन्ध को ढूँढा जाता है। इस विधि की दूसरी सीढ़ी पर हम तब पहुँचते हैं जब उपरोक्त सम्बन्ध को बताकर यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि समाज के एक पहलू में अन्तर होने से उसके अनुरूप ही दूसरे पहलू में भी अन्तर होता है। जैसे क्या आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होने पर वर्ग-संघर्ष या वर्ग भेदों में भी परिवर्तन आता है? जलवायु और आत्महत्या, आवारगी और बेकारी गरीबी और अपराध, बाल विवाह और शिशु-मृत्यु आदि में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इन अध्ययनों से निकाले गए परिणामों को जब हम मनुष्य के जीवन और विकास से सम्बन्धित जीवशास्त्र या मानवशास्त्र के अधिक व्यापक सिद्धान्तों से घटाते हैं तो हम इस विधि की तीसरी व अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचते हैं। इस विधि में निगमन और आगमन दोनों पद्धतियों का समावेश रहता है। समाजशास्त्र अपने परिणामों को भिन्न भिन्न दृष्टान्तों के साथ नहीं, परन्तु अन्य विज्ञानों के माने हुए परिणामों के साथ परखता है। यदि मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास उन परिणामों की पुष्टि करते हैं जिन पर समाजशास्त्र पहुंचा है तो उन परिणामों की सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता।

(२) ऐतिहासिक विधि (*Historical Method*)

विपरीत निगमन विधि को ऐतिहासिक विधि भी कहा जाता है क्योंकि इसी विधि का मुख्यतया इतिहास में प्रयोग होता है। परन्तु कई विद्वान ऐतिहासिक विधि के नाम से एक पृथक विधि का उल्लेख करते हैं जिसमें इतिहास से ही नहीं बरन् आत्म-कथाओं (autobiographies), जीवनचरित्र, डायरी तथा साक्षात्कारों (interviews) से भी बहुत सी सामग्री ली जाती है। ऐतिहासिक विधि का इस्तेमाल करने वाले समाजशास्त्रियों को डायरी, मुलाकातों और प्रश्नावलियों (questionnaires) से एकत्रित सामग्री से मनुष्य की मानसिक क्रियाओं को समझने में सहायता मिली है। टामस और जनैकी (Thomas and Znaniecki) अपनी पुस्तक दि पालिश पजैन्ट्स ऑव यूरोप एण्ड अमरिका में इस सामग्री के आधार पर व्यवहारों के बाह्य और मानसिक रूपों को चित्रित करने में बहुत सफल हुए हैं।

किन्तु ऐतिहासिक विधि पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है। यद्यपि जीवनचरित्रों, आत्म-कथाओं तथा डायरियों से बहुमूल्य सामग्री मिलती है फिर भी वह वैज्ञानिक सत्य की जाँच के लिए पर्याप्त नहीं होती। इस सामग्री में लेखकों के पूर्वविचार तथा पक्षपात

ममाय रहते हैं इसलिए वैज्ञानिक विषयकता (objectivity) नही प्राप्त हो सकती। ऐतिहासिक विधि को समाजशास्त्र म अपनाने में कुछ लेखकों ने वकालत करते हुए लिखा है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र आधुनिक इतिहास।

(३) आदर्श प्रकार विश्लेषण विधि (Ideal Type Analysis Method)

इस विधि का प्रयोग मुख्यतया सिमल मैक्सवेबर और दुर्खीम ने किया है। मैक्सवेबर का मत है कि कार्य-कारण सम्बन्धो की खोज केवल इस विधि द्वारा ही हो सकती है। इस विधि म वास्तविकता के आधार पर अन्वेषक अपनी समस्या का अपने दृष्टिकोण से आदर्श प्रकार (Ideal type) का निर्माण करता है फिर वास्तविक विषयो का मूल्यांकन इस आदर्श धारणा या कल्पना से निकटता या दूरी के आधार पर किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि कोई समाज अन्वेषक वर्ग-सहयोग या जनतन्त्र पर कार्य कर रहा है तो पहले वह वर्ग-सहयोग या जनतन्त्र की आदर्श कल्पना का निर्माण करेगा अर्थात् वह किसे आदर्श वर्ग सहयोग या जनतन्त्र (democracy) समझता है। फिर वह देखेगा कि वास्तविक जीवन म पाये जाने वाले वर्ग-सहयोग या जनतन्त्र आदर्श धारणा से कितनी दूर या निकट हैं। इसी दूरी या निकटता के आधार पर वह वास्तविक जनतन्त्र या वर्ग-सहयोग के विस्तार या अंश (extent or degree) को नापेगा।

यह विधि वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक अध्ययनों के लिए बहुत उपयोगी है। इस विधि का सबसे बड़ा दोष इसकी अन्तरगता (subjectivity) है। अन्वेषक अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही आदर्श धारणा बनायेगा। दूसरा अन्वेषक उसी विषय की दूसरी आदर्श धारणा बना सकता है। चूंकि भिन्न भिन्न मनुष्यो के अनुभव और ज्ञान म भिन्नता होती है इसलिये उनके द्वारा निर्मित आदर्श धारणाओं म भी भिन्नता होना स्वाभाविक है। दूसरे यह हो सकता है कि जिस धारणा को हम आदर्श धारणा समझ बैठे हो वह आदर्श न हो। इन्ही कठिनाइयो के कारण इस विधि से सिर्फ प्रारम्भिक अध्ययन या अनुमान ढूंढने का काम लिया जा सकता है। गहन तथा वैज्ञानिक अध्ययन के लिये इस विधि पर भरोसा नही किया जा सकता।

(४) सामाजिक सर्वेक्षण (Social Surveys)

सामाजिक सर्वेक्षण विधि का उपयोग सबसे पहले ली प्ले (Le Play) और उसके साथियो ने किया था। उसने अपने कुटुम्ब के आय-व्यय (budgets) का अध्ययन कर विशिष्ट कुटुम्बो की प्रकृति और संगठन को समझने का प्रयत्न किया था। बाद म, एन्जिल (Engel) ने भी कुटुम्ब के आय व्यय (बजट) का अध्ययन कर इस आशय का एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि कुटुम्ब की आय के अनुसार किस प्रकार

गरीब और धनिकों के खर्चों और इच्छाओं में अन्तर पड़ता है। इस विधि से भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के अध्ययन लिण्ड (Lynd) की "मिडिलटाउन", लायड वानर की 'यांकीसिटी', लिटन और गार्डनर की 'प्लेनवेली' आदि पुस्तकों में प्रस्तुत किए गए। ये एक सीमित क्षेत्र में समाज और व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करती हैं। इसी प्रकार की एक अन्य पुस्तक लायड वानर और लो की "सोशल सिस्टम ऑफ दि माडर्न फैक्टरी" है। सामाजिक सुधार के उद्देश्य से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक सर्वे प्रायः प्रत्येक देश में हुए हैं।[1] सरकार द्वारा प्रकाशित जनगणना की रिपोर्ट सामाजिक सर्वेक्षण के सुन्दर उदाहरण हैं। भारत का १८८१ से १९५१ तक प्रकाशित इन रिपोर्टों में कई सामाजिक पक्षों का अध्ययन किया गया है।

एक सामाजिक सर्वेक्षण बहुधा लोगों के एक समूह की रचना क्रियाओं और रहन-सहन की दशाओं की जाँच-पड़ताल है। इसकी चार मुख्य विशेषताएँ हैं:

(१) यह वास्तविक या मूर्त सामाजिक जीवन का प्रत्यक्ष अध्ययन करता है। विद्यमान स्थितियों और समस्याओं से सम्बद्ध तथ्यों का पर्यवेक्षण, वर्णन और संकलन इसमें किया जाता है।

(२) इसमें किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र या स्थान (locality) का अध्ययन होता है।

(३) इसकी वैज्ञानिक तटस्थता बनाए रखने का यथासंभव प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत वैयक्तिक मत (Subjective opinions) या पक्षपात नहीं आने दिए जाते।

(४) इसके उद्देश्य के बारे में विचारकर्ताओं में मतभेद है। एक तो यह है कि सर्वेक्षण का उद्देश्य तथ्यों की खोज करना (fact finding) है। दूसरे मत के अनुसार इसका उद्देश्य तथ्यों को जानकारी करके

---

1 चार्ल्स बूथ के 'लाइफ एण्ड लेबर ऑव दि पीपुल इन लन्दन' (१७ ग्रंथ) में लन्दन की निर्धनता का सूक्ष्म और क्रमबद्ध अध्ययन किया गया है। एस० रौंट्री ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी' (१९००) में पारिवारिक आय-व्यय और पौष्टिक भोजन (nutrition) के आधार पर यार्क की निर्धनता नापी है। बौवले (Bowley) ने १९१२ में 'लिवलीहुड एण्ड पावर्टी' में इसी प्रकार का अध्ययन किया है। अमरीका में शिकागो स्कूल ने शहरी वातावरण के मनुष्यों पर प्रभाव (विशेषकर अपराध सम्बन्धी) का अध्ययन किया है। भारतवर्ष में भी आज अनेक नगरों और गाँवों का सामाजिक सर्वेक्षण हो रहा है। आगरा में ही 'नगरीकरण की प्रवृत्तियां' का सर्वेक्षण किया जा रहा है।

सामाजिक सुधार करना है। आजकल अनेक सामाजिक वैज्ञानिक (social scientists) दूसरे मत का समर्थन करते हैं।[1]

सामाजिक सर्वेक्षण दो मोटी श्रेणियों में विभाजित किये जाते हैं। किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित (topical) और सामान्य (general)। विशिष्ट सर्वेक्षण में कुछ निर्दिष्ट पहलुओं का अध्ययन होता है। जैसे किसी नगर में स्वास्थ्य या शिक्षा या बेकारी का सर्वेक्षण। सामान्य सर्वेक्षण में किसी सामाजिक स्थिति के अनेक पहलुओं का विस्तृत अध्ययन होता है। इसमें किसी नगर या गाँव, क्षेत्र या प्रदेश के सभी महत्वपूर्ण या कई पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। आजकल विशिष्ट विषयों के सर्वेक्षण बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं।

सामाजिक सर्वेक्षणों में निम्नलिखित प्रविधियाँ (techniques) प्रयुक्त होती हैं —

(१) अवलोकन (Observation) (२) निदर्शन (Sampling) और अन्य सांख्यिकीय विधियाँ (३) साक्षात्कार (Interview) (४) अनुसूची (Schedule) (५) प्रश्नावली (Questionnaire), और (६) वैयक्तिक विषय अध्ययन (Case study)।

सामाजिक सर्वेक्षण की विधि से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें समाज के क्षेत्र को सीमित करके विशिष्ट समस्या का पूर्ण और विस्तृत अध्ययन सम्भव हो जाता है। दूसरे ये अध्ययन सरल भी हैं और गम्य क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्था और उनके संगठनों को समझने में सहायक होते हैं। समाज सुधारकों और नियोजकों के लिए ऐसे अध्ययन बहुत उपयोगी हैं। किन्तु इस विधि में दो कठिनाइयाँ हैं। पहली कई बार इस प्रकार के अध्ययन में चुने हुए सामाजिक या सांस्कृतिक क्षेत्र समाज या संस्कृति के प्रतिरूप दृष्टान्त (typical examples) नहीं होते, इसलिए अध्ययन अप्रमाण्य रहता है। दूसरी इन अध्ययनों में विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र को पृथक समझ कर अध्ययन किया जाता है और अन्य क्षेत्रों से उसका सम्बन्ध नहीं देखा जाता। बगैर इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये इस अध्ययन का समाजशास्त्र के लिए विशेष महत्व नहीं होता। तीसरी सामाजिक सर्वेक्षण में भी समस्या से सम्बन्धित सभी तथ्यों का संकलन नहीं हो पाता। यदि होता भी है तो अन्वेषक के पूर्व विचारों और भावनाओं से उनमें से बहुत से अनुरंजित रहते हैं। परन्तु इन सीमाओं के बावजूद भी सामाजिक सर्वेक्षण विधि को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

ऊपर हमने कहा है कि समाजशास्त्रीय विषयों का अध्ययन करने के लिये सामाजिक सर्वेक्षण विधि में कई पृथक विधियों का प्रयोग होता है। इन विधियों का

---

1 See, for example Lundberg *Social Research*; P. V. Young *Scientific Social Surveys and Research*; Goode and Hatt *Methods in Social Research*

स्वतन्त्र या एक अथवा अधिक को मिलाकर भी समाजशास्त्रीय जाँच-पड़ताल की जाती है। संक्षेप में इन विधियों का वर्णन कर देना लाभप्रद होगा।

(अ) अवलोकन (Observation)—किसी सामाजिक समस्या, संस्था अथवा समूह के बारे में जानकारी करने की सबसे प्रारम्भिक विधि अवलोकन है। जाँच-पड़ताल के विषय को सन्निकट अवलोकन से समझा जा सकता है। अवलोकनकर्ता (पर्यवेक्षक) या तो स्वयं 'विषय' का अंग बन कर रहे और उसकी गतिविधि का अवलोकन करता रहे अथवा विषय का अंग न बनकर उससे तटस्थ रह कर भी, अवलोकन किया जा सकता है। पहले प्रकार के अवलोकन को सहभागी (participant) और दूसरे को असहभागी (non participant) कहते हैं।

(आ) सांख्यिकीय विधि (Statistical Method)—इस विधि में अध्ययन वस्तु (object of study) के बारे में संख्यात्मक या परिमाणात्मक तथ्यों का संकलन कर उनका वर्गीकरण, वर्णन उनमें सहसम्बन्ध की स्थापना तथा उनका निर्वचन (interpretation) किया जाता है। संकलन के बाद की सभी कार्य विधियों (procedures) को सूचनाओं का संगठन (processing of the data) कहा जाता है। सांख्यिकीय विधि के सफल उपयोग के लिये सामाजिक स्थिति या अध्ययन विषय के एक सही नमूने या निदर्शन (sample) को चुनना अत्यन्त आवश्यक है। यह नमूना सम्पूर्ण स्थिति या समस्या का यथासम्भव ठीक प्रतिनिधि हो। नमूने को चुनने की प्रविधि को निदर्शन प्रविधि कहते हैं। वास्तव में सांख्यिकीय विधि कई विधियों और सांख्यिकीय प्रविधियों का सामूहिक नाम है।

(इ) साक्षात्कार (Interview)—किसी सामाजिक स्थिति की जाँच पड़ताल (investigation) में जब उस स्थिति में भाग लेने वाले व्यक्तियों से वैयक्तिक भेंट करके पूछ-ताछ की जाती है तो इस विधि को साक्षात्कार कहते हैं। साक्षात्कार में प्रश्नावली और अनुसूचियों की सहायता ली जा सकती है।

(ई) अनुसूची—अनुसूची एक प्रकार की प्रश्नों की सूची होती है जिसे अन्वेषक साक्षात्कार अथवा अन्य विधियों से पूछ-ताछ कर भरता है। वस्तुतः अनुसूची प्रश्नावली का संक्षिप्त रूप होता है।

(उ) प्रश्नावली—यह अनेक सम्बद्ध प्रश्नों का समूह होता है। ये सभी प्रश्न एक या अनेक पन्नों पर लिखे होते हैं। प्रत्येक प्रश्न के सामने उत्तर के लिये या तो रिक्त स्थान होता है अथवा कई वैकल्पिक (alternatives) उत्तर दिये होते हैं। प्रश्नों का उत्तर स्वयं उत्तरदाता (respondent) भर सकता है अथवा अन्वेषक उत्तरदाताओं के उत्तरों को रिक्त स्थानों में भरता जाता है अथवा अनावश्यक विकल्पों को काट देता है। जब प्रश्नावली डाक द्वारा उत्तरदाताओं के पास भेजी जाती है तो उसे डाक से भेजी जाने वाली प्रश्नावली (mailed questionnaire) कहते हैं।

(ऊ) वैयक्तिक विषय अध्ययन—समाजशास्त्र में जिन सामाजिक स्थितियों का अध्ययन होता है उनके दो पहलू—गुणात्मक और परिमाणात्मक—होते हैं। परिमाणात्मक पहलू का सफल अध्ययन सांख्यिकीय विधि द्वारा हो सकता है। गुणात्मक पहलू का अध्ययन बहुत कठिन है और उसकी सफलता संदिग्ध हो सकती है। फिर जहाँ किसी एक व्यक्ति स्थिति अथवा संस्था का अध्ययन करना हो तब तो यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। अतएव ऐसी वैयक्तिक स्थिति' का सर्वांगीण अध्ययन करना अधिक लाभप्रद होता है। इसके लिये अध्ययन साध्य व्यक्ति स्थिति अथवा संस्था या समूह का ऐतिहासिक अध्ययन कर सभी सम्बद्ध भूत और वर्तमान तथ्यों को एकत्र किया जाता है। वस्तुतः यह विधि ऐतिहासिक विधि का परिमार्जित रूप (refined form) है। इसमें जाँच पड़ताल की हर प्रविधि का प्रयोग बड़ी सावधानी और सतर्कता से होता है। इसमें स्थिति' से सम्बद्ध सम्पूर्ण तथ्यों का संकलन अपेक्षित होता है। बर्गेस (Burgess) इस विधि को सामाजिक सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (social microscope) मानता है।

याग ने लिखा है कि वैयक्तिक विषय अध्ययन विधि में एक व्यक्ति का सर्वांगीण गहन अध्ययन होता है जिसमें अन्वेषक अपनी सम्पूर्ण चतुरता एवं विधियों का प्रयोग करता है या (विधि) एक व्यक्ति के बारे में पर्याप्त सूचना का व्यवस्थित संग्रह है जिससे कोई व्यक्ति यह समझ सके कि वह (स्त्री या पुरुष) समाज की इकाई का कैसा कार्य करता (या करती) है।[1] गुडे और हाट ने इस विधि की परिभाषा इस प्रकार की है यह सामाजिक तथ्यों को संगठित करने का वह ढंग है जिससे अध्ययन किये जाने वाले सामाजिक विषय के एकात्मक स्वभाव का संरक्षण हो सके। दूसरे शब्दों में इस ढंग में सामाजिक इकाई की सम्पूर्णता मानी जाती है।[2]

(५) सामाजिक अनुसंधान (Social Research)

ऊपर हमने सामाजिक अध्ययन (जाँच पड़ताल) की एक अतिप्रचलित पद्धति—सर्वेक्षण विधि का सविस्तार विवेचन किया है। सामाजिक जाँच-पड़ताल की अधिक—प्रतिष्ठित एवं अधिक वैज्ञानिक विधि सामाजिक अनुसंधान या शोध (Social research) की है। इस विधि में भी सर्वेक्षण विधि की भाँति अध्ययनगत विषय के समग्र (universe) का एक निदर्शन (sample) लेकर उसे अवलोकन, परीक्षण साक्षात्कार—प्रश्नावली वैयक्तिक विषय अध्ययन तथा अन्य सांख्यिकीय (method statistical) अथवा नवविकसित समाजमितीय विधियों (sociometric method) की सहायता से अध्ययन करते हैं। स्मरण रहे सामाजिक समस्याओं अथवा घटनाओं के अध्ययन अनुसंधान के लिये सामाजिक सर्वेक्षण अथवा सामाजिक अनुसंधान पद्ध

---

1 Yang H in Pao *Fact finding with Rural People* F A O Publication (Rome 195-) p 8-

2 Goode & Hatt *Methods in Social Research* M Graw Hill N Y 1952 p 331

नियो म से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है। उनम स कौनसी विधि अधिक उपयुक्त उपादेय और सफल होगी—यह बात तीन बातो पर निर्भर है (१) अध्ययनाथ चुनी गई समस्या की प्रकृति (२) इच्छित परिणाम की परिशुद्धता (accuracy) और (३) ज्ञान प्राप्ति क उद्देश्य का प्रकार।

(१) यदि अध्ययनार्थ चुनी गई समस्या पर पहले कोई अनुसंधान नहीं हुआ है अथवा उस विषय के बारे म अपेक्षतया बहुत अपर्याप्त जानकारी उपलब्ध है तो सामाजिक सर्वेक्षण विधि अपेक्षतया अधिक सफल हो सकती है। उन्हीं विषयो की सामाजिक शोध होती है जिन पर अपेक्षतया पर्याप्त जानकारी साहित्य उपलब्ध है और जिनके बारे म उपलब्ध जानकारी के आधार पर कुछ उपकल्पनाए (hypothesis) बनाई जा सकती हैं।

(२) बहुत शुद्ध परिणामो क लक्ष्य की पूर्ति सर्वेक्षण विधि स नहीं हो सकती। उसक लिए शोध विधि ही उपयुक्त होगी। इसका कारण यह है कि सामाजिक शोध या अनुसंधान विधि म प्रयुक्त प्रत्यय (concepts) प्रणालिया (procedures) अथवा प्रविधियाँ (techniques) सर्वेक्षण विधि म प्रयुक्त इन चीजो की अपेक्षा अधिक प्रौढ और विश्वसनीय होते हैं।

(३) सर्वेक्षण विधि स जो जाँच-पड़ताल की जाती है उसका उद्देश्य व्यावहारिक (practical) होता है जब कि शोध का उद्देश्य वैज्ञानिक (theoretical)। सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य किसी व्यावहारिक समसामयिक (practical and contemporary) सामाजिक समस्या क अध्ययन और उसक सुधार अथवा निराकरण (amelioration or eradication) होता है।

सामाजिक अनुसंधान म प्रयुक्त कुछ प्रविधियो और काय प्रणालियो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अवलोकन प्रश्नावली साक्षात्कार वैयक्तिक विषय अध्ययन तथा निदशन चुनन और संग्रहीत सामग्री क व्यवस्थापन (processing) वर्गीकरण (classification) सारणीयन (tabulation) परिमापन (measurement) तथा चित्रमय प्रदर्शन (presentation) क लिय जो सांख्यिकीय प्रविधियाँ प्रयुक्त होती हैं उनका सम्बन्ध म उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर समाजशास्त्रीय घटनाओ का परिमाणात्मक (quantitative) व्याख्या के लिए प्रयुक्त स्केलिंग अथवा समाजमितीय प्रविधियो (scaling and sociometric techniques) का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

(६) समाजमितीय प्रविधिया (Sociometic Techniques)

सामाजिक घटनाओ के दो पहलू—गुणात्मक और परिमाणात्मक (qualitative and quantitative) होते हैं। गुणात्मक सामाजिक घटनाओ का विवरणात्मक अथवा विवेचनात्मक अध्ययन अपेक्षतया सरल होता है। सामाजिक सर्वेक्षण म प्रयुक्त विभिन्न प्रविधिया जिनका पूर्व उल्लेख हो चुका है, के अतिरिक्त प्रक्षेपण प्रविधियाँ

(projective techinques) का उपयोग भी गुणात्मक विश्लेषण के लिए होता है। किन्तु यदि उन्हीं घटनाओं का परिमाणात्मक अध्ययन अपेक्षित हो तो बडी कठिनाई पड जाती है। गुणात्मक पहलुओं जैसे स्थिरता संगठन सामाजिक दूरी प्रगति आदि विशेषताओं का परिमाणात्मक विश्लेषण करने के लिये समाज वैज्ञानिकों ने जिन प्रविधियों का विकास किया है उसका सामूहिक नाम समाजमितीय प्रविधियां हैं। समाजमिति (Sociometry) का विकास अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के क्षेत्रों में क्रमश (econometrics) और (psychometry) के सदृश्य हुआ है। सामाजिक विषयों के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति सामाजिक घटनाओं के गणितीय व्यवहार (mathematical application) की द्योतक है। पाठकों को स्मरण होगा कि किसी भी ज्ञान अथवा विज्ञान की प्रौढ़ता और परिशुद्धता गणितीय ज्ञान के उत्तरोत्तर बढते हुये प्रयोग पर निर्भर है।

समाजमितीय पैमाना (sociometric scales) द्वारा ऐसे अमूर्त (abstract) तथा गुणात्मक विषयों जैसे ईर्ष्या वर्ग-संघर्ष सामाजिक प्रतिष्ठा उपार्जन अथवा नैतिक बल जैसी जटिल घटनाओं का सावधानीपूर्वक मापन का प्रयास हुआ है। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की गहनता अथवा दूरी को भी इससे नापा जा सकता है। उन विषयों में जिनमें गणना या आंकडे कुछ काम नहीं देते समाजमितीय मापकों के आधार पर गणना की जा सकती है और परिणामों का मूल्यांकन हो सकता है। समाजमितीय सांख्यिकीय विधि तथा आंशिक प्रकार विधि का समन्वय कर एक नई और अधिक सक्षम विधि बनी है। इस विधि का आरम्भ सबसे पहले मोरेनो (Moreno) ने अपनी पुस्तक हू शैल सरवाइव (Who Shall Survive) में किया था। इसका उपयोग अधिकतर मनोवैज्ञानिकों द्वारा सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में किया गया है।

ऊपर जिन विधियों का वर्णन किया गया है वे सभी कुछ न कुछ दोषपूर्ण हैं। किन्तु इन्हीं विधियों से समाजशास्त्र के विषयों का अध्ययन अभी तक होता रहा है और समाजशास्त्र का विज्ञान साहित्य निर्मित हुआ है। पर भय यह है कि दोषपूर्ण विधियों से अध्ययन कर जिस ज्ञान का संचित किया है वह एक दिन निर्मूल्य न हो जाय। नये शास्त्रों के सामने हमेशा इस प्रकार की समस्या रहती है। समाजशास्त्र भी एक नया शास्त्र है इसलिये इस को यही भय है। पर आज समाजशास्त्री अपने कर्तव्य भार को भली प्रकार समझ रहा है। वह एक दोषरहित पूर्ण वैज्ञानिक विधि का विकास करने में तत्पर है। इस प्रकार की विधि मिल जाने पर अभी तक संचित किए गए ज्ञान का संशोधन कर लिया जायगा। मेरे विचार में इस सम्पूर्ण ज्ञानभण्डार के निर्मूल्य होने का खतरा सिर्फ काल्पनिक है क्योंकि अभी तक प्रयुक्त विधियां समाजशास्त्रीय विषयों के अध्ययन के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त सिद्ध नहीं हुई हैं। शायद नई विधि सांस्कृतिक-सांख्यिकीय विधि (Cultural Statistical Method) का ही

संशोधित रूप हो । उससे सामाजिक विषयों का सर्वांगीण वैज्ञानिक अध्ययन सुलभ हो सकेगा ।[1]

(७) समाजशास्त्रीय विधि (Sociological Method)

आइए, अन्त में हम समाजशास्त्रीय पद्धति के विकास की कुछ समस्याओं का विवेचन करें । अन्य विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र भी अपने विषय का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक विधि का उपयोग करता है किन्तु समाजशास्त्र की विधि (Sociological method) क्या होगी यह उसके विषय की प्रकृति पर निर्भर करती है । समाजशास्त्र के विषय की प्रकृति में निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातें पाई जाती हैं —

(१) अंतरंग विचार या पक्षपात—प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु निर्जीव पदार्थों के प्राकृतिक सम्बन्ध हैं । जीवशास्त्र भी जीवित पदार्थों के रूपों और उनके सावयव सम्बन्धों का अध्ययन करता है । प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु में चेतना नहीं होती । प्राकृतिक वैज्ञानिक का इसमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता । वह अपने अध्ययन में तटस्थता और अलगाव (detachment) रख सकता है । उसे अपनी वैज्ञानिक विषयकता (objectivity) को कायम रखने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती । समाजशास्त्री मानव प्राणियों के सामाजिक व्यवहार और सम्बन्धों का अध्ययन करता है । मनुष्यों में चेतना रहती है और विवेक भी । उनके व्यवहार के बाह्य और अंतरंग दोनों पक्षों को देखना समाजशास्त्री के लिये आवश्यक है । व्यवहार के अन्तरंग पक्ष को समझने में अपेक्षाकृत बड़ी कठिनाई आती है क्योंकि मनुष्य की मानसिक क्रियाओं के असली रूप को समझना प्रायः कठिन होता है । दूसरे, समाजशास्त्री स्वयं मनुष्य है और अपने विषय—समाज—का एक अभिन्न अंग है । अन्य मनुष्यों के समान उसमें भी राग-द्वेष, पूर्व विचार (prejudices), पक्षपात (partiality) या व्यक्तिनिष्ठ विचार (subjective ideas) होते हैं । वह अपने विषय से पूर्ण अलगाव नहीं रख पाता । इसलिए समाज का अध्ययन करते समय यदि वह अपने विचारों या अन्त-र्भावनाओं के अनुसार ही समाज की क्रियाओं को देखता है तो उसके नतीजे (con

---

1 Znaneicki की कृति Cultural Sciences और Sorokin की कृति Fads & Foibles in Sociology देखिए ।

समाजशास्त्र की उपयोगी विधियों के विस्तृत ज्ञान के लिए निम्न पुस्तकें पढ़िए

(1) Pauline V Young Scientific Social Surveys and Research Prentice Hall New York 1955
(2) Goode & Hatt Methods in Social Research McGraw Hill New York 1952
(3) Lundberg Social Research (Longmans New York) 1942
(4) Salltiz etc Research Methods in Social Relations
(5) Cohan Statistical Methods for Sociologists
(6) Halaya Research Methods in Social Sciences

clusions or results) उसके पूर्व विचारों या पक्षपातों से अनुरंजित रहते हैं। ऐसे नतीजे वैज्ञानिक सत्य नहीं हो सकते।

वैज्ञानिक तटस्थता रखने में समाजशास्त्री के सामने चार कठिनाइयाँ आती हैं। पहली, कुछ पक्षपात या झुकाव (biases) मनुष्य की प्रकृति में ही सन्निहित हो जाते हैं और बचपन के पर्यावरण में उसकी अचेतन (unconscious) या अर्धचेतन (Semi-conscious) अवस्था में घुलमिल जाते हैं। दूसरी, यदि इन पक्षपातों को जबरदस्ती हटाने का प्रयत्न भी किया जाय तो उनके विरोधी पक्षपातों को अपनाने की आशंका बनी रहती है। तीसरी, भौतिक विज्ञान में अर्हाएँ (values) नहीं होतीं और भौतिक वैज्ञानिक को संख्यात्मक विश्लेषण करके ही छुट्टी मिल जाती है। समाजशास्त्री को महार्हाओं (values) जैसे पूर्ण गुणात्मक (qualitative) विषयों का विश्लेषण करना पड़ता है। उसे नैतिकता और आचरण के नैतिक (moral) उद्देश्यों का ही अधिकतर विवेचन करना पड़ता है परन्तु यहाँ अपना विषयक (objective) मत प्रकट करना और इनको प्रयोगों (experiments) के लिये नियन्त्रित करना बहुधा असम्भव सा है। चौथा, दूसरे समाजों का पक्षपात रहित विषयक (objective) अध्ययन करना भी बड़ा दुस्सह है। हर मनुष्य में जाति-केन्द्रीयता (ethnocentrism) होती है। वह अपने समूह या समाज की प्रथाओं परम्पराओं संस्थाओं मूल्यों तथा मान्यताओं आदि को हमेशा सबसे अच्छा समझा करता है। जब दूसरे समाज के किसी भाग का वह अध्ययन करता है तो उसका मूल्यांकन अपने समाज के प्रमाणों (standards) के आधार पर करता है। अतएव समाजशास्त्री के लिए वैज्ञानिक विषयकता (objectivity) कायम रखना बहुत कठिन है। किन्तु यह असम्भव नहीं है।

(२) समाज की जटिलता—समाजशास्त्री मानव-सम्बन्धी या सामाजिक संगठनों का अध्ययन करता है जो बहुत जटिल है। किसी भी एक सम्बन्ध को ले लीजिये उसमें अनेक कारकों (factors) का समावेश होता है। फिर ये कारक स्थायी नहीं रहते बदलते रहते हैं और यदि किसी सम्बन्ध की सभी शक्तियों या कारकों को मालूम भी कर लिया जाय तो उनके आपेक्षिक प्रभाव या महत्त्व को निर्धारित करना बड़ा कठिन हो जाता है। भौतिक विज्ञानों में कार्य-कारण (effect-cause) सम्बन्धों का अन्वेषण करते समय हम भिन्न भिन्न कारणों को आसानी से अलग अलग कर सकते हैं और प्रत्येक कारक का आपेक्षिक प्रभाव भी देख सकते हैं।

(३) मानव सम्बन्धों में सार्वभौमिक गुण का अभाव—भौतिक वस्तुओं के रूप व गुण निश्चित व सार्वभौमिक होते हैं। भौतिक वैज्ञानिक संसार के किसी भी स्थान में अपना प्रयोग कर सार्वभौमिक नतीजों पर पहुँच सकता है। किन्तु समाजशास्त्री की विषय-सामग्री अनेकरूपता से भरपूर है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से भिन्न है इसलिए हर मनुष्य के व्यवहार भी दूसरे से भिन्न हैं। फिर संस्कृति इन व्यवहारों और सम्बन्धों को और भी जटिल और अनेकरूप बना देती है। परिणामस्वरूप सामाजिक

सम्बन्धो म सार्वभौमिक गुण नही। एक समाज से दूसरे समाज म अत्यधिक भिन्नता होती है। अतएव, समाजशास्त्री द्वारा स्थानीय समाज के अध्ययन से निकाले गये नतीजे सार्वभौमिक सत्य नही होते।

(४) नियन्त्रित परीक्षण की कठिनता—प्राकृतिक वैज्ञानिक अपने विषय को प्रयोगशाला म नियन्त्रित परीक्षणो के अधीन कर सकता है। समाजशास्त्री मनुष्य या संस्थाओ को इस तरह के नियन्त्रित परीक्षणो के अधीन नहीं रख सकता। इसलिए अधिकांशत समाजशास्त्री मानव-व्यवहार को 'प्राकृतिक' (natural) परिस्थितियो म देखता है। मैकाइवर और पेज कहते है कि समाजशास्त्री का क्षेत्र सदैव परिवर्तित होता रहा है। वह जब इसका अध्ययन कर रहा है उस समय भी यह बदलता रहता है। इस तथ्य का उसकी विधियो और परिणामो पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

(५) निहित हितो द्वारा बाधा—समाजशास्त्री के वैज्ञानिक अध्ययन म निहित हितो (vested interests) द्वारा बहुत बाधा डाली जाती है। समाज की विद्यमान रचना या प्रचलित संस्थाओ स बहुत लोगो को लाभ होता है। उसम परिवर्तन होने से उनके स्वार्थ सिद्धि म रुकावट पडती है इसलिए वे किसी भी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। सामाजिक संस्थाओ म अपसमायोजन (mal adjustment) रहते हुए भी उनको बदलने या उनम सुधार करने का विरोध आमतौर पर होता है। प्राकृतिक वैज्ञानिक ऐसे पदार्थो का अध्ययन करते हैं जो आम (common) आदमी की समझ से परे होता है। समाजशास्त्री के अध्ययन के विषय परिवार, समूह, संस्थाएँ धर्म, प्रथाएं तथा सामाजिक परिवर्तन आदि ऐसे विषय हैं जिनमे सामान्य आदमी सम्मिलित होता रहता है और उनके बारे म कुछ न कुछ ज्ञान रखने के दावे स समाजशास्त्री के कार्य म दखल देता है।

उपरोक्त कठिनाइयो के कारण समाजशास्त्री को अपने विषय के अनुरूप ही अध्ययन विधियो (methods of study) को अपनाना पडता है। समाजशास्त्र एक नया शास्त्र है इसलिये अभी तक अपने काम के लिए पूर्ण वैज्ञानिक विधि का विकास नही कर सका है। अब तक समाजशास्त्रियो ने प्राकृतिक और सामाजिक शास्त्रो से जिन भिन्न भिन्न विधियो को अपनाया है उन्हें इसी उद्देश्य स कि वे अपने विषय के अध्ययन मे वैज्ञानिक विषयकता (objectivity) कायम रख सकें। सामाजिक सम्बन्धो की अनेकरूपता और जटिलता स बचने के लिए समाजशास्त्री ने अपने अध्ययन के क्षेत्र को भी सीमित कर दिया है। इन विधियो को एक दूसरी दृष्टि स भी अपनाया गया है कि वे समाज की अध्ययन विधि की आधारभूत समस्या—सामाजिक सम्बन्धो म पारस्परिक सम्बन्ध के नियमो (Laws of correlation or Inter relation) को ढूँढना—का भी हल ढूढ सकें।

अब प्रश्न यह है कि उपरोक्त कठिनाइयो से पार पाने के लिए समाजशास्त्र किस विधि को अपनाये। समाजशास्त्र की आदर्श विधि (Ideal Sociological Method) वह हो सकती है जिसके प्रयोग म निम्न बातो का पता लगाया जा सके—

(१) सामाजिक सम्बन्धो (तथ्यो अथवा घटनाओ) मे पारस्परिक सम्बन्ध का रूप (form of correlation),

(२) पारस्परिक सम्बन्ध का अश (degree of correlation) अथवा भिन्नता की सीमा (extent or limit of variation),

(३) सामाजिक सम्बन्धो मे सहचारिता या असहचारिता (compatibility or incompatibility in social relations),

(४) इन सम्बन्धो मे नियमबद्धता या सुशृङ्खलता का अश (degree of order in social relations under study),

(५) एक सम्बन्ध मे परिवर्तन का दूसरे पर प्रभाव (effect of change in one upon another relation)

(६) सम्बन्धो मे कारण-कार्य का सम्बन्ध ढू ढना (finding cause effect relationship in relations)

(७) समाज मे एक परिवर्तन होने के अन्तर्गत अन्य कितने परिवर्तन आ जाते है (number of changes involved in (or following) one change in society),

(८) सामाजिक सम्बन्धो के कारको मे सापेक्षिक महत्ता की स्थापना (establishing relative significance of factors in social relations) ।

४

प्राथमिक परिभाषाएं

प्रत्येक विज्ञान की अपनी पारिभाषिक शब्दावली (terminology) होती है जिसमें कुछ ऐसे शब्द और शब्द-समूह शामिल होते हैं जिनको समझे बिना उस विज्ञान को समझना कठिन है। भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र या प्राणिशास्त्र, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान आदि सभी प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की अपनी अपनी पारिभाषिक शब्दावली है। प्राकृतिक तथा जैविक विज्ञान अपने लिए नवीन शब्दों की रचना कर लेते हैं किन्तु सामाजिक विज्ञानों की पारिभाषिक शब्दावली प्रधानतः रोजमर्रा के बोल चाल के शब्दों से ही बनी होती है। समाजशास्त्र की अधिकांश पारिभाषिक शब्दावली भी साधारण बोलचाल के शब्दों तथा शब्द-समूहों में मिलकर बनी है। अतएव उनको सम्यक प्रकार से समझ लेना इस शास्त्र के समुचित अध्ययन के लिए आवश्यक है। समाजशास्त्र के कुछ महत्वपूर्ण प्राथमिक शब्द निम्नलिखित हैं—समाज (society), समुदाय (community) संघ (association) एवं संस्था (institution)।[1]

रोजमर्रा या साधारण बोलचाल में भी हम इन शब्दों का प्रयोग किया करते हैं विशेषकर हम जब किसी मनुष्य की सामाजिक स्थिति अथवा उसके सामाजिक सम्बन्धों के बारे में बातचीत करते हैं। किन्तु इनमें से किसी भी शब्द का जब कोई व्यक्ति प्रयोग करता है तो उसका अर्थ वह पहले से ही नहीं बता देता। हम उस शब्द का अर्थ वक्ता की बात के प्रसंग या संदर्भ से निकाल लेते हैं। परन्तु यदि किसी शब्द का अर्थ उसके सन्दर्भ से निश्चित न हो तो हमारी सारी बातचीत केवल कुछ परिचित ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ न रहेगी। प्रत्येक शब्द की अपनी व्यंजना होती है और अपना अर्थ। यह समाज में चलन (usage) के द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए प्रत्येक शब्द की शक्ति का या उसके निश्चित अर्थ का बोध होना वैज्ञानिक अध्ययन के लिए जरूरी है। किसी विज्ञान में प्रयुक्त होने वाले आधारभूत शब्दों के आशय का स्पष्टीकरण कर दिया जाय अन्यथा शब्दों के जाल में विषय की स्पष्ट विवेचना नहीं हो पायेगी।

---

1 Cf Sprott *Sociology* Ginsberg *Sociology* Weber *Basic Concepts in Sociology* and Mannheim *Systematic Sociology*

समाजशास्त्र में हम एक शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग करना उचित नहीं समझते क्योंकि हम यहाँ रोजमर्रा की बातचीत का सन्दर्भ नहीं मिल सकता। समाज शास्त्री की दिलचस्पी सामाजिक तथ्यों या घटनाओं में होती है। इनका वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव हो सकता है जब सामान्य प्रयोग होने वाले शब्दों का हम सही या निश्चित (precise) अर्थ समझ ले और उनका सामान्य सदर्भ भी समझें। अभी तक समाजशास्त्रियों ने जो पारिभाषिक शब्दावली विकसित की है वह अन्य विज्ञानों की भाषा की भाँति भावात्मक (abstract) है और उसमें सभी धारणाएं (concepts) सामान्य (generic) रूप में इस्तेमाल होती हैं।

समाजशास्त्र में जब हम संस्था शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा संकेत सामाजिक संगठन के एक ऐसे रूप से होता है जिसे दूसरे रूपों से पृथक समझा जा सकता है। हमारे लिए आवश्यक है कि हम सामाजिक संगठन के इस विशिष्ट रूप की सामान्य विशेषतायें समझें और उसके विविध प्रकारों को भी जानें। इसी प्रकार जब हम भीड़ शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय किसी खास भीड़ से नहीं रहता। भीड़ें बनती और बिगड़ा करती हैं। कहीं प्रधान मन्त्री नेहरू के भाषण को सुनने के लिए भीड़ जमा होती है तो कहीं उन्हीं पर ढेले बरसाने वाली भीड़ एकत्र हो जाती है। सिनेमा के सामने की भीड़ और मजदूरों की हड़ताल के समय की भीड़ इसी प्रकार की भीड़ें हैं। हमारा अभिप्राय किसी एक विशिष्ट भीड़ से नहीं होता वरन् इन सभी भीड़ों के उस सामान्य रूप (general form) से जो सभी में विद्यमान है। सामाजिक संगठन के रूपों तथ्यों तथा उनमें होने वाली घटनाओं के सामान्य रूप का अध्ययन समाजशास्त्र में होता है।

अतएव हमारा प्रारम्भिक प्रयत्न यह होना चाहिए कि समाज के शास्त्रीय अध्ययन के लिए हम समाजशास्त्र में प्रयोग होने वाले प्राथमिक शब्दों को निश्चित स्पष्ट और एक ही अर्थ दें यद्यपि साधारण बोलचाल में उनको कितने ही विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। विभिन्न धारणाओं का सम्पूर्ण अर्थ, उनके प्रयोग की सीमाएँ तथा उनकी सम्पन्नता का आभास हम अपने व्यक्तिगत अनुभव के साथ होता जायगा। किन्तु यदि हम सभी लोग एक शास्त्र का अध्ययन करना चाहते हैं तो यह है कि हम जिन शब्दों (terms) का प्रयोग करें उनका निश्चित और स्पष्ट अनिवार्य अर्थ समझें। प्राथमिक शब्दों के विषय में यह कथन सबसे अधिक महत्व का है।

समाजशास्त्र में प्रयुक्त मूल शब्दों का निश्चित और विशिष्ट अर्थ होना एक दूसरे कारण से भी आवश्यक है। प्राकृतिक विज्ञानों के विपरीत इस विज्ञान का विषय सामाजिक सम्बन्ध है। ये अमूर्त (abstract) अथवा निराकार (intangible) होते हैं। उनका कोई स्थूल रूप नहीं होता है। हम इनको न छू सकते हैं और न देख ही सकते हैं। प्राकृतिक घटनाओं की भाँति सामाजिक घटनाओं पर साधारण प्रयोगशालाओं में हम परीक्षण नहीं कर सकते। लेकिन उनकी महत्ता और प्रभाव से

हम अपरिचित नहीं रह पाते। उनकी यथार्थता (reality) की अनुभूति हमें अपने जीवन में पग-पग पर होती है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि उनकी विवेचना में एेसे शब्द प्रयुक्त किए जायँ जो सर्वमान्य और स्पष्ट आशय प्रकट करें।

समाज

विशिष्ट समाज

साधारण बोल चाल में 'समाज' शब्द का प्रयोग अधिकतर मनुष्यों के एक समूह के लिए किया जाता है। भारत, चीन, रूस, इंगलैण्ड, लंका या मिस्र देशों में रहने वाली जनसंख्या को उस देश का समाज कहा जाता है। ऐसे समाज निश्चित और मूर्त होते हैं जिनको सीमित सामाजिक संपर्क वाले समूह भी कहा जा सकता है। एक समाज, जो मानव-समाज (या समाज) का भौगोलिक सीमाओं से बँधा हुआ एक भाग है, वह संगठन है जिसके लोगों का जीवन सामान्य होता है।

एक समाज (जैसे भारतीय समाज) पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का वह स्थायी और सतत् चलते रहने वाला समूह है जिसमें लोग स्वतन्त्ररूप से अपने सांस्कृतिक स्तर पर अपनी जाति को जीवित और कायम रखने में समर्थ हो सकें।[1]

गिडिंग्ज समाज की परिभाषा इस प्रकार करता है, "समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है और औपचारिक व्यवहारों (formal behaviours) का एक योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर सम्बद्ध हैं।" जब व्यक्तियों में समान होने की चेतना (*consciousness of kind*) होगी तभी उनमें पारस्परिक सम्बन्ध होंगे।

जिंसबर्ग के अनुसार 'एक समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों या व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इन सम्बन्धों से नहीं बँधा है या जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।[2]

ऊपर मूर्त और विशिष्ट (concrete and specific) समाज की परिभाषाएँ दी गई हैं।

सामान्य समाज

जब किसी निश्चित देश और काल से सीमित समाज का नाम न लेकर हम केवल 'मानव समाज' या 'समाज' कहते हैं तो समाज शब्द का व्यापक अर्थ होता है। इस अर्थ में, समाज अमूर्तता (abstraction या भावात्मक विचार) का

---

1 We may for our purposes here define a society as any permanent and continuing grouping of men women and children able to carry on independently the process of racial perpetuation and maintenance on their own cultural level —Reuter *Sociology* Dryden Press New York (1941) p 157

2 A Society is a collection of individuals united by certain relation or modes of behaviour which mark them off from others who do not enter into these relations or, who differ from them in behaviour —Ginsberg *op cit* p 40

बोधक है। समाज व्यक्तियों में और उनके बीच स्थापित अन्तःसम्बन्धों के जटिल (complex) को कहते हैं। अर्थात् अन्तःक्रिया और संचार (interaction and communication) में समाज है न कि अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्तियों में।

जब साथ-साथ रहने वाले व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन मानव सम्बन्धों की एक व्यवस्था के रूप में किया जाता है जब इसका कोई चित्र होता है कोई प्रतिमान होता है तब इस प्रतिमान को, लोगों को नहीं, समाज कहा जाता है।

समाज रूपों और प्रक्रियाओं का एक जटिल जाल है। ये दोनों एक दूसरे से अन्तःक्रिया से जीते और बढ़ते हैं। सारे समाज में इतनी एकता होती है कि यदि इसके एक भाग में कोई बात हो तो उसका प्रभाव निश्चय ही शेष सारे भागों पर पड़ेगा। समाज पारस्परिक क्रिया (reciprocal activity) का एक विशाल जाल (tissue) है जो असंख्य व्यवस्थाओं में भिन्नता प्रकट करता (differentiated) है। इन व्यवस्थाओं में से कुछ तो बिल्कुल स्पष्ट हैं लेकिन दूसरों को शीघ्रता से नहीं पहचाना जा सकता। परन्तु ये सब परस्पर इतनी निकटता से घुली मिली हैं कि आप जिस दृष्टिकोण से देखेंगे उसी के अनुरूप भिन्न व्यवस्थाएँ दिखेंगी।[1]

राइट ने कहा है कि समाज व्यक्तियों का एक समूह नहीं वरन् उनके बीच स्थापित सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। ला पियरे के अनुसार "समाज मनुष्यों का एक समूह न होकर अन्तःक्रिया के आदर्शों के व जटिल प्रतिमान हैं जो मनुष्यों में और उनके बीच उत्पन्न होते हैं। समूह के जीवन के लाक्षणिक ढंगों (characteristic ways) से निष्पन्न भावात्मक विचार (abstraction) को समाज कहते हैं। समाज एक वस्तु न होकर एक प्रक्रिया है। यह एक रचना (structure) नहीं गति (motion) है।"[2]

मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि 'समाज चलनों कार्य विधियों सत्ता और पारस्परिक सहायता अनेक समूहों एवं श्रेणियों, तथा मानव व्यवहार की स्वच्छन्दताओं और नियन्त्रणों की एक व्यवस्था है। इस सतत् परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है और यह सदैव बदलता रहता है।[3] संक्षेप में, समाज परिवर्तनशील सामाजिक सम्बन्धों का एक प्रतिमान है।

---

1 Society is a complex of forms or processes each of which is living and growing by interaction with the other the whole being so unified that what takes *place in one part affects all the r t* It is vast tissue of reciprocal activity differentiated into innumerable systems some of which are quite di tinct others not innumerable and all interwoven to su h a degree that you see different systems according to the point of view you take —Reuter *op cit* p 157

2. La Pierre *Sociology*

3 "Society is a system of usages and procedure of authority and mutual aid of many groupings and divi ion of controls of human behaviour and of liberties This ever-changing complex system we call society It is the w b of social relationships And it is always changing —MacIver & Page *Society* p 5

गिन्सबर्ग 'समाज' शब्द के अर्थ में मानव सम्बन्धों के सम्पूर्ण जाल चाहे ये सम्बन्ध संगठित हों या असंगठित, को सम्मिलित करता है। इसमें मनुष्यों के सभी व्यवहार प्रत्यक्ष और परोक्ष, संगठित या असंगठित, चेतन या अचेतन सहयोगी या विरोधी आते हैं।[1]

मैकाइवर, गिडिंग्ज और कुछ अन्य समाजशास्त्री समाज को सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था अवश्य मानते हैं परन्तु वे कहते हैं कि व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्ध तभी स्थापित होते हैं जब उनको एक दूसरे की उपस्थिति से प्रतीति (awareness) हो अथवा उनके कुछ सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ हों। मैकाइवर बड़े अधिकारपूर्ण शब्दों में कहता है कि बिना इस परिचय (recognition) के न तो कोई सामाजिक सम्बन्ध है और न कोई समाज। समाज वहीं स्थित है जहाँ सामाजिक प्राणी एक दूसरे के प्रति उन तरीकों से व्यवहार करते हैं जिनका निर्धारण उनकी एक दूसरे की पहचान करती है। इस प्रकार निर्धारित सम्बन्ध ही सामाजिक है।[2] परन्तु सामाजिक सम्बन्धों के लिए मानसिक दशा (psychic condition) को गिन्सबर्ग आवश्यक नहीं मानता। वह कहता है कि सामाजिक जीवन में अप्रत्यक्ष और अचेतन सम्बन्धों का बहुत महत्त्व है।

मूर्त और अमूर्त धारणा

उपरोक्त विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि समाज शब्द का प्रयोग मूर्त और वास्तविक या विशिष्ट समाज के लिये होता है और अमूर्त भावात्मक सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था के लिए भी। समाज मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का होता है। अमूर्त समाज में सामान्य समाज (general society) का बोध होता है जो देश या काल से नहीं बँधा है।

समाज मनुष्यों के समागम (association) में बना एक ढाँचा है और उन्होंने सभ्यता और संस्कृति में जो सफलताएँ प्राप्त की हैं उनकी माप है। इसका अर्थ है कि विभिन्न क्षेत्रों में और स्तरों पर समाजों में भेद होता है। इसका कारण यह है कि समाज एक जनसमूह और उसके साधनों संस्कृति और प्रविधि (technology) के सन्तुलन को दूसरे लोगों और जातियों से ढूँढते हैं इसलिए समाजशास्त्र में सम्पूर्ण समाज की साधारण धारणा (general concept) और इस सम्पूर्ण को बनाने वाली हरेक समाज की स्थूल और जीवित वास्तविकता (concrete and living reality) दोनों का अध्ययन होता है। हर विशिष्ट समाज, काल और स्थान तथा प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में विद्यमान है और उनसे प्रभावित होता है।

समाज का कार्य

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके स्वभाव की व्यंजना (expression) एक ऐसे संगठन के निर्माण और पुनः निर्माण में होती है जो अगणित तरीकों से उसके

1 Ginsberg *op cit* p 40
2 H. W Odum *Understanding Society* p 5

व्यवहार का नियन्त्रण और निर्देशन करता है। इसी सगठन का नाम समाज है। उसका मुख्य कार्य व्यक्तियों के लिए एक प्रामाणिक व्यवहार का निर्धारण करना है और उसे मनवाना और कायम रखना है। मनुष्य के जीवन की हर आवश्यकता समाज म पूरी होती है। समाज साध्य नहीं साधन है।[1]

सामाजिक जीवन

समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है। वे एक दूसरे के सपर्क मे आते हैं चाहे यह सम्पर्क प्रत्यक्ष हो या परोक्ष। इस सम्पर्क के कारण उनमे अन्त क्रिया होती है जो उनमे दृढ़, स्थायी और व्यापक सम्बन्धो की स्थापना कराती है। इन सम्बन्धो की एक दूसरे के साथ क्रिया और प्रतिक्रिया होती है और सामाजिक क्रियाओ की अन्त क्रिया और अन्त सम्बन्ध से सामाजिक जीवन उत्पन्न होता है। समाज केवल सम्बन्धो म नहीं है वह सम्बन्धो से बधे मनुष्यो म है। अत व्यक्तियो मे सपर्क के आधार पर होने वाले समागम को सामाजिक जीवन कहते हैं।

सामाजिक असामाजिक और समाज विरोधी

समाज से सम्बन्धित पदार्थ व्यवस्था या व्यक्ति को सामाजिक (social) कहते है। यह समाज शब्द से बना हुआ विशेषण है।

समाज म बाहर या पर वस्तु या पदार्थ को गर-सामाजिक (asocial or nonsocial) कहते हैं। प्राकृतिक या जविक ससार से सम्बन्धित कोई भी वस्तु आदि गर-सामाजिक कहलाएगी।

यह व्यक्ति जो समाज म अधिक घुलामिला है या समाज के हित, व्यवस्था और कल्याण या उत्थान की चेष्टा करता रहे हम उस समाज प्रिय (social minded) मनुष्य कहते हैं। इसके विपरीत विचार रखने वाला या आचरण करने वाला व्यक्ति असामाजिक (unsocial) कहा जाता है। यह समाज के प्रति अन्यमनस्क (indifferent) सा होता है। उसे समाज का शत्रु या विरोधी नहीं कहा जा सकता।

जो कार्य-व्यवस्था या व्यक्ति समाज के हित समृद्धि या कल्याण पर आघात करता है या उसकी प्रगति म जान-बूझ कर (deliberately) बाधा डालता है उसे हम समाज का शत्रु या समाज विरोधी (anti social) कहते हैं। चोर डाकू हत्यारे आदि अपराधी समाज विरोधी कृत्य करते हैं।

समाज म दूसरे सदस्यो के साथ जो मनुष्य मिलजुल कर सहयोग और स्नेह से रहता है उसे हम मिलनसार या समाज प्रिय (sociable) व्यक्ति कहते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध

मनुष्य के जीवन का प्रारम्भ समाज म होता है। शिशुकाल म वह अपने पालन पोषण के लिए अपने माता पिता के स्नेह-सरक्षण और अन्य सम्बन्धियो के सहयोग

1 Ibid p –

और सहानुभूति का पात्र होता है। वयस्क होकर भोजन, कपड़ा आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह अकेले या अपने परिवार के सदस्यों के सहयोग से आर्थिक कार्य करता है। शांति और सुव्यवस्था के लिए अन्य लोगों के साथ राजनीतिक क्रियाएँ करता है। इसी प्रकार अपनी तथा परिवार के आश्रित और स्वावलम्बी सदस्यों की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक आदि क्रिया-कलाप करता है। पर यह सब कुछ वह समाज में रहकर प्रत्यक्ष रूप से अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आकर करता है। अपने जीवन की रक्षा, निर्वाह और समृद्धि के लिये वह जो कुछ करता है उसमें उसे अन्य व्यक्तियों और उनके समूहों के सहयोग, प्रतिस्पर्धा या संघर्ष की स्थिति में आना ही पड़ता है। इस स्थिति में अन्तःक्रिया होती है जिसमें वे एक दूसरे के अनुभव से लाभ उठाते हैं या सब मिलकर विचार विनिमय से अधिक सशक्त और स्थिर जीवन दशाएँ बनाते हैं। यह मानसिक क्रिया व्यक्ति सचेत या अचेत होकर करते हैं और कभी-कभी इसमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति एक दूसरे से बिलकुल अपरिचित नहीं होते। किन्तु इन सभी व्यक्तियों में एक सामुदायिक भावना अवश्य होती है। सभी यह किसी न किसी अंश में समझते हैं कि वे अकेले नहीं हैं, उनके जैसे और बहुत से स्त्री-पुरुष उनके व्यवहारों पर प्रभाव डालते हैं और स्वयं भी प्रभावित होते हैं। दो या अधिक व्यक्तियों में उपरोक्त प्रक्रिया से जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसे सामाजिक सम्बन्ध (social relationship) कहते हैं।

मकाइवर और पेज कहते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों में पारस्परिक अभिज्ञान (mutual recognition) और किसी वस्तु या क्रिया में समान रूप से भागी होने की भावना (sense) होना आवश्यक है।

सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। इनके जाल या प्रतिमान से समाज की रचना होती है। सामाजिक सम्बन्ध निरन्तर परिवर्तनशील हैं।

सामाजिक सम्बन्धों में क्या गुण होना चाहिये? ये सम्बन्ध अच्छे हों या बुरे। चाहे इनमें लोगों में लड़ाई झगड़े हों और चाहे व्यक्तियों में प्रेम, स्नेह, सहानुभूति और सहयोग हो। मनुष्य में अन्तःक्रिया का कोई रूप हो उससे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

समाज के प्रकार

समाज के कई प्रकार हैं। कीटा मकौड़ों में समाज होता है। पशुओं का भी समाज होता है। इसी प्रकार आदिम मनुष्य और आधुनिक मनुष्य के समाज हैं। यदि हम कुछ मोटे तौर पर विभाजन करें तो 'मनुष्य का समाज' और 'मनुष्येतर-समाज' दो श्रेणियों में सारे प्राणियों का विभाजित कर सकेंगे। कीट-समाज और पशु-समाज को मनुष्येतर (Sub-human societies) कहा जाता है। मनुष्य जाति (Human species) को दो प्रधान समाजों में विभाजित किया जाता है।

(१) आदिम समाज (Primitive Society)

(२) आधुनिक समाज (Modern Society)

समाजशास्त्र में आधुनिक मानव समाज का अध्ययन होता है।

समाज में साम्य और भिन्नता दोनों होते हैं

समाज के किसी रूप को लीजिये उसमें साम्य और भिन्नता दोनों मिलेंगी। सभी व्यक्ति समाज के सदस्य हैं। उनका जन्म, लालन पालन, और जीवन यापन मोटे तौर पर एक ही तरीके से होता है। उनकी शारीरिक और मानसिक रचनाओं में भी महत्वपूर्ण साम्य है। समूह और समितियां समाज के महत्वपूर्ण रूप हैं। इनका निर्माण तभी होता है जब व्यक्तियों में सामान्य उद्देश्य हित और भावनाएं होते हैं। इन्हीं समानताओं के कारण मनुष्य एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और सहयोग तथा सहानुभूति दिखाते हैं। गिडिंग्ज (F H Giddings) ने कहा है कि "एक ही जाति के होने की भावना (consciousness of kind) से समाज का अस्तित्व सम्भव है। पूर्वज समाजों तथा अतीत के समाजों में इस चेतना का मूल स्रोत रुधिर सम्बन्ध, कुनबा या वंश रहा है। छोटे-बड़े समाज, राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रीय समाज सभी के यथार्थ समाज होने के लिये उनके अंगों में मूलभूत समानता की प्रतीति होना अनिवार्य है।[1]

परन्तु साम्य की भांति भिन्नता भी सामाजिक व्यवस्था में सन्निहित है। यदि मनुष्यों में पूर्ण मानसिक और शारीरिक समानता होती तो शायद उनके सामाजिक सम्बन्ध चींटी या मधुमक्खी की तरह बहुत सीमित होते। उनमें परस्पर आदान प्रदान के लिये कोई गुंजाइश न रह जाती और न पारस्परिकता ही होती। पति-पत्नी के यौन-सम्बन्धों तथा अन्य सम्बन्धों में इस भिन्नता को स्पष्ट देखा जा सकता है। एक के अभाव का दूसरा पूरक है। पारिवारिक व्यवस्था की भांति सभी सामाजिक संगठनों, संस्थाओं या व्यवस्थाओं में मनुष्यों में परस्पर आदान प्रदान और विनिमय होता है जिससे उनके अभाव और आवश्यकताएँ पूरे होते हैं।

समाज में हर व्यक्ति दूसरे से कुछ लेता है और उसे कुछ देता है। चाहे समाज सापेक्ष विषम अथवा अन्यायपूर्ण हो यह विनिमय होता ही रहता है। सामाजिक सम्बन्धों के सभी प्रतिमानों में भिन्नता की पारस्परिक भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। ये भिन्नताएँ जन्मजात परिवार में अथवा स्वभावगत भिन्नताएं (native differences) विशेष रुचि (aptitude), क्षमता (capacity) एवं अभिरुचि (interest) में हो सकती हैं। अन्य प्रकार की भिन्नताओं का जन्म विशेषीकरण की प्रक्रिया से होता है। इन्हीं जन्मजात या विकसित भिन्नताओं का दर्शन हम श्रम विभाजन में होता है।

---

1 MacIver & Page op cit p 7

किन्तु समाज मे भिन्नता नहीं समानता प्रबल है

समाज म विद्यमान श्रम विभाजन पहले सहकारिता है तब विभाजन। समाज के सभी सदस्य—स्त्री पुरुष, और बच्चे, मानव हैं। उनके स्वभावो इच्छाओ भावनाओ, आवश्यकताओ और उद्देश्यो म मूलभूत समानता है। इसी साम्य के कारण समाज की नींव पड सकी। हाँ, उनकी आवश्यकताओ म विविधता अवश्य है और उन्हे पूरा करने के तरीके भी विभिन्न हैं। यह भिन्नता उनकी जैविक एव स्वभावगत भिन्नताओ, पर्यावरण और आविष्कारक क्षमता (inventive capacity or ingenuity) की भिन्नता स सम्बद्ध है। समाज की स्थापना वृद्धि और मगल मे उनके तत्वो की समानता आधारभूत महत्व की है किन्तु यह कोई इन्कार नहीं कर सकता कि भिन्नता स उसकी अभिवृद्धि होती है। समाज के विकास म भेदकरण और विशेषीकरण (differentiation and specialization) दोनो प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं। सामाजिक सगठन म भेदकरण से पूर्व मनुष्यो की समान आवश्यकताएँ अवश्यमेव रही हैं।[1]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है

अरस्तू (Aristotle) का यह कथन स्वयसिद्ध सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य समाज म जन्म लेकर उसी म पलता है। उसे जीवन की सफलताएँ समाज के ससर्ग ही से मिल सकती हैं। मनुष्य अपनी रक्षा, सुविधा, पालन-पोषण, शिक्षा, सज्जा अवसर और समाज द्वारा प्रदत्त अनेक सेवाओ के लिये समाज पर निर्भर है। अपने विचारो, स्वप्नो, और आकाक्षाओ और शरीर तथा मस्तिष्क की क्रियाओ के लिये भी मनुष्य अपने समाज पर निर्भर है। वह समाज के बाहर मनुष्य नहीं रहता। यदि उसे समाज से दूर या उसके बाहर फेंक दिया जाय तो उसकी मानव प्रकृति ही नष्ट हो जायेगी। समस्त प्राणियो म मनुष्य को अपनी गौरवमयी सभ्यता और सस्कृति पर गर्व है। समाज से पृथक रहकर उसे इन सफलताओ स भी हाथ धोना पडेगा। सामान्य मनुष्य के जीवित रहने और प्रगति करने के लिये सामाजिक सम्बन्धो की आवश्यकता है जो उसे समाज म रहने पर ही मिल सकते हैं।[2]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि मानव समाज के अध्ययन में तथ्यो और उनके प्रति मान्यात्मक मनोवृत्ति (normative attitude) दोनो का विचार करना चाहिये। सामाजिक-सास्कृतिक यथार्थता (socio-cultural reality) या समाज म दोनो ही समाविष्ट हैं।[3]

---

1 MacIver & Page *op cit.*, p 3

2 Normal humanity must have social relationships to make life livable —MacIver & Page *op cit* p 8

3 Kingsley Davis *Human Society* Macmillan New York (1956) p 49

समुदाय

समुदाय (Communities) और समितियाँ (associations) समाज के सबसे महत्वपूर्ण रूप हैं।

समाज के सदस्य मनुष्य समूहों और उपसमूहों (sub groups) में रहते हैं। एक ऐसा उपसमूह जिसमें समाज के अनेक लक्षण छोटे पैमाने पर पाये जाते हैं और जिनमें सामान्य हित कम विस्तृत और कम एकीकृत होते हैं समुदाय कहलाता है। एक गाँव, शहर, कबीला (tribe) या राष्ट्र को समुदाय कहा जाता है। 'जब एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य इस तरह साथ-साथ रहते हों कि उनके एक या दो स्वार्थ सामान्य न हों वरन् वे सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं में सम्मिलित (भागीदार) हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।'[1] समुदाय का जन्म स्वतः (spontaneously) होता है। इसकी स्थापना सोच-समझकर नहीं की जाती।

एक समुदाय के सदस्यों का परिपूर्ण जीवन उसी में बीतता है। इन लोगों का जीवन एक सा होता है। इनकी आवश्यकताएँ, समस्याएँ और उद्देश्य सामान्य होते हैं। इसलिये इनकी प्रथाएं, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ (mores) और संस्थाएँ—या इनके सामाजिक जीवन की सभी उपजें एक सी होती हैं। लोग अपने समुदाय में जन्म से मृत्युपर्यन्त रहते हैं। समुदाय का आधारभूत लक्षण यह है कि उसमें ही एक व्यक्ति के सारे सामाजिक सम्बन्ध मिल सकते हैं। समुदाय की धारणा में भौगोलिक समीपता, गहरा अन्तःव्यक्ति परिचय एवं सम्पर्क तथा संयोग (coherence) का कुछ विशेष आधार जो उस उपसमूह को पड़ोसी समूहों से पृथक करता है अन्तर्निहित हैं। यद्यपि समुदाय में समाज की अपेक्षा आत्म निर्भरता (self-dependence) अधिक सीमित होती है परन्तु उसमें अधिक गहरा सम्पर्क तथा अधिक व्याप्त संवेदना होती है। उसमें एकता का विशेष सूत्र भी हो सकता है जैसे प्रजाति (race), राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा धार्मिक सम्प्रदाय।[2]

लूमले (F E Lumley) समुदाय की यह परिभाषा देता है 'यह मनुष्यों का एक स्थायी स्थानिक संग्रह (permanent local aggregation) है जिसमें अनेक तथा समान हित होते हैं और जिनकी सेवा संस्थाओं का एक पुंज (constellation) करता है।'[3]

'समुदाय में एक निश्चित भूभाग (territory) में रहने वाली वह सम्पूर्ण जनसंख्या आती है जो एक सामान्य नियम पद्धति से नियमित होकर वाला जीवन

---

1 Mac Iver & Page *Ibid* p 9
2 H P Fairchild *Dictionary of Sociology* p 8*
3 F E Lumley *Principles of Sociology* p 209

व्यापार (intercourse of life) से एकभूत होती है।"[1] यह परिभाषा गिंसबर्ग ने दी है। इसको सबसे अच्छी परिभाषा कहा जा सकता है। वह आगे लिखता है कि समुदाय की एक विशिष्ट रचना होना अनिवार्य है। अर्थात् सदस्यों में परस्पर सम्बन्धों का निर्धारित करने वाले व्यवहार के निश्चित नियम होने चाहिए। एक छोटा समुदाय बड़े समुदाय का अंग हो सकता है। अर्थात् समुदाय के भीतर समुदाय (communities within a community) हो सकते हैं। जैसे भारतीय समाज एक समुदाय है। इसके भीतर अनेक नागरिक, ग्रामीण धार्मिक आदि समुदाय हैं।

संक्षेप में, समुदाय समाज का वह समूह या उपसमूह है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहता हो और जिसके सदस्य एक सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हों। उनमें एक होने की भावना होती है और वे परस्पर मिल जुल कर सारा जीवन उसी समूह में बिताते हैं। सदस्यों के व्यवहार को नियमित करने के लिए विशेष संगठन छोटे समुदायों में नहीं होते। हाँ, उच्च या विकसित समुदायों में ऐसे संगठन प्रमुख लक्षण बन गए हैं। हरेक समुदाय का एक नाम होता है।

भारत में हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुयायी पृथक समुदायों के सदस्य कहे जाते हैं। कभी कभी भारत की सभी परिगणित जातियों को परिगणित समुदाय (scheduled caste community) कहा जाता है। समाज के विपरीत समुदाय मूर्त है। वह एक विशिष्ट मानव समूह का नाम है।

समुदाय के आवश्यक तत्व

मैकाइवर और पेज के अनुसार समुदाय के दो आवश्यक तत्त्व होते हैं —

(१) वास स्थान (locality) तथा (२) ऐक्य भावना या सामुदायिक भावना (community sentiment)। परन्तु समुदाय के लिए लोगों का एक ही स्थान पर रहना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनमें समुदाय भावना का होना। एक ही स्थान पर रहने वालों में सामान्य भावना (common sentiment) नहीं भी हो सकती है। साथ-साथ एक ही स्थान पर रहते हुए कुछ लोगों को उस स्थान (locality) तथा वहाँ के निवासियों से ममत्व (affinity) नहीं होता। उनके सहवास में यदि एक सामान्य भूमि पर सामान्य जीवन में समभाव से सम्मिलित होने की भावना न हो तो वे समुदाय के अंग नहीं होते। उदाहरणार्थ

---

1 Morris Ginsberg *op cit* p 41 The community may be described as the entire population occupying a certain territory (or in the ca e of nomads habitually moving in association) held together by com mon system of rules regulating the intercourse of life — \ W Green K Davis and K Young have also give similar definitions of com munity All lay stre s on four essetnial elements of community namely (i) ■ clu ter of peoples (ii) a common territory (iii) a comman way of life and (iv) all inclusive or almost self sufficient life

भारत के दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई या अन्य बडे नगरों मे रहने वाले विदेशी उन नगरों के समुदाय के अंग नही होते। वे वहां कुछ प्रयोजनवश रहते हैं। उनका जीवन और संस्कृति इन नगरों के निवासियों से भिन्न होते है। नगर के समुदाय के साथ जीने मरने या सुख-दुःख की भावना का इसमें अभाव होता है। दूसरे लेखक समुदाय के चार आवश्यक तत्त्व मानते है—(१) एक सामान्य स्थायी भूभाग, (२) लोगों का एक समूह (३) सामान्य जीवन, और (४) स्वयं पूर्ण जीवन।

समुदाय में सभी सदस्यों में अपने वासस्थान या भूमि के प्रति स्वाभाविक ममत्व होता है। उसके परम्परागत जीवन के प्रति उनकी श्रद्धा होती है तथा उसके इतिहास में गर्व। उसी से उन्हें प्रतिक्षण जीवन संग्राम में प्रेरणा मिलती है। वे उसकी उन्नति और समृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं क्योंकि उन्हें यह भली भांति ज्ञात रहता है कि उनके व्यक्तिगत जीवन का विकास और उन्नति समुदाय के विकसित और उन्नत जीवन में ही संभव है।

सीमावर्ती समुदाय

आश्रम विहार (monasteries) या मठ जेल तथा आवासी समूह (immigrant group) समुदाय के सीमावर्ती (border line) उदाहरण हैं। उन्हें हम अर्ध-समुदाय (semi-communities) भी कह सकते हैं।

छोटे और बडे समुदाय

सामाजिक विकास के साथ छोटे-छोटे समुदायों से बडे समुदायों का विकास होता जाता है। प्राथमिक समुदायों जैसे गांव, जाति, बिरादरी से बडे समुदाय नगर, राज्य (state) और राष्ट्र (nation) बनते हैं। अन्त में सारे विश्व के मनुष्य मात्र का एक समुदाय बन जाता है जिसे हम विश्व-समुदाय (world community) कहते हैं। मनुष्य छोटे और बडे सभी समुदायों का सदस्य होता है। यद्यपि व्यक्ति का छोटे या प्राथमिक समुदायों से अपनापन या ममत्व अधिक गहरा होना स्वाभाविक है किन्तु जब कभी छोटे और बडे समुदायों के हितों में संघर्ष होने का अवसर उपस्थित होता है तो वह गांव, बिरादरी या जाति की अपेक्षा राष्ट्र, राज्य या क्षेत्र (region) को अधिक महत्त्व देता है। प्राय देखा गया है कि सामाजिक विकास के साथ मनुष्य की समुदाय भावना विस्तृत होती जाती है। ऐसी स्थिति में छोटे दायरे (small communities) टूटते जाते हैं।

छोटे समुदायों के टूटने के कारण

छोटे दायरों के टूटने के मुख्य चार कारण हैं—सामाजिक, आर्थिक, यान्त्रिक या प्राविधिक तथा सांस्कृतिक।[1]

---

1 देखिए विश्वरंजन्या (अनुवाद), समाज, रतन प्रकाशन मन्दिर आगरा (१९६४), पृष्ठ १२

(१) सामाजिक कारण—ये समाज के गतिशील स्वभाव में निहित हैं। समाज गतिशील (moving), वर्द्धमान (growing) और क्रियाशील या गत्यात्मक (active or dynamic) है। परिवर्तन उसका स्वभाव है। अतएव सामाजिक परिवर्तन में छोटे दायरे (smaller circles of society) सिर्फ प्रारम्भिक अवस्था में ही रह सकते थे। उन्नत अवस्थाओं में इन दायरों या छोटे समुदायों की प्रधानता नहीं रहती। मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र बढ़ता जाता है। उनके सहयोग एवं सहानुभूति अपनी जाति बिरादरी या समुदाय की छोटी परिधि (circumference) से निकलकर बड़ी परिधि में प्रवेश करते हैं। यदि ऐसा न हो तो विकसित समाज के विस्तीर्ण (extended) सम्पर्क का कोई अर्थ न रह जाए। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में प्राथमिक समूहों—गाँव, परिवार, कबील, जाति या बिरादरी—से माध्यमिक समूहों या बड़े समुदायों का विकास होता है। व्यक्ति दोनों प्रकार के समुदायों—छोटे और बड़े का सदस्य होता है। दोहरी सदस्यता ही उसके सम्बन्धों (affiliations) को विस्तृत तथा ममत्व (affinity) को उदार बना देती है। व्यक्ति अपने परिवार का भरण पोषण करता है, जाति बिरादरी से सम्बन्ध रखता है पर साथ ही विकसित जीवन की अनेक समितियों और संस्थाओं—आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक सांस्कृतिक आदि—का सदस्य भी बनता है। इनके प्रति उसे कुछ दायित्व निभाने पड़ते हैं। इनमें से कुछ जिम्मेदारियाँ वह स्वेच्छा से और कुछ को परम्परावश स्वीकार करता है। इन जिम्मेदारियों को निभाने के लिए उसे काम करना पड़ता है। इसी आचार-व्यवहार में वह छोटे दायरों से सम्बन्ध कम करता जाता है और समाज के बड़े दायरों के निकट चला जाता है।

(२) आर्थिक कारण—छोटे समुदायों के महत्व कम होने के आर्थिक कारण जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ नए पेशों अथवा उद्योगों का विकास है। जनसंख्या बढ़ जाने पर समाज के जीवन-यापन के लिए परम्परागत पेशे अपर्याप्त हो जाते हैं। जब पारिवारिक पेशों, गृह-उद्योगों तथा खेती से प्राप्त साधन पर्याप्त नहीं होते तो मनुष्य अपने छोटे सामुदायिक जीवन के बाहर जाकर नए पेशों और व्यवसायों की तलाश करता है। समृद्ध प्राकृतिक साधनों को उपयोग में लाने के लिए लकड़ी काटता है, खानों में काम करता है उद्योग धंधे कायम करता है और क्रमशः अपने परिवार, गाँव तथा बिरादरी से दूर बसे समुदायों, नगरों, का सदस्य हो जाता है। औद्योगिक उन्नति में शहरों में, नदियों और समुद्रों के तटों पर बड़े-बड़े कारखाने खड़े हो गए हैं। उनमें काम करने के लिए लाखों मजदूर अपना गाँव और क्षेत्र छोड़कर वहीं जा बसते हैं। विभिन्न गाँवों, क्षेत्रों, बिरादरी तथा जातियों के होने पर भी उनको जब एक-साथ मिलकर काम करना और रहना पड़ता है तो उनके संकुचित विचार बदल जाते हैं। उनमें दृष्टिकोण की उदारता तथा विस्तृत सामुदायिक भावना जागृत हो जाती है।

आर्थिक उन्नति ने अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग और व्यापार सुलभ कर दिया है। अब एक देश के नागरिक दूसरे देशों में उद्योग और व्यापार करते हैं। इन परिस्थितियों में संकुचित या छोटे समुदायों को ही सामाजिक सम्बन्धों में प्रधानता देना मनुष्य के लिए कहाँ सम्भव हो सकता है? उसे जाति-पाँति, ऊँच-नीच, अपने-पराये की संकुचित भावना को विस्तृत समाज और समुदायों के प्रति एक होने की भावना (sentiment of oneness) के समक्ष दबाना पड़ता है। उसी में उसका कल्याण है और उसी में उसकी प्रगति।

(३) प्राविधिक कारण—सामाजिक सम्बन्धों के छोटे दायरों के टूटने का तीसरा कारण प्राविधिक (technological) है। नए-नए आविष्कारों ने यातायात और संचार (transport and communication) को इतना उन्नत कर दिया है कि आज समस्त संसार एक छोटा सा समुदाय हो गया है। समय और दूरी के अवरोधों (obstacles) को मानव ने उखाड़ फेंका है। एक देश के नागरिक महासागरों के दूसरी पार बसे सुदूर देशों के नागरिकों से शारीरिक सम्पर्क ही नहीं स्थापित करते वरन् उनके विचारों, प्रथाओं, विश्वासों तथा भावनाओं से आदान-प्रदान भी करते हैं। इस आदान-प्रदान का सहज परिणाम उनके मन और हृदय में समीपता का जन्म है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय घनिष्ठता बढ़ गई है। रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि यातायात के साधनों में देश के अन्दर-बाहर सभी स्थान एक दूसरे के निकट आ गए हैं। सन्देश के साधनों जैसे टेलीफोन, तार, रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन ने मनुष्य को छोटे दायरों से निकालकर बड़े दायरों में सम्मिलित होने की प्रेरणा ही नहीं दी बल्कि मिलकर काम करने का अवसर भी दिया है।

(४) सांस्कृतिक कारण—आधुनिक सामाजिक जीवन के बड़े समुदायों के महत्त्व बढ़ जाने का चौथा कारण सांस्कृतिक है। ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साथ मनुष्य की भक्ति (loyalty) छोटे समुदायों की ओर कम होती जाती है। वैज्ञानिक उन्नति ने सभी समाजों को लाकर एक आँगन में खड़ा कर दिया है। मानव की सदा से यही एषणा (urge) रही है कि वह अपने पार्थिव तथा आध्यात्मिक जीवन को अधिकाधिक समृद्ध करे। अपनी इस तीव्र इच्छा का समाधान उसे ज्ञान विज्ञान के प्रसार में मिला है। मनुष्य का सामाजिक, राजनैतिक ज्ञान, विभिन्न कलाएँ तथा विज्ञान—ये सभी उसे जाति, राष्ट्र और राज्य की परिधि से निकालकर स्वच्छन्द उन्नत हैं। वेदों का ज्ञान, मनु के सामाजिक नियम, कौटिल्य का अर्थशास्त्र (राजनीति और कूटनीति) वाल्मीकि और व्यास, भवभूति और कालिदास के महाकाव्य, बुद्ध, महावीर और गांधी का दर्शन भारत में ही नहीं रहा, देशों में फैल गए हैं। इसी प्रकार रूसो (Rousseau) की कृतियाँ, न्यूटन, गैलिलियो, प्लेटो, सुकरात, दाँते, गेटे, शेक्सपियर, होमर, टाल्सटाय—इन सभी के कार्यों और रचनाओं से सारा विश्व लाभ उठा रहा है। ज्ञान, संगीत, कला, विज्ञान—यही तो संस्कृति है। संस्कृति के विकास

और प्रसार ने मानव की पृथक्ता या एकान्तता (isolation), सकुचितता (narrowness) और पराधीनता (dependency) पर भयानक आघात किया है। सस्कृति का मुख्य काय मानव के जीवन को विशाल स्वतन्त्र और प्रयोजन युक्त (purposeful) बनाना है। मार्क्स की समाजवादी विचारधारा केवल जमनी म न रहकर ससार के सुदूर प्रदेशों म सम्मानित हो रही है। सस्कृति म उन्नति और प्रसार होने पर मनुष्य छोटे समुदायों की रीति रिवाजो या प्रथाओ परम्पराओ, मूल्यो आदर्शों तथा विचारो को छोडकर बडे समुदायो के रीति रिवाजो परम्पराओ, मूल्यो आदर्शों तथा विचारो को तरजीह देता है। यही तो छोटे समुदायो तथा सकुचित सामाजिक सम्बन्धो के वृत्तो (circles) को तोड देता है। इनके टूटने से विस्तृत और विशाल सामाजिक सम्बन्धो का विकास होता है। समाज के विकास की प्रक्रिया एक प्रवाह है जो अनवरत (continuous) है और जिसका विस्तार सदव चलता जाता है। इस प्रवाह को बद करना अथवा उसम अवरोध डालना मनुष्य के अस्तित्व की जड काटना है।

क्या छोटे समुदाय नष्ट हो रहे हैं ?

अन्त म, हम अपने पाठको को चेतावनी देना चाहते हैं कि व उपरोक्त विवचन से यह निष्कर्ष न निकालें कि मानव समाज म छोटे समुदायो या दायरो का विनाश एक दिन अवश्यम्भावी है। यह निष्कर्ष असगत और अव्यावहारिक होगा। परिवार गाँव, बिरादरी आदि छोटे समुदाय समाज की नींव हैं। मानव अपने अकिंचन शशव की निराश्रयता मे परिवार म ही शरण पाता है। उसके व्यक्तित्व का विकास परिवार म ही प्रारम्भ होता है। उसका गाव या नगर म रहना भी अनिवाय है। वह जहाँ कहीं भी रहेगा उस वास-स्थान (locality) चाहिए और जिनके साथ रहेगा उनम और स्वय म सामान्य भावना की जागृति भी अनिवाय है। इसलिए जिन प्राथमिक समूहो म व्यक्ति रहेगा वे छोटे समुदाय ही तो होंगे। अतएव स्पष्ट है कि प्राथमिक समूहो या छोटे समुदायो का उन्मूलन कभी सम्भव नहीं है। वे व्यक्तित्व के विकास म प्राथमिक और स्वाभाविक कारण हैं। यह सच है कि व्यक्ति की आवश्यकताओ के क्षेत्र म विस्तार होने पर उसके सामाजिक सम्बन्धो का दायरा बढेगा। सामाजिक सम्बन्धो की परिधि बढने पर व्यक्ति के दायित्व और काय बढ जाते हैं। इस परिस्थिति म छोटे दायरो से बडे दायरो म जाना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। और इस व्यापार म उसकी सदस्यता अनेक रूप होकर उसके सम्पर्क या लगाव (affiliations) जटिल हो जाते हैं। इसमे बडे समुदायो का महत्त्व जीवन म बढ जाता है। किन्तु छोटे समुदायो का उन्मूलन हो जाना सम्भव नहीं।

समाज और समुदाय मे अन्तर

'समाज' सामाजिक सम्बन्धो का जाल है। सामाजिक सम्बन्ध वास्तविक होते हुए भी अमूर्त होते हैं। इसलिए समाज अमूर्त है। एक निश्चित भू भाग म बद्ध

समाज 'एक' विशिष्ट समाज होता है उसे ही हम 'समुदाय' कहते हैं। 'एक समाज' राष्ट्रीय समुदाय का पर्यायवाची है। समुदाय समाज का एक भाग होता है। यह मनुष्यों का एक समूह है और इसलिए मूर्तिमान है। वह सदैव स्थायी निश्चित भूभाग में रहता है।

(१) एक समाज में कई समुदाय होते हैं।

(२) समाज के लिए सामुदायिक भावना या एक होने की भावना का होना अनावश्यक है। समाज व्यक्तियों के चेतन एवं अचेतन व्यवहार से निष्पन्न सम्बन्धों की एक व्यवस्था है व्यक्तियों में एक होने की भावना का होना जरूरी नहीं होता। समुदाय में सामुदायिक भावना का होना अनिवार्य है।

(३) समाज की अपेक्षा समुदाय में सामान्य हित कम विस्तृत (extensive) और कम समन्वित (coordinated) होते हैं।

संक्षेप में समुदाय के निर्माण (या स्थापना) के लिए एक निश्चित भू-भाग में बसने वाले व्यक्तियों में सामान्य जीवन और एक होने की भावना का होना आवश्यक है। समाज के लिए एक निश्चित भू भाग तथा व्यक्तियों में एक होने की भावना का होना आवश्यक नहीं है। समाज अमूर्त है और समुदाय मूर्त। समाज के मूर्त और स्थूल रूप को हम राष्ट्रीय समुदाय कहते हैं। जिसमें अनेक गाँव, नगर तथा प्रादेशिक समुदाय शामिल होते हैं। समुदाय या समुदायों में जो सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उनकी व्यवस्था और विधा को समाज कहते हैं।

समूह (Group)

समूह सामाजिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह (collection) को कहते है जिसमें उनके स्पष्ट पारस्परिक सम्बन्ध बन जाते हैं। उनके सम्बन्धों में पारस्परिकता (reciprocity) होता है। समूह द्वारा किसी विशिष्ट (particular) हित को पूरा करने के लिए बने सारा संगठन को संघ (association) कहते हैं। समाज समूहों से मिलकर बना है। सामाजिक समूहों के अनेक रूप और प्रकार (forms and types) होते हैं जैसे वर्ग (class), जाति (caste), गोत्र (clan), कबीला (tribe) भीड़ (crowd) प्राथमिकता और माध्यमिक समूह (primary and secondary groups) और महासमितियाँ (great associations)। समूहों द्वारा व्यक्ति सामाजिक जीवन में सम्मिलित होते हैं। समूह समुदाय से बाहर नहीं होते। समूह सामाजिक जीवन की इकाई है। समूह से ही हर व्यक्ति का सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है और उन्हीं में उसका अन्त होता है।

संघ (Association)

मकाइवर ने लिखा है कि मनुष्य किसी कार्य को करने के लिए तीन विकल्पों (alternatives) को अपना सकता है। पहला, वह किसी दूसरे मनुष्य की सहायता

के बिना स्वतन्त्र रूप से, अपने आप जो कुछ चाहता हो उसे पूरा करे। दूसरा, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन सभी लोगों से लड़े जो उसकी पूर्ति में बाधक होते हैं। तीसरा उपाय यह है कि वह अपने उद्देश्य की सिद्धि में समाज या समूह के अन्य व्यक्तियों का सहयोग ले। पहला उपाय व्यक्तिगत या असामाजिक (*individual or non-social*) है। दूसरा रास्ता समाज विरोधी (*anti social*) है क्योंकि उससे समाज के निर्माण न होकर विनाश का मार्ग खुल जाता है। तीसरा रास्ता ही जिसमें वह दूसरों का सहयोग लेता है सामाजिक कहा जा सकता है। सहयोग के रास्ते को अपनाकर जब एक समूह या समुदाय के कुछ सदस्य किसी विशेष उद्देश्य की सफलता के लिये एक निश्चित मार्ग को अपनाते हैं और उस पर सभी सहयोग या सहकारिता से चलते हैं तो उनके कार्य करने से जिस सामाजिक संगठन का विकास होगा उसे संघ कहा जायगा।

परिभाषा—संघ समूह अथवा समुदाय के थोड़े या अधिक सदस्यों द्वारा किसी विशिष्ट हित[1] की सिद्धि के लिये निर्मित संगठन होता है। मैकाइवर ने कहा है कि संघ सोच विचार कर स्थापित (या निर्मित) एक ऐसे संगठन को कहते हैं *जिसके सदस्य अपने किसी हितों के समूह को सामूहिक रूप से प्राप्त करने को*

---

1 हित (interest) से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे उद्देश्य या ध्येय (aim or objective) से है जिसकी प्राप्ति के लिये हम कार्य करने के लिये प्रेरित होते हैं। हमारी बहुत सी इच्छाएँ (desires) होती हैं जो कभी पूरी नहीं हो पातीं और जिनको हम मूर्ख, असामयिक अथवा खतरनाक व निकृष्ट (evil) कह कर दबा देते हैं या जो अप्राप्य (सन्ताप से परे) होती हैं और इसलिये उन्हें पूरा करने के लिये हम कार्य की प्रेरणा नहीं मिलती। हित में सन्तुष्टि प्राप्ति की किसी भी प्रकार की कम या अधिक चेतना समाहित रहती है और साथ ही उस दिशा में किया गया कुछ प्रयत्न। जब मनुष्यों का सामान्य हित होता है तो वे उसकी सन्तुष्टि के लिये समिति बनाते हैं। उदाहरण के लिये काम हित (sex interest) को सामान्य रूप से रखने वाले स्त्री-पुरुष परिवार नामक समिति बनाते हैं। सामूहिक हित को साधारण मानने वाले राजनीतिक दल बनाते हैं। हित दो प्रकार के होते हैं—(१) चरम हित (ultimate interests) जो साधारण मानसिक समानता पर निर्भर हैं तथा जो प्राकृतिक प्रकार के होते हैं जैसे समाज-सेवा समितियाँ, सामाजिक गोष्ठियों के आधार में हित तथा काम हित (sexual interest) और असान यौन में हित (nonsexual interests), (२) व्युत्पन्न हित (derivative interests) जो मुख्यतया अपने से परे हितों की पूर्ति के लिए अपनाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, आर्थिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक सामूहिक और निश्चित हित।

Consult MacIver's *Elements of Social Science* Chapter on Interests and Associations

ध्येय रखते हैं। बोगार्डस का भी यही विचार है। गिंसबर्ग के अनुसार, "संघ सामाजिक व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो आपस में एक सामान्य संगठन के द्वारा सम्बन्धित है जिसे उन्होंने एक निश्चित साध्य या निश्चित साध्यों (specific ends) की प्राप्ति के लिये विरासत में पाया है अथवा जिसका संस्थापन किया है।"[1]

समुदायों में मनुष्यों के सभी हित और सम्बन्ध समाहित होते हैं चाहे वे संगठित हों अथवा असंगठित। समितियों का आधार निश्चित प्रयोजन (specific purposes) होते हैं। वे किसी निश्चित साध्य की पूर्ति के लिये बनती हैं। सभी समितियाँ स्वभाव (nature) में प्रयोजनात्मक होती हैं।

समुदाय का आधार सामान्य हित (common interests) होते हैं। संघ का आधार इन सामान्य हितों में से कोई विशिष्ट हित (particular interest) होता है। व्यापार करके लाभ कमाना, शिक्षा का प्रसार, धर्म प्रचार, मनोरंजन की व्यवस्था, मजदूरी बढ़ाने के लिये संगठन बनाना अथवा किसी समूह की राजनैतिक या आर्थिक या सांस्कृतिक उन्नति करना ये सब निश्चित हित (specific interests) हैं। व्यापार के लिये कम्पनी (प्रमण्डल), शिक्षा प्रसार के लिये कमेटी, धर्म प्रचार के लिये धार्मिक संगठन जैसे आर्यसमाज, कैथोलिक या प्रोटेस्टेण्ट दल, मनोरंजन के लिये थियेट्रिकल पार्टी (नाटक दल), मजदूरों का उत्थान करने वाले श्रमिक संघ (trade unions), अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र अथवा किसी ज्ञान शाखा के लिए अध्ययन अध्यापन, खोज और प्रगति करने के लिये निर्मित संगठन, नृत्य-संगीत के लिये बनी सांस्कृतिक या कला-समितियाँ सभी संगठन संघ हैं। परिवार एक संघ है और राज्य भी। संघ से हम मनुष्यों के समूह का बोध होता है इसलिये वह मूर्त होता है।

उपसमुदाय

एक ही समुदाय में कई उप-समुदाय हो सकते हैं। बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली नगरों के समस्त नागरिकों का एक समुदाय है किन्तु इस समुदाय में पारसी, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि कई समुदाय होते हैं जिन्हें हम नागरिक समुदाय के उपसमुदाय (sub-communities) कह सकते हैं। प्रत्येक समुदाय में अनेक समितियाँ हो सकती हैं। उप समुदाय भी आंशिक रूप (partial forms) हैं। कुछ व्यवसाय वाले संघ बना लेते हैं जैसे डाक्टरों, इंजीनियरों, प्रोफेसरों या मजदूरों या मिल मालिकों की समितियाँ। एक व्यक्ति जो डाक्टर है अपने समुदाय का साधारणतया सदस्य होने के साथ डाक्टरों की समिति, क्लब, डेमोक्रेटिक पार्टी, श्रमिक-संघ, राजनैतिक दल आदि संघों का सदस्य बन सकता है।

---

1 Morris Ginsberg, *Psychology of Society*, London 1921, p. 1[illegible]1

ऐच्छिक सदस्यता

समुदाय की सदस्यता अवैकल्पिक (involuntary) है जबकि संघ की सदस्यता पूर्णतया ऐच्छिक या वैकल्पिक (voluntary or optional) है। परिवार तथा राज्य दो ऐसे संघ हैं जिनकी सदस्यता व्यक्ति के लिए अवैकल्पिक है। अन्य संघों का सदस्य होना या न होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। वह जब चाहे जिस संघ का सदस्य बने और जब इच्छा हो उसे छोड़ दे। संघ स्थायी, अस्थायी तथा अल्पायी सभी प्रकार के होते हैं।

निश्चित नीति और कार्य पद्धति

चूँकि संघ का निर्माण निश्चित हितों की पूर्ति के लिए होता है इसलिए उसके सदस्य निश्चित नीति और कार्य-पद्धति अपनाते हैं। अपने में से वे एक प्रबन्धक समिति या कार्यकारिणी चुनते हैं। कार्यकारिणी का काम समिति के हित की सिद्धि के लिए बने नियमों का पालन कराना होता है। संघ के पदाधिकारी समिति के सामान्य सदस्यों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार संघ की कानूनी स्थिति होती है। संघ अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए धन या सम्पत्ति की स्वामिनी भी बन सकती है। उसके सदस्य पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए भी एक ही नीति का अनुसरण करते हैं अर्थात् उनके कार्यों की एक दिशा होती है और सभी निर्दिष्ट लक्ष्य के साधन हेतु सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। वे सब मिलकर एक सत्ता (authority) को जन्म देते हैं, इसकी कानून में स्वतन्त्र स्थिति (independent position) या कानूनी व्यक्तित्व (legal personality) है। संघ के सदस्यों के पृथक्-पृथक् अधिकारों तथा समिति के अधिकारों में परस्पर विरोध नहीं होता है।

संघ विशिष्ट हितों की पूर्ति की एजेन्सी हैं

संघ वे साधन (means) अथवा अभिकर्ता (agencies) हैं जिनके द्वारा उनके सदस्य समान अथवा सम्मिलित (*similar or shared*) हितों की पूर्ति करते हैं। ऐसे सामाजिक संगठन वास्तव में नेताओं के द्वारा नहीं वरन् अधिकारियों या प्रतिनिधियों (representatives) के द्वारा—जो अभिकर्ता का काम करते हैं—अपना काम चलाते हैं।[1] आधुनिक समाज में महासंघ (great associations) जैसे आर्थिक संगठन कम्पनी[2] तथा कारपोरेशन[3], राज्य और धार्मिक संगठन का बहुत अधिक महत्व है।

संघ, समाज और समुदाय

समाज मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। संघ मनुष्यों के एक समूह को कहते हैं जिसका संगठन किसी एक विशिष्ट उद्देश्य (object) के

1 MacIver & Page *op cit* p 14
2. प्रमण्डल
3 निगम

पूर्ति के लिए होता है। समाज के संगठन का निर्माण मनुष्यों के चेतन और अचेतन सम्बन्धों पर निर्भर रहता है। जहाँ कहीं भी मनुष्य समूह में रहते हैं उनका एक समाज बन जाता है। संघ का संगठन स्वतः ही नहीं हो जाता। वह विचारपूर्वक स्थापित किया जाता है। दूसरे, समाज का सदस्य होना या न होना हमारी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। समाज से बाहर रहने पर हमारा जीवन ही नहीं रहेगा और रहेगा भी तो उसमें मनुष्योचित कोई गुण या लक्षण न होगा। संघ की सदस्यता व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर रहती है। मनुष्य एक या अनेक संघों का सदस्य हो सकता है। तीसरे, समाज में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन बीतता है। उसके सभी कार्य-कलाप अपने समाज में होते रहते हैं। संघ एक ऐसा समूह है जिसमें व्यक्ति का आंशिक जीवन ही बीतता है। अर्थात् मनुष्य अपने जीवन के एक या दो-चार विशेष कार्य ही समिति में रहकर कर पाता है। समाज में व्यक्ति का जीवन स्वयं पूर्ण (self-sufficient) है किन्तु संघ तो केवल उसके जीवन के एक विशिष्ट पक्ष से सम्बन्धित रहता है। चौथे, समाज चिरस्थायी है। मनुष्य जन्म लेते और मरते हैं किन्तु समाज सदैव कायम रहता है। संघ का अस्तित्व पूर्णतया उसके सदस्यों के अस्तित्व पर निर्भर है। यदि सभी सदस्य संघ त्याग कर दें तो वह नष्ट हो जायगा। संघ एक अस्थायी संगठन है।

समुदाय समाज का मूर्त तथा छोटा (या बराबर का) रूप है। भारतीय समाज में कई समुदाय हैं और हर समुदाय में अनेक समितियाँ हैं। समुदाय स्वतः स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। संघ की स्थापना विचारपूर्वक की जाती है। एक समुदाय के सभी सदस्यों का आचरण उसका सदस्य रहना ही पड़ता है। संघ का सदस्य होना या न होना व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर है। समुदाय के दो प्रमुख आधार हैं—सामान्य वासस्थान और एक होने की भावना। संघ का आधार केवल एक है—एक विशिष्ट हित या उद्देश्य। समुदाय में हमारा जीवन प्राय आरम्भ से अन्त तक बीतता है। मनुष्य के जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ—विशेषकर प्राथमिक आवश्यकताएँ समुदाय में पूरी होती हैं किन्तु समिति में कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति होती है। अन्त में समुदाय स्थायी होता है परन्तु संघ अपेक्षतया अस्थायी।

संस्थाएँ (Institutions)

हरेक समुदाय में कुछ सामान्य हित (general interests) होते हैं और कुछ विशिष्ट हित (particular interests)। विशिष्ट हितों की पूर्ति करने के उद्देश्य से संघ बनते हैं। ये संघ जो साधन (means), कार्यविधि (procedure) या प्रणाली (systems) अपनाते हैं उनके स्थायी रूप को संस्थाएँ कहते हैं। संस्थाएँ समुदाय और संघ द्वारा स्थापित होती हैं। मैकाइवर का विचार है कि संस्थाएँ विशिष्ट हितों को पूरा करने की कार्यविधियों (procedures) के रूप (forms)

है। अर्थात् संस्थाओं से उनका अभिप्राय "कार्यविधि की दशाओं अथवा स्थापित रूपों से है जो सामूहिक क्रिया की विशेषता होती है।"[1]

संस्थाओं की उत्पत्ति

जब एक सामान्य कार्य (common task) को पूरा करने के लिये एक समुदाय या संघ के कुछ या अधिक व्यक्तियों में सहयोग होता है तो उनके बीच कार्य विभाजन हो जाता है। साथ ही कार्यविधि के नियम निश्चित हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप उन लोगों के सम्बन्ध निश्चित और स्थिर हो जाते हैं। इन सम्बन्धों की स्थिरता को जन्म देने और कायम रखने के लिये कुछ प्रथाएँ, नियम, कार्य-पद्धतियाँ आदि विकसित हो जाते हैं। इन्हीं संघ की सारभूत पद्धति को संस्था कहते हैं।

सब जीवित वस्तुएँ होती हैं जिनमें सामान्य ध्येयों (ends) के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्ति शामिल होते हैं। संस्थाएँ इन व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों के रूप (form of relations) हैं। उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत (sanctioned) कार्य के ढंग (ways of action) भी कहा जा सकता है। संघ संस्थाओं को बनाते और चलाते हैं। संस्थाओं की प्रतिक्रिया (reaction) संघों पर होती है।[2]

परिभाषा—कूले (C H Cooley) ने संस्था की परिभाषा करते हुए लिखा है—'एक संस्था किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण सतत् अनुभव होने वाली (persistent) आवश्यकता की पूर्ति के लिये सामाजिक विरासत (social heritage) में स्थापित व्यवहारों का जटिल तथा एकभूत संगठन है।

हमारे विचार से सामूहिक जीवन की हर महत्त्वपूर्ण तथा बार-बार होने वाली आवश्यकता (persistent need) की पूर्ति के लिये सामूहिक क्रिया की प्रणालियों के प्रभावी और प्रतिष्ठित रूपों (effective and established forms of procedures of group activity) को संस्थाएँ कहते हैं। यह परिभाषा निम्नलिखित परिभाषा के समकक्ष है।[3] परिवार, विवाह और सम्पत्ति प्रमुख घरेलू संस्थाएँ हैं। इसी प्रकार आर्थिक संस्थाओं के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनी (joint stock company) share market stock-exchange मर्केंजिंग एजेंसी सिस्टम, सहकारी साख व्यवस्था ऐसी ही कुछ संस्थाएँ हैं। जनतन्त्र का दो दलीय संगठन (two party organisation) संविधान, वयस्क चुनाव प्रणाली और प्रशासकीय क्षेत्र में आई० सी० एस० या आई० ए० एस० कुछ

1 By institutions we mean the established forms or conditions of procedure characteristic of group activity MacIver & Page *op cit* p 16

2 Morris Ginsberg *op cit* p 121
Also see M Constantain *Social Institutions*

3 An institution is a system of relationship or a pattern for carrying out an idea or desire which is regarded as necessary for the welfare of the group

प्रमुख सस्थाएँ हैं। इसी प्रकार शैक्षिक, आरोग्य सम्बन्धी, धार्मिक, सांस्कृतिक और मनोरंजनात्मक संस्थाएँ होती हैं।

हम (मनुष्य) किसी सस्था के होकर नही रहते। हा, समितियों के होकर रहते हैं।[1]

चूँकि सस्थाएँ सामूहिक जीवन की क्रियाओं के प्रतिष्ठित रूप है इसलिये वे मनुष्यों के आचरण पर नियन्त्रण करती हैं।

सस्थाएँ प्रणालियाँ होती हैं

सस्थाएँ मानवक्रियाओं की संगठित व्यवस्थाए (प्रणालिया) होने के कारण *निश्चित प्रयाजनो को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। जैसे भारतीय संविधान का* प्रयोजन राज्य का अधिकतम कल्याण करना है।

सस्था की उत्पत्ति का स्रोत कोई निश्चित धारणा विचार या हित है। इसी को मूत करने के लिए धीरे धीरे कार्यविधि का कोई रूप स्वीकृत हो जाता है और तब सस्था की रचना (structure) भी बन जाती है। समनर (W G Sumner) ने ठीक कहा है कि सस्था किसी धारणा (सिद्धान्त हित या विचार) और रचना (structure) से मिलकर बनती है। उसके मतानुसार सस्थाएँ विकसित (crescive) होती हैं।[2]

प्रमुख विशेषताएँ

लॉयड बलार्ड (Llyod V Ballard) ने सस्थाओं की सात विशेषताएँ बताई हैं—(१) विचार (ideation), (२) रचना (structure) (३) प्रयोजन (purpose) (४) अपेक्षाकृत स्थायित्व (relative permanence), (५) सत्ता (authority) (६) सामाजिक नियन्त्रण (social control), तथा (७) सदस्य समूह या पदाधिकारी (personnel)।[3]

सस्थाओं के काम सामाजिक नियन्त्रण संस्कृति का अक्षुण्ण बनाए रखना तथा उसका हस्तांतरण (transfer) करना है। गिलिन और गिलिन के अनुसार सस्थाओं *के निम्नलिखित कार्य हैं*[4]

(१) व्यक्ति के हित में सामाजिक या सामूहिक क्रिया को सरल करना,
(२) सामाजिक नियन्त्रण का साधन,
(३) व्यक्ति को भूमिका और प्रस्थिति (role and status) प्रदान करना,
(४) नये प्रतिमानो (patterns) की उत्पत्ति में सहायक होना,

1 We belong to associations but not to institutions —MacIver & Page *Society*
2 W G Sumner *Folkways* Boston 1907 p 54
3 L V Ballard *Social Institutions*
4 Gillin & Gillin *Cultural Sociology* (Macmillan New York 1948) p 390

(२) सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था (configuration)[1] में एकता उत्पन्न करने के साधन,

(३) व्यक्ति के स्वार्थों को दबाना और उसको अनुत्तरदायी होने से रोकना।

किन्तु संस्थाएँ कभी-कभी सामाजिक प्रगति में बाधक (hindrance) भी होती हैं। हम पहले कह चुके हैं कि संस्थाएँ समाज या समुदाय के विशिष्ट हितों की पूर्ति करने के प्रतिष्ठित साधन हैं। जब लोग साध्य से दृष्टि हटाकर साधन को ही सब कुछ समझने लगते हैं तो साधन के भले-बुरे या पर्याप्त अथवा अपर्याप्त का विचार नहीं करते। सिर्फ उनके पुराने या प्रतिष्ठित होने के कारण उससे ममत्व बढ़ा लेते हैं और उसमें आवश्यकता होने पर भी परिवर्तन करना नहीं चाहते। यही कारण है कि कुछ संस्थाएँ कभी-कभी अपने सदस्यों के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होने देतीं।

1 Mode of arrangement, outline—व्यवस्था, रूपरेखा, आकार।

द्वितीय खण्ड

समाज और पर्यावरण

५ सामाजिक जीवन के कारक
६ मानव और पशु समाज
७ समाज और पर्यावरण
८ भौगोलिक पर्यावरण
९ संस्कृति और सभ्यता
१० सम्पूर्ण पर्यावरण
११ वंशानुक्रमण और पर्यावरण
१२ ग्रामीण और नगरीय जीवन
१३ सामाजिक परिस्थितिशास्त्र

५

सामाजिक जीवन के कारक[1]

हमारा विषय मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। मनुष्येतर समाजों में पशुओं अथवा कीड़ों के समाज होते हैं। मनुष्य का सामाजिक जीवन पशुओं के सामाजिक जीवन से वस्तुतः एक बात में भिन्न है। मनुष्य व्यवहारों को सीख सकता है और इन सीखे हुए व्यवहारों को अपनी सन्तान को भाषा और अन्य संचार साधनों से हस्तान्तरित कर सकता है। सामाजिक अनुभव को प्रौढ़ और समृद्ध करने के लिए ये दोनों बातें अनिवार्य हैं। पशु या कीड़े इन दोनों बातों से वंचित हैं। मनुष्य समाज की इस विशेषता का फलीकरण उसकी संस्कृति में होता है। संस्कृति मनुष्य समाज की अपनी अद्वितीय विशेषता है अर्थात् मनुष्य समाज को छोड़कर यह किसी समाज के पास नहीं होती है।

मनुष्य में व्यवहारों को सीखने की क्षमता अवश्य है। परन्तु वह उन्हें तभी सीख सकता है जब तदनुरूप आवश्यक पर्यावरण मिले। जब मनुष्य पैदा होता है तो वह केवल एक सावयव होता है। चूँकि पशुओं और कीड़ों के बच्चों से वह एकदम भिन्न होता है इसलिए उसे व्यक्ति की संज्ञा दी जाती है। यह 'व्यक्ति' मनुष्य नहीं है। वह मनुष्य या मानव तभी होता है जब मानवोचित गुणों का उसमें विकास हो। उसमें मानवोचित गुणों का विकास परिवार में रहकर प्रारम्भ हो जाता है। परिवार उसकी भूख-प्यास और संरक्षण की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। परन्तु उससे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ वे हैं जो उसे समूह का सदस्य होने पर अनुभव होंगी। परिवार इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी यथासम्भव प्रबन्ध करता है। साथ ही मनुष्य के शैशवकाल में उसे ऐसी शिक्षा देता है जिससे वह अपनी उच्च आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमताएँ और योग्यताएँ विकसित कर ले। परिवार के समान अन्य प्राथमिक समूह भी, जैसे पड़ोस, क्रीड़ा-समूह और स्कूल का कक्षा मनुष्य के मानसिक और सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन का ही विकास

---

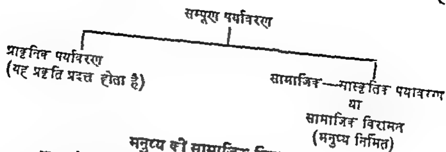
1 For Factors in Social Life of Man see Ogburn & Nimkoff *A Hand book of Sociology* Routledge & Kegan Paul London (1956)

महत्त्वपूर्ण है। उपरोक्त समूहों के अतिरिक्त अनेक माध्यमिक समूह व समितियां उसके प्रौढ़ जीवन व विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। समूह व्यक्ति के शारीरिक और सामाजिक विकास के लिए अनिवार्य है। जब किसी मानव शिशु को उचित सामूहिक संरक्षण और सहायता नहीं मिलती तो उसका विकास अपर्याप्त रहता है। यदि किसी शिशु को समूह से बिल्कुल पृथक कर दिया जाय तो इस असीम पृथक्करण में वह कभी मानव न बन सकेगा। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति में मानव प्रकृति का विकास समूह में रहकर ही हो सकता है। समूह से पृथक रहकर उसके विकास की कोई सम्भावना नहीं रहती और पशु और व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रहता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी तभी बन सकता है जब उसे समाज से—अथवा पर्यावरण से अपनी प्रकृति के विकास के लिए उपयुक्त उत्तेजना और अवसर मिले हों।

पर्यावरण के प्रकार

पर्यावरण के दो प्रकार (Kinds) होते हैं। पहले प्रकार का प्राकृतिक पर्यावरण कहलाता है। पशु इस पर्यावरण में पैदा होते हैं जिसमें धरती आकाश, सूर्य चन्द्र जल, वायु ऋतुएं एवं अन्य शक्तियां तथा वृक्ष पौधे दूसरे प्रकार के अनेक जानवरों और उसी प्रकार के अन्य जानवरों को सम्मिलित किया जाता है। इस पर्यावरण का निरूपण भूगोलशास्त्री एवं जीवशास्त्री करते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर इसे सावयवी एवं जड़ पर्यावरण (organic and inorganic environment) कहता था।

दूसरे प्रकार का पर्यावरण मनुष्य के सम्पूर्ण पर्यावरण का वह भाग है जिसमें केवल उसका जन्म होता है। यह मनुष्य की क्षमताओं को सीखने की विधि द्वारा निर्धारित करता है। यह बहुत समृद्ध और विविधतापूर्ण होता है। इसमें इमारतें, औजार, वस्त्र, कला, विज्ञान, धर्म और मनुष्य द्वारा काम करने के तरीके सब कुछ सम्मिलित होते हैं। मनुष्य जिस समूह में पैदा होता है। उसमें अनेक प्रथाएं संस्थाएं भाषा और संसार के अन्य साधन होते हैं। पशुओं के समूह में इस प्रकार कोई पर्यावरण नहीं होता है। यही तो मनुष्य के समाज की विशेषता है। प्राकृतिक पर्यावरण प्रकृति प्रदत्त होता है। दूसरा पर्यावरण मनुष्य निर्मित है। किन्तु अगले अध्यायों में हम यह स्पष्ट करेंगे कि यह पर्यावरण भी केवल अप्रत्यक्ष अर्थ में मनुष्य निर्मित है। इस अप्राकृतिक पर्यावरण को कई नामों से पुकारा जाता है। बहुधा इसे सामाजिक विरासत (Social heritage) कहा जाता है क्योंकि यह मनुष्य की प्राकृतिक या जैविक विरासत (natural or biological heritage) से भिन्न है। समाजशास्त्री और मानवशास्त्री इस कृत्रिम (artificial) पर्यावरण को संस्कृति कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर इसे अधिसावयविक (Superorganic) कहता था। संस्कृति की पश्चाद्गामी अवस्था का वर्णन 'सभ्यता शब्द' से किया जाता है।



मनुष्य की सामाजिक विरासत

मनुष्य के सामाजिक जीवन पर सामाजिक विरासत का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मनुष्य प्रारम्भ से ही अपने पर्यावरण में क्रियाशील रहा है। उसने सदैव अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधित किया है। संशोधन की यह विधा संचयी (cumulative) होती है क्योंकि मनुष्य कभी भी अपनी पुरानी आस्था तथा केवल उपस्थित दशाओं से उपार्जन करके सन्तुष्ट नहीं रह सका है। परिस्थितियों को बदलने और उन्हें सुधारने की कला वह अपने पूर्वजों से सीखता आया है। साथ ही स्वयं उस कला में थोड़ी-बहुत वृद्धि करता रहा है।

सामाजिक विरासत का अर्थ

सामाजिक विरासत शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ग्राहम वालास (Graham Wallas) ने किया था। यह उन ज्ञान उपायों (expedients) और आस्थाओं के लिए प्रयुक्त हुआ था जो जैविक रूप से नहीं वरन् सामाजिक रूप से संचरित (transmit) होते रहे हैं तथा शिक्षा और सामाजिक सम्मिलन (social participation) के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी को हस्तान्तरित होते हैं।[1] कलाएँ युक्तियाँ (devices) प्रविधियाँ गाथाएँ (lores) पुराण (myths) परम्पराएँ प्रतीक (symbols) रूढ़ियाँ और मानव संस्थाएँ—मनुष्य के बाह्य वातावरण को नियमित करने वाली उसकी सभी एजेन्सियाँ—सामाजिक थाती (social possessions) हैं। यही मनुष्य का सांस्कृतिक पर्यावरण है।

व्यापक प्रभाव

प्राकृतिक पर्यावरण की अपेक्षा सामाजिक विरासत का मनुष्य के शारीरिक मानसिक और सामाजिक विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य सैकड़ों वर्ष तक एक ही प्राकृतिक पर्यावरण में रहता है। उसमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु इसका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर बहुत कम पड़ता है। यदि दो समयों में या दो विभिन्न स्थानों पर सामाजिक विरासत समान रहे तो भौगोलिक पर्यावरण के भिन्न होने पर भी मनुष्य के सामाजिक जीवन में कोई विशेष प्रभाव नहीं आएगा। न्यूयार्क लन्दन टोकियो तथा कलकत्ता—इन विशाल नगरों का प्राकृतिक पर्यावरण

1 "Our Social Heritage" New Hawen (1921) p 14 quoted by MacIver & Page op cit p 119

एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है किन्तु इन नगरों के निवासियों में सामान्यतः नगरीय विशेषताओं की समानताएँ विद्यमान हैं।

जब मनुष्यों की सामाजिक विरासत में भिन्नता होती है तो उनके सामाजिक जीवन की भिन्नता भी स्पष्ट हो जाती है। उत्तरी भारत के मैदानी भाग के किसी गाँव के जीवन की यदि हम चीन की ह्वांगहो नदी की घाटी के किसी गाँव के जीवन से तुलना करें तो इनकी भिन्नता स्पष्ट दीखेगी। अफ्रीका के नीग्रो समुदाय की सामाजिक विरासत काश्मीरी लोगों की विरासत से बिल्कुल भिन्न है। इसी प्रकार, टुण्ड्रा के एस्कीमो लोगों की सामाजिक विरासत आसाम के नागा लोगों से बिल्कुल भिन्न है। सामाजिक विरासत की भिन्नता के कारण लोगों के व्यक्तित्व का विकास भिन्न आधार पर होता है। सत्य, सच्चरित्रता, ईमानदारी, बहादुरी और प्रेम आदि महत्वपूर्ण सामाजिक गुणों का तदनुरूप विभिन्न अर्थ निरूपण होता है। सामाजिक विरासत में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं इसलिए दो समयों के रीति रिवाजों परम्पराओं एवं रूढ़ियों में भी अन्तर आ जाता है। मध्ययुग में हर पितृसत्तात्मक समाज (patriarchal society) में लड़की को उसी पुरुष से विवाह करना पड़ता था जिसे उसके माता-पिता चुन लेते थे। आजकल उन्हीं समाजों में लड़कियाँ अपनी इच्छानुसार वर चुनती हैं। १६वीं सदी के भारत में हर महिला (प्रतिष्ठित घरानों की) मेला, तीर्थ या बाजार जाती या पालकी में ही जाती थी। उस कठोर पर्दे में रहना पड़ता था। आजकल पर्दा करना अभद्रता और पिछड़ेपन की निशानी है।

मनुष्य सामाजिक विरासत पर आश्रित होता है

मनुष्य को अपने भरण-पोषण एवं संरक्षण के लिए ही नहीं प्रगति के लिए भी सामाजिक विरासत पर निर्भर रहना पड़ता है। इसकी सहायता से वह बाह्य पर्यावरण (external environment) की क्रूर माँगों और आघातों का सफलता पूर्वक सामना करता है। मनुष्य के प्रच्छन्न गुणों (latent faculties) का अत्यधिक या सर्वोत्तम अनावरण उपयुक्त सामाजिक विरासत में ही हो सकता है। उसके व्यक्तित्व में उसकी सामाजिक विरासत के अंश भरे हैं। आज की विज्ञान गौरवमयी सभ्यता जिस पर मनुष्य को गर्व है उसकी सामाजिक विरासत के सतत विकास का फल है।

सामाजिक विरासत और आर्थिक उत्तराधिकार

मानव समाज में शिक्षा का आधारभूत महत्व है। शिक्षा से ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है और शिक्षा सामाजिक विरासत का अभिन्न अंग है। इस कारण मनुष्य की सामाजिक विरासत पर निर्भरता निरन्तर है। आर्थिक उत्तराधिकार और सामाजिक विरासत में महत्वपूर्ण भेद है। आर्थिक उत्तराधिकार में हम अपने पूर्वजों की भौतिक पार्थिव सम्पत्ति उपयोग करने या बरतने को मिल जाता है। इस उपयोग

के लिए हम कोई शर्त नहीं पूरी करनी पड़ती। सामाजिक विरासत के हम केवल स्थिति विषयक (conditional) उत्तराधिकारी हो सकते हैं। हम इसे प्राप्त करने के योग्य हों तथा इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी करें। दूसरे आर्थिक उत्तराधिकार में पूर्वजों से उनकी सन्तान को सारी की सारी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। सामाजिक थाती सभी सदस्यों को सहज ही नहीं प्राप्त हो जाती। यह श्रम और प्रयत्नशील व्यक्तियों को केवल आंशिक (partial) रूप से प्राप्त हो सकती है अर्थात् व्यक्तिगत थाती सामाजिक विरासत का बहुत तुच्छ अंश हो सकती है।

मानव व्यवहार और रुख

एक विशिष्ट सामाजिक विरासत और उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों के व्यवहार की प्रकृति में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जहाँ कहीं भी समाज है वहाँ मनुष्य अनुकरण और सुझाव भावनाओं की विधाओं में सामाजिक मिलन और अनिर्जीवन (social participation and survival) के लिए सामाजिक विरासत के आवश्यक तत्व सीख लेता है। मनुष्य जिन औजारों का इस्तेमाल करता है, जिन कलाओं का निर्माण करता है, जिन देवों की पूजा करता है और विवाह के बन्धनों, अन्य भावनाओं और विचारों की प्रतिष्ठा करता है उन सबके लिए वह अपनी सामाजिक विरासत पर आश्रित रहता है।

मनुष्य का जीवन के प्रति जो रुख (attitude) रहता है वह भी अपनी सामाजिक विरासत में सीखता है। हमारे ग्रामीणों का जीवन के प्रति भाग्यवादी अथवा निराशावादी दृष्टिकोण है इसका कारण उनकी सामाजिक विरासत है। आज भारतीय युवकों में जो निराशा और हतभाग्यता के विचार आ रहे हैं इसका मूल कारण भी हमारी सामाजिक विरासत है जिसमें दरिद्रता, बेकारी, विषमता और भ्रष्टाचार ने अच्छा खासा स्थान घर लिया है। हम क्या सीखते हैं और क्या होते हैं, यह उस विशिष्ट संस्कृति पर आश्रित है जिसमें हम पैदा हुए हैं और हम जिस प्रकार के जीवन को अपनाते हैं वह सम्भवत संस्कृति के उस भाग द्वारा निश्चित होता है जिसमें हम रहते हैं।[1]

सामाजिक विरासत कैसे प्राप्त होती है

सामाजिक विरासत पार्थिव (material) और अपार्थिव (non material) होती है। इसका पार्थिव भाग उपयोगी वस्तुओं का है। इन सभ्यता की सुविधाओं और आराम देने वाली वस्तुओं को मनुष्य शीघ्रता और सरलता से अपना लेता है। पार्थिव आविष्कारों और यन्त्रों का हर साधनयुक्त व्यक्ति उपयोग कर सकता है। किन्तु अपार्थिव भाग जिसमें भाषा, जनरीतियाँ तथा अन्य युक्तियाँ आती हैं और

---

1 What we learn and what we become depend upon the particular culture into which we are born and the type of life follow is likely to be set for us by the particular part of the culture in which we live Ogburn & Nimkoff *op cit* p 4.

धीरे आदत से प्राप्त की जा सकती हैं। सामाजिक विरासत के जिन भागों को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है वे साधारणतया समाज की प्रकृति को प्रकट करते हैं न कि उसके विशिष्ट व्यक्तियों की प्रकृति को। जिन भागों को सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता है वे बहुत कुछ अंशों में व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर रहते हैं। जो लोग उन्हें प्राप्त करते हैं उनमें अधिक पूर्णता से वैयक्तीकृत (individualized) हो जाते हैं। उनका अर्थ निर्णय अधिक चुनाव से होता है तथा वे हर व्यक्ति के लिए वैयक्तिक पहलू धारण करते हैं। इस प्रकार संगीत कला दर्शन साहित्य और धर्म के कुछ पहलू (aspects) हरेक व्यक्ति के लिए भिन्न भिन्न अर्थ वाले प्रतीत होते हैं। साथ ही उनकी जिस समाज में उत्पत्ति होती है उसके गुणों की छाप उन पर लगी होती है।

सामाजिक विरासत का असमान विभाजन

समाज के हर सदस्य को इस विरासत में समान भाग नहीं प्राप्त हो सकता। उसकी असमान मात्राएं ही विभिन्न व्यक्तियों को प्राप्त होती हैं। समाज धीरे धीरे अत्यधिक जटिल हो गए हैं। इनकी विरासत के केवल थोड़े से अंश को ही कोई व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। सामाजिक विरासत की दो मूलभूत अवस्थाएं (phases) संस्कृति और सभ्यता है। इन दोनों के कुछ न कुछ अंश तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनाने पड़ते हैं क्योंकि यह उसके सफल और अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य है।

वंशानुक्रमण

व्यक्ति पर संस्कृति के संघात (impact) के कुछ महत्वपूर्ण परिणामों का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है। अब आइए यह देखें कि जिस व्यक्ति पर यह संघात होता है क्या उसकी जैविक विरासत (biological heritage)[1] का संघात के परिणामों पर कोई प्रभाव पड़ता है? हम बहुधा सुनते हैं कि बुद्धिमान माता पिता की सन्तान भी बुद्धिमान होती है। माँ-बाप के कुछ मानसिक दोष उनकी सन्तान में भी पाए जाते हैं और मन्द बुद्धि (feeble minded) बच्चे बहुत अधिक नहीं सीख सकते। इससे स्वाभाविकतया यह निष्कर्ष निकलता है कि संघात के परिणामों पर व्यक्ति के जैविक प्रकार का बहुत प्रभाव पड़ता है। यह सत्य भी है कि व्यक्ति और संस्कृति के अन्तःसम्बन्ध में वंशानुक्रमण (heredity) का योगदान है।[2]

वंशानुक्रमण का अर्थ

प्रसिद्ध मेण्डल सिद्धान्त (Mendellian Law) की घोषणा से पूर्व आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व लोग यह मानते थे कि बच्चों में माता पिता के शारीरिक

1 Also referred to as hereditory endowment Whatever is genetically transmitted from the parents to the children is termed as hereditory endowment

2 Ogburn & Nimkoff op cit p 5

और मानसिक लक्षणों का सम्मिश्रण (mixture) होता है क्योंकि मैथुन (cohabitation) में दोनों के रक्तों का सम्मिश्रण हो जाता है। इस धारणा के अनुसार यह माना जाता था कि यदि माता काली है और पिता गौर वर्ण का है तो उनके बच्चे का वर्ण साँवला होगा। अथवा बुद्धिमान पिता और मूर्ख माता की सन्तान साधारण बुद्धि वाली होगी। मेण्डल (Mendel) ने परीक्षणों से यह सिद्ध किया कि वास्तव में रक्त द्वारा बच्चों में पैतृक गुण नहीं आते। ये गुण पित्र्यकों (genes) द्वारा हस्तान्तरित होते हैं। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और इसी क्रम से हस्तान्तरित अपरिवर्तनशील लघुतम अणु होते हैं। इनकी बहुत अधिक संख्या होती है। ये हमारे शरीर के अपरिमित लक्षणों का निर्धारित करते हैं।

हर जीव की उत्पत्ति (origin) एक कोष्ठ (cell) से होती है। उसके दो भाग होते हैं—(१) केन्द्र (nucleus) और कोषारस (cytoplasm)। कोष्ठ के केन्द्र में सूक्ष्म लम्बे पदार्थ होते हैं जो पित्र्यसूत्र (chromosomes) कहलाते हैं। प्रत्येक शरीर कोष्ठ (body cell) में ४८ पित्र्यसूत्र होते हैं। इनमें मनकों की गुरिया की तरह पित्र्यैक (genes) जुड़े रहते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि यही वे आवश्यक पदार्थ हैं जिनसे बच्चों की शारीरिक एवं बौद्धिक विशेषताएँ निश्चित होती हैं। पित्र्यैक जीवित और क्रियाशील पदार्थ होते हैं। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और फिर इसी क्रम में (माता पिता से बच्चों में और इनके बच्चों में) हस्तान्तरित होते रहते हैं। पुनरुत्पादन (reproduction) की यह प्रतिक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

पित्र्यैक दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रबल (dominant) और गौण (recessive)। मनुष्य के शारीरिक एवं बौद्धिक लक्षणों के निर्धारण में प्रबल पित्र्यैक ही प्रमुख महत्व के हैं। गौण पित्र्यैक शरीर में उपस्थित रहने पर भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते। यदि किसी बच्चे में माता पिता के गुण न आये हों वरन् दादा या नाना के कारण हो तो उसमें दादा अथवा नाना के पित्र्यैक प्रबल हो गये हैं और माता पिता के गौण। माता पिता और उनके पूर्वजों के जो गुण या लक्षण हमें शारीरिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए हैं उन्हें अधिक विरासत या मौरूसी में वंशानुक्रमण कहते हैं।[1]

वंशानुक्रमण का प्रभाव

वंशानुक्रमण का मनुष्य की शारीरिक क्रिया सम्बन्धी (physiological) आदतों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। पलकों का खुलना या बन्द होना, हृदय का धड़कना, पुतलियों का रंग और शरीर रचना में सौष्ठव (सुडौलपन) आदि वंशानुक्रमण से निरन्तर हस्तान्तरित होता रहता है। इसी प्रकार से हर मनुष्य में मानसिक

1 यह सारा वर्णन यूनेस्को द्वारा प्रकाशित पुस्तक What is Race पर आधारित है।

दौड़न की क्षमता होती है किन्तु इस क्षमता का विकास शिकार के पीछे दौड़न, या दूरस्थ सता को दौड़न अथवा टनिस या फुटबाल क मदान पर दौड़न से होता है। संस्कृति अथवा सामाजिक विरासत के कारण मनुष्यों की दौड़न की क्षमता के विकास और रूपों म अन्तर (variation) आ जाता है। हर व्यक्ति का दौड़ने की क्षमता समान नहीं होती पर फिर भी उसके कम या अधिक विकास अथवा विशिष्ट रूपों म विकास का भाग संस्कृति पर आश्रित है। उदाहरण के लिए दो भारतीय युवकों म शारीरिक परिश्रम करने की क्षमता (capacity) समान होते हुए भी उनम शारीरिक परिश्रम की वास्तविक योग्यता असमान हो सकती है। जविक विरासत स व्यक्ति को कुछ सम्भावनायें (possibilities) प्राप्त होती हैं। इनको यथार्थताओं (actualities) म बदलने का भाग पर्यावरण करता है।

एक दूसरा उदाहरण लें। यदि एक परिवार की दो कन्याओं म, बारह-तीन वर्ष की आयु म संगीत म कम और अधिक अभिरुचि है तो कम अभिरुचि वाली लड़की को यदि संगीत की विशेष प्रशिक्षा दी जायगी तो उसम संगीत की विशेष योग्यता (special ability) विकसित हो जायगी। दूसरी लड़की म प्रारम्भ म अधिक अभिरुचि होने हुए भी विशेष प्रशिक्षा क अभाव म संगीत की कोई विशेष योग्यता नहीं विकसित होगी। इससे स्पष्ट है कि विशेष योग्यताओं के गुण और अंश (quality and degree) दोनों पर प्रशिक्षा का गहन प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, संगीत म समृद्ध समुदाय के लोगों म संगीत-सम्बन्धी पनिक गुणों का विकास निश्चित ही अच्छा होगा अपेक्षाकृत उस समुदाय के इसी प्रकार के लोगों म, जो संगीत परम्परा म उतना समृद्ध नहीं है।

यह भी देखने म आया है कि दो समाजों की संस्कृतियों म भेद या विस्तार (range) क्षमता म वयक्तिक भेदों को कभी-कभी बिल्कुल ढाँक (overshadow) लता है। उदाहरण के लिए अमरीका के सरकारी स्कूलों म शिक्षा पाने वाले नीग्रो के बच्चे ज्यामिति और बीजगणित (Geometry and Algebra) के कठिन प्रश्नों को आसानी से हल कर लेते हैं। किन्तु सबसे अधिक प्रतिभाशाली नीग्रो बच्चा भी अपनी संस्कृति म ऐसा कभी नहीं कर पायगा। वह अमेरिका के सबसे मन्द लड़के स भी मुकाबला नहीं कर सकता। सम्भवत विभिन्न समुदायों के लोगों म मानसिक क्षमताओं म अन्तर उतना अधिक नहीं होता जितना उनकी विभिन्न संस्कृतियों का भारी अन्तर उनकी योग्यताओं म दिखाई देता है। उपरोक्त उदाहरणों स यह स्पष्ट हो गया है कि शारीरिक सम्भावनाओं की अपेक्षा सामाजिक और मानसिक क्षेत्र म सीखने या जानने की सम्भावनाओं का बहुत अधिक महत्व है।[1]

---

1 In the menal and social re lm as contrasted with physiolo ical possibi lities the pos bilities of learning are enormously great —Ogburn & Nimkoff *op cit.*, p 7

समूह का कार्य

हम पहले कह चुके हैं कि समूह-जीवन व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। वह बच्चे को जीवित ही नहीं रखता वरन् उसे संस्कृति प्रदान करता है और उसके व्यवहार पर नियंत्रण रखता है। समूहों के द्वारा ही सामाजिक विरासत का हस्तांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है। समूह के माध्यम से ही व्यक्ति पर संस्कृति का संघात होता है।

सरल संस्कृतियों में अमरीका के नीग्रो या आस्ट्रेलिया के बुशमन या भारत के आदिवासियों में समूहों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती। प्रायः सभी समूह प्राथमिक होते हैं। साथ ही इन संस्कृतियों का परिमाण भी थोड़ा होता है और वे अधिक समरूप होती हैं। इनमें समूह का व्यक्ति पर प्रभाव बड़ा गहरा और स्थायी पड़ता है। यह प्रभाव बहुत-कुछ समरूप होता है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व (personality) का विकास समजातीय (homogeneous) रूप में होता है। व्यक्ति की विभिन्न भक्तियों (loyalties) और कर्तव्यों में हर कदम पर संघर्ष नहीं होता है। जटिल संस्कृतियाँ जैसी आधुनिक विकसित और औद्योगिक देशों की हैं, में अनेक प्राथमिक और द्वितीयक (primary and secondary) समूह होते हैं। इनमें से प्रत्येक से हर व्यक्ति का सम्पर्क नहीं हो पाता। इनमें से प्रत्येक समूह अपने सदस्यों से ऐसी भक्तियाँ और दायित्व चाहता है जिनमें परस्पर संघर्ष होता है। इसलिए यहाँ समूह प्रवरण के साधन का कार्य करता है। हम संस्कृति के किन पहलुओं और रूपों (versions) को अपनायें इसका निर्धारण ये समूह ही करते हैं।

संस्कृति का संचार समूहों का एक महत्वपूर्ण कार्य अवश्य है पर इनके अन्य कार्यों का भी कम महत्व नहीं है। स्वयं समूह-जीवन का व्यक्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। समूह जीवन ही व्यक्तित्व को बनाता है। व्यक्ति में नेतृत्व, आज्ञाकारिता, सहकारी अथवा प्रतियोगी सामाजिक अथवा असामाजिक गुणों का विकास उसके समूह में प्राप्त अनुभवों पर आश्रित है। कुछ बातें तो हर प्रकार के समूह-जीवन में मिलती हैं। हर समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण करता है और भयानक व्यवहारों के लिए उन्हें दण्ड देता है। समूह की भक्ति का सार्वभौमिक रूप से सर्वोत्तम गुण माना जाता है और भक्तिहीनता या विद्रोह एक अमाप्य पाप। समूह में व्यक्ति दूसरों से विचार विमर्श करता है उनसे सहयोग और प्रतियोगिता करता है तथा उनसे असहमत होकर संघर्ष भी करता है। अन्त में वह अपने साथियों से समायोजन करता है। मानव अन्तःक्रिया के इन गत्यात्मक प्रतिमानों (dynamic patterns) को हम सामाजिक विधायें कहते हैं। ये व्यक्तित्व के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं।

भिन्न भिन्न आकार और प्रतिमान के समूहों का व्यक्तित्व पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है। छोटे-बड़े परिवार पड़ौस, क्रीडा-समूह, वर्ग, श्रमिक संघ, राज

नैतिक दल, साहित्य गोष्ठी आदि समूहों और समितियों का भिन्न भिन्न प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। एक ही समूह-परिवार या क्रीडा-समूह के भिन्न आकार और प्रतिमानों का प्रभाव व्यक्तियों पर भिन्न पड़ेगा। एक छोटे परिवार मे पले हुए बच्चे का व्यक्तित्व बड़े परिवार म पले हुए बच्चे के व्यक्तित्व से कई बातो से भिन्न होता है। इसी प्रकार ग्रामीण परिवार और नगरीय परिवार के प्रभावा म भी अतर होता है। समूह केवल व्यक्तियों का झुण्ड मात्र नही है। उसकी अपनी सास्कृतिक परम्परा होती है। इसलिए हर समूह अपनी विचित्र सामाजिक विरासत के द्वारा अपने सदस्या के अनुभवो म विचित्र तत्व भर देता है। यही कारण है कि व्यक्तियो के व्यक्तित्व म बहुत अधिक अन्तर होता है, विभिन्न संस्कृतियो म सामूहिक विधाओं (group processes) का रूप भिन्न होता है और इसे समझे बिना हम व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर समूह के प्रभाव को न समझ सकेंगे। व्यक्तिगत और सामाजिक गुणा का पृथक विकास समूहो की पृथक संस्कृति का परिणाम है। इसी तरह जीवन *की परिस्थितियों के प्रति किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्ति समूह की क्या प्रतिक्रिया* होगी यह उनके समूह व संस्कृति द्वारा निश्चित होता है। वस्तुत मानव समूह सदैव सास्कृतिक समूह होते हैं।

सामाजिक जीवन के प्रधान कारकों की अन्त निर्भरता

प्रस्तुत अध्याय म अभी तक के विवेचन से हमने मनुष्य के सामाजिक जीवन के चार प्रधान कारको प्राकृतिक पर्यावरण सामाजिक विरासत वशानुक्रमण और समूह का सक्षिप्त परिचय लिया है। सभी का मनुष्य के अनुभव म महत्वपूर्ण स्थान है और इनमें से किसी की उपेक्षा नही की जा सकती। यह ध्यान रहे कि ये कारक एक दूसरे से बिल्कुल पृथक नहीं रहते। ये साथ-साथ ही क्रियाशील रहते हैं।

हम इनकी अन्त निर्भरता (interdependence) को समझ लेना चाहिये। संस्कृति अन्ततोगत्वा मनुष्य की अति समुन्नत मानसिक क्षमताओं पर आधारित है। *मनुष्य के अतिरिक्त किसी प्राणी के समाज म संस्कृति नहीं है। मनुष्येतर जीवों की* मानसिक क्षमतायें बहुत निम्न कोटि की हैं। यह भी स्पष्ट किया गया था कि संस्कृति केवल एक समूह ही में हो सकती है। अकेले व्यक्तियों के पास संस्कृति नाम की कोई वस्तु नहीं होती। संस्कृति मनुष्य की सामाजिकता की एक उपज है। दूसरे शब्दों म, समूह के अन्दर संस्कृति का जन्म और विकास होता है। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि हर समूह एक सांस्कृतिक समूह है। हम किसी एस मानव समूह की कल्पना तक नहीं कर सकते जिसकी कोई सामाजिक विरासत न हो। भौगोलिक पर्यावरण का संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है और संस्कृति से ही मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण म सुधार और परिवर्तन करने योग्य होता है। यह भी हम लोगो ने पढ़ा था कि व्यक्ति जन्म के समय अन्य पशुओं के शिशुओं म सबसे अधिक असहाय होता है। उसम मानवीय प्रकृति (human nature) नाम की कोई चीज नहीं होती। वह

केवल मनुष्य की शक्ल का होता है। किन्तु इस जैविक व्यक्ति में अनेक शारीरिक और मानसिक क्षमतायें होती हैं। इनकी समुचित व्यंजना (expression) या अनावरण और विकास संस्कृति में ही होता है। समूह व्यक्ति को जीवित रहने के लिए अपना संरक्षण ही नहीं देता वरन् उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित सामग्री और अवसर प्रदान करता है। अतएव, मनुष्य के सामाजिक जीवन के चारों कारकों में अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी को इस सम्बन्ध को भली प्रकार समझ लेने पर ही सामाजिक संगठन का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

प्रधान कारकों के महत्त्व में भिन्नता

चारों प्रधान कारकों में से हरेक का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और उनका अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता है। परन्तु मनुष्य के सामाजिक जीवन में इनका समान सापेक्षिक महत्व (relative significance) है। इस सापेक्षिकता को ठीक ठीक मालूम करना समाजशास्त्री का आवश्यक कार्य है। उसे उन लोगों के विचारों के साथ नहीं बह जाना चाहिये जो इनमें से किसी एक को ही सर्वाधिक महत्व का मान बैठते हैं। जैविक कारक (वंशानुक्रमण) को सब कुछ मानने वाले घोषित करते हैं कि सभी महान पुरुष जन्मजात महान होते हैं। महान पुरुष बनते नहीं वे तो पैदा होते हैं। इसी प्रकार प्रतिभा, सुसंस्कृति अथवा यश उसी व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो वंशानुक्रमण में श्रेष्ठ हैं। शुद्ध प्रजातियों की संस्कृति श्रेष्ठ होती है आदि। इस तरह के विचार अवैज्ञानिक एवं एकांगी हैं। वे सामाजिक जीवन के अनेक कारकों में से केवल एक को अनुचित महत्व देते हैं। फिर मजे की बात यह है कि इस स्थिति को प्रामाणिकता देने के लिए उनके पास केवल खोखली अवैज्ञानिक सामग्री होती है। अगले अध्यायों में हम प्रधान कारकों के सापेक्षिक महत्व को आँकने का प्रयास भी करेंगे।

दूसरी बात महत्व की यह है कि किसी विशिष्ट कारक का महत्व हर स्थिति में समान नहीं रहता। शारीरिक प्रतिक्षेपों (physical reflexes) जैसे पलक मारना आदि में जैविक कारक सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन पर पर्यावरण का नगण्य प्रभाव पड़ता है। सरल आदिम संस्कृतियों में मनुष्य के जीवन को प्रकृति पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु आधुनिक औद्योगीकृत समाज प्रकृति पर नियन्त्रण कर बैठे हैं। इस स्थिति में मनुष्य के सामाजिक जीवन में सामाजिक विरासत सबसे अधिक महत्व की है। अतएव मानव अनुभव में उपरोक्त चारों प्रधान कारकों के सापेक्षिक महत्व को समझना ही वैज्ञानिक आवश्यकता है।

भौगोलिक और सांस्कृतिक पर्यावरण, वंशानुक्रमण और पर्यावरण' के अगले अध्यायों में इन प्रधान कारकों के अन्तःसम्बन्ध और सापेक्षिक महत्व का हम सविस्तार विश्लेषण करेंगे।

६

मानव और पशु समाज

समाजशास्त्र मानव समाज का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। किन्तु मानव समाज के अतिरिक्त अन्य जीवधारियों के समाज भी संसार में पाये जाते हैं। पशु पक्षी, कीड़े आदि भी व्यवस्थित रूप से सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। वास्तव में यह एक अनोखा तथ्य प्रतीत होगा कि मनुष्य समाज और पशु समाज में हम कोई सम्बन्ध न मानें। विकासवादी सिद्धान्तों के अनुसार यह माना जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति पूर्वगामी पशुओं से हुई। अतः मानव समाज का अस्तित्व इस बात का साक्ष्य है कि पशु जगत में भी किसी न किसी प्रकार का समाज होगा। परन्तु यह मान लेना गलत होगा कि दोनों प्रकार के समाजों में कोई अन्तर ही नहीं है। मनुष्य समाज समस्त ब्रह्माण्ड की एक घटना मात्र है। इसके विस्तृत अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि संसार के सभी समाजों का हम समान अध्ययन करें। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि समाज में कौन-कौन से तत्व सामान्य हैं। यह जानकारी हमें मनुष्य समाज की विशेषताओं को समझने में सहायक होगी।

पशु और मनुष्य समाजों का तुलनात्मक विश्लेषण करने के लिए हमें सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि किसी भी समाज को बनाने के लिए कौन से तत्व आवश्यक हैं। आइये विचारें मौलिक रूप से कुछ ऐसे आवश्यक तत्व हैं जो समाज के निर्माण में योग देते हैं। जो निम्न हैं—

समाज के निर्माणक तत्व

सभी समाजों में निश्चित रूप से ही निम्नांकित बातें सामान्यतया पाई जाती हैं—[1]

---

1 See Kingsley Davis *Human Society* (1964) and Gillin and Gillin *Cultural Sociology* (196?)

Characteristics of a Society—
(a) Maintenance of a population
(b) A level of organisation of members
(c) Division of labour of members
(d) Solidarity of the group
(e) Perpetuation of Social System.

(१) **जनसंख्या को बनाये रखना**—जब जीव एक समूह में आकर रहते हैं तो उस समय उनका मुख्य ध्येय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है और इस तरह समूह में आकर रहना ही उनकी एक जनसंख्या हो जाती है। उदाहरण स्वरूप जब मधुमक्खी एकत्रित होकर रहती हैं तो उस समाज में मधुमक्खियां जनसंख्या को जीवित रखने के लिए संयुक्त रूप से प्रयत्न करती हैं जिसे हम जनसंख्या को बनाये रखना कहते हैं। जनसंख्या को बनाये रखने के लिए समाज का तीन आवश्यक कार्य करने होते हैं

(क) **जनसंख्या के खान-पान की व्यवस्था**—समाज के सदस्यों का जीवन उस समय खतरे में पड़ जाता है जबकि उनको अपना जीवन यापन करने के लिए भोजन ग्रहण करने में असुविधा हो। इस असुविधा के कारण उनका अस्तित्व भी समाप्त होता हुआ नजर आता है। इस तरह हमें मालूम होता है कि खान पान की व्यवस्था पशु के लिए उतनी ही आवश्यक होती है जितनी मनुष्यों के लिए और सम्भवतः दोनों ही खान-पान को प्राप्त करने में प्राण का न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। एक उदाहरण लेकर हम निश्चित रूप से समझ सकते हैं कि भोजन कितना आवश्यक है। टुण्ड्रा और ठण्डे प्रदेशों की बतखें हमारे देश में दिसम्बर और जनवरी के महीने में भोजन की खोज में ही आते हैं। इसी तरह मनुष्य भी नये स्थानों समूहों और अज्ञात देशों में इसी ध्येय की पूर्ति के लिए जाता है।

(ख) **आघात से रक्षा**—आघात से रक्षा मनुष्यों के समाज की सदस्यता के लिए आवश्यक होता है। समाज के सदस्यों पर प्राकृतिक, अनावृष्टि आक्रमण आदि प्रकार के संकट आ सकते हैं जो कि इनके अस्तित्व को समाप्त कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में समाज ही एक ऐसा साथी है जो सदस्यों की रक्षा समुचित रूप से कर सकता है।

(ग) **प्रजनन कार्य**—समाज में मनुष्य अनवरत रूप से मरते रहते हैं जिसके कारण यह सम्भावना रहती है कि कहीं समाज का अस्तित्व ही समाप्त न हो जाय। इसलिए समाज के अन्य जीवित सदस्य इस अस्तित्व को समाप्ति से बचाने के लिए प्रजनन कार्य में शिथिलता नहीं आने देते। यही कारण है कि हम देखते हैं कि चाहे जानवर हो या मनुष्य, मछली हो या बन्दर, सर्प हो या कीट, प्रायः दिन सैकड़ों की संख्या में मरते हैं तथा हजारों की संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं जिससे समाज का अस्तित्व बना रहता है।

(२) **सदस्यों के संगठन का एक स्तर**—समाज के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों के संगठन का एक स्तर हो। आकस्मिक रूप से किसी भी जीव का इकट्ठा हो जाना संगठन नहीं होता है और न किसी दैवी प्रकोप के कारण छोटे बड़े कीट पतंग जीव इकत्रित हो जायें वह भी संगठन नहीं है। बल्कि जब प्राणी अपनी आवश्यकताओं

और शारीरिक अस्तित्व के लिए मिलकर रहते हैं तो हम उसे एक स्तर पर संगठन कह सकते हैं।

(३) सदस्यों के श्रम का विभेदीकरण—समाज में श्रम का विभेदीकरण भी आवश्यक तत्व है। श्रम विभाजन एक प्रकार की स्थिति व कार्य का निर्धारण करता है। श्रम विभाजन के अभाव में समाज का समुचित व्यवस्था चलाना असम्भव है। प्रथम विभाजन जो कि आर्यों द्वारा किया गया है उसे हम वर्ण-व्यवस्था कहते हैं। भिन्न प्रकार के वर्गों में समाज के सभी कार्यों का विभाजन कर दिया गया।

(४) समूह की सुदृढ़ता—सदस्यों में एक दूसरे के सम्पर्क में आने के कुछ विशेष कारण होने चाहिए और भिन्न कार्यों को लेकर उनमें अन्तःक्रिया भी होनी चाहिए। समूह की भावना तीव्र और समूह की दृढ़ता उस समय होता है जब समाज के सदस्य एक दूसरे के सम्पर्क में आ जावें। साथ-साथ समूह की दृढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि एक दूसरे के लिए सहिष्णुता और सहयोग की भावना रखें जिसके लिए मुख्य तथा उनको गैर सदस्यों और अपने सदस्यों में भेदभाव रखना पड़ता है। जैसे यह कहा जाता है कि मोहन भारतीय है तो सोहन विदेशी है। अपने और गैर सदस्य दोनों ही साथ साथ नहीं रह सकते जैसे जल में रहने वाला सर्प और स्थल पर रहने वाला सर्प ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते।

(५) सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता—प्रत्येक समाज में सुरक्षा व शान्ति, श्रम विभाजन सामाजिक संगठन आदि पाए जाते हैं और यह सामाजिक व्यवस्था पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है और समाज में ही मरता भी है उसकी कोई अनवरतता नहीं होती। परन्तु प्रत्येक समाज अपनी निरन्तरता रखने के लिये ऐसी व्यवस्था बनाता है। जिससे कि उसकी निरन्तरता में कोई बाधा न आवे।

समाज की रचना करने वाले मूलभूत तत्वों का ऊपर वर्णन कर दिया गया है ये तत्व प्रत्येक समाज चाहे वह पशुओं का हो या मनुष्यों का हो उस बनाने के लिये आवश्यक हैं। इन तत्वों से एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक समाज अपने सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है, उसी के लिए वह चौबीसों घण्टे श्रम करता है उसकी सुरक्षा के लिये साधन जुटाता है, अपनी सन्तति को बढ़ाता है और जीवन में होने वाले संघर्षों का सामना करता है।

समाजों का वर्गीकरण[1]

पिछले पृष्ठों में हमने देखा कि जीवों की अनेक आवश्यकतायें होती हैं जिनकी पूर्ति के लिये समस्त प्राणी एक समूह में आ जाते हैं। इस तरह वे एक समाज की

---

1 देखिए सेलिगमन 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज' में 'समाज' पर लेख।

रचना करते हैं। इतना कहने के बाद अब हम समाजों का वर्गीकरण प्रस्तुत करें। सामान्यतया हम समाज को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।[1] पशु-समाज एवं मानव-समाज। हमारे इस वर्गीकरण का आधार कल्पनात्मक नहीं है, बल्कि इसके दो तात्त्विक आधार हैं। पशु-समाज में जो कुछ भी हम सामाजिक व्यवस्था पाते हैं, वह वंश परम्परात्मक होती है। उदाहरणार्थ पशुओं के बछड़े जन्म लेते ही माता का दूध पीना प्रारम्भ कर देते हैं। चींटी जन्म लेते ही अपनी सामाजिक-व्यवस्था में भाग लेना प्रारम्भ कर देती है। इनका सारा व्यवहार शारीरिक हस्तान्तरण कहा जा सकता है। प्रा० डेविस ने इसको जैविक सामाजिक (bio-social) व्यवस्था के नाम से सम्बोधित किया है। उनका मत है कि जिन समाजों के सामाजिक प्रतिमान वंशानुक्रमण द्वारा निर्धारित होते हैं, वे जैविक-सामाजिक (bio-social) कहे जाते हैं। इसके ठीक विपरीत मानव-समाज के आचरण-व्यवहार एवं प्रतिमान समाज द्वारा निश्चित किया जाता है। मानव जन्म से ही जाति-पाँति, अस्पृश्यता, प्रेम घृणा इत्यादि मानवीय व्यापारों को सीख कर नहीं आता है। समाज की सभ्यता एवं संस्कृति व्यक्ति के भावों, आचरणों एवं प्रतिमानों को निर्धारित करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव-समाज के वर्गीकरण का आधार सामाजिक-सांस्कृतिक है। अब हम क्रमशः इन दोनों समाजों की विशेषताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

पशु समाज—एक जैविक सामाजिक व्यवस्था
(Animal Society—A Biological System)

जैसा हम यह निवेदन कर चुके हैं कि मानव शून्य समाज में जीवधारी अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि ऐसी सामाजिक-व्यवस्था से करते हैं जिसका आधार वंशानुक्रमण है। मानव शून्य समाज को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है

(१) एक कोषीय जीवधारी (*Single celled organisms*)

(२) बहुकोषीय जीवधारी (Multicellular)

अब हम दोनों जीवधारियों की चर्चा कुछ विस्तार में प्रस्तुत करेंगे।

(१) एक कोषीय जीवधारियों का समाज (Society of single-celled organisms)—इस प्रकार के जीवधारियों की प्रमुख विशेषता यह है कि शारीरिक दृष्टिकोण से ये परस्पर सन्निकट रहते हैं। इन जीवधारियों को प्रजीव (Protoza) भी कहा जाता है। ये प्रजीव परस्पर बहुत सन्निकट रहते हैं। हमें इनको देखकर ऐसा लगता है कि ये सब एक अवयव (organism) ही हैं। ऐसे प्रजीवों में पोखरों में पाए जाने वाली हरी शवाल (green voluox) को हम ले सकते हैं। ये परस्पर एक दूसरे से जुड़े पाए जाते हैं। ये 'शवाल एक अवयव की भाँति पानी में भाग

1. Societies having patterns fixed by heredity may be called bio social Kingsley Devis *Ibid* p 31

बन्ते जाते हैं। इनमे हम श्रमविभाजन भी मिलता है। शैवाल-समाज मे श्रमविभाजन का आधार उनमे पाए जाने वाला शारीरिक भेद है। कुछ शैवाल पानी की धारा का बुलबुला करते हैं, तो अन्य भोजन एवं प्रजनन की व्यवस्था।

जीवशास्त्रियो का मत है कि जीवधारी-समाज मे एकीकरण की भावना नही पायी जाती है जैसी मानव-समाज मे पायी जाती है। इन समाजो की रचना का आधार शारीरिक है न कि मनोवैज्ञानिक।

(२) बहुकोषीय जीवधारियों का समाज (Society of Multicellular organism)—ऐसे जीवधारियो मे मानसिक निकटता पायी जाती है। ऐसे जीव धारियो मे चींटी, मधुमक्खी, दीमक मछलियाँ, सर्प मगर बन्दर, कुत्ते आदि जीव आते हैं। इनका समाज व्यवस्थित होता है।

चींटी मधुमक्खी दीमक में तो एक रानी होती है जो केवल प्रजनन का कार्य सम्पादित करती है। उससे अतिरिक्त कार्य की अपेक्षा नही की जाती है। ये सामान्यतया माता चींटी या मधुमक्खी होती हैं। सभी कीट (Insects) सामाजिक जीवन यापन नहीं करते हैं। व्हीलर ने पाच हजार कीटो का पता लगाया जिनमे केवल तीन प्रतिशत सामाजिक जीवन यापन करते थे।

बहुकोषीय जीवधारी (Multicellular organism) अपने व्यवहारो को जन्मजात सीख कर आते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिलिन और गिलिन का निम्न कथन हमारी विचार-परम्परा की पुष्टि करता है "व्यक्ति के रूप मे प्रत्येक चींटी मधुमक्खी या ततैया ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अपने व्यवहार को जन्म से ही सीखकर पैदा हो अर्थात उसका व्यवहार एक सहज ज्ञान है।[1] मानव-समाज की भाँति बहुकोषीय जीवधारी-समाज मे बच्चो को प्रशिक्षण (Training) की अपेक्षा नहीं होती है।

पशु-समाज मे सामाजिक व्यवहार
(Social Behaviour in Animal Society)

पशु-समाज मे हम सामाजिक व्यवहार के लक्षण परिलक्षित होते हैं। जैसे दीमक-जीवाणु अपनी समाज रचना के लिए प्रख्यात हैं। दीमक अपने निवास स्थान की गहराई एवं सुरक्षा के लिए ध्यान देती है। उनमे शत्रुओ से रक्षा की भावना भी पायी जाती है।

चींटियो मे भी सामाजिक व्यवस्था एवं सङ्गठन पाया जाता है। चींटी-समाज में श्रमविभाजन पाया जाता है। उनमे से कुछ धारक्षण का कार्य सम्पादित करती हैं, कुछ भोजन व्यवस्था के कार्य को सम्पादित करती हैं। संक्षेप मे हम इनके समाज मे

1 Each individual ant bee or wasp seems to be born with its behaviour already learned that is its behaviour is instinctive Gillin and Gillin *Cultural Sociology* p 35

एक व्यवस्थित कार्य प्रणाली को पाते हैं। चींटियां अपना जीवन अनुशासनबद्ध यापन करती हैं। इस और भी पशु-समाज देखने को मिलते हैं जिनमें सामूहिक एवं अनुशासनगत जीवन व्यतीत करने के तौर-तरीके पाए जाते हैं।

सामूहिक-जीवन से पशु समाज को लाभ
(Advantages of Group Life for Animals)

सामूहिक जीवन-यापन का महत्व न केवल मानव समाज के लिए है बल्कि पशु-समाज के लिए भी उसका काफी महत्व है। "अकेले चना भाड़ नहीं फोड़ सकता" यह कहावत पशु-समाज एवं मानव-समाज के प्राणियों के ऊपर समान रूप से लागू होती है। सामूहिक जीवन से रहित मानव या पशु-समाज की कल्पना हम तार्किक आधार पर कभी कर ही नहीं सकते हैं। अकेले कोई भी प्राणी हो, चाहे उसका सम्बन्ध पशु-समाज या मानव-समाज से हो, वह अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि अकेले नहीं कर सकता है। उसे अपने समाज के प्राणियों के साथ सामूहिक सम्बन्ध रखना ही पड़ेगा। अब हम सामूहिक जीवन से पशु-समाज के लाभों को प्रस्तुत करेंगे।

(१) संघ से शक्ति बढ़ती है— 'संघे शक्ति कलि युगे' प्रत्येक युग में लोगों का विचार रहा है कि संघ में शक्ति होती है। पशु समाज में संघ की स्थापना से उनमें शक्ति बढ़ती है। जैसे ह्डडे के छत्ते के नीचे बैठने का साहस किसी को भी न होगा।

(२) सामूहिक प्रयत्नों से कार्यक्षमता की वृद्धि होती है—पशु समाज में सभी प्राणी संयुक्त रूप से प्रयास करते हैं। संयुक्त रूप से (jointly) कार्य-व्यापार करने से कार्य-व्यापार एवं उसके संचालन में सहायता मिलती है। कार्य-सम्पादन आसानी से हो भी जाता है।

(३) स्थायी वस्तुओं का निर्माण—पशु-समाज के प्राणी सामूहिक जीवन यापन करते से अपने निवास स्थान आरक्षार्थ ऐसे स्थान की रचना कर लेते हैं जो स्थायी रूप में उनके जीवन का अड्डा बन कर उनकी सहायता करते हैं। उदाहरणार्थ, गुफा, घोंसले, बीन आदि स्थायी वस्तुओं के निर्माणान्तर्गत रखा जा सकता है।

अब हम मानवीय-समाज की कुछ विशेषताओं की तरफ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे।

मानव-समाज—सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था
(Human Society—Social Cultural System)

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मानव-समाज का आधार सामाजिक सांस्कृतिक (Social Cultural) है जबकि पशु-समाज का आधार वंशानुक्रमणबद्ध है। मानव-समाज के आधार में जैविक कारकों (Biological factors) का कुछ योग-

दान माना गया है अब हम यहाँ मानवीय समाज के जैविय एवं सामाजिक सांस्कृतिक तत्वों पर प्रकाश डालेंगे ।

मानव समाज का जैविय आधार
(Biological Basis of Human Society)

शारीरिक सरचना के दृष्टिकोण से मानव एवं पशु में कोई विभेदीकरण की रेखा खींचना सम्भव नहीं है । इसी कारण वैज्ञानिक मानव की शारीरिक सरचना (Biological Structure) को समझने के लिये पशु समाज के प्राणियों की प्रयोग शाला में चीड़ फाड़ करते हैं । पशु-समाज एवं मानव-समाज में जैविय आधार पर बहुत सी सामान्य (Common) बातें पाई जाती है । मानव-समाज में नर मादा की भाँति पशु समाज में नर मादायें पाई जाती हैं ।

पशुओं की भाँति मानव में काम प्रवृत्ति पायी जाती है । मानव एवं पशु दोनो में प्रजनन प्रक्रियायें समान रूप से पाई जाती हैं परिणामतः दोनों समाजों का अस्तित्व जारी रहता है । जीवधारियों के समान ही मानव में ज्ञान इन्द्रियाँ पायी जाती हैं जिसके माध्यम से ज्ञान प्राप्ति में वह सफल होता है । दोनों में मनोवैज्ञानिक आधार पर भी समानतायें हैं । दोनों में आशा निराशा, सुख-दुख भय क्रोध इत्यादि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ उपस्थित रहती हैं । हम उनमें मानसिक सरचना (Mental Structure) के आधार पर भी समानताए पाते हैं । इन दोनों में बहुत कुछ जैविय समानतायें होते हुए विभिन्नताएँ भी पायी जाती हैं । इन दोनों में जो जैविय आधार पर विभिन्नताएं हैं उनको यहाँ प्रस्तुत करना असंगत न होगा ।

(१) मानव के पास सुव्यवस्थित और केन्द्रित चेता संहिता (Man has a highly organized and centralized nervous system)—शारीरिक सरचना के दृष्टिकोण से पशु सरचना एवं मानव सरचना समान है । फिर भी कुछ मूलभूत भिन्नताए हैं । जब एक पुरुष की खोपड़ी (Skull) की क्षमता १४५० क्यूबिक सेन्टीमीटर होती है जबकि एक गोरिल्ला बन्दर का वजन ५०० क्यूबिक सेन्टीमीटर । इसके साथ ही मनुष्य का मस्तिष्क बहुत ही जटिल (complex) होता है । उसका प्रमस्तिष्क (Cerebrum) काफी विकसित होता है ऐसा जानवरों के प्रमस्तिष्क के विषय में नहीं कहा जा सकता ।

(२) मनुष्य की सीधे खड़े होने की स्थिति (Man s upright posture)—शारीरिक दृष्टिकोण से व्यक्ति की यह विशेषता है कि वह खड़े होकर अपने कार्यों को सम्पन्न कर सकता है । पशु-समाज के प्राणियों के लिए ऐसा सम्भव नहीं है । पशु-समाज के प्राणियों को यदि ज़बरदस्ती खड़ा कर किसी कार्य के लिये बाध्य किया जाय तो सम्भवतः वे उन कार्य को खड़े होकर सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर पायेंगे । वे सीधे खड़े हो सकते हैं किन्तु क्षण भर तक के लिये ही । सीधे खड़े होकर कार्य करना उनके लिये असम्भव है ।

(३) मनुष्य के पास वाणी है (Man has speech)—जैविकीय दृष्टिकोण से मनुष्य के पास विकसित वाणी (Developed speech) है। जानवरों के पास भी वाणी है, किन्तु अपनी भावाभिव्यक्ति वे परस्पर नहीं कर सकते हैं। मनुष्य वाणी द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति सरलता से कर लेते हैं। पशु अपनी वाणी द्वारा भावाभिव्यक्ति कर सकते हैं और करते भी हैं किन्तु उनकी बोली विकसित नहीं है।

(४) अन्य शारीरिक विशेषतायें (Subsidiary physical peculiarities)—उपरोक्त शारीरिक सरचनात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी हैं जिनकी चर्चा करना भी समीचीन होगा। मानव शरीर पर अपेक्षाकृत कम बाल होते हैं। बन्दर शेर रीछ आदि का सारा शरीर बालों से आच्छादित रहता है। मानव को बालाभाव में गर्मी सर्दी से शरीर रक्षार्थ कृत्रिम साधनों की खोज करनी पड़ती है। मनुष्य के नाक की सरचना पशुओं से काफी भिन्न होती है। मानव समाज में नवजात शिशु जन्म लेते ही पराश्रित हो जाता है वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता है। जानवर के बच्चे लगभग जन्मते ही आत्मनिर्भर हो जाते हैं।

मानवीय समाज पर मानव जीवन के जविय और शारीरिक सरचनात्मक विशेषताओं का प्रभाव उसके सामाजिक जीवन पर पड़ता है। परिणामत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वह पशुओं से भिन्न है। अब हम पशु समाज एवं मानव समाज में जो विभिन्नतायें हैं उसकी चर्चा करेंगे।

पशु और मनुष्य समाज में अन्तर
(Difference in Animal and Human Society)

पशु एवं मानव जीवन में जो मूलभूत भेद हैं वे इस प्रकार हैं —

(१) मनुष्य के सामाजिक जीवन की विविधता (Variety of human social life)—मानव समाज पर विचार करते समय पहली बात जो दिमाग को झकझोरती है वह है मानव जीवन की विविधता। मानव जीवन में विविधताओं का आधार जाति, रंग इत्यादि है लेकिन सभी वैज्ञानिकों का कथन है कि वे सब एक ही 'होमो सेपियन्स' (Homo Sapien) की सन्तानें हैं। मूलत मनुष्य एक होते हुए भी विभिन्न प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। न्यूयार्क लन्दन बम्बई कलकत्ता कानपुर के लोग ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं में जीवन यापन करते हैं वहीं दूसरी तरफ गाँवों के लोग झोपड़ियों में अपना जीवन यापन करते हैं। ससार के प्रत्येक देश में व्यक्तियों के आचारों, विचारों, सस्कृति-सभ्यताओं, प्रतिमानों प्रथाओं एवं रहन-सहन में काफी भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। पशु समाज उदाहरणार्थ, बन्दर, चीटी मच्छर अपने समाज में एक ही प्रकार का जीवन यापन करते हैं।

(२) मनुष्य समाज तीव्रता से और मौलिक रूप से परिवर्तित हो सकता है (Human society may change rapidly and radically)—पशु समाज में

परिवर्तन के लिए स्थान नहीं है। पशु जीवन वंशानुक्रमणगत नियान्त्रित होता है, उसमे परिवर्तन लाने के लिए उनके वाह्याणुओं मे परिवर्तन लाना पड़ेगा। चीटियाँ हजार वर्ष पहले भी पंक्ति बनाकर चलती थी आज भी चल रही हैं। मानव-समाज सौ वर्ष पहले जैसा था, इस समय वैसा नहीं है। माता पिता एवं पुत्र के व्यवहार मे भी आए दिन परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। मानव समाज दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ता जा रहा है। मानव समाज गतिहीन (Static) नहीं बल्कि गत्यात्मक (dynamic) है। पशु-समाज मे गतिशीलता नहीं पाई जाती है। जो पाई जाती है वह भी मन्द गति से।

(३) मनुष्य की एक संस्कृति है (Man has a culture)—पशु-समाज के पास मानव की भाँति अपनी संस्कृति नहीं है। हमारे खान पीन, बातचीत करने, चिन्तन पद्धति कला-सृष्टि दर्शन एवं साहित्य सृजन की अपनी मान्यताएं हैं जो पशु समाज मे नहीं पाई जाती हैं। हम जो समाज मे त्यौहार संस्कार पर्व, भाषा, जाति रंग आदि देख रहे हैं ये मानव कृत हैं। मानव को पशु से अलग करने मे संस्कृति एक बहुत बड़ा आधार है।

(४) मनुष्य का काम नियन्त्रित रहता है (Man controls his sexuality)—मानव एवं पशु दोनों मे काम एवं प्रजनन की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। पशु मे काम नियन्त्रण (Sex control) का अभाव रहता है। उसमे स्वच्छन्दता होती है। उसमे मानव समाज की भाँति विवाह संस्कार का अभाव सा है। मानव-समाज मे काम सन्तुष्टि के लिये समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह संस्कार, सामाजिक-रूढ़ियाँ, सामाजिक प्रतिमान प्रस्थापित हैं जो मानव जीवन की काम प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करते हैं।

(५) मनुष्य मे सांकेतिक संचार की क्षमता है (Man is capable of symbolic communication)—Cosses का कथन है कि Man is a symbol using animal पशु प्रतीकों का प्रयोग नहीं करते हैं। मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से परस्पर अपनी भावाभिव्यक्ति करते हैं। मानव और पशु दोनों में ज्ञानेन्द्रियाँ पाई जाती हैं किन्तु मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक सोचता है। वह अपने भावों विचारों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय झण्डा राष्ट्रीय एकता की तरफ सभी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करता है। प्रतीकों के माध्यम से परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

(६) मनुष्य के पास भाषा है (Man has language)—व्यक्ति अपने भावों को एक से दूसरे तक पहुँचाना चाहता है। भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके माध्यम से वह अपनी बात दूसरों तक पहुँचा सकता है। भाषा प्रतीकवाद का उच्चतम स्वरूप है। एल० के० सयर का कथन है कि "Language is a high form of symbolism" विचारों एवं अनुभवों को प्रत्ययों (Concepts) मे बन्दलना भाषा का

मुख्य लक्ष्य है। व्यक्ति के पास एक विकसित भाषा है, जिसके द्वारा वह अपने विचारों और भावों का आदान प्रदान करता है। पशु-समाज में भाषा का अभाव है। वह अपने आशा निराशा, सुख-दुःख को भाषा के माध्यम से लिखकर अभिव्यक्त नहीं कर सकता है।

(७) मनुष्य समाज का आदर्शात्मक नियन्त्रण होता है (Human Society possesses normative control)—मनुष्य के प्रत्येक कार्य में दो तत्त्व होते हैं

(i) तथ्य (facts)

(ii) तथ्य के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards facts)

इसे हम यों समझ सकते हैं। प्रत्येक समाज में कुछ लक्ष्य (goals) निश्चित होते हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिये साधन (means) भी समाज द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। Trend की Terminology में 'Renunciation of instictual gratification' समाज का सुचारु-रूपेण संचालित करने के लिए आवश्यक है। यहीं पर हम समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधनों का उपयोग करना पड़ता है। समाजशास्त्री ऐसे तरीकों (devices) को Social Control कहते हैं। जैसे यदि कोई काम सन्तुष्टि चाहता है तो उसके लिये आवश्यक है कि वह विवाह संस्कार के माध्यम से काम सन्तुष्टि करे। काम सन्तुष्टि तथ्य है, उसे विवाह संस्कार के माध्यम से सन्तुष्ट करना उस तथ्य के प्रति दृष्टिकोण है। मानव समाज अपने संस्था को सामाजिक मूल्य (Social values) को प्रदान करता है ताकि समाज में Conformity स्थापित रह सके। मनुष्य समाज में तथ्यात्मक एवं नैतिक दोनों व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं। किंग्सले डेविस कहता है "इस तरह (मनुष्य) समाज के पास न केवल तथ्यात्मक व्यवस्था होती है वरन् एक नैतिक व्यवस्था भी होती है और साधारणतया ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।[1] संक्षेप में प्रत्येक मनुष्य-समाज में लक्ष्य एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रतिमान भी हैं।

उपसंहार (Conclusion)

इस अध्याय में हमने पशु-समाज एवं मानव समाज का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनमें विभेद करने वाली सीमा रेखाओं की तरफ भी ध्यान दिया गया। प्रत्येक समाज पशु समाज या मानव समाज हो उसकी कुछ सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं। उदाहरणार्थ जैविक सुरक्षा काम सन्तुष्टि, आराम भोजन आदि जीवन की सामान्य आवश्यकताएं हैं। प्रत्येक समाज इन आवश्यकीय जरूरतों को पूरा करता है। मानव समाज एवं पशु समाज इसके लिए अपवाद नहीं हैं। ये दोनों समाज भी अपनी उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यहाँ तक तो दोनों समाजों में साम्य है किन्तु इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के साधनों में महान अन्तर है। जहाँ पशु-समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वंशानुक्रमणबद्ध प्राप्त

1 'The human society has not only a factual order but also moral order and the two are causally interdependent —Kingsley Devis *Ibid* p 46

परिवर्तन के लिए स्थान नहीं है। पशु जीवन वंशानुक्रमगत निर्धारित होता है, उसमें परिवर्तन लाने के लिए उनके बाह्कारणुओं में परिवर्तन लाना पड़ेगा। चीटियाँ हजार वर्ष पहले भी पंक्ति बनाकर चलती थी, आज भी चल रही हैं। मानव समाज सौ वर्ष पहले जैसा था, इस समय वैसा नहीं है। माता पिता एवं पुत्र के व्यवहार में भी आए दिन परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। मानव समाज दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ता जा रहा है। मानव समाज गतिहीन (Static) नहीं बल्कि गत्यात्मक (dynamic) है। पशु-समाज में गतिशीलता नहीं पाई जाती है। जो पाई जाती है वह भी मन्द गति से।

(३) मनुष्य की एक संस्कृति है (Man has a culture)—पशु-समाज के पास मानव की भाँति अपनी संस्कृति नहीं है। हमारे खान-पीने, बातचीत करने, चिन्तन पद्धति कला सृष्टि, दर्शन एवं साहित्य सृजन की अपनी मान्यताएं है जो पशु समाज में नहीं पाई जाती हैं। हम जो संसार में त्यौहार, संस्कार पर्व, भाषा जाति, रंग आदि देख रहे हैं ये मानव कृत हैं। मानव को पशु से अलग करने में संस्कृति एक बहुत बड़ा आधार है।

(४) मनुष्य का काम नियन्त्रित रहता है (Man controls his sexuality)—मानव एवं पशु दोनों में काम एवं प्रजनन की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। पशु में काम नियन्त्रण (Sex control) का अभाव रहता है। उसमें स्वच्छन्दता होती है। उसमें मानव समाज की भाँति विवाह संस्कार का अभाव सा है। मानव-समाज में काम सन्तुष्टि के लिये समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह संस्कार, सामाजिक-रूढ़ियाँ सामाजिक प्रतिमान प्रस्थापित है, जो मानव जीवन की काम प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करते है।

(५) मनुष्य में सांकेतिक संचार की क्षमता है (Man is capable of symbolic communication)—Cosses का कथन है कि Man is a symbol using animal पशु प्रतीकों का प्रयोग नहीं करते है। मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से परस्पर अपनी भावाभिव्यक्ति करते है। मानव और पशु दोनों में ज्ञानेन्द्रिया पाई जाती है किन्तु मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक सीखता है। वह अपने भावों विचारों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय झण्डा राष्ट्रीय एकता की तरफ सभी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करता है। प्रतीकों के माध्यम से परम्पराएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती हैं।

(६) मनुष्य के पास भाषा है (Man has language)—व्यक्ति अपने भावों को एक से दूसरे तक पहुँचाना चाहता है। भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके माध्यम से वह अपनी बात दूसरों तक पहुँचा सकता है। भाषा प्रतीकवाद का उच्चतम स्वरूप है। एस० के० लगर का कथन है कि 'Language is a high form of symbolism' विचारों एवं अनुभवों को प्रत्ययों (Concepts) में बदलना भाषा का

मुख्य लक्ष्य है। व्यक्ति के पास एक विकसित भाषा है जिसके द्वारा वह अपने विचारों और भावों का आदान प्रदान करता है। पशु-समाज में भाषा का अभाव है। वह अपने आशा निराशा, सुख-दुःख को भाषा के माध्यम से लिखकर अभिव्यक्त नहीं कर सकता है।

(७) मनुष्य समाज का आदर्शात्मक नियंत्रण होता है (Human Society possesses normative control)—मनुष्य के प्रत्येक कार्य में दो तत्त्व होते हैं

(i) तथ्य (facts)

(ii) तथ्य के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards facts)

इसे हम यों समझ सकते हैं। प्रत्येक समाज में मुख्य लक्ष्य (goals) निश्चित होते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिये साधन (means) भी समाज द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। Trend की Terminology में Renunciation of instictual gratification समाज को सुचारू-रूपेण सचालित करने के लिये आवश्यक है। यहीं पर हमें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधनों का उपयोग करना पड़ता है। समाजशास्त्री एसे तरीकों (devices) को Social Control कहते हैं। जैसे यदि कोई काम सन्तुष्टि चाहता है तो उसके लिये आवश्यक है कि वह विवाह संस्कार के माध्यम से काम सन्तुष्टि करे। काम सन्तुष्टि तथ्य है उसे विवाह संस्कार के माध्यम से सन्तुष्ट करना उस तथ्य के प्रति दृष्टिकोण है। मानव समाज अपने सदस्यों को सामाजिक मूल्य (Social values) का प्रदान करता है ताकि समाज में Conformity स्थापित रह सके। मनुष्य समाज में तथ्यात्मक एवं नैतिक दोनों व्यवस्थाएं पायी जाती हैं। किंग्सले डेविस कहता है 'इस तरह (मनुष्य) समाज के पास न केवल तथ्यात्मक व्यवस्था होती है वरन् एक नैतिक व्यवस्था भी होती है और साधारणतया ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।'[1] संक्षेप में प्रत्येक मनुष्य-समाज में लक्ष्य एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रतिमान भी हैं।

उपसंहार (Conclusion)

इस अध्याय में हमने पशु-समाज एवं मानव समाज का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनमें विभेद करने वाली सीमा रेखाओं की तरफ भी ध्यान दिया गया। प्रत्येक समाज, पशु समाज या मानव समाज हो उनकी कुछ सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं। उदाहरणार्थ जैविय सुरक्षा काम सन्तुष्टि, आराम भोजन आदि जीवन की सामान्य आवश्यकताएं हैं। प्रत्येक समाज इन आवश्यकीय जरूरतों को पूरा करता है। मानव समाज एवं पशु समाज इसके लिए अपवाद नहीं हैं। ये दोनों समाज भी अपनी उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यहां तक तो दोनों समाजों में साम्य है किन्तु इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के साधनों में महान अन्तर है। जहां पशु-समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वंशानुक्रमण्बद्ध प्राप्त

[1] 'Thus human society has not only a factual order but also moral order and the two are causally interdependent —Kingsley Davis Ibid p 46

साधना से करता है वहां मनुष्य समाज अपने समाज द्वारा प्राप्त सांस्कृतिक प्रतिमानो से। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि पशुओं में जन्मजात सहज वृत्तियां (instincts) पायी जाती हैं। पशु अपने कार्य व्यापार का संचालन बिना प्रशिक्षण के इन सहज प्रवृत्तियों के माध्यम से कर लेते है। उन्हें प्रशिक्षण की अपेक्षा नही होती है। उदाहरणार्थ— संसार की चीटियों में एक ही जैसी सामाजिक व्यवस्था पायी जाती है। ऐसी बात मनुष्य के लिये नही लागू होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का यहा तक कथन है कि मनुष्यों में सहज वृत्तियां नही है लेकिन पूर्णतया ऐसा स्वीकार नही किया जा सकता। दूसरी तरफ मनोविज्ञान के अधिकांश विद्वानों का विचार है कि यदि मनुष्य के पास सहज वृत्तियां हैं तो वे बहुत थोडी मात्रा में होती हैं और वे जन्म के समय अविकसित होती हैं। इसलिए पशुओं की तरह मनुष्य को जन्म से ही व्यवहार के प्रतिमान प्राप्त नही होते।[1] व्यक्ति समाज में आकर अनुभव और प्रशिक्षण द्वारा व्यवहार को सीखता है। यही पशु एवं मानव समाज मे स्पष्ट अंतर है। अभिमन्यु का वर्णन हमें अपवाद के रूप में मिलता है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि पशु समाज एवं मानव समाज मे काफी भेद है। इस भेद का आधार शारीरिक संरचना व्यवहार, प्रतिमान, कला, भाषा संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक इत्यादि हैं। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो प्रतीकों का निर्माण और उपयोग (Symbol making and using) करता है श्रीमती लैंगर तथा राधाकमल मुखर्जी प्रभृति विद्वान मानव और पशु समाज के भेदों का आधार मनुष्य की उपरोक्त क्षमता को मानते हैं।[2]

---

1 गिलिन और गिलिन वही पृष्ठ ४३।

2 राधाकमल मुखर्जी 'सिम्बालिक लाइफ ऑफ मन' और लैंगर फिलासफी इन ए न्यू की।

७

समाज और पर्यावरण

जब हम अपने प्रदेश के विभिन्न भागों में जाते हैं तो इन भागों के सामाजिक जीवन में बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है, गाँव दूर-दूर बसे हैं। मकान पत्थर और लकड़ी के बने हैं। निवासियों का भोजन, वेष भूषा, भाषा, सामाजिक रीति रिवाज और संस्कृति सभी तो मैदानों से भिन्न दिखते हैं। इसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश का सामाजिक जीवन प्रायः हर बात में पश्चिमी क्षेत्र के जीवन से भिन्न है। जिन लोगों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में यात्रा भी भ्रमण किया होगा उन्हें बंगाल और राजस्थान, असम, बम्बई, पंजाब तथा काश्मीर या उत्तर प्रदेश और दक्षिणी भारत के सामाजिक जीवन में बहुत भिन्नता से आश्चर्य अवश्य होगा। राजस्थान के रेगिस्तानी प्रदेश में दूर-दूर गाँव बसे हैं जहाँ कहीं भी गाँव हैं बड़े-बड़े हैं। मकान पत्थर और मिट्टी के बने हैं। फसलों में ज्वार, बाजरा, मक्का आदि शुष्क जलवायु में उगने वाली फसलें ही प्रधान हैं। आने-जाने के साधन सड़कें, रेलें आदि बहुत कम हैं। माल ढोने और सवारी के लिए ऊँट काम में लाया जाता है। यहाँ लोग हलके कपड़े पहनते हैं, सिर पर साफा या पगड़ी बाँधते हैं। स्त्री-पुरुष सभी जूते पहनते हैं। इनके रीति रिवाज और संस्थायें निराली हैं। इनके अपने त्यौहार और पर्व हैं। इनकी भाषा अन्य प्रदेशों की भाषा से भिन्न है। अब आइये भारत के पश्चिमी समुद्र-तटीय कोंकण प्रदेश में चलें। यहाँ के गाँव, खेती के तरीके, आवागमन के साधन, लोगों के पेशे, भोजन, पहनावा, संस्थायें और प्रथायें, उत्सव और पर्व अपने ढंग के निराले हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि भारत के कोई भी भिन्न क्षेत्र या प्रदेश ले लीजिए। उनके सामाजिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलेगी।

सामाजिक भिन्नता तो गाँवों और नगरों में भी मिलती है। एक ही बड़े नगर के विभिन्न भागों का सामाजिक जीवन भी तो समान नहीं होता। जिन लोगों ने भूगोल पढ़ा है अथवा संसार का भ्रमण किया है उन्हें भी विभिन्न देशों के समाजों में

भिन्नता के अवश्य दर्शन हुए होंगे। मध्य यूरोप और केन्द्रीय एशिया के घास के मैदानों के निवासियों का सामाजिक जीवन आस्ट्रेलिया के चरागाही मैदानों से भिन्न है। काश्मीर स्याम और चीन के कुछ भागों में लोग नावों पर मकान बना कर रहते हैं। अमरीका के गेहूं उगाने वाले प्रदेशों में विशाल नगर बसे हैं। टुण्ड्रा में लोग बरफ के मकानों में रहते हैं और रीछ मछली आदि का शिकार करके पेट पालते हैं। समुद्रों के किनारे पर बसे लोगों का मछली का शिकार ही मुख्य पेशा है। इंगलैंड के लंकाशायर और मैनचेस्टर का सामाजिक जीवन तिब्बत या लंका के सामाजिक जीवन से इतना भिन्न है कि दोनों में भारी असमानता है। क्या इस सामाजिक असमानता का कारण भौगोलिक भिन्नताएं हैं?

सामाजिक जीवन में इस भिन्नता का कारण पर्यावरण की भिन्नता है। हर समाज एक विशिष्ट पर्यावरण में रहता है। पशुओं और पेड़ पौधों में जो भिन्नता पाई जाती है उसका कारण भी पर्यावरण की भिन्नता है। पेड़ या पौधे के लिये जमीन, जिसमें वह उगता और फूलता फलता है, पर्यावरण का काम करती है। किन्तु जमीन तो उसके सम्पूर्ण पर्यावरण का एक अंश ही है। जलवायु, ऋतुएं, प्राकृतिक शक्तियां, अन्य पेड़-पौधे, पशु और मनुष्य—ये सब उनके पर्यावरण के अंग हैं। अर्थात् पेड़ के पर्यावरण में वे सभी जीवित और निर्जीव पदार्थ, प्राकृतिक दशायें और शक्तियां, पशु और मनुष्य शामिल होते हैं जो उसके बाहर हैं और उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। दूसरे शब्दों में पेड़ के अतिरिक्त जो कुछ उससे बाहर है और जो उसे प्रभावित करता है वह उसका पर्यावरण है।

पर्यावरण की धारणा

किन्तु पर्यावरण की उपरोक्त धारणा भ्रामक है। पर्यावरण केवल वह वस्तु नहीं जो पेड़ या मनुष्य—एक प्राणी से बाहर और पृथक् है और जो उसे सिर्फ चारों ओर से घेरे है। पर्यावरण प्राणियों के जीवन से इतना असम्बद्ध और स्वतन्त्र नहीं है। पर्यावरण (परि=चारों ओर, आवरण=ढकने वाला) के शाब्दिक अर्थ से हम पर्यावरण और जीवन के सम्बन्ध को कदापि नहीं समझ पायेंगे। पर्यावरण का यह अर्थ लेना उसके महत्व को कम करना है। सच तो यह है कि पर्यावरण और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। मनुष्य एक पर्यावरण में जन्म लेता है और उसी में बढ़ता और प्रौढ़ होता है। उसका सारा शरीर, उसके जीवन की रचना सभी तो गत जीवन और भूत पर्यावरण की उत्पत्ति हैं। पर्यावरण तो जीवन के बीज-कोष्ठ में भी उपस्थित रहता है। हमारे शरीर की क्षमताएं और गुण हमारे सम्पूर्ण पर्यावरण से सम्बन्धित हैं जिसमें वे प्रकट होते हैं।[1] मेकाइवर पर्यावरण को केवल प्रभाव डालने वाला कारक नहीं मानता। वह कहता है कि हम ऐसे किसी जीवन का नाम नहीं जो प्रतिकूल पर्यावरण में भी अपना अस्तित्व रख सका हो। जीवन

1 MacIver & Page *Society* pp 73 74

(या जीव) उसी पर्यावरण मे रहता है जिसमें उसका पूर्व से ही समायोजन हो गया हो। वास्तव में जीवन और पर्यावरण परस्पर सह-सम्बन्धी हैं।

पर्यावरण एवं जीवन

पर्यावरण और जीवन दोनों इतनी सन्निकटता में मिले जुले हैं कि जीवन के हरेक किस्म और हरेक जाति और व्यक्तिगत जीवित पदार्थ का पर्यावरण विशिष्ट और पृथक् होता है। अर्थात् पर्यावरण एक नहीं किन्तु उसमें अगणित विभिन्नताएँ हैं। यदि हम पशुओं, कीड़ों या मनुष्यों को संसार के विभिन्न भागों में देखें तो स्पष्ट होगा कि जीवन के विशेषीकरण के साथ उस पर्यावरण का विशेषीकरण भी होता जाता है जिसमें वे रहते हैं।

यदि हम अपने चारों ओर सूक्ष्म अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि एक प्राणी में जब कभी कोई परिवर्तन होता है तो उसमें जीव और पर्यावरण में स्थापित सबन्ध में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य आता है। उसी तरह पर्यावरण में हरेक परिवर्तन उसमें रहने वाले जीव को उसके प्रति अनुक्रिया में अनिवार्यतः परिवर्तन लाता है। पर्यावरण में कोई परिवर्तन हो, हमारी आदतों और जीवन तरीकों में अन्तर आ जाता है और जब हमारी आदतों जीवन के ढंगों या समस्याओं में कोई अन्तर आता है तो हम अपने पर्यावरण में भी परिवर्तन लाते हैं। कभी-कभी तो हमारा पर्यावरण बिल्कुल नवीन ही हो जाता है। उसमें एक भिन्न प्रवरण (चुनाव) और एक भिन्न अनुकूलन हो जाता है। जीवन और पर्यावरण में गतिशील सतुलन अनवरत प्रवरण और उपयोजन की प्रक्रिया द्वारा कायम रहता है।

पर्यावरण एवं समाज

समाज और पर्यावरण में भी ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम देख चुके हैं कि संसार के विभिन्न देशों के सामाजिक जीवन में भिन्नता है। एक देश या प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों का जीवन ही भिन्न है। भारत के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों और गंगा-यमुना के मैदान अथवा दक्षिणी पठार के निवासियों के जीवन में विपुल अन्तर को कौन नहीं जानता। हमारा सामान्य अवलोकन यह बतलाता है कि ज्यों ही लोग गाँव से शहर अथवा कृषि से उद्योग, पहाड़ों से मैदानों अथवा गर्म से ठंडा प्रदेश जलवायु में जाते हैं उन्हें नई दशाओं से समायोजन कर लेना पड़ता है। पर्यावरण के बदल जाने से उनके जीवन में भी परिवर्तन आता है। इसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि एक गरीब समूह की अपेक्षा एक समृद्ध समूह का पर्यावरण भिन्न होता है। अफ्रीका में रहने वाली यूरोपीय जातियों की अपेक्षा वहाँ के नीग्रो या एशियाई लोगों का पर्यावरण भिन्न होता है। अर्थात् चाहे किसी विशाल राष्ट्र को लीजिए चाहे किसी छोटे समूह या समिति—गाँव परिवार या वर्ग—को सभी का स्वभाव एक स्पष्ट और महत्वपूर्ण ढंग से सम्पूर्ण पर्यावरण के स्वभाव से सम्बन्धित मिलेगा। हर स्थान पर जीवन और पर्यावरण में पारस्परिक सबन्ध प्रकट होता है।

भिन्नता के अवश्य दर्शन हुए होंगे। मध्य यूरोप और केन्द्रीय एशिया के घास के मैदानों के निवासियों का सामाजिक जीवन आस्ट्रेलिया के चरागाही मैदानों से भिन्न है। काश्मीर, स्याम और चीन के कुछ भागों में लोग नावों पर मकान बना कर रहते हैं। अमरीका के गेहूँ उगाने वाले प्रदेशों में विशाल नगर बसे हैं। टुण्ड्रा में लोग बरफ के मकानों में रहते हैं और रीछ मछली आदि का शिकार करके पेट पालते हैं। समुद्रों के किनारे पर बसे लोगों का मछली का शिकार ही मुख्य पेशा है। इंगलैंड के लंकाशायर और मनचेस्टर का सामाजिक जीवन तिब्बत या लंका के सामाजिक जीवन से इतना भिन्न है कि दोनों में भारी असमानता है। क्या इस सामाजिक असमानता का कारण भौगोलिक भिन्नताएँ हैं?

सामाजिक जीवन में इस भिन्नता का कारण पर्यावरण की भिन्नता है। हर समाज एक विशिष्ट पर्यावरण में रहता है। पशुओं और पेड़ पौधों में जो भिन्नता पाई जाती है उसका कारण भी पर्यावरण की भिन्नता है। पेड़ या पौधे के लिये जमीन जिसमें वह उगता और फूलता फलता है, पर्यावरण का काम करती है। किन्तु जमीन तो उनके सम्पूर्ण पर्यावरण का एक अंश ही है। जलवायु ऋतुएँ प्राकृतिक शक्तियाँ, अन्य पेड़ पौधे पशु और मनुष्य—ये सब उनके पर्यावरण के अंग हैं। अर्थात् पेड़ के पर्यावरण में वे सभी जीवित और निर्जीव पदार्थ, प्राकृतिक दशायें और शक्तियाँ पशु और मनुष्य शामिल होते हैं जो उसके बाहर हैं और उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। दूसरे शब्दों में, पेड़ के अतिरिक्त जो कुछ उससे बाहर है और जो उसे प्रभावित करता है वह उसका पर्यावरण है।

पर्यावरण की धारणा

किन्तु पर्यावरण की उपरोक्त धारणा भ्रामक है। पर्यावरण केवल वह वस्तु नहीं जो पेड़ या मनुष्य—एक प्राणी से बाहर और पृथक है और जो उसे सिर्फ चारों ओर से घेरे है। पर्यावरण प्राणियों के जीवन से इतना असम्बद्ध और स्वतन्त्र नहीं है। पर्यावरण (परि=चारों ओर आवरण=ढकने वाला) के शाब्दिक अर्थ से हम पर्यावरण और जीवन के सम्बन्ध को कदापि नहीं समझ पायेंगे। पर्यावरण का यह अर्थ लेना उसके महत्व को कम करना है। सच तो यह है कि पर्यावरण और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। मनुष्य एक पर्यावरण में जन्म लेता है और उसी में बढ़ता और प्रौढ़ होता है। उसका सारा शरीर उसके जीवन की रचना, सभी तो गत जीवन और भूत पर्यावरण की उत्पत्ति हैं। पर्यावरण तो जीवन के बीज-कोष्ठ में भी उपस्थित रहता है। हमारे शरीर की क्षमताएं और गुण हमारे सम्पूर्ण पर्यावरण से सम्बन्धित हैं जिसमें वे प्रकट होते हैं।[1] मेकाइवर पर्यावरण को केवल प्रभाव डालने वाला कारक नहीं मानता। वह कहता है कि हम ऐसे किसी जीवन का ज्ञान नहीं जो प्रतिकूल पर्यावरण में भी अपना अस्तित्व रख सका हो। जीवन

1 MacIver & Page *Society* pp 73 74

(या जीव) उसी पर्यावरण में रहता है जिसमें उसका पूर्व से ही समायोजन हो गया हो। वास्तव में जीवन और पर्यावरण परस्पर सह-सम्बन्धी हैं।

पर्यावरण एवं जीवन

पर्यावरण और जीवन दोनों इतनी सन्निकटता में मिले जुले हैं कि जीवन के हरेक किस्म और हरेक जाति और व्यक्तिगत जीवित पदार्थ का पर्यावरण विशिष्ट और पृथक् होता है। अर्थात् पर्यावरण एक नहीं किन्तु इसमें अगणित विभिन्नताएँ हैं। यदि हम पशुओं कीड़ों या मनुष्यों का संसार के विभिन्न भागों में देखें तो स्पष्ट होगा कि जीवन के विशेषीकरण के साथ उस पर्यावरण का विशेषीकरण भी होता जाता है जिसमें वे रहते हैं।

यदि हम अपने चारों ओर सूक्ष्म अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि एक प्राणी में जब कभी कोई परिवर्तन होता है तो उसमें जीव और पर्यावरण में स्थापित सम्बन्ध में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य आता है। इसी तरह पर्यावरण में हरेक परिवर्तन उसमें रहने वाले जीव की उसके प्रति अनुक्रिया में अनिवार्यतः परिवर्तन लाता है। पर्यावरण में कोई परिवर्तन हो हमारी आदतों और जीवन तरीकों में अन्तर आ जाता है और जब हमारी आदतों जीवन के ढंग या समस्याओं में कोई अन्तर आता है तो हम अपने पर्यावरण में भी परिवर्तन लाते हैं। कभी-कभी तो हमारा पर्यावरण बिल्कुल नवीन ही हो जाता है। उसमें एक भिन्न प्रवरण (चुनाव) और एक भिन्न अनुकूलन हो जाता है। जीवन और पर्यावरण में गतिशील सन्तुलन अनवरत प्रवरण और उपयोजन की प्रक्रिया द्वारा कायम रहता है।

पर्यावरण एवं समाज

समाज और पर्यावरण में भी ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम देख चुके हैं कि संसार के विभिन्न देशों के सामाजिक जीवन में भिन्नता है। एक देश या प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों का जीवन ही भिन्न है। भारत के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों और गंगा-यमुना के मैदान अथवा दक्षिणी पठार के निवासियों के जीवन में विपुल अन्तर को कौन नहीं जानता। हमारा सामान्य अवलोकन यह बतलाता है कि ज्यों ही लोग गाँव से शहर अथवा कृषि से उद्योग, पहाड़ों से मैदानों अथवा गर्म से शीतोष्ण जलवायु में जाते हैं उन्हें नई दशाओं में समायोजन कर लेना पड़ता है। पर्यावरण के बदल जाने से उनके जीवन में भी परिवर्तन आता है। इसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि एक गरीब समूह की अपेक्षा एक समृद्ध समूह का पर्यावरण भिन्न होता है। अफ्रीका में रहने वाली यूरोपीय जातियों की अपेक्षा वहाँ के नीग्रो या एशियाई लोगों का पर्यावरण भिन्न होता है। अर्थात् चाहे किसी विशाल राष्ट्र को लीजिए चाहे किसी छोटे समूह या समिति—गाँव परिवार या वर्ग—को सभी का स्वभाव एक स्पष्ट और महत्वपूर्ण ढंग से सम्पूर्ण पर्यावरण के स्वभाव में प्रदर्शित मिलेगा। हर स्थान पर जीवन और पर्यावरण में पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट होता है।

पर्यावरण से उपयोजन

हम देख चुके है कि पर्यावरण हमेशा जीवन के अनुकूल ही नही होता, प्रतिकूल भी होता है। अनुकूल पर्यावरण में जीवन का यथेष्ट विकास होता है और प्रतिकूल पर्यावरण उसके विकास या समृद्धि में बाधा डालता है। कभी-कभी तो प्रतिकूल पर्यावरण जीवन (प्राणी) का अस्तित्व ही मिटा देता है। हर प्रकार के जीवन जाति और हर प्राणी का पृथक और विशेषीकृत पर्यावरण होता है। इसलिए वही पर्यावरण किसी प्राणी के लिए अनुकूल है और किसी के लिए प्रतिकूल। प्राणी दूसरे या बदले हुए पर्यावरण से उपयोजन कर लेते है किन्तु सभी प्राणियो में उपयोजन की क्षमता (या सामर्थ्य) समान नही होती। इसी पर्यावरण में होने वाले परिवर्तन से अथवा दूसरे पर्यावरण में अपने को उसके अनुसार बदल लेना उपयोजन कहलाता है।[1]

उपयोजन के तीन स्तर होते हैं दूसरे शब्दों में उसके तीन प्रकार होते हैं—(१) भौतिक उपयोजन (२) जैविक उपयोजन और (३) सामाजिक उपयोजन।

भौतिक उपयोजन—पौधे या प्राणी के अपने पर्यावरण से उपयोजन की यह निरन्तर और अनिवार्य प्रक्रिया है। उसकी इच्छा, अनिच्छा या उद्देश्य, प्रयत्नो का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता। प्राकृतिक दशाएं और शक्तियां हमारे शरीर पर अपना प्रभाव डाला करती है। उष्ण कटिबन्ध में मनुष्यो की त्वचा काली हो जाती है। ताजी हवा से हमे उद्दीपन होता है। पहाड़ो पर रहने वालो के फफड़े स्वच्छ हवा से शक्तिशाली हो जाते हैं। उद्योग के क्षेत्रो में वातावरण में हमेशा जहरीला धुआं मिली रहता है इसलिए उनमें मनुष्यो के फफड़े कमजोर पड़ जाते है। इसी प्रकार मनुष्य की बीमारी एक विशेष पर्यावरण में स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट शरीर वाला हो जाना शरीर पर कम या अधिक बाल होना ये सभी भौतिक उपयोजन के रूप है। मृत्यु प्राकृतिक उपयोजन का सबसे गम्भीर रूप है। शुद्ध प्राकृतिक उपयोजन से हमारा अभिप्राय उस भौतिक विधा से है जिसमें हमारा शरीर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इस विधा में अपसमायोजन नही हो पाता। पृथ्वी पर वर्तमान जन सख्याएँ अपने पर्यावरणो से उपयोजित होने का प्रतिनिधि है।

---

1 Adaptation is the process of acquiring fitness to live in a given environment Commonly and most correctly the term is applicable to changes in morphological traits of the physical body it may also be used to indicate cultural modification to suit any particular human environment Fairchild *Dictionary of Sociology*

Adaptation applies to those changes which tend to equip the organism as such or provide auxiliary aids for its security and survival in relation to its physical environment Thus it is the process of biological change through selective survival that fits an animal or plant from more perfectly to the conditions of its environment Reuter *Sociology*

From the above clarifications of the concept of adaptation it may be inferred that it is preferable to include biological adaptation in physical adaptation MacIver has however discussed these concepts separately

जैविक उपयोजन—इसका तात्पर्य है कि हर प्राणी के जीवित रहने और समृद्ध होने के लिए पर्यावरण की विशिष्ट दशायें जरूरी हैं। यदि ये दशायें न मिलें तो जीवन समाप्त हो जाता है। जैसे मछलियाँ पानी में, शेर चीते घने जंगलों में और सफेद रीछ ध्रुव प्रदेशों की शीत जलवायु में रहते हैं। यदि इन प्राणियों को अपने विशिष्ट पर्यावरण से निकाल कर दूसरे में रख दिया जाये तो वे मर जायेंगे या उनका जीवन दुस्सह हो जाएगा। मछली थल पर जिन्दा नहीं रहती। हाथी पानी या पहाड़ पर नहीं बचता। अर्थात् जीवन के कायम रहने और समृद्ध होने के लिए विभिन्न प्राणी पर्यावरण की कुछ विशिष्ट दशाओं से ही उपयोजित होते हैं। भौतिक उपयोजन तथा जैविक उपयोजन दोनों पर प्राणियों का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। जैविक उपयोजन तो प्राणी की जन्मजात क्रिया है।

भौतिक और जैविक उपयोजन में मूलतः कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में प्राणी (या पौधे) की शारीरिक और जैविक रचना या लक्षणों में इसलिये अन्तर होते हैं जिससे कि वह पर्यावरण में रहने के लिये अधिक सक्षम बन सके।

सामाजिक उपयोजन[1]—समाजशास्त्रीय साहित्य में 'सामाजिक उपयोजन' का प्रयोग त्याग कर 'सामाजिक अनुकूलन' अथवा 'सामाजिक व्यवस्था' का प्रयोग उचित माना जाता है। सामाजिक उपयोजन में मनुष्य अपने लिये पर्यावरण का चुनाव और उसका संशोधन इस तरह करता है कि उसकी अधिकाधिक आवश्यकताएँ पूरी हों। यह वह कुछ मूल्यों (values) के आधार पर सोच विचार कर करता है। सामाजिक उपयोजन में हमेशा मूल्यांकन निहित रहता है। यह एक स्थिति विषयक उपयोजन है। यदि मनुष्य अपने ढंग से जीना चाहता है तो उसे उपयुक्त पर्यावरण का निर्माण करना पड़ता। एक देश का निवासी उस देश की प्रथाओं, नियमों और संस्थाओं से अपना उपयोजन करता है। दूसरे देश में जाने पर उसे उस देश की प्रथाओं, संस्थाओं और नियमों के अनुकूल रहना पड़ता है। वह इसे भी सफलता से कर सकता है। दूसरी ओर यदि किसी पर्यावरण में रहने पर कठिनता का अनुभव होता है तो उस पर्यावरण में भी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन कर लेता है।

जब हम अपउपयोजन या अपसमायोजन[2] की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय है कि वर्तमान सामाजिक उपयोजन में हमारी आवश्यकताओं और आदर्शों की यथेष्ट पूर्ति नहीं हुई है। यह तभी हो सकता है जब हम अपने पर्यावरण को एक विशिष्ट दशा में बदल दें। मनुष्य की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ हमेशा बढ़ती रहती हैं। इसलिये उसे लगता है कि उसका पर्यावरण के प्रति उपयोजन पर्याप्त नहीं है।

---

1 Social adaptation is very infrequently used in sociological literature. The other terms such as accommodation adjustment or assimilation correctly refer to processes of human adjustment to environment.

2 'अप' उपसर्ग का अर्थ है बुरा।

इसी दशा को वह अप उपयोजन कहता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिये सामाजिक उपयोजन की विधा बहुत महत्वपूर्ण है। यह विधा प्रकट करती है कि मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन की बदलती दशाओं से निरन्तर समायोजन करता रहता है। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य अपने पर्यावरण को तेजी से और विशद रूप से उपयोजित करता है। सामाजिक उपयोजन का विस्तृत विवेचन 'अनुकूलन' या 'व्यवस्थापन' की प्रक्रियाओं के वर्णन में किया जायगा।

मनुष्य का बाह्य और आन्तरिक पर्यावरण

मनुष्य के समाज में रहने पर उसके जिस पर्यावरण का निर्माण होता है वह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तरिक।

बाह्य पर्यावरण में प्रकृति के भौतिक संशोधन शामिल रहते हैं। यह हमारे मकानों शहरों यातायात और संवहन के साधनों हमारे स्वनिर्मित सुविधाजनक पदार्थों विविध उपकरणों, तथा हमारी सभ्यता के समस्त भागों से मिल कर बनता है। मानवशास्त्री इसी पर्यावरण को पार्थिव संस्कृति कहता है। इस पर्यावरण का कुछ भाग तो समाज के नष्ट होने पर भी जीवित रहता है। इस भाग को भौतिक तान्त्रिक कहते हैं। सिन्धु घाटी तथा प्राचीन मिस्र की मृत सभ्यताओं का भौतिक तान्त्रिक भाग आज भी जीवित है।

मनुष्य का आन्तरिक पर्यावरण स्वयं उसका समाज है। यह पर्यावरण सामाजिक संगठन नियमों परम्पराओं तथा संस्थाओं और सामाजिक जीवन की मुक्त और प्रतिबन्धित क्रियाओं से मिलकर बनता है। इन सबका सामूहिक नाम सामाजिक विरासत है। हर मनुष्य के लिये आन्तरिक पर्यावरण का उतना ही महत्व है जितना बाह्य का। किन्तु आन्तरिक पर्यावरण के प्रति समायोजन में उतनी कठोरता नहीं होती जितनी बाह्य पर्यावरण के प्रति। बाह्य पर्यावरण में मनुष्य को प्राकृतिक विधान की सत्ता के नीचे कराहना पड़ता है। सामाजिक विरासत या आन्तरिक पर्यावरण के प्रभाव से कोई मनुष्य नहीं बच सकता। इसी से उसे प्रशिक्षण मिलता है और यही उसकी आदतों को बनाता है। इस पर्यावरण को हम सामाजिक पर्यावरण भी कहते हैं। मनुष्य इसमें समायोजन चेतन अनुक्रिया और आदतें डाल कर करता है।

सम्पूर्ण पर्यावरण

अतएव हर मनुष्य का सम्पूर्ण पर्यावरण दो भागों से मिलकर बना है। (१) बाह्य पर्यावरण जिसे मनुष्य ने विविध उपायों से संशोधित किया है (और सभ्यता की उन्नति के साथ जिसका विशद् संशोधन कर लिया गया है)। इसके प्रति हर दशा में भौतिक उपयोजन की जरूरत पड़ती है। (२) आन्तरिक या सामाजिक पर्यावरण जिसमें मनुष्य का समायोजन चेतन अनुक्रिया और आदतों द्वारा होता है।

यह दोनों पृथक नहीं हैं। इनमें सदैव अन्तर्क्रिया होती रहती है। मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक संस्कारों में अबाध गति से परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन का प्रभाव उसके जीवन पर भी निरन्तर पड़ता है।[1]

सम्पूर्ण पर्यावरण की धारणा को भली भाँति समझने के लिए हम इसके उस वर्गीकरण को देना लाभकर समझते हैं जिसे मैकाइवर ने अपनी पुस्तक में दिया है।

सम्पूर्ण पर्यावरण=प्राकृतिक पर्यावरण+सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण

प्राकृतिक पर्यावरण

मनुष्य द्वारा असंशोधित (भौगोलिक पर्यावरण)	मनुष्य द्वारा संशोधित (प्रौद्योगिक अथवा तान्त्रिक पर्यावरण)

या

स० प०=भौ० प०+प्रौ० प०+सा० प०

मनुष्य समाज में रहता है और समाज का एक प्राकृतिक वासस्थान होता है। मनुष्य के सम्पूर्ण पर्यावरण में प्राकृतिक वासस्थान तथा उसका समाज शामिल होते हैं। प्राकृतिक वासस्थान को दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) भौगोलिक पर्यावरण जो मनुष्य के हस्तक्षेप के अभी बाहर हैं, (२) मनुष्य निर्मित प्राकृतिक पर्यावरण जिसे मनुष्य ने अपनी बुद्धि और ज्ञान से प्राकृतिक साधनों को संशोधित कर बनाया है। भौगोलिक पर्यावरण में वे सभी दशायें शामिल होती हैं जिन्हें प्रकृति ने मनुष्य को दिया है। इसमें पृथ्वी का धरातल उसकी भौतिक विशेषताएँ तथा प्राकृतिक साधन शामिल हैं। भूमि और जल का वितरण, पवन और मैदान खनिज पदार्थ, पौधे और जानवर जलवायु तथा अन्य ब्रह्माण्ड शक्तियाँ गुरुत्वाकर्षण शक्ति, बिजली सभी मिलकर भौगोलिक पर्यावरण बनाते हैं। ये सभी मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। यह प्राथमिक पर्यावरण है। इस प्राथमिक पर्यावरण में मनुष्य प्रविधि या तन्त्र की सहायता से संशोधन करता है। भूमि को जोत कर खेती करता है जंगलों को साफ करता है, सड़कें तथा रेलें बनाता है नदियों से नहरें काटता है पर्वतों से सुरंगें निकालता है शहर बसाता है खनिजों को निकाल कर अनेक उपकरण और अस्त्र शस्त्र तथा प्राकृतिक शक्तियों का विभिन्न प्रकार से शोषण करके अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह एक नया पर्यावरण बन जाता है जिसे प्राविधिक पर्यावरण कहते हैं। इसी के समृद्ध रूप को सभ्यता कहते हैं। इसी तरह प्राथमिक पर्यावरण से भिन्न मनुष्य का आन्तरिक या सामाजिक पर्यावरण है। सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण समूहों, समुदायों, रूढ़ियों, नियमों परम्पराओं संस्थाओं मान्यताओं और मूल्यों अथवा सामाजिक विरासत से मिलकर बनता है।

1 MacIver & Page Ibid p 79

पर्यावरण जीवन को किस प्रकार ढालता है और स्वय जीवन द्वारा किस तरह सशोधित होता है। इसके विषय मे विशिष्ट ज्ञान का सचय सामाजिक विज्ञानो की सफलता है। मानवशास्त्र सामाजिक इतिहास नवशशास्त्र (Ethnology) मानव भूगोल (anthropogeography) भूगोल राजशास्त्र (Geopolitics), मानव या सामाजिक पारिस्थिकी[1] (Human or Social Ecololgy) सभी म पर्यावरण और मानव जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध का अध्ययन होता है। भौगालिकवाद और क्षेत्रवाद (Geographical school and Regionalism) म भी इसी विषय का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक समाजो मे कई सामाजिक और वैयक्तिक रोगो का निदान पर्यावरण नियन्त्रण की विधि द्वारा किया जा रहा है।

---

1 अथवा 'परिस्थिति शास्त्र'

८

भौगोलिक पर्यावरण

प्राकृतिक अथवा भौगोलिक पर्यावरण मनुष्य और उसके समाज का प्राथमिक पर्यावरण होता है। इसलिए मनुष्य और समाज की उत्पत्ति से लेकर उनके चरम विकास तक भौगोलिक पर्यावरण का उन पर प्रभाव पड़ता है। इस पर्यावरण और सामाजिक जीवन के वास्तविक सम्बन्ध के ज्ञान की खोज अत्यन्त प्राचीन है। हर समाज के विचार-साहित्य में इस सम्बन्ध को समझने का थोड़ा या अधिक प्रयास मिलता है।

पिछले अध्याय में भौगोलिक पर्यावरण के बारे में हमने पढ़ा है। यह उन सब दशाओं से मिलकर बनता है जिन्हें प्रकृति ने मनुष्य को दी हैं। पृथ्वी का धरातल, भूमि और उसकी सारी प्राकृतिक दशायें प्राकृतिक साधन जल पर्वत, मैदान खनिज पदार्थ, पौधे पशु और जलवायु का वितरण तथा इस पृथ्वी की समस्त प्राकृतिक शक्तियाँ जैसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (गुरुत्वाकर्षण), विद्युतशक्ति और विकिरणीय शक्तियाँ, जो यहाँ विद्यमान हैं और जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं इसके अन्तर्गत आती हैं।[1] सोरोकिन की भौगोलिक पर्यावरण की धारणा अधिक स्पष्ट है। उसके मतानुसार 'भौगोलिक' पर्यावरण का तात्पर्य ब्रह्माण्ड की ऐसी दशाओं और घटनाओं से है जिनका अस्तित्व मनुष्य के कार्यों से स्वतन्त्र है जिनका मनुष्य ने सृजन नहीं किया है और जो मनुष्य के अस्तित्व तथा क्रिया से स्वतन्त्र स्वतः परिवर्तित होती है।[2] मनुष्य के बाह्य पर्यावरण का वह भाग जो मनुष्य ने अभी संशोधित या नियन्त्रित नहीं कर पाया है, भौगोलिक पर्यावरण कहलाता है।

भौगोलिक पर्यावरण और सामाजिक जीवन के यथार्थ सम्बन्ध को हम तभी समझ सकते हैं जब यह स्मरण रखें कि जिसे कोई समाज अपना प्राविधिक पर्यावरण कहता है वह मूलतः भौगोलिक पर्यावरण का ही एक भाग था। अर्थात्, यह भौगो

---

1 MacIver & Page *op cit* p 63

2 P A Sorokin *Contemporary Sociological Theories* Harper & Bros New York (1928) p 101

निज पर्यावरण का वह भाग है जिसका मनुष्य ने संशोधन और नियन्त्रण कर लिया है। यह तथ्य हम एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर ले जाता है। सभ्यता के विकास के साथ समाज पर प्रकृति का प्रभाव कम होता जाता है। समाज की उस पर निर्भरता म कमी आती जाती है अर्थात् भौगोलिक पर्यावरण का समाज पर प्रारम्भिक प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है। समाज के विकास के साथ इस प्रभाव म कमी आती जाती है किन्तु आधुनिक गौरवमयी सभ्यता म भी इस प्रभाव का परिशून्यन नहीं हो सकता है और शायद सामाजिक विकास की चरम (सर्वोच्च) अवस्था म भी यह प्रभाव महत्वपूर्ण बना रहेगा।

भौगोलिकवाद

भौगोलिक पर्यावरण तथा मानव जीवन के संबंध के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रारम्भ से ही उत्सुक रहा है। पहले यह अध्ययन बहुत कुछ प्रयोग सिद्ध ज्ञान पर आधारित रहा है। पहाड़ो मदानो सागर तटो जंगलो रेगिस्तानो घास के मदानो बर्फीले प्रदेशो तथा दलदली क्षेत्रो म बसे मनुष्य के जीवन के ढंगो और प्रति आवश्यकताओ को देखकर कई विचारको ने मानव जीवन पर प्राकृतिक दशाओ के प्रभाव को बहुत महत्व दिया है। कुछ ने तो यहा तक कहा है कि सामाजिक जीवन का मुख्य निर्धारक भौगोलिक पर्यावरण ही है। मनुष्य की समृद्धि और उसका स्वास्थ्य जनसख्या का वितरण प्रजातियो के शारीरिक लक्षण मनुष्य की बलिष्ठता कद और काय कुशलता एव शक्ति सामाजिक प्रथायें और सगठन, धम और दशन सभी का प्रारम्भिक निर्धारण प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा होता है। इन विचारो की व्यवस्थित शृंखला को १६वी शताब्दी म मानव या सामाजिक भूगोल कहा जाने लगा। इस विशिष्ट विचारधारा के समथको को भौगोलिक सम्प्रदाय कहा जाता है।

यूनान का प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू और १८वी सदी का विचारक माटेस्क्यू दोनो इसी प्रकार के थ। आधुनिक सामाजिक भूगोल म अग्रणी फ्रास का विद्वान फ्रेडरिक लप्ले था जिसका अनुयायी डिमालिन्स था। लेप्ले के विचारो का अनुकरण फ्रास म ही नही इंगलैड जमनी और अमरीका म भी हुआ। जमनी म रेजल ने मानव भूगोल की उन्नति की। इंगलैड के बकल ने अपनी सभ्यता के इतिहास की पुस्तक का आधार समक्षेत्रीय विचारो को बनाया। अमरीका के विचारको ने मानव परिस्थिति और क्षेत्रवाद के उत्पत्ति और विकास म लप्ले और रेजल के विचारो स प्रेरणा ली। रेजल के विचारो म बहुत प्रबलता थी। उसने कहा था— मानव प्रकृति अपना सर आकाश म जितना चाहे उठा सकती है किन्तु उसके पर हमेशा पृथ्वी पर टिके रहगे और धूल धूल को ही लौट कर आएगी। क्षेत्रवाद के प्रमुख विचारक ओडम और उसके साथी हैं। भौगोलिकवाद के अन्य अमरीकी विचारको म कुमारी सम्पल डेक्सटर और एलसवथ हटिंग्टन के नाम स प्रसिद्ध हैं। हटिंग्टन ने कई पुस्तकें लिखी और उन सबम नस्ल या प्रजाति (race) तथा जलवायु की दशाओ का प्रभाव या

सधान मानव-समाज और संस्कृति पर दिखाने का प्रयास किया। ब्लेश, लैमार्क, हम्बाल्ट, ब्रून्हेस और मूर को भी इस सम्प्रदाय में ख्याति प्राप्त है।

इस विचार परम्परा के विद्वानों ने सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं—राजनैतिक, आर्थिक, तात्विक, सांस्कृतिक—तथा प्राकृतिक पर्यावरण (भौगोलिक) के विविध अंगों से होने वाली अन्तःक्रियाओं में सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ज्ञान हमें दिया है। मानव विकास में प्रकृति के महत्व को समझने में भौगोलिकवाद बहुत सहायक हुआ है किन्तु इस विचार परम्परा ने हमें इस विषय पर कई बार पथभ्रष्ट भी किया है।[1]

भौगोलिक निर्धारणवाद

भौगोलिकवाद के समर्थकों में से रेजल और उनके अनुयाइयों, लार्ड कामे, बकल डिमालिन और हंटिंग्टन ने प्रकृति और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध की अति-रंजना की है। उनके मतानुसार सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं का प्राथमिक निर्धारण प्राकृतिक दशाएं और शक्तियां करती हैं। अर्थात् किसी देश या प्रदेश का सामाजिक संगठन आर्थिक संस्थायें राजनीतिक व्यवस्था संस्कृति और सभ्यता उसके भौगोलिक पर्यावरण पर ही निर्भर हैं। भौगोलिक पर्यावरण ही निश्चित करता है कि अमुक समाज कैसा होगा।

भौगोलिकवादियों का विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार के सामाजिक व्यवहार, परिवर्तन या नवीन सामाजिक रचना का रहस्य भौगोलिक पर्यावरण के गर्भ में छिपा हुआ है। इसके कतिपय उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) "संसार एक नाटकशाला है और पृथ्वी एक रंगमंच जिस पर ईश्वर और प्रकृति अभिनेताओं (मनुष्यों) से अभिनय कराते हैं।

—टाम्स हवुड

(२) चूँकि "मनुष्य पृथ्वी पर रहता है इसलिए वह पृथ्वी पर निर्भर है।

—जीन ब्रून्हस

(३) हमारी बुद्धि और संस्कृति की या उन सबकी जिसे हम सभ्यता की प्रगति कहते हैं, अधिक अच्छी तुलना चिड़िया की असीमित उड़ान से न होकर एक पौधे के उपरी तने से हो सकती है, हम सदैव पृथ्वी से बंधे रहते हैं क्योंकि टहनियां तने पर ही उग सकती हैं। मानव प्रकृति अपना सिर आकाश में जितना ऊँचा चाहे उठाले किन्तु उनके

---

1 भौगोलिकवाद का विस्तृत विवेचन सारोकिन की पुस्तक 'कन्टम्पारेरी सोशियोलाजिकल थ्योरीज' में पढ़िये। Nicholas S Timasheff की पुस्तक '*Sociological Theory*', Random House New York (1955) को भी देखिए।

पर सदव धरती पर टिके रहगे और धूल अवश्य ही धूल का लौट आएगी। —फ डरिक रजल

(४) कद अतत भाजन पर निभर है और इसलिए भौगोलिक पर्यावरण पर'। —सेम्पल

(५) किसी समाज के पास कितनी सम्पदा है यह उसके प्राकृतिक पर्यावरण पर आश्रित है'। —बकन

(६) मनुष्य धरती का पुत्र है। उन दोनो को कभी पृथक नही किया जा सकता।' —ब्राउन

(७) जन्म सख्या म ऋतुओ के अनुसार परिवतन होता रहता है।

(अ) यदि ऋतुएँ न होती तो शायद मनुष्य जाति कभी सभ्य न हो पाती।'

(आ) खनिज पदार्थों का भौगोलिक वितरण अन्तर्राष्ट्रीय सकटा और युद्धो का एक सबम बडा कारण है।

(इ) हवा म नमी की मात्रा स्वास्थ्य और शक्ति के नियम म एक व न महत्वपूर्ण कारक है।'

(ई) तापमान के बहुत अधिक गिर जाने पर शारीरिक प्रयास की अपक्षा मानसिक प्रयास अधिक गिर जाता है।'

(उ) जलवायु के उतार चढाव स सभ्यताओ का पतन और उत्थान हाता है। अच्छी जलवायु म उन्नत सभ्यताए होती हैं और खराब जलवायु म अनुन्नत सभ्यताए। क्योकि स्वास्थ्य और शक्ति पर स्पष्टत जलवायु का प्रभाव पडता है और वे पुन सभ्यता का प्रभावित करत हैं। —एल्सवथ हटिंग्टन

आलोचना—(१) भौगोलिक निर्धारणवाद समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण स एक अग को निराल कर उसके महत्व को ही सब कुछ मान बैठता है। सामाजिक जीवन का पर्याप्त और पृथक कारण भौगोलिक पर्यावरण ही नहा है। समाज पर अनक प्रभाव पडते है और उनम भौगोलिक प्रभाव केवल एक है। किन्तु यह प्रभाव अन्य प्रभावो से गहराइ से उलझा है। इसे पृथक करना कठिन ही नही असम्भव है। लेप्ल क मतानुसार परिवार के विशिष्ट रूप पेशा काय की दशाओ पर निभर रहत हैं जो स्वय वासस्थान की प्रकृति द्वारा निर्धारित होत हैं। किन्तु वास्तविकता दूसरी ही है। एक ही प्राकृतिक दशाओ म परिवार के कई रूप उन्नत हुए हैं। बकल का कथन कि सम्पत्ति की समृद्धि पूर्णतया भूमि और जलवायु पर निभर है आधुनिक सभ्यता के प्रसग म असत्य प्रकट होता है। अमरीका का 'न्यू इगलैण्ड' एक शून्य और चट्टाना प्रदेश था फिर भी इसकी सम्पत्ति म महान् वृद्धि हो गई। इसी प्रकार, एल्सवथ हटिंग्टन का यह दावा कि सभ्यता की प्रगति म प्रधान निर्धारक अनुकूल जलवायु है

जापान की उन्नत सभ्यता असत्य कर देती है। जापान की जलवायु को हटिंगटन कभी भी अनुकूल नहीं मानता।

(२) भौगोलिक निर्धारणवाद के समर्थक मनुष्य को कीडे मकोडा और पशुओं जैसा ही प्रकृति का दास समझते हैं। सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में चाहे मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिए प्रकृति का पूर्ण दास रहा हो परन्तु उन्नत अवस्थाओं में वह इस दासता से बहुत कुछ मुक्त हो गया है। मनुष्य में हर प्रकार की भौगोलिक दशाओं से उपयोजन करने की विलक्षण क्षमता है। अपनी बुद्धि और सामाजिक विरासत के सहारे वह प्रारम्भ से ही प्रकृति को सशोधित और नियन्त्रित करता रहा है। आधुनिक और प्राचीन विज्ञान तथा गौरवशाली सभ्यताये इसका साक्ष्य हैं। इस विचारधारा के विद्वानों ने शायद एकाकी अध्ययन की अधाधुध मे ऐसे उदाहरणों को सकलित करने की ओर ध्यान नहीं दिया जो भौगोलिक पर्यावरण पर मनुष्य के नियन्त्रण और स्वामित्व को सिद्ध करते हैं। सोरोकिन भौगोलिक निर्धारणवाद की आलोचना करते हुए लिखता है कि इसके अन्तर्गत सिद्धान्तो में इतना विरोध और अस्पष्टता है कि द्विविधापूर्ण और सत्य में भेद करना दुस्साध्य है।[1]

(३) सामाजिक भूगोल की शाखाओं—मानव भूगोल आर्थिक भूगोल और राजनैतिक भूगोल में से राजनीतिक भूगोल ने जर्मनी, इटली तथा जापान को प्रथम तथा द्वितीय विश्व महायुद्धों के बीच में बहुत प्रभावित किया था। उन्होंने अपनी राजनैतिक नीतियों के निर्माण और कार्य-परिणति में इस ज्ञानशाला से प्रेरणा ली। भौगोलिक राजनीतिज्ञों के भूमिखण्डों और सागरों की विशेषताओं को राष्ट्रीय शक्ति और ऐतिहासिक भाग्य का मूल कारण ठहराया। वे राज्य विस्तार की नीति को इसलिए उचित समझते थे कि राज्य जैसे जीवित पदार्थ की वृद्धि के साथ उसके स्थान का भी विस्तार होना स्वाभाविक है। यह भौगोलिक निर्धारणवाद का अन्तिम रूप था।

हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इगलैण्ड की महान् व्यापारिक सामरिक और राजनैतिक शक्ति का कारण उसकी अच्छी स्थिति है और इसी प्रकार ससार के सर्वशक्तिशाली राष्ट्रों—रूस और अमरीका की महानता और शक्ति अशत उनकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है। किन्तु विचार करने पर हमें ज्ञात होगा कि उनकी शक्ति और वृद्धि के ठोस कारण में औद्योगिक कलाओं की अवस्था, शैक्षिक स्तर, लोगों की आकाक्षाओं, उनकी एकता, देशभक्ति तथा नेतृत्व का महत्वपूर्ण योग है। जो भी पृथ्वी के तथ्य हो उसको हमेशा सामाजिक विरासत से सम्बन्धित करके ही देखना चाहिए। दस्तूर ने उचित ही कहा है कि प्रकृति केवल सामग्री प्रदान करती है

1 P A Sorokin *op cit* p 101

अपनी आवश्यकताओं, प्रतिभा और योग्यता से बाध्य होकर मनुष्य उसका अपने प्रयोजनों के लिए उपयोग करता है।[1]

हमारे समकालीन भौगोलिक विचारकों ने पुरानी भौगोलिक विचार परम्परा के यान्त्रिक निर्धारणवाद को त्याग दिया है। परन्तु नेश और मम्पन के उन कथनों में सत्यता का भारी अंश है कि नगरीय पूर्व निरूपण और मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति के धूम धड़ाके में हम प्राकृतिक पर्यावरण से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने या अप्रभावित होने का दावा नहीं कर सकते। सत्य तो यह है कि हमने पर्यावरण से बचाव नहीं कर पाया है उसे अधिक विस्तृत भर बना लिया है। पृथ्वी के तथ्य मानव समाज की प्रकृति और उन्नति के रूप का निर्धारित नहीं करते। बराबर नवीन पृथ्वी-तथ्यों की खोज होती जा रही है और पुराने तथ्यों को नया महत्व मिलता जा रहा है जैसे-जैसे मानव ज्ञान विचार और सामाजिक क्रिया में उन्नति होती जा रही है। समाज तथा भूमि के तथ्यों में पारस्परिक सम्बन्ध है।[2]

आइए, अब हम भौगोलिक पर्यावरण (प्राकृतिक दशाओं) तथा सामाजिक जीवन के कुछ निश्चित सम्बन्धों का विश्लेषण करें।

भौगोलिक पर्यावरण का वास्तविक प्रभाव

उपरोक्त आलोचना में हमने प्राकृतिक तथ्यों के प्रभाव को सामाजिक जीवन में नगण्य नहीं माना है। वास्तव में ये तथ्य आज भी समाज के जीवन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं।

प्रत्यक्ष प्रभाव

भूगोल से समाज को कुछ ऐसी दशाएँ मिलती हैं जो उसके लिये प्राथमिक महत्व की हैं। जीन ब्रून्हेस ने लिखा है कि निम्नलिखित छः मुख्य प्रकार की मानवीय क्रियाओं पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है—(१) आवास और मकान (२) सड़कों का स्वरूप और दिशा (३) पौधों की खेती (४) जानवरों का पालन (५) खनिज पदार्थों का शोषण और (६) पौधों और जानवरों का नाश।[3] हम ब्रून्हेस के कथन से सहमत हैं। किन्तु उपरोक्त क्रियाओं के लिये भौगोलिक तथ्यों का महत्व तान्त्रिक उन्नति और सभ्यता में होने वाले दूसरे परिवर्तनों के साथ बदला करता है।

बस्ती—मनुष्य वहीं बसता है और नगर और गाँव बनाता है जहाँ जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि सरलता से हो सके। अर्थात् मनुष्य के आवास के लिये प्रकृति के वे भाग ही लाभदायक हैं जहाँ जीवन के लिये अनुकूल दशाएँ पाई जायें। संसार के सभी समाजों ने अपने आवास मैदानों या नदियों की घाटियों में

1 A J Dastur *Man and His Environment* Bombay (1934) p 3
2 MacIver & Page *op cit* p 102
3 Jean Brunhes : *Human Geography (1920)* Chapters I & II

बनाये हैं। बर्फीले पहाड पर, बयावान जगल मे, समुद्र के खतरनाक किनारा पर अथवा सुनसान रगिस्तानी प्रदेश मे कही भी मनुष्य की आबादी नही पाई जाती है और यदि कहा है भी तो नगण्य है। इसी प्रकार, ससार के सभी बड नगर आवागमन के मार्गों पर—नदियो और मदानी मार्गों पर बसे हैं। सभ्यता के इतने विकसित होने पर भी ससार के किसी देश म बडे नगर ऐसे स्थानो पर नही बसाये जा सके ह जहा जनसंख्या की जरूरतो को पूरा करने के साधन न हो। आधुनिक समय में जो बड़े नगर, पठारो और जगलो के किनारे बसे हैं उसका कारण वहा बहुमूल्य खनिज पदार्थो की बहुलता है। लन्दन जिब्राल्टर, अलेक्जेन्ड्रिया, अदन बम्बई, कलकत्ता रगून, सिंगापुर हागकाग आदि बन्दरगाहो की स्थापना और उन्नति म भौगोलिक दशाओ का प्रत्यक्ष प्रमाण है। य सभी स्थान व्यापार और युद्ध की दृष्टि म केन्द्रीय महत्व के हैं।

हमारे मकानो की बनावट पर भी प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। उष्ण कटिबन्ध के मकान खुले और हवादार बनते हैं। उनम आगन या दालान का होना भी जरूरी समझा जाता है। ठडे देशों के मकानो म खुले हुये स्थान या आगन की जरूरत नही पडती। अमरीका और यूरोपीय देशो के नगरो म १०० मजिल तक के मकान इसीलिये बनाये गये हैं कि वहा ऊपरी मजिलो म आगन बनाने की जरूरत नही है। भारत के बडे नगरो म भी १० या १५ मजिल तक की इमारत बनने लगी हैं किन्तु इनम आगन न बनने के कारण निवासियो का काफी असुविधा होती है। मकानो के स्वभाव और उनम लगे हुए सामान का भी प्राकृतिक दशाओ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जापान म अधिक भूचाल आने के कारण वहा लकडी के मकान बनते हैं। उत्तर प्रदेश (भारत) के पहाडी इलाको में भी लकडी और पत्थर के छोटे छोटे मकान बनते हैं। उत्तरी ध्रुव के निवासी एस्कीमो लोग बरफ के मकानो म रहते हैं। मैदानो में ईंटो के बनाने की मिट्टी सरलता से उपलब्ध होने के कारण यहा ईंटो के ही मकान बनते हैं। पहाडी क्षेत्रो या पत्थर की खानो के निकटवर्ती प्रदेश म पत्थर के मकान बनते हैं। जहा मिट्टी पानी मे जल्दी गल कर धुलती नही वहा गावो के मकानो की छतें कच्ची होती हैं। किन्तु जहा मिट्टी बडी जल्दी घुल जाती है और वर्षा ज्यादा होती है वहाँ खपरल के मकान छाये जाते हैं। भवन निर्माण कला (वास्तुकला) पर भौगोलिक दशाओ का प्रभाव तो अवश्य पडता है किन्तु सिर्फ प्रारम्भिक ही। संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य की हर कला मे उन्नति होती है। अतएव गृह निर्माण कला म भी उन्नति होती है। इस उन्नति म सामाजिक प्रतिष्ठा और सौंदर्य की भावना का प्रभाव समाविष्ट रहता है।

मार्गों और सडको के स्वभाव और दिशा का निर्धारण मूलत प्राकृतिक दशाओ म होता है। मैदानो म सडकें चौडी और लम्बी होती हैं। पठारी क्षेत्र म या पहाडियो की तलहटी म पतली छोटी और टेढी मेढी सडकें होती हैं। आवागमन के

सभी साधना के लिये मार्गों की दिशा भी भूगोल पर निर्भर करती है। भारत की कलकत्ता-पशावर ग्राड-ट्रंक रोड सिंध और गंगा के मैदान मे उत्तर पश्चिम से पूर्व की ओर जाती है। पृथ्वी पर चलने वाली सवारियों को तो प्राकृतिक दशाओ—नदियों, पहाड़ो, दलदलों या जंगलो आदि के कठोर प्रतिबंधो को मानना ही पड़ता है। समुद्री यानो तथा वायुयानो को भी अपने मार्गो को वही से बनाना पड़ता है जहां प्रकृति—सागर पर्वत या झंझावात उनके प्रतिकूल नहीं हैं। रेगिस्तान मे ऊंट ही प्रमुखत माल और सवारी ढोने के काम आता है और पहाड़ी प्रदेश मे टट्टू। पहाड़ी इलाको मे रेल नही बिछ सकती। वहा मोटर से ही यातायात होता है अधिक दुर्गम क्षेत्रो मे तो यातायात का कोई आधुनिक साधन नहीं प्रयोग हो सकता।

वस्त्र और भोजन—मनुष्य के वस्त्रो पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। ठण्डे देशो के लोग मोटे चुस्त और गर्म कपड़े पहनते हैं। गर्म प्रदेशो मे लोग हलके, ढीले और ठण्डे कपड़े पहनते हैं। ऋतु बदलने के साथ भारत मे हम अपने वस्त्रो को बदल देते हैं। उष्ण कटिबन्ध के लोग कड़ी धूप से बचने के लिये साफा या टोप पहने रहते हैं। ठण्डे या बर्फ पड़ने वाले देशो मे लोग रात मे भी टोपी पहने रहते हैं किन्तु वेषभूषा संस्कृति का एक प्रमुख अंग है। इसके बारे मे सामाजिक मूल्यांकन का भाव लगा रहता है। सौन्दर्य का उपकरण भी वस्त्र होते है। बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव भी वस्त्रो पर पड़ता है। ठंडे देश मे वे कपड़े पहने जा सकते हैं जो गर्म देशो के लिये ही उपयुक्त हैं। भारतवर्ष मे ही वेष भूषा के कई प्रकार हैं। अरबी और पाश्चात्य संस्कृति का इस पर स्पष्ट प्रभाव दिखता है। एक ही भौगोलिक क्षेत्र मे कई प्रकार के वस्त्र पहने जाने लगे है। किन्तु ध्यान से देखने से पता चलेगा कि बहुसंख्यक जनसंख्या की वेष भूषा का स्वभाव मूलत भौगोलिक दशाओ पर निर्भर रहता है।

भूगोल या स्थानीय दशाएँ स्वाभाविकतया भोजन के प्रतिमानो पर प्रभाव डालती है। हमारे भोजन और पान मे वही पदार्थ तथा उनके उत्पादन शामिल रहते हैं जो हमारे प्रदेश या क्षेत्र मे पैदा होते हैं। बंगाल, बिहार तथा मद्रास के निवासी अधिक चावल खाते हैं। पंजाब और उत्तर प्रदेश के निवासी गेहूँ अधिक खाते हैं। राजपूताना के लोगों का आहार जौ ज्वार बाजरा और मक्का है। काश्मीर व सीमा प्रान्त के निवासी फलो का खूब खाते हैं। हिमाचल प्रदेश के लोग आलू खूब खाते हैं। इसी प्रकार से बर्मा और जापान के लोग चावल मध्य अमरीका और कनाडा के लोग गेहूं का बहुत उपयोग करते हैं जबकि जापान मे, जहाँ चावल का उत्पादन बहुत होता है चावल मुख्य भोजन है। इटली और फ्रांस के दक्षिणी भाग मे अंगूर बहुत पैदा होते हैं इसलिये यहा के निवासी शराब खूब पीते हैं। हिंदुस्तान मे आम खूब खाया जाता है जबकि रूस, अमरीका या यूरोप के अधिकांश निवासी इसका स्वाद तक नहीं जानते। विभिन्न प्रदेशो या देशो मे खाद्य और पेय पदार्थों की

बहुलता उनकी प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर होती है। जहाँ जो पदार्थ अधिक मात्रा में पैदा होगा वही वह खाद्य या पेय पदार्थ बन जाता है। किन्तु भोजन और पान के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध भी धार्मिक और सांस्कृतिक आधार पर लग जाते हैं। पिछले सौ साल में विज्ञान और प्रविधि के विकास एवं सांस्कृतिक सम्पर्कों ने भोजन-प्रतिमानों पर भूगोल के प्रभाव को बहुत घटा दिया है। प्रथम, उपयोगी खाद्य पौधों और खाद्य-सामग्री उत्पन्न करने वाले जानवरों को उनके उद्‌भव क्षेत्र से ले जा कर दूर दूर प्रदेशों में फैला दिया गया है। द्वितीय, परिवहन या प्रविधि के विकास से भी बहुत से लोगों की स्थानीय खाद्य पदार्थों पर निर्भरता कम हो गई है। बहुत से देश जैसे क्यूबा, इज़रायल, वेनेज्यूला आयात किये हुए खाद्य पदार्थों पर ही निर्भर रहते हैं। ब्रिटेन तो अपने निवासियों की भोजन की प्राय सम्पूर्ण आवश्यकता ही आयात से पूरा करता है। इसी प्रकार, कृत्रिम शीत निर्माण और अन्य प्राविधिक युक्तियों से धनी लोग संसार के किसी भी प्रदेश में मनचाहा भोजन प्राप्त कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है सभ्यता की उन्नति भोज्य पदार्थों के मामले में निकटस्थ प्रकृति पर हमारी आश्रयता को क्रमशः घटाती जाती है। पर स्मरण रहे अभी भी आर्थिक या सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े देशों के बहुसंख्यक निवासी अपने प्रदेश में उत्पन्न भोज्य पदार्थों तथा पेयों पर ही निर्भर हैं। प्रकृति तथा भोजन का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जनसंख्या—जनसंख्या के विस्तार वितरण और घनत्व (density) तथा प्राकृतिक दशाओं में सीधा सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। बस्तियाँ वहीं पर स्थापित होती हैं जहाँ जीवन की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि सुविधा से होती है। नदियों की घाटियों में विशाल जनसंख्याएँ रही थीं और आज भी पाई जाती हैं। भारत के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में जनसंख्या बहुत थोड़ी है। राजस्थान भी थोड़ी जनसंख्या वाला प्रदेश है। तिब्बत में हज़ारों वर्षों में भी जनसंख्या का उतना विस्तार नहीं हो पाया जितना अमरीका और रूस में पिछले ५० साल में। भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में जनसंख्या का घनत्व और वितरण असमान है जिसमें एक महत्वपूर्ण कारक भौगोलिक दशायें हैं। एक विशिष्ट भूमि-खण्ड में एक परिमित (सीमित) जनसंख्या ही रह सकती है। इंगलैण्ड या इण्डोनेशिया में चाहे जितनी औद्योगिक उन्नति हो जाय भारत या चीन की जनसंख्या का मुकाबला वहाँ की जनसंख्या शायद कभी नहीं कर सकती। जनसंख्या के घनत्व और वितरण में प्रतिकूल भौगोलिक दशायें बड़ी बाधा बनती आती हैं। इन बाधाओं पर तन्त्र तथा सभ्यता की उन्नति से बहुत कुछ काबू कर लेना सम्भव है। खनिज पदार्थ वाले पठारी प्रदेशों में विशाल जनसंख्याएँ बस गई हैं। उत्तरी ब्रिटेन छोटा नागपुर का पठार और अमरीका के न्यू इंगलैण्ड आजकल बड़े औद्योगिक क्षेत्र बन गये हैं। जनसंख्या के विस्तार, वितरण और उन्नति में मानसिक कारकों का महत्व प्रकृति से किसी भी तरह कम नहीं है।

किन्तु यह स्मरण रहे कि किसी विशिष्ट प्रदेश में खनिज पदार्थों या अन्य प्राकृतिक साधनों की उपस्थिति मात्र मानव जीवन पर कुछ प्रभाव नहीं डालती जब तक उनके उपयोग का मनुष्य फैसला न करे। वे राष्ट्र की सम्पदा तभी बनते हैं जब सभ्यता और तन्त्र द्वारा उनको समाज के उपयोग के लिए शोषित किया जाए। पृथ्वी के तथ्यों की कैसी परिभाषा और कौन उपयोग हो यह समाज पर निर्भर रहता है।

भौगोलिक पर्यावरण का शारीरिक लक्षणों पर सीमित प्रभाव पड़ता है। भूमध्य रेखा के आस पास देशों के निवासियों की त्वचा काली होती है। ठण्डे देशों के लोगों की त्वचा का रंग गोरा होता है। शारीरिक ढाँचे पर अंग प्रत्यंगों की रचना कद और वनिष्ठता पर एक सीमित रूप से प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह प्रभाव हजारों वर्षों में प्रकट हो सकता है। उदाहरण के लिये यदि अल्मोड़ा या तिब्बत के एक परिवार को लखनऊ में बसा दिया जाए तो उसके सदस्यों के शारीरिक लक्षणों और रचना में सैकड़ों सालों में थोड़ा सा अन्तर आ सकेगा। शारीरिक विशेषताओं और रचना पर दो कारकों का प्रभाव पड़ता है—वंशानुक्रमण और पर्यावरण का। ये दोनों आपस में इतने मिले जुले हैं कि दोनों का प्रभाव एक दूसरे से पृथक करना असम्भव है। अत्यधिक गर्मी या सर्दी में मनुष्य पूरे तरीके से काम अवश्य नहीं कर पाता। भारत में जेठ की विकट गर्मी में लगातार और कठिन परिश्रम करने से मनुष्य बड़ी जल्दी थक जाता है।

उपरोक्त सभी उदाहरणों में सामाजिक जीवन पर भूगोल के प्रत्यक्ष प्रभाव को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। पर हम यह न भूलें कि भौगोलिक तथ्यों और सामाजिक विरासत के तथ्यों के बीच निरन्तर अन्तःक्रिया होती रहती है।[1] मनुष्य अपनी मानसिक क्षमता का उपयोग प्रकृति का संशोधन नियन्त्रण और इस्तेमाल करने के लिए करता है।

अप्रत्यक्ष प्रभाव

भौगोलिक दशाओं का हमारे जीवन पर जो अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है उसका विश्लेषण करने में अधिक सावधानी की जरूरत है। बहुत से भूगोल शास्त्रियों ने बड़ी सरलता से यह कहा कि जलवायु व अन्य भूगोल सम्बन्धी तथा सामाजिक घटनाओं में पारस्परिक सम्बन्ध है। इनमें से कुछ ने मनुष्य की शक्ति उसकी मानसिक दशाओं आदि का निर्धारक जलवायु को बताया है। कुछ ने अपराध आत्म-हत्याओं और पागलपन तथा जलवायु और मौसम में सीधा सम्बन्ध दिखाया है किन्तु हमें इस पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या नहीं समझना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि ठण्डे देशों के निवासी स्फूर्तियुक्त, मेहनती और दृढ़ निश्चयी होते हैं। इसके विपरीत गरम देशों के लोग काहिल और ऐशपसन्द होते हैं।

---

1 MacIver & Page *op cit* Chapter on Geography and People

यूरोप और एशिया की वर्तमान सभ्यताओं की महानता में अन्तर का कारण जलवायु की भिन्नता बताई जाती है। डा० हटिंग्टन ने अपने एक गहन अध्ययन में यह सिद्धान्त बनाया कि जलवायु से स्वास्थ्य, शारीरिक कुशलता बुद्धिमत्ता और प्रतिभा निश्चित होती है तथा इससे सभ्यताओं की उन्नति या अवनति होती है। जलवायु सभ्यता के जन्म, विकास, उन्नति, अवनति और लोप का प्रधान कारक है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उसने संसार के तीन मानचित्र बनाये। पहले में संसार की विभिन्न जलवायु को दिखाया और दूसरे में पृथ्वी की सभ्यताओं के विस्तार को दिखाया और अन्तिम नक्शे में उन स्थानों को प्रदर्शित किया जहाँ प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने जन्म लिया था। उसने इन तीनों मानचित्रों में अत्यधिक समानता पाई। अच्छी जलवायु से उत्तम स्वास्थ्य बनता है जो सभ्यता की उन्नति और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के जन्म का मूल कारण है।[1] अच्छी जलवायु में बसी जातियों को श्रेष्ठ और बुरी जलवायु वाली जातियों को हीन बनाया जाता है। एशिया की पिछड़ी अवस्था तथा गुलामी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध यहां की जलवायु और मौसमों से बताया जाता है।

किन्तु इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना हमें सत्यता की ओर नहीं ले जाता। स्वास्थ्य, शक्ति शारीरिक और मानसिक कुशलता केवल जलवायु पर ही निर्भर नहीं होती। वे मनुष्यों की पैतृकता या वंशानुक्रमण, अच्छा भोजन, सफाई जीवन-स्तर तथा उनके सामाजिक जीवन की प्रेरणाओं तथा मूल्यों पर निर्भर रहते हैं।

कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध किया था कि ऋतुओं के परिवर्तन के साथ आत्म-हत्याओं की दर में भी परिवर्तन आता है। यूरोप में गर्मी में यह दर सबसे ऊँची बसन्त में कम और जाड़े में सबसे कम। फ्रांस के विद्वान दुरखीम ने आत्म-हत्याओं तथा जलवायु के कारकों के सम्बन्ध जानने के लिए कुछ अन्वेषण किए। उसने सिद्ध किया कि आत्म हत्याओं तथा भौगोलिक दशाओं में कोई निश्चित पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। उन्नत सभ्यताओं में आत्म हत्यायें अधिक होती हैं। गांवों की अपेक्षा नगरों में भी आत्म हत्याओं की दर ऊँची रहती है। इसी प्रकार विवाहिता तथा धर्मिकों की अपेक्षा अविवाहिता विधुरों और अधार्मिकों में अधिक आत्महत्यायें होती हैं। आत्महत्या एक सामाजिक घटना है। ऐसी परिस्थितियों में आत्महत्याओं का अनुपात अधिक होता है जहाँ सामाजिक पृथक्करण की दशायें पैदा होती हैं। पारिवारिक कठिनाइयाँ, कलह, निर्धनता, निराशा अपराध तथा सामाजिक विरोध से बचने की इच्छा आत्महत्या के कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं।

अपराध—इसी प्रकार पागलपन और अपराध पर जलवायु या ऋतुओं का प्रभाव माना जाता है। किन्तु अधिक से अधिक यह प्रभाव अप्रत्यक्ष और बहुत कम

1 Based on Huntington's (1) *Civilization and Climate* and (2) *Mainsprings of Civilization*

हो सकता है। विभिन्न देशों वर्गों और गांवों तथा नगरों में अपराधों के अनुपात में इतनी विभिन्नता पाई जाती है कि हम इसको जलवायु के प्रभाव द्वारा नहीं समझा सकते। किसी देश या नगर या गांवों को ले लीजिए। हरेक वर्ष यहाँ अपराधों की दरों में इतनी असमानता रहती है कि ऋतुओं तथा जलवायु के प्रभाव द्वारा इस उतार चढ़ाव को नहीं समझा जा सकता। औद्योगिक देशों में और खेतिहर देशों में अपराधों की दर की भिन्नता का कारण जलवायु या ऋतुएँ कदापि नहीं हैं। अपराध के सामाजिक आर्थिक, वयक्तिक धार्मिक राजनैतिक और शासन सम्बन्धी आदि कारण होते हैं। वास्तव में कृषि प्रधान देशों में भी जलवायु का अपराध से बहुत दूर का और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। ऋतु के प्रतिकूल होने से फसल अच्छी नहीं होती लगातार फसलें नष्ट हो जाने से किसान निर्धन हो जाता है। इस स्थिति में बहुत से किसान और मजदूर चोरी या डकैती करने लगते हैं। किन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं। सांस्कृतिक प्रभाव इतने अधिक और प्रभावशाली होते हैं कि वे जलवायु के प्रभाव को नगण्य कर देते हैं। इसी तरह पागलपन तथा जलवायु या ऋतुओं के बीच में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाया है।

आर्थिक जीवन और संगठन—आर्थिक जीवन और संगठन पर भौगोलिक पर्यावरण का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक साधनों का शोषण कर पेशों तथा उद्योग धन्धों का विकास किया जाता है। मोटी तौर पर पेशों तथा उद्योग धन्धों का स्वभाव और विकास प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर है। पशुपालन खेती, लकड़ी काटना खानें खोदना मछली पकड़ना आदि पृथ्वी से सम्बद्ध पेशों पर भूगोल का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। बंगाल में जूट की खेती और उद्योग होता है। छोटा नागपुर के पठार में टाटानगर (जमशेदपुर) तथा अन्य औद्योगिक केन्द्रों की उत्पत्ति और उन्नति अनुकूल प्रकृति से ही सम्भव हो सकी है। कपड़े के कारखानों की स्थापना काली मिट्टी के क्षेत्रों—जहां रुई पैदा होती है—के आस पास होती है। उद्योगों का स्थानीयकरण के प्रमुख कारक कच्चे माल की प्राप्ति कोयले या बिजली की शक्ति के साधनों का होना और आवागमन के लिए सुलभ स्थिति सभी तो प्राकृतिक दशायें हैं। आर्थिक सम्पन्नता पर भी भौगोलिक पर्यावरण का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। स्विटजरलैण्ड में घड़ी तथा कल पुर्जों का उत्पादन ही सम्भव हो सका है खनिज पदार्थों की अल्प मात्रा में प्राप्ति तथा पहाड़ी और पठारी भूमि में बड़े उद्योगों की स्थापना और उन्नति सम्भव नहीं हो सकी। अमरीका आज संसार में सबसे अधिक समृद्ध औद्योगिक देश है। इसका एक महत्वपूर्ण कारक उस देश की उत्कृष्ट प्राकृतिक दशायें हैं। पर उत्कृष्ट प्राकृतिक साधनों की उपस्थिति मात्र से कोई देश समृद्ध नहीं हो जाता। हमारी सामाजिक परिस्थिति इस बात का निर्णय करती है कि उनका उपयोग कितना और किस प्रकार किया जाय। प्राकृतिक साधनों का शोषण कर उनसे विविध उद्योगों का विकास करना मनुष्य के हजारों वर्षों के अनुभव और अन्वे

परण का परिणाम है। ससार म जो औद्योगिक उन्नति हुई है इसका सबसे महत्वपूर्ण कारक मनुष्य का वह ज्ञान और उसका प्रयोग है जिसको सवप्रथम औद्योगिक क्रान्ति ने प्रकट किया।

राजनैतिक-सगठन—राजनैतिक सगठन तथा सस्थाओ का प्रत्यक्ष सबध आर्थिक सगठन और सामाजिक सस्थाओ से है। और आर्थिक सगठन का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राकृतिक दशाओ (भौगोलिक पर्यावरण) से है। इसलिये राजनीतिक सगठन तथा भूगाल स बहुत दूर का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध माना जा सकता है। भूगाल शास्त्रियो ने विशाल उपजाऊ मैदानो और जनतन्त्र तथा पहाडी और ऊँचे-नीचे कम उपजाऊ क्षत्रो और राजतन्त्र म पारस्परिक सम्बन्ध दिखाये हैं। य वास्तविकता से मेल नही खाते। एक ही देश में अनेक प्रकार के शासन-तन्त्र स्थापित होते पाये गए हैं। इस और भारत म राजतन्त्र से लकर प्रजातन्त्र और समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना इसका साक्ष्य है। राजनीतिक सस्थाओ और सगठन का विकास सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकास पर निभर रहता है। एक भौगोलिक पर्यावरण म कई प्रकार का राजनैतिक सस्थायें पाई गई हैं। समान भौगोलिक पर्यावरण वाले देशो म विभिन्न राजनैतिक सगठन पाये जाते हैं और विभिन्न भौगोलिक पर्यावरण वाले देशो म एक सा राजनैतिक सगठन पाया जाता है। अतएव राजनैतिक सगठन या सस्थाओ की उत्पत्ति और उन्नति, उनको एक ही भौगोलिक पर्यावरण म विभिन्नता और प्राकृतिक दशाओ के बिना परिवर्तित हुए उनका बदलना यह सभी सामाजिक पर्यावरण द्वारा ही समझाया जा सकता है। आज ससार के सभी सभ्य देशो म भौगोलिक पर्यावरण की विभिन्नता होने पर भी प्रजातन्त्रीय तथा समाजवादी शासन व्यवस्था स्थापित है या होने जा रही है।

धर्म कला और साहित्य—सभी प्राचीन धर्मों म प्राकृतिक पदार्थों या शक्तियो को देवी-देवता मानकर पूजा की जाती है। सूर्य सागर के देवता वायु देवता वर्षा के देवता आदि की पूजा इन धर्मों की विशेषता है। भारतीय धर्म म ही इन्द्र, वरुण, सूर्य वायु आदि को पूजते हैं। आदिम समुदायो मे भी प्राकृतिक पदार्थों और शक्तियो की पूजा होती है। मनुष्य या असाधारण मनुष्य तथा अलौकिक शक्तियो या देवो को पूजने की प्रथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। सभी धर्मों म स्वर्ग और नरक का अस्तित्व माना गया है। इनकी कल्पना भी अनुकूल और मानव हितकारी तथा प्रतिकूल और नर-सहारक प्राकृतिक दशाओ पर आधारित है। धर्म की उत्पत्ति मनुष्य की उस प्रबल-इच्छा क फलस्वरूप हुई जिसस वह अपने जीवन म भयकर अनिश्चितता को कम करना चाहता था। सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ म मनुष्य के जीवन म अत्यन्त अनिश्चितता थी। इन अवस्थाओ म धर्म का प्रभाव मानव-जीवन पर सर्वाधिक रहा था। सभ्यता के विकास न इस अनिश्चितता को कम कर दिया और विचारों की उन्नति स धार्मिक विश्वासो म भी ह्रास हुआ। धार्मिक

शायद धार्मिक लोप म अन्त हो। पर यदि कभी विज्ञान और सभ्यता का नाश हुआ और मानवता जीवित रही तो उसका धर्म पुन प्रकृति से अप्रत्यक्ष प्रभावित होगा।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। उसमे समाज की सभ्यता और संस्कृति का चित्रण होता है। अतएव प्रकृति का जितना प्रभाव सामाजिक जीवन पर होता है उतना साहित्य पर होना स्वाभाविक है। प्रकृति वर्णन ससार के सभी साहित्यो का एक समृद्ध अंग है। महाभारत रामायण कालिदास का काव्य, शेक्सपियर और वर्डसवर्थ की रचनाओ—सभी पर प्रकृति की गहरी छाप है।

कलाकार को अपनी कृति के लिये प्रकृति से बहुत कुछ प्रेरणा मिलती है। नृत्य, संगीत चित्रकारी आदि पर प्रकृति की रंगीन और मनमोहक दशाओ का बहुत गहरा प्रभाव पडता है। मनुष्य की सौन्दर्य की कल्पना भी प्राकृतिक सौन्दर्य से अनुरंजित है। औद्योगिक भौतिकवादी सभ्यता म भी मनुष्य का प्रकृति प्रेम कम नही हुआ। नागरिक वातावरण से ऊबकर शहरी लोग रमणीय, उन्मुक्त और अनियंत्रित प्रकृति के प्रागण की ओर भागते है।

धर्म साहित्य और कला की उन्नति मे भौगोलिक पर्यावरण बाधा नही डाल सकता। इसका तो उन पर अप्रत्यक्ष प्रभाव ही पडता है।

सभ्यता तथा संस्कृति—विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मनुष्य निकटस्थ पर्यावरण का सहारा लेता है। उसी के आधार पर वह अपनी संस्कृति विकसित करता है। किन्तु आवागमन के मार्गों और साधनो मे उन्नति होने से विभिन्न समूहो या समुदायो की संस्कृति म सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क संस्कृति के प्रसार को सभव कर देता है। इस प्रकार समूहो और समुदायो की मौलिक संस्कृतियो मे दूसरी संस्कृतियो का सम्मिश्रण हो जाता है। स्थानीय संस्कृति का कही कही बिल्कुल रूप बदल जाता है। अमरीका के रेड इंडियनो की स्थानीय संस्कृति बहुत कुछ भौगोलिक पर्यावरण से प्रभावित हो सकती है। किसी समूह या समुदाय की जो दूसरे समुदायो से पृथक रहा है संस्कृति पर भौगोलिक पर्यावरण का निकट अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है किन्तु भारतीय संस्कृति या ईरान और जापान की संस्कृति पर प्राकृतिक पर्यावरण का तो अप्रत्यक्ष प्रभाव भी ढूढना मुश्किल होगा। राबर्ट लावी ने लिखा है कि पर्यावरण सांस्कृतिक ढाचा के निर्माणकर्ताओ को ईट और चूना तो देता है किन्तु उन्हे शिल्पकार की योजना नही देता।

सभ्यता और प्राकृतिक पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध की हम पहले चर्चा कर चुके हैं। हमने देखा है कि केवल भौगोलिक दशाएँ सभ्यता के उदय का कारण नही हो सकती। हाँ इन दशाओ से सभ्यता की उत्पत्ति और उन्नति के लिये उद्दीपन अवश्य मिलता है। प्राकृतिक साधनो का क्या उपयोग हो यह निश्चित करना समाज पर निर्भर है। पर प्रकृति की उदारता सभ्यता की उन्नति के लिये एक सहयोगी कारण है। सिंधु घाटी की सभ्यता और मिस्र म नील नदी की घाटी की सभ्यता

म कथन के ज्वलंत साम्य हैं। भूमध्यसागर के तटों पर भी सभ्यता के विकास के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु गाल्डनवीजर ने उचित ही कहा है कि "कोई भी पर्यावरण अकेला एक निश्चित प्रकार की सभ्यता के जन्म के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता और न कोई पर्यावरण जब तक अत्यन्त कठोर न हो एक सभ्यता के विकास को ही रोक सकता है।

आर्नोल्ड टॉयनबी के कथन से हम सहमत हैं। वह लिखता है कि भौगोलिक आवास का सभ्यता पर चाहे जितना प्रभाव हो अभी तक यह निर्विवाद सत्य नहीं ठहराया जा सका कि मनुष्य के कार्यों और सर्वथा में भूगोल एक निर्णायक शक्ति है। इस विद्वान लेखक ने भारतीय, केन्द्रीय अमरीका की माया और पार्थिनियन सभ्यताओं से उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया है कि महान् और शक्तिशाली सभ्यताओं का उदय और उनकी समृद्धि प्रकृति की चुनौती में सम्भव हुआ है। मानव प्रकृति की चुनौती तब समझता है जब वह विरोधी और अनियन्त्रणशील होती है।[1]

भौगोलिक पर्यावरण और सामाजिक जीवन में प्राकृतिक परिस्थितियों की भांति कार्य-कारण संबंध नहीं ढूंढा जा सकता। एक स्थान पर भौगोलिक सम्भावनाएं होने से एक विशिष्ट प्रकार के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक संगठन का विकास होना जरूरी नहीं है। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का कैसा संगठन होगा यह सामाजिक परिस्थिति पर निर्भर होता है। मनुष्य ने अपनी सभ्यता के बल पर बहुत सी ऐसी बातों को कर लिया है जो भौगोलिक पर्यावरण से कभी सम्भव नहीं थीं। सी० क्लार्क ने ठीक कहा है— भौगोलिक कारकों का प्रभाव नकारात्मक है पर निश्चयात्मक नहीं है, ये कारक एक घटना में प्रायः बाधा डाल सकते हैं पर वे यह निर्णय नहीं करते कि क्या होगा।

सभ्यता और भूगोल के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता मनुष्य के बाह्य पर्यावरण को नियन्त्रित करने के साधन जुटाती है। जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति पर नियंत्रण बढ़ता जाता है प्रकृति पर उसकी प्रत्यक्ष और पूर्ण निर्भरता वैसे वैसे कम होती जाती है। साथ ही उसके वासस्थान के अति निकटवर्ती पर्यावरण का उस पर प्रभाव भी कम होता जाता है। मानवविकास के इतिहास से यह बात पुष्ट हो जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य की आर्थिक, सांस्कृतिक और तांत्रिक स्थिति उन्नत होती गई वह प्रकृति पर अपेक्षाकृत कम निर्भर रहने लगा और उसके अति निकटवर्ती भौगोलिक कारकों का प्रभाव उस पर न्यून होता गया। सारोकिन इस मत की पुष्टि करता है।[2]

सभ्यता की वृद्धि स्थानीय भौगोलिक दशाओं के प्रत्यक्ष प्रभाव को बदलती और कम करती है। आधुनिक युग में मनुष्य अपनी जरूरत की वस्तुओं का अनेक क्षेत्रों से प्राप्त करता है। उसके बहुत से ऐसे पेशे हैं जिनमें तथा भौगोलिक पर्यावरण

---

1 A J Toynbee *A Study of History* (Abridged Ed by D C Somervell)
2 Sorokin *op cit* p 10.

म कोई सबध नही मिलता। सवहन के साधनो की उन्नति से उसने दूरस्थ देशो से सम्पर्क स्थापित कर लिया है। इससे सस्कृतियो म परस्पर आदान प्रदान होता है या एक सशक्त सस्कृति का दूसरी सस्कृतिया पर व्यापक प्रभाव पडता है। सस्कृति के प्रसार म जो सबसे बडी बाधा है वह राजनीति और पूर्व निर्णय की दीवार हैं, प्राकृतिक दीवारें नही। यदि आज आप किसी पिछले प्रदेश म जायें तो वहा के निवासियो के जीवन के ढगो म प्राचीनता और आधुनिकता का विचित्र समागम पायेंगे। इसका श्रेय सभ्यता को है।

सभ्यता की उन्नति से मनुष्य प्रकृति के विधानो को अपने साध्यो की पूर्ति के लिये उपयोग करने लगता है। इस स्थिति म उसकी निकटस्थ या स्थानिक भौगोलिक दशाओ पर उसकी अधीनता म दो प्राथमिक तरीको से सशोधन होता है। प्रथम, उसकी भौगोलिक गतिशीलता म वृद्धि हो जाती है जो स्थानीय प्रकृति के बदलने और प्रवरण करने की उसकी शक्ति को बढाती है। वह कम परिश्रम और कम खर्च से दूसरे स्थानो को जा सकता है। उसके निष्क्रमण म प्रकृति प्रभावी बाधाएँ नही डाल पाती। द्वितीय दूरस्थ पर्यावरण म उन्नत प्रभावो का सघात उसके जीवन पर होता है। उसके जीवन ढग विचार तथा सामाजिक सघटन सभी हजारो मील पर बसे मनुष्यो के जीवन ढगो विचारो और सामाजिक सस्थाओ से प्रभावित होते है। भारत के निवासी अग्रजी कपडे पहनते है और भोजन म यूरोप और अमरीका का अनुकरण करते हैं। व चीन जापान और रूस की उन्नति और सभ्यताओ से प्रेरणा लेते हैं। इसी प्रकार भारत की आध्यात्मिक सभ्यता का प्रभाव रूस अमरीका और अन्य भौतिकवादी सभ्यता वाले देशो पर पडा है। भारतीय नारियो की प्रिय साडी का प्रचार अमरीका म जोरो से हो रहा है। इसी प्रकार भारत की शान्तिमय अहिंसात्मक विधियो को दूसरे देश भी अपनी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान म प्रयोग कर रहे है। रूस और चीन को महान् बना देने वाली साम्यवादी विचारधारा से परतन्त्र और औपनिवेशिक देश प्रेरणा ले रहे हैं। डेनमार्क की कृषि सहकारी सस्थाओ को आज अनेक कृषि प्रधान देशो म स्थापित किया जा रहा है। सक्षेप म, सामाजिक विरासत म वृद्धि के साथ-साथ समाज के जीवन म अति निकटस्थ भौगोलिक कारको की निर्धारक भूमिका कम हो जाती है।[1] लेविस मम्फोर्ड की उक्ति इस सही स्थिति का दिग्दर्शन कराती है— ज्यो ज्यो सास्कृतिक विरासत म वृद्धि होती है भौगोलिक पर्यावरण का अधिक भाग उपयोगी और अर्थपूर्ण होता जाता है। किसी क्षेत्र की प्राकृतिक दशाओ को सास्कृतिक और तान्त्रिक दक्षताए विनष्ट नही करती अपितु उन्हें विस्तृत कर देती हैं।[2]

उपसहार—भौगोलिक पर्यावरण की सामाजिक जीवन म केवल सीमित भूमिका है। भूगोल कुछ बाह्य दशाओ का निर्माण करता है। इनम हमारा जीवन

1 MacIver & Page *op cit* p 106
2 Mumford *The Culture of Cities* London (1943) p 313

चलता है और उसके विभिन्न पहलुओं के लिये ये महत्वपूर्ण हैं। समाजशास्त्र का विद्यार्थी भौगोलिक पर्यावरण की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि "सामाजिक घटनाओं का कोई भी विश्लेषण जो भौगोलिक कारकों का विचार नहीं करता, अधूरा है।"[1] सामाजिक घटनाओं के प्रत्यक्ष निर्धारक मनुष्य के हित और रुख, चालक हैं जिन पर भौगोलिक दशाओं के अतिरिक्त अन्य दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है। भूगोल और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध की शृंखला में अनेक मध्यस्थ कड़ियां हैं। रायटर ने लिखा है प्राकृतिक पर्यावरण वे दशाएं प्रस्तुत कर देता है जिनमें मनुष्य का सामाजिक जीवन चलना चाहिये किन्तु वह सामाजिक विधाओं के स्वभाव को निर्धारित नहीं करता जिनका अध्ययन समाजशास्त्री करता है।[2]

---

1 Any analysis of social phenomena which does not take into consideration geographical factors is incomplete —Sorokin *Contemporary Sociological Theories* p 193

2 The natural environment sets the coditions within which human social life must be carried on but it does not determine the character of the social processes that the sociologist seeks to analyse —Reuter *Sociology* p 26

१

सस्कृति और सभ्यता

मानव जीवन और समाज को समझने क लिए यह आधार भूत है कि उनका सास्कृतिक आधार (cultural basis) जाना जाय। सस्कृति तो समाज विनाना की बुनियादी खाज है। यद्यपि कुछ विनान सस्कृति की प्रकृति और उसका विविवत तथा सूक्ष्म अध्ययन किए विना काम चला भी सकत हैं किन्तु समाजशास्त्र मानव शास्त्र और समाज मनोविज्ञान के लिए सस्कृति की विवेचना करना अत्या वश्यक है। चूँकि सस्कृति मूलत मानव समाज की अपनी विशेषता है इसलिए समाज शास्त्र के अध्ययन म इसका केन्द्रीय महत्त्व है।

सस्कृति' का लौकिक (popular) या साधारण अथ

जन-साधारण म सस्कृति शब्द का प्रयोग बहुत होता है। हमने लोगो को कहते सुना है कि अमुक व्यक्ति या परिवार सुसस्कृत (cultured) है अथवा अमुक काय सास्कृतिक (cultural) है। जन मस्तिष्क म प्राय सस्कृति की धारणा मूल्या कन क रूप म पाई जाती है। जो बातें अच्छी और वाछित है तथा जो सद्गुणो से युक्त हैं उन्हे इन गुणो स रहित वस्तुओ स पृथक करने क लिए सास्कृतिक कहा जाता है। जब साधारण लोग कहते है कि हम अपनी सस्कृति प्यारी है अथवा हम अपनी महान् सस्कृति की रक्षा करेगे तो सम्भवत उनका अभिप्राय अपने जीवन के उस ढग या विधि स होना है जो उन्हे अपन पिता पितामहा से विरासत म मिली है और उनके जीवन का समृद्ध और सफल बनाती है।

दाशनिक हीगेल (Hegel) और कात (Kant) सस्कृति मे नतिकता को मन्व सन्निहित मानते थे। अंग्रेज लेखक कवि मथ्यू आरनाल्ड (Matthew Arnold) सम्पूर्णता (perfection) के अध्ययन मधुरता और प्रकाश की विशिष्ट खोज को सस्कृति कहता था। वह शिष्टता और प्रबोधन (enlightenment) को

संस्कृति मानता था। उसकी धारणा के अनुसार संस्कृति व्यक्ति के स्वय कुछ होने म है न कि किसी वस्तु के अपनाने म। सस्कृति, वास्तव म व्यक्ति की आन्तरिक मानसिक अवस्था (inward state of mind) का ही पर्याय है।

एक दूसरे अंग्रेज कवि एलियट (T S Eliot) ने जीवन के सम्पूर्ण ढग को संस्कृति कहा है। उसका विश्वास है कि 'हम कभी भी अपनी संस्कृति से पूर्णतया सचेत नही हो पाते।' और इसलिए हम दूसरो की संस्कृति को भी पूर्णतया नही समझ सकते। वह संस्कृति को समाज के धर्म का अवतार कहता है। धर्म और संस्कृति दोनो एक ही वस्तु के दो भिन्न पहलू हैं। इसलिए एक समाज की संस्कृति को समझने के लिए उनके धर्म की उपमा करना मूलता होगी।

जर्मन विद्वान, जोजेफ पीपर के मत से 'संस्कृति संसार का समस्त प्राकृतिक वस्तुओ और मनुष्य के उन उपहारो और गुणो, जो उसकी जरूरतो और आवश्यकताओ के सबसे निकटवर्ती क्षेत्र से बाहर है का सार है।' पीपर[1] संस्कृति और अवकाश का स्रोत (उद्गम स्थल) एक मानता है। संस्कृति तो अपने अस्तित्व के लिए भी अवकाश पर निर्भर है और अवकाश तब तक असम्भव है जब तक उसका स्थायी, सजीव सम्बन्ध दैवी आराधना से नही है। संस्कृति मे समाविष्ट गुणो शक्तियो तथा वस्तुओ के लिए व्यावहारिक जीवन म लाभप्रद होना सदैव जरूरी नही पर मानव उनके बगर अपना जीवन सफल नहीं कर सकता।

अंग्रेजी क 'कल्चर' शब्द का हिन्दी पर्याय संस्कृति है। 'संस्कृति विश्व की आद्य भाषा संस्कृत का शब्द है। यह सम्' उपसर्ग और कृ धातु म क्तिन प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। सरल शब्दो म यह संस्कार' का समानार्थक है। मानव-जीवन पर पडे संस्कारो की केन्द्रीभूत समष्टि को संस्कृति कहा जा सकता है। व्यक्ति जिस प्रकार अपने ऊपर पडे हुए संस्कारो क अनुसार ही चेष्टाएँ व्यवहार तथा कर्म करता है एक राष्ट्र की प्रवृत्तिया भी ठीक उसी प्रकार मूलभूत संस्कृति को अपनी परिधि का केन्द्र बनाकर गतिशील रहती हैं। देश और काल गत संस्कारो से प्रेरित मनुष्य के कर्म, व्यवहार तथा चेष्टाएँ संस्कृति के स्थूल शरीर का निर्माण करती हैं। यही कारण है कि विश्व की विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियाँ तात्विक समानता रखते हुए भी अलग अलग हैं जिनका उदय अस्त भी अपनी अपनी सजीवनी शक्ति के आधार पर हुआ करता है। संस्कृतियो का परिचय राष्ट्रो के इतिहास और साहित्य म मिलता है।

संस्कृति का मानवशास्त्रीय अर्थ

समाजशास्त्र और मानव शास्त्र म संस्कृति का अर्थ साधारण अर्थ से भिन्न और निश्चित है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री टायलर क शब्दो म संस्कृति वह जटिल

---

1 Culture is the quintessence of all natural goods of the world and of those gifts and qualities which while belonging to man lie beyond the immediate sphere of his needs and wants. —Joseph Pieper *Leisure the Basis of Culture* (1952) p 40

पूर्णता है जिसमे ज्ञान, विश्वास कलायें, नीति विधि, रीतिरिवाज और समाज के सदस्य होकर मनुष्य की अर्जित अन्य योग्यताएं और आदत सम्मिलित है। [1] रेड फील्ड के अनुसार संस्कृति कला और उपकरण में व्यक्त परम्परात्मक ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परम्परा में सुरक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाता है।' एडवर्ड सपिर मनुष्य के प्राकृतिक और आध्यात्मिक जीवन में सामाजिक विरासत से समाविष्ट तत्व को संस्कृति की संज्ञा देता है।[3] रेडक्लिफ ब्राउन मनुष्य के सतत् भौतिक और नैतिक सुधार (material) वश से सभ्य अवस्थाओं की प्राप्ति—को संस्कृति समझता है।

इसी प्रकार बोग्रस विजलर, डिक्सन और रूथ बेनेडिक्ट एवं मारगरेट मीड संस्कृति में अर्जित क्षमताओं आदतों और प्रथाओं को शामिल करते हैं। उनके विचार से संस्कृति का अर्थ मानव व्यवहार के ऐसे गुण या लक्षण से है जिनका समाज से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। लिंटन और कार्डीनर के अनुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों के अनवरत परिवर्तनीय प्रतिमानों एवं सीखे हुए व्यवहार की उपज को कहते हैं जिनमें मनोवृत्तियां मूल्य ज्ञान और भौतिक पदार्थ शामिल हैं तथा जो समाज के सदस्यों द्वारा समग्रहीत होते हैं और जो उनमें सचरित होते हैं।

यद्यपि सभी उपरोक्त परिभाषाएं समान नहीं हैं और कुछ संस्कृति का सही अर्थ भी नहीं बताती फिर भी उनमें एक सादृश्य है। वे यह स्पष्ट करती हैं कि एक मानव समूह की जीवन कला को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति में भाषा प्राविधिक प्राप्तियां प्रथाएं और धर्म आदि का समावेश होता है। दूसरे यह भी निश्चित संकेत है कि संस्कृति एक सामाजिक थाती है जिसका संक्रमण विरासत के रूप में होता है। संस्कृति व्यक्तिगत प्राप्ति नहीं हो सकती। तीसरे मानवशास्त्र में संस्कृति उत्कृष्टता की द्योतक नहीं। आदिवासी और आधुनिक समाजों—दोनों में—संस्कृति पाई जाती है। चौथे मानवशास्त्री किसी मानव—समूह की आध्यात्मिक थाती को संस्कृति का पर्याय नहीं समझते। अतः में वे संस्कृति को समाज के सम्पूर्ण जीवन-ढंग का समानार्थी मानते हैं जिसमें भौतिक और अभौतिक दोनों पहलू मिलते हैं।

समाजशास्त्रीय अर्थ

पांचवें अध्याय में हम देख चुके हैं कि मनुष्य केवल सामाजिक (या सामूहिक) प्राणी ही रहा है वह सांस्कृतिक प्राणी है। सम्पूर्ण जगत में मनुष्य ही संस्कृति

---

1 Culture is that complex whole which includes knowledge belief art morals law custom and any other capabilities and habits acquired by men as a member of society —E B Tylor *Primitive Culture* p 1

2 Redfield An organised body of conventional understandings manifest in art and artifact which persisting through tradition characterizes human group"

3 Edward Sapir Culture is a socially inherited element in the life of man natural and spiritual

विकसित कर पाया है। इस संस्कृति में उसके सभी रुख, विश्वास, मूल्य और पूर्व निर्णय सम्मिलित होते हैं। संस्कृति उसके सामाजिक जीवन में कितना महत्वपूर्ण कारक है इसका भी संक्षिप्त परिचय हमें मिल चुका है। मनुष्य को अपने पूर्वजों से जो सामाजिक विरासत प्राप्त होती है इससे उसके जीवन में सफलता के प्रति बहुत विश्वास आ जाता है। इस विरासत में उसके पूर्वजों का हर परिस्थिति और घटना से सम्बन्धित अनुभव संग्रहीत है। उसके समूह ने इस विरासत का हस्तांतरित करने में एक अस्थायी माध्यम का काम किया है। किन्तु इस माध्यम से होकर जाने पर सामाजिक विरासत के कुछ तत्वों का अर्थ निर्णय समूह ने अपने ढंग से किया है और थोड़ा बहुत विरासत का संशोधन भी कर दिया है। सामाजिक विरासत के संचरण की यह क्रिया पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला करती है।

समूह को अपने पूर्वजों से प्राप्त सामाजिक विरासत ही उसकी संस्कृति है। टायलर ने संस्कृति की जो परिभाषा की है वह सबसे अधिक प्रसिद्ध है इसमें सामूहिक जीवन की सभी उपजों जैसे जनरीतियाँ, प्रविधि रीतियाँ, रूढ़ियाँ और अन्य समूह-अपमनाएँ और मनुष्य के द्वारा निर्मित सभी उपयोगी पार्थिव पदार्थों और अन्ततः संस्कृति के प्रतीकात्मक निवचनों का सम्मिलन किया गया है। इस प्रकार प्रथाएँ, पार्थिव पदार्थ, अर्थपूर्ण सम्बन्ध ये तीनों संस्कृति के प्रधान पहलू हैं। संस्कृति एक संगठन है। इसमें रचना और कार्य दोनों का समावेश होता है।

कुछ लेखकों ने संस्कृति के प्रतीकात्मक पहलू पर विशेष बल दिया है। लेसली व्हाइट लिखता है कि संस्कृति घटनाओं का वह संगठन है जिसमें कार्यों (व्यवहार के प्रतिमानों), पदार्थों (औजारों और उनके द्वारा बनी वस्तुएँ), विचार (विश्वास और ज्ञान), और भावनाओं (रुख और मूल्य) का समावेश होता है जो प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर है।[1] संस्कृति के प्रतीकात्मक स्वभाव पर बल देने से यह स्पष्ट किया जाता है कि इस स्वभाव के कारण वह एक मनुष्य से दूसरे को कितनी सरलता से संचारित हो जाती है। हजारों वर्षों से संस्कृति इसी तरह एक से दूसरी पीढ़ियों में संचारित होती रही है और संचार में इसमें नये-नये तत्वों का समावेश होता गया है। इसके कुछ तत्व नष्ट हो गये और कुछ का मौलिक रूप बदल गया है और कुछ नये तत्व जुड़ते गये—परन्तु संस्कृति स्वयं बनी रही है। इसलिए व्हाइट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'संस्कृति एक प्रतीकात्मक, सतत और प्रगतिशील क्रिया है।'[2]

---

1 Culture is an organisation of phenomena—acts (patterns of behaviour) objects (tools things made with the tools) ideas (beliefs knowledge) and sentiments (attitudes and values)—that is dependent upon the use of symbols —Leslie A White *American Sociological Review* 12 686-693 (Dec 1947)

2 Culture is a symbolic continuous cumulative and progressive process *Ibid*

फयरचाइल्ड ने लिखा है कि प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और सचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिये सामूहिक नाम सस्कृति है। मानव समूहों की सभी निराली सफलताओं को सस्कृति कहते हैं जिसमे भाषा औजारों का निर्माण, उद्योग कला, विधि, शासन नीतियां धर्म और पार्थिव साधन या शिल्पी पदार्थ जिनमे सास्कृतिक सफलताओं का समावेश होता है और जिनसे बौद्धिक सास्कृतिक लक्षणों को इमारतों यन्त्रों सवहन की युक्तियों और कला पदार्थों मे व्यावहारिक रूप दिया जाता है को सम्मिलित किया जाता है। इसमे वह सभी कुछ सम्मिलित होता है जो अन्त सचार से सीखा जाता है। भाषा परम्परायें प्रथायें और सस्थायें सभी तो सस्कृति के अग है। ससार मे ऐसा कोई मानव समूह नही है जिसमे भाषा, परम्पराय, प्रथायें और सस्थायें न हो। इसीलिए तो सस्कृति सार्वभौमिक रूप मे मानव समाजो की निराली विशेषता है।[1] सार्वभौमिकता और निरालेपन के कारण यह समाजशास्त्र की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धारणा बन गई है।

सस्कृति का सचार औपचारिक या अनौपचारिक शिक्षण और सीखने की विधाओं से होता है। इसलिए सस्कृति का सारभूत भाग तो सामाजिक परम्पराओं, अर्थात् समूह मे प्रचलित ज्ञान विचार आस्थाओं मूल्यों प्रमाणों और भावनाओं के प्रतिमानों मे मिलता। सस्कृति का प्रत्यक्ष (बाह्य या प्रकट) भाग समूह का वास्तविक व्यवहार है जो सामान्यत उसके चलनो प्रथाओं और सस्थाओं मे व्यक्त होता है। किन्तु प्रथायें सस्थायें तो बहुधा सदैव ही समूह के विचारो, आस्थाओं मूल्यों और भावनाओं की अभिव्यक्ति होती हैं। अतएव सस्कृति का सारभूत भाग जीवन की दशाओं के प्रसग मे मूल्यों का गुणागुण ज्ञान प्रतीत होता है। इसलिए सस्कृति की शुद्ध व्यवहारवादी परिभाषा अपर्याप्त है। वही परिभाषा पूर्ण कही जायगी जिसमे सस्कृति के दोनो पहलुओं—अन्तरग और विषयक का समावेश होता है। व्यवहारिकता की दृष्टि से मानव समूह की परम्पराओं और प्रथाओं को ही सस्कृति कहा जाता है परन्तु परम्पराय सस्कृति का अन्तरग पहलू है और उसका सारभूत अन्तर्भाग है।

मकाइवर और पेज ने सस्कृति और सभ्यता मे कुछ भेद बताये हैं। वे सभ्यता मे मनुष्य द्वारा निर्मित सभी उपयोगी पदार्थों को सम्मिलित करते है। जैसे मोटरकार बस, मुद्राचलन-पद्धति रेलगाडियां छापाखाना कारखाना टाइपराइटर आदि। सभ्यता मे दो प्रकार की प्रविधियों का समावेश होता है (१) आधारभूत प्रविधि और (२) सामाजिक प्रविधि। आधारभूत प्रविधि का उद्देश्य प्रकृति पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित करना है। सामाजिक प्रविधि का ध्येय मनुष्यो के आर्थिक, राजनीतिक आदि व्यवहारों का नियमन करना है। सभ्यता एक विशाल व्यवस्था है। इस व्यवस्था के विपरीत एक दूसरी व्यवस्था है जिसमे ऐसी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जैसे उपन्यास, चित्र कविता, नाटक चलचित्र क्रीडा दर्शन विचारधारा और मन्दिर

---

1 H P Fairchild : *Dictionary of Sociology* p 80

आदि। इन मभी चीजा का निर्माण मनुष्य ने इसलिए किया है क्योंकि हम उन्हें ही चाहते हैं। क्याकि वे हम प्रत्यक्ष रूप से वह प्रदान करती हैं जिसे हम चाहने के आवश्यक है। य वस्तुएँ किसी अन्य आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति का माध्यम ही हैं। य सब उन ढगा की प्रतिनिधि हैं जिनमे हम अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। हमारी आन्तरिक आवश्यकता की पूर्ति करती हैं न कि किसी वाह्य आवश्यकता। इन सबको सस्कृति की व्यवस्था म रखा जाता है। यह (सस्कृति) मूल्या तथा भावात्मक लगावा बौद्धिक अभियाना का ससार है। इसलिए सस्कृति सभ्यता का बिल्कुल विपयय है। सस्कृति हमारे रहने और सोचने के ढगा म दैनिक कार्य-कलापा म कला म साहित्य धर्म मनोरजन और आनन्द म हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।[1]

इतने सब विवेचन का सार यह है कि सस्कृति मनुष्य की व निराली सफलतायें हैं जिन्हे उसने और उसके पूर्वजा ने हर परिस्थिति और घटना स अनुभव के रूप म प्राप्त किया है और जो शिक्षा और सीखने की विधाओ द्वारा क्रमश एक पीढी से दूसरी पीढिया का सामाजिक अनुभव के रूप म हस्तातरित होती रही हैं। सस्कृति का सारभूत भाग सामाजिक परम्परायें अर्थात् समूह म प्रचलित ज्ञान विचार आस्थायें मूल्य प्रमाण भावनायें हैं। सस्कृति का प्रकट भाग पदार्थ सामूहिक व्यवहार है जो सामान्य समूह के चलना प्रथाओ और सस्थाओ म व्यक्त होना है जो स्व समूह के विचारा मूल्या आस्थाओ और भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है। अतएव सस्कृति जीवन के मूल्या के प्रति सामाजिक रुख है। सस्कृति हमारे रहने और सोचने के ढगा म दनिक कार्य-कलापो म कला म, साहित्य म धर्म मनोरजन और आनन्द म अभिव्यक्ति हमारी प्रकृति है। एक शब्द म सस्कृति हमारे जीवन का निराला सम्पूर्ण ढग है। यह सामाजिक जीवन म प्रवेश करने की एक सामूहिक रीति है।[2]

सस्कृति के सारभूत (या आवश्यक) तत्व

सम्कृति म निम्नलिखित सारभूत तत्वा का समावेश होता है —

(१) यह मनुष्य निर्मित होता है और उन सब पदार्थों स भिन्न होता है जो प्रकृति की सृष्टि है तथा जिन पर कोई सशोधन नही कर सकता।

(२) इसम मानसिक उपजो का समावेश होता है जो अमूर्त और अपार्थिव है तथा जो मनुष्य के हाथा स निर्मित पार्थिव रूपा म भी प्रकट होते हैं। परन्तु सामा-

---

1 This (cultural realm) is the realm of values of style of emotional att chments of intellectual adventures Culture then is the antithesis of civilization It is the expression of our nature in our modes of living and thinking in our every day intercourse in art in literature in religion in recreation and enjoyment —MacIver & Page *op cit* p 499

2 Culture is a distinctive whole way of our life It is a collective ... of approach to our social life

जिक परम्परायें (समूह म पचलित नान, विचार, आस्थाय, मूल्य प्रमाण और भावनायें) ही सारभूत तत्व हैं।

(३) यह मरक्षणशील और सचयी है और नये तत्वा के समावेश से जटिलता और गुण दोनो म ही बढती रहती है।

(४) यह व्यक्ति से व्यक्ति समूह से समूह और पीढी से पीढी को मानसिक रूप स सचारित होती रहती है।

(५) यह केवल मानव समाजा म पाई जाती है। उनकी अतीत और वतमान परिस्थितियो और दशाओ म उपलब्ध विशिष्ट सफलताओ का समावेश सस्कृति म होता है।

सस्कृति की प्रकृति

सस्कृति या सामाजिक विरासत की कुछ अद्वितीय (विलक्षण अनूठी अपूव या अनोखी) विशेषतायें हाती हैं। इसम से महत्त्वपूण विशेषतायें इस प्रकार है —

(१) **सस्कृति एक सीखा हुआ गुण है**—यह मनुष्य की जविक सज्जा म नही होता अर्थात् कोई भी मनुष्य *"ज मजात सस्कृति"* अपने साथ नही लाता है। जन्म के पश्चात् समाजीकरण की विधा म व्यक्ति सामाजिक रूप स पाप्त जिन सामूहिक आदता को सीखता है वही सस्कृति है। मनुष्य मे प्रतीकात्मक सचार की योग्यता होती है जिससे वह अपन समान दूसरे व्यक्तियो की सस्कृति को सीखने के व्यवहार स प्राप्त कर लेता है।

(२) **सस्कृति सचारशील है**—यह सीखी तो जाती ही है इसको व्यक्ति से व्यक्ति और पीढी स पीढी सचारित भी किया जा सकता है। जानवरा मे सीखने की योग्यता तो हाती है पर वे अपने ज्ञान को अपनी सतान को सबहन से हस्तात रित नही कर सकते। मनुष्य पशुओ से इस बात मे बहुत श्रेष्ठ है। वह पूवगामी पीढ़ियो की सफलताओ पर अपना जीवन प्रासाद खडा कर सकता है। हर नई पीढी के मनुष्य को विवशतावश नय सिर स नही चलना पडता है। सचरण (या सचार) की विधा म सस्कृति अब स्थायी सी हो जाती है। यह भी मनुष्य के लिए बडे लाभ की बात है। उस किसी एक व्यक्ति या समूह पर ही निभर नहा रहना पडता।

(३) **सस्कृति सामाजिक है वयक्तिक नहीं**—सस्कृति का कुछ भाग हर व्यक्ति म होता है और हर व्यक्ति उसके सवद्ध न और सचार म कुछ न कुछ भाग लेता है परन्तु *सस्कृति व्यक्तिगत नहीं है। सस्कृति समूह के सदस्या की व सामान्य अपेक्षतायें* हैं जो आदर्शात्मक गुण वन जाती हैं। ये अपेक्षतायें अनुभव या आदता की उपज हैं। व्यक्ति समूह के बाहर रह कर किसी प्रकार की सस्कृति की सष्टि नही कर सकता। सस्कृति वस्तुत एक सामाजिक थाती है।

(४) **सस्कृति आदर्शात्मक होती है**—मरडोक ने लिखा है कि बहुत अधिक हद तक सस्कृति म जिन समूह आदता का समावश होता है वे व्यवहार के प्रतिमाना

अथवा आदर्श प्रमाण के रूप मे विचारगत होते हैं। इसका यह अर्थ है कि समूह के सदस्य संस्कृति को व्यवहार का वह आदर्श प्रतिमान मानते हैं जिसके अनुरूप ही उन्हे आचरण करना चाहिये। यद्यपि आदर्श और व्यवहार में बहुत काफी अन्तर रहता है फिर भी आदर्श की कल्पना तो सामान्यत रहती ही है। सभी वैयक्तिक आदतें संस्कृति में नहीं शामिल की जा सकती क्योंकि उनमें सामाजिक गुण का अभाव है। समाज के सदस्य यह भी साधारण रूप से जानते रहते हैं कि संस्कृति—आदर्श व्यवहारों या आदतों को समाज का अनुमोदन है और उनकी अवहेलना होते ही वे भर्त्सना या दण्ड के भागी होंगे।

(५) संस्कृति हमारी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करती है—हम पहले कह चुके हैं कि संस्कृति हमारी आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है जो दोनों प्रकार की—सामाजिक और नैतिक होती है। ये आवश्यकतायें ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति किसी अन्य उद्देश्य से नहीं वरन् उन्हीं के लिए की जाती है। संस्कृति का हर उपकरण और प्रतिमान किसी न किसी आन्तरिक या सामाजिक रूप में उत्पन्न प्रेरणा या इच्छा की पूर्ति करता है। हम जानते हैं कि मनुष्य की वही आदतें बनी रहती हैं जो उसकी किसी सबल इच्छा की पूर्ति करती हैं। संस्कृति में सामूहिक आदतों का समावेश होता है। ये सामूहिक आदतें भी तभी तक कायम रहती हैं जब तक वे समूह की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। अगर सामाजिक सन्तोष प्राप्त करने में कोई प्रतिमान या पूर्ण संस्कृति निरन्तर असमर्थ रहती है तो वह निश्चय ही गायब हो जाती है। सामाजिक विरासत का अस्तित्व तभी सम्भव है जब वह आंशिक या पूर्ण रूप से समूह की इच्छाओं की पूर्ति करने में समर्थ रहे।

(६) संस्कृति में उपयोजन करने की योग्यता होती है—इस विशेषता के दो अर्थ हैं—(१) संस्कृति में परिवर्तन होता रहता है और (२) इस परिवर्तन से संस्कृति का बाहर की शक्तियों से उपयोजन होता है। नगला या उत्तरी ध्रुव के निवासियों को प्रकृति की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी संस्कृति में परिवर्तन और संशोधन करने पड़ते हैं। यह संस्कृति के उपयोजन का सबसे अधिक प्रकट रूप है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति के विकास को निर्धारित करता है। वास्तव में सभी संस्कृतियाँ एक समान विकसित नहीं होती हैं। जो संस्कृति जितनी ही अधिक विकसित होगी उतना ही अधिक वह प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभाव से बाहर होगी। यदि कोई संस्कृति कम विकसित है तो अवश्य सब उसे प्राकृतिक पर्यावरण की आवश्यकताओं के अनुरूप उपयोजन करना पड़ेगा। दूसरे संस्कृति में स्वयं आन्तरिक उपयोजन होते रहना आवश्यक है। संस्कृति गत्यात्मक है। उसके विकास से उसके विभिन्न भागों या तत्वों का भी विकास होता है। यदि इसके कुछ पहलुओं में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है तो अन्य भागों या पहलुओं मे भी समकक्ष परिवर्तन अनिवार्य होता जाता है। संस्कृति की इस विशेषता

का सीधा परिणाम यह होता है कि मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों में सबसे अधिक उपयोजन शील है।

(७) संस्कृति में एकभूत होने का गुण है—संस्कृति के अनेक भाग या पहलू होते हैं। ये सब एक दूसरे से असबद्ध और अव्यवस्थित नही होते। वरन् सभी भाग परस्पर सम्बद्ध होते हैं। वे अन्तःआश्रित भी होते हैं और सब मिल कर एक योग्य और परस्पर सहयोगी व्यवस्था में बद्ध होते हैं। संस्कृति में क्रम है और यह एक संगठन है। जो भी नया तत्व संस्कृति में सम्मिलित होता है वह भी ऐसे नहीं जैसे कि वर्फ के गोले में तिनके, कंकड इत्यादि अनेक तत्व जो परस्पर बिल्कुल असबद्ध हैं। संस्कृति के सभी भागो अथवा निर्णायक भागों में चाहे वे नये हो अथवा पुराने, संयोग या दृढता की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है जो संस्कृति के विविध भागों को मिलाकर एक बहुत कुछ एकभूत सम्पूर्ण बना देती है। एक सरल और पृथक संस्कृति में एकभूत होने की विशेषता बडी स्पष्ट होती है क्योंकि इसमें बाहरी तत्व नही होते और निर्णायक तत्व शीघ्र परिवर्तित भी नही होते। हा अधिक विकसित और शीघ्रता से परिवर्तित होने वाली संस्कृतियो में बाहरी तत्व भी बहुत अधिक होते हैं और उनके निर्णायक तत्व भी अति शीघ्रता से बदलते हैं। हमारी आधुनिक संस्कृतियां ऐसी ही हैं। ये अन्तःनिर्भर और विजातीय होती है लेकिन इनकी निरन्तर शीघ्र परिवर्तन की विधा मे भी एकभूतता की प्रवृत्ति इनमें अवश्य दिखाई देगी। यदि इस केन्द्रगामी शक्ति का न्यूनतम अंश भी किसी संस्कृति मे न हो तो उसका अस्तित्व असम्भव है।

इन सब विशेषताओ के समझ लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति कोई दैवी शक्ति नही है जो मनुष्यो से जो इस धारण करते है स्वतन्त्र हो। यह तो मनुष्य की सृष्टि है और इसका निरन्तर अस्तित्व (जीवन) मनुष्यों द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। संस्कृति वस्तुत मनुष्य की एक उपज है लेकिन इसमें प्राण नही होते।

सामान्य और विशिष्ट संस्कृति

संसार में अनेक समाज हैं। इनमें प्रत्येक की अपनी संस्कृति होती है। चूँकि एक समाज की संस्कृति उसके जीवन का एक निराला ढंग है इसलिए विभिन्न समाजो की संस्कृतियो मे भेद होता है। अमरीका समाज की संस्कृति भारत की संस्कृति से भिन्न है। हां इन दोनो और अन्य संस्कृति के सार्वभौमिक तत्व बिल्कुल समान हैं। उनके ब्योरो में अन्तर है। एक राष्ट्र की संस्कृति जैसे भारतीय संस्कृति, में अनेक उप-संस्कृतियां होती हैं। ये समुदाय, क्षेत्र या नगरीय और ग्रामीण आधार पर होती हैं। हिन्दू और मुसलमान दो समुदाय हैं। इनकी संस्कृतियां भिन्न भिन्न हैं। इसी प्रकार भारत के विभिन्न राज्यों की संस्कृतियां (शुद्ध प्रयोग 'उप संस्कृतियाँ' है) एक दूसरे से बहुत कुछ पृथक हैं। हमारे देश के ग्रामीण और नगरीय समुदायो की संस्कृति में भी अन्तर है। इसके अतिरिक्त बड़े-बडे नगरो में कई प्रकार की उप

संस्कृतियाँ मिलती हैं। धनिक व्यापारी वर्गों के मुहल्लों में जो उप-संस्कृति मिलती है वह उनसे पृथक् है जो प्रशासकीय कर्मचारियों की नियोजित बस्तियों या मिल मजदूरों की गन्दी बस्तियों में मिलती है।

किन्तु समाज की विभिन्न संस्कृतियाँ या राष्ट्र या एक नगर की उप-संस्कृतियाँ हर बात में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं हैं। पर्याप्त बातों अथवा पहलुओं में इतने भेद होते हुए भी उनमें सबसे प्रधान तत्व सार्वभौमिक रूप से विद्यमान हैं। जैसे परिवार, राज्य या धर्म तो सबमें पाया जाता है। हाँ इनके रूपों में अन्तर कम या अधिक हो सकता है। आगे हम संस्कृतियों की समरूपता और अनेकरूपता पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

जब हम किन्हीं विशिष्ट संस्कृतियों रोमन, अंग्रेजी, द्रविड़, मिस्री, भारतीय या सिघानी का जिक्र करते हैं तो विशिष्ट संस्कृतियों से अभिप्राय होता है। लेकिन जब विशिष्ट संस्कृतियों का नाम न लेकर 'मानव संस्कृति' का वर्णन या विश्लेषण करते हैं तो सामान्य संस्कृति से अभिप्राय होता है। सामान्य संस्कृति विशिष्ट देश काल या परिस्थिति से बंधी नहीं होती है।

एक विशिष्ट संस्कृति अमुक समाज या राष्ट्र की सामाजिक विरासत होती है। वह दूसरी संस्कृतियों से भिन्न और अद्वितीय होती है। सामान्य संस्कृति सम्पूर्ण मनुष्य समाज की सामाजिक विरासत है। वास्तव में, समाजशास्त्र की अध्ययन सुविधा के लिए इन दो धारणाओं का प्रयोग किया गया है। सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए ऐसा करना नितान्त आवश्यक है। समाजशास्त्री दोनों प्रकार की संस्कृतियों का सामान्य अध्ययन करता है और जहाँ-कहीं किसी विशिष्ट समाज को समझने की आवश्यकता होती है वहाँ उसकी संस्कृति का ब्यौरेवार अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। मनुष्य और उसके समाज को समझने के लिए दोनों प्रकार का अध्ययन अनिवार्य है।

सांस्कृतिक समरूपता और अनेकरूपता

जिन लोगों ने संसार की यात्रा की है वे कहते हैं कि सभी समाज एक दूसरे से भिन्न हैं। भारत में ही बंगाल तथा पंजाब के निवासियों में खान-पीन, वेश-भूषा, रहन-सहन के ढंग और प्रथाओं, परम्पराओं एवं संस्थाओं में इतना अन्तर है कि दोनों प्रदेशों के लोगों को हम सरलता से भिन्न कह सकते हैं। ये दोनों प्रदेश तो भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से पृथक् हैं। वे लोग भी जो एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहते हैं उनमें भी विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमान पाये जाते हैं।

लेकिन जब हम लोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान या मध्य प्रदेश के निवासी बंगालियों या आसामियों के बीच में जाकर रहते हैं उन लोगों के भिन्न जीवन ढंग में अपने को अजनबी पाते हैं। कभी-कभी हम उन लोगों से मिलने-जुलने का प्रयास भी करते हैं और कई बार इसमें इतने सफल होते हैं कि हम कह उठते हैं कि उनकी

संस्कृति को हमने समझ लिया है। पर वास्तविकता यह है कि बाहरी लोग दूसरे लोगों की संस्कृति का अवलोकन कर उसका बखूबी पूरी तरीके से नहीं जान पाते। उन्हें उस संस्कृति के अल्पन अवलोकन का ही अवसर मिलता है। इसका कारण यह है कि उनकी निजी भाषा है और स्वयं के आदर्श, विश्वास और पूर्व निर्णय हैं जो दूसरे लोगों की भाषा, आदर्शों, विश्वासों और पूर्व निर्णयों से भिन्न होते हैं। हमारे देश में आने वाले पर्यटक जब यहाँ से वापस लौट जाते हैं तो हमारी संस्कृति की वे जो धारणा बनाते हैं वह बहुत कुछ छिछली और वक्र या अशुद्ध हो सकती है। दूसरे की संस्कृति को हम १० साल वहाँ रह कर भी पूर्णतया नहीं पहचान सकते। दूसरे की संस्कृति का सभी कुछ जानने का शायद एकमात्र उपाय यह है कि आप उन्हीं की संस्कृति को अपना लें। संस्कृतियों को भली भाँति समझना और फिर उनके बीच में तुलना करना आवश्यक है। परन्तु यह ऐसे योग्य ज्ञान के आधार पर होना चाहिए जो गम्भीर गवेषणा, आलोचना और अन्य वैज्ञानिक विधियों द्वारा एकत्र किया गया हो। संस्कृतियों के बारे में संकुचित ज्ञान के आधार पर कुछ कहना खतरनाक है।

संस्कृतियों की तुलना

विभिन्न संस्कृतियों की परस्पर तुलना विज्ञान के हित में है। इससे साधारण यात्रियों तथा विचित्रता की खोज करने वालों द्वारा गढ़ी हुई अजीब गरीब कहानियों का खोखलापन प्रकट हो गया है। विज्ञान ने संस्कृतियों के बारे में यथार्थ ज्ञान प्रस्तुत करने में बहुत उन्नति की है। संस्कृतियों की तुलना करने से उनकी अनेकरूपता का सही निरूपण होने की आशा है। इससे तीन केन्द्रीय प्रश्नों का उत्तर सम्भवतः मिल सकेगा

(१) *संस्कृतियों में अनेकरूपता कितनी चौड़ी है ?*

(२) *इस अनेकरूपता का क्या कारण है ? और*

(३) *क्या इस अनेकरूपता में भी संस्कृतियों में कुछ समरूपतायें भी विद्यमान हैं ?*

संस्कृतियों में अनेकरूपता

विवाह और परिवार

संसार के सभी समुदायों में स्त्री पुरुष रहते हैं। उनमें यौन-सम्बन्ध होता है और वे एक ही जनिक विधि से सन्तान उत्पन्न करते हैं। विवाह और परिवार तो सभी समाजों में सामान्यतः पाये जाते हैं। पर इन आधारभूत संस्थाओं में भी समय, *स्थान और परिस्थिति के अनुसार अनेकरूपतायें पाई जाती हैं।* परिवार की रचना को लीजिए। अमरीका, भारत, रूस, इंगलैण्ड आदि सभ्य देशों में एक विवाही परिवार पाया जाता है। इसके विरुद्ध कुछ आदिम और आधुनिक समाजों में बहु विवाह प्रथा पाई जाती है। हिन्दुस्तान के मध्य प्रदेश के हिन्दुओं में बहुभार्या (बहुपत्नी) व्यवस्था

है। उत्तर प्रदेश के थारू लोगों म बहुपति प्रथा पाई जाती है। प्राय सभी विभिन्न देशों म पितृसत्तात्मक परिवार प्रचलित है। किन्तु मलाबार के टोडा मे मातृसत्तात्मक परिवार प्रचलित है। मुसलमानों और ईसाइयो म तलाक सामाजिक रूप से वैध है किन्तु हिन्दुओं म विवाह विच्छेद या तलाक को एसी कोई वधता प्राप्त नहीं थी। सामाजिक कानून बनाकर यहा भी अब विवाह विच्छेद वध है। कुछ मानव शास्त्रियो न कहा है कि कहीं-कहीं आदिवासियों म यूथ विवाह का रिवाज है। आजकल कुछ नगरो या गावो म सीमित यौन-सम्बन्ध स्वच्छन्दता अवश्य पाई जाती है।

हमारे समाज म कुंवारी कन्या स ही विवाह हो सकता है। विवाह के पूव उसका लज्जा का अपहरण या मा बन जाना घोर पातक माना जाता है। किन्तु कुछ समाजो म उसी स्त्री को गृहणी योग्य समझते हैं जो एक दो बच्चो की मा बन गई हो। सम्भवत यह इसलिए करते हैं कि उसकी वध्यता (बाझपन) का पता चल जाए। वर-वधू के चुनाव म अन्य तरीके से विभिन्न प्रथायें प्रचलित हैं। पश्चिमी समाजो म विवाह क पूव कोर्टशिप की अवधि होती है जिसम भावी वर-वधू का यौन सम्बन्ध सम्भोग कर लेना भी अवाछित नहीं माना जाता। इसी तरह इन समाजो म विवाह क पूव की गलतियो को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। भारत म यह सब सुन कर ही हम घृणा होने लगती है। यहा हिन्दू और मुसलमानो मे विवाह क पूव कम स कम लडकी का पवित्र रहना अनिवाय माना जाता है।

वर वधू के चुनाव का क्षेत्र भी विभिन्न समाजो म भिन्न होता है। समूह क भीतर (अर्थात् उसी समूह के दूसरे सदस्य स) विवाह करना और समूह बाहर क विवाह प्राय सभी सभ्य समाजो म प्रचलित हैं किन्तु इन दोनो प्रकार की प्रथाओ का रूप भिन्न भिन्न है।

खान-पान

विभिन्न संस्कृतियो म खान पान के बारे म अत्यधिक विभिन्नता है। हिन्दुओ म शाकाहारी और मासाहारी दोनो पाये जाते हैं। शाकाहारी अपने भोजन को सात्विक और भक्ष्य कहते हैं और मास को राक्षसो का भोजन बताते हैं। मासाहारी मास भक्षण नतिक ही नहीं पुण्य काय मानते हैं। आसाम के कुछ लोग साप, गिरगिट छिपकली, चूहे आदि को बडे शौक से खाते है। सुना है त्रिवाकुर कोचीन के बहुत से व्यापारी अमरीका को समुद्री मटको का मास वहा के निवासियो के भोजन के लिय भजते हैं। नको की कच्ची जाति सडी लकडी को रुचि स खाती है। हिन्दू गाय का मास खाना अधार्मिक और सुअर का मास खाना उचित समझता है। मुसलमान ठीक इसकी उल्टी धारणा रखते हैं। पश्चिमी अमजेनिया के इसाजपुरा कबीले के लोग दूसर क सर क जुएं भी खा जाते हैं और बर और मधुमक्खी की इल्ली (larvae) को दो शौक स खाते हैं पर इन चिडिया के अडो से घृणा है।

यह तो रहा भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न। खाने पीने का समय तरीके आदि सभी तो विभिन्नता लिये हुए होते हैं।

धार्मिक अनेकरूपता

धार्मिक विश्वासों और अभ्यासों में भी भिन्नता पाई जाती है। आदिवासी पेड़ों, पार्थिव पदार्थों और जानवरों की पूजा करते हैं। इसको टोटम पूजा कहते हैं। कहीं (हिन्दुओं में) पत्थर की मूर्तियों की पूजा होती है तो कहीं मुसलमानों और ईसाइयों में बुत परस्ती (मूर्तिपूजा) को नीचता और मूर्खता माना जाता है। अर्थात् हरेक संस्कृति में देवी-देवताओं का रूप और संख्या भिन्न होते हैं। भारत में सभी प्रकार के देवता हैं और अब शायद इनकी संख्या ४० करोड़ हो गई है। पूजा और आराधना के ढंग, स्थान, समय और उपकरण भी विभिन्न हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो धर्म में साधना, नृत्य, उपवास, भोज देना, दया के काम, क्रूरता और नृशंसता, मौनधारण और भयानक चीख पुकार, यौन बहिष्कार और पवित्र वेश्यागमन, सहिष्णुता और अन्य धर्मों की घृणा आदि अनेक अनेकरूपताएँ पाई जाती हैं। किन्हीं दो प्रधान धर्मों के विभिन्न पहलुओं की तुलना कर डालिये। यह कथन सत्य निकलेगा। मनुष्य ने अपनी आविष्कारक बुद्धि से अनेक धर्मों की स्थापना की है। इस बुद्धि की कोई सीमा नहीं है। इसी प्रकार उसने विभिन्न विश्वासों और अभ्यासों की जो व्याख्याएँ की हैं उनका भी अन्त नहीं है।

शासन प्रणालियाँ

हर देश में शासन-कार्य चलाने के लिए सरकार होती है। इसका निर्माण देश में संविधान के आधार पर होता है। विभिन्न देशों के संविधानों में भेद होते हैं या तो आधारभूत या मामूली। शासन प्रणालियों में भेदों को जानने से ज्ञात होता है कि आज भी ईरान, इराक, सऊदी अरब, कम्बोडिया, जार्डन, जापान और इंगलैण्ड में वंशानुगत राजतन्त्र है। हाँ, इस प्रकार के राजतन्त्र में कहीं तो राजा सर्वेसर्वा है और कहीं उसके अधिकार, विशेषाधिकार और शक्तियाँ बहुत सीमित हैं। जैसे ब्रिटेन का राजा केवल नाममात्र का है, जार्डन या ईरान का पूर्ण सत्ताधारी। जनतन्त्रीय शासन तो आधुनिक युग में अमरिका, फ्रांस, भारत, चीन, रूस आदि सभी सभ्य और विकसित देशों में पाया जाता है। पर जनतन्त्र भी कई प्रकार का होता है। फ्रांस, अमरिका, भारत और चीन में गणतन्त्र है। रूस के जनतंत्र को अधिनायकवादी राज्य कहा जाता है। फिर प्रजातान्त्रिक सरकार कहीं धनवानों के हाथ में है, कहीं किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधियों के हाथ में। तीसरे, प्रजातान्त्रिक सरकार संघात्मक, एकात्मक अथवा बहुजनीय हो सकती है। ब्रिटेन का प्रजातन्त्र दूसरे प्रकार का है। भारत और अमेरिका पहले प्रकार का और स्विटजरलैण्ड तीसरे प्रकार का। कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न देशों की शासन व्यवस्था, उसके विभिन्न अंगों का अधिकार क्षेत्र और पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न भिन्न हैं।

आर्थिक प्रणाली

सभी संस्कृतियों में लोग आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये रोजगार, उद्योग

अथवा कृषि या पशे करते हैं। परन्तु इन रोजगारों आदि की संख्या और रूप सभी संस्कृतियों में समान नहीं हैं। आर्थिक विचारों और मूल्यों में भी भिन्नता पाई जाती है। अमरीकी समाज बहुत अधिक प्रतियोगी है। वह सम्पदा के संग्रह में घोर तल्लीन है। यद्यपि संसार के अन्य देश भी अपनी निर्धनता दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं किन्तु वे अमरीका की भांति पार्थिवता के पुजारी नहीं हैं। बहुत से समाजों में पार्थिवता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को प्राथमिकता दी जाती है। कुछ संस्कृतियां ऐसी भी हैं जहां के लोग कड़ा परिश्रम करते हैं और न धन को बचाने को महत्वपूर्ण मानते हैं। वे केवल अपनी दैनिक आवश्यकताओं की संतुष्टि में ही सुखी रहते हैं। यदि किसी दिन उन्होंने आवश्यकता से अधिक कमा लिया तो जब तक उसे खत्म नहीं कर डालते वे काम नहीं करते हैं।

आधुनिक संस्कृति में मुनाफाखोरी को सभी जगह समान महत्व नहीं प्राप्त है। हां, बहुत से देशों में लाभ का कम करने का प्रयत्न स्वीकार किया जाता है। पर अन्य देशों में काम के प्रेरक लाभ की अपेक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा पारिवारिक जिम्मेदारी अथवा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा होते हैं।

इसी प्रकार हर संस्कृति में धनवानों को ही शक्ति और प्रतिष्ठा का पात्र नहीं माना जाता। बहुत से समाजों में निर्धन लोगों को धनवानों से कहीं अधिक प्रतिष्ठा मिलती है यदि वे (निर्धन) सच्चरित्र हैं और समाज सेवा में लगे हैं। कुछ ऐसी भी संस्कृतियां हैं जहां यदि कोई व्यक्ति अपने बिरादरी और पड़ोसियों को साल भर में दो दावतें दे दे तो उसे समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा मिलते हैं।

संसार में अनेक आर्थिक प्रणालियां मिलती हैं। रूस और पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद है। इंगलैण्ड फ्रांस कनाडा और अमरीका में पूंजीवाद है। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था है जो पूंजीवाद और साम्यवाद का सुखद मिलन माना जाता है। चीन भी साम्यवाद की ओर बढ़ रहा है। जर्मनी इटली स्वीडन और कुछ अन्य देश अपने को समाजवादी कहते हैं। फिर समाजवाद में भी अनेक विभिन्नताएं हैं।

निष्कर्ष में यह कहा सकते हैं कि भिन्न भिन्न समाजों में संस्कृति द्वारा अनुमोदित और सुदृढ़ अभ्यास विविधता भेद और विपर्ययों से भरपूर हैं। इनमें इतना अधिक अनवरूपता है फिर भी मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएं सभी जगह पूरी होती रहती हैं। एक विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति दो परस्पर विरोधी अभ्यासों या क्रियाओं से होती है। वे अभ्यास या व्यवहार प्रतिमान निरन्तर परिवर्तनशील होते हैं। परन्तु उनको करने वाले उनके प्रति वफादार होते हैं। वे उन्हें ही अपने लिए संतोष जनक मानते हैं।

संस्कृतियों की विविधता को समझ लेने से हम एक खतरे से बच जाते हैं। फिर भी हम दूसरी संस्कृति के बारे में दिखावटी धारणायें नहीं बना सकते।

क्या हर समाज के लिये उसके ढग सर्वोत्तम होते हैं ?

बहुधा यह सुनने में आता है कि हर समाज के ढग विद्यमान परिस्थितियों से उसके सर्वोत्तम समायोजन के द्योतक हैं। एक दृष्टिकोण से यह विचार सही है। समाज के ढग परिवर्तित होते रहते हैं और इनका सम्बन्ध सदैव समाज के ज्ञान, मूल्यों और विचारों से रहता है।

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी प्रथायें या अभ्यास होते हैं जो पक्षपात रहित दृष्टि से उसके लिये हानिकारक या अवांछित होते हैं। पश्चिमी देशों में प्रेम करने के तरीकों के साथ चुम्बन बहुत प्रचलित है। डाक्टरों ने इस रिवाज को स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद बताया है। चुम्बन से रोगों के कीटाणु दूसरे व्यक्ति में प्रवेश कर जाते हैं। परन्तु पाश्चात्य देशों ने इस तथ्य को जानते हुये भी अभी तक इस रिवाज को नहीं छोड़ा है। इससे हम अनिवार्य परिणाम पर पहुँचते हैं कि हर समाज में कुछ व्यवहार या रिवाज हानिकारक होते हुये भी इसलिए प्रचलित रहते हैं कि लोग अभी तक क्षमा करते रहे हैं और उनके साथ सामाजिक मूल्यों का विचार भी संलग्न है। हर अभ्यास व्यवहार अथवा प्रथा जो हमें बुरी लगे उसका विषयक अर्थनिर्णय नहीं करना चाहिए। यह करना गलत होगा। बहुत सी प्रथायें या अभ्यासों की उत्पत्ति हजारों वर्ष हो जाने पर भी अन्धकार में व्याप्त है। वे अवांछित होते हुए भी समाज के लिए शायद सर्वोत्तम हैं। हाँ स्वयं समाज उनमें परिवर्तन या संशोधन कर लेता है। प्रत्येक अभ्यास या प्रथा आदि साधारणतया कम या अधिक रूप से संस्कृति के शरीर में एक तदयुक्त स्थान प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें बदलने के लिये अन्य भागों में भी आवश्यक संशोधन करने पड़ेंगे।

संस्कृतियों में समरूपतायें

आइए संस्कृतियों में कुछ समरूपताओं की खोज करें। क्लार्क विसलर ने आदिम समाजों की संस्कृति में सार्वभौमिक उपकरणों को नौ सूचियों में विभाजित किया — (१) वाणी (२) पार्थिव उपकरण पदार्थ और तत्सम्बन्धी व्यवसाय (३) कलायें (४) पुराण और वैज्ञानिक ज्ञान (५) धार्मिक अभ्यास (६) परिवार और सामाजिक व्यवस्था (७) संपत्ति (८) सरकार और (९) युद्ध।[1] विसलर कहता है कि यह सार्वभौमिक प्रतिमान सभी संस्कृतियों में विद्यमान हैं। आधुनिक समाजों में भी ये न्यूनतम प्रतिमान अवश्य मिलते हैं।

यदि 'सार्वभौमिक' शब्द का बिल्कुल सीमित अर्थ लिया जाय तो संसार की संस्कृतियों में सार्वभौमिक अभ्यास कदापि नहीं मिल सकते। किन्तु फिर भी भिन्न संस्कृतियों के अनेक अभ्यास और विचार समरूप हैं और उन्हें लगभग सार्वभौमिक कहा जा सकता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि कुछ प्राचीन समाजों में बड़ी विचित्र

1 Clark Wissler *Man and Culture* p 74

प्रथाएँ प्रचलित थीं। कुछ समाजों में पिता और पुत्री का विवाह हो जाता था। मिस्र में भाई बहिन का विवाह राजघराना में प्रचलित था। परन्तु आज संसार के किसी समाज में भी भाई-बहिन या पिता पुत्री का विवाह नहीं होता। ये सम्बन्ध अवांछित ही नहीं स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और अनैतिक माने जाते हैं। हर समाज में यह नियम है कि सहोदरा तथा निकट रुधिर सम्बन्धियों में परस्पर यौन-सम्बन्ध या विवाह नहीं हो सकता। इस प्रकार के निषेधों को incest taboos कहा जाता है। ये निषेध तो प्राय सार्वभौमिक हैं। परन्तु रुधिर के निकट सम्बन्धों के बारे में विभिन्न समाजों में भिन्न भिन्न विचार हैं। हिन्दुओं में परस्पर विवाह नहीं हो सकता किन्तु मुसलमानों में यह सम्बन्ध वैध है। अमरीका के कुछ प्रदेशों में भी यह प्रचलित है। दूसरा निकट-सार्वभौमिक प्रत्यय एक विवाह की संस्था है। संसार के सभी सभ्य समाजों में इसे आदर्श माना जाता है। परन्तु इनमें बहुत से समाजों में बहु विवाह के दोनों प्रकार—बहुपति और बहुपत्नी प्रथा भी प्रचलित हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी सभ्य समाजों में एक विवाह को एक सामान्य नियम माना जाने लगा है।

इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियों के आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक कलात्मक क्षेत्रों में परिवार और विवाह के समान ही निकट-सार्वभौमिकतायें पायी जाती हैं। आर्थिक और राजनीति के क्षेत्र में आज जनतन्त्रीय और समाजवादी विश्वास, आस्था और प्रत्यय प्राय सार्वभौमिक रूप में पाए जाते हैं। इसी प्रकार मानववाद का प्रसार हो रहा है और धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का ह्रास हो रहा है।

सांस्कृतिक सदृश्यताओं की एक सूची बनाना तो सम्भव न होगा पर यदि यह बन सके तो बड़ी लाभयुक्त होगी। विभिन्न संस्कृतियों में जो सामान्य प्रतिमान मिलते हैं वे निम्नलिखित हैं [1]

(१) भाषा—लिखित भाषा का होना आवश्यक नहीं।
(२) परिवार और विवाह।
(३) आयु, लिंग के आधार पर भेद और विभिन्न आयु और लिंग के लोगों के लिए भिन्न भिन्न व्यवहार प्रतिमान।
(४) श्रम व्यवस्था—खाने, बनाने, सम्पत्ति अधिकार, आर्थिक स्वार्थों के विचारों, विनिमयों और अन्यताओं के प्रतिमान।
(५) शासन व्यवस्था—आन्तरिक दृढ़ता, शान्ति और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिए साधारणतया एक राज प्रणाली होती है।
(६) धर्म—हर समाज में पवित्र के बारे में विचारों और व्यवहारों के प्रतिमान होते हैं। पूजा-पाठ के ढंग, मन्दिर-मस्जिद, पुजारी और पुरोहित आदि सभी देशों में पाये जाते हैं।

---

1 J F Cuber *Sociology* p 91

(७) ज्ञान—हर देश में ज्ञान की व्यवस्था होती है जो पुराण एवं वैज्ञानिक ज्ञान में विभक्त होती है।

(८) मनोरंजन तथा क्रीडा के लिये संस्थायें और अभ्यास।

(९) कला—जीवन की परिस्थितियों से चित्रण तथा पदार्थों की सृष्टि करने के लिये अनुपयोगी क्रियाएं हर समाज में होती हैं।

सांस्कृतिक अनेकरूपता के कारण

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे भी संस्कृतियों की अनेकरूपता के कारणों के बारे में मिथ्या धारणाएँ प्रचलित हैं। बहुत से लोग भौगोलिक दशाओं अथवा नस्ल (प्रजाति) की भिन्नता से सांस्कृतिक अनेकरूपता की व्याख्या करते हैं। सातवें अध्याय में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि यद्यपि भौगोलिक दशाएँ, जलवायु प्राकृतिक साधन [प्रकोप आदि संस्कृति के कलेवर को कुछ अंशो में सीमित और निषिद्ध कर सकते है तथापि मनुष्य अपने ज्ञान और तन्त्र से इन सीमाओं और निषेधों का बहुत अधिक अंश तक सीमित कर देता है। भूगोल सांस्कृतिक विविधता के उदय के लिये किसी प्रकार से भी एक कारण नहीं मानी जा सकती। यही बात नस्ल के संस्कृति पर प्रभाव के बारे में सत्य है। नीग्रो सभी जातियों अथवा मंगोल हरेक की संस्कृति में अनेक विविधताएं पाई जाती है। परन्तु एक ही प्रकार के विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिमान को विभिन्न प्रजातियों में पाया जाता है। इसलिये सांस्कृतिक विविधता को जन्म देने वाले कारण प्राकृतिक दशाएं अथवा नस्ल की श्रेष्ठता या हीनता नहीं हो सकते।

वास्तविक कारण

(१) मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं भोजन यौन क्रिया और रक्षा, की पूर्ति के अनेक तरीके हैं इनमें से भिन्न भिन्न तरीके अपनाये जा सकते हैं।

(२) समाजों के भौगोलिक पर्यावरण में भी भिन्नता है।

(३) मनुष्य समस्या-समाधान करने वाला प्राणी है। इसलिए वह सदैव अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नए-नए तरीके आविष्कार करता रहता है। मनुष्य संस्कृति के निर्माण में निश्चेष्ट पात्र नहीं है जैसा कि ऐतिहासिक घटना सिद्धान्त स्वीकार करता है।[1]

---

1 J F Cuber *Sociology* p 97

संस्कृति का संगठन और विकास

पार्थिव और अपार्थिव संस्कृति[1]

मनुष्य ने प्रकृति के साधनों और शक्तियों का परिवर्तन और नियन्त्रण करके जिन पदार्थों को बनाया है उन्हें पार्थिव संस्कृति में समावेश किया जाता है। औजार, गहने, मकान, परिवहन और संचार के साधन जैसे वायुयान, रेल, मोटर, तार और रेडियो, प्रेस आदि सभी पार्थिव संस्कृति के भाग हैं। आदि काल से ही मनुष्य इनके भण्डार में वृद्धि करता रहा है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। इन पार्थिव पदार्थों का कोई उपयोग नहीं यदि इनके उपयोग की क्षमता मनुष्य में न हो। शारीरिक एवं मानसिक योग्यता तथा कुशलता, इन वस्तुओं की उपयोगिता का ज्ञान, इनके निर्माण का विज्ञान—ये भी संस्कृति के भाग हैं। मनुष्य की यह भी सामाजिक विरासत है। संस्कृति के इस भाग को अपार्थिव संस्कृति कहते हैं।

इसलिए संस्कृति के ये दो प्रधान अंग हैं। पार्थिव संस्कृति में उन सभी औजारों का समावेश होता है जिन्हें मनुष्य अपने जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र और मकान की पूर्ति के लिए करता है। अपार्थिव संस्कृति में मनुष्य की आदतों (जनरीतियों और रूढ़ियों), आस्थाओं और मान्यताओं का समावेश होता है जिनका विकास मनुष्यों के सामूहिक रूप से रहने और काम करने में होता है। भाषा, विवाह के रूप, सम्पत्ति, आर्थिक रचनायें और संस्थायें, धर्म, क्रीड़ा, संगीत, शिष्टाचार, पर्व, प्रथायें और इसी प्रकार के प्रतिष्ठित व्यवहारों के उपकरण जो मनुष्य समाज में विकसित होते हैं अपार्थिव संस्कृति के भाग हैं।

पार्थिव संस्कृति का आधुनिक युग में अत्यधिक मशीनीकरण हो गया है। इसी मशीनीकृत पार्थिव संस्कृति को आधुनिक सभ्यता कहा जाता है।

पार्थिव एवं अपार्थिव संस्कृति का उपयोग अधिकतर साथ-साथ होता है। मोटर और उसे चलाने की कुशलता से ही मोटर चल सकती है। एक के बिना दूसरे का उपयोग नहीं हो सकता। इसी तरह शासन प्रणालियों के चलाने में पार्थिव और अपार्थिव संस्कृति का सहयोग अटल है। किन्तु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अपार्थिव संस्कृति पार्थिव से पूर्वगामी है। विचार ज्ञान से ही वस्तु बनती है। गगनचुम्बी प्रासाद पार्थिव पदार्थ है। स्त्रियों का मताधिकार अपार्थिव अन्वेषण है। पर दोनों ही एक दृष्टिकोण से समान हैं। दोनों ही मनुष्य की समस्याओं का समाधान करने के प्रयास की उपज हैं। अर्थात् दोनों मनुष्य के मस्तिष्क की उत्पत्ति हैं।"[2] किन्तु समाज के अस्तित्व के लिए पार्थिव वस्तुओं की अपेक्षा उनके निर्माण के ज्ञान का

---

1 इसके लिए 'भौतिक' और 'अभौतिक' संस्कृति का प्रयोग भी कई पुस्तकों में किया गया है।

2 J F Cuber op cit., p 119

बनाये रखना अधिक आवश्यक है।[1] आज यदि संसार की सारी पार्थिव वस्तुएं नष्ट हो जाय तो मनुष्य अपने ज्ञान विज्ञान के सहारे उनका पुनर्निर्माण कर सकता है। किन्तु यदि उसका ज्ञान विज्ञान ही समूल नष्ट हो जाय तो पार्थिव संस्कृति समाज के लिए बेकार (व्यर्थ) सिद्ध होगी।

संस्कृति एक सम्पूर्ण व्यवस्था होती है। इसके दोनों पहलुओं—पार्थिव और अपार्थिव में अन्त सम्बन्ध और अन्त निर्भरता होती है। यदि एक में परिवर्तन हो तो शेष संस्कृति में भी तदनुरूप संशोधन या समायोजन करना अविकल आवश्यकता हो जाती है। एक भाग में विकास होने पर दूसरे का विकास भी अनिवार्य हो जाता है। दोनों के विकास की गति में बहुत अधिक अन्तर बहुत समय तक नहीं रह सकता।[2]

संस्कृति के विभिन्न भागों मे अन्त सम्बन्ध

पीछे बराबर यह बात दोहराई गई है कि संस्कृति एक जटिल सम्पूर्ण है। अब तो हमने इसके पार्थिव और अपार्थिव पहलुओं की ओर अभी संकेत किया है परन्तु स्मरण रहे कि संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण रूप मनुष्यों के मस्तिष्कों में विद्यमान हैं। संस्कृति के इस सम्पूर्ण निर्मायक भागों की संक्षिप्त विवेचना भी यहां कर लेना लाभदायक होगा। अपने विवेचन में हम संस्कृति के निर्मायक भागों की प्रकृति उनके परस्पर सम्बन्ध और फिर उनके तथा सम्पूर्ण संस्कृति के सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे।

उपकरण

संस्कृति की सबसे छोटी इकाई उपकरण होता है। यह सबसे सरल तत्व है। सरल और अविकसित संस्कृतियों में इन उपकरणों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। इसके विपरीत जटिल और उन्नत संस्कृतियों में इनकी संख्या अगणित हो सकती है। सामाजिक विरासत की ज्यों ज्यों उन्नति होती जाती है उसमें नये उपकरण जुड़ते जाते हैं। उपकरण पार्थिव और अपार्थिव दोनों प्रकार के होते हैं। एक कील जूते का फीता फाउन्टेन पेन, सभा भवन वाली अखबार बटन और कुर्सी पार्थिव उपकरण के उदाहरण है। इसी प्रकार एक प्रथा संस्कार, पर्व या परम्परा रूढ़ि या प्रविधि रीति अपार्थिव उपकरण हैं। अधिकांश पार्थिव उपकरणों के साथ कोई न कोई प्रथा प्रविधि या व्यवहार क्रम संलग्न होता है। मनुष्य के जीवन यापन के लिए दोनों प्रकार के उपकरण अनिवार्य हैं। कोई भी उपकरण स्वतन्त्र नहीं रहता। दूसरे उपकरणों के साथ रहकर ही वह सार्थक होता है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि किसी संस्कृति के लघुतम उप विभाजन को

---

1 La Pierre op cit p 69

2 संस्कृति की वृद्धि और विकास में 'सांस्कृतिक विलम्ब' को देखिये।

उपकरण कहते हैं अर्थात् उपकरण का पुन विभाजन असम्भव है। एक संस्कृति उपकरण के विशाल संचय, संगठन और एकीकरण से बनती है।

विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में जो भिन्नता दिखायी देती है वह उपकरणों की कम या अधिक संख्या तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध में विविधता के कारण है।

प्रत्येक उपकरण की उत्पत्ति और विकास का निजी इतिहास होता है। विशिष्ट उपकरण एक समाज या काल में उत्पन्न होकर दूसरे समाज या काल में चल जा सकते हैं अर्थात् उपकरण गतिशील होते हैं। वे संस्कृतियों में घूमा करते हैं। कुछ उपकरण दूसरी संस्कृतियों में शीघ्रता और सरलता से अपना लिये जाते हैं और कुछ को अपनाने में विलम्ब और कठिनता होती है। कोई भी उपकरण सदैव अपने मौलिक रूप में नहीं स्थिर रहता। उसमें परिवर्तन अथवा संशोधन होना स्वाभाविक है।

जटिल या संयुक्त

संस्कृति के विभिन्न उपकरण एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं रहते हैं और संस्कृति उपकरणों का समूह मात्र भी नहीं है। वस्तुत यह अन्योन्याश्रित सांस्कृतिक उपकरणों की एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था की *उप-व्यवस्थाएं सांस्कृतिक संयुक्त कहे* जाते हैं। एक संयुक्त में कई उपकरण सम्मिलित रहते हैं जिनमें परस्पर कार्यात्मक या साधक सम्बन्ध रहता है। विवाह एक सांस्कृतिक संयुक्त है जिसमें संस्कार बारात दावतें आदि उपकरण हैं। इसी प्रकार हाकी का खेल एक संयुक्त है। इसके उपकरण हैं गेंद, एक विशेष प्रकार का स्टिक एक विशेष नाप का मैदान गोल के खम्भे और खेलने का एक विशिष्ट ढंग आदि। इसी प्रकार धर्म राजनीति या आर्थिक जीवन में सांस्कृतिक संयुक्त होते हैं। जब किसी प्रबल सांस्कृतिक उपकरण से अनेक अन्य *उपकरण आकर सम्बन्धित हो जाते हैं तो एक सांस्कृतिक संयुक्त बन जाता है। संयुक्त* में उपकरणों का पारस्परिक सम्बन्ध संस्कृति के प्रधान भागों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा निकटतर होता है।[1]

सांस्कृतिक उपकरणों और संयुक्तों में भेद करना कई बार कठिन हो जाता है किन्तु यह कठिनाई सरलता में दूर हो जायगी यदि पाठक यह याद रखें कि यदि संस्कृति के विचाराधीन भाग का उपविभाजन हो सके तो वह संयुक्त है और यदि नहीं तो उपकरण। यदि उपकरण का फिर विभाजन किया जायगा तो वह केवल अर्थहीन टुकड़ों में टूट जायगा।

उपकरणों और संयुक्त में परस्पर जो सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध संयुक्त और सम्पूर्ण संस्कृति में होता है। संस्कृति संयुक्तों का संश्लेष है। संयुक्तों का संस्कृति से पृथक या स्वतन्त्र रह कर कोई अर्थ नहीं होता है। विभिन्न संयुक्तों में अन्त सम्बन्ध

1 Ogburn & Nimkoff *op cit* p 25

श्रौर अन्त निर्भरता होती है। संयुक्तों के सामंजस्य (harmony) से ही संस्कृति बनती है।

प्रतिमान

संस्कृति के भिन्न भिन्न भागों के बीच अन्त सम्बन्ध से जो व्यवस्था बनती है उसे सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।[1] संस्कृति के हरेक प्रधान भाग को एक प्रतिमान कहा जाता है जैसे धार्मिक प्रतिमान परिवार का प्रतिमान अथवा आर्थिक प्रतिमान। यह प्रतिमान शब्द का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है। सांस्कृतिक प्रतिमान में सम्मिलित सभी उपकरणों और संयुक्तों में परस्पर कार्यात्मक सम्बन्ध होता है और वे सभी किसी केन्द्रीय स्वार्थ या हित से संलग्न होते हैं। प्रतिमान की सार्थकता तभी तक है जब तक वह इस केन्द्रीय हित से सम्बद्ध रहे या उसकी पूर्ति का सफल ढंग रहे।

हर संस्कृति या उप संस्कृति में प्रतिमानों की एक व्यवस्था होती है। यह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करती है और उनमें न्यूनतम एकरूपता को निश्चित कर देती है। प्रतिमानों के आधार में अनुमान्य होते हैं जो जनरीतियों, रूढ़ियों या सामूहिक अपेक्षाओं के रूप से निष्पन्न होते हैं। मनुष्यों के किसी केन्द्रीय हित से सम्बद्ध व्यवहारों में अचेतन अथवा चेतन नियमितता का ही दूसरा नाम प्रतिमान है।

ये प्रतिमान अमूर्त होते हैं और किसी समूह के सदस्यों के मस्तिष्क अथवा आत्मा की रचना में रहते हैं। व्यक्ति जब समूह के सामान्य प्रेरणा में नियमित आचरण करने लगते हैं तो प्रतिमान दृश्य होते हैं। परन्तु यह दृश्यता भिन्न भिन्न मात्रा की होती है। किसी क्षेत्र में बहुत कठोर प्रतिमान होता है और किसी में कम कठोर या बहुत शिथिल।

सांस्कृतिक प्रतिमानों का कार्य मनुष्यों के व्यवहारों अथवा पारस्परिक सम्बन्धों का प्रमाणीकरण करना है। यह प्रमाणीकरण कम या अधिक मात्रा में और औपचारिक अथवा अनौपचारिक होता है। आदिम समाजों में व्यवहारों का प्रमाणित करने में मौखिक आज्ञा या इच्छा अथवा प्रत्यक्ष उदाहरण काफी होते हैं। आधुनिक विशाल आकृतिहीन (mass) समाजों (अमरीका रूस) में व्यवहारों में नियमितता सचार के उन्नत साधनों के द्वारा होती है। यहाँ प्रतिमान बहुत जटिल और विजातीय होते हैं।

इन प्रतिमानों का विकास दोनों अनियोजित और सुनियोजित ढंगों से होता है। समाजवादी (साम्यवादी) समाजों में सांस्कृतिक प्रतिमानों की विशेषता यह है कि वे समूह के लोगों के आचरण और विश्वास आदि में कठोर एकरूपता लाने में

---

1 cf Ruth Benedict *Patterns of Culture* (London 1935)

2 Shapel [illegible] having no distinct shape

समय होते हैं। चाहे जिस दृष्टिकोण से विचारें एक प्रतिमान बड़ी संस्कृति की कार्यरत इकाई है।[1]

प्रतिमानों का संस्कृति में केन्द्रीय महत्त्व है। एक विशिष्ट समाज की सम्पूर्ण संस्कृति के समस्त प्रतिमान को सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिमान या राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रतिमान कह सकते हैं यदि वह समाज एक राष्ट्र भी है। हर राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिमान अद्वितीय होता है। जैसे, भारतीय संस्कृति में तत्वों व एवं संगठन का समावेश है जो दूसरे राष्ट्रों की संस्कृति के तत्वों व संगठन से तुलना करने पर भिन्नता प्रदान होगा। मानव कल्याण के लिए कौनसा राष्ट्रीय संस्कृति प्रतिमान अधिक वांछित है यह नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रतिमान में समाविष्ट वैयक्तिक प्रतिमानों में एक निश्चित संयोग होता है। इससे ऐतिहासिक निरन्तरता होती है।

संस्कृति के विभिन्न भागों का परस्पर सम्बन्ध है। उनमें से प्रत्येक के कार्य और अस्तित्व दूसरों के कार्य और अस्तित्व से स्वतन्त्र नहीं हैं। जिसे हम संस्कृति कहते हैं वह उपकरणों, संयुक्तों और प्रतिमानों की एकता है। इन सबके परस्पर सम्बन्ध तथा अन्योन्याश्रयता से एक विशाल संगठन बनता है। इसे ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियाँ संगठित अथवा एकभूत होती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हर संस्कृति का प्रत्येक अकेला पद-उपकरण, संयुक्त अथवा प्रतिमान-सार्थी सजन साफ और निश्चित रूप से एकभूत होता है। वास्तव में इस व्यवस्था में कई असंगत तत्व पड़े रहते हैं और पूर्ण एकीकरण एक आदर्श है यथार्थ नहीं। इस आदर्श की प्राप्ति की ओर प्रवृत्ति अवश्य होती है। सामान्य रूप से हर संस्कृति में न्यूनतम आवश्यकता से तो अधिक एकीकरण होता है।[2]

विशिष्ट संस्कृति की सामान्य प्रकृति

एक विशिष्ट संस्कृति की वैयक्तिकता दर्शाने वाले उसके मुख्य उपकरणों से उसकी सामान्य प्रकृति मालूम होती है। अर्थात् एक संस्कृति की सामान्य प्रकृति उन मुख्य उपकरणों में प्रकट होती है जो उसकी (संस्कृति) की वैयक्तिकता के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए अमरीकी संस्कृति की मुख्य विशेषताएं हैं अति उन्नत प्रौद्योगिकी वित्तीय सफलता का सर्वश्रेष्ठ महत्व उच्च जीवन स्तर, दौड़ती जीवन गति मानवतावादी दान जनतन्त्र में विश्वास और सार्वभौमिक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा। भारतीय संस्कृति का भी अपना विशिष्ट स्वभाव है। इसकी सामान्य प्रकृति की द्योतक ये विशेषतायें हैं —

१. उन्नत प्रौद्योगिकी, आध्यात्मिक नैतिक सफलता का सर्वश्रेष्ठ महत्त्व

1 Merril & Eldredge op cit p 32.
2 cf For details Merrill & Eldredge op cit p 14

निम्न जीवन स्तर उच्च विचार और सरल जीवन, शिथिल जीवन आध्यात्मवादी दर्शन, जनतन्त्र में विश्वास होने पर भी वंशानुगत विषमता अथवा दैवी कृपा पर असीम श्रद्धा, समन्वयात्मकता धार्मिक उदारता और अतिविविधता में भी एकता। इसी प्रकार हर संस्कृति की सामान्य प्रकृति दूसरी की सामान्य प्रकृति से भिन्न होती है। परन्तु इस भेद को कुछ शब्द समूहों से दर्शाना नितांत कठिन कार्य है।[1] सांस्कृतिक प्रतिमान और संस्कृति की सामान्य प्रवृत्ति में बहुत भेद है। प्रथम में सम्पूर्ण संस्कृति का एक चित्र उपस्थित हो जाता है।

संस्कृति की उन्नति

यह हमारा दुर्भाग्य है कि अभी तक विज्ञान ने यह निश्चित रूप से हमें नहीं बता पाया है कि संस्कृति की उत्पत्ति कहाँ कब और कैसे हुई? फिर भी विज्ञान ने प्रारम्भिक संस्कृति से उपलब्ध कुछ एम साक्ष्य हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं जिनसे प्रागैतिहासिक जातियों की जनरीतियों आदि से सम्बन्धित हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं। हाँ इन निष्कर्षों तक पहुँचने में हमें अत्यधिक सावधानी (caution) रखना पड़ेगा।

पुरातत्वशास्त्रज्ञ कहते हैं कि मानव संस्कृति के आदि चिह्न लगभग दस लाख वर्ष ईसा पूर्व प्रकट हुए थे। इस आदि संस्कृति के उपलब्ध औजार वास्तव में बिल्कुल भद्दे हैं। इनमें से कुछ कटे हुए पत्थर के औजार हैं जो शायद लकड़ी काटने या चीरने के लिये उपयोग किये जाते हों। इसके पश्चात् इस बड़ी अवधि (१० लाख वर्ष ईसा पूर्व से लेकर आज तक) के आधे भाग तक मनुष्य इन औजारों में बहुत अधिक संशोधन न कर पाया। जो भी परिवर्तन हुआ होगा उसके बारे में साक्ष्यों के अभाव में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

लगभग १ लाख वर्ष ईसा पूर्व पत्थर के औजारों के अतिरिक्त हड्डी के भी कुछ औजार बने। इनमें कुछ दक्षता मिलती है जो लगातार बढ़ती ही गई। एक बात मार्के की है कि इन औजारों में सजावट के लिये कुछ खुदाई भी है। कुछ अन्य साक्ष्य भी मिलते हैं जो इस समय की पार्थिव संस्कृति में अनुपयोगितावादी कारीगरी और अभिरुचि का संकेत देते हैं।

७५ हजार से लेकर १४ हजार वर्ष ईसा पूर्व की अवधि में संस्कृतियों में अधिक तीव्रता से उन्नति हुई प्रतीत होती है। इस अवधि के अन्त तक लोगों में मृतकों को दफनाने की रिवाज चल पड़ी थी। खोहों के अन्दर लोग रहते थे और पत्थर और हड्डियों के औजारों के अतिरिक्त लकड़ी के अस्त्र भी बनाने लगे थे। इस युग में कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी बनी जो आज पहचानी जा सकती हैं। दस हजार वर्ष ईसा पूर्व

1 Ogburn & Nimkoff op cit p. 56

तक मानव संस्कृति मे अनेक पार्थिव और अपार्थिव तत्व, जैसे पालतू कृषि-जानवर और मिट्टी के बर्तन आदि मिलने लगे थे।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार मानव संस्कृतियो के विकास की निम्नलिखित अवस्थाये रही हैं —

1	Pleistocene or Great Ice Age	10 00 000 B C
2	Paleolithic Period	8 00 000 to 6 00 000 B C
	Lower Paleolithic Age	6 00 000 to 25 000 B C
	Upper Paleolithic Age	25 000 to 8 000 B C
3	Mesolithic Period	8,000 to 3 000 B C
4	Neolithic Period	3 000 to 1800 B C

और नव-पाषाण युग (Neolithic Age) से आधुनिक युग (Modern Age) तक की अवधि को सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से इस प्रकार विभाजित किया गया है —

(अ) नवपाषाण युग (Neolithic Age)
(आ) पाषाण युग (Stone Age)
(इ) कांस्य युग (Bronze Age)
(ई) लौह युग (Iron Age)
(उ) कोयला युग (Coal Age)
(ऊ) परमाणु युग (Atomic Age)

हमे लिखित इतिहास ईसा से केवल ५००० वर्ष पूर्व तक ही उपलब्ध है। इसलिये ईसा से ५००० वर्ष पूर्व की अवधि को पूर्व-ऐतिहासिक काल कहा जाता है। प्राचीन सभ्यताओ (संस्कृतियो) जैसे भारत, मिस्र, चीन, रोम बेबीलोन असीरिया, यूनान आदि का काल भी ईसा से ५००० वर्ष पूर्व तक का ही है। कहा जाता है कि लिखित इतिहास और सभ्यता का जन्म साथ-साथ हुआ। अतएव सभ्यता की उत्पत्ति आज से लगभग ७००० वर्ष पूर्व मानी जा सकती है। आधुनिक सभ्यता प्राचीन सभ्यताओ की उत्तराधिकारिणी है।

इस वर्णन से हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि (१) आज से ३०० वर्ष पूर्व तक संस्कृतियो मे परिवर्तन की गति बहुत धीमी रही है और (२) पाश्चात्य

सभ्यता का जन्म प्रधान संस्कृतियों में सब से बाद में हुआ है। अरब और अफ्रीका की एवं भूमध्यसागरीय और प्राच्य (oriental) संस्कृतियाँ जब बहुत अधिक उन्नत हो चुकी थीं तब तक यूरोप के लोग आदिम और असभ्य अवस्था में ही थे। जब यूरोप के निवासी रीछों की खाल पहनते थे कच्चा मांस खाते थे और भद्दे (crude) झोंपड़ों में रहते थे तो उस समय चीन भारत और मिस्र आदि के नागरिक विशाल प्रासादों में रहते थे और भौतिक जीवन में ही नहीं अभौतिक (आध्यात्मिक) जीवन में बहुत अधिक उन्नत थे।

सांस्कृतिक उन्नति का स्वभाव

मानवशास्त्रियों ने संस्कृति की उन्नति के इतिहास का अध्ययन कर निम्न लिखित महत्वपूर्ण तथ्य सकलित किए हैं —

(१) कि संस्कृति का इतिहास एक निरंतर विधा (continuous process) है जिसमें अनेक उत्थान-पतन (vicissitudes) आये हैं। परन्तु फिर भी यह एक क्रमिक उन्नति (progression) है जो प्रागैतिहासिक धुंधले युग में जाकर समाप्त होता है

(२) कि संस्कृति मनुष्य ने स्वयं निर्मित की है और वही उसकी क्षमताओं और सीमाओं के लिये उत्तरदायी है

(३) कि संस्कृति में शाश्वतकाल से परिवर्तन होते रहे हैं

(४) कि संस्कृति के निर्माण और संचार में सभी नस्लों (human races) का योगदान (contribution) है। हाँ, आदि-सभ्यता में भूमध्यसागरीय काकेशियन और नीग्रोयड नस्लों के लोगों द्वारा आविष्कृत तत्व सम्मिलित थे और

(५) कि संस्कृति के अधिकांश भागों की वृद्धि स्वतन्त्र आविष्कार बुद्धि के प्रयोग का परिणाम नहीं है इसके अनेक महत्वपूर्ण भाग सामूहिक प्राप्तियाँ (collective achievements) का परिणाम है।[1]

सांस्कृतिक वृद्धि और परिवर्तन

संस्कृति की वृद्धि (growth) उसके उपकरणों की वृद्धि पर निर्भर है। ज्यों ज्यों संस्कृति में नवीन उपकरण आकर समाते जायेंगे त्यों-त्यों वह बढ़ती जायगी। किन्तु संस्कृति की वृद्धि उपकरणों के साधारण संचय से नहीं होती। उसमें तो चुने हुए नये उपकरण सम्मिलित होते रहते हैं और बहुत से प्राचीन उपकरण निकल कर पृथक होते रहते हैं। अर्थात् संस्कृति में उपकरणों के चुने हुए योग और परित्याग से वृद्धि होती है। मनुष्य की संस्कृति की वृद्धि उस संचय से नहीं हुई जैसे कि बरफ का एक गेंद बनाकर यदि पहाड़ के नीचे लुढ़का दिया जाय तो लुढ़कते-लुढ़कते उसका

1 Merrill & Eldredge *op cit* p 2?

आकार विशाल हो जायगा। उसमे करीब-करीब हर चीज लिपट जायगी जो रास्ते मे पडेगी। इस प्रकार लुढकन के साथ क्रमश उसकी गति मे वृद्धि होती जायगी। संस्कृति मे निरन्तर नये उपकरणो या संयुक्तो का समावेश होता रहता है। जैसे-जैसे मनुष्य को नये और अच्छे उपकरण अथवा संयुक्त मिलते जाते हैं वैसे ही पुराने और कम लाभदायी उपकरण आदि संस्कृति से पृथक होकर नष्ट होते जाते हैं। नष्ट हो जाने वाले तत्वो की संख्या प्रवेश करने वाले तत्वो की अपेक्षा बहुत कम होती है।[1]

संस्कृति मे वृद्धि अटकलपच्चू नही होती। यह साधारणत चुनी हुई होती है। एक समाज के लोगो के सामने अनेक विकल्प अथवा चुनाव रहते हैं। अपनी तात्कालिक परिस्थितियो तथा मानसिक दशा के अनुरूप वे उनमे से कुछ को चुन लेते हैं और शेष को छोड देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि संस्कृति की वृद्धि का वही सिद्धान्त (principle) है जो अन्य वस्तुओ की वृद्धि का।

संस्कृति वृद्धि के सिद्धान्त

संस्कृति की वृद्धि के बारे मे विद्वानो ने दो प्रकार के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है —

(१) कि प्रत्येक संस्कृति दूसरी संस्कृतियो से स्वतन्त्र है और उसका जन्म और विकास बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से हुए हैं।

(२) कि संस्कृति के प्रमुख उपकरण एक ही स्थान पर पैदा हुए हैं और प्रसार के साथ वे दूसरे उपकरणो से मिल गए हैं जिनसे नई संस्कृतियो का जन्म हुआ है।

(१) पहले प्रकार की विचारधारा को संस्कृति के विकासवाद की संज्ञा दी जाती है। विकासवादी मानते हैं कि संस्कृति के उपकरणो के पारस्परिक मेल (संयोग) एव परिचालन को महत्व नही देना चाहिए। संस्कृतियो मे जो समानता दिखाई देती है वह प्रधानत उनके समान विकास के कारण है। १६वी शती के विकासवादी सिद्धान्त से प्रभावित मर्कलेनान, मोरगन, टायलर, हैडन आदि मानवशास्त्रियो ने संस्कृति के विकासवादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उनका विचार था कि मनुष्य का सर्वत्र मानसिक विकास एक ही प्रकार से हुआ है। इसलिये विभिन्न संस्कृतियो मे अनेक सामान्य उपकरण उपलब्ध होना स्वाभाविक है। विभिन्न संस्कृतियो मे एक ही प्रकार के उपकरणो या संस्थाओ मे यदि कोई विभिन्नताएँ हैं तो वे पर्यावरण का परिणाम हैं। मोरगन ने लिखा है कि संसार की समस्त जातियाँ जगलीपन बर्बरता और सभ्यता की सीढियो से क्रमश होकर गुजरी हैं। सारी सामाजिक संस्थाये मनुष्य के कुछ प्रारम्भिक विचारो के बीज से उत्पन्न हुई हैं। ज्यो-ज्यो मनुष्य ने यान्त्रिक उन्नति की है उसने प्राकृतिक पर्यावरण का नियन्त्रण करने वाले अनेक सफल साधन प्राप्त

1 Ogburn & Nimkoff *op cit* p 518 19

कर लिए । यही तो उसकी संस्कृति के विकास की कुंजी रही है । भाषा ने मनुष्यों को पशुओं से बहुत श्रेष्ठ स्थिति में ला खड़ा किया । भाषा के द्वारा वह अपने ज्ञान एवं अनुभव को दूसरे व्यक्तियों तथा भावी पीढ़ियों को दे सका । इस विद्या से ही उसकी संस्कृति का दिना दिन विकास होता चला गया ।[1]

मर्फी लिखता है कि जिस प्रकार संसार के सभी मनुष्यों की शारीरिक रचना समान है उसी प्रकार उनका मस्तिष्क और उसकी कार्यशीलता, शक्ति और विचार सभी स्थानों में एक जैसे ही हैं । इसी कारण दो भिन्न भिन्न स्थानों पर उपकरणों की एक सी खोज सम्भव है । इसी कारण से विभिन्न जातियों में टोटम अन्तर्जातीय विवाह तथा बहुत से अन्य रीति रिवाज एक से मिलते हैं ।[2]

फ्रीमन ने भी विकासवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया । उसके लिये उसने विभिन्न जातियों में एकसी राजनैतिक संस्थाओं की उपस्थिति के साक्ष्य एकत्र किए । उसका विचार था कि दूर दूर के देशों में समान संस्थायें केवल इसलिये उत्पन्न होती है कि उनको बनाने वाली परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न समय और स्थानों में समान रूप से उत्पन्न हुई हैं ।[3]

उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विकासवादी सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक संस्कृति स्वतन्त्र है । उसका अपना जीवन है और स्वतन्त्र विकास हुआ है । यदि दो संस्कृतियों में कोई समानता दीखती है तो केवल इस कारण से कि उनको उत्पन्न करने वाली मनुष्य की बुद्धि और सामाजिक परिस्थितियों में साम्य है ।

इस सिद्धांत का अति सूक्ष्म विवेचन स्पेंगलर ने किया है । उसने संसार की समस्त संस्कृतियों को नौ वर्गों में विभाजित किया है । उसका मत है कि प्रत्येक संस्कृति का जीवन स्वतन्त्र होता है और उसका विकास और पर्यवसान भी अपने स्वतन्त्र रूप से । प्रत्येक संस्कृति में विशिष्ट लक्षण होते हैं और प्रत्येक का अपना भाग्य । प्रत्येक का जीवन काल लगभग १४०० से १६०० वर्ष होता है । प्रत्येक का जीवन बाल्य यौवन प्रौढ़ता और पतन अथवा मृत्यु की अवस्थाओं से इसी निश्चित क्रम से होकर गुजरता है । नई संस्कृति जन्म से पूर्व गर्भकाल में रहती है । इस काल की अवधि कभी-कभी कई शताब्दियों तक हो सकती है । किसी नई संस्कृति का अपनी आन्तरिक शक्तियों के कारण, बाह्य शक्तियों के कारण नहीं जन्म होता है जैसे मानव शिशु का जन्म । प्रत्येक संस्कृति की अपनी आत्मा अपनी विचार शक्ति और अपनी भावना होती है जो उसके प्रत्येक उपकरण अथवा संश्लिष्ट उपकरणों को स्फुरित करते रहते हैं ।[4]

---

1 H Morgan *Ancient Society* (1877)
2 Murphy *Primitive Man His Essential Quest* pp 8 9
3 Freeman *Comparative Politics* p 3
4 Herr Oswald Spengler *Decline of the West Introduction*

(२) सस्कृति का प्रसार सिद्धान्त—सस्कृति के विकासवादी सिद्धान्त को सस्कृति के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन से बडा धक्का लगा। जर्मन के मानव शास्त्री ग्रेबनर ने सस्कृति के प्रसार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि विभिन्न स्थानो मे एक ही प्रकार के सास्कृतिक उपकरणों की उपस्थिति केवल यही बतलाती है कि वे किसी एक ही स्थान से उद्भूत होकर अन्य स्थानो मे धीरे धीरे फैल गए। डाक्टर एलिएट स्मिथ अपनी दो पुस्तको मे यह विचार प्रस्तुत करता है कि ससार की समस्त सस्कृतियो के आवश्यक उपकरण केवल मिस्र मे नील घाटी से प्रारम्भ हुए। जब उनका बाहर के स्थानो मे प्रसार हुआ तो प्रसरण क्रिया मे उनमे से कुछ का रूप बदलता गया। इस प्रक्रिया से नई सस्कृतियाँ बन सकी किन्तु उन सबका उद्गम स्थल मिस्र ही था।

पेरी और रिवर्स महोदय ने इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत किये हैं। उनका मत है कि ससार के सास्कृतिक क्षेत्रो में आज जो लोग पाये जाते हैं वे वहा दूसरे भागो से आये हैं। इन क्षेत्रो की सस्कृति स्थानीय नही है वरन् उसकी उत्पत्ति वहाँ हुई थी जहाँ से लोग आकर बसे हैं। भिन्न भिन्न भौगोलिक पर्यावरणो और मानवीय समूहों के सम्पर्क मे आने से सस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहीं और नया-नया रूप धारण करती रही।

सक्षेप मे प्रसार सिद्धान्त कहता है कि (१) मनुष्य सस्कृति का अन्वेषक नही है। सस्कृति अनुकूल परिस्थितियो मे ही जन्मती है। ये परिस्थितियाँ सभी स्थानो पर नही मिल सकती। (२) ऐसी अनुकूल परिस्थितिया प्रारम्भ मे केवल मिस्र मे विद्यमान थी। उनमे सस्कृति का जन्म हुआ जिसका प्रसार अन्यत्र भी हो गया। (३) इस प्रसार के कारण, सभ्यता ज्यो-ज्यो केन्द्र से दूर गई त्यो-त्यो उसकी मौलिकता अशुद्ध होती गई। इसी कारण मिस्र से दूरस्थ देशो से गिरी हुई सभ्यता मिलती थी।

सिद्धान्तों की आलोचना

विकासवादी और प्रसार सिद्धान्तो मे से कोई अकेले सस्कृति मे वृद्धि और परिवर्तन की सतोषजनक व्याख्या नही कर पाता। दोनो अपने दृष्टिकोण को अति रंजित करने के दोषी हैं। फिर भी दोनो सिद्धान्तो मे कुछ न कुछ तथ्य है। ससार मे प्रत्येक सस्कृति के समस्त उपकरणो का जन्म और विकास प्रसार से हुआ है यह कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रसरण का सिद्धान्त केवल कुछ जटिल महत्वपूर्ण अन्वेषणो के बारे मे सत्य हो सकता है। छोटी छोटी खोजें या अन्वेषण सभी देशो मे होते रहे हैं। सस्कृति पर स्थानिक और भौगोलिक परिस्थितियो की छाप अवश्य लगी है।[1] आधुनिक सस्कृतियो मे हम उपकरणो का आदान प्रदान भी मिलता है और अपनी परिस्थिति के अनुकूल विकसित होने की प्रवृत्ति भी। यह सभी

1 D N Majumdar: *The Matrix of Indian Culture* Chapter I

जानते है कि आदिकाल से व्यापार, युद्ध, विजय और गुलामी की प्रथा से विभिन्न स्थानो के लोगो मे सम्पर्क होता रहा है। एक संस्कृति के उपकरण दूसरी के उपकरण से मिलते रहे हैं। अतएव, यह सोचना कि समस्त संस्कृतियो का उद्गम स्थल मिस्र की नील नदी की घाटी है अत्यन्त कोरी कल्पना है। प्रत्येक संस्कृति ने दूसरी संस्कृति से केवल उन्ही उपकरणो को चुना है जो उसके लिए अधिक लाभदायक थे और जो उसकी सामान्य प्रकृति से मेल खा सकते थे। यदि कही कोई उपकरण दूसरी संस्कृति पर बलपूर्वक लादे गये हैं तो या तो उन्हे कालान्तर मे निकाल फेंका गया है अथवा उनका रूप ही इस संस्कृति की आवश्यकतानुसार बदल गया है। इससे यह नही समझना चाहिए कि प्रत्येक संस्कृति के समस्त उपकरणो मे पूर्ण सामंजस्य या एकीकरण होता है। इस प्रकार की धारणा निराधार है। हर संस्कृति मे कुछ तत्व या उपकरण ऐसे होते हैं जो उसके प्रमुख तत्वो से मेल नही खाते है। परन्तु यह विजातीयता बहुत अधिक नही होती।

उपसंहार—संस्कृति या सभ्यता की वृद्धि मे आविष्कार या प्रसार किसका अधिक महत्व है यह व्यर्थ का विवाद है। जो लोग अपनी संस्कृति मे आविष्कार को अधिक महत्व देते हैं वह उनकी जाति केन्द्रियता की तीव्र इच्छा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह तो स्पष्ट है कि बिना आविष्कार के प्रसार नही हो सकता। किसी वस्तु का आविष्कार हो चुकने पर ही उसका प्रसार सम्भव है और यदि हमारी पूर्वज संस्कृतियो के उपकरणो का प्रसार न हुआ होता तो आज भी संसार के समाज शायद पाषाण युगीन जीवन बिता रहे होते। पृथक्ता जड़ता की सूचक है और सम्पर्क वृद्धि की। संस्कृति मे वृद्धि और संशोधन के कार्य मे आविष्कार और प्रसार की मूलभूत समानता है। उन्नत होने के लिए समाज मे आविष्कार और प्रसार दोनो ही अनिवार्य हैं। यदि संस्कृति के स्वतन्त्र प्रसरण मे कुछ बाधा पड़ती है तो समाज अवनत होने लगता है। मनुष्य के मस्तिष्क की समस्त उपजें—कलाओ से लेकर भौतिक विज्ञान तक उन्नति के लिए विनिमय की स्वतन्त्रता चाहती है।[1]

संस्कृति के विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया

आइए अब संस्कृति की वृद्धि की दोनो प्रक्रियाओ आविष्कार और प्रसार, का जिनका ऊपर संकेत किया गया है कुछ विस्तार से विश्लेषण करें।

(१) आविष्कार—आवश्यकता आविष्कार की जननी है। विद्यमान संस्कृति ही आविष्कारो की माँ होती है। आविष्कार की विधा का स्वभाव लगभग स्वतः चालित है। एक ही समय मे दो पृथक स्थानो पर स्वतन्त्र आविष्कार इसका

1. In order to develop society must promote both invention and diffusion When barriers are placed in the way of free diffusion of culture the group tends to retrogress The produ ts of the human mind from the arts to the physical sciences require freedom of exchange in order to develop —Merrill & Eldredge *op cit* p 105

साध्य है । ऑगबर्न ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल चेंज' में एक साथ होने वाले आविष्कारों की एक विशाल सूची दी है। आविष्कार से कोई नई वस्तु नहीं बन जाती जिसके अंगों या रूपों का संसार में कोई अस्तित्व न हो। आविष्कार वस्तुतः विद्यमान सांस्कृतिक उपकरणों का नवीन संयोग है । यही कारण है कि आविष्कारों की सम्भावनायें ज्यामितिक क्रम में बढ़ती हैं । इस सम्भावना को दर्शाने के लिए एक उदाहरण देखिये । एक संस्कृति (क) में तीन उपकरण (अ ब, स) ऐसे हैं जिनका संयोग हो सकता है तो आविष्कारों की सम्भावना इस प्रकार बढ़ेगी —

			सम्भाव्य आविष्कार
प्रथम अवस्था	अ, ब स,		
द्वितीय अवस्था	अ ब अ स, ब स, अ ब स	—	७
तृतीय अवस्था	(अ) (अ ब), (ब) (अ स), आदि,		१२७
चतुर्थ अवस्था—कुल योग	१७०, १४१ १८३ ४६० ४६६ २३१ ७३१, ६८७, ३०३, ७१५, ८८४, १०५ ७२७,		

प्रत्येक संस्कृति में साधारणतया पार्थिव आविष्कार अपेक्षतया अधिक संख्या में और सरल हो सकते हैं । परन्तु पार्थिव आविष्कार करने में हर बात सरल नहीं होती है । अपार्थिव आविष्कारों की समस्या बहुत कठिन होती है । रूस, इंगलैंड और अमरीका आदि औद्योगिक देशों में जबकि भौतिक क्षेत्र में नित नये आविष्कार होते रहते हैं । जितनी ही अधिक विकसित कोई संस्कृति होगी आविष्कार की उतनी ही अधिक सम्भावनाएँ उसमें होंगी ।

सामाजिक या सांस्कृतिक क्षेत्र में आविष्कार करने की समस्या बड़ी जटिल है । हर मनुष्य की (समाज-वैज्ञानिक समेत) अपनी संस्कृति में युक्त भावात्मक लिप्ति होती है । यहाँ वैज्ञानिक अभियान में जो लोगों की जाति-केन्द्रीयता बाधक होती है । फिर, समाज या संस्कृति में नियन्त्रित परीक्षण भी नहीं हो सकते । अतएव एक अपार्थिव आविष्कार जैसे एक नया धर्म परिवार व्यवस्था या शासन प्रणाली की सफलता अथवा असफलता पर अनेक नियन्त्रणशील एवं अनियन्त्रणशील कारकों का प्रभाव पड़ता है । संस्कृति में आविष्कार की समस्या इसलिये और भी जटिल हो जाती है कि यहाँ विषयक परीक्षा करना लगभग असम्भव है । तात्विक समस्याओं का समाधान स्वीकृत लक्ष्यों के आधार पर हो जाता है । जैसे हवाई जहाज की गति बढ़ाना नदी पर पुल बाँधना, कीटाणुओं का नाश करना, कोई अस्त्रशस्त्र बनाना अथवा किसी भयानक रोग की औषधि का निर्माण करना आदि सभी स्वीकृत लक्ष्य हो सकते हैं । उन्हें प्राप्त करने के लिए आविष्कार किये जाते हैं । परन्तु दूसरी ओर संस्कृति के क्या लक्ष्य हैं पहले तो इन्हीं पर बहुत मतभेद रहता है । फिर यदि आविष्कार करके इन लक्ष्यों की प्राप्ति की चेष्टा भी की जाय तो इसी में विवादास्पद उठ खड़ा होता है कि ये लक्ष्य पूरे होंगे या नहीं । सामाजिक आविष्कारों को नापने की इकाइयाँ, उनके

लक्ष्या, और प्राप्त किये जाने वाले मूल्या पर कभी-कभी एकमत नही हो पाता। इस प्रकार के मतभेद का साक्ष्य भारत की सामाजिक और सास्कृतिक समस्याओ के समाधान के लिये किए गये आविष्कारो (सामाजिक कानून आदि) या सम्भाव्य आविष्कारो के बारे म हम लोगो मे परस्पर भारी मतभेद है। जनतन्त्रीय समाजवाद के, जिसे कांग्रेस ने सरकार और समाज का लक्ष्य माना है सम्भवत हमारे समाज म ही लाखो विरोधी हैं।

पार्थिव आविष्कारक को आज के युग म उच्च सम्मान और पारितोषिक मिलता है। परन्तु अपार्थिव आविष्कारक का बहुधा सशय घृणा और तिरस्कार से स्वागत हुआ है। जहां किसी मनुष्य न तात्कालिक समाज या सस्कृति के पवित्र सस्था प्रतिमान को दोषपूर्ण या व्यथ बताया उसे घृणा, वैमनस्य, तिरस्कार और मृत्यु तक का उपहार मिल जाना निश्चित है। ससार की महाविभूतियो के जीवन इस तथ्य के उत्कट प्रमाण हैं।

किन्तु जब अर्वाचीन युग म तान्त्रिक आविष्कारो की धूम है तब सामाजिक आविष्कारो की आवश्यकता बढ रही है। यदि सस्कृति के पार्थिव और अपार्थिव भागो के विकास और परिवतन की दरो मे अधिक अन्तर होगा तो फिर सस्कृति का स्वस्थ और मगलमय विकास नही हो सकता।

मेरिल और एल्डरिज ने लिखा है कि अपार्थिव आविष्कारो का निर्धारण (१) सास्कृतिक लक्ष्यो (२) प्राकृतिक शक्तियो (३) परिवतन की ओर लोगो के रुख, और (४) सास्कृतिक सयोग से होता है।[1]

ऑगबन और निमकाफ लिखते है कि पार्थिव आविष्कारो से अपार्थिव आविष्कारो के लिये प्रोत्साहन मिलता है और अपार्थिव से पार्थिव आविष्कारो को।[2]

निरन्तरता का नियम

सस्कृति की वृद्धि को समझने के लिये इस नियम को पूरी तरह से जान लेना लाभदायक होगा। यह नियम बताता है कि सस्कृति म निरन्तर वृद्धि होती है। हर नया सास्कृतिक उपकरण विद्यमान उपकरणो से उत्पन्न होता है। हर आविष्कार एक विकासशील क्रिया का परिणाम है।[3] पुरानी कहावत है कि विश्व म कोई भी वस्तु नवीन नही है। सामाजिक अथवा सास्कृतिक समस्याओ के अध्ययन की ऐतिहासिक रीति को इस नियम से बडी पुष्टि मिलती है। किसी भी सामाजिक समस्या को समझने के लिए उसके इतिहास को ज्ञात करना चाहिए और भविष्य म जो कुछ होगा वह विद्यमान दशाओ की ही वृद्धि होगी। अतएव विकासवादी उन्नति म

1 Merrill & Eldredge *op cit* pp. 112 13
2 Ogburn & Nimkoff *Handbook of Sociology* Chap XXIV
3 Every new culture trait is the outgrowth of existing culture traits Every invention is the result of an evolutionary process *Ibid* p 520

आविष्कार एक सीढ़ी (step) है। हर आविष्कारक आदि काल से चली आई मानव जाति के कन्धों पर खड़े हो कर कोई आविष्कार करता है। न्यूटन ने कहा था कि यदि मैं अधिक दूर तक देखता हूँ तो इस कारण से कि मैं महाकाय कन्धों पर खड़ा हूँ।[1]

अपर निषेचन का नियम

आविष्कारों का ज्ञात वस्तुओं से ही विकास होता है। इस कथन की पुष्टि इस नियम से होती है। जब दो संस्कृतियों के लोग परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो उनमें विचारों, आदर्शों, मूल्यों अथवा पार्थिव उपकरणों का आदान प्रदान होता है। इस विनिमय से ऐसी स्थिति पैदा होती है जिससे दोनों संस्कृतियों को लाभ होता है। दोनों में नवीनता और ताजगी आती है। उनकी कूप मण्डूकता कम या नष्ट हो जाती है। अतएव, किसी भी संस्कृति के सभी आविष्कार बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं होते। उनमें से अधिकांश उस संस्कृति और अन्य संस्कृतियों के उपकरणों में अपरनिषेचन का परिणाम होते हैं।

प्रसार—प्रसार संस्कृति की वृद्धि की दूसरी प्रक्रिया है। जब संस्कृति के पार्थिव अथवा अपार्थिव तत्व (या उपकरण) उसी समाज में या उससे बाहर अन्य समाजों में फैल जाते हैं तो इस घटना को प्रसार कहा जाता है अर्थात् जब किसी सांस्कृतिक उपकरण का आविष्कार हो जाता है तो पहले वह उसी समाज में और फिर दूसरे समाजों में भौगोलिक रूप से फैल जाता है।[2] मेरिल और एल्डरिज प्रसरण की प्रकृति की विवेचना करते हुए लिखते हैं —

The classic analogy of the expanding concentric circles produced by dropping a pebble in a pond is, however too simple to explain this process Culture does not diffuse in tidy circles at an equal rate of speed and in a homogeneous medium According to this explanation there should be one central point of origin from which these innovations would spread Presumably the oldest traits would then have the widest distribution and the newest the most restricted

अर्थात् संस्कृति का प्रसार वैसे ही होता है जैसे उन लहरों का जो पोखर में एक पत्थर डालने पर उठती हैं और केन्द्र से धीरे धीरे किनारों की ओर वृत्तों के रूप में फैलती जाती हैं। ... इस व्याख्या के अनुसार, सभी आविष्कारों का जन्म एक केन्द्र पर होता है। वहीं से वे चारों ओर फैलते हैं। इसका अर्थ तो यह होगा कि सबसे पुराने आविष्कारों का विस्तार सबसे अधिक और सबसे नवीन आविष्कारों का सबसे कम। यह व्याख्या सन्देहास्पद है।

---

1 If I saw farther it was because I stood on giant shoulders. —Newton

2 Merrill Eldredge *op cit.*, pp 105 & 113

इन विद्वानों का मत है, जो सत्य प्रतीत होता है कि संस्कृति के प्रसार में बहुत बार ऐसा होता है कि उसके उपकरण कूद कर दूर जाकर फैलते हैं, और बीच का सारा स्थान अप्रभावित छोड़ देते हैं जैसे मेढक कूद-कूद कर चलता है।[1]

सांस्कृतिक प्रसार में सबसे अधिक सहायक तत्व विभिन्न जातियों में सम्पर्क और विचारों का आदान प्रदान है। इसमें बाधा डालने वाले तत्व भौगोलिक और राजनैतिक प्राचीरें हैं। *प्रसरण के एजेंट विविध हैं जैसे व्यापार युद्ध युद्धबंदी,* अन्त जातीय, या अन्त देशीय विवाह, कूटनीतिक, साहित्य, यात्री विश्वविद्यालय, समाचार-पत्र, सिनेमा, रेडियो टेलीविजन आदि। एकान्तता संस्कृति के प्रसार में बाधक है।

प्रसरण की प्रक्रिया में काम करने वाले कुछ मुख्य नियमों को समझ लेना यहाँ असंगत न होगा। ये नियम इस प्रकार हैं—(१) अनुकूलन का नियम, (२) पारस्परिक सांस्कृतिक विनिमय का नियम, और (३) सात्मीकरण का नियम।

(१) अनुकूलन का नियम

जब बाहरी संस्कृति का कोई उपकरण हमारी संस्कृति में प्रवेश करता है तो हम उसका विरोध करते हैं और यदि बहुत आकर्षण हुआ तो खुला विरोध तो नहीं करते वरन् उसके प्रति सशंकित रहते हैं। इस प्रकार विद्यमान संस्कृति में किसी नवीन तत्व का प्रवेश सन्देह घृणा या विरोध की दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु यदि वह उपकरण बहुत प्रबल है, बहुत आकर्षक है अथवा दूसरे लोग उसे स्वीकार करने को हमें विवश कर देते हैं तो धीरे धीरे हमारी प्रारम्भ की मनोवृत्ति बदल *जाती है। जीवन की परिवर्तित दशाओं में उसको अपनाने के लिए तद्रूप आदतों* और रुचों का हममें विकास हो जाता है। वह उपकरण धीरे धीरे हमारी संस्कृति में समा जाता है।

(२) पारस्परिक संस्कृति विनिमय का नियम

जब विभिन्न समूह, वर्ग या समाज दीर्घकाल तक सम्पर्क में रहते हैं तो वे एक दूसरे की संस्कृति के बाहर से उपकरणों को अपना लेते हैं। पारस्परिक सांस्कृतिक विनिमय उन समस्त रीतियों को कहते हैं जिसमें व्यक्ति या समूह नये सांस्कृतिक उपकरणों को अपनाकर उन्हें अपने जीवन-ढंग में ढाल लेते हैं। यह तब ही होता है जब एक संस्कृति में पले हुए व्यक्ति दूसरी संस्कृति में जाकर रहने पर उसके व्यवहार प्रतिमानों को अपना लेते हैं।

(३) सात्मीकरण का नियम

जब लोग या समूह दूसरे समाज या लोगों की स्मृतियों भावनाओं परम्पराओं और रुचों में उसी प्रकार से भागी हो जाते हैं जैसे दूसरे समाज के लोग तो वे उन

---

1 The leap frogging or dissemination at a distance is a well known phenomenon of diffusion of culture

लोगों के साथ एक सामान्य संस्कृति में घुल मिल जाते हैं। जैसे नीग्रो लोगों ने श्वेत अमरीकी निवासियों की संस्कृति में अपने को डुबो दिया है। आत्मीकरण की क्रिया बहुत धीरे-धीरे और अंशों में कार्य करती है। पूर्ण आत्मीकरण बहुत क्रमिक रूप में होता है।

सांस्कृतिक वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक

संस्कृति की वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारकों में सामाजिक संगठन, भौगोलिक पर्यावरण, तान्त्रिक और वैज्ञानिक उन्नति प्रधान हैं। चूँकि ये कारक सदैव एक से नहीं रहते इसलिए उनका प्रभाव कम या अधिक पड़ता रहता है। आधुनिक समाजों की संस्कृति की वृद्धि को प्रभावित करने में ज्ञान विज्ञान और प्रौद्योगिकी का सबसे अधिक महत्व है। सब समाजों की संस्कृति में वृद्धि की दर समान नहीं होती है।

सांस्कृतिक वृद्धि या परिवर्तन की दर

समाज के विकास के साथ संस्कृति की वृद्धि की गति की दर में भी साधारण वृद्धि होता। आज से २०० वर्ष पूर्व संस्कृति की वृद्धि की दर जो थी उससे कहीं अधिक आज है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि संस्कृति वृद्धि की दर में अधिकता का कारण मनुष्य की मानसिक योग्यता में वृद्धि है और मानसिक योग्यता का मनुष्य की जैविक क्षमता पर प्रभाव माना जाता था। यह विचार भ्रमात्मक है। हो सकता है मनुष्य की जैविक मानसिक क्षमता में कुछ वृद्धि हुई हो परन्तु वह इतनी नहीं है कि उसी को आज के युग में संस्कृति की वृद्धि की अत्यधिक दर का मुख्य कारण मान लिया जाय।

संस्कृति में वृद्धि आविष्कार और प्रसार से होती है। आविष्कृत उपकरणों का ही प्रसार सम्भव है। आविष्कार की दर तथा विद्यमान ज्ञान में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यदि विद्यमान ज्ञान का कलेवर बढ़ेगा तो आविष्कार की दर में वृद्धि भी हो सकती है। इतिहास इस बात का साक्षी है। आधुनिक युग में ज्ञान विज्ञान की बहुत उन्नति हो गई है। यही कारण है कि आए दिन आविष्कारों की संख्या बढ़ती जाती है।

व्याख्यात्मक सिद्धान्त

संस्कृति की वृद्धि के तथ्यों से यह बात परिपुष्ट होती है कि एक पुरानी पार्थिव संस्कृति के विद्यमान संचय और एक समय पर किये गये यान्त्रिक आविष्कारों की संख्या में निश्चयात्मक पारस्परिक सम्बन्ध है। जैसे-जैसे संस्कृति उपकरणों का संचय बढ़ता जाता है वैसे-वैसे नव आविष्कार और खोजें होते जाते हैं जिनसे विद्यमान ज्ञान का भण्डार भी शीघ्रता से बढ़ता जाता है। यह गति सदैव अधिकतर होती रहती है जिसमें कि संस्कृति के संचय में अधिक तीव्रता आती है ज्यों-ज्यों ज्ञान का भण्डार अधिक और अधिक समृद्ध होता है। संस्कृति की वृद्धि की इसी सामान्य प्रवृत्ति को

आगबन व्याख्यात्मक सिद्धान्त कहता है।[1] इस नियम से किसी विशिष्ट स्थानिय क्षेत्र की संस्कृति की वृद्धि की व्याख्या उतनी सही अथवा सन्तापप्रद नही हो सकती जितनी कि सम्पूर्ण संसार की संस्कृति की वृद्धि की।

संस्कृति की वृद्धि की प्रकृति अनियमित होती है। एक संस्कृति के सभी भागो मे वृद्धि की दर अवश्य ही समान नही हो सकती। इसी प्रकार एक ही अवधि मे दो संस्कृतियो की वृद्धि की दर या दो अवधियो मे एक विशिष्ट संस्कृति की वृद्धि की दर निश्चय ही असमान होती है। अर्थात् संस्कृति की वृद्धि कभी धीरे धीरे होती है और कभी बडी शीघ्रता से। इसके दो कारण हैं। प्रथम, आविष्कारो का प्रसरण अनियमित ढग से होता है। द्वितीय, सभी आविष्कार समान महत्व के नही होते। असमान महत्व के आविष्कारो का स्वागत भी असमान उत्साह से होता है। हम पूर्व ही यह सकेत कर चुके हैं कि उपयोगी पार्थिव आविष्कारो का स्वागत बहुत अधिक उत्साह से होता है। किन्तु अपार्थिव आविष्कारो या नवीनताओ के प्रति सामान्यत सदेह घृणा, विरोध या हिचक होती है।

आधुनिक संस्कृतियो मे वृद्धि की दर बडी तीव्र है। इसका कारण वर्तमान ज्ञान विज्ञान का विशाल कलेवर और नित नई समस्याओ के समाधान के लिये नये आविष्कारो के करने की प्रेरणा है। परिवहन और सचार के साधनो मे अभूतपूर्व उन्नति हुई है। सारा संसार एक छोटा परिवार सा हो गया है। समय और दूरी को विज्ञान ने नगण्य कर दिया है। इन परिस्थितियो मे प्रसरण के अवसर विविध और व्यापक हो गये हैं। संक्षेप मे आधुनिक युग मे आविष्कारो के निर्माण, अत्यधिक तीव्र दर और प्रसरण के अनुकूल अवसर वर्तमान संस्कृति की अत्यधिक तीव्र दर के लिये उत्तरदायी हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण

संस्कृति मे परिवर्तन के कारण आविष्कार और प्रसार हैं। परन्तु एक अत्यधिक प्रचलित पुराण है जिसमे सांस्कृतिक परिवर्तन पर कुछ महान् व्यक्तियो के आविष्कार अथवा नवीन पद्धति के प्रभाव को सर्वाधिक माना जाता है। सांस्कृतिक परिवर्तन के कारणो से सम्बद्ध यह निरा थोथा विचार है। किसी विशिष्ट आविष्कार का सम्पूर्ण श्रेय एक महान् विभूति को ही देना भारी गलती है। यहाँ उन तथ्यो को भुला दिया जाता है जो आविष्कर्त्ता और संस्कृति मे आविष्कार के समा

1 The facts of the growth of culture conform to the general theory that a positive co relation exists between the number of mechanical inventions made at any given time and the size of the existing accumulation of old material culture As the accumulation become larger more discoveries were made and the stock of existing knowledge piled up faster The speed seems to have been accelerated so that the movement become faster and faster as the knowledge got large and large —William F Ogburn *Social Change* quoted in Ogburn & Nimkoff *op cit* p 579

मिनन दोना के कारण हैं। हमे यह न भूलना चाहिए (१) एक आविष्कर्ता को विशिष्ट आविष्कार करने का पूरा श्रेय नहीं है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है। आवश्यकताएँ किसी एक व्यक्ति के सामन बिल्कुल नवीन नहा हाती। उन्हें दूसरे लाग भी अनुभव करते हैं। इसलिए एक आवश्यकता (या समस्या) के समाधान के लिए बहुत से लोग एक साथ (पृथक-पृथक) प्रयत्न करत रहत हैं। प्राय सभी कुछ न कुछ उपाय ढूँढ निकालत हैं। इन सब ढगा म जो सर्वोत्तम हाना है उसी तरीके को आविष्कार की श्रेणी में रखा जाता है। इस सर्वोत्तम तरीके पर स्पष्टतया शेष सब तरीका का प्रभाव पडा है।

(२) आविष्कार का मनुष्य के अस्तित्व में सजीव भाग तभी हा सकता है जब समाज उसे स्वीकार कर ल।

(३) सभी आविष्कार अपने पूर्वगामी ज्ञान और विद्यमान प्रविधियों से बहुत कुछ लेते हैं। उनके ज्ञान मूल्याकन को भी समाज में जनप्रियता पर निर्भर रहना पडता है। इन दो कारणों से वास्तविक आविष्कारा के पूर्व ही उन्हें प्रत्याशित कर लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध हो गया है कि विभिन्न समयों पर कई व्यक्तियों ने स्वतन्त्र रूप से एक ही आविष्कार किया।

उपरोक्त विवेचन से हमारा अभिप्राय आविष्कारक की महत्ता को नगण्य करना नहीं है। हम यह दिखाना अभीष्ट है कि यह विश्वास भ्रमात्मक है कि मानव-उन्नति के माग का निर्माण अधिकाश म महान् व्यक्तियों न किया है। हा, सत्यता तो यह है कि इन महान् विभूतियों ने मानव जीवन को प्रशस्त करने मे श्लाघ्य भाग दिया है। हम तथा हमारी भावी पीढिया उनके सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

सांस्कृतिक विलम्ब

सर्वप्रथम आगबर्न (अमरीकी समाजशास्त्री) ने 'सांस्कृतिक विलम्ब' की धारणा का प्रयोग किया था। उसने लिखा है कि आधुनिक संस्कृति के भिन्न भिन्न भागों म समान गति से परिवर्तन नहीं होता है। कुछ अगो म दूसरो की अपेक्षा परिवर्तन अधिक तीव्रता स होता है। परन्तु संस्कृति एक व्यवस्था है जिसके अगों म पारस्परिक सम्बन्ध और अन्त निर्भरता होत हैं। यह व्यवस्था तभी बनी रह सकती है जब इसके एक भाग म तीव्र परिवर्तन होने पर दूसरे भागों में भी समकक्ष परिवर्तन हो। यथार्थ म होता यह है कि जब संस्कृति का एक भाग किसी खोज या आविष्कार के प्रभाव से बदलता है तो उससे सम्बन्धित या उस पर निर्भर भाग म भी परिवर्तन हाता है। परन्तु दूसरे भाग म परिवर्तन होने मे पर्याप्त समय लगता है। उस भाग के परिवर्तन म कितना समय लगेगा या वह परिवर्तन पहले परिवर्तन से कितना पिछड जायगा यह दूसरे भाग की प्रकृति पर निर्भर होता है। यह पिछडाव (पश्चायन अथवा विलम्ब) कई वर्षों तक रह सकता है जिससे संस्कृति में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती

है। सस्कृति के दो सम्बन्धित या अन्तर्निर्भर भागों के परिवर्तन में यह पिछड़ाव 'सांस्कृतिक विलम्ब' कहलाता है।

फेयरचाइल्ड ने लिखा है कि सस्कृति के अन्तःसम्बन्धित अथवा अन्योन्याश्रित दो भागों के परिवर्तन की गति में समकालीनता के अभाव को 'सांस्कृतिक पश्चायन' कहा जाएगा जिससे सस्कृति में अव्यवस्था या अपसमायोजन उत्पन्न हो जाता है।[1]

सस्कृति के पार्थिव एवं अपार्थिक भागों के परिवर्तन में सांस्कृतिक विलम्ब अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। विज्ञान में नवीन आविष्कारों के प्रभाव से पार्थिव सस्कृति में बहुत तीव्र परिवर्तन होता है किन्तु अपार्थिव सस्कृति से सम्बन्धित विचार, सिद्धान्त, दर्शन, मूल्य, सस्थाओं आदि में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। परिणामतः हमारी सस्कृति की व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है।

चूँकि सस्कृति के विभिन्न अगों का पारस्परिक सम्बन्ध अनेक प्रकार का है और एक भाग के परिवर्तन का प्रभाव दूसरे भाग पर अनेक रूपों में पड़ता है इसलिए अधिकांश समाजशास्त्री सांस्कृतिक विलम्ब को एक व्यापक नियम मानते हैं। उनके विचार से सस्कृति के भिन्न-भिन्न अगों के विभिन्न प्रकार के पश्चायन का अध्ययन करने के लिए अधिक सूक्ष्म नियमों की आवश्यकता है।

मैकाइवर और पेज आगवर्न द्वारा सांस्कृतिक विलम्ब की धारणा के प्रयोग को बहुत उचित नहीं मानते। वे केवल आन्तरिक अहाओं के लिये 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिये सांस्कृतिक पश्चायन के स्थान पर वे तान्त्रिक पश्चायन कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनके मत में 'सांस्कृतिक पश्चायन' के आन्तरिक अहाओं के परिवर्तन की गति में पिछड़ाव का कहना चाहिये। अतएव, सामाजिक परिवर्तन का विधा के अन्तर्गत उत्पन्न सभी प्रकार के असतुलन या अपसमायोजन के लिये प्रचलित सांस्कृतिक पश्चायन का प्रयोग भ्रमात्मक और अशुद्ध है। इसका प्रयोग एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यक्षमता में असमानताओं तक सीमित करना ठीक है।[2] सस्कृति और सभ्यता में अन्तर है। इसलिये पश्चायन शब्द का प्रयोग आधारभूत तन्त्र और उच्च तान्त्रिक सगठन अथवा राजनैतिक आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत समायोजन की कुछ विफलताओं के लिये ही करना चाहिये। तान्त्रिक कारकों और सांस्कृतिक प्रतिमान अथवा स्वयं सांस्कृतिक प्रतिमान के विभिन्न निर्मायकों के बीच में सम्बन्धों के लिये इसका प्रयोग अनुपयुक्त है।[3]

सस्कृति का महत्व

पाचवें और आठवें अध्याय में हमने मनुष्य के सामाजिक जीवन में सस्कृति के

1 Fairchild : *Dictionary of Sociology*
2 MacIver & Page *Society* p 575
3 *Ibid* p 575 Refer also to a discussion on Cultural Factors of Social Change for further elaboration of their analysis

कुछ महत्वों की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत अध्याय में उसके कुछ अन्य महत्वों का वर्णन कर देना लाभप्रद होगा।

(१) समस्त प्राणि-जगत में मनुष्य का अद्वितीय स्थान उसकी संस्कृति ने ही उसे प्रदान किया है। उसी के बल पर वह आज के गौरवशाली युग में आकर खड़ा हुआ है।

(२) संस्कृति मनुष्य को अपने पूर्वजों से उपलब्ध ऐसी अमूल्य विरासत है जिसके उपयोग से उसे आदिकाल से संकलित मानव अनुभव के उपयोग का अवसर प्राप्त होता है। मनुष्य की हर पीढ़ी को अपने जग का निर्माण नये सिरे से करने का दुस्सह कार्य नहीं करना पड़ता।

(३) मानव विकास में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान है। उसकी सहायता से ही मनुष्य अपने शारीरिक अभावों पर काबू पा लेता है। यदि उसके पास संस्कृति न होती तो उसकी जैविक (या पाशविक) निर्बलता और निराश्रयता जो पशु जगत में सबसे गम्भीर है, का कोई अन्त न था। संस्कृति के अभाव में शायद उसका अस्तित्व ही असम्भव हो जाता।

(४) संस्कृति ने मनुष्य को प्राकृतिक प्रवरण के नियम का तिरस्कार करने योग्य बना लिया है। कुछ सीमाओं के अन्तर्गत मनुष्य अपने साथियों का चुनाव स्वयं करता है और इस प्रकार उसकी सन्तान उस जैसी ही होती है। भोजन, आरोग्य और जाति-सुधार शास्त्र की सहायता से वह कृत्रिम प्रवरण में अत्यधिक सफल हो गया है।

(५) संस्कृति ऐसे अवसरों को प्रदान करती है जो मनुष्य को अपनी मानसिक क्षमता का सर्वोत्तम विकास करने में सहायता देते हैं।

(६) भौगोलिक कारकों में संशोधन कर उनको अधिकतम लाभदायक बनाना मनुष्य ने संस्कृति की सहायता से ही सीखा है। आधुनिक विशाल और यशस्वी सभ्यता इस तथ्य का ज्वलंत साक्ष्य है।

साराश यह है कि मानव विकास में जैविक, मनोवैज्ञानिक और भौगोलिक सभी कारक अनिवार्यतः आवश्यक हैं किन्तु संस्कृति जो मनुष्य की निराली विशेषता है, के कारण ही मनुष्य संसार की आधुनिक अवस्था में पदार्पण कर सका है।

प्रथाएँ

सभा एवं संस्थाओं को सशक्त रखने के लिए उनके आधार में स्थित चलन अथवा व्यवहार के ढंगों की एक जटिल व्यवस्था होती है। खान, कपड़े पहिनने, बात-चीत, मिलने, प्रेम करने तथा बच्चों को प्रशिक्षण देने आदि व्यवहारों के स्वीकृत तरीके हर समाज में प्रचलित होते हैं। इन्हीं को हर व्यक्ति अपनाता है और अच्छा मानता है। व्यवहार के इन्हीं ढंगों अथवा तरीकों को उपयोगी होने के कारण समाज से मान्यता मिल जाती है। कालान्तर में वे सामाजिक प्रथाएँ हो जाती हैं। हर मनुष्य अपने समाज की प्रथाओं के अनुरूप ही आचरण करता है। उसका यह व्यवहार

अचेतन अवस्था मे ही हो जाता है । सामाजिक प्रथाए हमारे सामाजिक जीवन म गहराई से भिदी होती हैं। कभी कभी हम इन प्रथाओ के अनुसार आचरण को स्वाभाविक (natural) आचरण या मनुष्य का स्वभाव मान लेते है। इस दशा मे प्रथाओ का पालन ही उचित आचरण समझा जाता है।

प्रथा और सस्था

सामाजिक चलन या प्रथा (social usage or custom) तथा सस्था म केवल श्रेणी का भेद है। सस्थाएँ प्रथाओ क इकट्ठा होने स बनती हैं और इनको समाज से निश्चित मान्यता प्राप्त होती है, पुत्र के जन्म पर प्राय सभी समाजो म अपने सगे सम्बन्धियो तथा मित्रो को दावत देने का रिवाज है इसे हम सस्था कह सकते हैं। इसी प्रकार दहेज एक प्रकार की सस्था है किन्तु दावत तथा दहेज देने लेने के साथ अनेक प्रथाए जुडी रहती हैं। इन प्रथाओ म समाज और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। विवाह एक सस्था है जिसे करने मे अनेक चलनो का पालन होता है। यही चलन प्रथाए हैं। विवाह की सस्था तो सभी समाजो और सभी युगो मे रही है परन्तु इसमे सम्बन्धित प्रथाओ मे परिवर्तन और कमी बढती होती रहती है। कुछ प्रथाओ को व्यर्थ तथा हानिप्रद होने के कारण त्याग दिया जाता है। प्रथाए सामाजिक आचरण के वे ढग है जो व्यक्ति के लिये सामाजिक क्रिया को सरल कर देते हैं तथा जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन म सफल होने के लिये सरल तथा उपयोगी तरीके प्रस्तुत करते हैं।

सस्थाओ के विशेष लक्षण बाह्य परिचय चिह्न (insignia) और सार्वजनिक स्वीकृति हैं जो प्रथाओ म नही होते। सस्थाओ पर किसी प्रकार का आक्रमण होते ही जनता के मस्तिष्क म एक तूफान खडा हो जाता है। यह बात प्रथाओ के तोडने या उनके बदलने म नही होती। इससे सस्था और प्रथा म एक दूसरा अन्तर भी मालूम होता है। सस्था म सामाजिक सम्बन्धो का अवयक्तिक कारक (impersonal factor) प्रधान है। जब हम प्रथाओ की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय उन स्वीकृत तरीको से होता है जिनम लोग एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। यहा व्यक्तिगत सम्पर्क पर जोर दिया जाता है। सस्थाए तो वास्तव मे नियन्त्रणो की वह व्यवस्था होती है जो व्यक्तिगत सम्बन्धो स परे है और जो भूत और वर्तमान वर्तमान तथा भविष्य के बीच सम्बन्ध कायम करती है। इसम व्यक्ति अपने पूर्वजो देवो तथा अपनी सन्तति से सम्बन्धित होते हैं। सस्था के बन्धन स इस सम्बन्ध के टूटने का खतरा रहता है जो मनुष्य पसन्द नही करता।

जनरीतियाँ और रूढियाँ (Folkways and Mores)

हम सभी अपने समाज की प्रथाओ को मानते हैं और सस्थाओ द्वारा निर्धारित तरीको पर चलते हैं। इन सभी व्यवहारो तथा तरीको को समाज मे मान्यता प्राप्त होती है। इन्ही सबको एक शब्द म कहने के लिए समनर (W G Sumner)

ने 'जनरीतिया' (Folkways) का प्रयोग किया था। इस शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ म किया जाता है।

रूढिया अन्य सामाजिक आचरण के तरीके

जनरीतिया समाज द्वारा स्वीकृत तथा मान्य आचरण के तरीको को कहते हैं। वे समाज की आदतें होती हैं। उनमे उन परिपाटिया (conventions), शिष्टाचार (etiquette) और मनुष्य द्वारा पूर्ण विकसित या अब भी विकासोन्मुख व्यवहार के ढगो को शामिल करते हैं जो हमारे सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था और उन्नति के लिये आवश्यक हैं। इनमे समाज तथा काल के अनुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं। दैनिक जीवन मे व्यवहार या आचरण के मान्य तरीका—जनरीतिया का दिग्दर्शन हमे कदम-कदम पर मिलता रहता है।

मनुष्य सामूहिक जीवन मे रहने पर कई अपने विचित्र रीत रिवाज विकसित कर लेते हैं। जब अमरीका म कोई पुरुष किसी महिला से सडक पर या अन्यत्र मिलता है तो उसका अभिनन्दन उसकी टोपी को हटाकर या तिरछा करके करता है। गिरजे म घुसने पर पुरुष अपनी टोपी उतार डालते हैं किन्तु स्त्रिया पहने रहती हैं। जापान या हालैंड म जब कोई आदमी अपने मकान म घुसता है तो जूते बाहर निकाल देता है। भारत म मन्दिर मस्जिद या गुरुद्वारा म जूते उतार कर ही प्रवेश करते हैं। हमारे देश म छोटी आयु, जाति, पद या प्रतिष्ठा वाले लोग जब अपने से बडे से मिलते हैं तो सादर अभिवादन करते हैं। हमारी स्त्रिया अजनबी पुरुषो से तो पर्दा करती ही हैं अपने सम्बन्धी पुरुषो से भी पर्दा करती हैं। इस प्रकार के व्यवहार जनरीतिया कहलाते हैं। इन्हे व्यक्ति अपने समूह के अन्य व्यक्तियो के व्यवहार का अनुकरण करके सीख लेता है। काय की सामूहिक आदतो का जनरीतिया कहते हैं।

रूढिया

जब यही जनरीतिया हमारे व्यवहार को नियमित करने लगती हैं तो उन्हे हम रूढिया कहते हैं। हम जानते हैं कि हर सामाजिक चलन तथा हर जनरीति हमारे सामाजिक व्यवहार का नियन्त्रण करती है। जनरीतिया अच्छी और बुरी सभी प्रकार की होती हैं। जब ये समूह के मानको (standards) की अभिव्यक्ति करती है कि क्या उचित है क्या सत्य है अथवा उसके कल्याण के लिये है तो इन्हे रूढिया कहने लगते हैं। समनर के आधार पर यह माना जाने लगा है कि जब जनरीतियो से सामूहिक कल्याण उचित या अनुचित के मानको का भास होता है तो उन्हे रूढिया कहना चाहिए।

रूढियाँ काय के सही और आवश्यक रूप

जब जनरीतियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि उन्हे केवल ठीक माना जाता है और सामूहिक कल्याण के लिये उन्हे आवश्यक स्वीकार किया जाता है तो

व रूढियां कही जाती हैं। समूह द्वारा काय के सही और आवश्यक तरीके समझे जाने वाले कार्यों के रूपों को रूढियां कहते है।[1] जैसे हर समाज में कपडा पहनना एक रूढि है। अपने देश मे मेहमानो को केवल भोजन या जलपान करने के लिए घर में प्रवेश करने दिया जाता है। वसे व जब तक मेहमानी में रह बाहर पुरुषों की बैठक में घर की स्त्रियों से पृथक ही रहते हैं। गाँव मे उच्च जातियों की स्त्रियां अपने पुरुषों के साथ खेतो में बाहर काम करने नही जाती। ये सब रूढियों के उदाहरण है।

स्वीकृतियां और निषेध

हर समाज या समूह मे कुछ काय या व्यवहार निषिद्ध होते हैं। निषेध (taboos) वे रूढियां हैं जो हमे किसी काय या व्यवहार करने से रोकती है और वे रूढियां जो हमे अमुक काय या व्यवहार करने की अनुमति देती है सामाजिक सम्मोदन (social sanctions) कहलाती हैं। इन्हे ही हम नतिक आचार या सदाचार (morals) कहते हैं।

रूढियों में समूह का सारा अनुभव संचित रहता है। वे हर समाज में भिन्न होती हैं। समूह अपनी रूढियों को हमेशा उचित मानता है और इसलिए उनको बदलने के प्रश्न पर वह प्रतिगामी (conservative) रहता है। प्रो० मकाइवर के अनुसार रूढियां समाज में व्यक्ति के व्यवहार का निर्धारण ही नही करती उसे और समूह का एक-रूपी बनाती है तथा वे समूह या समाज की सुदृढता या एकता की अभिभावक हैं।

समाज के विकास के साथ रूढियां विशेषीकृत होती जाती हैं। उनका रूप विशिष्ट स्मृतियो या सहिताओं (codes) की शृंखला प्रथा फशन तथा विधि और विभिन्न धार्मिक तथा सांस्कृतिक समूहों की स्मृतियों में प्रकट होना है। इस दशा में उनका नियन्त्रण अधिक लोचपूर्ण हो जाता है तथा वे सामाजिक अनुभव की विविधता को स्वतन्त्र तथा पूर्ण अभिव्यक्ति देने की अनुमति देती है।[2]

परिपाटी तथा परम्परा

सामाजिक समूह में प्रचलित एव सामान्य अभ्यास या चलन को परिपाटी कहते हैं।[3] जब हम समूह की जनरीतियों तथा रूढियों अथवा समाज में सबसे अधिक सामान्य रस्मों और व्यवहार के अनुकूल बिना किसी आलोचना के आचरण करते हैं तो हम परिपाटी को मान रहे हैं। परिपाटी परम्परा से कुछ कम सामाजिक मान्यता और इसलिये कम भक्ति भी प्राप्त किये होती है।

---

1 Mores are forms of action whi h the group regards as essential and right
2 MacIver & Page op cit p 2"
3 H P Fairchild Dictionary of Sociology

परम्परा (tradition) सामाजिक परिस्थितियों की वह प्रक्रिया है जिसमें सांस्कृतिक विरासत के तत्व (elements of cultural heritage) पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनवरत स्थानान्तरित होते रहते हैं। इसमें अभ्यास, विचार या कथायें (lore) जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और इसी क्रम से आगे चलते जाते हैं मिलकर परम्परा कहलाते हैं। सामाजिक परम्पराओं से हमारा अभिप्राय किसी समूह की संस्कृति के उस अन्तरात्मक पहलू (subjective aspect) से जो भाषा के माध्यम से अर्थ, मूल्यों, आस्थाओं, भावनाओं, मनोवृत्तियों या इस प्रकार सामान्य अनुभव करने तथा क्रिया के अन्य तरीकों के माध्यम से मौखिक प्रतीकों (verbal symbols) के रूप में एक पीढ़ी से आगामी पीढ़ियों तक पहुँच जाते हैं।[1]

परम्परा का अर्थ सभी विचारों, आदतों तथा प्रथाओं के उस योग से है जो किसी जाति के होते हैं तथा जिनका संचरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है।[2] परम्परा को हम सामाजिक विरासत कह सकते हैं। यह हमारे कार्य की सामग्री है तथा व्यवहार का निर्धारण करता है और सम्पूर्ण रूप से निरन्तरता का सिद्धान्त (principle of continuity) है जो अतीत की उपलब्धियों को भविष्य तक ले जाता है। परम्परा व्यक्ति के सामाजिक जीवन से सम्मिलित होकर सफल होने में सबसे अधिक सहायक होता है।

संस्कृति और सभ्यता

वर्तमान सभ्य समाजों में जहाँ एक ओर सभ्यता की महान उन्नति हुई है वहाँ दूसरी ओर संस्कृति का भी बहुत अधिक विकास हुआ है। मानव क्रियाओं और अनुभूतियों के इन दोनों विशाल संगठनों में अधिकाधिक अन्तःक्रिया हो रही है। दोनों क्षेत्रों में कुछ ऐसी बातें समानरूप से मिलती हैं जिनको हम सभ्यता कहें या संस्कृति यह निश्चित नहीं कर पाते। खेद की बात यह है कि आधुनिक विद्वान और शासक भी बहुधा इन दोनों का एक दूसरे के लिए अन्धाधुन्ध कर ऐसा प्रयोग करते हैं कि इनका निश्चित और स्पष्ट अर्थ समझना कठिन हो जाता है। यहाँ हम पहले संस्कृति और सभ्यता की तुलना करेंगे जिससे इन दोनों में स्पष्ट समाजशास्त्रीय भेद मालूम हो सके। यह जानकारी इसलिए आवश्यक है कि हमारे वर्तमान जटिल सामाजिक संगठन में इन दोनों व्यवस्थाओं का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान जीवन की पर्याप्त जानकारी के लिए आधुनिक शिक्षा, विचारों, मूल्यों, कला और मनोरंजन के सामाजिक महत्व का अध्ययन के अतिरिक्त इस युग की तकनीकी और अति उन्नत प्राविधिक या औद्योगिक सभ्यता के समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को भी समझना होगा।

1 *Ibid*

2 Morris Ginsberg *Psychology of Society* p. 104

आधुनिक समाजों में विराट औद्योगिक संस्थानों परिवहन और संचार के साधनों जैसे रेल वायुयान और समुद्री पोत मोटर तथा प्रेस रेडियो और डाक-तार व्यवस्था मुद्रा और अधिकोषण व्यवस्था, सेनाओं का लैस करने के आधुनिक शस्त्र आधुनिक सभ्यता की वस्तुएँ हैं। नगरों के विद्युत प्रकाश में जगमगाते विशाल प्रासाद सिनेमा होटल विशाल व्यावसायिक संगठन और तड़क भड़क तथा प्रचुरता से भरे जीवन को देखकर मनुष्य चकाचौंध में हो जाता है। जीवन की अधिकांश क्रियाओं में मशीन तथा अन्य आविष्कारों का बहुत अधिक प्रयोग होने लगा है। प्राकृतिक साधनों का ऐसा उपयोग हुआ है कि हमारा जीवन प्रचुरता और समृद्धि का पर्यायवाची हो गया है। प्रकृति पर मनुष्य का उत्तरोत्तर नियन्त्रण बढ़ रहा है। समाज की इस अवस्था को सभ्यता कहते हैं। सभ्यता मूलतः उपयोगवादी वस्तुओं का एक संगठन है। इसलिए सभ्यता का अर्थ हम वह सम्पूर्ण यन्त्र और संगठन समझ सकते हैं जिसे मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं पर नियन्त्रण करने के प्रयास से निर्मित किया है।[1] इसमें सामाजिक संगठन की हमारी व्यवस्थाएं प्रविधियाँ और भौतिक उपकरण शामिल किए जाते हैं। सभ्यता में आधारभूत और सामाजिक प्रविधियों का समावेश होता है। आधारभूत प्रविधि का प्रमुख उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं पर मनुष्य के नियन्त्रण को बढ़ाना है। सामाजिक प्रविधि जिसमें आर्थिक संगठन और संस्थाएं शासनतन्त्र और कानून आदि सम्मिलित होते हैं प्रमुखतः मनुष्यों के व्यवहार के नियमन से सम्बद्ध होती है।

वर्तमान संस्कृति में परम्पराएं प्रथाएं रहन सहने और सोचने के ढंग, कविता नाटक चलचित्र मलकूट दर्शन और विश्वास का समावेश होता है ये सभी वस्तुएँ मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उनका प्राथमिक कार्य हमारे अन्दर की आवश्यकताओं को पूरा करना है न कि बाह्य आवश्यकताओं का। वे हमारी इच्छा या आवश्यकता के लिए माध्यम या साधनमात्र नहीं हैं। चूंकि वे प्रत्यक्ष सन्तुष्टि का साधन नहीं हैं इसलिए उन्हें हम उपयोगवादी नहीं कह सकते। उनसे हमारे भौतिक कल्याण में प्रत्यक्ष रूप से कोई वृद्धि नहीं होती। संस्कृति हमारे मन और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति के क्षेत्र में मूल्यों शैलियों और उद्वेगपूर्ण लगावों और बौद्धिक साहसों का समावेश होता है। संस्कृति सभ्यता के बिल्कुल विपरीत है। वह हमारे रहन-सहने और सोचने के ढंगों में दैनिक कार्यकलापों में कला में साहित्य में, धर्म में मनोरंजन और आनन्द में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।[2]

---

1 By civilization we mean the whole mechanism and organization which man has devised in his endeavour to control the conditions of his life MacIver & Page *Society* p 498

2 It (Culture) is the expression of our nature in our modes of living and of thinking in our everyday intercourse in art in literature in religion in recreation and enjoyment *Ibid* p 499

तुलना—आइये, हम संस्कृति और सभ्यता के कुछ प्रमुख भेदों की व्याख्या करें।

१ प्रगति की विभिन्न माप—जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्नत और प्रचुर साधनों का प्रतिनिधि सभ्यता है। यह साधन जितने ही अधिक लाभदायक होंगे सभ्यता उतनी ही उन्नत कही जायगी। सभ्यता का एक प्रमाण लाभदायकता है। सभ्यता की विभिन्न वस्तुओं और प्रक्रियाओं में लाभदायकता के आधार पर श्रेष्ठता और हीनता निश्चित की जाती है। उत्पादन के आधुनिक यन्त्र जैसे टैक्टर, प्रेस, के कारखाने जीवन की प्रत्येक दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का निर्माण करने वाले ज्यादा मशीन के उत्पादन यन्त्रों से बढ़कर उत्तम कार्य करते हैं। वे ऐसे साधन हैं जो हमारे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लाभदायकता से पूरा करते हैं।

संस्कृति का माप का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। आधुनिक समाज की संस्कृतियों और आदिवासियों की संस्कृति की तुलना करके यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनमें से कौन श्रेष्ठ या हीन है। महाभारत-काल की कला, संगीत, नाटक या दर्शन को आज की कला और दर्शन से तुलना कर ऊँचा या नीचा कहना भी अनुपयुक्त होगा। संस्कृति का विकास अवश्य होता है किन्तु इस विकास में उसमें निश्चय ही प्रगति हो रही है इस पर सब एकमत नहीं हो सकते। प्रगति के हमारे भिन्न भिन्न मापक हैं और इसलिए एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रवृत्ति या वस्तु को सभी लोग प्रगति नहीं कहते। संस्कृति में समाज की उन उपलब्धियों का समावेश होता है जिसका आन्तरिक मूल्य ही समाज के लिए सब कुछ है और समाज उन्हें साध्य के रूप में चाहता है। संस्कृति को विशिष्ट समाज का सम्पूर्ण ढंग कहते हैं। वह अनोखा है क्योंकि जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए समाज ने जो विशिष्ट पद्धति चुनी है वह उसकी प्रतिनिधि है। सभ्यता संस्कृति के एक अंश (ज्ञान विज्ञान) का परिणाम है, वह सांस्कृतिक सफलताओं के लिए साधन जुटाती है।

२ विकास के सिद्धान्तों में भेद—सभ्यता सदैव उन्नतिशील है। उसमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने की प्रवृत्ति है। सभ्यता की प्रत्येक उपलब्धि को उत्कृष्ट और उन्नत करने का प्रयत्न तब तक चलता रहता है जब तक उससे श्रेष्ठ अन्य आविष्कार न हो जाय। यह सत्य है कि प्राचीन सभ्यताओं की सभी उपलब्धियाँ आज उपस्थित नहीं हैं किन्तु सभ्यताओं का पूर्ण विनाश तभी सम्भव होता है जब ऐसी कोई दैवी या मानवीय घटना घट जाय जो सभ्यता को समूल नष्ट कर दे। सभ्यता के क्षेत्र में विस्तार से और उत्कृष्ट अन्वेषणों और आविष्कारों से वह सामाजिक विरासत का एक स्थायी भाग हो जाती है और भविष्य की उपलब्धियों को प्रभावित करती है।

इसके विपरीत सांस्कृतिक उपलब्धियां निश्चय ही सदैव उन्नत नहीं हो पाती। संस्कृति में निरन्तर आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती उसमें अनेकों उत्थान पतन होते हैं। किसी संस्कृति का अतीत बड़ा गौरवशाली है, इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसका भविष्य अधिक गौरवशाली होगा।

३ उनका ग्रहण और उपयोग—सभ्यता के साधनों का उपयोग वे समान भी कर सकते हैं जिन्होंने उनके निर्माण में कोई योग नहीं दिया। सभ्यता की वस्तुओं का उपयोग करने के लिये हम में उस क्षमता का होना आवश्यक नहीं जो उनके निर्माण के लिए आवश्यक है। संस्कृति में वही लोग सम्मिलित हो सकते हैं जिनका उसके निर्माण में कोई हाथ है। कला की प्रशंसा कलाकार ही कर सकता है संगीत का सच्चा आनन्द सब नहीं ले सकते। दर्शन और विश्वासों को समझने की इच्छा होते हुए भी सबको समान सफलता नहीं मिल सकती।

संस्कृति और सभ्यता की सृष्टि की प्रक्रिया भी भिन्न भिन्न है। संगीत कला दर्शन अथवा संस्कृति के अन्य तत्वों की हर कोई सृष्टि नहीं कर पाता। उसमें तो गिने चुने लोगों का ही अधिकार होता है। किसी महाकवि, मूर्तिशिल्पकर्ता के काव्य या दर्शन में मामूली आदमी कोई उत्कृष्टता नहीं ला सकता। किन्तु सभ्यता के आविष्कारों में बहुधा अनेक लोगों का योग होता है। महान आविष्कारों में भी कई बार मामूली आदमी संशोधन कर उन्हें उत्कृष्ट बना देते हैं। कलाकार की कृति पर उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप है किन्तु आविष्कार या यन्त्र पर वैज्ञानिक अथवा प्रविधिवेत्ता की नहीं। हम अपने पूर्वजों की संस्कृति के उतने ही अंश को पा सकते हैं जितने को प्राप्त करने की हम में क्षमता है। संस्कृति के उन्हीं पहलुओं को हम अपना पाते हैं जिनके योग्य हम हैं। अपने पूर्वजों की समूची की समूची गौरवमयी संस्कृति हमें उत्तराधिकार में नहीं मिल पाती। परन्तु सभ्यता हमें उत्तराधिकार में मिल जाती है हम चाहे उसके योग्य हों अथवा न हों विशेष प्रयत्न करें अथवा न करें। इच्छा होने पर हम सभ्यता की महानतम उपलब्धियों का उपयोग कर आनन्द ले सकते हैं। रेडियो, टेलीविजन प्रेस और अन्य उपलब्धियों का कोई भी साधन होते हुए उपयोग कर सकता है। उसे ऐसा करने के लिए आत्मा को उत्कृष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सभ्यता संस्कृति का वाहक है। सभ्यता में सुधार इस बात की गारण्टी नहीं है कि जिन वस्तुओं या विचारों का वहन होना है उनका गुण भी उत्कृष्ट हो जाएगा। रेडियो से एक भाषण को संसार के सभी कोनों तक पहुँचाया जा सकता है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि प्रसारित भाषण में भी उसके वाहक की भाँति उत्कृष्टता आ गई हो। संस्कृति की उन्नति तभी सम्भव है जब हमारी आत्मा उत्कृष्ट प्रयत्न करने में सफल हो क्योंकि संस्कृति मनुष्य की आत्मा की निकटस्थ अभिव्यक्ति है।

४ विस्तार की सीमाएँ—सभ्यता किसी भी अकेले समाज की सम्पत्ति नहीं रहती। वह ज्यों ज्यों उत्पन्न होती जाती है त्यों-त्यों उसके उपयोग का अवसर

सभी मानवता के लिए बढ़ता जाता है। उसको दूसरे लोग बड़ी सरलता और उत्सुकता से अपनाते हैं जब तक कि उसके प्रचार में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कोई सभ्यता एक देश की सीमाओं से नहीं बंधी रहती। यही कारण है कि आज समस्त विश्व में सभ्यता की एक अकेली व्यवस्था फैलती जा रही है। भारत के कलकत्ता या बम्बई नगरों का बाह्य जीवन बहुत-कुछ न्यूयार्क लन्दन मास्को जैसा ही है। उद्योगवाद की प्रगति भी समस्त संसार में एक प्रकार के परिणाम लाती है।

एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति के लोग आसानी और उत्सुकता से नहीं अपनाते। संस्कृति समाज की अनोखी विशेषता है और उसकी अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर बनती है। यह सम्भव है कि विभिन्न संस्कृतियों में कुछ समानताएं हों परन्तु उनके ब्यौरों में इतनी अनेकरूपता होती है कि संस्कृतियों में परस्पर आदान प्रदान बहुत सीमित रहता है। संस्कृतियां देश और काल की सीमाओं से बंधी रहती हैं। वे विश्व व्यापी नहीं हो पातीं। तथाकथित उन्नत संस्कृतियां के कई विचार मूल्य और संस्थाएँ दूसरी संस्कृतियां अपना लेती हैं परन्तु अपनी केन्द्रीय विशेषताओं को वे नहीं छोड़तीं। भारतीय संस्कृति पर ब्रिटिश और मुस्लिम संस्कृतियों का बहुत प्रभाव पड़ा है फिर भी इसकी अन्तरात्मा ज्यों-की-त्यों बनी है। दूसरी संस्कृतियों के जिन उपकरणों को हम अपनाते भी हैं उन पर हमारा रंग चढ़ जाता है और हमारी संस्कृति की आत्मा के अनुरूप उन्हें बनाना पड़ता है। अतएव स्पष्ट है कि सभ्यता के विस्तार के जो सिद्धान्त हैं वही सांस्कृतिक उन्नति के नहीं।

संस्कृति और सभ्यता के इस भेद को समझने में निम्नांकित उद्धरण सहायक हो सकता है —

Culture is youthful ideological informal realistic and is the essence of the spirit and soul of mankind whereas civilization tends towards the intellectual the organized the technological and utopian, the mechanical Culture grows from the bottom up whereas civilization is superimposed Culture represents the broader societal determinism civilization reflects the technical determinism [1]

उपरोक्त पंक्तियों के लेखक (आडम) ने सभ्यता की पांच विशेषताएं भी बताई हैं सर्वसत्ता राज्य नगरीकरण प्रविधि बुद्धिवाद केन्द्रीकरण और शक्ति। सभ्यता का साधारण लक्षण उसकी कृत्रिमता है।

संस्कृति और सभ्यता का अंतःसम्बन्ध[2]

संस्कृति और सभ्यता के सूत्र व्यावहारिक जीवन में एक दूसरे से बुनते मिलते हैं। उनके बीच में कोई कठोर विभाजन करना अव्यावहारिक है। समाज का आन्तरिक और बाह्य व्यवहार (संस्कृति एवं सभ्यता) एक दूसरे से सम्बन्धित

1 H W Odum *Understanding Society* p 28

2 MacIver & Page *op cit* pp 502-506

हैं। ऐसी वस्तुओं में जिन्हें हम प्रधानतया सभ्यता की श्रेणी में रखते हैं साधारणतया न्यूनाधिक अंशों में सांस्कृतिक पहलू भी होता है और इसी प्रकार से प्रधानतया सांस्कृतिक कहे जाने वाले पदार्थों में सदा एक प्राविधिक या उपयोगितादायक माध्यम होता है। संस्कृति सभ्यता की वस्तुओं को रंजित करती है। हम केवल गर्मी या सर्दी से बचने के लिए किसी भी प्रकार का कपड़ा पहन कर सन्तुष्ट नहीं होते, उसके रंग रूप, बनावट आदि पर हम बहुत ध्यान देते हैं। रेडियो सेट या मोटर खरीदते समय हम उनकी दीर्घकालिक सेवा का ही विचार नहीं करते बल्कि उसके सौन्दर्य और आकर्षण का भी। जीवन निर्वाह के (साधनों वस्तुओं और सेवाओं) की उपयोगिता के साथ सौन्दर्य और रोचकता के विचार भी करते हैं।

सभ्यता जीवन की दशाओं पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं का संगठन है। वह भौतिक जीवन यापन की एक दशा है इसलिये संस्कृति पर उसका प्रभाव अवश्यम्भावी है। पूंजीवादी देशों की संस्कृति पर वहां के औद्योगिक पूंजीवाद का अमिट प्रभाव पड़ा है। भौतिकवादी विचार व दृष्टिकोण और मूल्य इस बात के साक्षी हैं। सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं के समकक्ष समाज की संस्कृतियों का स्वरूप होता है। सम्भवतया सभ्यता की समृद्धि के साथ संस्कृति का स्वरूप निखरता चला जाता है। संस्कृति और सभ्यता में परस्पर आदान प्रदान होने का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि उनके विरोध कम या खत्म हो जाते हैं। सभ्यता की उन्नति से ज्ञान विज्ञान इतने उन्नत हुए हैं कि वे धर्म और आचार को भी नवीनता के रंग में रंग देते हैं। मानववाद और सामाजिक आचार का विकास इस बात का प्रतिपादन करता है। सभ्यता संस्कृति के वाहन और व्यंजना के लिये एक पर्यावरण है। संस्कृति में आविष्कारों और उत्कृष्टताओं से अनेक सामाजिक आविष्कार होते हैं जो पुनः सभ्यता को संशोधित करते हैं।

संस्कृति अन्तिम मूल्यनाओं का प्रदेश है और मनुष्य इन्हीं मूल्यनाओं के प्रकाश में सभ्यता सहित समस्त संसार का अर्थनिर्णय करता है। प्रत्येक युग के विश्वास, प्रमाण और शैलियाँ सभ्यता के उपयोग के ढंग को प्रभावित करते हैं। संस्कृति में सन्निहित मूल्यताएँ ही समूह भक्तियाँ और समूह में एकताएँ सृजित करती हैं। समुदाय के विस्तार को संकुचित या विस्तृत करना भी उनका काम है और अन्त में वे समाज के साधनों और शक्तियों का सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिये संगठन करती हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से संस्कृति और सभ्यता का भेद बहुत कुछ स्पष्ट हो गया किन्तु मकाइवर के इस कथन से कि संस्कृति वह है जो हम हैं और सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते हैं।[1] हम सर्वथा सहमत नहीं हो सकते। सभ्यता और

---

1 Culture is what we are and civilization is what we use

संस्कृति में साधन और साध्य का भेद बनाए रखना बड़ा मुश्किल है। समाज या जीवन में साधन और साध्य के भेद को आखिर तक नहीं बनाए रक्खा जा सकता क्योंकि हर साध्य अन्ततः साधन हो सकता है।[1] दूसरे संस्कृति और सभ्यता की उन्नति की प्रक्रिया में भी कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। सभ्यता की उन्नति सम रैखिक और संचयी प्रक्रिया है और संस्कृति की समुन्नत और समृद्धि भी एक निरन्तर समरैखिक और संचयी प्रक्रिया में होती है। धर्म-नीतियों ज्ञान और कला के विकास में अनेक संकट आने पर भी उनके विकास को एक निरन्तर प्रक्रिया कहा जा सकता है।

आधुनिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक सभ्य समाजों की संस्कृति के प्रत्येक भाग पर सभ्यता का व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं की विवेचना करते समय हमने इन प्रभावों का यथास्थान निर्देश किया है। यहाँ उन सबका सिंहावलोकन कर लेना आधुनिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को समझने में सहायक होगा।

सभ्यता की उन्नति से हमारी खान-पान एवं रहन-सहन की आदतें बदल गई हैं। हमारे खान-पीन में अनेक ऐसे पदार्थ शामिल रहते हैं जो दूरस्थ देशों से मगाए गए हैं अथवा जो रासायनिक प्रक्रियाओं से बनाए गए हैं। हम उन्हें बड़े चाव से खाते-पीते हैं। किस स्थान पर किस किस समय और क्या कपड़े पहनकर भोजन या जलपान किया जाए इस पर भी सभ्यता का प्रभाव है। किसी बड़े नगर के निवासियों के रहन सहन के तरीके और आदतें देखने से इसका अनुमान हो सकता। रसोई में कुकर, रेफ्रिजरेटर का प्रवेश हो गया है। घर से बाहर होटलों, रेस्तरां में खाना-पीना करना नगर निवासियों की साधारण आदत बन गई है। घरों की सजावट और उनमें रहने के तरीकों में अभिनवीनता' और कृत्रिमता घुस गई है।

परिवार के भीतर और समुदाय में हमारा सामाजिक व्यापार अब नई प्रथाओं व जनरीतियों में होता है। ग्रोव्स ने इन पर प्रविधि-रीतियों की प्रबलता स्वीकार की है। स्त्रियों के परिवार सम्बन्धी रुखों में बड़ा परिवर्तन हुआ है। वे केवल गृहस्थी के बन्धन में नहीं पड़ा रहना चाहतीं। उन्हें पार्टियाँ क्लबों थियेटरों सभा-समितियों तथा दफ्तरों व कारखानों में काम एवं नाम करने की जरूरतों को भी पूरा करना है। घर से बाहर के सामुदायिक जीवन में स्वच्छन्द विचरण उन्हें निपट आवश्यकता महसूस होती है। बिना उसके उन्हें जीवन में आनन्द नहीं आता। सन्तान-पालन दाम्पत्य प्रेम तथा यौन आचार के प्रति नर-नारियों के परम्परागत दृष्टिकोण बदल गए हैं।

सामुदायिक जीवन में प्रत्येक नर-नारी अपने पद या कार्य की करने में भी बनी औपचारिकता दिखाता है। कर्मचारी और सेवायोजक के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े

1 Ginsberg *Sociology* p. 47

आनुषंगिक और द्वितीयक होते हैं। वे अन्तःकरण से एक दूसरे के प्रति व्यवहार नहीं करते। भौतिकवादी समाज होने के कारण नेतृत्व भी उन्हीं लोगों के हाथ में होता है जो आर्थिक या राजनैतिक क्षेत्र में जनता का प्रभावी मार्ग-दर्शन करते हैं। आध्यात्मिक अथवा धार्मिक नेतृत्व बड़ा निर्बल हो गया है। उसे बहुधा ऐहिक नेताओं के सहारे रहना पड़ता है। सभ्य समाज में विरोधी वादों का संघर्ष भी उग्र है। नवीनतम साधनों से 'वादों' का प्रचार होता है।

शिक्षा, विचार, कला, मनोरंजन और क्रीड़ा के क्षेत्र में अनेक प्रकार की समितियां काम करती हैं। शिक्षा अधिकाधिक प्राविधिक और औद्योगिक होती जाती है। कला और दर्शन की शिक्षा गौण समझी जाती है। शिक्षा को प्रधानतया औद्योगिक प्रयोजनों से सम्बद्ध करते हैं। क्रीड़ा, मनोरंजन और कला के साधनों में आविष्कारों और प्रविधियों का दिनोदिन महत्त्व बढ़ रहा है। पेशेवर कलाकार और खिलाड़ी विशाल जन-समुदायों के मनोरंजन का साधन होते हैं। उनके काम की सफलता की माप सर्वसाधारण की रुचि को तुष्ट करने की उनकी क्षमता है। वे विवेक को शिथिल कर रुचि को विकृत कर देते हैं। रेडियो, टेलिविजन, समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएं, सिनेमा सभी की जनप्रियता सर्वसाधारण के मानदण्डों से आंकी जाती है। लोगों का अवकाश-समय घुड़दौड़, जुआ, रात्रि-क्लबों, थियेटरों, नृत्य-क्रीड़ा और सिनेमा, या खेल के मैदान में बीतता है। यह सब व्यापारिक मनोरंजन के साधन हैं। सर्वसाधारण मनोरंजन उद्योग सामुदायिक जीवन के लिए बड़ा हानिकारक है क्योंकि जीवन की यथार्थता का चित्रण न करके भग्नाशाओं और तरंग या निरर्थक कल्पना को आकर्षक रंगों में व्यक्त किया जाता है। व्यक्ति आनन्दजीवी बनने को ही परम लक्ष्य मानता है।

सभ्यता का प्रभाव हमारे अन्य रुखों, दृष्टिकोणों और मूल्यों पर भी पड़ा है। जीवन के प्रति भाग्यवादी रुख छोड़कर हम आशावादी हो गए हैं। जीवन को सुखी समृद्ध बनाना हमारे कर्त्तव्य पर निर्भर है। जीवन और संसार के प्रति हमारे संकुचित दृष्टिकोण मिट रहे हैं। हमें सदैव भास होता रहता है कि विशाल ब्रह्माण्ड की प्रत्येक घटना हमें प्रभावित करेगी। पहले हमारी जो क्रियाएं भावना और उद्वेग से सरोकार रखती थीं आज उन्हीं को तर्क और बौद्धिकता से देखने के हम आदी होते जा रहे हैं। हम अब जीवन के प्रति गहरी आशा इसलिए भी है कि सभ्यता की प्रगति से प्रकृति और रोगों की भयंकरता बहुत कुछ समाप्त हो गई है। अब अधिक समय तक समृद्ध जीवन बिताने के अवसर मौजूद हैं। सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी नई प्रगति हमें सन्तति निग्रह में सहायक होती है और आवश्यकता पड़ने पर टेस्ट ट्यूब बच्चे पैदा करने में भी।

अन्त में सभ्यता की उन्नति और प्रसार से ग्राम्य और नगरीय जीवन की घनिष्ठता बढ़ी है। उनके बीच की खाई वेग से पट रही है। उनमें अन्तर्निर्भरता की

बल मिल रहा है। यही बात विशाल जगत के बारे मे पाई जाती है। समस्त जगत् की सस्कृतिया एक दूसरे के निकट आ रही हैं। उनम कई स्थलो पर आदान-प्रदान हो रहा है। सचार के साधनो की उन्नति ने विभिन्न समाजो की एकान्तता नष्ट करके उनम अन्त निर्भरता और सहयोग को बढावा दिया है। आज मानव समाज म अनेक उत्कृष्ट प्रवृत्तिया सार्वभौमिक बन रही हैं।

इन सब बातो के साथ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि सभ्यता की उन्नति और प्रसार से सस्कृतियो म तीव्र परिवर्तन होने के कारण अनेक असमसामायानन भी आए हैं। पुराने व्यवहार प्रतिमानो के स्थान पर जब तक नए प्रतिमान प्रतिष्ठित नही हो जाते कुछ अव्यवस्था और गडबडी पैदा होना अनिवार्य है। इनमे अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं जिनका यथाशीघ्र पर्याप्त समाधान न होने पर हम सामाजिक विगठन का खतरा दिखता है।

सम्पूर्ण पर्यावरण

पिछले अध्यायों में हमने मनुष्य और उसके समूह के विभिन्न पर्यावरणों का विवेचन किया। इस विवेचन में यह स्पष्ट हुआ कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन समूहों और समुदाय में बीतता है। ये समूह और समुदाय किसी न किसी भूखण्ड में होते हैं। अतएव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर उन विशिष्ट भूखण्डों की भौगोलिक दशाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार उसके समूहों की प्रथाओं, रीतियों और संस्थाओं आदि अर्थात् पूर्ण संस्कृति का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है। मनुष्य को हम सम्पूर्ण पर्यावरण कहते हैं। इस सम्पूर्ण पर्यावरण का प्रभाव मनुष्य अपने ऊपर एक निष्क्रिय अथवा सम्वेदनारहित जीव की तरह नहीं पड़ने देता। वह बुद्धियुक्त जीव है और उसके जीवन का निश्चित ध्येय भी होता है। इसलिये सम्पूर्ण पर्यावरण के प्रति वह सक्रिय रूप से अनुक्रिया किया करता है। उस समस्त पर्यावरण को वह स्वयं अर्थपूर्ण बनाने की चेष्टा भी करता रहता है। फलतः उस पर (उसके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन पर) सम्पूर्ण पर्यावरण अथवा उसके किसी भाग का प्रभाव पड़ना भी मौलिक अथवा असंशोधित रूप में नहीं पड़ पाता। पर्यावरण के जिन प्रभावों को मनुष्य हानिकारक अथवा अवांछित समझता है उनके प्रति संघर्ष करता है और उन्हें लाभप्रद तथा वांछित बनाने का प्रयास करता है। कई बार यह संघर्ष सफल हो जाता है और कई बार विफल। विफल होने पर मनुष्य के लिए केवल यही चारा शेष रहता है कि वह उक्त प्रभाव में व्यवस्थापन कर ले। पर्यावरण के लाभप्रद अथवा अनुकूल प्रभावों से तो मनुष्य व्यवस्थापन सुविधापूर्वक करता ही रहता है। इस तरह मनुष्य का सम्पूर्ण पर्यावरण से जो भी समायोजन हो पाता है वह संघर्ष और व्यवस्थापन का संश्लेष होता है।

पर्यावरण का वर्गीकरण

व्यक्ति और समूह दोनों की दृष्टि से सम्पूर्ण पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं का एक साधारण वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है —

(अ) समुदाय और अन्य सामाजिक समूहों के व्यक्तिगत समूहों का पर्यावरण भौगोलिक दशाएँ हैं।

(आ) सामाजिक विरासत (संस्कृति) पर्यावरण का दूसरा पहलू है। यह समुदाय, अन्य सामाजिक समूहों अथवा उनके सदस्यों का पर्यावरण है।

(इ) व्यक्ति समूहों और समुदाय में रहता है अतः वे उसके पर्यावरण हैं।

(४) हरेक समुदाय में अनेक छोटे-बड़े समूह होते हैं। इन समूहों का पर्यावरण समुदाय है। छोटे समूहों का पर्यावरण पुनः बड़े समूह हैं।[1]

आधुनिक मनुष्य और पर्यावरण

(१) आधुनिक मनुष्य का अपने पर्यावरण के प्रति समायोजन इतना विभिन्न और जटिल है कि यहाँ हम उसका विवेचन केवल मोटी तौर पर कर सकते हैं। उच्च सभ्यता में रहने वाला मनुष्य जिन समस्त दशाओं से घिरा रहता है उनसे उसका समायोजन पूर्ण अथवा सर्वाङ्गीण नहीं हो पाता। यह समायोजन केवल कुछ या अधिक आंशिक होता है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि मनुष्य का पर्यावरण से समायोजन संघर्ष और व्यवस्थापन का मिश्रण होता है। व्यवस्थापन वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह उपस्थित परिस्थिति से इस प्रकार अनुकूलन कर लेता है या उसमें ठीक बैठ जाता है कि उसे फिर किसी कठिनता, असंतोषजनक अथवा अटपटेपन का अनुभव नहीं होता। आधुनिक सभ्य मनुष्य का अपने चारों ओर की दशाओं से पूर्ण सन्तुलन कभी नहीं हो पाता। यह सन्तुलन कभी ही नहीं असम्भव है। शायद साधु-संन्यासियों अथवा चरम आयु और समृद्धि को प्राप्त व्यक्तियों में पूर्ण सन्तुलन का भाव कभी-कभी आ जाता हो। किन्तु आधुनिक औसत व्यक्ति में तो कभी यह भावना नहीं आ पाती। फलतः वह चिर असन्तुष्टि का शिकार रहता है। यही शाश्वत असन्तुष्टि उसे नई सम्भावनाओं अथवा प्राप्तियों के लिए निरन्तर प्रेरणा देती रहती है। वस्तुतः हमारा हर पीढ़ी असन्तुष्टों की होती है।

(२) सभ्य मनुष्य का पर्यावरण से समायोजन कम स्थिर भी होता है। उसे पर्यावरण का नियन्त्रित करने के अपेक्षतया अधिक साधन उपलब्ध हैं। वह उन्हें सदैव बदलता रहता है। वह प्रकृति प्रदत्त पर्यावरण को जितना अधिक सुधार लेता है उतना ही अधिक प्रबल इच्छा उस ओर अधिक ज्यादा सुधारने की होती है। यही कारण है कि जिससे आधुनिक सभ्य मनुष्य का पर्यावरण सतत परिवर्तनशील अथवा अस्थिर होता है।

(३) आदिम मनुष्य की तुलना में आधुनिक मनुष्य का पर्यावरण से समायोजन बहुत गुना हुआ और भिन्न प्रकार का होता है। प्रत्येक सभ्य मनुष्य के लिए पर्यावरण की पृथक विशेषता और अर्थ है। फिर वह अपनी बुद्धि क्षमता और योग्यता

1 MacIver & Page *Society* p 153

के अनुसार उससे समायोजन करता है। समायोजन की रीतियों में विपरीतता या भिन्नता होती है। उदाहरण के लिए शहर की एक समृद्ध बस्ती में रहने वाले लोग गन्दी बस्ती (slum) का जीवन नरक समान मानते हैं। किन्तु यदि उनमें से किसी को विवश होकर गन्दी बस्ती में रहना पड़े तो वे वहाँ के मौलिक निवासियों की भाँति न रह कर भिन्न ढंग से ही रहेंगे।

(४) *पुनःसमायोजन अपेक्षाकृत सरल होता है। सभ्य मनुष्य का समायोजन* बहुत जटिल होते हुए भी अत्यधिक गतिशील होता है। मनुष्य में नितान्त नये और विपरीत पर्यावरण से शीघ्रता से समायोजन करने की क्षमता होती है। सभ्य मनुष्य में बहुत अधिक मानसिक चपलता होती है जिसके बल पर वह परिवर्तनीय और जटिल स्थिति में भी सफल हो सकता है। वह उष्ण कटिबन्ध से लेकर ध्रुव प्रदेशों तक किसी भी भाग में बस सकता है और अपने जीवन को समृद्ध बना सकता है। उसका जीवन ऐसी विपरीत दशाओं में जैसे गरीबी, सम्पन्नता और ख्याति में बीत जाता है। वह अत्यधिक क्रूर और अत्याचारी, एकतन्त्र और उदार लोकतन्त्र दोनों से अपना समायोजन कर लेता है। इसी प्रकार के अनेक तथ्यों से निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है *कि वर्तमान सभ्यता ने मनुष्य को प्राणिजगत में अपूर्व लोच प्रदान कर उसे सर्वश्रेष्ठ* प्राणी बना दिया है।

नये पर्यावरण से पुनः समायोजन

आदिम सरल समाजों के मनुष्य की अपेक्षा आधुनिक मनुष्य नये पर्यावरण से पुनः समायोजन करने में अधिक समर्थ है। परन्तु कभी कभी वह ऐसी स्थिति में फंस जाता है जब पुनः समायोजन केवल शक्तिशाली ही नहीं वरन् कठिन भी होता है। यह कठिनाई दो कारणों से आती है। प्रथम यह समाज की रचना में आन्तरिक अस्थिरता का परिणाम हो सकता है जिसका विस्फोट शान्तिमय अथवा हिंसात्मक क्रान्ति में होता है जिससे पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाता है। क्रान्ति के बाद लोगों को नई परिस्थिति के अनुकूल बनना ही पड़ता है। उन्हें अपनी पुरानी प्रिय परम्पराएं, विश्वास, भक्तियाँ, विशेषाधिकार और पूर्वनिर्णय तथा दावे छोड़ने पड़ते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद रूस और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत और चीन की क्रान्तियाँ इस बात की साक्षी हैं।

द्वितीय, वर्तमान जीवन की बढ़ती हुई (वर्द्धमान) गतिशीलता में अचानक पुनः समायोजन की समस्या कितने ही बार उठ खड़ी होती है। लोगों को बार बार नये पर्यावरण में रहना पड़ता है जहाँ पुरानी आदतों से काम नहीं चलता। यदि ग्रामीण जाकर नगर में बसता है अथवा कोई व्यक्ति एक छोटे नगर को छोड़कर दूसरे महानगर में जा बसता है तो उसे इसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। *यही दशा किसी समुदाय में शामिल होने वाले आवासियों की होती है।* पाकिस्तान से विस्थापित लोगों को भारत में आने पर आवासियों की समस्याओं से लड़ना पड़ा

था। उच्च औद्योगिक समाजों में जनसंख्या के निरन्तर निष्क्रमण से पुनः समायोजन की दूसरी स्थिति का जन्म होता है। पुनः समायोजन में संघर्षों—खुल्लमखुल्ला अथवा प्रच्छन्न—का स्थान नगण्य नहीं होता। दोनों प्रकार की जनसंख्याओं को—प्रवासी और मूल निवासी—का पुनः समायोजन की कठिनता और व्यापकता का अनुभव करना पड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका तथा लंका में प्रवासी भारतीयों तथा मूलनिवासियों को पुनः समायोजन की ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है।

व्यवस्थापन

समायोजन और पुनःसमायोजन (adjustment and readjustment) द्वारा व्यवस्थापन (accommodation) की प्रक्रिया के अंग होते हैं। व्यवस्थापन के अन्तर्गत सामाजिक अनुकूलन के जटिल विषय का अध्ययन होता है जो जैविकीय उपार्जन (biological adaptation) से भिन्न है। नये पर्यावरण से व्यवस्थापन (सामाजिक अनुकूलन) की प्रक्रिया में मनुष्य या समूह की भावना में अन्तर पड़ जाता है। कहीं-कहीं लोग नई स्थिति का महत्व स्वीकार कर लेते हैं। कहीं नई स्थिति के प्रति उनके मस्तिष्क में श्रद्धा और अनादर का द्वन्द्व चला करता है। अन्यत्र वे नई स्थिति के पूर्ण विरोधी हो जाते हैं। नये पर्यावरण से समायोजन करने की सबसे सफल और सरलतम रीति आगन्तुकों द्वारा नई बस्तियों अथवा उपबस्तियों की स्थापना होती है। ये बस्तियाँ उनके लिए सांस्कृतिक द्वीप (cultural island) के समान होती हैं। इन बस्तियों के जीवन से प्रवासी दीर्घकाल तक अपना सम्बन्ध बनाये रहते हैं। उदाहरण के लिए बम्बई में पारसी समुदाय अथवा लखनऊ, कानपुर या दिल्ली में बंगाली, मराठी, मारवाड़ी या मद्रासी-बस्तियाँ या उप-बस्तियाँ। बड़े नगरों में निकटवर्ती देहातों क्षेत्रों से आकर बसने वाले मजदूरों की बस्तियों में भी ऐसी प्रकार का जीवन होता है।

सात्मीकरण

असमान व्यक्तियों और समूहों का भी सम्पर्क होता है। साथ-साथ रहने पर उन्हें व्यवस्थापन करना पड़ता है। कभी-कभी इन असमान व्यक्तियों और समूहों में सामञ्जस्य की प्रक्रिया व्यवस्थापन से आगे बढ़ जाती है। यहाँ उनमें परस्पर घुल-मिल कर एक या समान हो जाने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगती है। जब उनके जीवन ढंग, दृष्टिकोण और दिन चर्या में सामञ्जस्य आ जाता है तो सात्मीकरण (assimilation) की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। सात्मीकरण अन्तःप्रवेश (interpenetration) और एकता (fusion) की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों और समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और रुचियों को अपना लेते हैं और उनके (दूसरों के) अनुभव और इतिहास में भागीदार बनकर एक सांस्कृतिक जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। संक्षेप में सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें असमान व्यक्तियों और समूहों ने एक ही भावनाओं, मान्यताओं और ध्येयों को अपना लिया

है। उन सबसे एक ऐसा समूह बन जाता है जिसमें एकता होती है। सात्मीकरण की प्रक्रिया में दो असमान अथवा विजातीय समूहों में परस्पर आदान प्रदान होता है परन्तु सशक्त समूह के जीवन ढंग को अपनाने में निर्बल समूह अधिक बाध्य होता है। निर्बल समूह को सशक्त समूह के हितों ध्येयों और भावनाओं को यहां तक अपनाना पड़ता है कि वह सशक्त समूह में खप जाता है। धीरे धीरे उसका पृथक अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। सशक्त समूह उसे अपना अंग ही मानने लगता है। भारत में १००० ईसवी तक अनेक प्रजातीय आये किन्तु वे सब यहां के आर्यसमाज में घुल मिल गये। अमरीका का आधुनिक समाज अनेक यूरोपीय प्रजातीय समूहों और सांस्कृतिक वर्गों के सफल सात्मीकरण का ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक असमान समूह और संस्कृतियां एकीकृत होकर एक ठोस और सामंजस्यपूर्ण समाज बन गये हैं। बड़े-बड़े नगरों में असमान समूहों के सम्पर्क में भी सात्मीकरण कार्य करता है। इस से तो नगरीय जीवन का एक सामान्य प्रतिमान विकसित हो जाता है।

आवासी और सात्मीकरण

हम बहुधा सुनते हैं कि आवासी समूह (immigrant group) अल्पसंख्यक होता है। स्वाभाविकतया वह निर्बल भी होता है। इस समूह का मूल या जन्म से वर्ग समूह में सात्मीकरण होना आवश्यक या सामाजिक दृष्टि से वांछित हो जाता है। इस स्थिति में सात्मीकरण की प्रक्रिया में कुछ बाधायें और सहायतायें मिलती हैं। यदि आवासी या मूल समूह में सामाजिक विलगाव (social distance) की एक सशक्त भावना नहीं है तो सात्मीकरण की प्रक्रिया बड़ी सरल और तीव्र हो जाती है। इसके विपरीत जब आवासी समूह में मूल समूह के प्रति विरोधी भावनायें बनी सुदृढ़ हों या आवासी समूह का विरोध मूल समूह करे तो सात्मीकरण की प्रक्रिया बहुत जटिल और कठिन हो जाती है। ऐसी स्थिति में दोनों असमान समूहों में सामाजिक दूरी की भावना बनी प्रबल होती है। ऐसी ही कुछ स्थितियां में सात्मीकरण की जटिलता और विभिन्नता का समझने के लिये कुछ मुख्य सम्बन्धित कारकों की ओर संकेत नीचे किया जा रहा है।

(१) *नये समाज की अवस्था*—नई भूमि में प्रवेश करने पर आवासियों का स्वागत होगा अथवा नहीं यह प्रवेश करते समय की दशाओं पर निर्भर होगा। यदि नये प्रदेश की आर्थिक अवस्था पिछड़ी है और आवासी उसमें उन्नति करने में समर्थ हैं तो उन्हें इस प्रदेश में शीघ्र स्थान मिल जायगा। इसके विपरीत यदि नये देश का विकास अच्छा खासा हो चुका है, समाज उन्नत है और पेशा और व्यवसायों में भी उन्नति हो चुकी है तो आवासी को अपनाने में या उसे स्वीकार करने में यह समाज हिचकेगा ही नहीं अपितु अपने हितों की रक्षा के लिये आवासियों का विरोध भी करेगा। इसी प्रकार यदि नई भूमि को विकसित करने के लिये उद्योगों की स्थापना जरूरी है और वे उद्योग आवासी स्थापित करने में समर्थ हैं तो उन्हें बहुत शीघ्र

स्वीकार किया जायगा। यही बात आवासियों के पक्षों में दक्षता के बारे में नहीं है। यदि नये देश को ऐसे लोगों की जरूरत है जो कुछ विशिष्ट पेशों में दक्ष हों तो प्रवेश पर वे शीघ्र स्वीकार कर लिये जायेंगे। शहरों में देहातियों की बड़ी संख्या आकर बस जाती है और उन्हें शहरी जीवन में खपने का अवसर भी मिलता है क्योंकि शहर के उद्योगों में श्रम की पूर्ति इन्हीं देहातियों से होती है।

(२) आवासियों की संख्या—यह कहा जाता है कि नये प्रदेश में आवासियों के प्रति तभी तक सहिष्णुता बरती जाती है जब तक कि उनकी संख्या थोड़ी रहती है। भारी संख्या में आने पर मूल समाज के निवासी सशंकित होने लगते हैं। कभी-कभी यह प्रवृत्ति प्रयत्न विरोध में प्रकट होती है। आवासियों की कितनी संख्या उचित है अथवा कितनी संख्या के प्रति सहिष्णुता दिखायी जाती यह परिस्थिति पर निर्भर है।

(३) शारीरिक लक्षण—यदि नये आवासी शारीरिक बनावट में मूल निवासियों से भिन्न हैं अर्थात् यदि उनके रंग, मुखाकृति तथा अन्य शारीरिक अंगों में और मूल निवासियों के दृश्य अन्तर है तो नये आवासी के सात्मीकरण में बाधा पड़ेगी। अंगों में शारीरिक बनावट खुद पूर्व निर्णय या विरोध को जन्म नहीं देती। शारीरिक बनावट से श्रेष्ठता या हीनता की भावना तभी उभड़ती है जब अन्य कारण जैसे हितों का संघर्ष उपस्थित हो।

(४) संस्कृतियों में समानता एवं असमानता—नये आवासियों और मूल निवासियों की संस्कृतियों में जितना अधिक साम्य होगा उतना ही सरल और शीघ्र सात्मीकरण होगा। भारत के तमिल प्रदेश जाने वाले प्रवासी बिना विशेष कठिनाई के लंका के समाज में घुल मिल गये। दोनों की भाषा और धर्म में बहुत साम्य था। सांस्कृतिक विशेषताओं में धर्म और भाषा की भिन्नता सात्मीकरण में अधिक बाधा डालती है और वस्त्रों, वेषभूषा, भोजन, प्रथायें, विश्वास और दर्शन सभी की भिन्नता सात्मीकरण की क्रिया को कठिन बना देते हैं।

(५) अन्य समुदायों का स्थान—हमने देखा है कि आवासी बहुधा नये देश, शहर या प्रान्त में अपने पृथक उपनिवेश या बस्तियाँ बसा लेते हैं। ये उपनिवेश या अन्य समुदाय सात्मीकरण में महत्वपूर्ण दोहरी भूमिका अदा करते हैं। पहले ये नये आवासियों को सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। वे आते ही सांस्कृतिक धक्का' नहीं पाते। इस प्रकार ये बस्तियाँ नई परिस्थितियों से समायोजन धीरे धीरे और कम कठिनाई से करा देती हैं। दूसरे चूँकि ये बस्तियाँ आवासियों की पुरानी परम्परायें उनके रीति रिवाज और रस्मों को कायम रखने में सहायक होती हैं नये देश का समाज इन्हें विदेशी अजनबी और अवांछित समझा करता है। इससे सात्मीकरण की क्रिया में अवरोध आता है।

सात्मीकरण और आवासियों की भावी पीढ़ियाँ

मूल निवासियों और आवासियों में सात्मीकरण की विधा से जो समान जीवन बनता है वह एक ही पीढ़ी में बन सकता है अथवा आवासियों की कई पीढ़ियों के बाद ही हो पाये। नये आवासियों में अपने जीवन के प्रति मोह रहता है। उससे निमृत विरोध या रोक नये जीवन में उन्हें नहीं रुपने देती। किन्तु इनकी सन्तानें उनके पुराने जीवन के आचरण से दूर होती जाती हैं और नये समाज की प्रथायें, विश्वास, भाषा, धर्म आदि अपनाते जाते हैं। आवासियों के बच्चों और इन बच्चों में रुचि और व्यवहार बहुत कुछ बदल जाते हैं। मूल निवासियों और आवासियों में सहवास के अतिरिक्त नाती-ब्याह भी होने लगते हैं। ये अन्तर विवाह दोनों समूहों में विरोध के कम होने या नष्ट हो जाने के साक्ष्य हैं। धीरे-धीरे आवासियों की सन्तान मूल निवासियों की पोशाक, भाषा, धर्म, त्यौहार और परम्परायें अपना लेते हैं।

कभी-कभी सन्तति काल में आवासी के बच्चों में अपने परिवार और पड़ौस के नियन्त्रण के खिलाफ विद्रोह उठ खड़ा होता है। जब उन्हें मालूम होता है कि उनके माता-पिता के विश्वासों, प्रथाओं, विचारों या पोशाक को मूलनिवासी घृणा या अनादर से देखते हैं जब उन्हें विद्यालय, खेल के मैदान और काम के केन्द्रों में अपने पूर्वजों की संस्कृति के प्रति घृणा का वातावरण दिखाई देता है तो ये अपने परिवार और पड़ोस के नियन्त्रणों को दूर फेंक देते हैं, परिपाटी और परम्परा की अवहेलना करते हैं और किशोर अपराधी बन जाते हैं। वास्तव में आवासियों के बच्चों को सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण से अनुकूलन करने में बड़ी कठिनता आती है क्योंकि उनमें परिवार तथा समुदाय की रूढ़ियों में भेद ही नहीं कभी-कभी संघर्ष पाया जाता है। उनके सामने ऐसी स्थिति होती है कि उन्हें अपने लिये जीवन का एक नया प्रतिमान बनाने की अतीव आवश्यकता प्रतीत होती है।

अनुकूलन का सिद्धान्त

व्यक्ति और समूह जिन तरीकों से और जितने अंशों में नये पर्यावरण की सामाजिक दशाओं से अनुकूलन करते हैं उसके बारे में ऊपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि उन्हें अनुकूलन की विधा में कई समस्याओं और अवरोधों का मुकाबला भी करना पड़ता है। आइये अब अनुकूलन के सिद्धान्त का विवेचन करें।

ऊँची या अधिक विकसित सभ्यताओं में अनुकूलन कम लोचहीन होता है। अधिक विकसित और अधिक जटिल समाज में विभेदीकरण की मात्रा अधिक होती है। उसमें समुदाय के प्रतिमानों से नये आने वाले का पूर्ण सरूपीकरण नहीं होता। तरीकों, नीतियों, प्रथाओं तथा विश्वासों में भेद होने में समुदाय की माँग कम लोचहीन और कम व्याप्त होती है। नये सदस्य को अपने सामाजिक सम्बन्ध चुनने, अपने

निज स्थान प्राप्त करने तथा नई दशाओं में अपनी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति करने के अधिक सुयोग मिलते हैं। जटिल समाज के आगन्तुक के लिए तथा मूल निवासी के लिए अनेक स्थान हैं। उसे वहाँ के वातावरण में अपने अनुकूल स्थान या सम्बन्ध ढूँढने में कठिनता नहीं होती। वास्तव में जटिल समाज की विजातीयता (heterogeneity) उसके अनुकूलन को सरलता तथा शीघ्रता से हो जाने देती है। एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उपरोक्त अनुकूलन सिद्धान्त के अपवाद भी हैं। जिस सुविधा से आगन्तुक नये समाज की रूढ़ियों से अनुकूलन कर लेता है वह हमेशा उसकी उपयोजन क्षमता (adaptability) के अलावा पूर्णतया समाज की विकास अवस्था पर आश्रित नहीं है। कुछ समुदाय आगन्तुकों के प्रति अधिक सहिष्णु होते हैं और कुछ बहुत कम तथा कुछ तो हर प्रकार के आगन्तुकों का प्रवेश अवांछित तथा अग्राह्य समझते हैं। इसके लिए कई कारण दिए जा सकते हैं। इतिहास और संस्कृति में इन विविध रूपों को खोजना पड़ेगा। मध्यकाल से आज भारत बहुत अधिक विकसित हो चुका है किन्तु मुसलमानों के प्रति सहिष्णु होना तो दूर रहा हिन्दू आज भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है। इस रूप के आधार में ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इसी प्रकार संसार के किसी भी देश में यहूदी (Jews) बस तो पाये किन्तु चीन के समाज में वे अपना पृथक धर्म रखते हुए भी बिल्कुल एकीभूत हो गये हैं।

सामाजिक अनुकूलन तथा भौतिक उपयोजन
(Social Accommodation and Physical Adaptation)

जिस तरीके से समूह अपना उपयोजन अपने प्राकृतिक या भौतिक वासस्थान (habitat) से करते हैं उसे प्राकृतिक उपयोजन कहते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि जिन विधियों से समूह एक पूर्वस्थित सामाजिक परिस्थिति से समायोजन करते हैं उसे अनुकूलन कहते हैं।

प्राकृतिक उपयोजन एक जैविक क्रिया है अनुकूलन एक सामाजिक क्रिया। यदि महाराष्ट्र के कुछ लोग जाकर पंजाब में बस जायें और उनके बच्चों का कद तथा रंग सामान्य महाराष्ट्रीय बच्चों से भिन्न हो जाय तो वे नई दशाओं से (प्राकृतिक और सामाजिक) से जैविक उपयोजन करते माने जायेंगे। परन्तु जब इन्हीं बच्चों में हिंसात्मक या आक्रामक रूप विकसित हो जाएँ अथवा वे शहर की गन्दी बस्तियों के किशोर अपराधियों के गिरोह में शामिल हो जायें। इन दोनों उदाहरणों में सामाजिक अनुकूलन की क्रिया कार्य करती है।

सम्पूर्ण पर्यावरण के दोनों भौतिक एवं सामाजिक पहलू मनुष्य को सतत प्रभावित करते रहते हैं। सामाजिक रचना और सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करते समय भी हम मनुष्य पर इस प्रभाव की ओर संकेत करेंगे। यहाँ इस प्रभाव के बारे में केवल कुछ साधारण और प्रारम्भिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

११

वंशानुक्रमण और पर्यावरण

मनुष्य और समाजों में भेद होता है। हमारा साधारण अनुभव यह बतलात
है कि कोई भी दो व्यक्ति शारीरिक विशेषताओं, बुद्धि अथवा अन्य गुणों में एक समान
नहीं होते हैं। इसी प्रकार सामाजिक समूहों और समुदायों की विशेषताओं और गुण
में भेद होता है। इन भेदों को निश्चित करने वाले कारकों को जानने का प्रयत्न
प्रारम्भ से होता रहा है। मनुष्यों और समूहों के विकास में जिन कारकों का हाथ
उनमें से वंशानुक्रमण[1] और पर्यावरण दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक हैं।

बहुत प्राचीन काल से प्रायः सभी समाज और जातियाँ यह विश्वास करत
आई हैं कि सन्तान में माता पिता का रुधिर बहता है। समान से समान ही का ज
होता है। एक दम्पत्ति की सन्तान में उसके समान ही गुण और विशेषताएँ मिलत
हैं। विद्वान दम्पत्ति की सन्तान विद्वान, अपराधी की अपराधी और नीच की सन्ता
नीच होती हैं। हममें से हरेक ने सुना होगा कि खानदान का मनुष्य के व्यक्ति
विकास पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। यदि खानदान ऊँचा है उसमें शौर्यवान् औ
महान व्यक्ति हैं तो उनकी सन्तान भी महान् और शौर्यवान होगी। इसके विपरी
नीच, निकम्मे और चरित्रहीन खानदान की सन्तति नीच, निकम्मी और पतित हो
है। इसी सहज विश्वास का फल है कि ब्याह शादियों के समय युवक युवतियों
माता पिता खानदान देखते हैं और जहाँ तक होता है प्रतिष्ठित और पवित्र खान
दान से अपनी सन्तान का विवाह करना ठीक समझते हैं।

दूसरी ओर हमने उन कहावतों को भी पढ़ा और सुना है जिनमें मनुष्य
व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण के महत्वपूर्ण प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कि
जाता है। संगति ही मनुष्य को बनाती और बिगाड़ती है। 'नीच की संगति व्यक्ति

---

1 इसके स्थान पर 'पैतृकता' या 'वंशानुगमन' शब्दों का प्रयोग भी हो सकता है।

का नीच ही बना सकती है। कहावत भी है "काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।"

उपरोक्त दोनों प्रकार की प्रचलित धारणाओं का आधार सामान्य अनुभव है। इसलिए इनमें एकांगी दृष्टिकोण भरा है। वास्तव में दैनिक जीवन में हम प्रायः तथा अपनी भावना के आवेश में बह जाते हैं। किन्तु मनुष्य और समाज के विकास में कितना हाथ पर्यावरण का है और कितना वंशानुक्रमण का इसकी पड़ताल करना भूल से जाते हैं। मनुष्य के सामाजिक जीवन में इन दोनों कारकों के सापेक्षिक महत्व का निर्धारण करने पर गम्भीर ध्यान ही नहीं दिया जाता है। हम प्रायः अपने पूर्वानुभव तथा पूर्वनिर्णयों में किसी एक कारक के पक्ष में बह जाते हैं। अस्तु हमारा निर्णय असंतुलित और विकृत रहता है।

वंशानुक्रमण और पर्यावरण का विवाद

कुछ वैज्ञानिक भी सामान्य व्यक्ति के दोषों से नहीं बचे। जीवशास्त्री व्यक्तियों और समूहों के गुणों और विशेषताओं में अन्तर का कारण मनुष्य के वंशानुक्रमण में भेद को बताते हैं। उनकी यह धारणा है कि पर्यावरण चाहे जितना भिन्न हो जाय इस सत्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। कुछ समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने भी उपरोक्त धारणा में सहमति प्रकट की है। मनुष्य के सामाजिक जीवन में पर्यावरण को सर्वश्रेष्ठ प्रभावित कारक मानने वाले विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य के गुणों और स्वभाव एवं समूहों के विकास पर पर्यावरण का सबसे अधिक और स्थायी प्रभाव पड़ता है।

हम अपने पाठकों का ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। कुछ नवीन लेखकों ने समाजशास्त्र की पुस्तकों में लिखा है कि पर्यावरण को सर्वश्रेष्ठ कारक मानने वाले विद्वान साम्यवादी हैं। इसके विपरीत वंशानुक्रमण को मनुष्य और समाज के जीवन में प्राथमिक प्रभाव मानने वाले विद्वान् पूँजीवादी हैं। यह बात केवल भ्रान्त ही है। आधुनिक विद्वान्—चाहे पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही—यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक जीवन की सफलता में पर्यावरण तथा वंशानुक्रमण दोनों का महत्व है।

वंशानुक्रमण के प्रभाव का अध्ययन

फ्रांसिस गाल्टन ने सबसे पहले १८६९ ई० में अपनी पुस्तक[1] में लिखा कि यद्यपि प्रतिभा के सम्बन्ध में संयोग का कुछ स्थान है फिर भी बच्चों के अधिक बुद्धिमान होने की बहुत सम्भावनायें हैं यदि उनके माता पिता की बुद्धि श्रेष्ठ हो। वह यह कहता है कि मनुष्य के शारीरिक और मानसिक लक्षणों में भिन्नता पूर्वजों की भिन्नता के कारण होता है। कद वजन रंग स्वास्थ्य स्फूर्ति, मानसिक शक्ति

1 Francis Galton *Hereditary Genius* (1869)

यूथचारिता, बुद्धि, कार्यक्षमता आदि गुण मनुष्य की पैतृकता पर अवलम्बित हैं। बड़े बड़े न्यायाधीशों, राजनीतिज्ञों, सैनिक अधिकारियों, साहित्यिकों तथा खिलाड़ियों के जीवन चरित्रों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इन लोगों के कुटुम्बों में इन्हीं क्षेत्रों में प्रख्यात अन्य व्यक्ति भी हुए हैं। यह इस बात को सिद्ध करता है कि महानता का निर्धारण पैतृकता में होता है। उच्च वर्गों में निम्न वर्गों की अपेक्षा अधिक महान विभूतियाँ पैदा हुई हैं। पैतृकता के कारण ही मनुष्य की एक जाति का कार्यक्षमता और बौद्धिक विकास दूसरी जाति से भिन्न होते हैं।

(२) गाल्टन के अनुयाइयों में फ्रांस के अल्फ्रेड डि कण्डाल और ब्रिटेन के कार्ल पियर्सन के नाम प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने गाल्टन की पारम्परिक सम्बन्धी रीति का उपरोक्त समस्या के अध्ययन में प्रयोग किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि व्यवसायी और कुलीन वंशों में जन्मे लोगों ने ही साहित्य, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्रों में यश कमाया है। कार्ल पियर्सन ने यहाँ तक लिखा है कि मनुष्यों के महत्व पूर्ण भेदों के निर्धारण में पैतृकता की अपेक्षा पर्यावरण का बहुत कम प्रभाव है। उसका यह दावा था कि पर्यावरण और पैतृकता की सापेक्षिक प्रभावकता को नापा भी जा सकता है। उसने कुछ ऐसे साक्ष्य एकत्र किये थे जिससे यह सिद्ध होता था कि एक समुदाय में एक ही जाति के लोगों के लिए पैतृकता में पर्यावरण की अपेक्षा सात गुना अधिक प्रभाव है।[1]

(३) पियर्सन का अनुसरण अन्य कई अन्वेषणों में किया गया है। इनमें से कुछ में वर्ग अथवा व्यावसायिक श्रेणियों का अध्ययन कर यह प्रतिपादित किया गया है कि उन समूहों में जिनकी सामाजिक अथवा बौद्धिक प्रतिष्ठा उन्नत थी, प्रतिभावान् और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की संख्या सदैव ऊँची रही है। साथ ही कुछ में निश्चयात्मक पारस्परिक सम्बन्ध को उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है। राज घरानों में अन्य परिवारों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति जन्मते हैं। अमरीका के पादरी परिवारों में प्रख्यात व्यक्तियों की संख्या सबसे अधिक रही है। दूसरा स्थान पेशेवर परिवारों और तत्पश्चात् व्यापारियों, किसानों और मजदूरों के परिवारों का स्थान है। मकीन कैटल ने अमेरिकन मेन ऑव साइन्स में लिखा है कि अमरीका के ८८६ वैज्ञानिकों में से सबसे अधिक संख्या पेशेवर वर्गों में जन्मने वालों की थी। सबसे कम संख्या उन वैज्ञानिकों की थी जिनका जन्म कृषक वर्गों में हुआ था। परन्तु पेशेवर वर्गों में अमरीका की जनसंख्या का केवल ३% था जबकि कृषक वर्ग में लगभग ४० प्रतिशत।

(४) दूसरे विद्वानों ने मनुष्य और समाज पर पैतृकता के प्रभाव का अध्ययन करते हुए प्रजाति (race) या राष्ट्र की श्रेणियों को लेकर बौद्धिक परीक्षाओं

1 Karl Pearson *Nurture and Nature* (London 1910) & other papers in the Eugenics Laboratory Lecture Series

द्वारा उनमें उपस्थित विशाल अन्तर को दर्शाया है। क्लिनबर्ग ने अपनी पुस्तक 'रेस डिफरेंसेज' (१९३५) में बौद्धिक परीक्षाओं से जो भिन्न प्रजातियों के सदस्यों में किए गए थे, बौद्धिक स्तर को नापा है। इसने विभिन्न प्रजातियों और मानव-समूहों की श्रेष्ठता अथवा हीनता का कारण उनके वंशानुक्रमण को माना है।

(५) अन्य विद्वानों ने कुछ चुने हुए परिवारों की सन्तति के गुण एवं विशेषताओं, उनकी उन्नति और पराभव का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि श्रेष्ठ परिवारों की सन्तति भी श्रेष्ठ होती है। विपरीत इसके हीन या पतित परिवारों की सन्तान पतित और नीच होती हैं। विनशिप, गाल्टन और डुगडेल ने समृद्धिशाली एडवर्ड्स परिवारों और ज्यूक्स और कल्लिकाक परिवारों के वंशजों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि एडवर्ड्स वंश के सभी लोग श्रीसम्पन्न हुए और ज्यूक्स और कल्लिकाक परिवारों के वंशज पतित और निकम्मे हुए।[1]

क्या पैतृकता का प्रभाव श्रेष्ठतर है?

पैतृकता की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अध्ययनों में प्रायः ऐसे निष्कर्ष निकले हैं जो पैतृकता और पर्यावरण के सम्बन्ध की समस्या के ठीक-ठीक विश्लेषण को सरल करते हैं। उनमें एक ही बात बताया गया है कि प्रतिष्ठित अथवा समृद्ध परिवारों में उत्पन्न बालकों में बौद्धिक अथवा अन्य गुणों के विकास की अधिक क्षमता होती है। असमानता का कौन कारण है? [illegible] अमेरिका के १९३३-३४ ई० के [illegible] में इस प्रकार का अध्ययन मिलता है। उसमें यह सिद्ध किया गया था कि अकुशल श्रमिकों तथा श्रम व्यवसायियों के बच्चों का [illegible] अथवा प्रख्यात होने के अवसरों में क्या सापेक्षिक सम्बन्ध है।

अकुशल श्रम	६८,००० बच्चों में	१	प्रख्यात हुआ।
कुशल श्रम	,, ,,	[illegible]०	हुए।
किसान		…०	
व्यापारी		…००	
व्यवसायी		१०२५	
पादरी		…/००	

ये आँकड़े के तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु [illegible] इन बच्चों और इनके निष्कर्षों में [illegible] नहीं बदल सकते। इस प्रकार के तथ्यों से हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि [illegible] किसी प्रमाण (या कसौटी) से हम यह मालूम कर सकते हैं कि अमुक [illegible] व्यावसायिक समूहों में [illegible] के विभिन्न अनुपात में प्रख्यात व्यक्ति पैदा हुए हैं। प्रख्याति का [illegible] का क्या मापदण्ड है? इस पर बाद विचार करना [illegible]।

---

1 A. E. Winship Jukes Edwards (1900) H H Goddard The Kallikak Family (1912) R L Dugdale The Jukes (1877) A H Estabrook The Jukes in 1915 (1916) quoted by MacIver & Page *op cit* p 81

किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए इस प्रकार की सम्भावनाएँ हमको पैतृकता और पर्यावरण में से किसी के बारे में भी नहीं बताती। उनसे इन दोनों कारकों के विभिन्न मेलों की बाबत ही कुछ ज्ञात हो सकता है। इसी प्रकार के तथ्य इकट्ठे करने वाले बहुत से अन्वेषक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पर्यावरण की अपेक्षा पैतृकता अधिक शक्तिशाली कारक है। किन्तु इन्हीं तथ्यों का इससे उलटा निष्कर्ष निकालने के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है। हमने यह कई बार दोहराया है कि हर विशिष्ट समूह का विशिष्ट पर्यावरण होता है। पर्यावरण तथा जीवन की अनवरत अन्तःक्रिया होती रहती है। अगर इस तथ्य को हम भुला दें तो उपर्युक्त अध्ययनों द्वारा एकत्र साक्ष्यों के आधार पर केवल एकांगी निष्कर्ष निकलेंगे।

इस प्रकार के कुछ अन्य अध्ययनों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि विभिन्न व्यावसायिक अथवा वर्ग समूहों के सदस्यों की प्राप्तियाँ विभिन्न अनुपात में मिलती हैं। प्रायः कहा जाता है उच्च श्रेणियों के बच्चों में निम्न श्रेणियों के बच्चों की अपेक्षा प्राप्तियों का अंश अधिक होता है। यह भी कहा जाता है कि विभिन्न पेशों या व्यवसायों में लगे लोगों के समूह की जनसंख्या का वितरण नैसर्गिक योग्यता के आधार पर होता है परन्तु इन निष्कर्षों ने भी समस्या के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की उपेक्षा कर दी है। पेशों के अनुसार जनसंख्या का वितरण एक जटिल सामाजिक घटना है। इस वितरण का आधार जैविक नहीं है और न इसी प्रकार के किसी अकेले कारक को हम जानते हैं जिससे विभिन्न पेशों में शीघ्र गतिशीलता पाई जाये। छोटे या निम्न श्रेणी के पेशों के लोग कई बार उच्च श्रेणी के पेशों में चले जाते हैं। आधुनिक समय में व्यावसायिक गतिशीलता बहुत अधिक हो गई है। एक दूसरी बात और है जिसकी उपेक्षा उपरोक्त अध्ययन करते हैं। किसी समय भी छोटे से छोटे पेशे में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो साधारण लोगों से पर्याप्त ऊँची बुद्धि या प्रतिभा के होते हैं।

उपसंहार

पैतृकता के अनुसंधान अधिक सन्तोषजनक नहीं हैं। इनसे यह नहीं सिद्ध हो सकता है कि मनुष्यों की महानता पर्यावरण के कारण नहीं है। मजदूर वर्ग में व्यावसायिक वर्गों की अपेक्षा कम महान् पुरुष हुये हैं—इस तथ्य से यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि मजदूर-वर्ग का पर्यावरण ही ऐसा है जिसमें महानता के गुणों का प्रोत्साहन नहीं मिलता। मजदूरों के बच्चों को अभाव और निर्धनता में पालना पड़ता है। उनकी शिक्षा बहुत अपर्याप्त होती है। अभिप्राय यह है कि उनका सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण अवनत अथवा अभावग्रस्त होता है। कूले ने अपने एक लेख 'जीनियस फेम एण्ड दि कम्परिजन आव रेसज' में इस बात पर बल दिया है कि महान् विभूतियों के जीवन चरित्र इस बात के साक्षी हैं कि समाज में प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त लोगों को अनुकूल पर्यावरण मिला है। इतिहास में उन लोगों का कोई वर्णन नहीं है

निम्न मानसिक के गुण विद्यमान थे और जो प्रतिकूल परिस्थितियों के विरोध में भी अपनी श्रेष्ठ पैतृकता के बल पर आगे बढ़ चुके। कूने के वदन की महानता हम नेहरू परिवार के सदस्यों की ख्याति को दृष्टि में रखकर मालूम कर सकते हैं। इस परिवार के सभी सदस्य इतनी उन्नति कर सके हैं कि उन्हें उन्नति करने और महान् बनने के लिए उपयुक्त पर्यावरण मिल सका था। एक दूसरा उदाहरण लीजिये सिनेमा जगत की प्रसिद्ध पार्श्व गायिकायें—लता मंगेशकर आशा भोंसले आदि सभी बहिनें इस लिए इतनी ख्याति प्राप्त कर रही हैं कि उन्हें संगीत कला की यथेष्ठ प्रशिक्षा मिली। इस कला में दक्षता प्राप्ति के लिये उन्हें अपने पिता से प्रेरणा मिली और पिता तथा उनके अन्य मित्रों से मिलकर उचित पर्यावरण भी मिला। मनुष्य की सामाजिक ख्याति का प्रधान कारण उसकी अपरिमित शिक्षा-दीक्षा है। हाँ पैतृकता के श्रेष्ठ होने से इस शिक्षा-दीक्षा का परिणाम बहुत अच्छा हो सकता है।

कितने ही परिवार यशस्वी हुए और फिर अवनति और नगण्यता के गर्त में डूब गये। इनकी उन्नति और अवनति में पर्यावरण और पैतृकता का कितना हाथ रहा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर्यावरण की तुलना एक कारीगर से की जा सकती है। कुशल कारीगर कच्चे माल से सुन्दर और श्रेष्ठ माल तैयार कर लेता है। अकुशल कारीगर उसी कच्चे माल से कुरूप और निम्न श्रेणी का माल तैयार करता है। यहाँ कच्चे माल से मनुष्य के वंशानुगत गुणों की तुलना की जा सकती है।

पैतृकता और बुद्धि

विभिन्न विद्वानों ने (विशेषकर मनोवैज्ञानिकों ने) भिन्न भिन्न वर्गों या नस्लों के लोगों की बुद्धि परीक्षाएँ करके उनकी पैतृकता और बुद्धि में सम्बन्ध स्थापित किया है। नीच पैतृकता वाले बच्चों या लोगों की बुद्धि का मानदण्ड नीचा होता है। इसके विपरीत श्रेष्ठ पैतृकता वाले लोगों की बुद्धि का मानदण्ड ऊँचा माना है।

परन्तु इन अध्ययनों के निष्कर्ष अशुद्ध हैं क्योंकि बुद्धि-परीक्षा की रीति अभी दोषपूर्ण है। विभिन्न पर्यावरणों में रहने वाले वर्ग तथा मनुष्य समाजों की संस्कृति में भेद होना अनिवार्य है। एक समूह के व्यक्तियों को जिन बातों की विशेष जानकारी है, बहुत सम्भव है कि दूसरे समूह के लोगों को उन बातों की किंचित मात्र भी जानकारी न हो। किसानों को खेती की जीवन सूक्ष्म जानकारी हो सकती है। शहर में आकर वही किसान अजीब भौंचक्का हो जाता है। जब वह सड़क के बायें किनारे पर नहीं चल पाता तो विचारा 'गँवार' कहा जाता है। बुद्धि परीक्षा के लिए प्रयुक्त प्रश्नों में सबसे बड़ा दोष यह होता है कि वे सार्वभौमिक नहीं हैं जिनके उत्तरों की अपेक्षा हर समूह के सदस्यों से की जा सके। एक समूह के लिए बनाये गये प्रश्न दूसरे समुदाय के लिए उपयुक्त नहीं होते। यदि एक ग्रामीण और एक नगरीय विद्यालय के विद्यार्थियों

से कुछ सामान्य प्रश्न पूछे जायें तो बहुत सम्भव है कि कुछ ग्रामीण विद्यार्थियों के उत्तर नगरीय विद्यार्थियों के उत्तरों से कहीं अधिक अच्छे हों। इसी प्रकार, यदि कोई चार प्रश्न सामान्य रूप से ब्राह्मणों और चमारों से पूछे जायें तो सम्भवतया ब्राह्मणों के उत्तर अनाप शनाप हो सकते हैं और चमारों के सर्वोत्तम। या केवल कुछ चमारों के उत्तर सर्वोत्तम हों लेकिन औसतन ब्राह्मणों के उत्तर अच्छे हों। इसमें बुद्धि-परीक्षा की रीति के दोष प्रत्यक्ष हो जाते हैं। बुद्धि परीक्षाओं से किसी विवादहीन निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।

नैसर्गिक योग्यता में अन्तर

यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि विभिन्न वर्गों या नस्लों के सदस्यों में नैसर्गिक योग्यता असमान होती है तो यह तो नहीं सिद्ध होता कि यह असमानता उनकी भिन्न पैतृकता के ही कारण है। इस असमानता पर पर्यावरण का प्रभाव भी निस्सन्देह पड़ता होगा।

शारीरिक विशेषताओं में भेद

कुछ विद्वानों ने शारीरिक विशेषताओं में भिन्नता का कारण भी श्रेष्ठ या हीन पैतृकता बताया है। अमरीकी सैनिक गोरा, ऊँचे कद का और बलिष्ठ होता है। क्यों ? उसकी पैतृकता श्रेष्ठ है। इसके विपरीत जापानी या चीनी सैनिक न तो इतना गोरा ही होता है और न इतना ऊँचा और बलिष्ठ ही। क्यों ? उत्तर, उनकी पैतृकता अमरीकी सैनिकों की पैतृकता से हीन है। कुछ लोग तो मनुष्यों के मानसिक और चारित्रिक गुणों की श्रेष्ठता अथवा हीनता का कारण पैतृकता ही मानते हैं। इस प्रकार के विचार भ्रमात्मक और अवैज्ञानिक हैं। शरीर की रचना, कद और बलिष्ठता आदि विशेषताओं पर जलवायु, भोजन, रहन-सहन तथा प्रारम्भिक संस्कार का प्रभाव उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पैतृकता का। शीनफेल्ड लिखता है कि गर्भ के क्षण से लेकर यौवन तक वृद्धि करने वाले वाह्य वायु पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। माता के स्वास्थ्य, गर्भियों की व्यवस्था, खान पान, रहन का परिस्थितियाँ, व्यवसाय, व्यायाम, चलने फिरने का ढंग आदि कई बातों का प्रभाव सन्तान की शारीरिक रचना पर पड़ता है।[1]

फ्रेंज बोआस ने कुछ माप्यों से सिद्ध किया है कि कई पीढ़ियों से अमरीका में रहने वाले प्रवासी जापानी और यहूदी प्रजातियों के लोगों की औसत ऊँचाई २ इंच तक बढ़ गई है। उनकी शारीरिक रचना में भी परिवर्तन हो गया है। प्रत्यक्ष है यह परिवर्तन अच्छे पर्यावरण और प्रजाति मिश्रण के कारण हुआ है।

उपसंहार

मनुष्य के ऊपर पैतृकता एवं पर्यावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। इन दोनों प्रभावों के पृथक् महत्व को पृथक पृथक कर नापना असम्भव सा है।

1 Schenfeld *You and Heredity* pp 81 82

से हुआ है उन्हें अध्ययन के लिए अलग अलग करना नितान्त असम्भव है। बहुत सम्भव है दोनों कारकों का मनुष्य के विकास में समान प्रभाव हो।[1]

सामान्य पर्यावरण और विभिन्न पैतृकता

शिशु कक्षों या अनाथालयों में पले बच्चों का पर्यावरण सामान्य रहता है। यह तो स्मरण ही रहेगा कि इन स्थानों पर बच्चे विभिन्न माता पिता की सन्तान होते हैं। अर्थात् इन विभिन्न पैतृकता के बच्चों को सामान्य पर्यावरण में पलने का अवसर मिलता है। कुमारी बर्क्स (Burks) ने इस प्रकार के बच्चों का अध्ययन कर यह सिद्ध किया कि मनुष्य की बुद्धि के विकास में पैतृकता का २०% तथा पर्यावरण का ८०% प्रभाव पड़ता है। अच्छे परिवार के पर्यावरण के बच्चे के बुद्धिफल में २० प्रतिशत तक वृद्धि हो सकती है।

डिविड एब्राह्मसन ने जो कहा है उससे पर्यावरण और पैतृकता में उचित सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा था कि मनुष्य क्या कर सकता है? अथवा उसकी क्या कार्यक्षमता है? यह पैतृकता निर्धारित करती है। और मनुष्य क्या करता है? यह पर्यावरण निश्चित करता है। मनुष्य की शक्तियाँ पैतृकता में निहित होती हैं और उनको बाहर निकालना पर्यावरण का कार्य है। बीज पैतृक गुणों का माप है किन्तु पौधे का विकसित होना पर्यावरण पर अवलम्बित है। यह कहना व्यर्थ है कि इनमें किसका प्रभाव कम या अधिक है।"

पैतृकता और पर्यावरण की अभिन्नता
(Inseparability of Heredity and Environment)

हमारे जीवन की प्रत्येक घटना पर्यावरण और पैतृकता दोनों कारकों की उत्पत्ति है। इस परिणाम में दोनों की समान आवश्यकता है। इन कारकों में से एक को भी हम अपने जीवन से हटा (eliminate) नहीं सकते और न किसी एक को पृथक (isolate) ही कर सकते हैं। हमारे जीवन की हर विशिष्ट स्थिति में दोनों का अत्यन्त जटिल मेल है। कल्पनातीत समय से नाना कारक विशिष्ट स्थिति को उत्पन्न करने में क्रियाशील (operative) रहे हैं। वे दोनों हमारे जीवन में इतने अधिक घुले मिले हैं कि उनका सापेक्षिक महत्व आँकना असम्भव है। लूम्ले (Lumley) सत्य कहता है कि हमारे जीवन पर हर प्रभाव दोनों का मिश्रण है।

शरीर और पर्यावरण में सम्बन्ध की स्थापना सात्मीकरण विधि (assimilation process) से होती है। शरीर पर्यावरण के भागों को चुनता है और उन्हें

1 Twin A Study of Heredity and Environment (Chicago 1947)

2 To argue which of the two is more important for the development of human being would seem to be about as futile as an argument whether the male's sperm or the female's ovum is the more important in effecting conception. Either without the other is essentially useless." J F Sociology (1951) p 174

अपने में समा लेता है। फलस्वरूप शारीरिक विकास इस बात पर निर्भर है कि (१) व्यक्ति ने अपने माता पिता से कितने और किस प्रकार वंशानुगत गुण प्राप्त किए हैं और (२) पर्यावरण ने उसमें क्या आत्मसात किया है।

मिच्युरिन (Michurin) ने अपने अन्वेषणों का निष्कर्ष इन शब्दों में दिया है। अपने अध्ययनों से मुझे विश्वास हो गया है कि पैतृकता प्राचीन पर्यावरण का कुल योग है। पर्यावरण प्रत्येक शरीर में समा जाता है। इसके कुछ अंश पित्र्यैकों (gen.ses) द्वारा आगामी पीढ़ियों की सन्तान में हस्तान्तरित हो जाते हैं।

पैतृकता, जिसका हस्तान्तरण बीज कोष्ठों (germ cells) के द्वारा होता है में जीवन की सम्भावनाएँ निहित होती हैं किन्तु इन सम्भावनाओं को यथार्थताओं (actualities) को जागृत और उपस्थित होने का अवसर पर्यावरण में मिलता है। जिन मनुष्यों अथवा समाजों में पर्यावरण में परिवर्तन आने पर तदनुरूप समायोजना करने की क्षमता नहीं होती वे अच्छे पर्यावरण में रहकर भी पिछड़े रहे। श्रेष्ठ पैतृकता का समुचित और सम्पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब उसके अनुकूल पर्यावरण मिले। अच्छा बीज अनुकूल पर्यावरण मिलने पर खूब फले-फूलेगा। किन्तु यदि बीज खराब है तो उसी पर्यावरण में रहने पर भी कोई अच्छा परिणाम नहीं दिखा सकता। लाइसैंको (Lysenko) भी इस तर्क की पुष्टि करता है।

सच तो यह है कि पैतृकता हमें विकसित होने की क्षमतायें (capacities) प्रदान करती है परन्तु इन क्षमताओं को विकास का अवसर पर्यावरण में मिलता है। पैतृकता में हमें क्रियाशील पूँजी (working capital) प्राप्त होती है और पर्यावरण से उसके नियोजन (investment) के पर्याप्त अवसर।[1]

मैकाइवर और पेज के मत को उद्धृत कर हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं। वे लिखते हैं कि इतना आवश्यक है कि पैतृकता जितनी अधिक श्रेष्ठ होगी उतना ही वह पर्यावरण की प्रतिकूलता को लाँघने की कोशिश करेगी और सम्भव है नष्ट भी हो जाय। इसी प्रकार पर्यावरण जितना अच्छा होगा उतनी ही अधिक उदारता से वह मनुष्य की पैतृकता की सम्भावनाओं (potentialities) को यथार्थताएँ (actualities) बनने का अवसर देगा।[2]

1 Landis and Landis *Social Living* p 8
[illegible] MacIver & Page *op cit* p 96

१२

ग्रामीण और नगरीय जीवन

हमारे सामाजिक जीवन के दो व्यापक संगठन गांवों और नगरों के रूप में मिलते हैं। वास्तव में सामुदायिक संगठन के ये दो प्रधान प्रकार हैं। नगर एक ऐसा पर्यावरण है जिसे समाज ने बनाया है। इसमें सामुदायिक जीवन के प्रयोजनों के लिये प्राकृतिक पर्यावरण के अनेक पहलुओं में संशोधन कर लिया जाता है। कभी कभी तो प्राकृतिक पर्यावरण को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। गांवों का जीवन अधिकांश प्राकृतिक पर्यावरण के अनुकूल होता है। पिछले अध्यायों में हम समाज पर पर्यावरण के प्रभावों की विवेचना कर चुके हैं। इस अध्याय में गांव और नगर के सामाजिक जीवन का अध्ययन हम इस उद्देश्य से करेंगे कि सामाजिक पर्यावरण के कौन कौन से मोटे मोटे प्रकार हो सकते हैं। गांव और नगर ये दोनों समुदाय दो प्रकार के व्यापक सामाजिक पर्यावरण के उदाहरण हैं। किन्तु इन सामुदायिक जीवन के भेदों का वर्णन करना कोई सरल काम नहीं है।

ग्रामीण और नगरीय जीवन की तुलना में कठिनाइयां
(Difficulties in Comparing Rural with Urban Life)

सामाजिक समूहों की तुलनाओं में चाहे फिर वे समूह हों या समुदाय वर्ग हों अथवा व्यवसाय हम अक्सर गलत निष्कर्षों पर पहुँचने का भय रहता है जब तक निम्नलिखित त्रुटि कारकों को हम भलीभांति न समझ लें। साधारणतः यदि इन तुलनाओं के लिये केवल कुछ उदाहरणों को ही पर्याप्त समझ लेना है। दो सम्पूर्ण स्थितियों में तुलना करते समय वह उन दोनों में से किसी एक तत्व को चुनकर उसी के आधार पर साधारण नियम (generalisations) बना देता है। किन्हीं दो समुदायों के भेद को समझने के लिये केवल प्रजाति धर्म व्यवसाय या जलवायु आदि जैसे अकेले कारकों को आधार मानना सरासर गलती है। दो पृथक स्थितियों की सही तुलना के लिये आवश्यक है कि हम उस ऐतिहासिक विधा को, जिसमें उनका आयतन

विकास हुआ है, विश्लेषण करें। दूसरे, प्रत्येक तुलनीय स्थिति के वर्तमान स्वरूप को निर्मित करने वाले विभिन्न कारकों का विश्लेषण भी करें।

ग्रामीण और नगरीय समाज की तुलना में निम्नलिखित कठिनाइयां हैं —

(१) अनेक शताब्दियों से मनुष्य के वास के दो साधारण और मोटे प्रकार गांव और नगर रहे हैं। किन्तु दोनों के बीच में कोई बहुत स्पष्ट भेद नहीं है जो यह बता सके कि अमुक स्थान पर गांव समाप्त हो जाता है अथवा अमुक स्थान पर नगर प्रारम्भ होता है। नगर और गांवों में केवल अंशों का अन्तर (difference of degree) है। यदि कलकत्ता या बम्बई से २० मील दूर कुछ लोगों ने जंगल में विशाल प्रासाद बना कर रहना आरम्भ कर दिया है तो उसको एक नगर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि नगर के बीचों-बीच में किसी सम्पन्न घराने ने एक बड़ा बाग लगाकर उसमें कुछ छोटे-छोटे मकान बना लिये हैं तो वहां प्राकृतिक वातावरण होते हुए भी उसे गांव नहीं कहा जा सकता। गांव और नगर भौगोलिक स्थान मात्र नहीं हैं। वे सामुदायिक जीवन के रूपों के रूप भिन्न हैं।[1]

एक समुदाय को नगर कहा जाय अथवा गांव इस पर सभी सभ्य देशों के जनसंख्या गणकों ने भिन्न भिन्न प्रमाणों (criteria) को स्वीकार किया है। फ्रांस में २००० की आबादी वाले समुदाय को नगरीय क्षेत्र कहा जाता है। अमरीका में २,५०० और जापान में ३०००० की जनसंख्या वाले समुदाय को नागरीय क्षेत्र कहा जाता है। भारत में ५,००० से कम जनसंख्या के अनेक कस्बे (townships) हैं। १९५१ ई० की जनगणना प्रतिवेदन[2] में भारत के नगरों (towns) को चार वर्गों में विभाजित किया गया है

१ महानगर (cities)—१ लाख या अधिक जनसंख्या
२ बड़े नगर (major towns)—२० हजार से १ लाख जनसंख्या
३ नगर (minor towns)—५ हजार से २० हजार जनसंख्या
४ कस्बे (townships)—५ हजार से कम जनसंख्या

जनगणना रिपोर्ट में यह भी संकेत दिया गया है कि किसी क्षेत्र को नगरीय अथवा ग्रामीण मानने के लिए कई कारकों पर ध्यान दिया जाता है। नगरीय क्षेत्रों के निर्माण के कई कारक हैं। जनसंख्या उनमें से केवल एक कारक है। भारत में विभिन्न राज्यों में ही ये कारक भिन्न भिन्न (असमान) हैं।

संसार के विभिन्न देशों में नगरीय क्षेत्र के निर्धारण के भिन्न भिन्न प्रमाण माने जाते हैं। कहीं जनसंख्या है, कहीं जनसंख्या का घनत्व, कहीं समुदाय की वैधानिक स्थिति और कहीं पर का प्रबन्ध ढंग। फिर जिन समूहों को ग्रामीण अथवा

---

1 Rural and urban depict modes of community life not simply geographical location MacIver & Page Society p 311
2 Census of India 1951 Main Report

नगरीय कहा जाता है। उनके अंतर्गत अनेक भेद होते हैं। इससे नगरों और गावों की तुलना का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है।

अतएव ग्राम और नगर की तुलना के अंतर्गत अनेक तुलनाओं का एक क्रम स्थापित करना पड़ता है। मान लीजिये कि हमारे पास एक रंग बिरंगा चित्र है। उसके एक किनारे पर ग्राम और दूसरे पर महानगर है। इन दोनों किनारों के बीच अनेक रंगों की भांति ऐसे अनेक समुदाय हैं जो लघुतम ग्राम और विशालतम महा नागर के दो छोरों के बीच में क्रम से खड़े है। दो छोरों के बीच नगरीकरण के विभिन्न अंशों के दर्शन होते हैं। महानगरों से भी सबसे विशाल एक नगर कहा जाता है। संसार के प्रायः सभी बड़े और सभ्य देशों में एक ऐसा नगर होता है जो राष्ट्रीय सीमा के अन्दर के सभी नगरों का पितामह होता है। भारत का कलकत्ता, जापान का टोकियो इंगलैण्ड का लन्दन अमरीका का न्यूयार्क, रूस का मास्को, फ्रांस का पेरिस ऐसे ही नगर है। ग्रामीण और नगरीय जीवन में भेद की स्पष्ट रेखा न होने के कारण कुछ समाज शास्त्रियों ने इन जीवनों की सुपरिचित विभाज्यता को केवल सैद्धान्तिक कहा है। किन्तु इस विचार में सत्यता नहीं है। ग्राम और नगर सामुदायिक जीवन के दो यथार्थ रूप है। हम में प्रत्येक जानता है कि गाव क्या है और नगर क्या।

(२) एक नगर में अनेक पर्यावरण—दूसरी कठिनाई यह है कि मुख्यतया बड़े नगर को एक ही समुदाय नहीं कहा जा सकता। बड़े नगर में विभिन्न संस्कृतियों वाले अनेक समूह बसते है। उनमें से प्रत्येक का सामाजिक पर्यावरण दूसरों के सामाजिक पर्यावरणों से बिल्कुल भिन्न होता है। इस तरह विशाल नगर में अत्यधिक भिन्न सामाजिक पर्यावरणों का एक क्रम होता है। विभिन्न गांवों में अन्तर अवश्य होता है किन्तु एक गाव के नागरिकों पर एक सामान्य प्रभाव ही पड़ता है। गाव के सभी निवासियों का सामाजिक पर्यावरण सामान्य होता है। नगर के निवासियों पर यह विभिन्न पर्यावरणों का प्रभाव पड़ता है। शहर में जीवन की अगणित रीतियां है। मनुष्य ने नगरीय जीवन की साज सज्जा और अवसरों में अत्यधिक विविधता की सृष्टि की है। गाव के निवासियों को एक प्रकार की भूमि जलवायु ऋतुओं आदि में रहना पड़ता है। उनके पेशों में अधिक विविधता नहीं होती है। उनके सुख-सुविधा की सामग्री में भी तीव्र अन्तर नहीं है। एक से प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण में जीवन बिताने के कारण ग्रामीणों में सामान्य भूमि सामान्य भाग्य और सामान्य सम्पन्नता की भावना प्रबल होती है। इसके विपरीत नगर में निवासियों के पर्यावरण, पेशों हितों स्वार्थों रुचियों और आदर्शों सभी में तीव्र एवं अत्यधिक भेद होता है। वे सामान्य रूप से या सभी मिलकर जीवन के शायद ही एकाध कार्यों को करते हो। उनकी सम्पन्नता और विपन्नता की धारणा भी एक नहीं होती। अतएव, नगर के लोगों में सामान्य भूमि, सामान्य भाग्य और सामान्य सम्पन्नता की भावना का विकास

होना दुर्लभ है। न तो नगर के सभी या अधिकांश लोगों के स्वार्थ समान हैं और न उठन-बैठन विश्राम करने या मनोरंजन के स्थान और घण्टे सामान्य हैं। इस दशा में उनमें घनिष्ठ और अनौपचारिक जीवन का विकास भला कैसे हो सकता है ?

नगर के जीवन में बहुत अधिक विजातीयता[1] होती है। यहां मुहल्ले के ही निवासियों में परिचय नहीं होता। उसी में धनी, निर्धन मद्रासी बंगाली हिन्दू मुसलमान ईसाई पारसी अथवा लम्बी अवधि से बसने वाले और नवीन आगन्तुक एक दूसरे से अनभिज्ञ और विचित्र जीवन बिताते हैं। इसी प्रकार दो मुहल्लों के जीवन में भारी अन्तर रहता है। जनसंख्या की संरचना वृद्धि की दर (जन्म और मृत्यु दरों का अन्तर) निष्क्रमणार्थियों का स्थान और गन्तव्य निवासियों के आर्थिक स्वार्थ राजनैतिक संगति सामाजिक संस्थायें और प्रथायें धार्मिक विश्वास अथवा सांस्कृतिक रीतियां सभी विषयों में भारी भेद मिलता है। वस्तुतः नगर विरोधों का घर है। इसलिए नगर और गांव की सीमता की तुलना करना व्यर्थ लगता है।

(३) गांव और नगर में परिवर्तनशीलता—नगर और गांव की तुलना करने में तीसरी कठिनता इस तथ्य से आती है कि दोनों समुदायों का जीवन स्थिर (गतिहीन) नहीं है। वह गत्यात्मक है। उनमें सतत परिवर्तनशीलता है। सभी दशाओं में ग्रामीण जीवन नगरों के सम्पर्क में आता जा रहा है। उस पर औद्योगीकरण का प्रभाव दिनों दिन बढ़ रहा है। इस कारण गांव के जीवन का भी शनैः शनैः नगरीकरण हो रहा है। दूसरी ओर गांवों से जनसंख्या और साधनों का शोषण कर नगरों का विकास द्रुतगति से हो रहा है। नगर में गांवों से चले लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है। इस तरह नगरों एवं गांवों के जीवन का भेद धीरे धीरे धूमिल (धुंधला) पड़ता जा रहा है। यदि गांव और नगर की अन्त क्रिया की एक नवीनतम विधा 'ग्राम-नगरीकरण' का प्रसार इसी गति से होता गया तो गांवों और नगरों के जीवन के आदर्शों में शीघ्र ही बहुत कमी आ जायगी। एक बात यहां पर स्मरण रखने की है। कई बार नगरीय जीवन की कई विशेषतायें वास्तव में उस घटना के कारण होती हैं जो नगर की ओर निष्क्रमण का परिणाम होती हैं। गांव से आकर नगर में बसने वाले अपने साथ अनेक ऐसी दशाओं और समस्याओं को लाते हैं जो नगरीय जीवन के स्वभाव पर गम्भीर एवं व्यापक प्रभाव डालती हैं। उदाहरण के लिए शहरों में एकाकीपन अथवा मित्रहीनता का अनुभव मूलतः प्रवासियों को होता है। इसी प्रकार वैयक्तिक और पारिवारिक विघटन की मात्रा उन समूहों में अधिक होती है जो शहर के पर्यावरण में समायोजन पर्याप्त और उचित समय में नहीं कर पाते।

---

1 The state of being heterogeneous Heterogeneous means of diverse character or having diverse origin भिन्न अथवा विरुद्ध जाति का (बमेल)।

नगरीय कहा जाता है। उनके अंतर्गत अनेक भेद होते हैं। इससे नगरों और गाँवों की तुलना का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है।

अतएव ग्राम और नगर की तुलना के अंतर्गत अनेक तुलनाओं का एक क्रम स्थापित करना पड़ता है। मान लीजिए कि हमारे पास एक रंग बिरंगा चित्र है। उसके एक किनारे पर ग्राम और दूसरे पर महानगर है। इन दोनों किनारों के बीच अनेक रंगों की भांति ऐसे अनेक समुदाय हैं जो लघुतम ग्राम और विशालतम महासागर के दो छोरों के बीच में क्रम से खड़े हैं। दो छोरों के बीच नगरीकरण के विभिन्न अंशों के दर्शन होते हैं। महानगरों से भी सबसे विशाल एक नगर कहा जाता है। संसार के प्रायः सभी बड़े और सभ्य देशों में एक ऐसा नगर होता है जो राष्ट्रीय सीमा के अन्दर के सभी नगरों का पितामह होता है। भारत का कलकत्ता, जापान का टोकियो, इंगलैण्ड का लन्दन, अमरीका का न्यूयार्क, रूस का मास्को, फ्रांस का पेरिस ऐसे ही नगर हैं। ग्रामीण और नगरीय जीवन में भेद की स्पष्ट रेखा न होने के कारण कुछ समाज शास्त्रियों ने इन जीवनों की सुपरिचित विभाज्यता को केवल सैद्धान्तिक कहा है। किन्तु इस विचार में सत्यता नहीं है। ग्राम और नगर सामुदायिक जीवन [redacted] दो यथार्थ रूप हैं। हम में प्रत्येक जानता है कि गाँव क्या है और नगर क्या।

(२) **एक नगर में अनेक पर्यावरण**—दूसरी कठिनाई यह है कि मुख्यतया बड़े नगर को एक ही समुदाय नहीं कहा जा सकता। बड़े नगर में विभिन्न संस्कृतियों वाले अनेक समूह बसते हैं। उनमें से प्रत्येक का सामाजिक पर्यावरण दूसरों के सामाजिक पर्यावरणों से बिल्कुल भिन्न होता है। इस तरह विशाल नगर में अत्यधिक भिन्न सामाजिक पर्यावरणों का एक क्रम होता है। विभिन्न गाँवों में अंतर अवश्य होता है किन्तु एक गाँव के नागरिकों पर एक सामान्य प्रभाव ही पड़ता है। गाँव के सभी निवासियों का सामाजिक पर्यावरण सामान्य होता है। नगर के निवासियों पर कई विभिन्न पर्यावरणों का प्रभाव पड़ता है। शहर में जीवन की अगणित रीतियाँ हैं। मनुष्य ने नगरीय जीवन की साज सज्जा और अवसरों में अत्यधिक विविधता की सृष्टि की है। गाँव के निवासियों को एक प्रकार की भूमि, जलवायु, ऋतुओं आदि में रहना पड़ता है। उनके पेशों में अधिक विविधता नहीं होती है। उनके सुख-सुविधा की सामग्री में भी तीव्र अंतर नहीं है। एक से प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण में जीवन बिताने के कारण ग्रामीणों में सामान्य भूमि, सामान्य भाग्य और सामान्य सम्पन्नता की भावना प्रबल होती है। इसके विपरीत नगर में निवासियों के पर्यावरण, पेशा, हित, स्वार्थों, रुचि और आदर्शों सभी में तीव्र एवं अत्यधिक भेद होता है। वे सामान्य रूप से या सभी मिलकर जीवन के शायद ही एकाध कार्यों को करते हों। उनकी सम्पन्नता और विपन्नता की धारणा भी एक नहीं होती। अतएव नगर के लोगों में सामान्य भूमि, सामान्य भाग्य और सामान्य सम्पन्नता की भावना का विकास

होना दुर्लभ है। न तो नगर के सभी या अधिकांश लोगों के स्वार्थ समान हैं और न उठना बैठना, विश्राम करने या मनोरंजन के स्थान और घण्टे सामान्य हैं। इस दिशा में उनमें घनिष्ठ और अनौपचारिक जीवन का विकास भला कैसे हो सकता है ?

नगर के जीवन में बहुत अधिक विजातीयता[1] होती है। यहाँ मुहल्ले के ही निवासियों में परिचय नहीं होता। उसी में धनी, निर्धन, मद्रासी, बंगाली, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, पारसी अथवा लम्बी अवधि से बसने वाले और नवीन आगन्तुक एक दूसरे से भिन्न और विचित्र जीवन बिताते हैं। इसी प्रकार दो मुहल्लों के जीवन में भारी अन्तर रहता है। जनसंख्या की संरचना, वृद्धि की दर (जन्म और मृत्यु दरों का अन्तर), निष्क्रमणार्थियों का स्थान और गन्तव्य, निवासियों के आर्थिक स्वार्थ, राजनैतिक संगति, सामाजिक संस्थायें और प्रथायें, धार्मिक विश्वास अथवा सांस्कृतिक रीतियाँ सभी विषयों में भारी भेद मिलता है। वस्तुतः नगर विरोधों का घर है। इसलिए नगर और गाँव के औसतों की तुलना करना व्यर्थ लगता है।

(३) गाँव और नगर में परिवर्तनशीलता—नगर और गाँव की तुलना करने में तीसरी कठिनता इस तथ्य से आती है कि दोनों समुदायों का जीवन स्थिर (गतिहीन) नहीं है। वह गत्यात्मक है। उनमें सतत परिवर्तनशीलता है। सभी देशों में ग्रामीण जीवन नगरों के सम्पर्क में आता जा रहा है। उस पर औद्योगीकरण का प्रभाव दिनों दिन बढ़ रहा है। इस कारण गाँव के जीवन का भी शनैः शनैः नगरीकरण हो रहा है। दूसरी ओर गाँवों में जनसंख्या और साधनों का शोषण कर नगरों का विकास द्रुतगति से हो रहा है। नगर में गाँवों में पले लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है। इस तरह नगरों एवं गाँवों के जीवन का भेद धीरे धीरे धूमिल (धुँधला) पड़ता जा रहा है। यदि गाँव और नगर की अन्तःक्रिया की एक नवीनतम विधा ग्राम-नगरीकरण का प्रसार इसी गति से होता गया तो गाँवों और नगरों के जीवन के आदर्श में शीघ्र ही बहुत कमी आ जायगी। एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की है। कई बार नगरीय जीवन की कई विशेषतायें वास्तव में उस घटना के कारण होती हैं जो नगर की ओर निष्क्रमण का परिणाम होती हैं। गाँव से आकर नगर में बसने वाले अपने साथ अनेक ऐसी दशाओं और समस्याओं को लाते हैं जो नगरीय जीवन के स्वभाव पर गम्भीर एवं व्यापक प्रभाव डालती हैं। उदाहरण के लिए, शहरों में एकाकीपन अथवा भिन्नहीनता का अनुभव मूलतः आवासियों को होता है। इसी प्रकार वैयक्तिक और पारिवारिक विघटन की मात्रा उन समूहों में अधिक होती है जो शहर के पर्यावरण में समायोजन पर्याप्त और उचित समय में नहीं कर पाते।

---

1 The state of being heterogeneous : Heterogeneous means of diverse character or having diverse origin भिन्न अथवा विरुद्ध जाति का (बेमेल)।

ऊपर जिन कठिनाइयों की ओर संकेत किया गया है उनका समाधान बहुत सरल नहीं है। पर यदि हम जनसंख्या और सामाजिक पर्यावरण इन दोनों के आधार पर नगर की परिभाषा करें तो सम्भवतः हमारी समस्या का निराकरण हो सकता है। जनसंख्या के आधार पर विचार करते समय निरपेक्ष जनसंख्या, निरपेक्ष क्षेत्रफल और जनसंख्या का घनत्व इन तीनों पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। इन तीनों कारकों तथा सामाजिक पर्यावरण के आधार को प्राय कम अथवा अधिक महत्व देकर सभी इन्हें स्वीकार करते हैं। जनसंख्या के घनत्व विस्तार और परिमाण का नगर के पर्यावरण से काफी कारण सम्बन्ध है। नगरों में जनसंख्या विशाल परिमाण में होती है जो स्वाभाविकतया एक विस्तृत क्षेत्रफल में बसी होगी और जिनकी वृद्धि से जनसंख्या का घनत्व बढ़ेगा। इसलिए नगरों का सामुदायिक संगठन निराले ढंग का होता है। नगरवासियों का जीवन प्रकृति से दूर बहुत अकृत्रिम होता है। उनके सम्बन्धों में कम घनिष्ठता और अधिक औपचारिकता चित्रित लोगों और समूहों की प्रथाओं विचारों आदि से समायोजन करने की अधिक कुशलता उदारता एवं सहनशीलता तथा आन्तरिक भावों को छिपा कर नगर के सामान्य जीवन के अनुरूप रहने की कला का विकास होता है।

गाँवों का क्षेत्रफल थोड़ा होता है। उसमें बसने वाली जनसंख्या भी कम होती है। जनसंख्या का घनत्व भी बहुत कम होता है। इस कारण से ग्रामीण जीवन में घनिष्ठता अनौपचारिकता एवं एक सामान्य जीवन की अधिक गहरी भावना होना सम्भव होता है।

गाँवों की उत्पत्ति और विकास

हम पिछले अध्यायों में संकेत कर चुके हैं कि जब भोजन की पूर्ति नियमित और प्रचुर रूप से होने लगती है तो स्थायी जीवन का प्रादुर्भाव होता है। जीवन की स्थायी दशाओं में जिन समूहों का विकास होता है। उनमें से एक गाँव है। गाँव लोगों का एक स्थायी परन्तु छोटा समूह होता है जिनके घर और अन्य खेती करने के साधन एक स्थान पर होते हैं। गाँवों के जन्म की मूल परिस्थितियाँ आज से लगभग १०,००० वर्ष पूर्व नव पाषाण युग में उपस्थित रही होंगी। उस समय कृषि प्रारम्भ हो गई थी। कृषि करने वालों को एक स्थान पर स्थायी रूप से बसना अनिवार्य हो जाता है। पर ऐसे स्थान प्रारम्भ में नदियों या पहाड़ों की घाटियों की उपजाऊ मिट्टी के मैदानों में रहे होंगे और जहाँ कृषि और पशुपालन दोनों ही व्यवसाय साथ-साथ हो सकते होंगे। ज्यों-ज्यों कृषि की उन्नति होती गई गाँवों की स्थिति में अधिक स्थायित्व आता गया। भोजन की पर्याप्त और नियमित पूर्ति, तथा सुरक्षा के सफल साधनों ने गाँवों की जनसंख्या में वृद्धि की। धीरे धीरे ५० या ६० आदमियों वाले गाँवों की जनसंख्या ४०० ५०० पहुँच गई और आधुनिक युग में भारत में कुछ ऐसे भी गाँव मिलते हैं जिनकी जनसंख्या ६ ५०० अथवा कुछ अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों में

कुछ स्थानों की जनसंख्या तो १०,००० के निकट भी पहुँच गई है। आज के विकसित गावों में सामुदायिक जीवन के सभी आवश्यक तत्व उपलब्ध हैं।

संसार के समस्त देशों में गाँव हैं। फिर भी सभी देशों के गावों में बहुत अधिक भेद है। सभी गावों का कोई सामान्य वर्गीकरण करना कठिन ही नहीं है, वह केवल बौद्धिक अभ्यास रह जायगा। गिलिन और गिलिन ने यूरोप अमरीका संस्कृतियों के गावों को चार प्रकारों में विभाजित किया है। (१) खेती करने वाले गाव, (२) खेती न करने वाले गाव ( ) औद्योगिक गाव और (४) उपनगरीय गाँव।[1] अमरीका और रूस के गावों के स्वरूप में विभिन्नता तो है ही। यूरोप और अमरीका के गावों में भी काफी भिन्नता है। अमरीका में नगरीकरण का इतना अधिक विकास हुआ है कि वहाँ केवल २४% लोग ग्रामीण हैं। भारत चीन और दक्षिणी पूर्वी एशिया के गाव में अनेक सामान्य साम्य हैं परन्तु भारत चीन और मिस्र के गावों में सबसे अधिक साम्य है।

गाँवों के प्रकार

संसार के विभिन्न भागों की जातियों[2] के इतिहास में कृषि के विकास और प्रसार के साथ विभिन्न प्रकार के गावों की स्थापना हुई। इसका मुख्य कारण इन लोगों के भौगोलिक पर्यावरणों में भेद था। इसके अतिरिक्त लोगों के प्रारम्भिक गावों में कालान्तर में अनेक परिवर्तन हुए। उनके आकार प्रकार पर तान्त्रिक[3] आर्थिक एवं सामाजिक विकास तथा अन्य समाजों का प्रभाव पड़ा।

ग्राम का विभिन्न प्रान्तों एवं कालों में जो इतिहास रहा है उससे ज्ञात होता है कि ग्रामों के अनेक प्रकार रहे हैं। मैक्समन ग्राम जर्मनी का मार्क रूस का मीर भारत का स्वावलम्बी ग्राम सामन्तवादी यूरोप का ग्राम और अन्त में आधुनिक ग्राम, जो राष्ट्रीय और विश्व की आर्थिक प्रणाली का एक अभिन्न अंग है। आधुनिक ग्राम भी कई प्रकार के हैं जैसे अमरीकी गाँव पश्चिमी यूरोप का गाव एशिया के पिछड़े किन्तु आधुनिक दशा के गाँव और सामूहिक खेती पर आधारित सोवियत रूस का गाँव।

ग्रामीण समुदायों के वर्गीकरण के चिन्ह

(अ)—(१) भ्रमणशील कृषि-गाव जहाँ लोग एक निश्चित स्थान पर स्थायी घरों में केवल कुछ महीनों के लिए रहते हैं।

(२) अर्ध-स्थायी कृषि गाँव जहाँ लोग कुछ वर्षों तक स्थायी घरों में रहते हैं और तत्पश्चात भूमि की उर्वरता समाप्त होने ही दूसरे स्थान पर जा बसते हैं।

---

1 Gillin & Gillin *Cultural Sociology* (Macmillan New York 1948) pp 270-3 [i Farming villages ii non farming villages iii. Industrial villages and iv suburban villages
2 Peoples and not castes
3 Technological

(३) स्थायी कृषि-गाव जहा लोग स्थायी घरो म पीढियो अथवा शताब्दियो तक रहते हैं।

ये तीनो प्रकार के वे गाव है जिनका विकास मनुष्य की भ्रमणशील स्थिति स स्थायी स्थिति म सक्रमण की अवधि म हुआ।

(आ) इस वग म गावो का प्रधान चिह्न स्थानिक दूरी या निकटता है। *इस वग म दो प्रकार के गाव होते हैं।*

(१) केंद्रित गाव—इन गावो म किसान झुण्ड बनाकर पास पास रहते है। *उनके खेत गाव से बाहर उसके आस पास होते है। एक ही खास स्थान म रहने के* कारण इन लोगो का जीवन बडा घनिष्ठ और घुला मिला हो जाता है। भारत के अधिकाश गाव इसी प्रकार के होते है।

(२) छितरे हुए गाव[1]—इन गावो म किसान पृथक पृथक अपने खेतो पर मकान बनाकर रहते है। जसे अमरीका म फार्मों पर बसे गाँव। उनके मकान किसी एक खास स्थान पर नही बने होते। निवासियो के घरो के बीच काफी अतर होता है। यहा का सामाजिक जीवन केंद्रित गावो के सामाजिक जीवन स बहुत भिन्न होता है। इसम सामाजिक घनिष्टता और सामाय भाव की उतनी प्रबल भावना नही आने पाती।

(इ) सामाजिक भेदीकरण एव स्तरीकरण गतिशीलता एव भू-स्वामित्व के आधार पर भी गावो का वर्गीकरण किया गया है। इसके अनुसार गाव ६ प्रकार के होते हैं —

(१) सयुक्त स्वामी कृषको वाले गाव

(२) सयुक्त जोता कृषको वाले गाव,

(३) व्यक्तिगत अधिकारी कृषको वाले गाव जिसम कुछ जोता और मजदूर भी रहते हैं।

(४) व्यक्तिगत जोता कृषको वाले गाव

(५) एक बडे भू स्वामी के कमचारियो वाले गाव और

(६) राज्य नगरपालिका अथवा सावजनिक भू-स्वामी के कमचारियो और मजदूरो वाले गाँव।[2]

भारतीय ग्रामो को निम्नलिखित वर्गों म विभाजित किया जा सकता है —

(१) छोटे गाँव जिनकी जनसख्या ५०० से कम है,

(२) मध्यम आकार के गाँव जिनकी जनसख्या ५०० से २ ००० तक है

(३) बडे गाव जिनकी जनसख्या २ ००० से ५ ००० तक है और

(४) बहुत बडे गाँव जिनकी जनसख्या ५,००० से ऊपर है।

---

1 इधर उधर बिखरे हुए (scattered)

2 Zimmerman & Galpin *A Systematic Source Book in Rural Sociology* 3 vols p 560

ग्रामीण जनसंख्या का क्रमशः २६.१, ४८.८, १६.४ और ५.३ प्रतिशत इन चार प्रकार के ग्रामों में रहता है।

भारतीय प्रदेशों में जमींदारी विनाश कानूनों के लागू होने के पहले भू-स्वामित्व या राजस्व के आधार पर कई प्रकार के गाँव थे।[1]

हमारे पाठकों को सम्भवतः यह ज्ञात होगा कि भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या का ८३% ग्रामों और केवल १७% नगरों में वास करती है।

जनगणना प्रतिवेदन में भारतीय ग्रामों का जो वर्गीकरण आकार के आधार पर किया गया है वह अधिक सन्तोषजनक नहीं है। भारतीय गाँवों के एक व्यवस्थित वर्गीकरण की आवश्यकता है। क्योंकि इस प्रकार के वर्गीकरण एवं गाँवों के इतिहास की जानकारी से ही यहाँ के ग्रामीण जीवन का यथेष्ठ परिचय मिल सकता है।

नगरों का जन्म तथा विकास

सामुदायिक विकास में नगरों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत आधुनिक है। जब कृषि बहुत उन्नत हो गई तो विद्यमान जनसंख्या की भोजन की आवश्यकतायें पूरी होकर भी कुछ साधन फालतू बच रहते थे। इन फालतू साधनों का उपयोग कर मनुष्य के जीवन को अधिक सुखदायी बनाने की सम्भावना पर मनुष्य विचार करने लगा। उधर सामाजिक सुरक्षा में अभिवृद्धि हुई और सामाजिक संगठन में काफी स्थायित्व भी आ गया था। अतः सामाजिक पर्यावरण ऐसा अनुकूल मिला कि साधनों की अति-रिक्तता का सुन्दर उपयोग किया जा सके।

नव-पाषाण युग के उत्तरार्ध में संसार के अधिकांश भागों में नगरीय समुदायों की स्थापना हुई और उनका विकास होने लगा। मैसोपोटामिया, मिस्र, भारत और चीन में ईसा से ५,००० वर्ष पूर्व अनेक नगर बस गये थे। फिर भूमध्यसागर के आसपास और पूर्वी-दक्षिणी एशिया में अगले ४,००० वर्षों में अनेक विशाल नगरों का विकास हुआ। भारत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई है उनसे ज्ञात होता है कि सिंधु घाटी में ईसा से ४००० वर्ष पूर्व काफी उन्नत नगरीय सभ्यता मिलती थी। इस प्रकार तुर्की, चीन, पेरू और मक्सिको में विशाल नगरों का विकास ईसा के जन्म से पूर्व हो चुका था।

इससे स्पष्ट है कि नगरीय जीवन का विकास आवश्यकतावश यन्त्र प्रविधि पर निर्भर नहीं है। आधुनिक यन्त्र प्रविधि के विकास से हजारों वर्ष पूर्व नगरीय केन्द्र स्थापित हो चुके थे। हाँ यन्त्र प्रविधि के विकास और बड़े कारखानों की स्थापना ने आधुनिक समाज में नगरों के तीव्र विकास में निस्सन्देह भारी योग दिया है। गाँवों से श्रमिकों का विशाल संख्या में निष्क्रमण हुआ है। वे औद्योगिक नगरों में बस गये हैं। नगरीय विकास का प्रधान कारण एक ऐसी सांस्कृतिक रूपरेखा है जो जीवन-

1 लम्बरदारी, महालवारी और रैयतवारी गाँव।

निवाह अथवा विलासिता के पर्याप्त साधना की उत्पत्ति के लिये समय हो सके ताकि जनसख्या का एक भाग कृषि के अलावा अन्य कार्यों को कर सके और वह दूसरा के द्वारा उत्पन्न भोजन वडे नगरीय समूहो मे सुलभता से प्राप्त कर सके।[1]

नगरीय विकास के कारक

नगरो की उत्पत्ति और विकास के निम्नलिखित प्रमुख कारक है —

(१) साधनो का आधिक्य
(२) उपयुक्त अथवा सुविधाजनक प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण,
(३) परिवहन और साधना का विकास, और
(४) औद्योगिक आर्थिक राजनैतिक मानसिक एव सास्कृतिक दशाय।

१ **साधना का आधिक्य**—नगरो की स्थापना म सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। कृषि कला म उन्नति होने पर भोजनादि साधनो की प्रचुरता हो गइ। जनसख्या के एक भाग का श्रम अतिरिक्त हो गया जिसे कृषि के अलावा हस्तकला तथा अन्य कार्यों म लगाना सम्भव हुआ। ज्यो-ज्यो कृषि कला म उन्नति हुइ त्यो-त्यो जनसख्या का अधिकाधिक भाग नगरीय केन्द्रो म रहन-सहन लगा। आधुनिक युग म यन्त्रो के आविष्कार तथा प्रविधि के विकास म नवीन कारखानो की स्थापना हुइ। उनम काम करने के लिए ग्रामो स श्रमिक और कमचारी आकर उद्योग केन्द्रो म बस गए। उधर कृषि उत्पादन का प्रविधि म भी अभूतपूर्व उन्नति हुइ। अतएव थोडी जनसख्या हो कृषि करने लगी और नगरीय लोगो के लिय पर्याप्त भोजन तथा उद्योगो के लिये प्रचुर कच्चा माल उत्पन्न करने लगी।

२ **उपयुक्त प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण**—ससार के सभी प्रसिद्ध नगर ऐसे स्थानो पर हो बसे हैं जो या तो उपजाऊ और सुरक्षित नदी घाटियो म है अथवा समुद्र तटो पर। यदि किसी स्थान की भूमि उपजाऊ है वहा की जलवायु स्वास्थ्यकर है तथा वहा साधन तथा आवागमन की सुविधाय उपलब्ध हो सकती है तो बडे गावो और नगरो दोनो का विकास सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार अनुकूल सामाजिक पर्यावरण म नगरो के विकास को प्रोत्साहन मिलता है। शान्ति और व्यवस्था, सुसगठन और बौद्धिक विकास का सामाजिक पर्यावरण म विशेष महत्त्व है। ससार के सभी प्रसिद्ध नगरो की स्थिति उपयुक्त प्राकृतिक पर्यावरण म ही है।

३ **परिवहन और सचार के साधनो का विकास**—नगरो के विकास म यह तीसरा महत्त्वपूर्ण कारक है। पृथ्वी और जल मार्गों के विकास स ग्रामीण निष्क्रमण घटा है। प्रकृति म उपलब्ध सम्पदा का शोषण भी अधिकाधिक अच्छा सम्भव हो

1 'The sine quanon of urban development is a cultural configuration able to produce sufficient means of subsistence or of luxury so that a portion of the populat on may devote it elf to other pursuits and may be supported in large urban gro ips by the food producing efforts of others Gill in & Gillin *op cit* p 2 9

सका है। सड़कों, नदी मार्गों, समुद्री-मार्गों अथवा रेल तथा वायु मार्गों की उन्नति ने नगरों की उन्नति बड़ी तीव्रता से की है। सचार के साधनों, जैसे, समाचारपत्र, रेडियो, टेलीफून, सिनेमा, टेलीविज़न आदि के विकास ने सारे संसार को एक छोटा सा गाँव बना दिया है। अतएव सचार और परिवहन के विकास से अतिरिक्त साधनों का उपयोग सर्वोत्तम हो सकता है। गाँवों और नगरों के बीच गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा श्रम विभाजन और विशेषीकरण भी सुलभ हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग और व्यापार को सबसे अधिक प्रोत्साहन इन्हीं कारणों से मिलता है। इनसे राष्ट्रीय सुरक्षा और दृढ़ता को भी अभूतपूर्व योग मिला है। राष्ट्रीय सुरक्षा, प्रशासन, व्यवसाय, व्यापार और उद्योगों से सम्बन्धित अगणित कार्यों को करने वाली जनसंख्या नगरों में केन्द्रित हो गई है।

४. औद्योगिक, राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक कारक—औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना और उद्योगों की द्रुत उन्नति ने नगरों के विकास को बहुत तीव्र कर दिया है। संसार के अनेक नगर प्रधानतया औद्योगिक महत्त्व के हैं। कानपुर, अहमदाबाद, बम्बई, जमशेदपुर, कलकत्ता, शंघाई, लन्दन, न्यूयार्क, मैनचेस्टर, बर्लिन, लेनिनग्राड, शिकागो आदि ऐसे ही नगर हैं।[1]

कृषि की उन्नति, व्यापार और उद्योगों का विकास, उद्योगों का स्थानीयकरण, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा बाजारों का विस्तार, नई वितरण प्रणाली कुछ ऐसे आर्थिक कारक हैं जिन्होंने नगरीय विकास को बहुत द्रुतवान बना दिया है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अन्तःआश्रयिता ने नगरों को बहुत उन्नत किया है। आधुनिक युग में राष्ट्रीय स्वावलम्बन को प्राप्त करने के लिये अनेक उद्योगों का विकास हो रहा है। परिणामस्वरूप नवीन नगरों की स्थापना और पुराने नगरों की उन्नति से व्यापक और शीघ्रगामी नगरीकरण हो रहा है।

बहुत से नगरों की उत्पत्ति और विकास राजनैतिक कारणों से होते हैं। देश या प्रान्त के केन्द्रीय और सुरक्षित स्थानों पर राजधानियाँ बनाई गईं। इनमें अनेक राज अधिकारी और कर्मचारी रहने लगे। वहाँ सेना और पुलिस की छावनियाँ भी स्थापित हुईं। राजभवनों तथा उच्च अधिकारीगणों की विलासिताओं की सामग्री को उत्पन्न करने और पूर्ति के लिये कारीगरों और व्यापारियों का जमघट लग गया। साथ ही पुलिस, सेना, प्रशासकीय कर्मचारियों और उनके परिवारों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक नये प्रकार के व्यवसाय-व्यापार करने वाले लोगों ने नगरों में रहना प्रारम्भ किया। बहुधा इन्हीं राजधानी-नगरों में युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र आदि का निर्माण होने लगा। अतएव ऐसे नगरों की उन्नति होना स्वाभाविक था। भारत में ही दिल्ली के अतिरिक्त प्रान्तों की राजधानियाँ, जिलों और तहसीलों के केन्द्र नगरों

1 For industrial revolution and development of cities consult Davis's *Human Society* p. 3?1

या कस्बा म ही हैं। जबलपुर, कानपुर, किर्की पूना बगलौर आदि ऐसे नगर हैं जो युद्ध के लिये शस्त्रास्त्र का निर्माण करने क उद्योगो के केन्द्र है।

नगरो के विकास म सास्कृतिक कारक कम महत्वपूर्ण नही हैं। तीर्थ, शिक्षा और कला, मनोरंजन प्रदान करने वाले सस्थान और अन्य सास्कृतिक सस्थाओ का उपस्थिति भी नगरो का विकास करने म सहायक हुए हैं। भारत के काशी, प्रयाग पुरी द्वारका, हरिद्वार, रुडकी आगरा, अमृतसर बोद्ध गया आदि एस नगर है जिनका मुख्यतया सास्कृतिक महत्व है।

नगरो के विकास के मानसिक कारक बडे महत्वपूर्ण है। नगरीय जीवन अपेक्षतया अधिक आकर्षक रहा है। यहाँ जीवन की प्राय सभी सुलभ सुविधाएँ ग्रामो की अपेक्षा अधिक विकसित प्रचुर होती है। नगर सस्कृति और सभ्यता के केन्द्र माने जाते है। यहा काम की विविध सुविधायें रोजगार के अपूर्व और प्रचुर अवसर तथा महत्वाकाक्षियो के लिये अनेक अवसर उपलब्ध हो सकते है। शरीर और सम्पत्ति की सुरक्षा के साधन भी यहा गावो की अपेक्षा बहुत अधिक और सरलता से उपलब्ध होते है। इन सब कारणो से ग्रामो के अधिकाधिक साहसिक महत्वाकाक्षी एव प्रतिभाशाली युवक नगरो म जा बसते हैं। आधुनिक ससार के सभी देशो म नगरो की ओर ग्रामीण निष्क्रमण बहुत तीव्रगति से बढ रहा है। अमरीका और इगलैंड म तो ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात बहुत कम हो गया है। भारत म भी यह प्रवृत्ति[1] अधिक जोर पकड रही है।

अन्त म, एक बात स्मरण रखनी चाहिए। नगरो के विकास म उपरोक्त कारको म कोई अकेला कारक ही पूर्णतया उत्तरदायी नही है। ऐसा कोई नगर नही है जो किसी अकेले कारक के कारण ही विकसित हुआ हो। आजकल बहुधा नगरी करण म अनेक कारको का योग है। व अन्योन्याश्रित होते हैं तथा एक दूसरे के साथ मिल कर सप्रभाविक होते है। आधुनिक भारत म कुछ एस कस्बो का विकास हुआ है जो पूर्वी या पश्चिमी पाकिस्तान से आए हुए विस्थापितो के पुनर्वास के लिए बसाए गये है। नीलोखेरी (पजाब) कल्याणी (बगाल) फरीदाबाद (दिल्ली) गोविन्दनगर (उत्तरप्रदेश) एसे ही कस्बो के उदाहरण हैं।

दूसरे सभी देशो म उपरोक्त कारको को समान रूप से नगरो के विकास के लिये उत्तरदायी नहीं है। मकाइवर और पेज ने नगरो के विकास के तीन प्रधान कारक मान हैं—(१) अतिरिक्त साधन (२) उद्योग और व्यापार की उन्नति और (३) शहर का आर्थिक आकर्षण।[2]

---

1 शहरो की ओर निष्क्रमण।

2 For detailed discussion see *Society* pp 314 16

नगरों का वर्गीकरण
(Classification of Towns and Cities)

१ प्रधान कार्यों (predominant functions) के अनुसार नगरों का वर्गीकरण हो सकता है। इस प्रकार नगर के आठ वर्ग हो सकते हैं

(१) प्रतिरक्षा नगर
(२) व्यापारिक केन्द्र
(३) औद्योगिक अथवा उत्पादन केन्द्र
(४) राजनैतिक राजधानियाँ
(५) धार्मिक केन्द्र
(६) शिक्षण केन्द्र
(७) आरोग्य तथा आमोद प्रमोद केन्द्र और
(८) विविध प्रयोजनार्थ नगर

२ जनसंख्या और आकार के आधार पर भी नगरों का वर्गीकरण किया जा सकता है

१ ५,००० से १०,०००	जनसंख्या	छोटे कस्बे
२ १०,००० से २० ०००	,,	कस्बे
३ २० ००० से ५० ०००	,,	बड़े कस्बे
४ ५० ००० से १ ००,०००	,,	नगर
५ १ ०० ००० से १० ०० ०००	,,	महानगर
६ १० ०० ००० से अधिक	,,	महापालिटन नगर
७ राष्ट्र का सबसे विशाल नगर		

भारत में नगरों का विकास

भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से अनेक विशाल राजनैतिक राजधानियाँ सामरिक सांस्कृतिक और व्यापारिक नगर रहे हैं। महाभारत और रामायण काल (Epic Period) के नगरों के विकास के बारे में कोई ऐतिहासिक सामग्री आज उपलब्ध नहीं है। गुप्त काल (Gupta Period) के चन्द्रगुप्त तथा अशोक आदि सम्राटों के समय यहाँ अनेक विशाल नगर बस थे। फिर मध्ययुगीन राजाओं (राजपूत और मुगल) के शासनकाल में अनेक प्रसिद्ध नगर यहाँ विद्यमान थे। आधुनिक काल में भी लगभग १५ विशाल नगर हैं। किन्तु आधुनिक काल में भारतीय नगरों के विकास की गति अन्य आधुनिक देशों में नगरीकरण की गति से निश्चित ही धीमी है।

भारत की समस्त जनसंख्या का केवल १७% नगरों और शेष ८३% गाँवों में रहता है। भारत को गाँवों का देश इसीलिये कहते हैं। लगभग ७०% जनसंख्या

का मुख्य धन्धा खेती है।[1] १९५६ ई० में भारत के कस्बा और नगरों की संख्या ३०१८ और गांवों की ५,५८,०८९ थी।

आधुनिक नगर और नगरीकृत समाज
(The Modern City and Urbanised Society)

ऊपर जो लिखा गया है उसमें सदैव एक बात की ओर संकेत किया गया है। वह यह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, नगर जीवन का एक ढंग है। इस जीवन ढंग के लिये प्रयुक्त विशेषण नगरीय (urbane) इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। यह विशेष व्यक्तियों के वस्तुओं तथा दूसरे लोगों से विस्तृत परिचय, इस परिचय से जनित कुछ सहिष्णुता और सार्वदेशिक वातावरण में विविध संसर्गों से जनित एक शिष्ट और विनीत व्यवहार की ओर संकेत करता है। शहरी व्यक्ति शील वान अथवा शिष्ट होता है। उसमें बाह्य अनुरूपता की कला आ जाती है और उसमें आंतरिक उद्वेग तथा मनोदशा को प्रच्छन्न करने में समर्थ छिछली शिष्टता भी आ जाती है। विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न प्रकार का जीवन बिताना वह सीख जाता है और अवसरानुसार अनभिज्ञता और विषाद मन ही में रख भी उभर सकता है। वह नगरीय पद्धति के एक निराले पर्यावरण की उपज है।

क्या नगरीय जीवन रीति केवल नगर-वासियों तक ही सीमित होती है? नगर में विशाल जनसंख्या होती है। इसलिये इसमें नगरीय सामाजिक संगठन का विकास अवश्यम्भावी है। इस संगठन की प्रकृति ऐसी है कि लोगों को विचित्र (अनजान या अजनबी strange) व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना पड़ता है। इसमें समाचारों और फैशनों का अति शीघ्र प्रचार हो जाता है। इसमें व्यक्तिवादिता का बहुत ऊंचा अंश पलता है। इसके अतिरिक्त नगरीय संगठन आविष्कारों, सामाजिक गतिशीलता एवं धर्म निरपेक्षता के विकास को प्रोत्साहित करता है। यह एक ऐसी जटिल आर्थिक प्रणाली पर आश्रित होता है जिसमें वस्तुओं का शीघ्र आदान प्रदान, श्रम का अति सूक्ष्म विभाजन और विचारयुक्त (या बौद्धिक) साहस का एक उच्च अंश सम्भव हो सकता है। किन्तु जहां एक बार नगर बन और इन रीतियों और वस्तुओं का विकास हुआ फिर वे नगर की सीमाओं से बाहर दूरस्थ प्रदेशों में अपना प्रभाव फैलाने चले जाते हैं। यही कारण है कि नगरों से दूर गांवों और पुरवों के अपेक्षतया सरल निवासियों पर शहरीपन का रंग चढ़ जाता है। आधुनिक सभ्य देशों के ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीकरण का शीघ्रता से प्रसार हो रहा है।

यह सत्य है कि नगर का प्रभाव उसकी सीमा से अधिक विस्तृत होता है। अतएव यह कहना अधिक बुद्धिसंगत होगा कि समाज या क्षेत्र ही नगरीकृत हो जाते

---

1 The predominance of agriculture in the economy obscures the fact that India ranks among the first ten industrial nations of modern world.

हैं। परन्तु नगरीकृत समाज या क्षेत्र का प्रयोग भ्रमात्मक भी हो सकता है साधारणतया नगरीकृत' विशेषण के प्रयोग से यह सूचित होना चाहिए कि क्षेत्र की जनसंख्या किस सीमा तक नगरीकृत है अथवा समस्त जनसंख्या में नगरीय रूपों का कितना प्रसार हो गया है। यह ध्यान रहे कि जनसंख्या की दृष्टि से एक देश अधिक नगरीय होते हुए भी सामाजिक रूप से दूसरे देश की अपेक्षा अधिक ग्रामीण हो सकता है। चिली और कनाडा की तुलना कीजिए। कनाडा की अपेक्षा चिली की जनसंख्या का अधिक प्रतिशत नगरों में रहता है परन्तु उसके निवासी हर विचार से नगरीय प्रभावों में कम रंगे हैं।[1]

पिछले १५० वर्षों में सघन नगरीय जनसंख्या में अपेक्षाकृत तीव्र वृद्धि हुई है। और सघन नगर ही जीवन के प्रतिमान को निश्चित कर रहा है। यह नवीन यान्त्रिक युग के प्रसार का प्रधान केन्द्र और उसकी (यान्त्रिक युग की) मुख्य सन्तान हो गया है। नगरों की वेगयुक्त उन्नति ने मनुष्य को एक नया समाज—'नगरीकृत समाज' प्रदान किया है। अभी हाल में ही विशाल क्षेत्रों की अधिकाधिक जनसंख्या नगरों में बसने लगी है और दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में भी नगरीय रंग प्रवेश कर गए हैं। किन्तु यह वेगयुक्त परिवर्तन अभी प्रारम्भ भर हुआ है। वह दिन दूर नहीं जब सारा संसार एक प्रकार से नगरीकृत हो जाएगा। तब मानव समाज में अपूर्व भारी रूपान्तर हो जाएंगे।[2]

नगरीय विकेन्द्रीकरण

संसार के अत्यधिक नगरीकृत देशों में 'नगरीय विकेन्द्रीकरण' की चर्चा से चल रही है। नगरीय जीवन के कुछ दोषों से लोग इतना अधिक भयभीत हो गये हैं, कि वे पुनः सरल सजातीय और प्राथमिक सामाजिक समूहों के जीवन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। अमरीका इङ्गलण्ड आदि देशों में तो नगरीय विकेन्द्रीकरण के आन्दोलन को प्रशासकीय स्तर पर चलाया जा रहा है। यह एक तथ्य भी है कि अत्यधिक नगरीकृत देशों में विशाल नगरों के आसपास के क्षेत्रों में जितनी तीव्र गति से वृद्धि हो रही है उतनी स्वयं नगरों के केन्द्र में नहीं। अमरीका में १९२० से १९४० ई० तक ८५ मैट्रोपालिटन डिस्ट्रिक्ट्स की औसतन वार्षिक वृद्धि दरें इस प्रकार थीं—

तालिका—

	१९२०–३०	१९३०–४०
केन्द्रीय नगर	१ ६	० २
बाह्य केन्द्रीय नगर	३ ६	१ ३

1 Kingsley Davis *Human Society* (Macmillan New York 1956) pp 31

2 *Ibid* pp. 341-43

परन्तु इस प्रकार का विकेन्द्रीकरण बिल्कुल स्वाभाविक है। विशाल महानगरों में वृद्धि तो हो ही रही है। परन्तु यह वृद्धि केवल जनसंख्या के घनत्व की वृद्धि में ही नहीं समा सकती। जनसंख्या में वृद्धि होने से केन्द्र से बाहर की ओर नगर की सीमाओं का विस्तार होता जाता है। आवागमन के साधनों में उन्नति होने से नगर के केन्द्र में जमघट लगाने की हानियों से लोग बच सकते हैं। वे केन्द्र से दूर बाहरी सीमाओं पर बसते जाते हैं। उपनगरों का विकास इसी का परिणाम है।

परन्तु यह विकेन्द्रीकरण इस बात का साक्षी नहीं है कि नगरीकरण में ह्रास या शिथिलता आ रही है। सच तो यह है कि सर्वत्र अधिकाधिक लोग गांवों को छोड़कर नगरों में जाकर बस रहे हैं। 'हमारा तथाकथित नगरीय विकेन्द्रीकरण वस्तुतः एक अनुकूलन है जिसमें निरन्तर वर्द्धमान नगरीकरण हो रहा है। नगरीय वृद्धि अबाध गति से बढ़ रही है और इसका अभिप्राय है कि व्यापार और उद्योग गांवों की ओर नहीं जा रहे हैं।'[1] मैकाइवर और पेज का विचार है कि पिछले १५० वर्षों में नगरीय उन्नति का आकार और वेग आधुनिक सामाजिक संगठन की प्रकृति के निर्धारण के महत्वपूर्ण कारक हैं। विशाल महानगरों जैसे लन्दन, न्यूयार्क, पेरिस, मास्को, शंघाई, दिल्ली, कलकत्ता और ब्यूनस आयर्स के प्रभाव और शक्ति अपने देश की सीमाओं के पार बहुत दूर दूर तक विकीर्ण होते हैं।[2]

नगर के सामाजिक प्रभाव

नगर के सामाजिक प्रभावों के विषय पर बहुत विविध विचार व्यक्त किए गए हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि नगरीय जीवन नवीन है और शायद कृत्रिम भी। किन्तु मानव समाज के लिए जब ऐसे विचारों जैसे असामान्य या कृत्रिम अथवा अस्वाभाविक का प्रयोग किया जाता है तो इस प्रयोग में वस्तुनिष्ठता का अभाव आ जाता है। ये धारणायें तो आदर्शात्मक या आध्यात्मिक हैं। न तो नगरीय जीवन कोई नवीन या अनहोनी वस्तु है और न समाज के विकास में कोई अस्वाभाविक अवस्था। सामाजिक विकास में नगर का जन्म और उन्नति उतना ही स्वाभाविक है जितना परिवार या धर्म।

नगरीय प्रभावों के प्रश्न का विश्लेषण अथवा गवेषणा करने से पूर्व उसे भली प्रकार समझ लेना चाहिए। पहले नगर एक परिवर्तनीय कारक है जिसे अन्य कारकों से पृथक करना अति कठिन है। दूसरे नगर के अन्दर और बाहर के निवासियों पर नगर के प्रभाव समान नहीं पड़ते। यह आवश्यक नहीं कि नगरीय प्रभाव उन्हीं पर पड़ें जो नगर निवासी हों। नगर एक प्रसार केन्द्र है जहां अपूर्व उपकरणों

---

1 Our so called urban decentralization is really an accommodation by which an ever greater urbanisation is accomplished. Urban growth is continuing and this means that business and industry are not moving to the country —Davis *op cit* p 326

2 MacIver & Page *op cit* p 33

का जन्म होकर वे दूर-दूर तक अनगरीय जनसंख्या में फैल जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समकालीन समाज में ग्रामीण नगरीय अन्तरों को देखकर नगरीय जीवन के पूर्ण प्रभावों को नहीं नापा जा सकता। क्योंकि दोनों तुलनीय वस्तुओं (ग्राम और नगर) में नगरीय प्रभाव का प्रतिबिम्ब मिलता है। हाँ, नगरीय जीवन के प्रभावों का अधिक पूरा माप एक आधुनिक नगर और एक पृथक आदिवासी समुदाय की तुलना करने से सम्भव हो सकती है। पर इतने पर भी हम यह कदापि नहीं ज्ञात हो सकेगा कि नगर में नगर के प्रभाव कौन-कौन से हैं। हमसे बहुधा एक गलती हो जाया करती है। हम अनेक सामाजिक घटनाओं को नगर का प्रभाव मान बैठते हैं जब वस्तुतः वे अन्य कारकों के प्रभाव हैं।

डेविस ने इस प्रकार की गलतियों के कई उदाहरण दिए हैं। वह लिखता है कि कभी-कभी एक प्रदेश में, जिन्हें हम नगर के सामाजिक प्रभाव कहते हैं वे विश्लेषण करने पर दूसरे प्रदेश में अन्य किसी कारक का प्रभाव सिद्ध होते हैं। अमरीका में समूहों की विविधता और भारी संख्या में विदेशी आवासी नगर के प्रभाव नहीं हैं वे तो वस्तुतः उस देश की नवीन समाज-व्यवस्था के कारण हैं। इसी प्रकार अमरीका में नगरीकरण के प्रभावों में विवाह विच्छेद और अपराध की ऊँची दरों को सम्मिलित किया जाता है। किन्तु इङ्गलैण्ड में जो स्वयं अत्यधिक नगरीकृत है इस प्रकार के कोई प्रभाव उस रूप में नहीं दिखते। फिर नूतन नगरीकरण के साथ नूतन औद्योगीकरण का होना आवश्यक नहीं है। लेकिन अमरीका इस कथन का साक्ष्य है। मिस्र, चिली और त्रिवांकुर कोचीन (भारत), नार्वे में साक्षरता बहुत अधिक है किन्तु वहाँ नगरीकरण बहुत कम। इससे स्पष्ट है कि हम वस्तुतः में सामाजिक प्रभावों को नागरिकता से सम्बद्ध कर कल्पना पर अधिक आश्रित रहते हैं न कि वैज्ञानिक तथ्यों पर।

जीवनस्तर में उन्नति, औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान के विकास को नगर का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। नगर तो स्वयं इनका परिणाम है। उपरोक्त घटनायें तो हमारे समाज में बुनियादी परिवर्तन हैं। डेविस लिखते हैं कि यदि हम नगर के प्रभावों के प्रश्न का विश्लेषण, अवैज्ञानिक और कल्पना के स्तर पर सुलझाना चाहें तो सम्भव क्या ही भारी गलती करेंगे जैसा लुइस मम्फोर्ड ने की है। मम्फोर्ड आधुनिक महानगर के दोषों की सूची में 'नाश-चक्र', साम्राज्यवादी युद्ध, नौकरशाही, मानसिक उद्वेग और समाज की सभी उन्नत क्रियाओं का पतन (नरक) सम्मिलित करते हैं।[1]

इस प्रकार की गलतियों से बचने का एक ही रास्ता है। हम नगर के यथार्थ प्रभावों को किसी प्रकार से पृथक कर लें। यह केवल सत्यतापूर्वक तभी हो सकता है जब नगर के प्रधान सामाजिक कारणों को उसकी अनन्यात्मक अद्वितीयता के आधार

1 *The Culture of Cities* (New York Harcourt & Brace) (1938) pp [illegible]

पर मालूम किया जाये। नगर की जनसंख्या के आकार और घनत्व के कारण उसके सामाजिक संगठन में एक निराली प्रकृति आ जाती है। नगर के प्रधान सामाजिक लक्षणों का विश्लेषण कर उनकी तुलना प्रयोगसिद्ध परिणामों से की जाये।

नगरीय समाज के विशिष्ट लक्षण

डेविस ने उपरोक्त तर्क के आधार पर नगरीय समाज रचना के निम्नलिखित लक्षणों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है।[1]

(१) सामाजिक विजातीयता,
(२) माध्यमिक संगीत,
(३) सामाजिक सहिष्णुता
(४) माध्यमिक नियन्त्रण,
(५) सामाजिक गतिशीलता,
(६) स्वेच्छिक समिति
(७) वयक्तिकता, और
(८) स्थानिक पृथक्त्व।

हम नगर की सामाजिक रचना के इन लक्षणों का केवल संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

१ **सामाजिक विजातीयता**—नगरों के निवासी विभिन्न भागों के गांवों से आते हैं। वे भी सभी अपने पर निर्भर नहीं रह सकते। इसलिये अनेक प्रकार के व्यवसाय व्यापार या उद्योग करते हैं। उनके विशिष्ट हित होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए वे विशिष्ट कार्य करते हैं। नगर में सदैव से भिन्न प्रदेशों संस्कृतियों और प्रजातियों के लोग आकर बसते रहे हैं। यहां जैविक और सांस्कृतिक वर्णसंकरता की सर्वोत्तम पर्यावरण मिलता है। नगर में वयक्तिक भेदों को सहन ही नहीं उन्हें प्रोत्साहित भी किया जाता है। यहां के निवासियों के वयक्तिक लक्षण पेशे सांस्कृतिक भावना, संस्थायें विचार आदर्श आदि सभी तो अत्यधिक भिन्न भिन्न है।

२ **माध्यमिक संगति (अथवा संसर्ग)**—नगर विशाल आकार का होता है। इसलिये उसके लिये माध्यमिक समूह होना स्वाभाविक है। परस्पर अनभिज्ञ (अजनबी) लोगों को घुल मिल कर रहना पड़ता है। अतएव उनमें दृष्टिकोण की उदारता सहनशीलता और छिद्रान्वेषण अथवा उदासीनता आ जाती है। उनके शिष्टाचार, शिष्ट और विनीत व्यवहार केवल यान्त्रिक होते हैं। शहरी व्यक्ति अपने सभी अपरिचितों अथवा परिचितों के प्रति बड़ा औपचारिक व्यवहार किया करता है।

---

1 Kingslay Davis *Human Society* pp 329 36 Davis has him elf drawn liberally upon a stimulating article Urbanism as a way of life in *American Journal of Sociology* vol 44 (July 1939) written by Louis Wirth

■ We have liberally drawn upon Davis *Human Society* for this d s cussion

वह हजारों लाखों से अनभिज्ञ है और इसी प्रकार दूसरे भी उससे अनभिज्ञ हैं। अजनबीपन एव अनभिज्ञता के इस अथाह सागर में तैरना या डूबना हर नागरिक की व्यवहार कुशलता और अनुकूलन शक्ति पर निर्भर है। जीवन के विभिन्न अंशों में विभिन्न मित्र या परिचित होते हैं। वे परस्पर एक दूसरे पर केवल अनेक सीमाओं के अन्दर रह कर निर्भर रह सकते हैं। हम दूसरे नागरिक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समझने या उसके प्रति क्रियाशील होने का अवसर नहीं मिलता। इसी कारण नगर में सम्पर्कों को अवैयक्तिक और खण्ड-खण्डन समान कहा जाता है। यहाँ आप लोगों के केवल अंशों को जानते हैं, उनकी पूर्णता को नहीं।

३ सामाजिक सहिष्णुता—नगर की जनसंख्या अनेक प्रकार की होती है। उसके निवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और अवैयक्तिक होते हैं। ऐसी स्थिति में नगरीय जीवन में कुछ न कुछ सहिष्णुता होना अनिवार्य है। शिक्षा अशिक्षा, सम्पन्नता और दरिद्रता इत्यादि अनेक प्रकार की विषमताएँ नगर में मिलती हैं। इनको जानते हुए भी यहाँ का निवासी इन विषमताओं के प्रति उदासीन हो जाता है। सुशीलता और सुविधा के आधार पर नगर के निवासी सब प्रकार की घटनाओं अथवा प्रसंगों में समान व्यवहार कर सकते हैं। वे बाह्य अनुरूपता के लिये शिष्टता और औपचारिक तरीके सरलता से अपना सकते हैं। किन्तु जब नगर में कोई ऐसी घटना हो जाती है जो सामाजिक सहिष्णुता को उखाड़ फेंके तो सामाजिक असहिष्णुता एव समाज विरोधी कृत्यों की भी सीमा नहीं रहती। दंगों में इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्रगट होती है। नगर में व्यक्ति के सार्वजनिक आचरण पर नियन्त्रण रहता है उसके निजी आचरण पर नहीं। वस्तुतः नगर निजी आचरण की उपेक्षा करता है। नगरीय जीवन में नियन्त्रण साधारण और अवैयक्तिक होता है। गाँव में यह नियन्त्रण वैयक्तिक और विशिष्ट होता है।

४ माध्यमिक नियन्त्रण—नगर में प्राथमिक समूहों की अपेक्षा माध्यमिक समूहों की अधिकता होती है। नगर में दो प्रकार के सामाजिक संसार होते हैं। व्यक्ति को इससे बड़ा लाभ होता है। वह आवश्यकतानुसार इनमें से किसी की शरण में जा सकता है। यदि किसी प्राथमिक समूह के कठोर नियन्त्रण से वह बचना चाहे तो अनजान लोगों के समुदाय में वह छिप सकता है। नगर की अनभिज्ञता प्रसिद्ध है। यही तो व्यक्ति को निकट नैतिक नियन्त्रण से मुक्त करती है। अपने पड़ोस से दूर हुए कि आप अनजान लोगों में बेखटके माध्यमिक अप्रत्यक्ष और अनुत्तरदायी व्यवहार भी कर सकते हैं। नगर में नैतिक नियन्त्रण ढीले हो जाने का यही कारण है। भ्रष्टाचार, अनुत्तरदायी, अवांछित व्यवहार और व्यभिचार को नगर में प्रोत्साहन मिलता है। और यदि व्यक्ति नगर की अवैयक्तिकता और अनुदारता से ऊब जाय और उससे बचना चाहे तो वह किसी प्राथमिक समूह में घनिष्ठता और सहानुभूति पा सकता है। वह परिवार बिरादरी मित्रमण्डली या अन्य अन्तरंग समूह में पुन

भावात्मक सुरक्षा की अपनी भावना को प्राप्त कर सकता है। उनमें रह कर वह पुन पूर्ण मनुष्य हो सकता है। नगर के माध्यमिक संसार म वह केवल अपूर्ण नगण्य रहता है। इस संसार म पृथक व्यक्ति का गहरे एकाकीपन की अनुभूति होती है। इस एकाकीपन को वह प्राथमिक समूह का सदस्य हो कर मिटा सकता है। वसे तो नगर एक माध्यमिक समूह है पर इसम भी अनेक अन्त मिश्रित और एक दूसरे का किनारा छूते हुए प्राथमिक समूह होते हैं। इनका व्यक्ति पर बहुत अधिक नियन्त्रण रहता है परन्तु पूर्णतया ग्रामीण समाज के नियन्त्रण की अपेक्षा यह पर्याप्त शिथिल होता है। नगर म प्राथमिक नियन्त्रणों का उल्लघन सरलता से हो सकता है। इसीलिये माध्यमिक नियन्त्रणों कानून पुलिस गुप्तचर तथा अनेक प्रशासकीय विभागों का जाल सा बिछा रहता है। नगर म नियन्त्रण की समस्या अति कठिन और जटिल होती है। यहा आवश्यकतावश वधानिक नियन्त्रण कठोर होता जा रहा है। जन रीतिया तथा रूढियों म गावों के समान सप्रभाविकता नहीं रह पाती।

५ सामाजिक गतिशीलता—नगर म भौगोलिक गतिशीलता आवश्यक है और उस वहाँ प्रोत्साहन भी मिलता है। इसी तरह यहा सामाजिक गतिशीलता भी आवश्यक है। उसे भी यहा प्रोत्साहन मिलता है। नगर निवासी की प्रस्थिति का निर्धारण उसके कृत्य और प्रदर्शन करते हैं। चाहे कोई किसी परिवार म जन्म ले चाहे उसके पूर्वज नीच हों अथवा प्रतिष्ठित धनी हों अथवा निर्धन उसे अपनी स्थिति सुधार कर उच्चतम सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। हर नगरवासी अपने जीवन काल म ही अपनी स्थिति को उन्नत या अवनत कर सकता है। अतएव, नगर के निवासियों म स्थिति के लिए प्रतियोगिता होती है जिसका स्वाभाविक परिणाम स्थिति की असुरक्षा है। स्थिति को उन्नत करने के अवसर तो यहा है परन्तु यहा विषमतायें या असमानतायें भी गम्भीर होती हैं। यहा सबको समान सफलतायें नहीं मिल पाती। पर फिर भी नगर म सामाजिक उत्थान अत्यधिक प्रचलित है। भारत के नगरों म जाति पाति के भेद भाव समाप्तप्राय हैं। अमरीकी नगरों म नीग्रो को सामाजिक अयोग्यताओं की क्रूरता को नहीं सहना पड़ता। नगर वास्तव म निम्न और पतित वर्गों की उन्नति के अधिकाधिक अवसर प्रदान करता है। नगर के समाज म समानीकरण और जनतन्त्रीयता के अधिक प्रचुर अवसर उपलब्ध हैं। यहाँ सदव किसी एक वर्ग का बोलबाला नहीं रह सकता।

६ *ऐच्छिक समितियाँ—नगरीय जनसख्या के विशाल आकार, उसकी अति* निकट समीपता, भिन्नता और सरल सम्पर्क से ऐच्छिक समग के लिए आदर्श वातावरण मिलता है। हर आदमी का समान हितवाले दूसरे व्यक्ति आसानी से मिल जाते हैं। इस कारण, नगर म हर आदमी का समूह का स्वभाव ऐच्छिक हो जाता है। इन समूहों की सदस्यता भौगोलिक सयोग अथवा रुधिर सम्बन्ध पर आश्रित नहीं होती। ऐच्छिक ससग की प्रबल प्रवृत्ति से प्राथमिक समूह भी अछूते नहीं रह पाते। धीरे

चीर उनम भी अधिक ऐच्छिकता और विशेषीकरण की प्रवृत्ति पाती जाती है। इनके अतिरिक्त एक नय प्रकार क समूहा का उद्भव होना है जिनका आधार अत्यन्त विशेषीकृत हित है। इस तरह हर व्यक्ति अनेक समूहा का सदस्य होता है। वह एक ही साथ राष्ट्रीय जाति पार्टी अन्तरग गुट पश्न कम्पनी आदि का सदस्य हो जाता है। उन सब सदस्य उतना ही सम्बन्ध है जहा तक य उसकी विशिष्ट आवश्यकताओं अथवा हितो की पूर्ति करत हैं। अर्थात् नगर म माध्यमिक सम्बन्ध अति विस्तृत जटिल बिखरे और विस्तारयुक्त हो जाते हैं। यहा हर समूह सगठित होता है नहीं तो उनके हितो का हनन होगा। सभी का मान है कि नगर म व्यक्ति का अकेला आवाज का कोई मूल्य नहीं। सामूहिक या सगठित प्रतिनिधित्व और माग का आदर होता है। यही वजह है कि नगरो म विभिन्न हितो की समितियाँ या सघ होते हैं। अपनी मागें इन्हें पूरा कराने के लिए व अत्यधिक वाचाल और सक्रिय होते हैं।

७ वैयक्तिकता—नगर के विशाल जनसमूह म व्यक्ति की वैयक्तिकता दबती नहीं वह सतत उभरती रहती है। यह बड आश्चर्य की बात है। नगरीय समाज की ऐच्छिकता और माध्यमिकता अवसरो की अनन्तता और सामाजिक गतिशीलता सभी व्यक्ति को अपने जीवन यापन के लिए निर्णय लेने और नियोजन करने का मजबूर कर देते हैं। हर व्यक्ति अनेक विविध समूहो का सदस्य हो सकता है। वह विविध हितों के लिए काय कर सकता है। इस कारण उसका सामाजिक व्यक्तित्व निराला हो जाता है। सम्भवत किसी दूसरे व्यक्ति का ठीक वैसा ही सामाजिक व्यक्तित्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त नगर म इतनी अधिक प्रतियोगिता है कि हर व्यक्ति नाप दूसरा के प्रतिपक्ष म खड़ा होता है। वह किसी विशेष समूह या हित से सदैव नहीं बधा रहता। उसे अपना पथ स्वय बनाना पड़ता है और फिर गन्तव्य के लिए अकेले ही अभियान करना पड़ता है। उस दूसरो के प्रति तथा मानवीय सापेक्षता का परिमाण हो जाता है जिससे वह सदा दृष्टिकोण से स्वय को समझ कर जीवन म अधिक विषयकता म कायरत होता है। वह दूसरो से लाभ अवश्य उठाता है और सदैव इस धुन म रहता है कि दूसरे उसम अपना उल्लू न सीधा कर पावें। इसीलिए वह स्वय और दूसरो म स्पष्ट अन्तर करता है। परिणामत प्रत्येक नगर निवासी केवल एक अणु बन जाता है। वह अत्यन्त आत्म चेतन और विचित्र होता है। दूसरी ओर, नगर की विशाल सस्थायें और समितियाँ हैं जिनका वह सदस्य है। नगर मे व्यक्ति कभी भी पूर्णतया एक समूह मे विलीन नहीं हो पाता। वह सारे नगर के ऊपर खड़ा रहता है।

८ स्थानिक पृथक्ता—नगरीय जनसंख्या का स्थानिक वितरण और पृथक्ता उसके विविध विशेषीकृत हितो के आधार पर होती है। नगर के केन्द्र म वह जनसंख्या रहती है जिसके काय नगर के जीवन के लिए प्राथमिक आवश्यकता के हैं। सरकारी कार्यालय, प्रशासकीय सस्थान वित्तीय सस्थाए और व्यापारिक निगम नगर

के केन्द्र में होते हैं। उनके अतिरिक्त अधिकाधिक लोगो के आकर्षण तथा सम्पन्न लोगो की कृपालुता के केन्द्र जैसे वकीलो, बडे डाक्टरो, विशेषज्ञो, नियोजको आदि के दफ्तर भी नगर के मध्य में होते हैं। मजदूर बस्तिया कारखानो के समीप होती हैं। छोटे छोटे व्यापारी और व्यावसायिक वर्ग भी नगर के केन्द्र के समीप रहते हैं। उनके कार्य स्थान और निवास स्थान मे अधिक दूरी नही होती। कलाकार वैज्ञानिक तथा अन्य उदार व्यवसायी नगर के किनारो पर रहते हैं। वे नगर की भीड भाड, धुन-धुआ और शोर से बचने के लिए अपेक्षाकृत स्वस्थ खुले और एकान्त स्थानो पर अपने मकान बनाते हैं। अत्यधिक सम्पन्न लोग उप नगरो में रहते हैं। इस तरह प्रत्येक बडे नगर में विभिन्न वर्गों व्यवसायो धर्मो संस्कृतियो अथवा आर्थिक हितो के लोगो में स्थानिक पृथक्ता होती है। बहुधा यह पृथक्ता लोगो के सामाजिक स्तर का प्रतिबिम्ब होती है।

स्थानिक पृथक्ता के आधार पर नगर सामाजिक सगठन का बडा सुविधापूर्ण अध्ययन हो जाता है। एक निश्चित क्षेत्र के निवासियो का साधारणतया एक ही सामाजिक स्तर होता है और उनमे अनेक सामान्य लक्षण मिलते हैं। यह ज्ञात हुआ है कि सामाजिक व्यवहार के अनेक निर्देश जैसे उर्वरता, मृत्युता, निस्क्रमण, अपराध, तलाक आत्महत्या पागलपन अवैध सतति, निरक्षता आदि में नगर के विभिन्न क्षेत्रो में तीव्र अन्तर होता है। सामाजिक सगठन का स्थानिक वितरण के आधार पर अध्ययन करने वाली शाखा को सामाजिक परिस्थिति शास्त्र कहते हैं।[1]

ग्रामीण और नगरीय जीवन की तुलनाएं

गावो का सामाजिक जीवन एक ग्रामीण पर्यावरण में क्रियाशील एव विकसित होता है। वैसे ही नागरीय जीवन एक नगरीय पर्यावरण में चालित और विकसित होता है। उनके पर्यावरण ही क्रमश उनके सामाजिक जीवन को बहुत अधिक निर्धारित करते हैं। दोनो पर्यावरण एक दूसरे से भिन्न हैं अतएव ग्रामीण और नगरीय सामाजिक जीवन में भेद है।

ग्रामीण और नगरीय जीवन मे भेद के महत्वपूर्ण आधार—प्रख्यात समाज शास्त्रियो ने इन दोनो में अन्तर करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कसौटिया निश्चित की हैं। ये ये हैं—सामाजिक सरचना, सामाजिक विरासत पार्थिव सम्पदा की मात्रा जनसख्या का सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक रचना और सामाजिक जीवन की जटिलता का अश सामाजिक सपर्क की गहनता और विविधता आदि। अन्तत इन्होंने दो प्रकार के सामाजिक ससारो में—गाँव और नगर में—उन दोनो के पर्यावरणो के आधारभूत भेदो के आधार पर तीव्र भेदो को ढूढने का प्रयत्न किया है।

---

1 Kingsley Davis *Human Society* p 340 Social Ecology is also known as Human Ecology The discipline studying ecological pattern of urban area is called Urban Ecology

ग्रामीण और नगरीय समाज में भेद करने के निम्नलिखित सबसे महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं।[1]

(१) पेशेवर अन्तर
(२) पर्यावरण के अन्तर
(३) समुदायों के आकार में अन्तर
(४) जनसंख्या के घनत्व में अन्तर
(५) जनसंख्या की सजातीयता और विजातीयता में अन्तर
(६) सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण में अन्तर
(७) सामाजिक गतिशीलता और निष्क्रमण की दिशा में अन्तर
(८) सामाजिक अन्तःक्रिया की पद्धति में अन्तर

सारोकिन और जिमरमैन ने उपरोक्त आधारों पर ग्रामीण और नगरीय जगतों में भेद दिखाने के लिए जो तालिका दी है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।[2]

तालिका—

अन्तर	ग्रामीण जगत	नगरीय जगत
१ पेशा	सम्पूर्ण कृषक और उनके परिवार। समुदाय में कृषि के अतिरिक्त साधारणतया अन्य पेशों के कुछ प्रतिनिधि होते हैं।	सम्पूर्ण या प्रधानतया वस्तुओं के निर्माण, यान्त्रिक कार्यों व्यापार उद्योगों व्यवसायों, प्रशासकीय तथा अन्य कृषि विहीन पेशों को करते हैं।
२ पर्यावरण	मानवीय सामाजिक पर्यावरण के ऊपर प्रकृति की प्रबलता होती है। लोगों का प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।	प्रकृति से अधिक पृथक्ता। प्राकृतिक पर्यावरण के ऊपर मनुष्य निर्मित पर्यावरण की प्रबलता। बुरी हवा, पत्थर और लोहा।
३ समुदाय का आकार	छोटे समुदाय। कृषिवाद और समुदाय के आकार में नकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध है।	उसी देश और उसी काल में ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा नगरीय समुदायों का आकार निश्चित रूप से बड़ा होता है। अर्थात् नगरीयता और समुदाय के आकार में सकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध है।

1 The following are the most important criteria for distinguishing the rural social world from the urban social world
(i) Occupational differences (ii) Environmental differences, (iii) Differences in the size of the communities (iv) Differences in the density of the population (v) Differences in the homogeneity and heterogeneity of the population (vi) Differences in the social mobility (vii) Differences in the direction of migration (viii) Differences in the social differentiation and stratification (ix) Differences in the system of social interaction—A R Desai: *Introduction to Rural Sociology in India* (Bombay 1953) p [illegible]

2. Adapted from *Principles of Rural Urban Sociology* pp [illegible]

आधार	ग्रामीण जगत	नगरीय जगत
४ जनसंख्या का घनत्व	उसी देश और उसी काल में नगरीय समुदाय की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व कम होता है। साधारणतया घनत्व और ग्रामीणता में नकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध है।	ग्रामीण समुदायों से कहीं अधिक। नगरीयता और घनत्व में सकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध है।
५ जनसंख्या की सजातीयता एवं विजातीयता	नगरीय जनसंख्याओं की तुलना में ग्रामीण समुदायों में प्रजातीय और मानसिक लक्षणों में अधिक सजातीयता होती है। (विजातीयता से नकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध)	ग्रामीण समुदायों की तुलना में (उसी देश और उसी काल में) अधिक विजातीयता। नगरीयता एवं विजातीयता में सकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध।
६ सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण	ग्रामीण विभेदीकरण और स्तरीकरण नगरीय की अपेक्षा कम।	विभेदीकरण और स्तरीकरण का नगरीयता से सकारात्मक पारस्परिक सबंध प्रकट होता है।
७ गतिशीलता	जनसंख्या की प्रादेशिक पेशेवर और अन्य प्रकार की गतिशीलता तुलनात्मक दृष्टि से कम गहन होती है। सामान्यतः गांवों से नगरों को अधिक लोगों का निष्क्रमण होता है।	अधिक गहन। नगरीयता और गतिशीलता में सकारात्मक पारस्परिक सम्बन्ध। केवल सामाजिक आपदाओं (भयंकर) के समय नगरों से गांवों की ओर अपेक्षतया अधिक निष्क्रमण होता है।
८ अन्तःक्रिया की पद्धति	प्रति मनुष्य कम संख्या में संपर्क। उसके सदस्यों और सम्पूर्ण समाज के लिये अन्तःक्रिया पद्धति का संकुचित क्षेत्र। प्राथमिक सम्पर्कों का अधिक महत्व। वैयक्तिक और अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सम्बन्धों की प्रबलता। सम्बन्धों में तुलनीय सरलता और निष्कपटता। मनुष्य के साथ मानव प्राणी की तरह अन्तःक्रिया होती है।	अधिक संख्या में सम्पर्क। प्रति मनुष्य और प्रति समूह अन्तःक्रिया पद्धति का अधिक विस्तृत क्षेत्र। माध्यमिक सम्पर्कों की प्रबलता। अवैयक्तिक अवसरानुकूल और अल्पकालिक संबंधों की प्रबलता। अधिक जटिलता, अनेकरूपता, छिछलापन और सम्बन्धों का प्रतिमानीकरण। मनुष्य के प्रति संख्या या पता की भाँति अन्तःक्रिया होती है।

सोरोकिन और जिमरमन ने ग्राम और नगर के सामाजिक जीवन के जिन आधारभूत भेदों को दर्शाया है उनको पूर्णतया समझ लेने पर ही हम नगरीय और ग्रामीण जीवन की विशेषताओं को भलीभाँति समझ सकेंगे।

मकाइवर और पेज ने लिखा है कि सर्वत्र ग्रामीण जीवन में नागरीय प्रभावों के कारण काफी परिवर्तन आ गया है। फिर भी सभी देशों में ग्रामीण जीवन का एक विशेष सामान्य जीवन-ढंग अभी भी अक्षुण्ण है। प्रजाति, जलवायु, स्थान और भाषा के अनेक मिश्रित भेदों के बावजूद भी हर देश में ग्राम्य और नगरीय जीवन में सामान्य भेद पाये जाते हैं। अधिकतर ग्राम्य जीवन के कुछ लक्षण विशेषकर प्रबल होते हैं जो नागरीय जीवन में नहीं मिलते।

इन विद्वान लेखकों ने प्रथम ग्रामीण जीवन के विशेष सामाजिक लक्षणों का विश्लेषण किया है फिर ग्राम्य और नगर की सामाजिक रचना, संस्कृति आदि के बीच भेदों का विवेचन किया है।[1]

ग्राम्य जीवन के विशेष सामाजिक लक्षण

१ परिवार और प्राथमिक सम्बन्धों की प्रबलता—ग्रामीण जीवन का सबसे स्पष्ट लक्षण है कि वह नगर की अपेक्षा शेष संसार से बहुत पृथक रहता है। अमरीका में ग्रामीण जीवन खेतों पर बिखरे हुए परिवारों में बसता है। वहाँ के परिवार प्राय अलग-अलग से होते हैं। चीन भारत आदि देशों में ग्राम अब भी केन्द्रित प्रकार के हैं। उनके परिवार अमरीका के परिवार की भाँति पृथक नहीं होते। गाँव के सभी परिवार परस्पर घनिष्ठ अथवा निकट सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु सब गाँव दूसरे गाँवों और नगरों से पृथक रहने वाली इकाइयाँ होते हैं। ग्रामीण जीवन में परिवार का अत्यधिक महत्व होता है। वह अपने सदस्यों की अधिकांश आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सामान्य परिश्रम और पारस्परिक सेवाओं की आवश्यकता परिवार के सभी सदस्यों में सुदृढ़ और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देती है। समय और स्थान की आवश्यकतायें परिवार में अत्यन्त दृढ़ एकता पैदा कर देती हैं। ग्राम्य परिवार में आत्म केन्द्रित और मानसिक रूप में स्वावलम्बी होने की प्रवृत्ति होती है।

ग्राम-परिवार का बाह्य संसार में बहुत न्यून सम्पर्क होता है। उसकी प्रथाओं की जड़ बड़ी गहराई में होती है। ग्रामवासी को अपनी रीतियाँ सर्वोत्तम लगती हैं और उन्हें ही वह सुदृढ़ करता जाता है। उसे विस्तृत और उदार विचारों का अवसर नहीं मिलता। न वह नवीनता खोजने के लिये प्रोत्साहन ही पाता है। इसलिए प्रथाएँ उस पर शासन करती हैं। नवीनता और फैशन का उसके लिये कम महत्त्व है। उसके जीवन के ढंगों और आदतों में कोई अन्तर तभी आता है जब प्रकृति में भयंकर परिवर्तन हो या समाज में कोई विशेष क्रान्ति।

---

1 MacIver & Page *op cit* pp 316 20

बाहर वालो से ग्रामवासी के सम्बन्ध बहुत कम और अवयक्तिक होते हैं। किन्तु परिवार के अन्य सदस्या तथा पडोसियो से उसके सम्बन्ध बडे घनिष्ठ और प्राथमिक होते है। उसका सारा सामाजिक अस्तित्व आमने सामने की स्थितियो म बीतता है। उसके सहयोगी सम्पूण व्यक्ति होते है जिनके साथ वह सहकारिता या सघष करता रहता है। अपने छोटे से गाव के सम्पूण लोगो से वह इतना अधिक परिचित होता है कि उसे सारा समुदाय एक परिवार मान लगता है।

२ **पेशे का ढग**—अधिकाश ग्रामीणो का पेशा खेती या उससे सम्बन्धित काय होते हैं। चाहे ग्रामवासी कृषक मछुआ हो, शिकारी अथवा दस्तकार या मजदूर हो वह सतत प्रकृति के सम्पक म रहता है। वह भूमि से ही अपना जीवन निर्वाह करता है। उसकी जडें भूमि मे होती हैं। वह प्रकृति को मित्र सहयोगी शत्रु आदि रूपो म देखता है। अतएव साल भर बदलते हुए मौसमो के साथ वह भी प्रकृति के साथ सघष करता है अथवा उसकी क्रूरताओ से पराजित होकर उसकी दासता स्वीकार करता है। वह समस्त प्रकृति को जीवित मानता है। उसका धम विचार आदश और रस्म सभी तो प्रकृति से उसके विशेष सम्बन्ध के रग म रगे रहते है। उसके भाग्यवादी और परम्परावादी (रूढिवादी) होने का यही कारण है।

ग्रामवासी का प्रधान व्यवसाय कृषि है। इसलिये उसकी मानसिकता और सामाजिक जीवन पर व्यवसाय की स्पष्ट छाप रहती है। उसका काय, विश्रान्ति तीव्रता और शिथिलता सभी तो प्रकृति म दनिक और ऋतु सम्बन्धी परिवतनो स निर्देशित होते हैं। नगर के मजदूर या व्यवसायी को घडी की गति के साथ या स्थिति की आवश्यकतानुकूल काय और विश्राम आदि करना पडता है।

ग्रामीण मनुष्य का सर्वाधिक धन भूमि है उससे उसे बडी ममता और लिप्ति हो जाती है। इसका फल यह होता है कि वह अपनी सामाजिक सस्थाओ और प्रथाओ म भी रूढिवादी हो जाता है।

३ **विविध काय**—गाँवो म कृषि प्रधान व्यवसाय है किन्तु इस व्यवसाय मे व्यक्ति को अनेक काय करने पडते हैं। कृषि की अनेक प्रक्रियाय होती है और प्रत्येक प्रक्रिया म कई प्रकार के काय करने पडते हैं। दूसर, किसान को लुहारी बढईगीरी, पशुचिकित्सक राज या लकडहारा आदि सभी के काय बहुत कुछ स्वय करने पडते हैं। वह अपने बच्चो को इन सब कलाओ की शिक्षा भी देता है। आधुनिक युग के आविष्कारो ने किसान के बोझ को जहाँ एक ओर हलका किया वहाँ दूसरी ओर उसके लिए यह भी आवश्यक कर दिया है कि वह बिजली यन्त्रो आदि से काम लेना सीखे। इसी प्रकार ग्रामीण स्त्रियो के काय अत्यधिक विविध हैं। विज्ञान आवागमन के

साधना और प्रविधि की उन्नति के बाद भी किसान को अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। इसका काम काफी कठिन और निश्चित है। इसका स्पष्ट प्रभाव उसके सामाजिक स्तर, आदर्शों तथा जीवन दशा पर पड़ता है। इसे कृषक रहते हुए किसी तरक्की अथवा पद की तरक्की की आशा करना कोरी कल्पना लगता है। सामाजिक जीवन में उसके कार्य बड़ी गहराई में निश्चित हैं और इसी प्रकार उसके विचार, रीतियाँ और आकांक्षायें भी।

४ सरल और मितव्ययी जीवन निर्वाह—किसानों के विशेषकर छोटे किसानों के परिश्रम का फल यदाकदा ही प्रचुर होता है। उन्हें विवश होकर अधिकतर चलना और प्रचुरता रहित जीवनयापन की सीमाओं में ही रहना पड़ता है। बुरे सालों में किसान कर्ज में लद जाता है और अच्छे साल में इस कर्ज से मुक्त होकर सुख की साँस भर ले सकता है। इसकी आय साधारणतया अन्य शारीरिक परिश्रम करने वालों के स्तर से ऊँची नहीं हो पाती। नगर के मकान मालिकों अथवा रोजगारियों और उद्योगपतियों की आय की तो वह कल्पना भी नहीं कर पाता। अमरीका जैसे सम्पन्न देश में भी बेचारा किसान केवल मितव्ययी जीवन बिता सकता है। इस अधिकांश में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन ही उपलब्ध हो पाते हैं। भारतीय किसान के निम्न जीवन स्तर और दरिद्रता का अनुमान हम उसकी आय से लगा सकते हैं। भारत के ६०% किसानों की प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय २७२) रु० से भी कम है।

ग्रामीणों के पास आडम्बर और प्रदर्शन के लिये धन या सम्पत्ति नहीं होता। उसे दिखावा करने की इतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी नगर के निवासी मजदूर या क्लर्क को। उसके सीधे सादे अकृत्रिम जीवन में एक अजीब आकर्षण है। पर उसकी निराश्रयता तथा मितव्ययता पर हम बहुधा करुणा आती है। उसकी आकांक्षाओं को भी पृथ्वी पर रहना पड़ता है। अपने जीवन-स्तर को उच्च करने के लिए उसके पास साधनों का दयनीय अभाव है। उसमें प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य नाम मात्र को ही होते हैं। फिर वह क्योंकर नये विचारों, आदर्शों और इच्छाओं को अपना सके? गाँव में उत्पन्न घराना अथवा नगर की तड़क भड़क को देखकर भी इसमें उत्थान करने और गतिशील होने की भावना शायद ही आ पाती है। यही कारण है कि ग्रामीण अपनी भूमि में और अपने मकान से जकड़ा हुआ बँधा है। उसकी स्थिति में सुधार तभी सम्भव हो सकता है जब उसे यह निस्सन्देह समझा दिया जाय कि स्वयं उसके प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण में उत्थान करने में प्रचुर अवसर समाहित हैं। यदि वह कमर कस कर विश्वस्त पगों में आगे बढ़े तो उसका भविष्य अति उज्ज्वल हो सकता और वह भी शीघ्र सभ्य मानव के जीवन-यापन की आकांक्षा कर सकता है।

उपरोक्त को मकाइवर और पेज प्राथमिक कारक कहते हैं जो ग्रामीण जीवन को नगरीय जीवन से पृथक विशेषता बताते हैं। उन सबसे मिलकर एक ऐसा पर्यावरण बनता है जो ग्रामवासी के सामाजिक अनुभवों को गम्भीरता से प्रभावित करता है।

नगर में साधारणतया उसके आकार के अनुपात में उपरोक्त की विरोधी दशायें मिलती हैं। नगर के विशाल जनसमूह में अति निकट सम्पर्क होना है। वहाँ अनेक प्रकार की समितियाँ होती हैं जो परिवार और ग्रामीण पड़ोस के कार्यों को बहुत कुछ स्वयं करने लगती हैं अथवा उनमें से बहुतों को अनावश्यक कर देती हैं। नगर में माध्यमिक अथवा श्रेणीबद्ध सम्बन्धों की प्रबलता होती है। मनुष्यों और सम्पत्तिओं से मनुष्य के इतने अपरिचित सम्पर्क हो जाते हैं कि फिर प्रकृति से उसका सम्पर्क समाप्त प्राय हो जाता है। आर्थिक वर्गों का विभेदीकरण और आर्थिक कार्यों का विशेषीकरण, मनुष्यों को ऊँचे नीचे पद और श्रेणी में इस प्रकार रखते हैं जो ग्रामवासियों की कल्पना से परे होता है। सीमित और प्रगाढ़ कार्य, उसकी अनन्त विविधताएं और अवसर तथा भाग्य की विषमताएँ नगर के जीवन में एक अति जटिल प्रतिस्पर्धात्मक जीवन उत्पन्न कर देती हैं जो गाँव की परम्परा का विरोधी है।

माध्यमिक कारकों के आधार पर ग्राम्य और नगरीय जीवन में तुलना करना अपेक्षाकृत कठिन है। मैकाइवर और पेज ने इनमें से कुछ प्रमुख कारक चुन कर अधोलिखित तुलनाएं की हैं —

सामाजिक तुलनाएं

(१) पारिवारिक दृढ़ता एवं सामाजिक नियन्त्रण—ग्राम्य परिवार अपेक्षतया प्रबल है और आत्मभरित भी। इसलिये गाँव में सामूहिक उत्तरदायित्व प्रचलित होता है जो नगर में धीरे धीरे घुल जाता है। गावों में बहुधा पितृसत्तात्मक परिवार एक महत्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध है। अपने सदस्यों पर उसका बहुत अधिक नियन्त्रण होता है। व्यक्ति की परिस्थिति का निर्धारण उसकी पारिवारिक परिस्थिति पर निर्भर रहता है। सारी सम्पत्ति परिवार की होती है। सभी मामलों में व्यक्ति पारिवारिक अभिमान से निर्देशित होता है। बहुधा व्यक्ति परिवार की उपेक्षा या उल्लंघन करने का साहस नहीं करता। यहाँ तक कि बिल्कुल वैयक्तिक मामलों जैसे विवाह, शिक्षा आदि में व्यक्ति परिवार के कल्याण और प्रतिष्ठा पाने के लिए अपनी इच्छाओं अथवा आकांक्षाओं की बलि दे देता है।

इसी प्रकार धर्म, पेशे, जीवन रीति, मनोरंजन, और राजनीति में ग्रामीण नर नारी परिवार की परम्परा से अधिक प्रभावित होते हैं। मनुष्य की नैतिकताये वस्तुतः परिवार की एकता की नैतिकतायें होती हैं। प्रतिष्ठित संहिताओं का उल्लंघन ग्रामीण समुदाय में असहनीय है विशेषकर यौन-सम्बन्धों में इस प्रकार के उल्लंघन बहुत कम होने

है और यदि होते हैं तो अपराधियों को कठोर दण्ड भोगना पड़ता है। गाँव के परिवार में एकता और दृढ़ता नगरीय परिवार की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। वहाँ तलाक या विवाह विच्छेद अति न्यून होते हैं। गाँव में ऐसी स्त्री अथवा पुरुष को जो, किसी परिवार से सम्बद्ध नहीं है, कोई स्थान नहीं मिलता। गृहस्थ होकर ही वहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा मिल सकती है।

परिवार की प्रबल स्थिति के कारण ग्रामीण जीवन में सामाजिक नियन्त्रण न्यूनतम औपचारिक होता है। परन्तु फिर भी उसमें अत्यधिक शक्ति होती है। सामूहिक रूढ़ियों का प्रभाव इतना अधिक है कि उनका विरोध अथवा अनादर करने का साहस कदाचित् ही कोई करता है। इन रूढ़ियों के परिपालन के लिये किसी विशेष एजेन्सी की कोई आवश्यकता नहीं होती। गाँव की चौपाल की गपशप या कुएँ पर पनिहारियों की काना फूसी अथवा मेलों में चिढ़ाना का प्रताप—ये ही ग्रामवासियों को रूढ़ियों में प्रतिकूल जाने से रोकने के सशक्त साधन हैं। शहर में परिवार उतना लीन नहीं होता जितना गाँव में। वहाँ तो परिवार के बहुत से दायित्वों और कृत्यों को आर्थिक राजनैतिक चिकित्सा सम्बन्धी और शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक समितियाँ और विशेषीकृत संस्थाएँ छीन लेती हैं। नगर के परिवार में व्यक्ति के सम्बन्ध कम पूर्ण और सर्वांगीण होते हैं। उसके बहुत से सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और अवैयक्तिक हो जाते हैं। परिवार में रहकर भी नगरवासियों को अपने दिन का अधिकांश भाग उससे बाहर समितियों और संघों में बिताना पड़ता है। फिर परिवार से उसकी प्रगाढ़ लिप्ति कैसे हो सकती है? शिक्षा आर्थिक कार्य व्यवसाय अथवा धार्मिक और सांस्कृतिक क्रिया की पूर्ति में वह परिवार की परम्परा और कल्याण में नहीं बँधा रहता है। नगर में जीवन-यापन की परिस्थितियाँ उसे प्रतियोगी और महत्त्वाकांक्षी कार्यों के लिए विवश कर देती हैं। परिणामतः हर नगरवासी अपने सफल जीवन के लिए स्वयं निर्णय कर लेता है और पथ तथा पद्धति को चुनता है। इस कारण उसे अनेक बार परिवार की सत्ता और प्रतिष्ठित महिमाओं का तिरस्कार अथवा उल्लंघन करना पड़ता है। उसके लिए पड़ोस भी अजनबी है। वहाँ व्यक्ति को विशेष हितों की पूर्ति के लिए विशिष्ट सम्पर्क स्थापित करने पड़ते हैं। और न जाने कितने प्रकार के अल्पकालिक एवं अस्थिर सम्बन्ध बनाये रखने पड़ते हैं। इन परिस्थितियों में परिवार से उसका सम्बन्ध अवश्य सीमित होगा। अतः परिवार का नियन्त्रण शिथिल एवं उसके आदर्शों, प्रथा आदि की छाप व्यक्ति पर बहुत न्यून होगी।

नगरों और महानगरों में सामाजिक नियन्त्रण की समस्या बड़ी जटिल और गम्भीर हो जाती है। यहाँ ग्रामीण समुदायों के समान, अनौपचारिक अथवा प्राथमिक से कोई काम नहीं चलता। गपशप (प्रताप), प्रथाएँ, नीतियाँ एवं रूढ़ियों के अनौपचारिक नियमन को व्यक्ति सरलता से तिरस्कृत कर देता है। कारण यह है कि इन नियमनों के अधिकार क्षेत्र में वह बहुत सीमित उद्देश्यों के लिए ही कार्य करता है।

उसके सामाजिक सम्पर्क बहुत अधिक होते है। नगर मे अनेक प्रकार की सामाजिक सहिताओ तथा माध्यमिक सम्बन्धो से उसका वास्ता पडता है। इन दशाओ म उसे विभिन्न भूमिकाओ म काय करना पडता है। उसे अनेक बार निश्चित और धूमिल परिस्थितियो म रहना पडता है। ऐसे म उस पर नियन्त्रण केवल विशिष्ट सस्थाए अथवा समितियां ही कर सकती है। कम्पनी विश्वविद्यालय प्रशासकीय कार्यालय, पुलिस गुप्तचर विभाग, सेना तथा न्यायालय सभी तो नगर वासो पर नियन्त्रण करने मे तत्पर रहते हैं। लेकिन यह नियन्त्रण अधिकाशत व्यक्ति के सावजनिक आचरण पर अत्यधिक प्रभावपूर्ण होता है। प्राय उसका निजी जीवन नगर के अवयक्तिक ससार म अदृश्य ही रहता है।

(२) पेशों का विशेषीकरण—ग्रामीण जीवन म प्राय सभी लोग कृषि अथवा उससे सम्बन्धित पेशो को करते है। वहा पेशो की सख्या थोडी है। उनमे विशेषीकरण का अत्यल्प अश है। ग्रामीणो म आर्थिक विभेदीकरण भी नगण्य सा होता है। अतएव वहा प्रतिस्पर्धा और जटिल प्रवरण नही प्रचलित हो पाता।

नगर म गाव की स्थिति के विपरीत अनक प्रकार के असम्बद्ध काय होते हैं। उन्ह करने के लिये एक विशेषीकरण का सहारा लेना पडता है। किसी बडे नगर के चौराहे पर सुबह जाकर खडे हो जाइये आप को हजारो प्रकार के काम पेशे व्यवसाय अथवा रोजगार करने वाले लोग आते जाते मिलेंगे। इन कार्यों म दक्षता और प्रशिक्षा की आवश्यकता होती है। अतएव हजारो प्रकार के दक्ष और विशिष्ट कामो को करने के लिये विशेषीकरण का अत्यधिक अश नगर म मिलता है। कौन नही जानता कि नगरो के दक्ष तथा विशेषज्ञो की अनन्त सूची बन सकती है।

(३) सामाजिक स्तरीकरण—उपरोक्त आर्थिक विशेषीकरण से ही नगर के समाज की रचना होती है। यहाँ शीर्ष और क्षतिज सामाजिक स्तरीकरण बडा जटिल हो जाता है। यहा के सामाजिक स्तरो का एक तांता सा लगा रहता है। परन्तु सामाजिक स्तरो के इस क्रम म नगरवासी को उठने और गिरने के अवसर भी अगणित हैं। यदि कोई चतुर है परिश्रम या तिकडम से अन्य नागरिको की अपक्षा आर्थिक प्रतिस्पर्धा और होड म आगे निकल जाता है तो उसका भविष्य अति उज्ज्वल हो जाता है। यह सहज ही सामाजिक प्रतिष्ठा और आदर का भागी हो जाता है। नगर म व्यक्ति की सफलताएँ या गुण उसके सामाजिक स्थान को निर्धारित करती है। एक पेशे से दूसरे पेशे अथवा एक वग से दूसरे वग म चल जाने के लिये नगर निवासी को अगणित अवसर प्राप्त हो सकते हैं। नगर म योग्य व्यक्ति को अपने विशेष गुणो को उपयोग करने के अनेक अवसर मिलते हैं। व्यक्तिगत चुनाव और निरी प्रतिस्पर्धा को नगर म बहुत महत्व है। किन्तु इसके साथ ही व्यक्ति स्तर या प्रस्थिति की असुरक्षा भी बढ जाती है। उसे अपने से अधिक योग्य और कुशल लोगो से प्रतिस्पर्धा करने म असफलता का भय अधिक रहता है।

(४) सामाजिक गतिशीलता, और सयोग के अवसर—गावों में सामाजिक गतिशीलता—प्रादेशिक, व्यावसायिक अथवा स्थानिक—प्रायः नहीं के बराबर होती है। वहां निष्क्रमण केवल नगरों की ओर होता है। पर्शे इतने सीमित होते हैं कि उनमें गति शीलता का क्षेत्र अत्यधिक सकुचित होता है। रही सामाजिक स्थिति में गतिशीलता की बात—वह भी बड़ी शिथिल होती है। ग्रामीण जीवन में प्राथमिक समूहों की बहुलता होती है। वर्गों और श्रेणियों की सख्या गिनी चुनी होती है। अतएव यहां गतिशीलता का क्षेत्र अति सीमित होता है। सारांश यह है कि ग्रामीण जीवन में व्यक्ति का व्यवसाय और सामाजिक स्थान बहुत कुछ पूर्व निश्चित होता है। वहाँ विशेष गुणों अथवा चतुरता के प्रदर्शन के अवसर भी नहीं के बराबर होते हैं। महत्त्वाकांक्षा और प्रतियोगिता के अति परिमित होने से गावों में सामाजिक गतिशीलता बड़ी शिथिल और सीमित होती है। इसके अतिरिक्त ग्रामीणों को सयोग अवसर बहुत नीचे किस्म और न्यूनतम मिलते हैं। उनकी आशा निराशा भी कुछ पूर्व निश्चित सी होती है।

नगरीय जीवन में सामाजिक गतिशीलता बहुत अधिक होती है। यहां छोटे वर्ग, श्रेणी या सामाजिक स्तर से उच्चतम वर्ग, श्रेणी या सामाजिक स्तर पर पहुंचने के अनेक अवसर मिलते हैं। व्यक्ति के जीवन यापन और सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में इसे पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है। नगर में सहसा अवसर प्राय: मिलते रहते हैं। इन सयोग अवसरों से लाभ उठाने की विशेष चतुरता नगर-वासियों में आ जाती है। ये व्यक्ति के भविष्य को क्षण भर में क्रान्तिमय बना देते हैं। लाटरी, रेस, सट्टा या सौभाग्यशाली सम्पर्क या किसी फैशन या विचार का सहसा परिवर्तन—ये सभी तो व्यक्ति को अप्रत्याशित लाभ दिला सकते हैं।

(५) विशेषीकरण के क्षेत्र—हम अपने पाठकों का ध्यान इसी अध्याय में पीछे नगर के विशेष क्षेत्रों की ओर दिला चुके हैं। नगर में स्थानिक पृथकता होती है। विभिन्न वर्गों के लोगों के रहने के लिये विभिन्न विशेष क्षेत्र होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न आर्थिक, औद्योगिक, नैतिक, प्रशासकीय, सांस्कृतिक अथवा आमोद प्रमोद सम्बन्धी कार्यों के लिये नगर में क्षेत्रों का स्पष्ट विभाजन होता है। कहीं मौजों का क्षेत्र है तो कहीं दफ्तर या थोक व्यापार का, कहीं वेश्याओं का क्षेत्र कहीं मध्यम श्रेणी के लोगों का क्षेत्र है तो कहीं प्रशासकीय कर्मचारियों का। नगरों के इन विशेष क्षेत्रों की व्यवस्था का एक साधारण प्रतिमान होता है।

गांवों में इस प्रकार के कोई विशेष क्षेत्र नहीं होते। हां जाति अथवा भू स्वामित्व के आधार पर वास स्थान का कुछ वितरण अवश्य होता है।

नगरों के इस क्षेत्रीय विशेषीकरण का बहुत व्यापक प्रभाव वहाँ की सामाजिक रचना पर पड़ता है। इसे आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं यदि अपने नगर के विभिन्न

विशेष क्षेत्रों की संस्थाओं, प्रथाओं, जनरीतियों और सामाजिक रूढ़ियों का ध्यान से अवलोकन करें।

(६) **स्त्रियों की सामाजिक स्थिति**—गांवों की अपेक्षा नगरों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अच्छी होती है। वहां उन्हें युगों-युगों की जड़ता, रूढ़िवादिता एवं अज्ञानता के अन्धकार से निकल कर नवीन प्रगतिशील जीवन बिताने के प्रचुर अवसर मिलते हैं। नगर के कारखानों में स्त्रियां मजदूरी ही नहीं करतीं, वे क्लर्क से लेकर उच्च व्यापारिक और प्रशासकीय अधिकारी भी बन जाती हैं। ललित कलाओं और कुछ उदार व्यवसायों में तो उनका प्रशंसनीय स्थान होता है। उन्हें घर में भी गन्दे और अति परिश्रम वाले कार्यों को नहीं करना पड़ता। नवीन आविष्कार और बिजली ने उनके घरेलू दायित्व को सुखमय बना दिया है। प्रसवकाल की असीम पीड़ा तथा तज्जनित अनेक शारीरिक असुविधाओं से भी उन्हें बहुधा मुक्ति मिल जाती है। सारांश यह है कि स्त्रियों के कार्य क्षेत्र में आशातीत विस्तार तो हो ही गया है, उन्हें आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शारीरिक और सांस्कृतिक प्रगति करने के अनेक सुलभ अवसर उपलब्ध हैं।

नगर की स्त्रियों का सबसे अधिक सुखमय अनुभव तब हुआ जब वे युगों-युगों की आर्थिक दासता से मुक्त हुईं। उनमें से योग्य और महत्वाकांक्षी आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त कर लेती हैं और पुरुषों के क्रूर व्यवहार को चुनौती दे सकती हैं। उनकी मानसिक परनिर्भरता ढह रही है और वे धीरे धीरे समाज में पुरुषों के समान स्तर पर आने का प्रयास कर रही हैं। यहां तक कि वे परम्परागत विवाह और परिवार के बन्धन में भी बुद्धिमान नारी की हैसियत से बँधना चाहती हैं। वास्तव में नगरीकरण, औद्योगीकरण एवं जनतन्त्रीकरण ने नारी को अपने वास्तविक रूप में प्रकट होने का सुयोग प्रदान किया है। अब नारी केवल घरेलू वस्तु अथवा चक्की चूल्हा और बच्चों को जनने वाली मूक और निराश्रय स्त्री नहीं रहना चाहती। वह प्रगतिशील मानवता के कल्याण और गौरव में अपना उचित भाग लिए बिना नहीं जीना चाहती। संक्षेप में स्त्रियों के सामाजिक जीवन और रुख में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा है।

(७) **लिंगों का अनुपात**—किन्तु नगरों की सामाजिक रचना में एक बात चिन्तनीय है। अमरीका, इंगलैंड और औद्योगिक पाश्चात्य देशों में नगरों की जनसंख्या में युवतियों का अनुपात पुरुषों की अपेक्षा अधिक है। १९६० ई० में शिकागो, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, सेंट लुई, कंसास नगर में प्रति १०० स्त्रियों के पीछे केवल क्रमशः ९८, ९७.५, ९५.३, ९२.८ और ९१ से कम पुरुष थे। और स्त्रियों की संख्या में बहुमत अविवाहिता का था। भारत में पाश्चात्य देशों की उपरोक्त स्थिति के विपरीत अवस्था विद्यमान है। यहाँ के नगरीय जीवन की एक विशेषता स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की अधिकता है। नगरों में औसत प्रति १००० पुरुषों पर ८६० स्त्रियां हैं। कुछ नगरों में तो यह स्थिति बड़ी उग्र है। वृहत्तर कलकत्ता ६०२,

कलकत्ता बम्बई ५६६ मद्रास ९७१, दिल्ली ७५० हैदराबाद ६८६ अहमदाबाद ७६४, बंगलौर ८८ कानपुर ६६६ पूना ८७२ और लखनऊ ८८३ ।

हमारे औद्योगिक नगरों के अधिकांश मजदूर अभी भी गांवों और कृषि से सम्बन्धित हैं। नगरों में निवास-स्थान के अभाव के कारण स्त्री-बच्चों को साथ नहीं रखते। यही हाल नागरिक कार्यालयों उद्योगों आदि में नौकरी करने वाले हजारों युवकों का है। वे भी उचित वासस्थान के अभाव में तथा अन्य कारणों से या तो ऊँची आयु तक कुँवारे रहते हैं अथवा अपनी पत्नियों को साथ नहीं रखते।

अतएव पाश्चात्य और पूर्वात्य नगरों में स्त्री लिंग की जनसंख्या में भिन्नता है। दूसरी बात यह है कि नगरों की अधिक जनसंख्या अविवाहितों की है। इस स्थिति का नागरवासियों की नैतिकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ पारिवारिक जीवन के अभाव में नगर के युवक-युवती व्यभिचार और अन्य अवांछित कार्यों की ओर प्रलोभित होते हैं। वेश्यालय, नाचघरों, होटल, सिनेमाओं का वातावरण, स्कूल, कालेज और अस्पताल के युवक-युवतियों में चरित्र की शिथिलता चिन्ताजनक विषय बनता जा रहा है।

सामाजिक-मनोवैज्ञानिक भेद

ऊपर हमने ग्रामीण और नागरीय समुदाय के जिन विशिष्ट लक्षणों की विवेचना की है उनकी प्रत्यक्ष दशा में लोगों के व्यवहारों और रुखों में प्रतिक्रिया होती है जो उनके जीवन रीति की विशेषता को व्यक्त करती है।

(१) **स्वार्थी व्यक्तिवाद**—नगर के पर्यावरण का संयुक्त प्रभाव यह होता है कि नागरवासियों में स्वार्थी व्यक्तिवाद का उदय हो जाता है। नगरों के विशाल जमघट और वहाँ के निवासियों की विशेषीकृत सभाओं से व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध चुनाव के आधार पर स्थापित होते हैं। उनकी सामाजिक आवश्यकताएँ एक परिवार अथवा पड़ोस में पूरी नहीं हो पातीं। प्रत्युत इन्हें पूरा करने के लिए वह कम या अधिक स्वतन्त्र संस्थाओं की एक शृंखला भी स्थापित करता है। उनके सामने एक महत्वपूर्ण समस्या यह होती है कि वह इन विविध विशेषीकृत संस्थाओं को अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य कर सकें। इसी में उसकी सफलता अथवा विफलता के अपेक्षतया अधिक अवसर सन्निहित हैं। ग्रामवासी की तुलना में उस नागर और व्यक्ति के मनोरंजन में अपनी सामर्थ्य का पूरा लाभ उठाना चाहिए। वह स्वेच्छा से चाहे कुछ या किसी लिप्ति रखे परन्तु वह यह निश्चित रह सकता है। नगर में इस प्रकार प्राथमिक सम्बन्धों से माध्यमिक सम्बन्ध अधिक प्रबल होते हैं। परिणामस्वरूप नगर में सामाजिक रुखों का अति विस्तृत क्षेत्र होता है।

ग्रामीण जीवन में सामाजिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत थोड़े से सीमित होते हैं। अतएव वहाँ के निवासियों को हर समय नयी स्थिति में रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन कारण इनके बहुत से गुण अविकसित बने रहते हैं। गाँव के जीवन में

परम्परा और स्थिरता का अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत नगर में अनेक सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। उन सब में नित या प्रतिक्षण नगरवासियों को प्रारम्भिक कदम उठाना पड़ता है। इससे उसमें अनेक गुणों का विकास होता है। नगर में व्यक्ति को अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। उसे बदलती हुई परिस्थितियों से शीघ्र प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। कभी कभी तो नगर के निवासियों को इतनी शीघ्रता से वैयक्तिक समायोजन करना पड़ता है कि वे जरा चूके नहीं कि भयंकर मुसीबतों में पड़ गए। उसके तरीकों में शीघ्र समायोजन के प्रति सतर्कता और बुद्धिमत्ता प्रतिबिम्बित होती है। उसकी नैतिक धारणाएं तो और भी स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रकट करती हैं। वह अनेक प्रकार के व्यक्तियों और स्थितियों से जिस सरलता से सम्पर्क रखता है अथवा जितनी सुगमता से अनुकूलन करता है उसका कारण उसकी नैतिक धारणाओं की भारी विविधता है। अनेक धर्मों में नैतिक संहिताओं जीवन ढंगों अभिरुचियों, मतमतान्तरों के बीच में नगर निवासी सहिष्णु और उदार रहता है। गाँव में परम्परा के विरुद्ध कोई विचार नहीं सहन किया जाता। वहाँ के लोगों को उसी ढंग से रहना आवश्यक है जिसमें वहाँ का बहुमत रहता आया है। उत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिए तुलनात्मक आलोचना अथवा अवस्थाओं का परिसीमन ग्रामीण नहीं स्वीकार कर पाता। ग्रामीण आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों की भाँति वहाँ के नैतिक नियम भी बड़े कठोर होते हैं। गाँवों में नैतिक नियमों का उल्लंघन अत्यन्त निन्दनीय माना जाता है। किन्तु रूढ़िवादिता और परम्परात्मकता ने ग्रामवासियों के जीवन में सुरक्षा की अधिक सुदृढ़ भावना बनाये रखने में प्रशंसनीय कार्य किया है। उसके कमजोर विश्वास भी शीघ्र नहीं डगमगाते। नगर में तर्क नवीनता परम्परा विरोध एवं वैयक्तिकता के कारण विश्वास शीघ्र ढह जाते हैं और व्यक्ति के सामने असुरक्षा और अनिश्चितता मुँह बाये खड़ी रहती है।

(२) सामुदायिक भावना—ग्राम-वासियों में सामुदायिक भावना बड़ी प्रगाढ़ होती है। उसे अपनी भूमि और समूह से बड़ा प्रेम होता है। सभी ग्रामीणों में हम भावना बड़ी सुदृढ़ होती है। प्रत्येक को समाज में अपने कार्यों का निश्चित ज्ञान रहता है। वह गाँव के अन्य लोगों पर किसी न किसी प्रकार निर्भर रहता है। उनमें पूर्ण स्वतन्त्र होकर वह सम्भवतः अधिक निराश्रय और अनिश्चित हो जाता है। एक शब्द में ग्राम-वासियों को अपने समुदाय के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होता है। वह उसका है और उसी में रहेगा मरेगा। उससे पृथक और स्वतन्त्र रहकर वह सबलहीन और प्रयोजन हीन जीवन बिताने से भयभीत रहता है।

इसके विपरीत नगरवासी में नगर के प्रति न तो प्रगाढ़ प्रेम होता है, न उसे उससे निवृत्ति होती है और न वह उसको अपना ही समझता है। उसमें 'हम भावना' निर्बल पड़ जाती है। वह वैयक्तिकता और स्वार्थ का पुजारी हो जाता है। उसके कार्यों में इतना उलट फेर हुआ करता है कि वह शायद ही कभी अपनी भूमिका

को निश्चित रूप से समझ पाता हो। अपने दूसरे साथियों में से अधिकांश के कार्यों को भी वह नहीं जान पाता। उसमें समुदाय के अन्य लोगों से भी अन्तर्ग्रथित होने की भावना भी बड़ी दुर्बल होती है। वह तो अपक्षतया अधिक पृथक् और स्वतन्त्र रहना चाहता है। यदि एक नगर से दूसरे को जाना पड़ता है तो बड़ी सरलता से वह अपने पुराने समुदाय, पड़ौस और सम्बन्धों को छोड़ कर नवीन स्थानों की ओर चल देता है। उसमें समुदाय के प्रति ममत्व तो आ ही नहीं पाता।

सांस्कृतिक अन्तर और सम्बन्ध

ग्रामीण और नगरीय समुदायों की संस्कृति में भेद होता है। इसका कारण उन स्थानों के विभिन्न पर्यावरण और समस्यायें हैं। किन्तु सांस्कृतिक भेद इन समुदायों के संगठन को साधारणतया प्रभावित भी करते हैं। मानव संस्कृति का जन्म गाँव में हुआ था और सदैव उसकी जड़ें गाँव में रहेंगी। नगर में तो इस संस्कृति का विकास हुआ है। हम पहले कह चुके हैं कि नगरीकरण और सभ्यता शब्दों का सामान्य मान है। ग्रामीण संस्कृति पर प्रकृति की गहरी छाप है। उसमें प्रकृति की अद्भुत सुन्दर अनिर्विविध मनोहारी आकृतियों का चित्रण है। ग्रामीण संस्कृति में अपेक्षतया सरल ग्रामवासियों की लोक कथायें, गाथा पुराण, लोक नृत्य और लोक संगीत आदि का समावेश होता है। उसमें पृथ्वी और मनुष्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है।

नगर की संस्कृति अप्राकृतिक, यान्त्रिक और अवैयक्तिक है। वह कृत्रिम जीवन और विचारों की पोषक है। उसमें सरल लोक संस्कृति का आधार बनाकर नगर वालों की विविध आवश्यकताओं, आवेश और नवीनता की पूर्ति का साज-सामान सम्मिलित है। नगर की संस्कृति लोक-संस्कृति की आधारशिला पर निर्मित वह प्रासाद है जिसमें अनेक प्रकार की कला का चमत्कार दर्शाया गया है जो नगरोन्मुख है और जिसमें जनता-जनार्दन की सरल, मधुर और स्वाभाविक आवश्यकताओं को भी अतिरंजित कर दिया जाता है तथा जो क्षणिक और परिवर्तनशील भावों और नवीनताओं से भरपूर है। नगर की संस्कृति वस्तुतः बड़ी जटिल और निशान-कलेवर धारी होती है। इसमें अतिरेक और उतार चढ़ावों की विविधता सम्मिलित है। ग्रामीण संस्कृति में विशिष्ट भेष को दर्शाती हुई यह अपने दबाव, प्रगाढ़ता और चपलता के रूपों को लेकर खड़ी है। नगरों में स्वदेश की संस्कृति ही विकसित नहीं होती यहाँ तो विदेशी संस्कृति भी उतनी स्पृहणीय है जितनी स्वदेशी यदि वह नागरिकों की उत्तेजना और कौतुकता दे सकने में समर्थ हो। भारत के कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास आदि महानगरों में पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति से होड़ कर रही है। खान-पान, वेश भूषा, रीति रिवाज, शिक्षा और धर्म सभी में तो विदेशीपन घुल मिल रहा है।

ग्रामीण और नगरीय जीवन की अन्त क्रिया

ऊपर हमने ग्राम और नगर के जीवन में तुलना करते समय दोनों को स्वतन्त्र अथवा आत्म भरित माना था और यह समझ लिया था कि उनमें से किसी के प्रभावों का दूसरे पर कोई असर नही पडता है। यथार्थ में, इस प्रकार की मान्यता असत्य है। नगर और ग्रामीण जीवन में सतत अन्तक्रिया होती रहती है। वे एक दूसरे से पृथक होते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्र नही हैं उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर नही है। वह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। तो आइए उनके अन्त सम्बन्ध का संक्षेप में विश्लेषण करें।

नगर की प्रबलता—आर्थिक और सामाजिक विकास ने गाव की आत्म निभरता को समाप्त कर दिया है। वे अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए नगरों पर निर्भर रहते हैं। नगरों को अपने उन्नतिमय उद्योग और व्यापार के लिए क्रमश कच्चे माल और उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार गांव में ही ढूढने पडते है। अतएव गाव और नगर का सम्पर्क निकटतर एवं अधिकतर होता जा रहा है।

गाव और नगर की इस अन्त क्रिया में नगरीय जीवन के रवैया ढंगों और सस्थाओं की ग्रामीण जीवन पर प्रबलता हो जाती है। इसके कारणों को ढूढना कठिन नही है। नगर के पास सम्पन्न शक्ति और विशिष्ट ज्ञान का प्रतिष्ठा है। वित्त का पूजी उसी के हाथ में है। ग्राम के कच्चे माल का बाजार नगरों में है। वही उसके जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन उपलब्ध हैं। इसी प्रकार, सांस्कृतिक और राजनैतिक मामलों में भी ग्रामवासियों को नगर की ओर ताकना पडता है। इन सब कारणों से नगर के जीवन की प्रबलता दिनादिन बढ़ रही है। गाँव के जीवन-ढग विचारों आदर्शों एवं प्रधान हितों पर नगरीय जीवन का व्यापक प्रभाव पडता है। गाँव व नगर के सम्पर्क में नगरवासी को अपने ज्ञान शक्ति और सम्पदा का बडा लाभ मिलता है। वह ग्राम वासियों को अपने ढर्रे में सरलता से ढाल सकता है। साथ ही, ग्रामीण जीवन के साधनों का शोषण भी नगर कुशलता से कर सकता है। जिन दशा में नगरीय जनसंख्या का अनुपात ग्रामीणों की अपेक्षा बढ़ गया है वहां तो गाँव के जीवन पर नगरीय प्रभाव का प्रभुत्व सा हो गया है।

मकाइवर और पेज ने ग्रामीण जीवन पर नगरों की प्रबलता को तीन स्तरों पर देखने का प्रयत्न किया है—(१) प्राविधिक उन्नति, (२) उन्नत सामाजिक सगठन और (३) नगरों का ग्रामीण निष्क्रमण। नगरों का प्राविधिक उन्नति का मुख्य स्थान कहा जा सकता है। गावों को प्रकृति का शोषण करने के लिए नगर में निकसित प्रविधि का आश्रय लेना पडता है। दूसरे, नगरों में सामाजिक विकास इतना आगे बढ गया है कि आए दिन नए सगठन और नई सामाजिक प्रविधियाँ नगरों में उत्पन्न होती रहती हैं। उन्नति की आकांक्षा करने वाले गाँवों को उन्हें अपनाना

पड़ता है अथवा उनका अनुकरण करना पड़ता है। तीसरे, नगरों के सामाजिक और आर्थिक आकर्षण का अनिवार्य लोभ महत्वाकांक्षी प्रतिभाशाली, साहसी एवं उत्साही ग्रामीण युवक-युवतियों को गाव छोड़ने पर बाध्य कर देता है। इन तीनों स्थितियों में विवश होकर गाव को नगर की प्रधानता को स्वीकार करना ही पड़ता है।'[1]

गाव और नगर का मेल-क्षेत्र

सभ्यता के विकास ने गाव और नगर-सामाजिक सांस्कृतिक संसार के इन दो रूपों का एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक रहना तथा परस्पर अप्रभावित होना असम्भव कर दिया है। इनके विरोधों में न्यूनता आ रही है। प्रत्येक के विशिष्ट लक्षणों में दूसरे के लक्षणों के अनेक तत्व प्रवेश कर तथाकथित परिशुद्धता को मलीन कर रहे हैं। नगर का प्रभाव गाव पर और गाव का नगर पर पड़ रहा है। नगर की बढ़ती हुई प्रधानता ने इस समस्या को और भी जटिल कर दिया है। इसलिए समाज शास्त्रियों को यह आभास हो रहा है कि इन दो प्रकार के सामाजिक संगठनों और मानव पर्यावरण में परस्पर मिलने जुलने और समरस होने की प्रवृत्ति धीरे धीरे जोर पकड़ रही है। इसी प्रवृत्ति के बारे में सोरोकिन इस प्रकार कहते हैं —

जिसमें विशिष्ट ग्रामीण और नगरीय लक्षण परस्पर विलीन हो जाते हैं और जिसमें दोनों के गुण सुरक्षित रहते हैं तथा अभाव कम हो जाते हैं। यह नई प्रवृत्ति केवल कुछ ही क्षेत्रों और देशों में प्रकट हो रही है, परन्तु इसकी अधिकाधिक वृद्धि अवश्यम्भावी है। इससे सामाजिक सांस्कृतिक संसार के एक नये रूप की सृष्टि होगी।[2]

इस प्रवृत्ति को ग्रामनगरीकरण की विधा कहते हैं। इसके दर्शन इस तथ्य में होते हैं कि गाव के बहुत से पहलुओं में नगरीयता आती जा रही है उसी तरह बहुत नगरवासियों के लिये एक नए सामुदायिक पर्यावरण में रहना पड़ता है जिसमें ग्रामीण जीवन के अनेक तत्व मिलते हैं। उपनगरों का विकास और नये कस्बों की स्थापना ग्राम-नगरीकरण विधा की ही अभिव्यक्ति है। अमरीका, रूस, जर्मनी और भारत में कुछ ऐसे क्षेत्र मिलते हैं जहा ग्राम-नगरीकरण की विधा कार्य कर रही है— अथवा गांव और नगर के जीवनों का सुखद सम्मिलन हो रहा है।

---

1 MacIver and Page *op cit* pp 329 40

2 There is a tendency for these two types of social organisation and human environment to coalesce (a trend according to one sociologist Sorokin) in which the specifically urban and rural traits are merged together preserving the pulses of both and *decreasing* the shortcomings of each of these agglomerations. The new trend is emerging in only a few regions and countries but it is bound to develop more and more creating thus a new form of socio-cultural world. Sorokin *Society Culture and Personality* (New York 194?) p 30? quoted by MacIver and Page *op cit* p. 341

गांव और नगर का भविष्य

अंत में आइए इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करें कि अन्तत गांव और नगर का भविष्य क्या है ? क्या नगरीकरण की आधुनिक प्रगति सारे संसार को अन्तत नगर बना देगी ? अथवा गांव का भी अस्तित्व बना रहेगा ? पीछे एक स्थान पर हम यह संकेत कर चुके है कि आधुनिक जगत में माध्यमिक समुदायों या समितियो की प्रबलता होते हुए भी प्राथमिक समुदाय बने रहे हैं। भविष्य में भी माध्यमिक समूहो—विशेषकर नगरो की अधिकतम प्रगति होने पर भी गांव कायम रहेगे। हाँ, गांव के रूप में आवश्यक परिवर्तन हो जाना अनिवार्य होगा। संभवत नवीनतम प्रवृत्ति—ग्राम नगरीकरण भविष्य की इसी स्थिति का प्रारंभ है। ग्राम और नगर दोनो प्रगति करेंगे और दोनो बने रहेंगे। किन्तु भविष्य में उनमें निकटतम सामीप्य और अधिकतम सम्पर्क यह अनिवार्य कर देगा कि वे दोनो एक दूसरे के सहोदर, पूरक और सहयोगी बन कर रहें।

१३

सामाजिक परिस्थितिशास्त्र[1]

परिस्थितिशास्त्र (ecology) जीवों और उनके पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध का एक अध्ययन है। हम लोगों का यह सामान्य अनुभव है कि संसार के भिन्न भिन्न प्राकृतिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के जीव जन्तु, पक्षी और पौधे पाये जाते हैं। हर प्राणी अथवा पौधे का अपने विशिष्ट पर्यावरण से एक विशेष प्रकार का उपयोजन (adaptation) रहता है। यदि कोई जीव या पौधा अपने इस विचित्र पर्यावरण से बाहर और दूर कर दिया जाय तो उसका जीवन अति कठिन अथवा असम्भव भी हो जाता है। मछलियाँ पानी के बाहर जीवित नहीं रह सकती। अफ्रीका और आसाम अथवा गुजरात के विशेष प्रकार के जंगलों में ही हाथी पलते हैं। सहारा का प्रख्यात जीव शुतुरमुर्ग गंगा के मैदान में अपना घर बनाकर नहीं फल-फूल सकता। इसी प्रकार संसार के भिन्न भिन्न देशों और प्रदेशों में विशेष प्रकार के पौधे या अन्न और फल आदि उपस्थित हैं। इन दृष्टान्तों से इस बात का सुझाव मिलता है कि जीवधारियों के प्रकारों और संख्याओं पर पर्यावरण के प्रकारों का भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है। परिस्थितिशास्त्र जीवधारियों का एक प्राकृतिक इतिहास है। परिस्थितिशास्त्र में जीवधारियों की जातियों के विकास पर जोर नहीं दिया जाता। इसका सम्बन्ध समूहों की संख्या और उनके स्थानिक (spatial) प्रबन्ध तथा पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध से है।[3] परिस्थिति शास्त्र प्राणिशास्त्र (Biology) की एक शाखा है। वनस्पति शास्त्र (Botany) एवं जीवविज्ञान (Zoology) में परिस्थितिशास्त्र एक

---

1 Ecology' का हिन्दी पर्याय 'परिस्थितिशास्त्र', 'परिस्थिती' अथवा 'परिवेश शास्त्र' है।

2 Ecology is a natural history of organisms Ecology does not emphasize inquiry into the evolution of species but rather is concerned with the evolution of environment to numbers and to the spatial arrangement of groups. Ogburn & Nimkoff *A Handbook of Sociology* Chapter XIV

विशिष्ट विभाग है जिसमे क्रमश जीवो तथा वनस्पतियो का उनके पर्यावरण से सम्बन्ध का अध्ययन होता है। इन्ही विज्ञानो के आधार पर समाजशास्त्र म सामाजिक परिस्थिति शास्त्र (social ecology) का विकास हुआ है। इसे मानवीय परिस्थिति शास्त्र (human ecology) भी कहा जा सकता है।

मानवीय परिस्थिति शास्त्र सामान्य परिस्थिति शास्त्र (General ecology) की एक शाखा है। ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, इसमे मानव प्राणियो तथा उनके पर्यावरण के सम्बन्ध का अध्ययन होता है।[1] वास्तव मे इस ज्ञान शाखा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राकृतिक पर्यावरण और मनुष्य के सम्बन्ध का अध्ययन मानव परिस्थिति शास्त्र का एक पहलू मात्र है। परिस्थिति शास्त्रीय और भौगोलिक सम्प्रदायो की परम्परा म सामाजिक घटनाओ और प्राकृतिक पर्यावरण के बीच के सम्बन्धो पर बहुत जोर दिया गया था। समाजशास्त्रीय विचारो के विकास के इतिहास म क्षेत्रीय सम्प्रदाय (Regional School) का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है जिसके समर्थको मे पार्क बर्गेस ओह्म मकेन्जी और राधाकमल मुकर्जी आदि के नाम प्रख्यात हैं। वास्तव म उपरोक्त सम्प्रदाय म सामाजिक जीवन के स्थानिक पहलुओ (Spatial affects of social life) का विवेचन किया गया है। मानव परिस्थिति शास्त्रियो ने विशेषकर मनुष्य की स्थानिक व्यवस्थाओ (Spatial arrangements) की समस्याओ तथा सामाजिक जीवन पर उनके प्रभाव का अध्ययन किया है। विभिन्न प्रकार के स्थानो म समुदायो के विभिन्न प्रकार (ग्रामीण, नगरीय, खनिजो का समुदाय, चाय बागानो का समुदाय आदि) पाये जाते हैं। बडे बडे समुदायो के भीतर भिन्न भिन्न प्रकार के स्थान अथवा मुहल्ले मिलते हैं जिनमे से हरेक के निवासियो का अपना विचित्र जीवन ढग (way of life) होता है। किसी गाव अथवा शहर को ही ले लीजिये उसके विभिन्न भागो म भिन्न भिन्न प्रकार के समूह पाये जाते हैं जिनके सामाजिक जीवन म बहुत सी भिन्नताए दृष्टिगोचर होती हैं। वास्तव मे ऐसे एतिहासिक साक्ष्यो की कमी नही जिनसे यह सिद्ध होता है कि ससार के विभिन्न भागो म विभिन्न पर्यावरणो ने मनुष्य के वास स्थानो को बहुत व्यापक रूप से प्रभावित किया है। अरब और राजस्थान के रेगिस्तानो स्विटजरलण्ड की पहाडियो, तिब्बती पठारी भागो, गगा ब्रह्मपुत्र और सिंध की घाटियो अथवा भारत के समुद्रतटीय प्रदेशो मे मानव समूहो अथवा समुदायो म जो विचित्र भिन्नता मिलती है उससे समाजशास्त्री मानव समाज और उसकी सस्थाओ पर स्थानिक पर्यावरणो के विशिष्ट प्रभावो का विश्लेषण करने को बाध्य होता है। पिछले अध्यायो म हमने मानव समाज पर प्राकृतिक अथवा भौगोलिक पर्यावरण के प्रभावो का सविस्तार विश्लेषण किया है और यह

1 Human ecology is a branch of general ecology but is concerned with the relations of human organisms to their environment
—Ogburn & Nimkoff *op cit*

भी दर्शाने का प्रयास किया है कि मनुष्य द्वारा विकसित संस्कृति और सभ्यता किस प्रकार उपरोक्त भौगोलिक प्रभावों को परिसीमित और नियन्त्रित करने में सहायक होता है।[1] आगबर्न और निमकॉफ ने अपनी पुस्तक में मानव या मानवीय परिस्थिति शास्त्र में प्राकृतिक पर्यावरण के स्थान का बहुत विशद विवेचन किया है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि पौधों और पशुओं के वास स्थान का निर्धारण प्राकृतिक पर्यावरण से होता है और संसार में किस स्थान पर इनकी उत्पत्ति और विकास के लिए उपयुक्त स्थान मिलते हैं इस सम्बन्ध में भी मानव परिस्थिति शास्त्र के दृष्टिकोण का विशद उल्लेख किया है।[2] मकाइवर और पेज ने अपनी प्रख्यात कृति सोसाइटी में भी वास स्थान का मनुष्य के सामाजिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है इसका विधिवत विवेचन किया है। उनके अनुसार मानवीय अथवा सामाजिक परिस्थिति शास्त्र का विकास वनस्पति और पशु परिस्थिति शास्त्र के दृष्टान्तों के आधार पर हुआ है और इस शास्त्र में (मानव अथवा सामाजिक परिस्थितिशास्त्र) में विभिन्न नागरिक क्षेत्रों से सम्बन्धित सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं के प्रति गहरी दिलचस्पी दिखाई गई है।[3] इस प्रकार पारिवारिक संगठन के प्रतिमानों से लेकर मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों के प्रकारों तक की सामाजिक घटनाएँ एक प्रकार से समूह जीवन की प्रक्रिया के सामंजस्य को उद्घाटित करने वाली विशिष्ट दशाओं पर आधृत हैं जो एक स्थान विशेष द्वारा उपस्थित की जाती हैं। स्थानीय क्षेत्र के सामाजिक प्रभावों का विचार केन्द्र मानकर परिस्थितिशास्त्रवेत्ताओं ने गतिशील प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है—प्रतिस्पर्धा और सहयोग केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण विशेषता और अलगाव तथा आक्रमण और उत्तराधिकार का—जो ग्रामीण तथा शहरी समुदायों के संरचन होने के स्पष्ट चिह्न हैं उनकी खोज सामाजिक जीवन के 'शून्य स्थानीय' पहलुओं से सम्बन्धित हमारी ज्ञान शक्ति को सुदृढ़ करती है।[4]

मानवीय परिवेश शास्त्र का स्थितिक केन्द्र अमरीकी समाजशास्त्र के प्रथम तथा आधुनिक क्षेत्रीय सम्प्रदाय में बार-बार विभिन्न प्रकार का बल देकर दुहराया गया है। डब्ल्यू० ई० मूर, एच० डब्ल्यू० ओडम ने वास्तव में ली प्ले की गवेषणाओं को आधुनिक सन्दर्भ में नया स्वरूप दिया है और मनुष्य के प्राकृतिक पर्यावरण तथा मनुष्य के सामाजिक जीवन के सभाव्य तथा वास्तविक अन्तःक्रिया पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। इस आधार पर आधुनिक सामाजिक परिवेश शास्त्रियों ने अमरिका

---

1 देखिये अध्याय ६ (संस्कृति और सभ्यता)।
2 देखिये, ए हैण्डबुक आफ सोशियालाजी अध्याय १४ (आधुनिक समुदायों का स्थाननिश्चय और संगठन)।
3 मकाइवर और पेज, सोसाइटी पृष्ठ ७५।
4 वही पृष्ठ ७५।

को कई प्राकृतिक क्षेत्रों मे विभक्त किया है जिनमे से प्रत्येक के भीतर सन्तुलित जीवन ढग मे पाई जाने वाली सामाजिक और भौगोलिक दशाओ का एकीकरण ढूढा जा सकता है। परिवेश और सामाजिक दशाओं मे एकीकरण और सन्तुलन के लिए की गई इस गवेषणा मे क्षेत्रवाद के अन्तर्गत सामुदायिक जीवन के विकास के लिए एक ऐसी योजना प्रस्तुत की गई है जिसमे मनुष्य के कार्यकलापो और इसके आस पास की परिस्थितियो के बीच के एकीकरण के प्रमुख महत्व पर बल दिया गया है। प्रख्यात विद्वान् लुई मम्फर्ड ने क्षेत्रीय नियोजन के लिए एक सशक्त दलील प्रस्तुत की है।[1] मानव परिवेशशास्त्रीय अध्ययनो और क्षेत्रवाद की दलीलो ने मुख्यतया दो प्रश्नों पर बल दिया है (१) एक सामाजिक समूह के जीवन मे परिवेश कितनी पूर्णता से प्रविष्ट है ? और (२) मानव प्राणियो और सामाजिक समूहो के बीच के भेदो की परिवेश सम्बन्धी भेदो के आधार पर कहाँ तक व्याख्या की जा सकती है ?[2] जिस प्रकार समूह स्वय अपने भौतिक आवास के प्रति आदी होंगे, उन्हें उस प्रक्रिया से भ्रम मे नही डालना चाहिये जिसमे वे एक पूर्व स्थित सामाजिक वातावरण के अनुरूप होते हैं। प्रथम, जैविक प्रक्रिया (भारत मे आये हुए यूरोपीय प्रावासियो के कद अथवा उनके सिर की शक्ल मे परिवर्तन है)। इसे जैविक उपयोजन कहा जाता है। द्वितीय यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ सामाजिक रखा मे परिवर्तन एक विशेष सामाजिक परिवेश जैसे गदी बस्ती अथवा उच्च सरकारी अधिकारियो की बस्ती मे सामाजिक संस्थाओं के कार्यों और स्वरूप मे परिवर्तन। इसे सामाजिक व्यवस्थापन की प्रक्रिया कहते है।[3] भौतिक विज्ञान तथा समाजशास्त्र द्वारा 'परिस्थितिकी' (ecology) शब्द का प्रयोग हमारे इस विभेद को धुधला कर देता है। सस्य विज्ञान (Botany) या प्राणी विज्ञान (Zoology) मे सस्य या प्राणी जीवन के उन भेदो के लिये परिस्थितिकी शब्द प्रयुक्त होता है जो भौतिक वातावरण की विभिन्नताओ के लिये प्रयोग किया जा सकता है। मानव समूहो मे या उनके द्वारा प्रदर्शित सामाजिक भेद इस दृष्टि से परिस्थितिकी नही समझी जा सकती। मानव का समग्र वातावरण कभी भी केवल भौतिक वातावरण नही रह सकता। सामाजिक अनुसधान के आधार के रूप मे हम स्थानीय भौगोलिक क्षेत्रो को अवश्य ही ले सकते हैं किन्तु कभी हम यह धारणा नही बना सकते कि हमारे द्वारा खोजी गई दशायें इन क्षेत्रो की बाहरी विशिष्टताओ द्वारा समझाई जा सकती हैं। सामाजिक परिस्थितिकी के जानकारो ने यह बताया है कि व्यापारिक जिलो से सटे हुए क्षेत्रो मे अपराधो की सख्या ऊँची होती जाती है और उन क्षेत्रो से बाहर जाते जाते

---

1 देखिये लुई मम्फोर्ड 'द कल्चर आफ सिटीज'।

2 देखिये मकाइवर और पेज वही, अध्याय १३ (सामाजिक परिवेशशास्त्र और क्षेत्रवाद के कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष)।

3 वही पृष्ठ १३२।

संख्या कम होती है। परन्तु इससे हम यह धारणा नहीं बना सकते कि स्थानीय क्षेत्र किस मात्रा में उत्तरदायी हैं और अपराधों की अधिकता क्षेत्र के भौतिक कारकों में प्रतिसमंजन की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। एक सामाजिक वातावरण में भौगोलिक वितरण किसी भी अर्थ में भौगोलिक निश्चय नहीं है। प्रत्येक सामाजिक तत्व समग्रस्थिति का कार्य नहीं। जब हमने एक भौतिक वातावरण की शब्दावलियों में उसे अभिमित कर दिया तो कारणों की खोज शुरू होगी।

इसके अतिरिक्त, हम यह देख चुके हैं कि सामाजिक वातावरण बहुत विविधता पूर्ण होता है और उसके जीवन क्रमों में प्रतिनिधित्व करने वाले असंख्य पहलुओं के प्रति अनुरूप होने के सब प्रकार तथा मात्राएँ हैं।[1]

वासस्थान का समुदाय से सम्बन्ध

स्थानीय क्षेत्र समूह को संहित करने वाले तथा उसे स्पष्ट रूप देने वाले सामाजिक सम्बन्धों की न केवल भौतिक स्थिति है अपितु स्थानीय समूह से सम्बद्ध विशिष्ट लक्षणों का निर्दिष्ट वातावरण भी है। इस कारण स्थानीयता एवं सांस्कृतिक विकास के बीच सम्बन्ध के प्रभाव से संश्लिष्ट पारिस्थितिक तथा प्रादेशिक उपगमनों की ओर ध्यान देंगे। नगर या देश के भीतर प्राप्त वातावरण के भिन्न प्ररूपों में ज्यों-ज्यों मानव अपने सामुदायिक अस्तित्व का निर्माण करेगा, मानवी परिस्थिति का साहित्य मनुष्य के उपयोजन प्रतिमानों को व्यक्त करता है। उपनगरीय मध्यवर्ग के साथ गन्दी बस्ती में निवास करने वाले अप्रवासियों के सामुदायिक जीवन से अथवा औद्योगिक नगर के साथ ग्राम्य जीवन का वैषम्य प्रदर्शित हो जाता है। लीप्ले के समय से प्रादेशिकतावादियों ने प्राकृतिक वनस्पति, कृषि योग्य विविध प्रकार की मिट्टी, प्रदेश में अनुकूलित पशु-पालन तथा जलवायु की स्थितियों जैसे स्थानीय कारकों का समुदाय के निर्माण में महत्व सूचित किया है। जैसा कि हम अनुवर्ती अध्याय में देखेंगे, ये अध्ययन निष्पक्ष रूप से सूचित करते हैं कि स्थानीय भौतिक वातावरण का चाहे पथरीले न्यू इंगलैंड की पहाड़ी भूमि हो या नैऋत्य का भाग हो, स्थानीय सामाजिक जीवन पर अपना प्रभाव होता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक अनुकूलन की प्रक्रिया और सामाजिक उपयोजन की विशाल प्रक्रिया के बीच पूर्ण अनुरूपता है।[2]

आधुनिक समुदायों की स्थिति और संगठन

कृषियुग में मनुष्यों के समूह गाँव बनाकर नदी की घाटियों में बस गए। जहाँ खेती के लिये समतल और उपजाऊ भूमि उपलब्ध थी और जल यातायात की सुविधाएँ

1 देखिये मकाइवर और पेज, सोसाइटी (समाज, अनु० जी० विश्वेश्वरय्या) पृष्ठ १४३।

2. वही, पृष्ठ २८४।

भी। गंगा-यमुना की घाटी में बनारस, दिल्ली, आगरा, कलकत्ता, इलाहाबाद, कानपुर आदि आधुनिक नगरों की स्थापना सैकड़ो वर्ष पहले उल्लिखित आधार पर ही थी। यान्त्रिक शक्ति के विकास से समुदायों की स्थापना और संगठन में नये भौगोलिक कारणों का प्रवेश हुआ। कोयला शक्ति उत्पादन का सबसे महत्वपूर्ण साधन था और भारी होने के कारण उसका यातायात अधिक महंगा था। अतः शक्तियुग में बहुत से नगरों की स्थापना कोयले की खानों के निकट हुई और वर्तमान समय में नगरीकरण की यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि औद्योगिक अथवा उत्पादक नगरों की स्थापना कोयला, बिजली अथवा आणविक शक्ति के केन्द्रों के निकट हो। कोयला और लोहा दोनों ही जिस स्थान पर पाये जाते हैं औद्योगिक नगरों की स्थापना के लिये वे स्थान सबसे उपयुक्त समझे जाते हैं। जैसे जर्मनी के रूह क्षेत्र के नगर और छोटा नागपुर पठार का जमशेदपुर। इसके अतिरिक्त आवि ष्कारों से वर्तमान युग में भाप से चलने वाले जहाजों और रेलगाड़ियों के केन्द्रों के निकट महान नगरों जैसे ग्लासगो, लिवरपूल बम्बई, कलकत्ता, टोकियो, न्यूयार्क, लन्दन आदि का विकास हुआ है।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रथम चरण में औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना कम थी क्योंकि उस युग में आवागमन के साधनों की सुविधा कम थी। ऐसे स्थानों पर गरीब श्रमिक परिवारों एवं ऐसे ही अन्य परिवारों की गन्दी बस्तियाँ अधिक थी। इन स्थानों पर जनसंख्या का घनत्व बहुत ही अधिक है। ऐसी जगहों पर यातायात के साधनों में ट्राम, कार, बस इत्यादि प्रमुख हैं जिनके कारण जनसंख्या में वृद्धि के साथ ही साथ नगरों के क्षेत्र का भी विस्तार होता जा रहा है। इनका प्रभाव आधुनिक नगरीय क्षेत्रों के विकास एवं अन्य स्थानों के विकास (सिनेमा हाउस आदि के विकास) पर भी पड़ा। आधुनिक नगरीय जीवन में ऐसे विशिष्ट क्षेत्रों का विकास अधिक हो रहा है जिन क्षेत्रों में कि एक विशिष्ट प्रकार के कार्य भी होते हैं। पूर्व कालीन नगरों में उपयुक्त क्षेत्रीय यातायात के साधनों के अभाव के कारण विशिष्ट नगरीय क्षेत्रों का विकास सम्भव न हो सका। आधुनिक नगर एक ऐसा समुदाय है जो अपने अंगों से अपने कार्यों के आधार पर पूर्णतया अलग है। प्राकृतिक क्षेत्र आर्थिक स्थिति, प्रजाति अथवा संस्कृति के आधार पर निर्मित, राजनीतिक या प्रशासकीय क्षेत्रों से बिल्कुल ही भिन्न है। आधुनिक नगरों में व्यक्तियों एवं समुदायों के मध्य प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है विशेषतया इसीलिये कि क्षेत्र सीमित हैं और जनसंख्या बहुत ही अधिक है।

नगरों की परिस्थिति

एक शहर का प्रतिमान उद्योगों, संस्थाओं एवं सामाजिक वर्गों की प्रतिस्पर्धा में उत्पन्न होता है जो वे अधिकाधिक सामात्मक स्थितियों के लिए करते हैं। हर प्रकार के उद्योग अपने उचित स्थापन के लिये एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं।

व वही पारिस्थितिक देंगे जो कि वे देने म क्षम्य होंगे। भूमिगत मूल्य ही नगरीय परिस्थिति व मूल हैं। प्रत्येक नगर म साधारणतया उच्चतम मूल्य के दा क्षेत्र पाये जाते हैं—१—पहला वे क्षेत्र हैं जहाँ नगर के प्रमुख बक स्थित हैं, तथा दूसरे वे स्थान हैं जहाँ नगर के प्रमुख बैंक स्थित है। ये ही स्थान प्रभुत्वशाली केन्द्र हैं क्योंकि इनका उन दशाओं पर प्रभाव पडता है जिन दशाओं को अन्य क्षेत्र धारण करते हैं। किसी भी शहर के मध्य व्यापारिक क्षेत्र म परिवतन या विस्तार अपना प्रभाव उस शहर के अन्य चारो तरफ स्थित क्षेत्रा पर अवश्य ही डालता है।

पारिस्थितिक प्रक्रियाएँ

एक प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था म स्थिति बहुत ही गतिशील है, ऐसी दशा म नगरीय समुदायों के लक्षण शीघ्र ही बदल जाते हैं। बढते हुआ व्यापार, निर्माण बढती हुई जनसंख्या एव यातायात के विकसित साधन आदि ऐसे कारक हैं जो वतमान सामाजिक प्रतिमानों को विचलित कर रहे हैं एव पुनर्व्यवस्थापन को बढावा दे रहे हैं। केन्द्रीय व्यापारिक क्षेत्रा का निवास क्षेत्रों की ओर तीव्रगति से बढना व्यक्तियों को बाध्य कर रहा है कि वे इन व्यावसायिक केन्द्रों से दूर जाकर बसें। व्यक्तियों या सस्थाओं का इस प्रकार का यह अतिक्रमण, एक ऐसे क्षेत्र मे जो पहले ही अधिकृत है अन्य निवासियों या सस्थाओं द्वारा, दो प्रभाव दिखला सकता है एक तो यह कि जब नये लोग एक ऐसे क्षेत्र म जहा कि लोग बस हुए हैं जाते हैं तो ये नये लोग वहाँ के पूर्व निवासियों या पूर्व सगठित सस्थाओं का निष्कासन करते हैं या दूसरे पूर्व निवासित व्यक्तियों या सस्थाओं के सहयोगी बनते हैं। उदाहरणाथ प्रवासी साधारणतया एक शहर में कम प्रतिरोध वाले स्थानों म ही आते हैं अथवा केन्द्रीय क्षेत्रों के ही पास आते हैं। ज्यों ही उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ हो जाती है उनकी प्रवृत्ति नये क्षेत्रों म घूमने एव बस जाने की हो जाती है। परिणामत पडौस म एक परिवतन उत्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया का उत्तराधिकार (succession) कहा गया है। पारिस्थितिकीय प्रक्रियाएँ (ecological processes) जसे—अलगाव, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, आक्रमण और उत्तराधिकार सामुदायिक सगठन को गतिशील प्रक्रिया की तरफ उन्मुख करते हैं। विशेषकर इस प्रकार का तीव्र परिवतन हमारे आधुनिक समाजों में होता है।

महानगरीय समुदाय

नगर केन्द्राभिमुख और केन्द्र बहिर्मुख शक्तियों का सदैव एक केन्द्र रहा है। केन्द्राभिमुख शक्तियों का तात्पय है केन्द्रीकरण और केन्द्र बहिर्मुख शक्तियों का तात्पय है विकेन्द्रीकरण। ट्राम व चल जाने से नगर के क्षेत्र म वृद्धि हुई है। उपनगरों म, मोटरकार ने शहरों की जनसंख्या को नगरो के बहिर्गमन की ओर अधिक सख्या म

सचालित किया। लारी यातायात की सुविधा ने कारखानो की स्थिति को अधनगरीय क्षेत्रो की ओर अभिमुख किया जहाँ भूमिगत सम्पत्ति की कीमत अपक्षतया कम है। कम्पनियो के इस बहिगमन ने कम कीमत की उपयोगी वस्तुओ को उत्पन्न किया। उदाहरणार्थ जूते, कम्पनिया के बने कपडे इत्यादि। मानवीय परिस्थितियो को दो प्रकार के आवागमन के साधनो ने प्रभावित किया है

(१) वे साधन हैं जो अधिक दूर के क्षेत्रो मे जाने के उपयुक्त हैं, जैसे वायुयान, रेल वाष्प चालित नौका एव लारी।

(२) व साधन हैं जो नजदीक स्थानो तक जाने के उपयुक्त हैं जैसे ट्राम, बस, शीघ्रगामी रेलगाडिया इत्यादि।

इन दो प्रकार के आवागमन के साधनो के समुच्चय ने महानगरो के क्षेत्रो मे मानवीय सग्रह को सम्भव बनाया है। महानगर केन्द्र हैं, इसके समीप चारो तरफ छोटे छोटे शहरो के झुण्ड बस गए हैं। क्षेत्रीय एव दूरस्थ क्षेत्रो को यातायात ने एक जगह समीप लाने की कोशिश की है। इन दोनो क्षेत्रो के समुदाय एक दूसरे स भिन्न हैं जहा एक स्थान से दूसरे स्थान के लोगो को काय करने के लिए जाना पडता है। यातायात न इस प्रकार ऐस नगरीय क्षेत्र को वचित किया है जिसे Megalopolis कहते हैं। जिसे औद्योगिक क्षेत्रो के चारो तरफ का निषेधात्मक क्षेत्र कहते हैं। ऐस समुदायो का एकीकरण जिनसे महानगरीय क्षेत्र बनते हैं। इनकी उत्पत्ति प्रमुखतया केन्द्रीय शहरो के प्रभाव के कारण होती है। नगरो म काय यापार, शिक्षा आदि के उद्देश्य से अधिकाधिक आवागमन व्याप्त है। सास्कृतिक रूप से वे सगठित हैं।

स्थानीय क्षेत्रो के कार्यों का ह्रास—सम्यता के प्रथम चरण मे यातायात के साधनो की बडी कमी थी एव यात्रा करने मे अनेक समय अधिकाधिक प्राकृतिक कठिनाइयाँ थी। इस कारण छोटे और अपेक्षाकृत एक दूसरे से पृथक वस्तियाँ बन जाती थी। ऐसी बस्तियो मे लोगो मे आपस मे शादी, विवाह होते थे जिससे उनके विशिष्ट प्रकार की स्थानीय समुदाय बन जाते थे। स्वाभाविक है कि ऐसे छोटे समुदायो में रीति रिवाजो, मकानो और वेषभूषा में स्थानीय भेद विकसित नहीं हो पाते थे इसलिए आरम्भिक कालो म मानवीय परिस्थितिशास्त्र की दशाएँ स्थानिक प्रकारो के विकास क लिए अधिक सहायक होती थी।[1] किन्तु आविष्कारो की बढती हुई सख्या एव परिवहन एव सचार के विस्तार के साधनो ने एक क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय समुदायो सामान्य रीतिरिवाजों और आविष्कारो का प्रचलन सम्भव कर दिया है। यान्त्रिक उत्पादन न भी इस दिशा मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय समुदायो की विभिन्नताएँ (बोली, रीतिरिवाज, वेषभूषा, धार्मिक

1 देखिए मैकाइवर और पेज, 'सोसाइटी' मे 'समुदाय' पर अध्याय।

परम्पराएँ आदि) प्राय समाप्त कर दी हैं। इस प्रक्रिया का विशेषतया बहुमात्रा उत्पादन की आधुनिक प्रविधियां और प्रतिमानित तथा लघुल सस्ता माल और बिक्री की आधुनिक विधियां जिसमें समाचार पत्रों, रेडियो टेलीविजन के विज्ञापनों का सहयोग लिया जाता है, ने स्थानिक समुदायों के विनाश की प्रक्रिया में बड़ी सहायता पहुँचायी है। बड़ी-बड़ी इकाइयों का विकास हुआ है और आधुनिक जनसंख्याएँ अत्यधिक गतिशील होने के कारण अब आपस में केवल विवाह शादी करके तथाकथित रुधिर शुद्धता बनाए रखने में सफल नहीं होतीं। विभिन्न प्रजातियों एवं सांस्कृतिक समूहों में परस्पर विवाह सम्बन्ध बढ़ते जा रहे हैं जिससे कि पृथक्-पृथक् जातीय प्रकार भी निश्चित ही समाप्त प्राय हैं। इस परिस्थिति में एक अर्थ में राष्ट्रीय राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकसित हो जाना स्वाभाविक है। सारा संसार एक छोटा भूखंड रह गया है जिसमें, आर्थिक राजनैतिक और सांस्कृतिक समानताएँ शीघ्रता से और अधिक बलवती होती जाती हैं। आगबर्न एवं निमकाफ ने ठीक ही कहा है कि जब समुदाय का क्षेत्रीय आधार विस्तृत होता जाता है स्थानिक क्षेत्रों का महत्व अपेक्षतया कम हो गया है।[1]

वर्तमान समाजों में लोग छोटे छोटे स्थानों में रहते हुए भी दूरस्थ स्थानों के लोगों में अनेक प्रकार की अभिरुचि रखते हैं। एक सभ्य समाज के कार्य शिक्षा, मनोरंजन, तथा व्यावसायिक कार्यकलाप सामाजिक कल्याण और सामाजिक सम्बन्ध अधिक बड़े और दूर तक फैले हुए क्षेत्रों में शीघ्रता से फैल जाते हैं। अतीत में स्थानवाद (Localism) का अपना विशेष महत्व था और लोग अपने समीपस्थ स्थानिक समुदाय की परम्पराओं के पूर्णतया अनुरूप रहते थे किन्तु आधुनिक जगत में इस प्रकार का स्थानवाद कूपमण्डूकता कही जाती है। वास्तव में छोटे-छोटे समुदायों की संख्या पूर्ववत् अथवा बढ़ जाने पर भी उपरोक्त प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। कोल्ब तथा ब्रूनर ने ग्रामीण समाज का अध्ययन कर एक बड़े मार्के की बात कही है 'यातायात और वार्ता करने तथा सन्देश भेजने की आधुनिक प्राविधिक सुविधाओं ने ग्रामवासियों को स्थानीय समुदाय के अनेक प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया है। अब उन्हें इस बात की छूट है कि अपनी इच्छा या योजना के अनुसार किसी भी समूह या समूहों में सम्मिलित होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

बढ़ता हुआ समुदाय और पिछड़ता हुआ सामाजिक संगठन—यद्यपि आधुनिक जगत् में छोटे छोटे समुदाय टूट रहे हैं तथा विस्तृत समुदायों की स्थापना हो रही है। सारा विश्व ही एक अनोखा समुदाय बन गया है। फिर भी, मनुष्य के लिए दुर्भाग्य की बात है कि इसके सामाजिक संगठन में इस बदली हुई दशा के अपेक्षित परिवर्तन नहीं हो पाए। उसके रीतिरिवाज संस्थाएँ, संस्कृति, भाषा और अर्थव्यवस्था तथा

---

1 ए हैण्ड बुक ऑफ सोशियोलाजी पृष्ठ २८७।

राजनैतिक परम्पराएँ अभी बहुत कुछ छोटे तथा स्थानिक समुदायों की परम्परा से प्रभावित हैं। कहीं कहीं तो मानव मस्तिष्क में इतनी जड़ता है कि वह आधुनिक जगत् निरन्तर परिवर्तन, शक्ति एवं प्रगतिवादी शक्तियों के अनुरूप अपने विचारों एवं भावनाओं को नहीं बदल सकता।

क्षेत्र (Region)

एक ऐसे सुदीर्घ क्षेत्र को 'Region' कहा जाता है जिसके निवासियों में बहुत कुछ समानताएँ हों और यह क्षेत्र समुद्र नदी, पर्वत जैसे किसी प्राकृतिक वस्तु से परिसीमित हो। ऐसे क्षेत्र में अनेक प्रकार की समानताएँ होने के कारण यात्रा करना सरल होता है और इसके निवासियों से परिचित होना भी।[1]

एक क्षेत्र के निवासियों की सामान्य विशेषताओं का अभिप्राय है कि उनकी समस्याएँ एवं रुचियाँ समान होते हैं। अतः एक क्षेत्रीय राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन का विकास होता है। आधुनिक जगत् में आविष्कारों में वृद्धि के कारण क्षेत्र पारस्परिक आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक कार्य कलापों का एक महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय इकाई बन गया है। आविष्कार एवं गत्यात्मक और प्रगतिशील कारक है। इस कारण समुदाय का क्षेत्रीय आधार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूपों में परिवर्तित हो गया है। क्षेत्र के सामाजिक संगठन का विस्तार बहुधा सम्पूर्ण राष्ट्र तक और कभी-कभी राष्ट्र की सीमाओं के बाहर विदेशों तक हो जाता है। आज का मानव विज्ञान एवं प्रविधि की सफलता के बूते एक विश्व समुदाय की स्थापना के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील है।[2]

---

1 वही पृष्ठ २८८।

2 वही, पृष्ठ २६२।
मकाइवर और पेज 'सोसाइटी' के तरहवें अध्याय पृष्ठ ३४१ ३४७, को भी देखिए।

तृतीय खण्ड

सामाजिक समूह

१४ सामाजिक संगठन या व्यवस्था के रूप

१५ सामाजिक व्यवस्था के स्तर

१६ सामाजिक विभिन्नीकरण

१७ सामाजिक समूह

१८ समुदाय एवं राष्ट्र

१९ प्रजातिक एवं जातीय समूह

२० सामाजिक स्तरण—जाति और वर्ग

२१ सामूहिक व्यवहार—भीड, श्रोतागण एवं जनता

१४

सामाजिक सगठन या व्यवस्था के रूप

समाज मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो की एक व्यवस्था है। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो के विभिन्न पहलुओ म अन्त सम्बन्ध है। व एक दूसरे म असम्बद्ध और स्वतन्त्र होकर नही रहते हैं। वे सब एक एकभूत सम्पूर्ण के संयुक्त भाग हैं। इसी एकभूत सम्पूर्ण को सामाजिक सगठन कहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक म हम इसी सामाजिक सगठन के कुछ पहलुओ का विश्लेषण करेंगे। इस सगठन के निर्माण सचालन सरक्षण और विगठन के विविध सिद्धान्तो तथा तथ्यो की स्पष्ट विवेचना करते समय हम सवत्र उन सस्थाओ तथा प्रक्रियाओ का सविस्तार निरूपण करेंगे जो समकालीन सामाजिक सगठन म महत्वपूर्ण हैं।

समाज एक सगठन है

एक समाज[1] पुरुषो स्त्रियो और बच्चो का वह स्थाई और सतत चलन वाला समूह है जिसम लोग स्वतन्त्र रूप से अपने सास्कृतिक स्तर पर अपनी जाति का जीवित और कायम रखने म समथ हो सकें। अर्थात् एक समाज व्यक्तियो का वह समूह है जो किन्हीं निश्चित सम्बन्धो या व्यवहार के तरीको द्वारा सगठित है। यही सगठन उसे मूल और विशिष्ट बनाता है। सामान्य समाज सहगामी जीवन बिताने वाले व्यक्तियो और समूहो के सम्बन्धो का एक सगठन है। सगठन शब्द का अथ सदैव एक वस्तु के निर्मायक भागो की एक व्यवस्था होना है। जब कोई वस्तु सगठित होती है तो उसके भागो की एक दूसरे के प्रसग म एक निश्चित प्रतिमान म व्यवस्था होती है। किन्तु किसी विगठित वस्तु के भागो म कोई निश्चित व्यवस्था नहीं

---

1 'एक समाज' 'समाज' से इस बात म भिन्न है कि 'समाज' समस्त सामाजिक सम्बन्धो के तानेबाने से बना एक व्यापक और अमूर्त सगठन है। यह किसी विशिष्ट भूभाग म बसने वाला मानव समूह नही है। यह तो मनुष्यो के सामूहिक जीवन की एक प्रक्रिया है। (देखिये अध्याय ४)

रहती है उन सब म असयुक्त और अनियमित व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। जब विद्यार्थी किसी कक्षा म नियमित रूप से बैठे पढ रहे हैं तो उनमे परस्पर तथा उनके और अध्यापक के बीच म एक निश्चित सम्बन्ध होता है। व मद किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति म कार्यरत होते हैं। इस समूह म किसी प्रकार की गडबडी नही होती है। उसकी एक निश्चित और प्रतिमानित व्यवस्था है। समूह के सभी सदस्यो के काय और सम्बन्ध निर्धारित रहते हैं। सक्षेप म कक्षा इसलिये सगठित दिखती है कि उसके सदस्यो के बीच के सम्बन्ध निश्चित और सयुक्त हैं। किन्तु जब पढाई समाप्त होती है अध्यापक बाहर चला जाता है और विद्यार्थी निकलकर दूसरे कमरो की ओर आते जाते हैं तो उनमे पहली जैसी निश्चित और प्रतिमानित व्यवस्था भग हो जाती है। वे बात करते हुये, शोर मचाते और रुकते रुकते इधर उधर चलते जाते है। इस समय वे एक भीड मात्र रह जाते हैं। कक्षा म पाई जाने वाली व्यवस्था म गडबडी उत्पन्न हो जाती है तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध और काय दोनो अस्त व्यस्त अथवा अनिश्चित हो जाते हैं। यह सगठन की स्थिति है। इसी प्रकार खेल के मैदान म जब हाकी या फुटबाल की टीम खेल रही होती है तो उनम बडा सगठन होता है। कक्षा के विद्यार्थियो टीम के खिलाडियो मन्त्रि परिषद् के सदस्यो, श्रमिक सभा तथा प्रशासन इकाइयो आदि सभी म न्यूनाधिक सगठन होता है। समाज एक व्यापकतम समूह है जिसम अनेक प्रकार के न्यूनाधिक सगठित समूहो तथा मानव समूहो का समावेश होता है। समाज के निर्मायक भागो—समूहो समितियो और सस्थाओ —का परस्पर तथा पूरे समाज से एक निश्चित सम्बन्ध होता है और इन सबका स्पष्ट काय और स्थान। इसी प्रकार इन समस्त इकाइयो म कार्यरत व्यक्तियो के बीच निश्चित सम्बन्ध तथा प्रत्येक के निर्धारित काय होते हैं। यही कारण है कि समाज में सम्बन्ध प्रतिमान या व्यवस्था बनी रहती है।

अतएव सगठन कोई रहस्यमय वस्तु नही है। इसका सरल अर्थ यह है कि पदार्थ के निर्मायक भागो अथवा एक समूह के लोगो, के बीच एक दूसरे से सम्बन्धो की एक व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था पर वस्तु अथवा समूह के प्रयोजन का प्रभाव पडता है। सगठन के दो प्रकार हो सकते हैं (१) विचारयुक्त आयोजन का परिणाम अथवा (२) स्वाभाविक तथा अपने विकास म अधिकतया अनिर्देशित। समनर ने इन्हे क्रमश रचित (enacted) और स्वाभाविक रूप से विकसित (cres cive) कहा है।

एक व्यापारिक कम्पनी विश्वविद्यालय स्वास्थ्य विभाग अथवा औद्योगिक निगम विचारयुक्त आयोजन से स्थापित सगठन है। समुदाय का विकास अनेक वर्षों मे धीरे धीरे तथा बिना किसी सर्वांगीण आयोजन के होता है। इसका प्रारम्भ एक छोटे से समूह से होता है। जनसख्या बढती है और विशेषीकृत क्रियाएँ उन्नत होती हैं। बढती हुइ जनसख्या की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये नये-नये सस्थान और

व्यवसाय बनते जाते हैं। सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक और राजनैतिक समितियों धर्म तथा संस्कृति और मनोरंजन सभी क्षेत्रों में विस्तार और जटिलता आती जाती है। सारांश यह है कि समुदाय के विकास की प्रक्रिया अपने विविध पहलुओं में निरंतर कार्यरत रहती है। इस प्रक्रिया के अन्त में एक संगठित समुदाय की स्थापना हो जाती है। किन्तु इस संगठन का सूत्रपात किसी निश्चित सुनियोजित योजना से नहीं हुआ है। यह तो परिवर्तित स्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया क्रम से विकसित हुई है। इस प्रकार से विकसित संगठन में कुछ अव्यवस्था बना रहना नितान्त स्वाभाविक है। संगठन में कुछ संघर्ष रत और विरोधी तत्वों की उपस्थिति से विगठन का एक अंश पनपा करता है।

सामाजिक संगठन का अर्थ

सामाजिक संगठन इसी प्रकार की स्वाभाविकतया विकसित एक व्यवस्था है। इस अनियोजित संगठन में विगठन की महत्त्वपूर्ण सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। इलियट और मैरिल ने लिखा है 'सामाजिक संगठन वह दशा या स्थिति है जिसमें एक समाज की विभिन्न संस्थाएँ अपने स्वीकृत अथवा उपलक्षित (सूचित) उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही हैं।'[1] रायटर और हार्ट ने सामाजिक संगठन के अर्थ में संपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं और उनके बीच के सम्बन्धों एवं समूह के संगठित कार्य को भी सम्मिलित किया है।[2] समाजशास्त्र के शब्दकोष में सामाजिक संगठन का यह अर्थ लिखा है 'एक समाज का उप-समूहों में संगठन जिसमें विशेषकर आयु लिंग नाता पेशा निवास, सम्पत्ति विशेषाधिकार, सत्ता और प्रस्थिति के भेदों पर आश्रित समूह को सम्मिलित किया जाता है।'[3] जान्स ने सामाजिक संगठन की इस प्रकार परिभाषा दी है — सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिसमें समाज के सभी भागों में—व्यक्तियों समूहों संस्थाओं और समुदायों में—परस्पर तथा पूरे समाज के साथ एक सार्थक ढंग से सम्बन्ध स्थापित होता है।[4] सामाजिक संगठन के उपरोक्त सभी अर्थ समान हैं। किन्तु जान्स की परिभाषा सबसे सरल और

---

1 Social organisation is a state of being a condition in which the various institutions in a society are functioning in accordance with their recognized or implied purposes Elliot and Merrill *Social Disorganisation* Harper and Bros. New York (1950 3rd Edition) p 4

2 Reuter and Hart *Introduction to Sociology* McGraw Hill Book Co Inc. New York (1933) p 161

3 'The organisation of a society into sub-groups including in particular those based *on differences in age sex* kinship occupation residence property privilege authority and status. Fairchild H P *Dictionary of Sociology* (1944) p 287

4 Social organisation is the system by which the parts of society are related to each other and to the whole society in a meaningful way" Jones *Basic Sociological Principles* Ginn and Co New York and London (1949) p 195

अधिकृत है। मेकाइवर, मटन, सारोकिन और गिलिवन ने इससे मिलती-जुलती परिभाषाएँ दी हैं। ऑगबन ने भी संस्थाओं तथा समितियों के संगठन को ही सामाजिक संगठन कहा है।

सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संगठन का पर्याय सा है। किसी वस्तु के भागों अथवा क्रिया के कर्मों के संगठन को एक व्यवस्था कहते हैं। अतएव सामाजिक व्यवस्था से समाज के उस संगठन का तात्पर्य है जिसमें उसके भागों अथवा रचना के तत्वों में कार्यरत सामंजस्य तथा एकीकरण विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार से, मोटे तौर पर सामाजिक सुक्रम (social order) का तात्पर्य एक निश्चित क्षेत्र तथा काल में प्राप्य सम्पूर्ण मानव-सम्बन्धों तथा संस्कृति से है। आलोचनात्मक दृष्टि से, सामाजिक सुक्रम समाज की एक स्वस्थ दशा का द्योतक है। यदि समाज में सभी समूह तथा व्यक्ति अबाधित कार्य-कुशल तार्किक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक अन्तःक्रिया से अपना अपना कार्य कर रहे हैं तो समाज में स्वस्थ होने का गुण विद्यमान कहा जायेगा परन्तु आधुनिक समाजशास्त्रीय साहित्य में समाज की समग्र व्यवस्था को सामाजिक संगठन और आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक उपसंगठनों को व्यवस्थाएं (system or orders) तथा संस्थाओं परिवार या विचारों आदि के संगठन को प्रतिमान (patterns) कहते हैं। संक्षेप में समाज एक ऐसा संगठन है जिसमें परिवार, पेशों, सम्पत्ति राजनैतिक सत्ता, धर्म और संस्कृति के विभिन्न भागों की व्यवस्थाओं और प्रतिमानों का समावेश है। अगले पृष्ठों में हमें जब कभी समूह, समुदाय अथवा किसी विशिष्ट संस्था के संगठन की बात कहनी होगी तो हम उसी नाम से संगठन कहेंगे। अर्थात् समूह संस्था, समुदाय अथवा राजनीति अर्थ के संगठनों को क्रमशः सामूहिक संस्थागत, सामुदायिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक संगठन कहा जायगा।

एक छोटे समूह के सामाजिक संगठन से तात्पर्य उसके अन्तर्गत किसी निश्चित समय पर अन्तः सम्बन्धित भूमिकाओं का संगठन है जो कुछ स्थाई और अर्ध स्थायी संरचनात्मक सिद्धान्तों की रचना करता है। एक विशाल संघ या समूह (जैसे हिंदू समाज) का सामाजिक संगठन उसके अन्तर्गत अन्तःसमूह-सम्बन्धों का एक प्रतिमान है। डा० मजूमदार ने लिखा है, "जब हमारा अभिप्राय किसी सामाजिक संगठन से होता है तो हमारा तात्पर्य उन साधारणीकरणों से होता है जिन्हें हम सामाजिक संरचना के लिये अन्तःसमूह तथा समूह से बाह्य सम्बन्धों के प्रतिमानों की तुलनात्मक विवेचना से विकसित करते हैं।"[1] अतः सामाजिक संगठन में विशेष प्रकार के समूहों के बीच के अन्तःसम्बन्ध शामिल होते हैं जिनसे सामाजिक जीवन सम्भव हो पाता है।

---

1 When we refer to any social organisation we imply those generalizations which we may make about social structure after a comparative study of the inter and intra group relationship patterns. Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology* Asia Publishing House Bombay (1957) p 245

समाज एक ऐसा समूह है जिसमें आत्म निर्भरता या स्वावलम्बन की शक्यता पाई जाती है। गिलिन तथा गिलिन ने लिखा है "हम मनुष्यों के एक स्वत नित्य (Self perpetuating) समूह को समाज कह सकते हैं। इस समूह को वे सामान्य हित निश्चित सांस्कृतिक प्रतिमानों तथा सामूहिक क्रिया में व्यक्तियों के स्थान और कार्य के संगठन की एक स्पष्ट योजना से समन्वित समूह स्वीकार करते हैं।"[1] अन्य प्रमुख आधुनिक समाजशास्त्रियों ने उपरोक्त से मिलती-जुलती समाज की परिभाषाएं दी हैं। एक लेखक ने लोगों के एक ऐसे समूह को समाज कहा है जो काफी लम्बी अवधि तक साथ-साथ रहते और काम करते आये हैं जिससे वे संगठित हो गए हैं और अपने को सुस्पष्ट सीमाओं से बद्ध एक सामाजिक इकाई मानने लगे हैं। दूसरे लेखक ने एक समाज के लोगों में उपलब्ध सामान्य आदतों प्रथाओं और आदर्शों पर बल दिया है जो उनकी विशेषता है तथा जो उन्हें दूसरे समूहों से भिन्न अथवा विरोध का दृष्टिकोण बना लेने को प्रोत्साहित करते हैं। तीसरे, लेखक ने समाज का आधार प्रथाओं, परम्पराओं एवं दृष्टिकोणों की सामान्यता (common ness) को माना है साथ ही वह उसमें एकता की भावना, को आवश्यक मानता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम एक समाज के प्रमुख लक्षणों का निरूपण कर सकते हैं (१) समाज लोगों का एक ऐसा समूह है जिसमें अनेक छोटे बड़े समूह होते हैं, (२) ये सभी समूह अन्त सम्बन्धित हैं और उनका निश्चित स्थान तथा कार्य है (३) व्यक्तियों के बीच में कुछ निश्चित सम्बन्ध हैं जिनमें उनके स्थान और कार्य निश्चित होते हैं (४) समाज के सदस्यों में सामान्य हित संस्कृति प्रथाएँ परम्पराएं और दृष्टिकोण हैं तथा एकता की भावना जिनका विकास एक दीर्घ काल तक उनके साथ-साथ रहन-सहन और काम करने से हो गया है (५) समाज के निर्मायक भागों के बीच तथा उनके और सम्पूर्ण समाज के बीच निश्चित सम्बन्ध होने से वह एक संगठित व्यवस्था बन गया है तथा (६) इस व्यवस्था में आत्म निर्भरता अथवा आत्म भरता की शक्यता है अर्थात् इसका जीवन किसी एक या दूसरे समूह पर आश्रित नहीं है।

इससे स्पष्ट हो गया है कि समाज एक स्थिर तथा गत्यात्मक दोनों प्रकार का संगठन है। कौन नहीं जानता कि समाज की संरचना में व्यक्तियों समूहों, समितियों तथा संस्थाओं का समावेश होता है। किन्तु यह गत्यात्मक भी है क्योंकि इसके संगठन में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं तथा परिवर्तित स्थानों में इसके व्यवहार के नए-नए विभिन्न प्रकार प्रकट होते हैं। फिर, समाज की संरचना भी तो स्थिर नहीं है। उसमें भी संशोधन और रूपान्तर होते रहते हैं। समाज एक जीवित वस्तु के समान

---

1 *Cultural Sociology* MacMillan (1948) p 194

है। यद्यपि किसी समय में एक समाज के सामाजिक सम्बन्ध पूर्णतया स्थिर दीख सकते हैं परन्तु कालान्तर में उनमें परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखता है। समाज की गत्यात्मकता से व्यक्तियों और समूहों के बीच सम्बन्ध अन्तक्रिया होती रहती है। इसी के रूपों तथा क्रमों को सामाजिक प्रक्रियाएं कहते हैं। संक्षेप में समाज (या सामाजिक संगठन) मनुष्यों के सम्बन्धों के निर्माण, स्थिरता और निरन्तर परिवर्तन का एक संगठन है। समूह या समितियां और संस्थाएँ इसकी संरचना की सामग्री हैं। इस संगठन में सयोग तथा स्थिरता की पोषक शक्तियां तथा प्रक्रियाओं से समाज नियन्त्रण स्थापित है जो निरन्तर असयोग या विघटन की शक्तियों से बिगड़ा करता है और जिनसे परिवर्तन समाज का एक स्थायी तथा सतत लक्षण बन जाता है। समाज में पूर्वनिर्मित सतुलन बिगड़ कर नए सतुलनों के बनने का क्रम चला करता है। इसलिये सामाजिक संगठन को सतुलनों के एक क्रम की एक व्यवस्था कहते हैं। जब कभी सामाजिक सतुलन में इतनी अधिक गड़बड़ी आ जाती है कि उसके अंगों (व्यक्तियों समूहों तथा संस्थाओं) का साधारण कार्य अवरुद्ध हो जाता है तो समाज में अपसमायोजन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे सामाजिक विघटन की अवस्था कहा जाता है। यहां पर यह ध्यान रहे कि सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन की ठीक पर्याप्त अवस्था नहीं है। सामाजिक विघटन तो सामाजिक संगठन के स्वास्थ्य में न्यूनाधिक अपसमायोजन का सूचक है। सत्य तो यह है कि तीव्र गति से परिवर्तित आधुनिक समाजों के संगठन में विघटन के तत्व स्थायी रूप से उपस्थित रहते हैं। न तो आधुनिक समाजों में पूर्ण संगठन रहता है और न पूर्ण विघटन। पूर्ण विघटन की निकट अवस्था भी समाज के अस्तित्व को मिटा देगी।

समाज के विभिन्न भाग जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध है कई प्रकार के हो सकते हैं व्यक्ति समूह संस्थाएं अथवा संग्रह। जब समाज के इन भिन्न भिन्न प्रकार के भागों में संयुक्त कार्य होता है तभी समाज में आत्मनिर्भरता उत्पन्न हो सकती है। यदि व्यक्तियों और संग्रहों तथा समूहों के कार्य असंयुक्त और समाज से बिल्कुल असम्बद्ध हों तो संगठित सामाजिक जीवन का होना असम्भव है। परिवार उत्पादन तथा अन्य आर्थिक संस्थाएं राज्य और प्रशासन संस्कृति धर्म तथा शिक्षा और मनोरंजन की संस्थायें, सभी तो सामाजिक संगठन के अंग हैं जिनकी पृथक-पृथक क्रियाओं में समन्वय और संगठन होता है। इसी प्रकार के समन्वय को सामाजिक संगठन कहते हैं। इन भिन्न भिन्न सम्बन्धित अंगों का ऐसा कार्य हो जो स्वयं उनके लिए ही अर्थपूर्ण न हो वरन् सारे समाज के लिए भी।

सामाजिक विघटन के स्रोत

हम में से प्रत्येक व्यक्ति के हित और उद्देश्य सम्भव दूसरे व्यक्तियों के हितों और उद्देश्यों के समान नहीं होते हैं। प्रत्येक की कुछ आवश्यकतायें होती हैं जिन्हें वह

अपने साधनों या अपनी योग्यता के अनुसार उपयोग करके पूरा करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में उसे कई बार असफलता अथवा आंशिक सफलता ही मिलती है। इससे उसे चिन्ता और निराशा होती है। वह अपने प्रयत्नों में सदैव सफलता ही चाहता है चाहे फिर उसे दूसरों के हितों को कुचलना ही पड़े। यही स्थिति उसमें स्वार्थी होने की प्रवृत्ति को जन्म देती है। बहुधा प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी होता है और तब संघर्ष अधिक प्रबल होता है जब समूह अथवा समाज (उसमें रहने वाले दूसरे व्यक्ति) उसके स्वार्थों की सिद्धि का मार्ग रोकना चाहते हैं। परिणामतः व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष तथा विरोध की अनेक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। यदि यह संघर्ष अथवा विरोध बढ़ें और खुल्लम-खुल्ला प्रोत्साहन मिले तो उनके बीच के सम्बन्ध समाप्तप्राय हो जायेंगे। सम्बन्धों के अस्त-व्यस्त अथवा पूर्ण भंग हो जाने से समूह और सामाजिक जीवन दोनों ही असम्भव हो सकते हैं। अतएव व्यक्ति तथा समूह अपने कार्यों का जो ध्येय रखते हैं समाज उनकी क्रियाओं से उससे बहुधा भिन्न ध्येय चाहता है। समाज के दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह दोनों उन्हीं क्रियाओं को उसी ढंग से करें जिनकी अपेक्षा समाज उनसे करता है। किन्तु समाज की ये अपेक्षायें सदैव पूरी नहीं हो पातीं। इसलिये समाज के सामने यह समस्या निरन्तर बनी रहती है कि उसके निर्माणक भागों के कार्य उसके दृष्टिकोण से सार्थक रहें जिससे उन सबके बीच तथा उनके तथा पूरे समाज के बीच के सम्बन्ध अर्थपूर्ण बने रहें। सम्बन्धों की यह सार्थकता केवल भागों के लिए ही नहीं सचमुच पूरे समाज के लिये भी आवश्यक और हितकर है।

यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब समाज के भागों (व्यक्तियों समूहों तथा संस्थाओं) के व्यवहार पर नियन्त्रण बना रहे। सामाजिक संगठन में भिन्नीकरण तथा एकीकरण की मूलभूत प्रक्रियाओं पर इस प्रकार नियन्त्रण रखा जाता है कि उनमें सन्तुलन बना रहे। सामाजिक संरचना के तत्त्वों के क्रियाशील होने पर भी उनमें सापेक्षिक स्थिरता बनाये रखने के लिये संरक्षणात्मक शक्तियों का सबल होना आवश्यक होता है। समाज के संगठन को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया को सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं।

समाज के सदस्यों, समूहों, संगठनों और संस्थाओं में व्यक्तिवादी स्वार्थी दृष्टिकोणों, प्रतिद्वन्द्विता और परिस्थितियों से समायोजन करने की असमान क्षमताओं की उपस्थिति में सामाजिक संगठन में असंगठन के बीज पनपते रहते हैं। विघटन की प्रकृति, विस्तार तथा परिणामों का विश्लेषण भी प्रस्तुत पुस्तक में किया जायगा।

सामाजिक संगठन की प्रकृति

(१) **निश्चित कार्य और प्रस्थिति**—सामाजिक संगठन के निर्माणक अंगों के बीच में स्थापित सम्बन्ध निश्चित होते हैं। साथ ही उनके तथा पूर्ण संगठन के बीच में भी निश्चित सम्बन्ध होते हैं। इससे प्रत्येक भाग की भूमिका और प्रस्थिति के बारे

म निश्चितता विकसित होना नितान्त स्वाभाविक है। यदि उनमें से किसी भी भाग के काय तथा प्रस्थिति किसी समय पर अनिश्चित हो जाए तो पूर्ण सामाजिक सगठन के साधारण काय में बाधा पड जायगी। इसलिये सामाजिक सगठन के विभिन्न भागों के सम्बन्धों में निश्चितता तथा सार्थकता बनाये रखने का प्रयत्न होता रहता है।

(२) उद्देश्यों लक्ष्यों तथा कायक्रमों की एकमतता—सामाजिक सगठन के विभिन्न भागों की भूमिकाओं तथा प्रस्थितियों की निश्चितता बनाये रखने के लिये उनके भिन्न भिन्न उद्देश्यों लक्ष्यों तथा कायक्रमों की अनन्यता में एकता तथा सामजस्य स्थापित करना आवश्यक है। प्रत्येक भाग के वयक्तिक अर्थ (प्रयोजन) का अन्तत सम्पूर्ण समाज के अर्थ में विलीन कर देने से ही सामाजिक व्यवस्था बनी रह सकती है। दूसरे शब्दों में सामाजिक सगठन के अस्तित्व और सरक्षण के लिये उसके निर्मायक भागों के उद्देश्यों लक्ष्यों तथा कायक्रमों और सम्पूर्ण समाज के उद्देश्यों लक्ष्यों काय क्रमों में अन्ततोगत्वा एकमतता होना अनिवार्य है। सभी भागों के काय यथासभव समाज के समग्रप्रयोजन के समकक्ष हों व उसके प्रतिकूल न जाए। इस एकमतता के अभाव में सामाजिक विगठन तथा स्वयं भागों का विगठन अवश्यभावी हो जाता है।

सामाजिक सगठन की प्रक्रियाए

सामाजिक सगठन दो महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं से घटित होता है। जब इनका विकास स्वाभाविक रूप से बिना किसी समग्र आयोजना के होता है तो भी इसके सम्पूर्ण प्रतिमान में हम इन दो प्रक्रियाओं का प्रभाव देख सकते हैं।

इनमें से पहली प्रक्रिया भेदकरण (विभिन्नता) की है। इससे ही समाज के भागों में वयक्तिकता विकसित होती है व एक दूसरे से पृथक पहचाने जा सकते हैं। कारण यह है कि वे सभी पृथक प्रकार के काय करते हैं उनकी विभिन्न पाश्वगत विशेषताएं हैं तथा उनके उद्देश्यों लक्ष्यों तथा कायक्रमों में भी भेद है। यदि सभी व्यक्ति अथवा समूह एक प्रकार के ही होते तो उनके बीच में भेद करना असम्भव होता। प्रत्येक का सगठन दूसरे के जसा ही होता। इस स्थिति में न तो व्यक्तियों तथा समूहों के बीच किसी प्रकार के भेद होते और न उनका सगठन ही अर्थपूर्ण अथवा अभिप्राय पूर्ण होता।

दूसरी प्रक्रिया का नाम एकीकरण है। इस प्रक्रिया से विभिन्न भागों के बीच सामजस्य उत्पन्न होता है। एकीकरण से भागों में एक दूसरे जसा साम्य नहीं पदा हो जाता। इससे तो असमान भागों की साथ साथ सप्रभाविक क्रिया सम्भव हो जाती है।

य दोनों प्रक्रियाएँ यूनाधिक रूप से निरन्तर क्रियाशील रहती हैं । अत ामाजिक सगठन एक गतिहीन अथवा अपरिवर्तनीय व्यवस्था नहीं रह सकती । भेद रण तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं के बीच में अन्त क्रिया का शुद्ध परिणाम सामाजिक सगठन है।

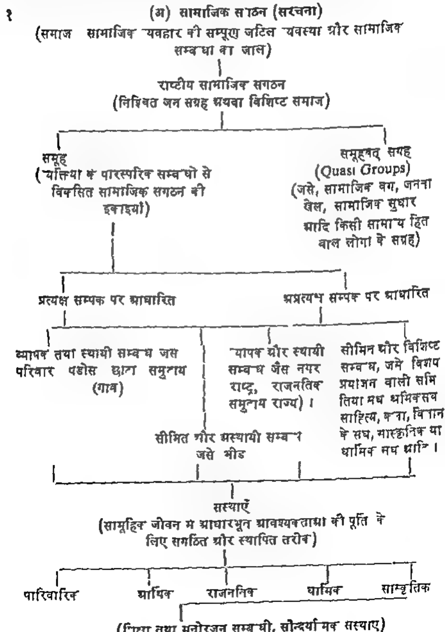
हमारे समाज के वर्तमान सगठन में उपरोक्त दोनों प्रक्रियाएँ निरन्तर काय ील हैं। इसके विकास में भी श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण का नितान्त महत्त्व हा है जो भेदकरण की प्रक्रिया के ही दो पहलू हैं। सम्भवत अन्य अलहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं जसे प्रतियोगिता सघर्ष तथा प्रतिकूलता का भी भेदकरण की प्रक्रिया ा महत्त्वपूर्ण योग हम समझ सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक विकास के प्रारम्भ न ही सहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं जसे सहयोग, समायोजन और सात्मीकरण न विभिन्न सामाजिक भागों में साथ साथ सामजस्य से प्रभावपूर्ण काय करना सम्भव आ है।

सामाजिक सगठन में भेदकरण और एकीकरण की प्रक्रियाओं का इतना महत्त्वपूर्ण काय है कि एक दृष्टिकोण से स्वय सामाजिक सगठन को वास्तव में एक प्रक्रिया कहा जा सकता है। सत्य तो यह है कि यह भागों की एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। यदि हम सामाजिक सगठन का विश्लेषण किसी एक समय पर करें तो उसकी व्यवस्था का प्रतिमान हम महत्त्वपूर्ण दिखता है। किन्तु यदि उसका विश्लेषण एक लम्बी अवधि के दृष्टिकोण से करें तो उसमें तो उस अवधि में होने वाले परिवर्तन हमें महत्त्वपूर्ण दिखेंगे। सामाजिक सगठन के इन दोनों पहलुओं को क्रमश गतिहीन और गत्यात्मक कहा जाता है। अतएव सामाजिक सगठन के अध्ययन में इन दोनों पहलुओं पर ध्यान देना हो दिलचस्प और लाभदायक होगा। इन दोनों पहलुओं में से किसी एक की उपेक्षा करके दूसरे को सारा महत्त्व देना दोषपूर्ण तथा अनुपयोगी दृष्टिकोण होगा। परिवार किसी आर्थिक सस्था राज्य अथवा किसी सांस्कृतिक सस्था का वर्तमान स्वरूप समझने के लिये उसके विकास का इतिहास समझ लेना आवश्यक है। किसी भी वर्तमान समस्या का पर्याप्त जानकारी के लिये उन स्थितियों को समझना आवश्यक है जिनकी प्रतिक्रियाओं से वह समस्या विकसित हुई है। पाठक यह अच्छी तरह समझ लें कि मानव समुदाय की आधारभूत अन्त क्रिया को समझना महत्त्वपूर्ण है। डा० जोन्स के कथन में कितनी सच्चाई है ! "हमारा वर्तमान सामाजिक सगठन प्रत्येक दूसरी सामाजिक घटना के समान अतीत की स्थितियों से हमारी प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। सामाजिक सगठन हमारी भूतकालीन अन्त-क्रियाओं की उत्पत्ति है और हमारे समकालीन अन्त क्रिया प्रतिमानों में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य भी है।"[1]

1 Jones Basic Sociological Principles p 201

विश्लेषण के लिए प्रस्तावित योजना

सामाजिक सगठन को उसके दोनों पहलुओं—गतिहीन और गत्यात्मक अथवा सरचनात्मक तथा कार्यात्मक— का विश्लेषण करने के लिये हम जो योजना अपनाएंगे उसका निदर्शन निम्नलिखित चित्रों में दिया जा रहा है —



२ (आ) सामाजिक सगठन (गत्यात्मकता)

(१) व्यक्तियो समूहो, समितियो तथा सस्थाओ के कायरत होन स उनकी आन्तरिक—सामाजिक अन्त क्रिया के रूप
(२) सामाजिक परिवतन
(३) सामाजिक विघटन
(४) सामाजिक पुनगठन और आयाजन

उपरोक्त चित्रा म दिग्दर्शित योजना से यह स्पष्ट सकेत मिल रहा है कि हम प्रस्तुत ग्रथ म विषयो के विश्लेषण का कसा क्रम रखेंगे। चतुथ खण्ड म समूह, समितियो, और सस्थाओ की सरचना तथा काय का विश्लषण होगा। ग्राम तथा नगर के सामाजिक जीवन का विवेचन किया जा चुका है। पाचवें खण्ड मे सामूहिक व्यवहार म मनोवज्ञानिक कारको तथा भीड जनता आदि का विवेचन करेंगे। छठवें खण्ड मे व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध, व्यक्तित्व का विकास एव विगठन और सामाजिक नियन्त्रण और सातवें खण्ड म सामाजिक विगठन पुनगठन और आयोजन पर विचार किया जायगा। तक की दृष्टि से अन्तिम खण्ड म ही सामाजिक अन्त क्रिया परिवतन और विकास का भी विवचन सम्मिलित होना चाहिए था। किन्तु पाठ्यक्रम के एक विशेष प्रबन्ध के कारण हमने इन विषयो का विश्लषण तीसरे खण्ड मे समाविष्ट कर लिया है।

१५

सामाजिक व्यवस्था के स्तर[1]

सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण का एक आधार मनुष्यों की प्रस्थितियाँ (Statuses) और मानक (norms) हैं। किन्तु इससे इन घटनाओं का अपेक्षित विश्लेषण नहीं हो पाता। उपरोक्त विश्लेषण में व्यक्ति को एक स्वचालित मशीन मान लेने का खतरा छिपा रहता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जो भी वस्तु सामाजिक है उसके साथ मनुष्य के चुनाव विचार संवेग और प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) अभिन्न रूप से संलग्न हैं। बहुधा सामाजिक चिन्तना में यह मान लिया जाता है कि सामाजिक व्यवहार में वैषयिक मानसिकता (Subjective mentality) शब्द स्थित है और इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसके साथ ही यह मान्यता बहुधा प्रचलित है। सामाजिक व्यवहार के कुछ वस्तुनिष्ठ संकेत (objective indices) हैं और उनमें कार्य-कारण का सह सम्बन्ध है। किंग्सले डेविस का विचार इसके विपरीत है। उनके अनुसार सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण का वाद पर्याप्त सिद्धान्त तभी बन सकता है जब कि उसमें वैषयिक घटनाओं का अस्तित्व मान लिया जाय किन्तु मानव क्रिया के अनिवार्य तत्वों (irreducible components) का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाय। उसके मत से ऐसा ही किसी सिद्धान्त का पूर्वकथित सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और अधिक नाचपूर्ण कहा जा सकता है। इस मत को स्पष्ट करने के लिये डेविस कर्ता के दृष्टिकोण को लेता है। मनुष्य जिन सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेता है उनके प्रति उसका एक अपना दृष्टिकोण होता है और किसी भी क्रिया के लिए उसे कुछ सामाजिक प्रेरणा मिलती है और उस करने का उसका अपना ढंग होता है। अतएव सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन करने में हम उनमें सम्मिलित होने वाले की दृष्टि पर यह अवश्य ही ध्यान देना

---

1 यह सम्पूर्ण विवेचन किंग्सले डेविस कृत 'ह्यूमन सोसाइटी' के लेवल्स ऑफ सोशल आर्डर' नामक अध्याय पर आधारित है।

चाहिए। किसी एक विशिष्ट कार्य या क्रिया को ले लिया जाय और उसका विश्लेषण कर्ता को ध्यान में रखकर किया जाय।

सामाजिक क्रिया के तत्व

वैयक्तिक अथवा स्वेच्छा के दृष्टि बिन्दु से यदि किसी एक कार्य का विश्लेषण किया जाय तो उसमें चार अपरिहार्य और अविच्छिन्न कारक मिलेंगे —

(अ) एक कर्त्ता (actor) (आ) एक ध्येय (end) या उद्देश्य (objective) भविष्य में होने वाले कार्य कलापों की एक दशा (condition) जिसके प्रति कर्त्ता के सम्मिलन में कार्य की प्रक्रिया लक्षित है, (इ) कुछ दशायें—स्थिति (situation) के वे पहलू जिन पर कर्त्ता का कोई नियन्त्रण नहीं है (ई) कुछ साधन—स्थिति के वे पहलू जिन पर कर्त्ता का निःसंदेह नियन्त्रण है।

कर्त्ता—कर्त्ता से अभिप्राय मनुष्य के शरीर से नहीं वरन् उसके 'अहं' (ego) अथवा उसके "स्व" (self) से है जिसके लिये 'मैं' अथवा 'मुझको' जैसे सर्वनाम प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् मनुष्य के अहं का अर्थ उसके मस्तिष्क में स्थित वह भाव अथवा विचार हैं जिनमें किसी वस्तु की प्रतीति अथवा उसका अनुभव करने की योग्यता है जिसके आधार पर मनुष्य कुछ निश्चित करता है और इन निश्चयों पर भावात्मक दृष्टि से सोचता है। इसी से वह अतीत की घटनाओं को परस्पर जोड़ सकता है और भावी घटनाओं के बारे में कल्पना कर सकता है। मनुष्य के व्यवहार को समझने के लिये यह अपरिहार्य सत्य है कि उसके समाज के देखने तथा अनुभव करने अथवा सोचने का क्या ढंग है। ध्येय अथवा उद्देश्य पर विचार भविष्य के संदर्भ पर हो सकता है क्योंकि इसमें वर्तमान में पर कार्यकलापों की एक स्थिति या दशा से सम्बन्ध रहता है। उद्देश्य को प्रतिनिधि मानने के लिये कल्पना का उपयोग होता है और उसको प्राप्त करने के लिये प्रयास और इच्छा का उपयोग होता है। हमारे निकटस्थ (immediate) समाज की घटनाओं के अतिरिक्त और उनसे बाहर ही उद्देश्य के अस्तित्व को माना जा सकता है इसलिए उद्देश्य आदर्शात्मक व्यवस्था (normative order) के अनुरूप होता है। यह व्यवस्था भी मानसिक है और बाह्य तथ्यों के संसार के अतिरिक्त है। जब उद्देश्य प्राप्त हो जाता है तो कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रथम उद्देश्य के स्थान पर दूसरा उद्देश्य आ खड़ा होता है। इस कारण क्रिया की नई शृंखलाओं को जन्म मिलता है। इस ढंग से प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में परस्पर सम्बन्धित कार्यों की एक शृंखला समाई रहती है फिर चाहे वह उद्देश्य अचेतन (unconscious) हो अथवा चेतन (conscious)।

ध्येय विशुद्ध परिणाम से बहुत कुछ भिन्न है। यदि कर्त्ता के हस्तक्षेप के होते हुए भी कार्य कलापों की एक भाव्य दशा का विकास होता है तो यह कार्य

कर्ताओं की एक भावी दशा है किंतु इसके पास अंत तक तभी पहुँचा जा सकता है जब कर्ता को इसकी आवश्यकता है और वह उनको प्राप्त करने के लिये बड़ा परिश्रम करता है। समाज में ऐसे उद्देश्यों का चुना जाता है जिनको मान्यता हो और यह भी निश्चित करना होता है कि वांछित अथवा प्राप्त करने योग्य ही उद्देश्य सामने रखे जाए।

दशाएँ—कार्य के उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में जो अलभ्य कठिनाइयाँ हैं उन्हें दशाएं कहते हैं। इन्हीं दशाओं से वह मंच तयार होता है जिस पर क्रिया होती है। कुछ दशायें बाह्य होती है कुछ आंतरिक। जो दशायें उद्देश्य की उपलब्धि को सीमित कर देती हैं वे बहुधा तीन बातों से जन्म लेती हैं।

भौगोलिक पर्यावरण, जन्मजात अथवा सहज क्षमता (innate capacity) और समाज। मनुष्य उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयास नहीं करता जिन्हें वह असम्भव मानता है। वे अक्सर ऐसी मूल्यताओं के प्रति आकृष्ट होते हैं जिन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता और वह ऐसे मनोभाव (sentiments) अपनाते हैं जिनका झुकाव अप्राप्य लक्ष्यों की ओर होता है। किन्तु यथार्थ परिस्थितियों में जिन विशिष्ट लक्ष्यों (specific ends) की ओर आकृष्ट होते हैं वे प्राप्य (realizable) लगते है। लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफलता से बहुधा दुःख होता है और सफलता में सुख। जीवन सुखों और दुःखों की एक शृंखला है।

साधन—एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ साधनों का उपयोग किया जाता है। साधन कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो बहुत सरल जैसे बोली और कुछ बहुत जटिल होते हैं जैसे कारखाना व्यवस्था। इन्हीं विभिन्न प्रकार के साधनों से विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार एक से अधिक साधन प्रयुक्त होते हैं। इससे कर्त्ता को साधनों का चुनाव करने में काफी छूट रहती है। साधनों के चुनाव में त्रुटि होने की भी सम्भावना रहती है। इस कारण मानव क्रिया में अनिश्चितता का तत्व आ जाता है। कर्त्ता शायद ही कभी अपने लक्ष्य तक पहुँचने में पूर्ण आश्वस्त रहे। एक कर्त्ता के लिए जो साधन है वही दूसरे के लिए ध्येय हो सकता है। इसी प्रकार एक स्थिति में जो साधन है वही दूसरी स्थिति में एक लक्ष्य हो सकता है। इस प्रकार कर्ता का सम्पूर्ण व्यवहार अन्तः सम्बन्धित साधनों और लक्ष्यों का एक जटिल तानाबाना है। यह है क्रिया की एक अनंत निर्मित शृंखला।

एक दूरस्थ साध्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य अस्थाई लक्ष्यों तक पहुँचने का प्रयास करता है। अपने बहुत से सामाजिक जीवन में उन अस्थाई साध्यों को पाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जिसमें वह अधिक दूरस्थ और महत्वपूर्ण साध्यों तक अनवरत पहुँच सके।

सारांश—मनुष्य के व्यवहार में सबसे महत्वपूर्ण स्थान उसकी इच्छाओं मनो-वेगों, आकांक्षाओं और भावनाओं आदि का है। इन सबका केन्द्र है 'अहम्' अथवा आत्म। उसकी क्रिया का निर्देशन उस लक्ष्य से होता है जिसे अहम् किसी स्थिति में अनुभव करता है। स्थिति के जिन पहलुओं पर कर्त्ता नियन्त्रण कर सकता है वे उसके साधन हैं और जिन पर उसका नियन्त्रण नहीं हो सकता वे उसकी दशायें हैं। किंतु वह यह निर्णय करने में अंशतः स्वयं जिम्मेदार है कि किन पहलुओं पर उसका नियन्त्रण हो सकता है और किन पर नहीं। अतएव पर्याप्त क्रिया के तत्व एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी वे परस्पर आश्रित हैं। यदि मानव व्यवहार का विषयक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाय तो उपरोक्त तत्वों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मानव क्रिया में तार्किकता का तत्व

एक अर्थ में प्रत्येक मानव क्रिया का कुछ तार्किक आधार होता है। मनुष्य को उपलब्ध साधनों से अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त साधन का चुनाव करना पड़ता है। किन्तु उसे इस बात का अनुभव हो अथवा नहीं जो साधन उसे उपलब्ध होते हैं अपेक्षतया थोड़े होते हैं। अथवा वे उतने नहीं होते जितना कि होना चाहिये था। ऐसे कई ढंग होते हैं जिनमें वास्तविक सामाजिक जीवन में कर्ता की स्थिति के अनुरूप साधन दशाओं में बदल जाते हैं। किंग्सले डेविस ने एसे चार ढंगों का उल्लेख किया है

(१) कर्ता ऐसे लक्ष्यों का प्राप्त करता है जो आधि भौतिक हैं जैसे मोक्ष। ऐसे लक्ष्य दूसरे अर्थ में काल्पनिक हैं। वे केवल ऐसी भावी स्थितियां नहीं हैं जो आज उपस्थित नहीं हैं किन्तु वे ऐसी भविष्य की स्थितियां हैं जो संसार में कभी विद्यमान नहीं होंगी। वैज्ञानिक ढंग से ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कौन साधन पर्याप्त है यह सिद्ध अथवा असिद्ध करना असम्भव है। अतएव सम्भाव्य साधनों में चुनाव का कोई तार्किक आधार नहीं है। वास्तव में ऐसा कोई तरीका नहीं है जिसमें निर्णय किया जा सके कि अमुक साधन है और अमुक दशा। फलस्वरूप तार्किकता असंगत हो जाती है और क्रिया का स्वभाव तार्किकता रहित (Non Rational) हो जाता है। कर्ता के पास साधनों की पर्याप्तता निश्चित करने के लिए केवल सामाजिक परंपरा के स्रोत से ही साक्ष्य मिल सकते हैं जिसके आधार पर अनेक सम्भाव्य प्रतीकात्मक साधनों में से एक या दो युक्तियों का चुनाव हो सकता है।

(२) कभी-कभी कर्ता को अपने लक्ष्यों की बड़ी अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण धारणा होती है जिससे वह उनके अनुकूल साधनों को खोजने में कठिनाई का अनुभव करता है। इस स्थिति में वह साधनों और लक्ष्यों के बीच कारण कार्य का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता। यहाँ लक्ष्य के प्रारम्भिक और बहुधा धूमिल स्वभाव के स्रोत से तर्क रहितता निकलती है। टामस नतिकी ने ऐसे लक्ष्यों को नये अनुभव के लिए इच्छा

की संज्ञा दी है जिसमें क्रिया का प्रयोजन अदूरदर्शी परिणाम होते हैं। आर० के० मर्टन भी उपरोक्त विचार से सहमत हैं। ऐसे लक्ष्य का एक सरल सा उदाहरण होगा बच्चों का अपने ही घर में आग लगाकर नये अनुभव को प्राप्त करने की इच्छा करना। बहुधा किशोरों एवं तरुणों में ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यग्रता होती है। इसी को कविता में रोमांचक अनुभूति कहा जाता है।

(३) बहुधा कर्त्ता को सभी साधनों का बोध नहीं होता। यदि अधिक सावधान रहे, अधिक विद्वान हो अथवा वह अपनी अपनी संस्कृति या पद के सम्बन्ध में अधिक भाग्यशाली हो तो साधनों की अधिक जानकारी होगी। एक स्थिति में कर्त्ता को सभी सम्भव साधनों की जानकारी कभी नहीं हो सकती नहीं तो वह किन्हीं गलत साधनों का चुनाव कर लेगा।

(४) तर्कहीनता का एक चौथा स्रोत भी है। यह है साधनों के चुनाव पर आदर्शों से प्रेरित प्रतिबन्ध। एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को समाज द्वारा अनुमोदित साधनों का ही उपयोग करना होता है। उसे अप्राकृतिक अथवा समाज विरोधी साधनों से बचना पड़ता है। दूसरे व्यक्ति कर्त्ता के समक्ष अनेक लक्ष्य रहते हैं एक विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह केवल सीमित साधन ही प्रयोग कर सकता है। अपने समस्त लक्ष्यों के लिये उपलब्ध अपने सीमित साधनों में उसे सन्तुलन बनाये रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी के समक्ष कई उद्देश्य हो सकते हैं जैसे पुस्तकें खरीदना, कपड़े बनवाना, मित्रों के साथ होटल अथवा सिनेमा जाना और विद्यालय की फीस देना। किन्तु इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसे अपने माँ बाप से बहुधा सीमित धन मिलता है। उपरोक्त उद्देश्यों में से वह कमी नहीं कर सकता। अन्ततः वह अपने उद्देश्यों में प्राथमिकता निश्चित करने और उपयुक्त सीमित साधनों का चुनाव करने को बाध्य है। मनुष्य समाज में किसी व्यक्ति अथवा समूह के अपार साधन नहीं होते। लक्ष्य अनेक हो सकते हैं और साधनों की सीमा में विस्तार होने से साथ-साथ लक्ष्यों की संख्या और परिधि भी बढ़ती जाती है। इसीसे मानव जीवन एक समस्या है। वह अपने सीमित साधनों से असीमित लक्ष्यों की पूर्ति करने में ही अनवरत प्रयास करता रहता है।

इसी प्रकार एक समाज में सभी व्यक्तियों के लक्ष्यों की समस्त व्यवस्था में किसी प्रकार सन्तुलन और स्थिरता बनाई रखी जाती है। साधन सीमित हैं और लक्ष्य हैं अपरिमित। समाज की आदर्शात्मक व्यवस्था इस प्रकार कार्य करती है जिससे एक व्यक्ति की अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के दूसरे लोगों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असीमित असुविधा न उत्पन्न हो। उचित और वैधानिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धोखाधड़ी, हत्या, चोरी अथवा छीना झपटी वर्जित है।

उपलब्ध साधनों को सीमित करने के अतिरिक्त आदर्शात्मक व्यवस्था उनकी वृद्धि भी करती है। उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह आवश्यकताओं का विस्तार करती

है। उदाहरण के लिये एक भूखा व्यक्ति भोजन प्राप्त करने के लिये कई परम्परानुमोदित साधन अपना सकता है और अपनी कल्पना और सूझ-बूझ से नये साधनों की तलाश कर सकता है। व्यक्ति जिन स्थितियों और पदों पर रहते हैं उनके व्यवहार में जो आदर्शात्मक व्यवस्था व्यक्त होती है वह ऐसा पर्यावरण है जो केवल साधनों पर ही प्रतिबन्ध नहीं लगाता परन्तु स्वयं साध्यों को परिभाषित भी करता है और इन उद्देश्यों तक पहुँचने के लिये कृत्रिम किन्तु सामाजिक दृष्टि से आवश्यक साधनों की सृष्टि करता है।

मनुष्य के व्यवहार में तर्कहीनता के जो चार विस्तृत क्षेत्र बताये गये हैं उनके अतिरिक्त होते हुए भी कर्त्ताओं को बहुधा यह भ्रम रहता है कि उनकी सभी क्रियायें तर्कपूर्ण हैं। यह इसलिए होता है कि उनका ध्यान उन सब साधनों पर केन्द्रित रहता है जिन्हें वह उपलब्ध कर सकता है और उन सब साधनों पर नहीं जिनका वास्तव में वह उपयोग कर सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य के लिये प्राप्य साधनों और वास्तव में उपयोग के लिये उपलब्ध साधनों में भी एक खाई है। कर्त्ता की तार्किकता का जो भ्रम रहता है उससे उसके अहम् और उसके समाज दोनों की रक्षा होती है। कोई भी समाज ऐसे व्यक्तियों से मिलकर नहीं बनता जो अपने साध्यों की पूर्ति के लिये चाहे जो साधन हो उसे प्रयोग करने की इच्छा रखें। इससे स्पष्ट है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत केवल तार्किक व्यवहार ही सम्मिलित है और न वह व्यवहार उतना तर्कपूर्ण है जितना कि समाज के सदस्यों को वह ऐसा लगता है।

सामाजिक स्थितियों की व्यवस्था और क्रिया का सम्बन्ध

क्रिया मनुष्य का ऐसा व्यवहार है जिसे किसी लक्ष्य पूर्ति के लिए प्रारम्भ किया जाता है। किन्तु सभी प्रकार का व्यवहार लक्ष्यों की पूर्ति के लिए नहीं होता। बहुत सा मानव व्यवहार शुद्ध रूप से अन्तः प्रज्ञा (Intuition) अथवा सहज क्रिया (Reflex action) से चालित होता है। जो प्रयोजन-परक (Purposeful) व्यवहार होता है वह समाज का निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है क्योंकि प्रतीकात्मक संचरण (Symbolic communication) और सम्बन्धित बौद्धिक प्रक्रियाओं, साधनों और साध्यों के पारस्परिक सामञ्जस्य के माध्यम से ही मनुष्यों पर सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं।

मनुष्य अपनी विभिन्न प्रस्थितियों के अनुरूप ही क्रिया करता है। वह ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन (Indoctrination) अथवा अपने अनुभव अथवा अपनी पटुता (Ingenuity) के प्रभाव में करता है। यदि अपनी स्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने में वह सफल होता है तो उसे सन्तोष होता है। दूसरों से उसे तब सम्मान भी मिलता है। यदि एक वलिष्ट प्रस्थिति वाले व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के पालन

मे बाधाग्रा के कारण सीमित रहना पडता है तो उन बाधाग्रो पर काबू पाने के लिए वह समाज द्वारा अनुमोदित साधनो के चुनाव अथवा अपनी पटुता का उपयोग करता है।

उपरोक्त विश्लेषण मे हमने एक अकेली क्रिया के तत्वो का विवेचन किया है। आइए अब देखें कि विभिन्न क्रियाओ और इसलिए विभिन्न उद्देश्यो का एक दूसरे से कैसा सम्बन्ध रहता है। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियो अथवा समाज के मान्यो को ध्यान मे रखकर हम एकीकरण के विभिन्न स्तरो (Defferent levels of integration) को एक दूसरे से पृथक करके देखें और यह विचार करें कि जिन उद्देश्यो का हम विश्लेषण कर रहे है वे यन्त्रात्मक (Instrumental) अथवा चरम (ultimate) साध्य हैं।

सामाजिक व्यवस्था म कार्यों और लक्ष्यो के एकीकरण के विभिन्न स्तर

सामाजिक व्यवस्था म कायो और तत्वो के एकीकरण के व्यावहारिक और सद्धान्तिक दृष्टि स तीन प्रकार क स्तर होते है

१ प्राविधिक—आर्थिक एकीकरण (Technological Economic Integration)।

२ राजनतिक वधानिक एकीकरण (Politico legal Integration)

३ धार्मिक साम्कृतिक एकीकरण (Religious Cultural Integration)

उपरोक्त तीनो प्रकार क स्तरो के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था तीन विभिन्न स्तरो मे विभक्त है। इन्ही को सामाजिक व्यवस्था क स्तर (Levels of social order) की सज्ञा दी जाती है। इन स्तरों की व्याख्या करने के पूर्व व्यक्ति के प्राविधिक एव आर्थिक लक्ष्यो के एकीकरण पर सक्षेप म विचार कर लेने स सामाजिक सन्दर्भ मे लक्ष्यो के एकीकरण का विश्लेषण करना सरल होगा।

प्राविधिक एकीकरण—प्रत्यक व्यक्ति के व्यवहार की परिधि म हजारो पृथक काम आते हैं जो परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। एक सन्दभ म जो काम साध्य है वही दूसरे सन्दभ म एक साधन हो सकता है। कुछ साध्य अन्तिम कभी नही होते किन्तु सन्व मध्यस्थ ही रहते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक मजदूर फावडा खरीदता है तो उसका यह काय कभी साध्य नहीं हो सकता, ये तो केवल एक साधन है। इसी प्रकार स विद्यार्थियो का पुस्तकें खरीदना अथवा फीस देना या किसी खिलाडी द्वारा किसी मच म भाग लेने के लिए अभ्यास करना, यह सब मध्यस्थ साध्यो के अथवा साधनो क उदाहरण हैं। यदि हम साध्यो को केवल यन्त्र के रूप मे देखते हैं तो हमारा विचार एक प्राविधिक प्रकार का है। इस स्तर पर साध्य सवेगो से मुक्त होते हैं। उनके प्रति हमारा कोई भावात्मक लगाव नहीं होता और हम साधनो की

उपयोगिता का निर्णय उनकी कार्यकुशलता के आधार पर करते हैं। यदि साधनों और साध्यों की शृंखला पर समग्र रूप से इस दृष्टि से विचार करें कि उनके निकट पर चरम शृंखलाएँ हैं तो प्राविधिक क्षेत्र सदैव तनहाई में मिलता। अर्थात् जहाँ कर्ता के कार्यों का साध्य केवल कुछ यन्त्रों या युक्तियों (Instruments or devices) के रूप में वस्तुओं का प्रयोग करना है वहीं ये मामले शुद्ध रूप से प्राविधिक हैं। प्राविधिक साधनों की परिभाषा शुद्ध रूप से यन्त्रात्मक है। जिसे हम प्राविधिक कहते हैं उसमें एक निकटस्थ साध्य का सबसे उत्तम कुशलता द्वारा सम्भव रूप से परिमित साधनों का उपयोग सन्निहित है। इसमें विभिन्न साध्यों के बीच में साधनों का कोई वितरण सम्मिलित नहीं होता।

आर्थिक एकीकरण—साधनों और साध्यों की शृंखला में केवल पहले के बाद वाले दूसरे साध्य की पूर्ति के लिए मनुष्य की क्रियाएँ यन्त्रात्मक नहीं होतीं। वे वास्तव में एक ही समय पर कई विभिन्न साध्यों की पूर्ति में यन्त्र का कार्य करती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति शुद्ध रूप से एक प्राविधिक रंग को लेकर नहीं चल सकता। उसे निश्चय ही एक लक्ष्य को दूसरे के साथ रखकर सन्तुलन करना पड़ता है और अभिरुचि अथवा अधिमान (Preference) के किसी क्रम के अनुसार उन लक्ष्यों को ध्यान में रखकर अपने सीमित साधनों को बाँटना पड़ेगा। जिन साध्यों की सापेक्षिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्ता होगी उनकी पूर्ति के लिए अपने उपलब्ध साधनों का उपयोग करना पड़ेगा। विभिन्न साध्यों अथवा लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सीमित साधनों के उपयोग की प्रक्रिया को ही आर्थिक क्रिया कहते हैं और इसके पीछे जो प्रेरणा होती है उसे आर्थिक चालक शक्ति (Economic motivation) कहते हैं। आर्थिक स्तर पर व्यक्ति को अपने प्रतियोगी लक्ष्यों की सापेक्षिक महत्ता (Relative importance) का निर्णय करना पड़ता है और उनकी तुष्टि के लिए प्राविधिक उपादानों को लक्ष्यपूर्ण दृष्टि से वितरित करना पड़ता है। आर्थिक क्रिया प्राविधिक क्रिया की भाँति आधारभूत रूप से तर्कपूर्ण है।

एक व्यक्ति के आर्थिक कार्यों के परिणाम परस्पर कारण और कार्य रूप में सम्बन्धित होते हैं। आर्थिक क्रिया में कर्ता के विभिन्न साध्य या लक्ष्य एक व्यवस्थित रूप में अन्तःसम्बन्धित होते हैं। यद्यपि उनमें असीमित सम्भावना होती है किन्तु यथार्थ में वे सम्बन्धों की पारस्परिकता (Reciprocity of relationships) और साधनों की परिमितता (Scarcity of means) से शासित होते हैं।

समाज के भीतर साध्यों का एकीकरण

ऊपर हमने प्राविधिक और आर्थिक एकीकरण के शीर्षक के अन्तर्गत व्यक्ति के साध्यों के एकीकरण की समस्या पर प्रकाश डाला। व्यक्ति के लिए केवल यही समस्या बड़ी जटिल है। किन्तु समाज में तो बहुत से व्यक्ति होते

हैं और इनम से प्रत्येक के अनेकानेक साध्य अथवा लक्ष्य हात है। इससे समाज के भीतर विभिन्न प्रकार के लक्ष्यो क एकीकरण की समस्या बहुत गम्भीर और जटिल हा जाती है। व्यक्ति के लक्ष्यो के एकीकरण म उसके स्वय भावात्मक विचार इस बात का निर्देश करते है कि प्रतियोगी लक्ष्यो म किस की सापेक्षिक महत्ता कितनी है। किन्तु समाज म प्रतियोगी लक्ष्यो का अधिमान अथवा प्राथमिकता के आधार पर सन्तुष्टि क लिए चुनत समय एसी कोई निर्देशक शक्ति नही होना। मानव समाज के समक्ष यह सदव एक आधारभूत कठिनाई खडी रहती है कि वह समुदाय क विभिन्न सदस्यो के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सीमित साधनो का वितरण कस करे। समाज क पास एसा कोई आन्तरिक आधार नही है। न तो इस कोई अपना व्यक्ति पर सकता है और न समाज पर शासन करन वाला कोई समूह। स्वय भगवान भी इस काय को करने म कतराते है। किन्तु फिर भी प्रत्यक समाज म एक वितरण सम्बन्धी व्यवस्था (Distributive order) पाई जाती है जो समाज के घटक सदस्यो के मस्तिष्का के माध्यम स कार्यान्वित होती है। यहाँ यह स्मरण रहे कि समाज के पास अपना कोई मस्तिष्क नही होता। उन समाज मनोवैज्ञानिको अथवा समाज शास्त्रियो के विचारो का हम पहल ही त्याग चुके हैं जिन्होन समाज का अपना मस्तिष्क अथवा एक सामूहिक इच्छा शक्ति होन का दावा किया था। इतने पर भी यह तो मानना ही पडगा कि हर समाज म विभिन्न प्रकार के साध्यो के एकीकरण की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य ही मिलती है भल ही यह एकीकरण समाज क बहुमत सदस्यो के हित म न हो जस कि पूँजीवादी दशा म। उपरोक्त एकीकरण म अनियमितताये होन से ही बडे और छोटे पमाने का आर्थिक और सामाजिक शोषण होता है।

नीचे के पराग्राफो म हम सामाजिक साध्यो के एकीकरण के तीन विभिन्न स्तरो अर्थात् आर्थिक, राजनतिक और नतिक प्रक्रिया का सक्षेप म विवेचन करेंगे।

साध्यो का प्राविधिक आर्थिक एकीकरण

यदि भिन्न भिन्न व्यक्ति अपन आर्थिक लक्ष्यो की पूर्ति क लिए दूसरे व्यक्तियो का साधन रूप म प्रयोग करन लगें और शक्ति और धाखाधडी का प्रयाग करे तो वस्तुओ अथवा साधनो का एक व्यवस्थित वितरण सम्भव नही है। इस स्थिति स सामाजिक अस्त व्यस्तता उत्पन्न हो सकती है। कोई भी समाज अपने सदस्यो को अपन आर्थिक साध्यो की पूर्ति के लिए गलाकाट प्रतियोगिता करन की छूट नही दे सकता। जोर दबाव का प्रयाग रोकन के लिए आर्थिक वस्तुओ का विनिमय कुछ नियमो के अधीन होता है। विभिन्न लक्ष्यो की पूर्ति क लिए अधिकांश साधन वस्तुए और सेवाए व प्रतियोगी विनिमय क माध्यम म वितरित हात हैं किन्तु इस विनिमय पर सदव ही नियमो और आदर्शों का एक व्यवस्था का शासन बना रहता है। यहाँ

पर यह प्रश्न उठ सकता है कि आर्थिक व्यवस्था को सयमित एवं शासित करने के लिए ऊपर जिन नियमों का उल्लेख किया गया उनका क्या स्रोत है ? उन नियमों को कौन लागू करता है ? और उसे ऐसा करने का क्या अधिकार है ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हम समाज के राजनैतिक और नैतिक स्तर की ओर जाना होगा क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में नहीं दिया जा सकता।

साध्यों का राजनैतिक-वैधानिक एकीकरण

आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न वर्गों की प्रतियोगी क्रियाओं का नियमन राजनैतिक अधिकरणों (Authorities) द्वारा होता है। वह समाज द्वारा परिभाषित स्थितियों पर रहने और उनके उपयुक्त कार्य करने को स्वतन्त्रता होती है। इन अधिकरणों का अपने अधिकारों अथवा सत्ता के प्रयोग में या तो बल प्रयोग का छूट होता है अथवा वे उस अधिकार को हथिया लेते हैं और शस्त्र बल से वन्दी बनाकर प्रचार और विचारों की अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण करके समुदाय अथवा समाज के किसी भाग को राजनैतिक नियमों को मानने पर विवश कर देते हैं। किन्तु जब तक इस प्रकार के नियमों का पालन कराने के लिये शान्तिमय अथवा बलप्रयोग के साधनों का उपयोग राजनैतिक सत्ता समाज के हित में करती रहती है तब तक वह अपनी अधिकार सीमा के भीतर है लेकिन जब राजनैतिक नियमों, कानूनों और विशेषाधिकारों का उपभोग राजनयिकों और अधिकारियों के स्वार्थपूर्ण साध्यों की पूर्ति के लिये होता है तो भ्रष्टाचार भाई भतीजावाद अनाचार और कपट का बोलबाला हो जाता है और साधारणतया राजनैतिक अपराध होने लगते हैं। प्रत्येक समाज में और प्रत्येक काल में राजनैतिक सत्ता को बलपूर्वक छीनने युद्ध और क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति (Counter revolution) की घटनायें होती रहती हैं। जिस किसी व्यक्ति अथवा समूह के पास शक्ति का एकाधिकार पर नियन्त्रण होता है वही समाज पर शासन करता है और साधारणतया राज्य का प्रमुख होता है। विभिन्न समूहों अथवा मण्डलियों या अन्य विविध तत्वों के कारण विजातीयत्व युक्त समुदाय (Heterogeneous Community) स्वयं नियमों का परिपालन नहीं करा सकती क्योंकि उसमें किसी भी एक समूह के पास प्रभुत्व शक्ति तो हो सकती है किन्तु शक्ति का समाधिकार होना असम्भव है। इसलिये प्रत्येक समुदाय में समाज के जीवन के अनुशासन के लिये एक राजनैतिक सत्ता की आवश्यकता होती है जिसे सरकार कहते हैं। सरकारें अथवा शासन कई प्रकार के होते हैं और अपने अपने ढंग से समाज के घटक सदस्यों के लक्ष्यों में एकीकरण करने के विधि विधानों का पालन कराना है।

एक समाज के सदस्य नियमों का पालन केवल कानून के भय से नहीं करते। उनके जीवन को समाज के अनेक लोकाचार और रूढ़ियाँ (Folkways and mores) सरकार बन प्रभावित करते हैं और चूंकि ये समाज के सदस्यों की आदत अथवा स्वभाव का एक भाग बन जाते हैं उनकी भावनाओं और संवेगों में इनकी जड़ें गहराई

तक पहुँच जाती है इसलिये नियमों और कानूनों का उल्लंघन उन्हें अस्वाभाविक लगता है। राजनैतिक सत्ता की धारणा भी उनकी भावनात्मक होती है और उसके आदेशों का पालन वे इसलिये करते हैं कि राज्य की प्रतिष्ठा और समादर करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। स्वयं राजनैतिक अधिकरण जनसमूह के लोकाचारों और रूढ़ियों के प्रति गहन लगावों के कारण अपने कार्यों में उनसे निर्देशित होते रहते हैं। विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं जैसे देश का संविधान, को नागरिक प्रतिष्ठा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जनसाधारण के लिये जो संस्थायें एक मूल्यता (Value) के समान हैं उन संस्थाओं के निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करना उन्हें स्वाभाविक और प्रतिष्ठापूर्ण लगता है। इससे यह कदापि न समझा जाय कि जहां कुछ नागरिक प्रगतिशीलता के नाम पर विद्यमान राजनैतिक सत्ता का विरोध करते हैं अथवा उसकी नीतियों और कार्यक्रमों के विरोध में आवाज उठाते हैं वे ऐसा किसी वांछनीय मूल्यता की प्राप्ति के लिये नहीं करते। प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र में शासक दल के विरोधी दल होते हैं जो शान्तिपूर्ण और वैधानिक ढंगों से और कभी कभी हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा भी समाजहित में शासन का तख्ता उलट देते हैं। जनतन्त्रीय देशों में इस प्रकार की क्रान्तियां और शासन के बदलने की घटनायें बहुत साधारण बात हो गई है। इससे स्पष्ट हुआ कि राजनैतिक-वैधानिक स्तर पर केवल ऐसी ही क्रियायें नहीं होतीं जो परम्परा और रूढ़ि की अनुगामी हों परन्तु ऐसी क्रियाओं को भी समाज का अनुमोदन प्राप्त होता है भले ही देर से जो परम्परा से विचलित होती हैं।

समाज में साध्यों का धार्मिक नैतिक एकीकरण

ऊपर हमने समाज में मनुष्यों के आर्थिक और राजनैतिक साध्यों का जो प्रतियोगी होते हैं विवेचन किया। इनके अतिरिक्त मनुष्यों के कुछ अन्य सामान्य साध्य (Common ends) भी होते हैं जिनकी प्राप्ति करने में साधारणतया पूर्वोल्लिखित प्रतियोगिता नहीं होती विभिन्न स्थितियों में रहने और काम करने वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न भिन्न स्थितियों में सही (Right) और अच्छे (Good) तरीके से काम करने की अपेक्षा की जाती है क्योंकि सामाजिक कल्याण में स्थिरता और वृद्धि के लिए क्रिया के यही सही और अच्छे ढंग आवश्यक माने जाते हैं।

इसी प्रकार समाज के समुचित संगठन और संचालन के लिए कुछ विचारों और आदर्शों का अनुगमन आवश्यक माना जाता है। बहुधा ये विचार अथवा आदर्श बहुत स्पष्ट नहीं होते किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उनके लिए समाजों ने हर सम्भव त्याग और बलिदान किया है। इन आदर्शों की अवहेलना अथवा अनादर करने वाले व्यक्तियों अथवा समूहों को दण्ड दिया जाता है जिसमें देश निष्कासन भी सम्मिलित है।

अतएव इन आदर्शों को ही नैतिक साध्य (Moral ends) कहते हैं। और जैसा पहले कहा जा चुका है इनकी प्राप्ति में मनुष्यों को प्रतियोगिता करने की छूट नहीं है। ये समूह की सामान्य सम्पत्ति हैं। उनका समादर और प्रतिष्ठा करना सारे समूह के लिए एक महत्वपूर्ण मूल्य है। इन साध्यों के ऊपर अथवा परे कोई अन्य साध्य नहीं है। अन्य समस्त साध्य नैतिक साध्यों के अधीन माने जाते हैं। नैतिक साध्यों को सामान्य चरम साध्य (Common ultimate ends) कहा जाता है और सामान्यतया समाज के सभी सदस्य इनके प्रति वफादार और जागरूक रहते हैं।

यही वे साध्य हैं जो मानव समाज में समस्त अन्य प्रकार के साध्यों के एकीकरण की कुंजी हैं। नैतिक साध्य समस्त साध्यों के पद-सोपान (Hierarchy) के शिखर पर होते हैं और इसलिए प्राविधिक आर्थिक व्यवस्था तथा राजनैतिक-वैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत साध्यों का नियन्त्रण और नियमन करते हैं। उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन समाज में धार्मिक-नैतिक साध्यों (Religio moral ends) के एकीकरण का विश्लेषण है।

सामान्य चरम साध्यों का स्रोत क्या है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि ऊपर जिन धार्मिक-नैतिक साध्यों—सामान्य चरम साध्यों—का उल्लेख किया गया इनका स्रोत क्या है ? इसका वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय उत्तर देना इतनी सरल बात नहीं है। भूतकाल में मानव सभ्यता के व्याख्याताओं ने विविध उत्तर देने का प्रयास किया है। कुछ ने उपरोक्त साध्यों का स्रोत मानव प्रकृति बताया, कुछ विचारकों ने उन्हें अतीत से प्राप्त सामाजिक थाती (Social Heritage) की संज्ञा दी और कुछ ने उन साध्यों को ईश्वर प्रदत्त साध्य कहा किन्तु ये सभी उत्तर असंतोषजनक और अवैज्ञानिक हैं। इनका सही उत्तर यह है कि विभिन्न समाजों के सदस्यों द्वारा सामान्य चरम साध्यों अथवा मूल्यमानों की प्रतिष्ठा सामाजिक विकास की प्रक्रिया में क्रमशः हुई है। सामाजिक आधार पर नैसर्गिक चुनाव की प्रक्रिया का ही ये परिणाम हैं। मानव ने आदिकाल से प्रकृति के विरुद्ध जो संघर्ष किया [और विभिन्न मानव समाजों के बीच जो युगों युगों में संघर्ष हुआ है उसमें केवल वही समूह अति जीवित (Survived) रह है और अपनी संस्कृति को बनाये रख सके हैं जिन्होंने अपने सदस्यों द्वारा परम साध्यों की एक व्यवस्था का विकास कर उनको शाश्वत बनाया है। परम साध्यों की स्थिरता और शाश्वतता समूह के सहयोग और सुदृढ़ता के लिए आवश्यक है और किसी भी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में होता है।

स्मरण रहे यह धार्मिक नैतिक साध्य वस्तुतः काल्पनिक होते हैं। वे सदैव भविष्य के प्रति अभिमुख रहते हैं और यथार्थ संसार में उपस्थित दशाओं में इनका कभी सम्पूर्ण सामंजस्य नहीं हो पाता। किन्तु फिर भी प्रत्येक सुदृढ़ और स्थायी

समाज इन साध्यों को बड़ी मजबूती से कायम रखता है। इनके प्रति गहरी आस्था और विश्वास रखता है। इनका स्रोत समाज का धर्म है। धार्मिक आस्थायें इन सामान्य चरम साध्यों की व्याख्या करती हैं और इनका यथार्थता प्रमाण करती हैं। धार्मिक संस्कार अथवा कर्म काण्डों से ये साध्य परिपुष्ट होते हैं और समाज के सदस्यों के मस्तिष्कों में इन साध्यों का सम्बन्ध नवीनीकरण होता रहता है। अर्थात् धार्मिक आस्थायें और अभ्यास इन सामान्य चरम साध्यों की समुचितता को प्रतिपादित करते हैं। ये साध्य स्वयं में तर्क रहित होते हैं। इनकी प्रतिष्ठा और अनुगमन किसी तर्क या बौद्धिकता के आधार पर नहीं होती। इसके विपरीत सामाजिक व्यवस्था के सबसे निचले स्तर अर्थात् आर्थिक प्राविधिक स्तर पर साध्यों का अनुगमन अथवा प्राप्ति पूर्ण तार्किक आधार पर होती है। इसलिए यह कहना ठीक होगा कि धार्मिक नैतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का शिखरस्थ स्तर है। इसी क्षेत्र में समाज की एकता का स्थान है और यहां समाज के अन्य निचले स्तरों के संचालन और नियमन के लिए जिम्मेदार है।

१६

सामाजिक विभिन्नीकरण

समाज में व्यक्तियों की विभिन्न भूमिकाएँ होती हैं। हम देखते हैं कि समाज में व्यक्ति विभिन्न कार्य करते रहते हैं। सभी के कार्य एक से नहीं होते। समाज में इन्हीं कार्यों के तदनुरूप सामाजिक स्थितियाँ होती हैं। इन्हीं सामाजिक स्थितियों के अनुरूप वह भूमिकाएँ करता है। आदिम और जटिल समाजों में आयु, लिंग, परिवार, स्थान, व्यवसाय आदि के आधार पर व्यक्तियों और समूहों में विभिन्नीकरण (differentiation) होते हैं। व्यक्तिगत अथवा समूहगत विभिन्नताओं के आधार पर समुदाय या समाज का विभिन्न प्रकार के समूहों में विभक्त हो जाने की प्रक्रिया को सामाजिक विभिन्नीकरण (social differentiation) कहते हैं।

प्रयोजन—विभिन्नीकरण समाज का एक आवश्यक लक्षण है। प्रत्येक समाज अनेक प्रकार के समूहों में विभक्त है। प्रत्येक समूह के अन्तर्गत विशेषीकरण का विकास होता है। सामाजिक विभिन्नीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों का सामाजिक विभेद दर्शाया जाता है। यह विभेद उनके जैविक वंशानुक्रमण और शारीरिक लक्षणों जैसे आयु, लिंग, प्रजाति तथा सामाजिक स्थिति एवं सांस्कृतिक भूमिकाओं आदि में देखने को मिलता है।

परिभाषा—समाज की प्रत्येक संस्था (जैसे परिवार, विद्यालय एवं धर्म आदि) में विभिन्नीकरण के बहुत से आधार मिलते हैं। केवल सरल समाजों में विभिन्नीकरण अधिक विस्तृत नहीं होता। आयु, समूह, लिंग, व्यावसायिक विभिन्नताएँ, विशेषाधिकार रखने वाले समूह, सम्पत्ति, बुद्धि, शारीरिक एवं सामाजिक शक्ति के आधार पर होता है।

आधुनिक जटिल समाजों में जनसंख्या का विभिन्नीकरण बहुत अधिक होता है। ऐसा श्रम विभाजन की वृद्धि और विशेषीकरण की आवश्यकता के कारण होता है। जटिल समाजों में सामाजिक कार्य-कलाप की विभिन्नताएँ होती हैं। व्यक्ति किसी

एक प्रकार का काय नही कर पाता। वह विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की स्वय पूर्ति नही कर सकता। न तो उसके पास इतनी योग्यता और न इतना समय शेष रहता है कि वह अपनी सभी आवश्यकताओं को स्वय उत्पादन एव उपभोग कर। अतएव उसे दूसरा के ऊपर अपनी तमाम जरूरता के लिए निभर रहना पडता है। कारखाना म छोटे छोटे कार्यों को उस क्षेत्र म विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति करत हैं। इसका परिणाम होता है व्यवसायो, हितो, प्रजातीय तथा सास्कृतिक समूहा, सम्पति और नाम की विशेषताओं व्यक्तिगत ज्ञान, योग्यता प्राप्ति म अत्यधिक वृद्धि। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की सामाजिक सस्थाओ की उत्पत्ति और विभिन्न दृष्टिकोणों का आविर्भाव समाज म होता है।

विभिन्नीकरण से ही श्रम विभाजन का जन्म होता है। श्रम विभाजन के कारण व्यक्ति विभिन्न कार्यों को करने के लिय विभिन्न श्रेणियों म विभक्त हो जाते है। इस प्रकार व्यक्तियो को उनके कार्यों तथा प्रतिस्थितियो के आधार पर जाति और वर्गों म विभक्त किया जाता है।

सामाजिक विभिन्नीकरण के मौलिक कारक

सामाजिक विभिन्नीकरण के विभिन्न मौलिक कारक हैं जो मुख्य निम्न हैं

(१) मानव प्राणियो मे व्यापक भिन्नताएँ

व्यक्तियो की शारीरिक बनावटें समान नहीं होती ह। उनके ऊपर सामाजिक पर्यावरण वशानुक्रमण इत्यादि का प्रभाव पडता है। देश काल की सामाजिक दशायें भी उनके अन्दर विभिन्नीकरण उत्पन्न करती हैं। शरीर का रग उनकी आकृति वशभूषा आदि म अन्तर होता है। व्यक्तियो की व्यक्तिगत योग्यताओं म भी अन्तर होता है। कुछ व्यक्ति अधिक योग्य होते है कुछ कम योग्य। यद्यपि योग्यता की विभिन्न कसौटियां होती हैं फिर भी हम मानना पडेगा कि व्यक्तिगत योग्यताओं म विभेद सामाजिक विभिन्नीकरण को उत्पन्न करते है।

समाज क अन्दर विभिन्न प्रकार की सामाजिक सास्कृतिक परिस्थितियाँ होती हैं और व्यक्ति उनके अनुरूप अपनी भूमिका अदा करता है। विभिन्न प्रकार क सास्कृतिक समूह जस क्लब विचार गोष्ठी, मनोरजन समुदाय, व्यावसायिक समूह विभिन्न प्रकार क प्रयोजन द्वारा व्यक्तियो म अन्तर उत्पन्न कर देते हैं। इसम व्यक्ति अपने रुचि क अनुरूप सास्कृतिक एव अन्य समुदायो का चुनाव करता है।

(२) विभिन्न कार्यों की आवश्यकता

विभिन्न परिस्थितियो के अनुरूप काय करना व्यक्ति का समाज म आवश्यक होता है। व्यक्ति की आवश्यकताए इतनी अधिक होती हैं जिससे वह केवल एक या दो काय जिसम वह दक्ष होता है स्वय कर पाता है और शेष के लिए दूसरे पर

नेभर रहने के लिए बाध्य होना है। इसका कारण है व्यक्तियों की विभिन्न योग्यताएं गुना। इनकी कुशलता में भी अन्तर होना है। यह भी होता है कि एक कार्य करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न क्षमताएँ होती हैं। कोई व्यक्ति इसी काम को शीघ्र कर सकता है दूसरे व्यक्ति उसी काम को देर से करने की योग्यता रखते हैं। व्यक्तियों व कार्य-कलाप में उनकी रुचि बहुत महत्व रखती है। जो रुचिपूर्ण कार्य हैं उसे व्यक्ति अधिक योग्यता एवं लगाव से करते हैं। जिस कार्य से व्यक्ति को निराशा उत्पन्न होती है उसे वे असफलता करने में कतराते हैं।

शारीरिक सामाजिक शिक्षण समान नहीं होते। उनमें अन्तर होता है। इसी कारण वह अपने शिक्षा के अनुरूप सामाजिक कार्य करता है। इसी के अनुरूप वह सामाजिक दशा प्राप्त करने की कोशिश करता है। जटिल समाजों में व्यक्ति सामाजिक दर्जा प्राप्त करने की अत्यधिक कोशिश करता है। जैसे-जैसे वह महत्वपूर्ण सामाजिक दर्जा प्राप्त करता है वैसे ही वैसे उस पद के निमित्त उसकी जिम्मेदारियां बढ़ती ही जाती हैं। साथ ही उसके अधिकार में भी वृद्धि होती जाती है।

(३) सामाजिक सन्तुलन और व्यवस्था की आवश्यकता

किसी भी मानव समूह की सुरक्षा के लिए विभिन्नीकरण एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इससे सामाजिक कार्य सुचारु रूप से चलते रहते हैं। कार्यों में विशेषीकरण के कारण सामाजिक कार्य योग्यता एवं गति के साथ होते रहते हैं। व्यक्ति की पारस्परिक निर्भरता के कारण व्यक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। सामाजिक विभिन्नीकरण समूह की संरचना में एक सार्वभौमिक स्थिति है। यह समाज और व्यक्ति के स्वार्थों की पूर्ति के लिए क्रियात्मक रूप से एक मूलभूत आवश्यकता है।

विभिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों की पारस्परिक अन्तर्निर्भरता भी विभिन्नीकरण पर निर्भर है। अगर अलग अलग व्यक्तियों तथा समूहों की क्रियायें अव्यवस्थित और असम्बन्धित हों तो किसी प्रकार भी व्यवस्थित सामाजिक जीवन सम्भव नहीं है। समाज के सन्तुलन को बनाये रखने में विभिन्न विभिन्नीकृत समूह जो एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं सहायक होते हैं।

विभिन्नीकरण के मुख्य रूप

विभिन्नीकरण के बहुत से रूप (forms) हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं

(१) अंशिक सामाजिक रूप (Bio social forms)

समाज में विभिन्न प्रकार के समूह पाये जाते हैं। इन समूहों में व्यक्तियों के सम्बन्ध एक से नहीं होते यौन-सम्बन्ध विषयक नियम विभिन्न समाजों में भिन्न भिन्न होते हैं। यही कारण है कि यौन-सम्बन्ध में पवित्रता की धारणा भी बदलती रहती है। एक परिवार में पतियों और पत्नियों की संख्या में अन्तर मिलता है। कुटुम्ब का एक महत्वपूर्ण कार्य यौन-सम्बन्ध स्थापित और संचालित करना है फिर भी हम

दखते हैं कि इस विषय पर प्रत्येक समाज की अलग अलग धारणायें हैं। लगिक आधार पर समाज म विभिन्नीकरण इसीलिये पाया जाता है। स्त्री और पुरुष इसके मुख्य रूप है। यौन सम्बन्ध से सम्बन्धित सस्थाओ म इतनी अधिक सास्कृतिक विविधता है कि उनम समरूपता कदापि नही मिल सकती। स्त्री की शरीर क्रिया सम्बन्धी असमथताए उसे पुरुष के आसरे पर छोड देती हैं। पुरुष का स्त्री तथा उसके बच्चो की पार्थिव आवश्यकताओ की सन्तुष्टि का दायित्व उठाना पडता है। परिणामत पुरुष समाज म स्त्री की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इसका भी एक प्रमुख कारण है और वह है—स्त्री और पुरुष के जैविक भेद।

समूहो मे विभेद विभिन्नीकरण को जन्म देते हैं। प्राथमिक समूह, द्वितीयक समूह दो विभिन्न रूप हैं। बच्चे एक साथ खेलते हैं। युवा बच्चो के साथ घुलमिल नही पाते। उनका अलग समूह होता है। इस प्रकार समाज म विभिन्न आयु समूह पाये जाते हैं। ये समूह विभिन्न प्रकार के सामाजिक आचरण के प्रतिमान प्रस्तुत करते है। परिवार म बालको के माता पिता के प्रति, छोटे भाई बहनो के बडे भाई बहनो के प्रति तथा इसी प्रकार पति पत्नी, भाई भाई बहन-बहन, छोटे बडे सभी म व्यवहार का एक अनुशासन होता है जो किसी भी द्वतीयक समूह म शायद ही दिखाई पडता हो।

समाज म प्रजातीय विभेद पाये जाते हैं। समय समय पर भिन्न भिन्न मानव समूह अथवा समाज विभिन्न प्रजातियो के वर्गों म विभाजित माने जाते रहे हैं। आज सरकारी भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तरी तथा दक्षिणी भारतीयो म प्रजातिक भेदो का उल्लेख किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि भारतीय अनेक प्रजातियो के वशज है। मानव समूहो म वशानुगत अ तर होता है। मनुष्य म रक्त समूहो की विभिन्नता पाई जाती है। यद्यपि मानव अन्तरो का जननिक अध्ययन अभी तक सभव नही हो सका है फिर भी खाल का रग आख का रग, लम्बाई चौडाई, सिर की शक्ल शरीर पर बाल बालो का आकार या बनावट ऊपरी भोह म मोड इत्यादि शारीरिक प्रमाणो का उपयोग करके प्रजातीय समूहो म भेद किया जा सकता है।

(२) सामाजिक सास्कृतिक रूप (Socio Cultural forms)

विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूह समाज म विद्यमान हैं। समाज म विभिन्न प्रकार की समितियो का निर्माण होता रहता है। ये विचारपूर्वक एक उद्देश्य या उद्देश्यो की प्राप्ति के लिय मनुष्यो द्वारा निर्माण की जाती हैं। व्यक्तियो म बहुधा असमानताएँ और भेद दीख पडते है। उनकी सामाजिकता म भी अन्तर पाया जाता है। कुछ का अधिक समूहो से कुछ का कम समूहो स सम्बन्ध होता है। साधारणतया प्रतिभाशाली व्यक्ति औसत व्यक्तियो की अपक्षा समूहो म अधिक घुलमिलकर सम्मिनित होते हैं। व्यावसायिक आर्थिक एव रुचि समूह (Interest group) विभिन्नीकरण के प्रमुख

रूप कहे जा सकते हैं। इन समूहों में विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पा जाते हैं।

धनी निर्धन के बीच की दूरी सामाजिक समूहों की ही देन है। यद्यपि सभ समूह इसे नहीं उत्पन्न करते फिर भी सामाजिक पर्यावरण के कारण उनके अन्दर सामाजिक दूरी पाई जाती है। धनी लोगों का अपना अलग समूह होता है गरीब का अपना अलग। सम्भवतः धनी व्यक्तियों द्वारा चलाये जाने वाले क्लबों में गरी व्यक्ति जाने से कतराते हैं। उनके अन्दर एक प्रकार की हीनता आ जाती है जो प्राय रहन सहन के हीन स्तर साधारण वेश भूषा, आर्थिक संकट इत्यादि के कारण आ जाती है।

साधारणतया इसी कारण भारतीय समाज में सर्वसाधारण अपने समान स्त वाले परिवार में विवाह सम्बन्ध करने का विचार रखते हैं। विभिन्नीकरण की प्रक्रिया द्वारा क्रेता विक्रेता, उत्पादन-उपभोक्ता, धनी निर्धन के बीच सबन्ध भिन्न भिन्न पाये जाते हैं।

जिन समूहों में व्यक्ति रुचि रखते हैं उनसे उनका विशेष लगाव होता है विभिन्न व्यक्तियों का सामाजिक सम्मिलन (Social participation) कम या अधिक गहरा हो सकता है। इसी भेद के कारण मनुष्यों के सामाजिक गुणों में भी भे उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) सामाजिक आर्थिक वर्ग के आधार पर विभिन्नीकरण (Differentiatio based on Socio-economic Class)

सामाजिक वर्ग प्रस्थिति से निश्चित समूह चेतनायुक्त स्तर होते हैं। सामाजि वर्ग में एक सामान्य वातावरण, समान पेशा सम्पत्ति और शिक्षा के द्वारा एक समान जीवन ढंग का विकास पाया जाता है। एक सामाजिक वर्ग सामाजिक प्रस्थिति क कारण दूसरे भागों में पृथक दिखाई पड़ता है।

इसके विपरीत आर्थिक वर्ग समुदाय के ऐसे वर्ग खण्ड हैं जिनका निर्धार किसी शुद्ध आर्थिक प्रमाणों द्वारा होता है। पूँजीवादी सभ्य वर्गों में भी सामाजि स्तरण में वर्गों का प्रधान महत्व है। प्रत्येक समाज में ऊँच-नीचे वर्गों का पाय जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनमें साधारणतया उत्तम मध्यम और निम्न वर्गों के आधार पर सामाजिक स्तरण अधिक स्पष्ट और व्यावहारिक दिखाई पड़ता है। साम्यवादी समाज आज भाग विहीन समाज की ओर अग्रसर है। यद्यपि पहले विभिन्न वर्गों के रहन-सहन का ढंग मनोरंजन, पोशाक, भाषा और सांस्कृतिक अभि व्यक्तियाँ (cultural expressions) पृथक-पृथक होती थी परन्तु आज मुक्त व व्यवस्था में विभिन्न वर्गों में आर्थिक साधनों की विभिन्नता के बावजूद एक ही प्रका की वेशभूषा मनोरंजन, और सामाजिक मूल्य हो सकते हैं। फिर भी परम्परागत

वर्ग-व्यवस्था मे ऊँचे-नीचे और मध्यम वर्ग होते है। यद्यपि परिवर्तनशील समाज में इनके अन्दर वर्तमान सामाजिक सबधो के रूप बदलते रहते हैं।

जिस समाज मे व्यक्ति और परिवार की सामाजिक स्थिति का निर्णय उसकी आय सम्पत्ति शिक्षा अथवा राजनीतिक शक्ति और सत्ता से होने लगता है वहाँ शीर्ष गतिशीलता (vertical mobility) सम्भव ही नही अपेक्षतया बहुत सरल है। शिक्षा सम्पत्ति राजनीतिक शक्ति, व्यक्तियो का जीवन स्तर भी विभिन्न प्रकार के वर्गों मे विभेद उत्पन्न करते है। कारण यह है कि इनके आधार पर इनके दृष्टिकोणों में अन्तर हो जाता है।

(४) धार्मिक विभिन्नीकरण

धार्मिक विभिन्नीकरण भी सामाजिक विभिन्नीकरण का एक रूप है। प्रत्येक समाज के धार्मिक विश्वास का स्वरूप और अभ्यास बहुधा दूसरे समाज के धर्म से भिन्न होते है। विभिन्न धर्मों के विभिन्न धार्मिक प्रतीक होते है। धर्माचरण के लिए उपयोगी या सहायक सामग्री मे भी विभिन्न धर्म मे थोडी या बहुत असमानता होती है यद्यपि सारी वर्तमान सस्थायें नीतियो की स्थापना अलौकिक शक्तियो की महानता और हितकारिता के आधार पर करती है। फिर भी उनके धर्म गुरुओ मे अन्तर पाया जाता है। एक धर्म मे भी विभिन्नीकरण की प्रक्रिया जारी रहती है। उदाहरण स्वरूप हिन्दू धर्म मे तमाम प्रकार के सम्प्रदाय दिखाई पडते हैं। धार्मिक सस्थाये नए नए धार्मिक समितियो का रूप धारण कर लेती हैं। प्रारम्भ मे ये समितियाँ धार्मिक एव सामाजिक व्यवस्थाओ से मिली हुई थी। धीरे धीरे धर्म अन्य सामाजिक व्यवस्थाओ से बिल्कुल पृथक हो गया। अब धर्म एक व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु हो गई है।

(५) ग्रामीण नगरीय विभिन्नीकरण

यद्यपि नगर और ग्राम मे स्पष्ट अन्तर की रेखा खीचना कठिन है तथापि ग्रामीण एव नगरवासियो के समुदायो मे व्यवसाय रहन-सहन, विचारो रीतिरिवाजो वेशभूषा सामाजिक मनोविज्ञान मूल्यो रुचियो के आधार पर भेद होते हैं। सामाजिक स्तरण ग्रामो मे वश परम्परागत अधिक पाया जाता है। नगरो मे सामाजिक स्तरण वशपरम्परागत अधिक नही होते। नगरो मे अत्यधिक वर्ग पाये जाते है। ग्रामो मे सामाजिक गतिशीलता नगरों की तुलना मे बहुत कम पाई जाती है। ग्रामीण समुदायो मे सामाजिक विभिन्नीकरण की प्रक्रिया उतनी जटिल नही होती जितनी कि नगरो मे पायी जाती है। ग्रामो मे कार्यों का विशेषीकरण जटिल नही होता है। कहा जाता है कि ग्रामीण समुदाय एक घडे मे शान्त जल के समान है और नागरिक समुदाय पतीली मे उबलते हुए पानी के समान है।

(६) विभेदीकरण के अन्य रूप

विभिन्न रुचियों के कारण विभिन्न समुदायों का निर्माण होता है। समाज में विभिन्न प्रकार के विषयों का अध्यापन शिक्षा संस्थाओं में होता है। इन्हीं विशेषीकरण शिक्षाओं के कारण विशेषीकरण को बढ़ावा मिलता है। समाज में विभिन्न प्रकार के राजनैतिक दलों का प्रादुर्भाव होता है। ये राजनैतिक दल विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं। राज्य के सत्तारूढ दल का जनहित में कार्य करने के उद्देश्य से भी राजनैतिक दलों का निर्माण होता है। ये जनता के राजनैतिक और कुछ हद तक सामाजिक शिक्षण में योग देते हैं।

सामाजिक विभिन्नीकरण के सामाजिक लाभ

वास्तव में प्रत्येक समाज में विभिन्नीकरण कुछ न कुछ हद तक पाया ही जाता है क्योंकि इससे समाज को बहुत लाभ होता है। यदि विभिन्नीकरण न हो तो वह समाज विभिन्नीकृत समाज के लाभों से वंचित रह जावेगा। अतएव सामाजिक विभिन्नीकरण निम्नलिखित लाभ प्रदान करता है—

(१) श्रमविभाजन एवं कार्यों के विशेषीकरण से होने वाले कार्यात्मक लाभ

मनुष्य को अपनी योग्यता के अनुसार समाज में स्थान मिल जाता है। सामाजिक विभिन्नीकरण श्रम विभाजन के रूप में जितना अधिक विकसित और कार्यशील होगा उतना ही समाज के सदस्य अपने कार्यों को अधिक अच्छे ढंग से करेंगे और उतना ही उन्हें संतोष प्राप्त होगा। श्रम विभाजन में ऐसे कठिन और जटिल कार्य भी पूरे हो जाते हैं जो व्यक्तिगत रूप से पूरे नहीं हो सकते। श्रम विभाजन में व्यक्तियों के अन्दर निपुणता एवं योग्यता की वृद्धि होती है। सामाजिक कार्य-कलाप सुचारु रूप से चलते रहते हैं।

(२) सामाजिक व्यवस्था में स्थाननिर्धारण

विभिन्नीकरण से यह बात सम्भव होती है कि असमान योग्यताओं के व्यक्तियों और श्रेणियों को समाज में स्थान प्राप्त हो सके जिसके द्वारा सामाजिक कार्य व्यवस्थित रूप से होते रहें। विभिन्नीकरण प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक पर्यावरण में सुरक्षा तथा उसके स्थान की एक आवश्यक प्रक्रिया व दशा है। प्रत्येक मनुष्य समाज को क्या देता है और उससे क्या प्राप्त करता है इस बात का सन्तुलन इसी प्रक्रिया में होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ योग्यता तथा निम्न योग्यता वाले व्यक्ति साथ-साथ रह कर कार्य कर सकते हैं क्योंकि समाज में विशेषीकृत विभिन्नीकरण विद्यमान है। समाज में योग्यता एवं परिश्रम द्वारा व्यक्ति सामाजिक श्रेणी को प्राप्त कर सकता है। जटिल समाजों में उपयुक्त जाति व्यक्ति की उन्नति में इतनी बाधक नहीं होती जितनी कि ग्रामीण में। वहाँ पर जाति एक प्रमुख बन्धन है।

(३) सामाजिक एकीकरण (integration) तथा सुदृढ़ता (solidarity) का प्राविधान

विभिन्नीकरण बहुधा सम्भावित तथा वास्तविक विरोध तथा अलगाव को जन्म देता है क्योंकि यह व्यक्तियों को एक दूसरे से अलग कर देता है और उनको गुणात्मक आधार पर श्रेणियों में बाँट लेता है। दूसरी ओर विभिन्नीकरण सामाजिक व्यवस्था और एकीकरण स्थापित करने में सहायक होता है। विभिन्नीकरण विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाओं में एकीकरण स्थापित करने के लिए मुख्य कारक है क्योंकि विभिन्नीकरण की प्रक्रिया में ही व्यक्ति बिना एक दूसरे से संघर्ष में आये हुए सामाजिक कार्यों को करते रहते हैं। इससे सामाजिक सुदृढ़ता स्थापित होती है। जटिल समाजों में यद्यपि विशेषीकृत कार्यों एवं श्रम विभाजन के कारण विभिन्नता दिखाई पड़ती है व्यक्तियों के आपस के सम्बन्ध विजातीय होते हैं तथापि व्यक्ति एवं समूहों की परस्पर निर्भरता के कारण उनमें सुदृढ़ता देखी जाती है। यही कारण है कि सामाजिक विभिन्नीकरण द्वारा सामाजिक सम्बन्ध ठोस होते हैं।

१७

सामाजिक समूह

मनुष्य का जीवन कभी अकेले नहीं बीतता है। वह दूसरे मनुष्यों के साथ रहता है जिनके साथ उनके संसर्ग (contacts) विकसित हो जाते हैं। इन संसर्गों का उसके जीवन में बहुत महत्त्व है। ये संसर्ग अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। विभिन्न प्रकार के समूहों से ही सामाजिक संरचना का जटिल प्रतिमान बनता है। आइए हम इन समूहों के विविध प्रकारों का विश्लेषण करें। पहले हम प्राथमिक (Primary) तथा द्वैतीयक (Secondary) समूहों की साधारण विशेषताएँ दर्शाएँगे। तत्पश्चात् सामाजिक समूहों के कुछ प्रमुख प्रकारों—जैसे परिवार, समुदाय, जाति और वर्ग, प्रजातिक एवं अन्य समूह, अस्थायी समूह (भीड़, जनता) और सभा—का विश्लेषण करेंगे। अध्याय १६ में विभिन्न समूहों के विकसित होने की सामान्य और सार्वभौमिक प्रक्रिया—सामाजिक विभिन्नीकरण का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया था।

समूह में मनुष्य का जीवन

मनुष्य सदैव से एक सामाजिक प्राणी रहा है। उसका जीवन किसी न किसी प्रकार के समूह में ही प्रारम्भ होता है। समूह समाज की इकाई है। मनुष्य समूह में ही रहना क्या पसन्द करता है इसका कारण उसकी आवश्यकताएं और आदतें हैं। मनुष्य के समूह में रहने की प्रवृत्ति या यूथचारिता का आधार कोई सहजात मूल प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए यह कहना कि मनुष्य में दूसरे लोगों के साथ या समूह में रहने की कोई मूल जन्मजात प्रवृत्ति है नितान्त गलत धारणा है। मनुष्य में कोई ऐसा आन्तरिक चालक नहीं पाया जाता जो उसे दूसरे व्यक्तियों का साथ ढूँढने के लिए प्रेरित करे। नवजात शिशु को माँ की अपेक्षा नर्स या दायी का भी साथ स्वीकार होता है। वास्तव में, मनुष्य को बचपन से लेकर बुढ़ापे तक दूसरे लोगों का सहारा और संसर्ग इसलिए ढूँढना पड़ता है कि उसकी आधारभूत आवश्यकताएँ बिना उनके समुचित सहयोग से पूरी नहीं हो सकतीं। दूसरे मनुष्य के शिशु को अपना जीवन बनाए रखने

के लिये माता पिता पर निर्भर रहना ही पड़ता है। उसकी दूसरी सावयवी आवश्यकताएँ भी अन्य व्यक्तियों के सहयोग और सहानुभूति से ही संतुष्ट होती हैं। यही प्राथमिक कारण है कि व्यक्ति में जन्म से ही दूसरे मनुष्यों पर निर्भर रहने की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह भावना ही सामूहिक जीवन के लिये प्राथमिक आधार है। व्यक्ति में समूह में रहने की प्रवृत्ति का विकास सीखे हुए व्यवहारों और आदतों से होता है। उसमें उत्तर मानवोचित गुणों का विकास इस प्रवृत्ति के विकास के साथ होता है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है उस यह तथ्य भलीभांति समझ में आता जाता है कि जीवन में अधिक आनन्द समूहों में ही रहने पर सम्भव है। उसको साथी पाने, खेलने, तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भाइयों बहनों मित्रों और साथ के खिलाड़ियों का संसर्ग बड़ा सुखदायक लगता है। उसे अकेलापन अथवा अपने साथियों से दूर रहना बड़ा कष्टप्रद अनुभव होता है।

व्यक्तिगत भेद

व्यक्तियों में जो असमानताएँ और भेद दीखते हैं उसके दो कारण होते हैं। पहला कारण उनकी वैविक्तता में भेद है। दूसरा कारण उनकी सामाजिकता में भिन्नता है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों में सामाजिकता के भिन्न भिन्न अंश क्या होते हैं? कुछ का सम्बन्ध अधिक समूहों से होता है और कुछ का कम से। उनमें से कुछ सामूहिक जीवन में अधिक भाग लेते हैं। साधारणतया प्रतिभाशाली व्यक्ति औसत व्यक्तियों की अपेक्षा समूहों में अधिक घुलमिल कर सम्मिलित होते हैं। संक्षेप में विभिन्न व्यक्तियों का सामाजिक सम्मिलन कम या अधिक गहन हो सकता है। इसी भेद के कारण मनुष्यों के सामाजिक गुणों में भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

सामूहिक जीवन में सम्मिलन

सामूहिक जीवन में सम्मिलन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्तित्व के लक्षणों से होता है। जो व्यक्ति सामूहिक जीवन में बड़ा सक्रिय रहता है उसके व्यक्तित्व में बाह्यपरावर्तन के लक्षण आ जाते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अकेलापन पसन्द करता है, आलोचना से घबड़ाता है और विफलता से डरता है वह लोगों से साधारणतया दूर रहने की कोशिश करता है। ऐसा व्यक्ति समाज में गहरे सम्मिलन के अयोग्य होता है। उसके व्यक्तित्व में अन्तःपरावर्तक के लक्षण आ जाते हैं। वैसे तो मनुष्यों को बाह्य परावर्तक तथा अन्तःपरावर्तक की दो पृथक श्रेणियों में विभाजित करना अवैज्ञानिक है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि समाज में उपरोक्त परावर्तकों के विभिन्न अंश व्यक्तियों की सामाजिकता के अंशों पर आश्रित होते हैं।

मनुष्यों के कार्यों पर सामूहिक प्रभाव

समूह का व्यक्ति के कार्यों पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिक अध्ययन और परीक्षणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में अधिक सफल जीवन

त्रिनाने की योग्यता समूह में ही विकसित होती है। अकेला रहने पर समाज के भौतिक और सामाजिक पर्यावरणों की विषमताओं से वह सफल समायोजन करने में कदापि उतना समर्थ नहीं हो सकता जितना सामूहिक जीवन बिताने हुए हो सकता है। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता—सीखने की क्षमता का समुचित विकास समूह में ही हो सकता है। समूह में रहने पर उसे अपने पूर्वजों का संपूर्ण परीक्षित अनुभव विरासत में प्राप्त होता है। इस विरासत (संस्कृति) से सम्पन्न मनुष्य सबसे अधिक चतुर समस्या समाधान करने वाला प्राणी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि समूह में रहकर के व्यक्ति जिन अनेक सरल और कठिन स्थितियों का मुकाबला करना सीख लेता है वही उसके व्यक्तित्व में बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकसित करते हैं।

ज्यों ज्यों मानव जनसंख्या का आकार बढ़ता गया त्यों-त्यों मनुष्य के दूसरे मनुष्यों तथा अपने आस-पास की परिस्थिति से सम्बन्ध जटिलतर होते गए। इस स्थिति में समूहों के कार्यों का महत्व भी बढ़ता गया। नए नए विशेषीकृत-समूहों की स्थापना हुई और मनुष्यों की विशेष योग्यताएँ विभिन्न पेशों और व्यवसायों के विकास में प्रकट होने लगी। बढ़ी हुई जनसंख्या की अनेक आवश्यकताओं में निरंतर वृद्धि होने लगी जिसका परिणाम नये और जटिलतर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण और अधिक कार्यात्मक भेदीकरण अनिवार्य हो गया। आर्थिक विशेषीकरण की इस वृद्धि ने उत्पादन की कुशलता में वृद्धि की जिससे जनसंख्या की निर्वाहक आवश्यकताओं को अधिक सरलता और प्रचुरता से संतुष्ट करना सम्भव हुआ। इससे जनसंख्या के कुछ व्यक्तियों को अधिकाधिक अवकाश मिलने लगा जिसका उपयोग स्वाभाविकतया मनोरंजन, कला तथा विज्ञान के क्षेत्रों में वृद्धि के लिए हुआ। इस दशा में पुनः समूहों के विशिष्ट क्षेत्रों के आधार पर वर्गीकरण आवश्यक हो गया। विभिन्न प्रकार के समूहों की उत्पत्ति और विकास का संक्षेप में यही कारण है। आधुनिक युग में मनुष्य का जीवन अनेक प्रकार के छोटे-बड़े, स्थायी अस्थायी और प्राथमिक और माध्यमिक समूहों में बीतता है। मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों की जानकारी के लिये हमें समूहों के प्रमुख प्रकारों उनके वर्गीकरण के आधारों तथा व्यक्ति के जीवन पर उनके प्रभाव का विश्लेषण करना आवश्यक है।

सामाजिक समूहों की प्रकृति

सामाजिक समूह की परिभाषा

"सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिनमें एक लम्बी अवधि से संचार होता रहा है और जो एक सामान्य कार्य या प्रयोजन के

अनुसार काय करते हैं।"[1] "एक सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियो की एक ऐसी सस्था को कहते ह जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यो पर हो और जो एक दूसरे को प्रेरणा दें जिनमे भक्ति हो और जो सामान्य क्रियाओ मे सम्मिलित हो।' बोगार्डस की उपरोक्त परिभाषा पूर्ण और स्पष्ट है। मैकाइवर और पेज ने भी इससे मिलती जुलती परिभाषा दी है समूह ऐसे मनुष्यो का एक सग्रह है जिनमे एक दूसरे के बीच सामाजिक सम्बन्ध बन गये हैं।

समूह के लक्षण

आगे सामाजिक सम्बन्धो की व्याख्या करते हुये वे लिखते हैं कि सामाजिक सम्बन्धो मे सम्बन्धित व्यक्तियो के बीच पारस्परिकता का कुछ अश और उनमे पारस्परिक प्रतीति की कुछ मात्रा जो समूह के सदस्यो के दृष्टिकोण मे दीखती है होनी चाहिये अर्थात् सामाजिक समूह के दो लक्षण हैं (१) कुछ सस्थागत प्रबन्ध जो एक समूह को दूसरे से पृथक करे और (२) सामान्य दृष्टिकोण और हित[3]।

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक समूह के मूलभूत लक्षणो का विश्लेषण करते हुये लिखा है कि सामाजिक समूह का आधारभूत लक्षण है दो या अधिक व्यक्तियो में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्पर्क होना। सम्पर्क का समाजशास्त्रीय अर्थ यह है कि या तो वे एक दूसरे को उत्तेजित कर सकें अथवा एक दूसरे के उत्तेजकों के प्रति सार्थक रूप से उत्तरशील हो सकें अथवा एक सामान्य उत्तेजक का अर्थपूर्ण उत्तर देने की स्थिति में हो। सामाजिक सम्पर्क से व्यक्तियो में सामाजिक अन्त क्रिया प्रारम्भ होती है जिसके परिणामस्वरूप उनमें किसी न किसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। सम्पर्क में जो सार्थक अनुक्रियाए होती हैं उनके लिये व्यक्तियो में कुछ समान भूतकालीन अनुभव अथवा शिक्षा का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दो में ऐसे व्यक्तियो में सामान्य जानकारियो के आधार पर एकता का होना आवश्यक है तभी तो उनमें सामान्य हित हो सकते हैं। इसलिये सामाजिक समूह की उत्पत्ति के लिये एक ऐसी स्थिति का होना आवश्यक है जिसमें सम्बद्ध व्यक्तियो में अर्थपूर्ण अन्त उत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सकें तथा जिसमें उन सबका सामान्य उत्ते

---

1 The social group may be defined as two or more persons who are in communication over an appreciable period of time and who act in accordance with a common function or purpose Eldredge & Merrill *Culture and Society* Prentice Hall Inc New York (1955) p 19

2 A social group may be thought of as a number of persons two or more who have some common objects of attention who are stimulating to each other who have a common loyalty and participate in similar activities E S Bogardus *op cit* p 6

3 MacIver and Page *Society* Macmillan London (19.0) pp 213 14

जको अथवा हितो पर ध्यान टिका रहे और उनमें समान चालकों प्रेरणा, और सवगो का विकास हो सके।[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समूह की रचना मूलभूत रूप से मनोवैज्ञानिक स्तर पर होती है। समूह व्यक्तियो का एक झुंड मात्र नहीं है। वह तो *मनोवैज्ञानिक सूत्रों से बँधे हुये व्यक्तियों की एक मूर्त संरचना है।* समूह के सदस्यों के व्यवहारों के पीछे चेतन अथवा अचेतन एकता रहती है। यह एकता समूह के हितो अथवा उद्देश्यों की एकता पर आश्रित होती है। इस एकता के अभाव में व्यक्तियों में भौतिक समीपता होते हुये भी वे एक समूह नहीं बन सकते अधिक से अधिक उनके सग्रह को एक सांख्यिकीय सग्रह कहा जा सकता है।

एडवर्ड सैपिर ने लिखा है कि किसी समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि समूह के सदस्यों को कोई न कोई हित या स्वार्थ परस्पर बाँधे हैं।[2]

अत सामाजिक समूह के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हो सकते हैं—

(अ) दो या दो से अधिक व्यक्ति,

(आ) उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क,

(इ) उन सबके व्यवहारों और क्रियाओं के पीछे सामान्य हितो, उद्देश्यों और दृष्टिकोणों की समानता।

समूह के सदस्य कम से कम दो और अधिक से अधिक अनिश्चित संख्या में हो सकते हैं। अर्थात् समूह का आकार निश्चित नहीं है। समूह के सदस्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क होता है। भौतिक समीपता आवश्यक नहीं है। जिन व्यक्तियों में पत्रव्यवहार, टेलीफोन तार अथवा अन्य किसी प्रकार के पारस्परिक परिचय और विचारों अथवा भावनाओं का आदान प्रदान होता है उन्हें भी एक समूह कहा जायगा। उनके व्यवहारों और क्रियाओं के पीछे सामान्य हित उद्देश्य या दृष्टिकोण रहते हैं जिनसे एक समूह दूसरे समूह से पृथक एक इकाई बन जाता है जिसमें एकता का न्यूनाधिक अंश होता है।

समूहो का वर्गीकरण

समूहों के प्रकारों का वर्गीकरण कई प्रमाणों के आधार पर किया गया है। जर्मन समाजशास्त्री सिमल ने आकार के आधार पर तथा अन्य छोटे और बड़े-बड़े

---

1 A social group thus grows out of and requires a situation which permits meaningful interstimulation and meaningful response between the individuals involved common focusing of attention on common stimuli and or interests and the development of certain common drives motivations or emotions Gillin & Gillin *Cultural Sociology* Macmillan Company New York (1948) p 196

2 Edward Sapir Groups in *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol Macmillan Company New York (193) p 1 9

समूहों का वर्गीकरण किया है। वीज और बेकर ने सिमल के वर्गीकरण को और अधिक नियमित रूप दिया। टानीज ने सामाजिक अन्त क्रिया के गुण के आधार पर गेमीनशाफ्ट और गेसेलशाफ्ट दो प्रकार के समूह बताए। पारम्परिक, आमने-सामने और घनिष्ठ समूह जैसे परिवार और गाँव पहले प्रकार के और मुक्त, अनुबंधित तथा अवैयक्तिक समूह जैसे नगर दूसरे प्रकार के समूह के उदाहरण हैं। मैक्स वेबर ने विटशाफ्ट और गेसेलशाफ्ट दो प्रकार के समूह बताए। साथ ही उसने कई स्थानों पर प्राथमिक समूहों माध्यमिक समूहों और समितियों का वर्णन भी किया है। उसके अनुसार प्राथमिक समूह एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध है जो एक होने की विषयात्मक भावना, निर्मित या परम्परात्मक पर आश्रित है। माध्यमिक समूह एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध है जो हितों के तर्कयुक्त प्रेरित संतुलन या संयोग पर आश्रित है तथा समिति एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें व्यवस्था एक नेता और प्रशासकीय कर्मचारी वर्ग की क्रियाओं से बनाई रखी जाती है। इस प्रकार सिमल की अपेक्षा वेबर सामाजिक सम्बन्धों के आर्थिक धार्मिक और राजनैतिक आदि मूर्त रूपों पर अधिक बल देता है।

लावी और मलिनोवस्की ने आदिम समाजों में आयु लिंग, जादू तथा अन्य लक्षणों के आधार पर समूहों का वर्गीकरण किया है। मोनियर ने समस्त समूहों को तीन विशाल श्रेणियों में विभाजित किया है जिनका प्रधान लक्षण रुधिर-सम्बन्ध, स्थान और क्रिया को माना है। अमरीकी समाजशास्त्रियों जैसे वार्ड और गिडिंग्स ने दो प्रकार के समूह—स्वच्छिक और अनिवार्य—बताये हैं। परिवार तथा राज्य अनिवार्य समूह कहे जा सकते हैं जिनका सदस्य प्रत्येक व्यक्ति को बनना ही पड़ता है। इच्छा होने पर भी कोई मनुष्य उनसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। अन्य सभी प्रकार के छोटे बड़े समूहों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। गिडिंग्स ने प्राथमिक समूहों में काम पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु संयोग या घटना से बने समूहों के अध्ययन पर उसने विशेष जोर दिया। ऐडवार्ड रास ने समूहों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—स्थानिक समूह समानता समूह और हित समूह। चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों की इतनी स्पष्ट धारणा विकसित की है कि आज सर्वत्र समाजशास्त्र में इन समूहों का विशेष महत्त्व पर्याप्त रूप से समझा जाता है। यद्यपि उसने द्वतीयक समूहों अथवा आधुनिक युग के अवयक्तिक सम्बन्धों तथा विशेष हितों पर बने स्वैच्छिक गणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है फिर भी उसकी रचनाओं से स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह इस प्रकार के समूहों के अस्तित्व को जानता था।

इसी प्रकार अनेक अन्य समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों के वर्गीकरण का आधार आकार, समूह हित का कोई गुण, संगठन का अंश, शारीरिक विशेषताएँ, प्रादेशिक एकता आदि प्रमाणों को माना है।

यूबैंक ने १९३२ ई० तक प्रचलित सभी वर्गीकरणों का संक्षिप्त विवरण दिया है।[1] (१) जातिगत अथवा प्रजातिक विशेषताओं के आधार पर वन समूह, (२) साधारण सामाजिक वर्गीकरण जैसे परिवार, भाषा-समूह, स्थानिक और प्रान्तिक समुदाय (३) सांस्कृतिक स्तरों पर आधारित कम अथवा अधिक संस्कृत समूह, (४) संरचना पर आधारित वर्गीकरण जैसे शोषक समूह और क्षतिग्रस्त समूह (५) कार्य पर आधारित वर्गीकरण जैसे राजनैतिक समूह, व्यापारिक समूह, सेवा समूह, दलगत समूह तथा वर्ग समूह, (६) सामाजिक सम्पर्क के आधार पर समनर का वर्गीकरण जैसे हम-समूह अथवा अन्त समूह और वे-समूह अथवा बाह्य-समूह। प्राथमिक और द्वितीयक समूह या अस्थायी और अपेक्षतया स्थायी समूह (७) समूह को बाधने वाले सूत्र की प्रकृति पर आधारित वर्गीकरण, स्वतःचालित और पूर्वनिर्धारित समूह, स्वतन्त्र और आश्रित समूह तथा गेमीनशाफ्ट, गेसेलशाफ्ट आदि।

स्वयं यूबैंक सम्बन्ध की प्रकृति के विचार से समूहों को तीन वर्गों में विभाजित करता है (१) समानता पर आधारित जैसे वर्ग, (२) निकटता पर आधारित समूह जैसे भीड़ आदि, और (३) अन्तःक्रिया पर आश्रित परिवार जैसे समूह।

बोगार्डस ने कई सिद्धान्तों के आधार पर समूहों के प्रकार बताए हैं।[2] मुझे यह वर्गीकरण बड़ा बेढंगा लगता है।

मैकाइवर और पेज ने सामाजिक संरचना में पाए जाने वाले समूहों के लिये एक चार्ट दिया है। उसने सभी समूहों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है (१) संयुक्त प्रादेशिक इकाइयाँ—सामान्य प्रकार—समुदाय जिसके विशिष्ट प्रकार आदिम जाति, राष्ट्र, क्षेत्र, शहर, गाँव और पड़ोस हैं। (२) हित चेतन संगठन जिनका संगठन स्पष्ट नहीं है—(अ) सामान्य प्रकार—सामाजिक वर्ग जिससे विशिष्ट प्रकार जाति, बुद्धिजीवी वर्ग (elite) प्रतिस्पर्धात्मक वर्ग (corporate class) हैं और (ब)—सामान्य प्रकार—जातीय (ethnic) या प्रजातिक समूह जिनके कई विशिष्ट प्रकार हैं। (स) सामान्य प्रकार—भीड़। जिसके विशिष्ट प्रकार हैं समान हित वाली भीड़ अथवा सामान्य हित वाली भीड़। (३) हित चेतन संगठन जिनका स्पष्ट और निश्चित संगठन है जैसे संघ। समितियों के सामान्य प्रकार हैं—*प्राथमिक समूह और विशद संघ। प्राथमिक समूह के विशिष्ट प्रकार परिवार*

---

1 Eubank Th *The Concepts of Sociology* D C Heath Boston (1931) pp 116 1 quoted in *Twentieth Century Sociology* p 1-4

2 Bogardus *op cit* p 7 *He mentions the following classifications—*
(1) Informal formal and bureaucratic groups
(2) Voluntary and involuntary groups.
(3) Centric or congregate group
(4) Primary and secondary groups
(5) Disjunctive or overlapping groups
(6) Social pseudo social anti social and pro-social socialized groups

क्रीडा समूह मित्र मण्डली, गोष्ठी अथवा गुट हैं। विशद् संघों के विशिष्ट प्रकार राज्य, आर्थिक निगम और श्रम संघ, धार्मिक संघ आदि हैं।[1]

गिलिन और गिलिन के अनुसार सामाजिक समूह किसी न किसी हित पर आधारित होते हैं। इन समूह हितों के साधारण कारक निम्नलिखित वर्गों में विभाजित हो सकते हैं (१) नातेदारी या रुधिर-सम्बन्ध, (२) जनसंख्या की शारीरिक बनावट और विशेषताएं (३) स्थान या भूमिखण्ड (सापेक्षिक समीपता) और संस्कृति उद्भूत हित। इस तरह समूह चार वर्गों में विभाजित हो जाते हैं—(अ) नातेदारी या रुधिर-समूह, (आ) शारीरिक विशेषताओं पर आधारित समूह, (इ) स्थानिक निकटता पर आधारित समूह, तथा (ई) सांस्कृतिक हित समूह।

सपिर ने (१) स्थानिक सम्बन्धों, (२) प्रयोजनों, तथा (३) प्रतीकात्मक कृत्यों के अनुसार सामाजिक समूहों का वर्गीकरण करने का सुझाव दिया है।[3]

इन वर्गीकरणों के अलावा प्रत्येक जटिल समाज में विभिन्न समूहों को प्रस्थिति अथवा प्रबलता एवं हीनता के आधार पर विभाजित करने की प्रणाली है। समाज में मूल्यों की व्यवस्था के अन्तर्गत भिन्न भिन्न समूहों को ऊँचा और नीचा नाम देकर उनका स्तरीकरण किया जाता है। समूहों के इस श्रेणी विभाजन से उनकी एक पुरोहित प्रधान व्यवस्था (hierarchy) बन जाती है जिसमें एक सबसे श्रेष्ठ समूह होता है और शेष सभी उससे नीचे। भारतीय जाति प्रणाली इसी प्रकार सामाजिक स्तरीकरण का उदाहरण है। इस प्रकार की व्यवस्था में नीचे वाले समूहों में कुछ रहस्यमय तुलनाएँ की जाती हैं जिनके लिए भिन्न भिन्न समाजों में आयु मान, आचार श्रेष्ठता पोंजी शक्ति आर्थिक ओहदा अथवा धार्मिक पृष्ठभूमि में से किन्हीं निश्चित प्रमाणों के आधार पर समूहों का वर्गीकरण किया जा सकता है। सामाजिक एवं आर्थिक ओहदे (पद) पर आश्रित समूहों में जाति और वर्ग का हम आगे सविस्तार विश्लेषण करेंगे।

संक्षेप में, समूहों के वर्गीकरण के आधार प्रकार सामूहिक अन्त क्रिया का कोई गुण संगठन का अंश, समीपता अथवा क्षेत्रीय एकता सम्बन्ध की प्रकृति, हित या प्रयोजन में से कोई एक अथवा उनका कोई मेल हो सकते हैं। मेरे विचार से मैकाइवर और पेज द्वारा अपनाई गई रीति से समूहों का सबसे स्पष्ट और तार्किक वर्गीकरण हो जाता है। विद्यार्थी इसे अपना सकते हैं। यहां एक बात स्मरण रखने की है। जटिल और गत्यात्मक समाज की परिस्थितियाँ इतनी पचीदा और इतनी शीघ्रता से बदलती हैं कि इन्हें कोई एक सिद्धान्त पूर्णतया नहीं समझा पाता। मनुष्यों के स्वार्थ और उद्देश्य बहुत अधिक परिवर्तनशील हैं। इसीलिए उसके सामा

1 MacIver and Page *Society* p 21- Chart VIII
2 Gillin and Gillin *op cit* p 290
3 Edward Sapir Group in *Encyclopaedia of the Social Sciences* Macmillan Co New York (1932) Vol 7 pp 178 182

जिक सम्बन्ध भी नए-नए रूप धारण कर लेते हैं। समूह इतने गत्यात्मक और जटिल सम्बन्धों की मूर्त व्यवस्थाएँ हैं। फिर भला समूहों का कोई वर्गीकरण स्थायी और सर्वमान्य कैसे हो सकता है? चाहे जिस सिद्धांत पर बनाया जाए वह स्थायी और सार्वभौमिक कदापि नहीं हो सकता। विभिन्न समूह इतनी जटिलता में संयुक्त हैं कि उनका वर्गीकरण करके यथार्थ स्थिति का चित्रण नहीं किया जा सकता है। हाँ वर्गीकरण से समूहों के अध्ययन की समस्या अपेक्षाकृत सरल अवश्य हो जाती है। इस युक्ति से समूह में मानव व्यवहार तथा उसके जीवन पर समूह के प्रभाव सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ऊपर हमने संकेत दिया है कि हम इस अध्याय में प्राथमिक एवं द्वितीयक तथा हम-समूह और वे-समूह का सविस्तार विश्लेषण करेंगे। इससे आधुनिक सामाजिक संगठन को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

व्यक्ति और समूह

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस कथन में दो महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सन्निहित हैं। प्रथम मनुष्य का जन्म समूह में ही हुआ है। समूह का अस्तित्व मनुष्य से पूर्व का है और द्वितीय मनुष्य और समूह एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। बिना मनुष्यों के समूह का अस्तित्व असम्भव है और मनुष्य भी समूह में ही रह कर जीवित रह सकते हैं। पहले को समूह की प्राथमिकता का सिद्धान्त कहते हैं। एक तथ्य की ओर हम कुछ पूर्व संकेत कर चुके हैं। वह यह है कि मनुष्य में समूह बनाने की कोई जन्मजात प्रवृत्ति नहीं होती है। समाज में अनेक समूहों का निर्माण मनुष्य की आवश्यकताओं, हितों एवं उनके सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के ढंग पर आधारित है। साथ ही, 'समूह केवल मानसिक धारणा है इसलिए अवास्तविकता नहीं है। व्यवहारवादियों और व्यक्तिवादियों ने यह कहकर नितान्त भूल की है कि समाज में होने वाली समस्त घटनाएँ विशिष्ट व्यक्तियों के व्यवहार के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। हमें इस प्रकार की सभी भ्रान्तियों से दूर रहना चाहिए। व्यक्ति और समूह में जो अन्तःक्रिया होती है उससे उनके बीच एक निश्चित सम्बन्ध विकसित होता है।

व्यक्ति के दृष्टिकोण से समूह का स्थान

आदिम समाज में एक आधुनिक समाज की अपेक्षा समूहों की थोड़ी संख्या होती है। ये समूह नातेदारी, आयु, लिङ्ग और कुछ सामान्य व्यावसायिक भेदों पर आश्रित होते हैं। आदिम मनुष्य इन्हीं का सदस्य होता है। अधिकतर इनकी सदस्यता अनैच्छिक अथवा अनिवार्य होती है। प्रत्येक समूह की सदस्यता समाज में व्यक्ति को निश्चित प्रस्थिति या प्रतिष्ठा दिलाती है जो प्रथाओं अथवा संस्थाओं के अनुकूल होती है। इसके विपरीत आधुनिक समाज में समूहों की बहुत बड़ी संख्या

होता है। इसलिए साधारणतया एक व्यक्ति अनेक समूहों का एक समय पर सदस्य होता है। इन समूहों में से बहुतों का सदस्य होना या न होना उसकी इच्छा पर निर्भर रहता है। जहां अपनी प्रजाति, लिङ्ग विभाजन, परिवार तथा राज्य का उसे अनिवार्यतः सदस्य होना पड़ता है वहाँ अनेक पेशेवर, व्यावसायिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समूहों का सदस्य होना उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह इच्छानुसार इनमें से कम या अधिक समूहों का स्वैच्छिक सदस्य बन सकता है। इसी प्रकार, कुछ समूहों में वह घुल मिल कर गहरा कार्य करता है। अन्य समूहों से उसका सम्पर्क बहुत दूरस्थ और सामयिक होता है। छोटे से परिवार से लेकर राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक और धार्मिक समुदाय का वह एक सदस्य होता है। इनमें से कुछ समूहों का उसके लिए निकटस्थ महत्त्व है और शेष का केवल आकस्मिक और बहुत कम महत्त्व है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के जीवन में समूह एक वस्तु विषयक यथार्थ है। परन्तु समूह के बारे में व्यक्ति की जो धारणाएँ और दृष्टिकोण होते हैं वे एक विषयगत यथार्थ है। सामूहिक जीवन के बारे में यथोचित ज्ञान के लिए हमें उसके इन दोनों पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। इस विषय का एक प्रधान उदाहरण देने के लिए हम नीचे अन्तःसमूह और बाह्य समूह के भेद प्रस्तुत करेंगे।

अन्तःसमूह और बाह्य समूह

मनुष्यों के आत्मीय दृष्टिकोण से विचार करने पर अन्तःसमूह या हम-समूह और बाह्य समूह अथवा वे समूह या इतर-समूह में भेद किया जाता है। समनर ने इस भेद को बतलाया था। हम अपने समूह से बाहर के लोगों को बाह्य समूहों की श्रेणी में रखते हैं। हम समूह या अन्तःसमूह वे समूह हैं जिनके सदस्यों में 'हम' का प्रयोग होता है। यहाँ सभी सदस्यों में शान्ति व्यवस्था विधान सरकार और उद्योग के सम्बन्ध होते हैं। सभी बाहरी लोगों (अपरिचितों) या बाह्य-समूहों से उनके सम्बन्ध युद्ध और लूट के होते हैं सिवाय उन सम्बन्धों के जिनमें इकरारों द्वारा संशोधन कर लिया गया हो।[2] समनर ने अन्तः और बाह्य समूहों में होने वाले संघर्ष को बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहा है। किन्तु उसने उन समूहों की जो आन्तरिक मनोवृत्तियाँ बताई हैं उनसे कोई समाजशास्त्री असहमत नहीं है। अन्तःसमूह में सदस्यों की बहुसंख्या दूसरे सदस्यों के प्रति सकारात्मक, सहयोगी और मैत्रीपूर्ण व्यवहार करती है। प्रत्येक सदस्य समूह के सदस्यों के प्रति सहानुभूति और लगाव की भावना रखता है। इस समूह में साथ-साथ काम करने की भावना बहुत प्रबल होती है। इसके प्रतिकूल बाह्य-समूह के प्रति विरोध भावना, प्रतिद्वन्द्विता, व्यग्य भय, सन्देह

1 MacIver and Page *op cit* pp 216—217
2 Sumner W G *Folkways* Ginn & Co, Boston (1906) p 12 quoted by Gillin & Gillin in *Cultural Sociology* p 203

घृणा, अरुचि या द्वेष तक की भावना होती है। राष्ट्र, राष्ट्रों या परिवारों, श्रम-संघों तथा मालिक संघों व्यापार संघों, एवं राजनैतिक दलों में परस्पर उपरोक्त भावना पाई गई है। गांव और शहर के बीच में भी इसी प्रकार की भावना पाई जाती है।[1]

शान्तिकाल में सारे समाज के विभिन्न समूहों में सहिष्णुता की भावना साधारणतया रहती है। किन्तु वमनस्य, संघर्ष, घृणा या असहयोग विविध समूहों के बीच में व्यापार-क्षेत्र, खेल के मैदान या राजनीति में व्यक्त होता है। हम बाह्य-समूहों के प्रति व्यंग्य कसा करते हैं। उनको असभ्य, क्रूर, जंगली, कमीने, नीच आदि विशेषणों का प्रयोग कर सम्बोधित करते हैं। किन्तु अशान्ति या अव्यवस्था के समय बाह्य-समूह के खिलाफ हमारे गहरे संवेगात्मक पूर्व विचार उभर आते हैं और हम खुलम-खुल्ला उनको दुश्मन घोषित कर देते हैं। राष्ट्रों के बीच युद्ध सम्प्रदायों या वर्गों के बीच दंगे इसके प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं।

गिलिन और गिलिन ने लिखा है कि इस प्रकार के समूह संघर्ष की स्थितियों को समझने में विशेष लाभप्रद होते हैं। उनमें कई अन्य समाजशास्त्रीय समस्याओं पर भी प्रकाश पड़ता है जैसे व्यक्ति का समाजीकरण, सांस्कृतिक परिवर्तन, सामाजिक नियन्त्रण और सामाजिक विकृति (व्याधि)।[2]

अन्तःसमूह और बाह्य-समूह दोनों ही धारणाएँ कृत्यात्मक हैं क्योंकि इन समूहों की विशेषताएँ समाज के संरचनात्मक संगठन का भाग नहीं हैं।

विरोध और प्रतिद्वन्द्विता की भावनाएँ जितनी तीव्र होंगी उतनी ही तीव्र 'हम भावना' समूह में देखी जाती है। इस तथ्य से राजनीतिज्ञ बहुत फायदा उठाते हैं। जब वे अपने देश में आपसी विरोध या असंगठन की भावना उभरते हुए देखते हैं तो वे देश या राष्ट्र की एकता की भावना को दृढ़ करने के लिए दूसरे देशों से विरोध या प्रतिद्वन्द्विता की भावना को उभार कर तीव्र कर देते हैं। पिछले १० वर्षों में पाकिस्तानी राजनीतिज्ञ अपने देश की आन्तरिक गड़बड़ी पर काबू भारत-विरोधी प्रचार तथा विषवमन से पाते रहे हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समूह में एकता और संगठन बनाये रखने के लिए अन्य साधन उपलब्ध नहीं हैं।

आदिम समाजों में 'हम भावना' बहुत तीव्र और स्पष्ट होती है। क्योंकि (१) आदिम समाज छोटे होते हैं और उनके सदस्य एक दूसरे को अच्छी तरह से जानते हैं और परस्पर घनिष्ठता से रहते हैं। (२) ये समाज स्थायी समूह होते हैं।

---

1 Cf MacIver & Page op cit p 21? and Ogburn & Nimkoff A Hand book of Sociology Routledge & Kegan Paul London (19?6) pp 173 174

2. Gillin & Gillin : op. cit., p 204

लोग एक ही स्थान पर रहते है और उनका पूर्ण सामाजिक जीवन एक साथ ही बीतता है। (३) इन समाजो में समूहो की सख्या कम होती है। प्राथमिक समूहो की बहुलता के कारण इनमे आपसी विरोध या प्रतिद्वन्द्विता का अभाव रहता है तथा 'इतर' भावना जागृत नही हो पाती। (४) किन्तु एक समाज और दूसरे समाजो के बीच इतर भावना बहुत तीव्र रहती है क्योंकि सम्पर्क के अभाव मे वे एक दूसरे से मिल जुलकर सहिष्णु और उदार नही बन पाते।

आधुनिक समाजो में भी 'हम' और 'इतर' समूहो की भावना दिखाई देती है परन्तु यह उग्र रूप मे नही होती। इसके कई कारण हैं। पहले आधुनिक समाज इतने बडे होते हैं कि इनके सभी व्यक्ति एक दूसरे से परिचित नही रहते हैं। दूसरे, इन समाजो का परस्पर सम्पर्क बढ गया है। सास्कृतिक आदान प्रदान के कारण विभिन्न समाजो मे बहुत कम भिन्नता रह गई है। इसलिये 'इतर' समाज की भिन्नता को भी हम सहिष्णुता से देखते है। तीसरे आधुनिक समाज के भीतर इतने समूह होते हैं जिनके बीच अकसर इतना अधिक विरोध या सघर्ष रहता है कि अपने समाज के भीतर भी हम भावना उग्र नही होने पाती। चौथे, इन अनेक समूहो की सदस्यता भी बदलती रहती है जिसके कारण जिस सदस्य के प्रति हम एक समूह मे हम भावना रखते हैं उसी के प्रति दूसरे में इतर भावना भी। इससे स्पष्ट है कि जहाँ आधुनिक समाजो में हमारी हम भावना बहुत तीव्र नही हो पाती वहाँ इतर भावना भी उग्र नही हो पाती। किन्तु राजनीतिक और आर्थिक हितो के सघर्ष ने आजकल भी समाजो मे हम भावना और इतर भावना को कभी कभी बहुत उग्र करके दिखाया है।

मनुष्य में अपने समूह के अन्य सदस्यो के लिये जो सहानुभूति अपनापन अथवा ममत्व की प्रवृत्ति होती है उसे समाजशास्त्री जाति-केन्द्रीयता कहते हैं। इसका तात्पर्य समूह के उस विश्वास से है जिसमे वह अपने सामाजिक अभ्यासो या रीतियो को दूसरे समूहो के अभ्यासो की अपेक्षा श्रेष्ठ समझता है।[1] इस अध्याय के अन्त में जाति केन्द्रीयता के विचार की सविस्तार व्याख्या करेंगे।

प्राथमिक समूह

सम्पर्क की निकटता अथवा दूरी और सामाजिक अन्त क्रिया के अश के आधार पर समूहो को प्राथमिक और द्वितीयक समूहो में विभाजित किया जाता है। स्टुअर्ट चेपिन ने सामाजिक समूहो के तीन प्रकार बताये हैं। तीसरा प्रकार माध्यमिक समूह है जो प्राथमिक और द्वितीयक दोनो के मध्य की श्रेणी कहे जा सकते हैं। प्राथमिक, माध्यमिक और द्वितीयक समूहो मे क्रमश घनिष्ठ, शिथिल और कृत्रिम सम्पर्क पाये

---

1 Ethnocentrism is the belief of each group in the superiority of its own social practices over those of the other groups

जाते हैं। उनके अनुसार, विद्यालय के किसी नगर में लगी कक्षा, आनागार, भारत स्काउट्स या गाइड्स अथवा भारत सेवक समाज अथवा विश्व समस्याओं के अध्ययन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थानीय इकाइयाँ मध्यस्थ समूहों के उदाहरण हो सकते हैं।[1] मेरे विचार में चपिन का यह वर्गीकरण हमारे अध्ययन में बहुत लाभदायक नहीं है। अतएव हम प्राथमिक एवं द्वितीयक दो वर्गों की विशेषताओं का ही विवेचन करेंगे।

कूले ने प्राथमिक समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है: 'प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषताएँ आमने-सामने का घनिष्ठ संसर्ग और सहयोग है। वैसे तो प्राथमिक कई बातों में हैं किन्तु मुख्यतया इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मूलभूत हैं। घनिष्ठ संसर्ग का परिणाम यह होता है कि उनमें वैयक्तिकताओं का एक सामान्य पूर्णता में एक प्रकार का एकीकरण हो जाता है, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को, अनेक प्रयोजनों के लिए समूह के सामान्य जीवन और प्रयोजन में विलीन समझता है। सब एक दूसरे को 'हम' कहते हैं और उनमें परस्पर सहानुभूति और पारस्परिक परिचय बड़े गहन हो जाते हैं।'[2] किंग्सले डेविस ने लिखा है कि उपरोक्त उद्धरण में दो बातों ने—प्राथमिक समूह कुछ मूल समूह हैं जैसे परिवार, क्रीडा समूह, पड़ोसी समूह आदि तथा इन समूहों में आमने सामने का संसर्ग होता है जिसमें सहानुभूति और पारस्परिक परिचय जैसे सम्बन्ध के गुणों का विशेष महत्व है—कूले की धारणा में कुछ अस्पष्टता भर दी है। अतएव, प्राथमिक समूहों की प्रकृति का स्पष्टीकरण करने के लिए उसने चार बातों पर ध्यान देने का सुझाव दिया है: (१) उनमें प्राथमिक प्रकार के सम्बन्ध हैं (२) सम्बन्ध के इस प्रकार की विशेषता के कई अन्य सम्बन्धित गुण हैं (३) यह सम्बन्ध अपने विशिष्ट गुणों के सहित, कुछ मूल समूहों में अपेक्षतया अधिक प्रचुरता से मिलता है (४) जिन विशेष समूहों में यह सम्बन्ध दृष्टिगत होता है वे कुछ भौतिक दशाओं पर आश्रित हैं।[3] आगे हम डेविस का अनुसरण कर प्राथमिक समूह के लिए आवश्यक भौतिक और मानसिक दशाओं का विश्लेषण करेंगे।

प्राथमिक समूह के हर सदस्य का जीवन समष्टि में व्याप्त होता है। उनमें घनिष्ठता और एकता का भाव इतना अधिक होता है कि वे सदस्य अपने लिए 'हम' का प्रयोग करते हैं। प्राथमिक समूह की एकता सिर्फ प्रेम और सामंजस्य की एकता नहीं है। यह हमेशा एक भेदकृत और साधारणतया प्रतिस्पर्धात्मक एकीकरण है जिसमें आत्म प्रदर्शन तथा अन्य कई उग्र भावों की अभिव्यक्ति की गुंजाइश रहती

---

1 Gurvitch and Moore *20th Century Sociology* p 16?

2 Cooley *op cit* p 23

3 Kingsley Davis *Human Society* Macmillan Co New York (1956) p 290

है। किन्तु यह उग्र भाव सामाजीकृत हो जाते हैं और उनमें धीरे-धीरे सामान्य आत्मा के अन्तर्गत आ जाने की प्रवृत्ति होती है।[1]

प्राथमिक समूहों में सबसे महत्वपूर्ण परिवार, बच्चों का क्रीडा समूह, पड़ौस और छोटा समुदाय हैं। ये समयानुसार भी प्राथमिक समूह हैं। इनमें सम्पर्क और अन्तःक्रिया में घनिष्ठता होती है। सबसे अधिक घनिष्ठता के लिये आमने-सामने होना आवश्यक है किन्तु प्राथमिक समूह के कायम रहने के लिये सदस्यों का आमने सामने होना अनिवार्य नहीं है। एक परिवार के सदस्य एक ही शहर या गाँव में न रहकर देश के कई भागों में रहते हैं किन्तु आमने-सामने का सम्पर्क न होने पर भी परिवार एक प्राथमिक समूह ही रहता है। हाँ, समूह में घनिष्ठता के लिये प्रारम्भिक सम्पर्क आमने सामने का होना जरूरी है। साथ ही यह भी याद रहे कि सिर्फ आमने सामने होने से ही प्राथमिक समूह नहीं बन जाता। भारत में आज कई बड़ी कम्पनियों में अँग्रेज, अमरीकी और भारतीय आमने सामने काम करते रहते हैं किन्तु वे मिलकर प्राथमिक समूह का निर्माण नहीं करते। समूह एक मानसिक घटना है इसलिये इसके अस्तित्व के लिए आधारभूत सामाजिक अनुक्रिया का होना और इन अनुभवों और अनुक्रियाओं से व्यक्तियों में सम्पर्क का बनना अनिवार्य है।

प्राथमिक समूहों की कृत्यात्मक महत्ता है। प्राथमिक समूह बड़े महत्व का है क्योंकि व्यक्ति के अनुभव में इसका पहला स्थान है और समाज के विकास में भी यह प्राथमिक है। हर प्रकार के सामाजिक जीवन का यह प्रथम रूप है। बच्चा पैदा होने पर परिवार में ही अपना सामाजिक जीवन शुरू करता है। इसलिए सामाजिक अन्तःक्रिया के आधारभूत प्रतिमानों को व्यक्ति अपने परिवार में ही सीखता है। परिवार का व्यक्ति के जीवन की रचनात्मक अवधि में सबसे अधिक महत्व है। इसमें प्रत्यक्ष सम्पर्क उनकी उच्च आवृत्ति और सम्बन्धों की घनिष्ठता विभिन्न सदस्यों के व्यक्तित्वों को एकता में पिरो देते हैं। कूले इस क्रिया को व्यक्तित्वों का संयोग कहता है। परिवार के बाद बालक के क्रीडा समूह का महत्व आता है और फिर क्रमशः पड़ौस, गाँव और विद्यालय में उसका क्रम आता है। इन प्राथमिक समूहों में रहकर व्यक्ति में सहानुभूति, सहिष्णुता, सहकारिता, न्याय, कर्त्तव्य, अधिकार, निष्ठा, ममत्व आदि महत्वपूर्ण सामाजिक गुणों का आविर्भाव होता है। इन्हीं गुणों के बल पर व्यक्ति अपने भावी जीवन को चलाने की व्यवस्था करता है। प्राथमिक समूह व्यक्ति को समाज में रहकर जीवन-संघर्ष में सफलता पाने के लिए तैयार करते हैं। प्राथमिक समूह में व्यक्ति सहयोग और सहानुभूति के आधार पर जहाँ घनिष्ठ और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है वहाँ वह इन सम्बन्धों के बाहर जाकर नए सम्बन्ध बनाने की कला भी सीख जाता है। कूले ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए लिखा

---

1 C H. Cooley *Social Organisation* (N Y, 19?3) pp 23 24

है 'हमारे चारों ओर के संसार में ऐसा संसर्ग स्पष्टतया मानव स्वभाव की पालन-शाला है। इनका सबसे बड़ा कार्य मनुष्य की पाशविक इच्छाओं का मानवीकरण करना है। इनके सदस्यों में बने सम्बन्ध स्वाभाविक, बारम्बार और अचेतन होते हैं। व्यक्तियों के संघात्मक निर्माण से मनुष्य पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है जैसा सामाजिक संगठन की अन्य रचनाओं और प्रथाओं से भी नहीं पड़ सकता। इन समूहों में जो नैतिक दशाएँ पाई जाती हैं उनका असर समस्त भौतिक दशाओं के असर की अपेक्षा अधिक व्यापक, गहन और स्थायी होता है।

प्राथमिक समूहों के निर्माण के लिए कुछ भौतिक और मानसिक दशाओं का उपस्थित होना आवश्यक है जिन्हें क्रमशः बाह्य और आन्तरिक दशायें भी कहा जा सकता है।

भौतिक दशाएँ

(१) भौतिक समीपता—प्राथमिक समूह के सदस्यों में शारीरिक समीपता होना आवश्यक है। उनमें तभी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है जब वे एक दूसरे के निकट हों, साथ-साथ रहें, खाएँ पिएँ, उठें-बैठें और एक दूसरे से प्रतियोगिता, सहयोग या संघर्ष करें। साथ-साथ निवास और आमन-सामने का विचार-विनिमय उनमें परस्पर सहानुभूति और सद्भावना पैदा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि शारीरिक समीपता प्राथमिक समूह के निर्माण का अवसर प्रदान करती है किन्तु अकेले ही यह प्राथमिक समूह नहीं बना देती। मेले में हजारों आदमी साथ-साथ होते हैं परन्तु फिर भी उनको हम प्राथमिक समूह नहीं कहते। इसी प्रकार गाड़ी के एक ही डिब्बे में सफर करने वालों से प्राथमिक समूह नहीं बनता। कारण, उनमें मानसिक सामान्य नहीं है तथा दूसरी भौतिक दशाएँ लघुता और स्थिरता भी अनुपस्थित हैं।

(२) लघुता—आमने-सामने के सम्बन्ध एवं शारीरिक समीपता होने के साथ समूह में लघुता भी होना आवश्यक है। कम व्यक्तियों में ही शीघ्र अभिमान और पारस्परिक प्रतीति उत्पन्न हो सकती है। उनमें आत्मीयता और एकमनता भी शीघ्र आते हैं। व्यक्तिगत परिचय समूह के निर्णयों को सरलता और शीघ्र कर देता है। इससे घनिष्ठता आती है। बड़े या विशाल संख्या होने पर प्राथमिक समूह के बनने की कम सम्भावना रहती है।

(३) सम्बन्ध की निरन्तरता एवं स्थिरता—एक समूह के सदस्यों में घनिष्ठता बने और स्थायी रहे इसके लिए उनके सम्बन्ध निरन्तर और स्थायी रहने चाहिए। व्यक्तिगत सम्बन्धों में आत्मीयता और विश्वास तभी आता है जब व्यक्तियों में स्थायी और निरन्तर व्यवहार होता रहे और इसका परस्पर प्रभाव भी समय समय पर न टूटे वरन् लगातार कायम रहे।

मानसिक दशायें

भौतिक दशाएँ प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए अवसर प्रदान करता है किन्तु इस अवसर में समूह बने या न बने यह केवल मानसिक दशाओं पर आश्रित है। इन मानसिक दशाओं का विवेचन नीचे किया गया है।

(१) समुद्देश्यता—जब व्यक्तियों की एक सी इच्छाएँ और उद्देश्य होते हैं तो वे सहयोग और बिना मतभेद के उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साथ साथ काय किया करते हैं। इससे उनमें सहानुभूति और घनिष्ठता भी पैदा होती है। दूसरे, समुद्देश्य होने से सबका गन्तव्य एक ही होता है। इस दिशा में बढ़ने में एक दूसरे के सुख दुख को वे सब अपना सुख-दुख मान लेते हैं। सभी का हित इसी में है कि सामूहिक कल्याण की अभिवृद्धि में अधिकतम योग दें। परिवार में सभी सदस्य सामूहिक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं। दूसरे के सुख और कल्याण में उनको स्वाभाविक रुप होता है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि किसी भी प्राथमिक समूह में उद्देश्यों की साम्यता सम्पूर्ण नहीं हो पाती। फिर भी इन समूहों में अधिकांश समानता पाई जाती है। इसका कारण इन समूहों के सदस्यों में 'हम' की भावना है। वे अपना व्यक्तित्व समष्टि में विलीन कर देते हैं।

(२) सम्बन्ध स्वयं साध्य होता है—प्राथमिक समूहों के उद्देश्य में साम्य तो होता है किन्तु यह चरम साम्य नहीं होता। इनके सदस्यों में इतनी आत्मीयता और घनिष्ठता विकसित हो जाती है कि वे एक दूसरे के बिना रहना असम्भव समझने लगते हैं। परिवार में पति पत्नी और बच्चों के सम्बन्ध ही उनका सब कुछ है। इसी प्रकार मित्रों के परस्पर सम्बन्ध ही उनका साध्य है। इस कारण, इन सभी समूहों में सम्बन्धों को घनिष्ठ और आत्मीय करना ही हर सदस्य का उद्देश्य होता है। उनकी सामान्य इच्छाओं और उद्देश्यों की पूर्ति इसका साधन बन जाती हैं। अर्थात् हितों और स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्राथमिक समूह नहीं बनते। उनका निर्माण तो मानव की उस सहज प्रवृत्ति के कारण होता है जिससे वह दूसरों के साथ रहने में सुखी और उसके अभाव में दुःखी होता है।

(३) प्राथमिक सम्बन्ध व्यक्तिगत होते हैं—प्राथमिक समूहों के सदस्यों में सम्बन्ध व्यक्तिगत होते हैं। इनमें प्रत्यक्ष सम्पर्क और अनुभव प्रधान होता है। एक दूसरे का महत्त्व उनके गुणों और कार्यों पर निर्भर नहीं रहता है। वह उनकी पारस्परिक सहानुभूति और सम्वेदना पर निर्भर रहता है। किन्तु उनके गुण और कार्य उनके आत्मीय सम्बन्धों के अनुरूप ही रहते हैं। भाई भाई पति-पत्नी और मित्रों में जो व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है उसे किसी बाहरी व्यक्ति का प्रतिस्थापन करके कायम नहीं रक्खा जा सकता। मेरे अमुक मित्र का स्थान दूसरा व्यक्ति कदापि नहीं ले सकता। कारण वह हमारे दोनों की अन्त अनुभूति को नहीं पा सकता।

जिससे डेविस ने लिखा है, एक नवीन वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, एक पुराना वैयक्तिक सम्बन्ध समाप्त किया जा सकता है सम्भवतया वह चालक शक्ति जिसने सम्बन्ध को प्रारम्भ करवाया था दूसरे को भाग दे सकती है परन्तु एक ही सम्बन्ध में एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का प्रतिस्थापन नहीं किया जा सकता।

(४) प्राथमिक सम्बन्ध सम्पूर्ण होता है—प्राथमिक सम्बन्ध में व्यक्ति पूर्ण रूप से भाग लेता है। घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को भली भांति जानता है। इसमें व्यक्तित्व की सम्पूर्णता पाई जाती है क्योंकि मनुष्य का केवल एक कार्य से नहीं वरन् सम्पूर्ण कार्यों से सम्बन्ध होता है।

(५) प्राथमिक सम्बन्ध सहज अथवा स्वेच्छापूर्ण होता है—व्यक्तियों में प्राथमिक सम्बन्ध की स्थापना किसी बाह्य परिस्थिति के दबाव से नहीं होती। वह तो अन्तर की पुकार पर बनता है। इस सम्बन्ध का नियन्त्रण नियमों और उपनियमों या जोर-दबाव से नहीं हो सकता और न कोई स्वार्थ ही सदैव इसको कायम रख सकता है। इसकी स्थापना स्वेच्छा से और समाप्ति भी स्वेच्छा से होती है। किन्तु इस सम्बन्ध का स्वेच्छापूर्ण विच्छेद भी अतीव दुःखदायी होता है। उदाहरण के लिए, यदि दो घनिष्ठ मित्र स्वेच्छा से एक दूसरे से पृथक हो जाएँ तो जीवन भर वे इस वियोग की टीस अनुभव करते रहेंगे।

(६) प्राथमिक सम्बन्ध में अत्यधिक नियन्त्रण शक्ति होती है—प्राथमिक सम्बन्ध व्यक्तियों पर सहज नियन्त्रण रखते हैं। उनके व्यवहार से दूसरों की उपेक्षा या निरादर नहीं होने पाता। इस उपेक्षा अथवा निरादर के प्रति हर सदस्य बहुत संवेदनशील होता है। अतएव सदस्य एक दूसरे को मार्मिक आघात नहीं पहुँचाना चाहते। थोड़े से इशारे में अपना व्यवहार बदल लेते हैं या उसे बदल डालते हैं। परन्तु यह सब परस्पर आत्मीयता के कारण होता है। इसे स्वेच्छा से वे स्वीकार करते हैं। धीरे धीरे हर सदस्य प्राथमिक समूह में अपने को इतना विलीन कर देता है कि वह उसके नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने की या उसकी अवहेलना करने की बात तक नहीं सोचता जब तक उसके सगत हितों की नितान्त अवहेलना न हो।

समाज जितने जटिल होते जाते हैं जटिल होता जाता है। जटिल समाजों में प्राथमिक समूहों की अपेक्षा माध्यमिक या अप्राथमिक समूहों की बहुत अधिक संख्या मिलती है। इन समाजों में वयस्क के जीवन का अधिकांश भाग इन माध्यमिक समूहों में बीतता है। अतएव प्राथमिक समूह में सीखी आदतों और मनोवृत्तियों पर निर्भर रहकर वह माध्यमिक समूहों में जीवन को सफलतापूर्वक नहीं बिता सकता। उसे माध्यमिक समूहों के जीवन में समायोजन करना पड़ता है और अप्रत्यक्ष अवैयक्तिक सम्बन्धों का प्रबन्ध करने में चतुरता दिखानी पड़ती है। यहाँ अपनी पुरानी प्राप्त को व्यक्ति भुला नहीं देता है। वह माध्यमिक समूहों में जिनमें सम्बन्धों की विचार

सख्या होती है, सम्बध अप्रत्यक्ष तथा दूरी के होते हैं और जहा महयोग या सहानुभूति अस्थायी और अनुबधो पर निभर रहते हैं छोटे छोटे गुट या प्राथमिक समूह बना लेता है। अतएव इन अत्यधिक सगठित औपचारिक, सामाजिक रचनाओं म घनिष्ठता और प्रत्यक्ष सम्बधो पर आधारित छोटे छोटे समूह या गुट बन जाते हैं। यह प्रवृत्ति सभी औपचारिक सामाजिक सगठनो म विद्यमान है।

प्राथमिक समूहो की तीन अन्य विशेषताएँ हैं —

(१) प्राथमिक समूहो के हितो की पूर्ति से सभी सदस्यो का सामजस्य रहना है। इस दायित्व स कोई मुक्त नही होना चाहता और उन सामान्य हितो की प्राप्ति के लिए भरसक प्रयत्न करना हर एक अपना कर्त्तव्य समझता है।

(२) प्राथमिक समूहो के सदस्यो के मतैक्य ऐच्छिक होता है और किसी प्रकार का मतभेद होने पर सहानुभूतिपूर्वक बातचीत से उस मिटा देत हैं। इन समूहो म प्रयोजन हित-साधन और क्रिया सम्बन्धी फसल हमेशा अनौपचारिक होते हैं। इन समूहो म स्वेच्छा होती है।

(३) इन समूहो के सदस्यो म सामूहिक सुरक्षा की भावना बडी प्रबल रहती है। हर एक सदस्य के हितो और अधिकारो की सुरक्षा समूह की प्राथमिक जिम्मेदारी है। आपत्ति के समय उसे समूह से हर प्रकार की सहायता, सहयोग और सहानुभूति मिलती है। उसके साहसिक कार्यों म समूह उसका साथ देता है और अनुत्तरदायित्व पूर्ण कामो मे उसका साथ छोड देता है या निरुत्साहित करता है। अर्थात् प्राथमिक समूह के सदस्य को निश्चित और स्पष्ट रूप से मालूम है कि वह अपने समूह से क्या अपेक्षा' कर सकता है। इस प्रकार वह अपने व्यक्तित्व मे एक सुरक्षा व्यवस्था का समावेश कर लेता है और उसी के आधार पर अपने जीवन के ध्येय तथा योजनाओं को निर्धारित करता है।

प्रतीत होने वाले प्राथमिक समूह

कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनमे प्राथमिक समूह के अधिकाश लक्षण मिलते हैं किन्तु व वास्तविकता म प्राथमिक नही है। उनमे कुछ लक्षण द्वैतीयक समूहों के भी पाये जाते हैं। इनम स अनेक समूह प्राथमिक समूहो के कई कार्य करते हैं। परन्तु इनका विकास स्वत और अचेतन रूप स नहीं होता है। व सगठित आमने सामने के घनिष्ठ समूह होते हैं। वे कुछ अशो तक अपने सगठन और विशेष उद्देश्य (प्रयोजन) स सीमित होते हैं। इन्ही कारणो स वे द्वैतीयक समूहो के कुछ लक्षणो और कार्यों से समानता रखते है। कूले न इन समूहो को प्राथमिक-समूह-वत् (Quasi Primary Groups) कहा था—स्काउटो के ट्रूप, बालक अथवा विश्वविद्यालय म सगठित भ्रातृदल (fraternities) छोटी छोटी विचार गोष्ठियाँ (Study circles), इत्यादि। स्मरण रहे प्राथमिक समूहो का न तो चेतन सगठन होता है और न उनका कोई विशिष्ट प्रयोजन।

द्वैतीयक समूह

विकसित समाजों और जटिल संस्कृतियों में द्वैतीयक समूहों की संख्या अधिक होती है। इनके सदस्यों में अप्रत्यक्ष और न्यून सम्पर्क होता है। इनमें आधारभूत सामाजिक अनुक्रियाएँ कम गहन और कम घनिष्ठ होती हैं। साधारणतया इनमें सामान्य हितों का क्षेत्र भी संकुचित होता है। माध्यमिक समूहों के सदस्यों में सम्पर्क या तो तीसरे व्यक्तियों अथवा यन्त्रात्मक संचार द्वारा रखा जाता है। भारत की अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी या इंगलैण्ड की लेबर पार्टी, धर्मयुग के पढ़ने वाले, रेडियो पर लता मंगेशकर या पंकज मलिक को सुनने वाले या भारत के किसी राज्य के निवासी आदि द्वैतीयक समूहों के उदाहरण हैं। द्वैतीयक समूहों के अन्य उदाहरण आर्थिक, राजनैतिक, अथवा सांस्कृतिक महासंघ, राष्ट्र, औद्योगिक निगम, समुदाय, जनतायें, भीड़ें, श्रोतागण अथवा सामाजिक वर्ग हैं।

सभी बड़े और जटिल संस्कृति वाले समाजों में एक वयस्क के सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा भाग अप्राथमिक या द्वैतीयक समूहों में बीतता है। प्राथमिक समूहों की सीमा में व्यक्ति का बचपन बीतता है, अनुक्रियाएँ एवं प्रविधियाँ व्यक्ति को वयस्क जीवन बिताने में बहुत अपर्याप्त मालूम पड़ती हैं। वयस्क जीवन के लिए उसे द्वैतीयक समूहों से समायोजन करना सीखना ही पड़ता है। यहाँ अप्रत्यक्ष सम्पर्कों तथा निर्मम क्रूर संसार के अव्यक्तिक सम्बन्धों से समायोजन करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। द्वैतीयक समूहों में न तो उसे कोई जानता ही है और न जानने पर कोई उसकी परवाह ही करता है। ऐसी परिस्थिति में ममतापूर्ण अनुक्रियाएँ, प्रशंसाएँ, सहानुभूतिपूर्ण समझ, छोटी-छोटी गलतियों की उपेक्षा करने की तत्परता जिनको व्यक्ति प्राथमिक समूहों—परिवार, खेल समूह, पड़ोस अथवा छोटे समुदाय—में सृजित करता है नहीं मिलतीं और परिणामस्वरूप व्यक्ति को गहरा धक्का लगता है। उसे द्वैतीयक समूहों का संसार एक ठण्डा पत्थर सा संसार लगता है। कभी-कभी इस धक्के से उबरना व्यक्ति के लिए बहुत कठिन हो जाता है। यह हजारों व्यक्तियों के साथ आधुनिक समाजों में घटता है। इसका परिणाम है हजारों व्यक्तियों के विघटित व्यक्तित्व। अधिक सरल, अविकसित और छोटे समाजों में व्यक्ति के सामने ऐसा गहरा धक्का लगने की स्थितियाँ प्राय नहीं के बराबर आती हैं। वास्तव में समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए द्वैतीयक समूहों से विकसित समाजों में व्यक्ति का सामाजिक स्थिति से समायोजन बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है।

द्वैतीयक समूहों की परिभाषा—साधारणतया वे समूह जो प्राथमिक नहीं हैं द्वैतीयक कहलायेंगे। इनमें आमने-सामने के सम्बन्ध और घनिष्ठता नहीं होती। इनके सदस्यों में भौतिक निकटता या शारीरिक समीपता की कोई आवश्यकता नहीं है। अप्रत्यक्ष सम्पर्क भी इनकी एक विशेषता है। ये लघु न होकर विशाल होते हैं और इनके सम्बन्ध अस्थायी और अनिरन्तर होते हैं। इनमें सम्बन्ध अव्यक्तिक

(Impersonal) होते हैं और वे किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के साधनमात्र हैं। उद्देश्य सम्पूर्ण न होकर किसी विशिष्ट भाग से सम्बन्धित होते हैं।

पर द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के कुछ गुण न्यूनाधिक मात्रा में पाए जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार के समूहों में मुख्य अन्तर सम्बन्ध की प्रकृति और रूप का है। द्वितीयक समूहों में सम्बन्ध अवैयक्तिक और औपचारिक होते हैं। इनमें व्यक्ति का महत्त्व उसके कार्यों पर निर्भर रहता है। सदस्यों में परस्पर आत्मीयता या ममत्व तो होता ही नहीं। वे सब किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में अभिव्यक्ति या निहित अनुबन्धों से बंधे रहकर कार्य करते रहते हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है "द्वितीयक समूह उन्हें कहते हैं जिनमें प्राप्त अनुभवों में घनिष्ठता का अभाव होता है। आकस्मिक सम्पर्क ही द्वितीयक समूह के अनुभव का सारतत्त्व है।"[1]

द्वितीयक समूहों की मुख्य विशेषताएँ

(१) इसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को अपनी प्रस्थिति में जो समूह द्वारा निश्चित की जाती हैं विलीन कर देता है। प्रिंसिपल विद्यार्थियों से सदैव, प्रिंसिपल की हैसियत से व्यवहार करता है। दोनों के सम्बन्ध घनिष्ठता से परे और औपचारिक होते हैं। इस समूह में व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से नहीं वरन् उसके कार्यों से सम्बन्ध रहता है। अतः उनके सम्बन्ध केवल आंशिक होते हैं। सदस्यों का एक दूसरे के प्रति सीमित दायित्व होता है।

(२) द्वितीयक समूह में व्यक्ति सक्रिय और निष्क्रिय दोनों ही प्रकार का सदस्य रहता है किन्तु अधिकतर वह निष्क्रिय ही रहता है। श्रमिक संगठन का साधारण सदस्य या एक राष्ट्र का साधारण नागरिक अधिकांश समय निष्क्रिय रहता है। समूहों का बड़ा आकार, विशाल सदस्यता, दूरस्थ सदस्यों के बीच अप्रत्यक्ष और आकस्मिक सम्पर्क के कारण ऐसा होता है।

(३) द्वितीयक समूहों के सदस्यों में प्रत्यक्ष सहयोग नहीं हो पाता। एक सदस्य दूसरों के लिए कार्य करता है न कि उनके साथ। वे सब एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रस्थितियों में विभिन्न कार्य करते हैं। तो उनके अधिकार और कर्तव्य भी विभिन्न होते हैं जो अनुबन्ध के अनुसार होते हैं। इससे स्पष्ट है कि द्वितीयक समूहों के सदस्यों में स्वच्छन्दतापूर्ण सहज सम्बन्ध नहीं होता वरन् जानबूझ कर किसी स्वार्थवश स्थापित अवैयक्तिक सम्बन्ध होता है। प्रेम और आत्मीयता के अभाव में स्वार्थ पूर्ति होते ही व्यक्ति इस समूह से पृथक होने की इच्छा करता है।

(४) द्वितीयक समूह के सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य अनुबन्ध या प्रसंविदा पर आश्रित होते हैं। इसलिए उनके सम्पूर्ण व्यवहार औपचारिक होते हैं। वे निर्दिष्ट नियमों, विधानों या शर्तों से नियन्त्रित होते हैं। यह नियन्त्रण अवैयक्तिक और

1 Ogburn & Nimkoff, *op cit* p 1,९

कठोर होता है। हर सदस्य को निश्चित कार्य करने पर ही निर्दिष्ट फल प्राप्त होता है।

द्वतीयक समूहों का संगठन विशेषोद्देश्यों की पूर्ति के लिये होता है जो पर्याप्त दीर्घकालिक होते हैं। अतएव इन समूहों का विधिवत् संगठन बन जाता है जिसकी सफलता के लिये परम्परायें, मर्यादायें, विशेष अधिकारी और विशिष्ट संस्कार तथा संस्थायें विकसित हो जाते हैं। अनेक लेखक इन समूहों को 'संस्थागत समूह' कहते हैं।

द्वैतीयक समूहों तथा महासंघों से भरपूर समाज में सामाजिक सम्बन्धों में विजातीयत्व का अत्यधिक बढ़ जाना स्वाभाविक है। लोगों के हितों, स्वार्थों, उद्देश्यों तथा समर्थों सभी में इतना अधिक विभिन्नता होती है कि किन्हीं भी दो समूहों के संगठन और क्रियाओं में समरूपता नहीं मिलती। सामाजिक सम्बन्धों में भारी अनेकरूपता के कारण प्रथाओं, जनरीतियों, रूढ़ियों अथवा संस्थाओं में भी भारी अस्थिरता आ जाती है क्योंकि किसी भी विशिष्ट प्रथा एवं संस्था से मनुष्यों का लगाव तभी तक रह पाता है जब तक वे उपयोगी और यथार्थ लाभ प्रदान कर सकें।

प्राथमिक और द्वैतीयक समूहों के भेद

प्राथमिक समूह	द्वतीयक समूह
१ प्राथमिक समूह सामाजिक जीवन का आधार है। सरल तथा छोटे समाजों में इनकी प्रधानता होती है।	१ द्वैतीयक समूहों का उदय और विकास जटिल और बड़े समाजों में होता है। इन समाजों में द्वैतीयक समूह प्राथमिक समूहों को दबा लेते हैं।
२ प्राथमिक समूह में सदस्यों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। ये सभी प्रायः एक ही स्थान पर साथ-साथ रहते और काम करते हैं।	२ द्वैतीयक समूहों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इनके रहने और काम करने के स्थानों में निकटता नहीं होती। विस्तृत क्षेत्रों में ये समूह फैले होते हैं।
३ इन समूहों के सदस्यों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध और सहकारिता रहती है। इसमें सद्भावना, प्रेम और घनिष्ठता होती है।	३ इनके सदस्यों में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध और परोक्ष सहकारिता रहती है। साधारणतया इनमें घनिष्ठता और प्रेम की अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिलता।
४ इनमें व्यक्तियों में वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध वैयक्तिक गुणों से अधिकाधिक प्रभावित होते हैं। चूँकि व्यक्तियों का सहवास बहुधा आमने सामने का होता है इसलिये उनमें घनि	४ द्वतीयक समूहों के सदस्यों में सम्बन्ध अवैयक्तिक (Impersonal) होते हैं। इनमें सदस्यों के व्यक्तिगत गुणों का स्थान नगण्य होता है। ये तो किसी विशिष्ट उद्देश्य-पूर्ति के लिए

ष्टता और गहरी सहानुभूति होती है। वैयक्तिक गुणों म श्रेष्ठ व्यक्ति को समूह की श्रद्धा मिलती है।

एजेन्सी मात्र होते हैं। इसलिये जहाँ तक व्यक्ति समिति के हितों की पूर्ति के लिय काय कर रहा है उसके व्यक्तिगत गुणों स कोई वास्ता नही रखा जाता।

५ इन समूहो के सदस्यों के सबध अनौपचारिक तथा सहज (स्वत विकसित) होते ह। इनम विविध सदस्यो के सहज कत्तव्य और काय नियमो तथा विधिवत तरीकों से निर्धारित नहीं होते। प्रथा तथा सामान्य ममझदारी के ही सम्बन्ध निर्दिष्ट होते रहते हैं।

५ द्वैतीयक समूहो के सदस्यों म औपचारिक और अनुबन्धीय (contractual) सम्बन्ध होते हैं। बडे सगठनों म व्यक्ति के कत्तव्य और काय निश्चित होते हैं। साथ ही इन समूहो के जीवन म स्वय प्रेरित समायोजन की बहुत कम गुजाइश होती है। यहा तो हर प्रकार का समायोजन विधिवत् और नियमानुकूल होता है।

६ प्राथमिक समूहो के सदस्यो के काय तथा व्यवहार का नियन्त्रण अनौपचारिक विधियो प्रथाओ परम्पराओ सुझाव तथा परामश से होता है। यहा नियन्त्रण कठोर रहता है तथा सदस्य को मनमानी स्वच्छन्दता का अवसर नहीं मिल पाता। साथ ही, यह नियन्त्रण उनके जीवन के सभी क्षेत्रो म बहुत व्यापक रहता है। नियन्त्रण सत्ता परम्परागत होती है।

६ इन समूहो म नियन्त्रण औपचारिक होता है। नियन्त्रण के साधन विधिवत नियम कानून आदि होते हैं। कड़ा नियन्त्रण रखने पर भी सदस्य इसके प्रभाव स बचते रहते हैं। यह नियन्त्रण उनके निजी जीवन पर लागू नहीं हो पाता इसलिए यहा सदस्य को सामाजिक जीवन से पृथक और स्वतन्त्र रहने का अधिक अवसर मिल जाता है। नियन्त्रण करने वाली सत्ता कानून तथा इकरार पर आधारित होती है।

७ सदस्यो के व्यक्तित्व पर प्राथमिक समूहो का, व्यापक प्रत्यक्ष तथा सर्वांगीण प्रभाव पडता है।

७ व्यक्तित्व पर आकस्मिक, अपूर्ण और अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता है।

८ प्राथमिक समूह के जीवन स समायोजन करने म व्यक्ति को विशेष कठिनाइयो का सामना नहीं करना पड़ता।

८ द्वैतीयक समूहो के जीवन से समायोजन करने के लिये व्यक्ति को विशेष कठिनाइयो का सामना करना पडता है वह बहुत बार असफल भी होता है।

प्राथमिक और द्वैतीयक समूह—दो विपरीत आदश

ऊपर हमने जिन दो समूहो का वणन किया है जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और विपरीत हैं। वास्तविक ससार म इन आदश स्वरूप समूहो का मिलना कठिन

होता है। अधिकांश समूह एस होते हैं जो इन नाना विपरीत आदर्शों के बीच में होते हैं। इसलिए, प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में कठोर परिसीमन नहीं किया जा सकता। बहुत बार न्यूनाधिक रूप में द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के कुछ गुण मिल जाते हैं।

महासमितियाँ या विशद संघ

आइए अब हम आधुनिक समाज में विशेष महत्त्व वाले एक प्रकार के सामाजिक समूहों का अध्ययन करें। आदिम समाजों, सीमावर्ती निवासों या गावों में जीवन प्रधानतया सरल होता है। यहाँ प्रभावशाली संचार का क्षेत्र छोटा होता है। इसलिये आमने-सामने के समूह ही जीवन के अधिकाधिक प्रयोजनों की पूर्ति करते रहते हैं। किन्तु जब समाज बढ़ता है और उसमें जटिलता आ जाती है तो एक दूसरे प्रकार के समूहों का निर्माण होता है। विशाल संगठन अवैयक्तिक और द्वितीयक सम्बन्ध तथा विशेषीकृत कृत्य इनकी विशेषता होती है। हितों में विभेदीकरण होता है और दक्ष लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। हितों के प्रसार और नये क्षेत्र के कारण एक जटिल संगठन का निर्माण होता है। यह संगठन न तो स्थानिक होता है और न स्थानीय समूह द्वारा नियन्त्रित होता है। सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है और वे विभिन्न स्थानों में फैले होते हैं। उनके बारबार ऐसे होते हैं जो आमने-सामने रहकर नहीं किये जा सकते। चूँकि सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है वे एक साथ रहकर कार्य भी नहीं कर सकते हैं और न जटिल प्रविधियों को ही समझते हैं इसलिये उनकी ओर से एक कर्मचारी वर्ग सारा कारबार करता है। उपरोक्त लक्षणों वाली महासमितियाँ आधुनिक राज्य, आर्थिक कारपोरेशन, अन्तर्राष्ट्रीय संघ, धार्मिक संगठन, राष्ट्रीय राजनैतिक दल और श्रमसंघ आदि हैं।

विशद संघ बहुकोष्टक संगठन होते हैं। उनमें अनेक विभाग होते हैं। उनमें भी अनौपचारिक प्राथमिक समूह बन जाते हैं। विभिन्न या औपचारिक रचनाओं में दूसरे आमने-सामने के समूह जैसे सचालक विभाग, समितियाँ आदि बन जाते हैं किन्तु उनके स्वभाव और कार्य में अन्तर होता है। इनके सदस्य सदस्य अभिकर्त्ता, प्रतिनिधि, अधिकारी या अन्य की भूमिकाओं में होते हैं। सदस्यों का कार्य अधिकाधिक निष्क्रिय हो जाता है। इतने विशाल और जटिल संगठन के सदस्य होने के कारण वे उसमें कम सम्मिलित हो पाते हैं। इस प्रकार बड़े राज्य, कारबारी कारपोरेशन, धार्मिक संगठन, राजनैतिक दल या श्रम-संघ में सदस्यों की भारी संख्या नाम मात्र की रहती है। न तो वे क्रियाशील हो ही पाते हैं और न उनके कार्य या विचार संगठन के उद्देश्यों और नीतियों को अधिक प्रभावित कर पाते हैं।

बड़े संगठनों के विशेष लक्षण औपचारिकता और यान्त्रिक नियमन हैं। श्रम विभाजन और शक्ति का केन्द्रीयकरण दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। साधारण

सदस्य की भूमिका दोनो सक्रिय और निष्क्रिय होती है। साथ ही, वह कई सगठनो का सदस्य एक साथ ही होता है। समिति के बढने से साधारण सदस्य की भूमिका की निष्क्रियता म वद्धि होती है और एक स्थिति एसी आती है जब वह यह सोचने लगता है कि समिति का व्यापक यत्र उससे पूणतया पृथक है जिसके नियन्त्रण से वह परे है। इस प्रकार की भावना राज्य के नागरिको तथा आर्थिक कारपोरेशन के साधारण सदस्यो म पाइ जाती ह। शेष महा समितियो के सदस्यो म भी इसी प्रकार की भावना विद्यमान रहती है। कारण उन्ह कभी वार्षिक चन्दा द देने, या चुनाव म अपना मत देन अथवा कभी कभी साधारण सभाओ म सम्मिलित हो लेने के अतिरिक्त उन समितियो की नीतियो और कार्यों म कोई भी प्रभावपूर्ण दखल नही रहता है।

कुछ समाजशास्त्रियो का कथन है कि जटिल समाज की वद्धि से प्राथमिक समूहो के स्वभाव और उनकी ऐक्य शक्ति म ह्रास आ गया है। प्राथमिक समूह सामुदायिक सम्बन्धो की अभिव्यक्ति हैं जिनम सामूहिक सम्मिलन का अथ सन्निहित है। जटिल समाजो म इन सम्बन्धो का अधिक छिछला और द्वैतीयक सम्बन्धो न दबा रखा है। इस प्रकार के विचार जमन समाजशास्त्री टानीज स्पेंग्लर और लेविस ममफोड न प्रस्तुत किये हैं। हाँ यह सत्य है कि अधिक विकसित सभ्यताओ के प्रमुख लक्षण कम घनिष्ठ और कम वयक्तिक सम्बन्धो म वद्धि और उनकी कुत्यात्मक प्रबलता है। किन्तु यह निश्चय नही है कि प्राथमिक समूहो वाल समाज का सामुदायिक जीवन द्वतीयक समूहो या महासमितियो वाले समाज की अपेक्षा कम है अथवा पतित हो जाता है। सम्भवत उसकी अभिव्यक्ति दूसर तरीको से होती है और विशद एकताओ (unities) जसे राष्ट या विशाल क्षत्र से सलग्न रहता है।[1] उपरोक्त विवेचना स यह सकेत तो मिलता ही है कि प्राथमिक समूह और महासमितियो म कुछ स्पष्ट भेद है।

विशाल सामाजिक समूहो या महासमितियो के अन्दर भी प्राथमिक समूह बन जात हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्राथमिक समूह सामाजिक जीवन की नीव हैं और इन्ही समूहो म व्यक्ति स्वतन्त्रता स अपनी इच्छाओ, आशाओ और प्रवृत्तियो को अभिव्यक्त कर सकता है। यहाँ के स्वाभाविक वातावरण म वह अपन सच्चे रूप म प्रकट होता है। इन्ही म उसक व्यक्तित्व का अबाध विकास होता है। माध्यमिक समूहो या महासमितियो के सगठन म अवयक्तिकता और औपचारिकता स व्यक्ति ऊब जाता है। वह दूसरे व्यक्तियो स घुल मिल कर बात करने, रहने या काय करन का अवसर ढूँढता है। इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि आधुनिक जटिल सभ्यताओ म असगित अनौपचारिक गोष्ठियो तथा गुटो की वद्धि हुई है।

---

1 MacIver and Page op cit p 231

सामूहिक जीवन की साधारण विशेषताएँ

मूलभूत रूप से एक सामाजिक समूह का निर्माण मानसिक दशाओं पर आश्रित है। समूह में और उनके द्वारा जो क्रियायें होती हैं उनकी यथार्थता व्यक्तिगत सदस्यों की उन प्रतिक्रियाओं पर आश्रित है जो दूसरे सदस्यों की उपस्थिति में ही उत्पन्न होती हैं। समूह के अस्तित्व का ज्ञान हम सदस्यों के परस्पर और बाहरी लोगों के साथ किए गए व्यवहार को देखकर होता है। जनिकी ने उचित ही लिखा है कि समूह केवल व्यक्तियों का सहवास नहीं है वह तो व्यक्तियों की भूमिकाओं का समन्वय है। समूह का एक प्रयोग सिद्ध तथ्य मूलतः वही व्यक्ति अनुभव करते हैं जो उसके सदस्य हैं अथवा जो बाहरी लोगों की हैसियत से उसके साथ व्यवहार करते हैं।[1] मनुष्यों के उनके अनमेल मूल्यांकन और क्रियाशील होने के सामूहिक अनुक्रियाओं के संग्रह को समूह तब कहेंगे जब व्यक्तियों के और आधारभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं का बीच अन्तःसम्बन्ध स्थापित हो जाए। मनोविज्ञ इन मानसिक भावना और गिडिंग्ज सजातीय syngenism का भाग मानता है। कूले इन्हें हम भावना और साथ करने पर चेतना कहते हैं।

(१) साधारण सामाजिक प्रत्युत्तर—समूह में रहने और काय करने पर व्यक्ति को यह अनुभव होने लगता है कि वह किसी बड़ी चीज का अंग है। समूह उसे एक ऐसा सम्पूर्ण लगता है जो उसकी (व्यक्ति की) इच्छाओं से स्वतन्त्र रह कर काय करता है। उसे धीरे धीरे यह भी प्रतीत होने लगता है कि समूह की क्रियाएँ उस पर दबाव डालने में समर्थ हैं। और कभी-कभी यह दबाव सचमुच पड़ता भी है। समूह उसे पूर्ण स्वच्छन्द नहीं रहने देता। उसकी इच्छाओं क्रियाओं तथा महत्वाकांक्षाओं सभी पर न्यूनाधिक प्रतिबन्ध रखता है।

जब व्यक्ति के निजी जीवन में समूह कोई अवरोध डालता है या उसकी इच्छाओं या भावनाओं को कुचल देता है उस समय तो व्यक्ति समूह को क्रूर जगत या दम्भ जमाता वह कर उसकी भर्त्सना करता है। यदि व्यक्ति का आचरण समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार के विरुद्ध है तो उसे अपराधी या पागल कह कर समूह में शामिल नहीं होने दिया जाता। जहाँ उसके स्वार्थों की पूर्ति में दूसरों का सहयोग लेना अनिवार्य होता है वहाँ वह अपने को समूह से अभिन्न समझता है। व्यक्तियों की अपने समूह के साथ अभिन्नता के विविध प्रकार होते हैं किन्तु सभी समूहों में इस अभिन्नता की न्यूनतम मात्रा अनिवार्यतः पाई जाती है। एक समूह के सदस्यों में एक ही विचारों मूल्यों और क्रियाओं को समग्रीत मानसिक भावना होती है। वे एक ही विचारों पर का सा वातावरण पाता है। वहाँ उस करते हैं। अपने समूह में रहने पर ...

---

1 Znaniecki Florian Social Groups as Product of Participating Individuals Quoted by Gillin and Gillin in *Cultural Sociology* p 203

प्रोत्साहन मिलता है और उसकी भावनाओं को दूसरे लोग भी ग्रहण करते हैं। एक समूह के व्यक्तियों को अपने जीवन, विचारों, सम्पर्क और संस्कृति की सीमाएँ मालूम होती हैं। कौन अपना है और कौन पराया तथा किस प्रथा या विचार को अपनाना चाहिए किसको नहीं—इस बारे में समूह के सदस्यों में स्पष्ट या धुंधली चेतना रहती है। यही चेतना उनके व्यवहार को नियमित करती है। समूह की स्थिति से व्यक्तियों में परस्पर आदान प्रदान उत्पन्न होता है। वे एक दूसरे से बात करते हैं, मिलते हैं और कार्य करते हैं। इससे उनमें पारस्परिकता पैदा होती है।

सामाजिक अनुक्रियाओं में विविधता के दो कारण होते हैं —(अ) सम्बन्धित समूह का प्रकार और (आ) संस्कृति रचना।

(२) **समूह की 'सम्पत्ति'**—नए समूह के सदस्यों के सामान्य हितों या ध्यान के एक केन्द्र को समूह की सम्पत्ति कहा जाता है। इस सम्पत्ति का उपयोगितावादी मूल्य होता है। यह समूह की एकता का प्रतीक भी है। एक सामान्य भूखण्ड, इमारत, सरकार, झण्डा, प्रतीक, बिल्ला या ध्येय या नारा समूह की सम्पत्ति हो सकता है। दुरखीम इनको सामूहिक प्रतिनिधान कहते हैं।

(३) **व्यक्ति और समूह**—यद्यपि समूह समाजों की रचनात्मक इकाई होते हैं फिर भी उनका निर्माण व्यक्तियों से होता है। कूले ने कहा था कि अकेला पृथक व्यक्ति सिर्फ एक भावात्मक धारणा है। अनुभव से तो हम व्यक्ति और समाज दोनों को साथ-साथ पाते हैं। वास्तविकता तो मानव जीवन है, व्यक्ति और समाज उसके दो पहलू—वैयक्तिक या सामाजिक—हैं। जिसे हम सामूहिक जीवन कहते हैं वह व्यक्तियों के पृथक जीवनों का प्रतिनिधान रूप है। दूसरे व्यक्ति किसी समूह में ही रह कर समाज में स्थान पाता है और वहीं उसकी विविध भूमिकाएँ निश्चित होती हैं।

व्यक्ति कई समूहों का एक साथ ही सदस्य होता है। आधुनिक समाजों में कई बार व्यक्ति को समूहों के प्रति अपनी भक्ति में संघर्ष मिलता है क्योंकि एक ही साथ वह अन्तः समूहों और बाह्य समूहों का सदस्य होता है। परन्तु ध्यान रहे, किसी भी व्यक्ति का समाज के सभी समूहों का सदस्य बन जाना असम्भव है। वह कुछ समूहों का क्रियाशील, कुछ का नाम-मात्र को सदस्य बनता है और शेष समूहों से अजनबी बना रहता है। वह एक दिन में ही भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न समूहों की गतिविधि में सम्मिलित होता है।

प्रत्येक व्यक्ति समूह में जो वास्तविक कार्य करता है और जिसकी उससे अपेक्षा होती है इन दोनों में बहुधा भेद होता है। इसलिए हम व्यक्तियों की वास्तविक भूमिका और अपेक्षित भूमिका में अन्तर समझना चाहिए।

समूह के सदस्यों में जो सामाजिक प्रक्रियाएँ होती हैं उनका प्रभाव सदस्यों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। प्राथमिक छोटे समूहों में इन प्रक्रियाओं का प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है। परन्तु माध्यमिक समूहों में यही प्रभाव विस्तृत, छिछला तथा आंशिक पड़ता है। मनुष्य के लिए उसके प्राथमिक और माध्यमिक समूह उसकी सामाजिक शक्तियों के निकटस्थ और विस्तृत क्षेत्र (fields) कहे जा सकते हैं।

(४) जाति-केन्द्रीयता—जाति-केन्द्रीयता समूह की सार्वभौमिक विशेषता है। इस प्रकार की भावना का आधार व्यक्ति द्वारा अपने समूहों को दूसरों से महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय समझने में है। जाति-केन्द्रीयता निज समूह की एकता और दूसरे समूहों के प्रति उसकी विरोध भावना की अभिव्यक्ति है। हम पहले पढ़ चुके हैं कि हर व्यक्ति अपने समूह को दूसरों से श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण, अधिक सम्पन्न, सभ्य और समाज के लिए केन्द्रीय समझता है। लेकिन सीखा हुआ व्यवहार बदला भी जा सकता है। नए प्रबल पुराने प्रवृत्तियों को उखाड़ सकते हैं। इसकी वजह से लोग अपने समूह की जाति-केन्द्रीयता का त्याग कर दूसरे समूह को अपना सकते हैं। हम इस विषय पर संस्कृति के परिच्छेद में काफी लिख चुके हैं।

(५) आत्मा का जन्म और विकास समूह में होता है—जिन समूहों में विशेष कर प्राथमिक समूह व्यक्ति रहता है वे अनुभव की एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं जिसके प्रति व्यक्ति प्रत्युत्तर देता है। समूह स्थिति में उसको वे बार-बार उपस्थित होते हैं और उनके प्रति भावनात्मक प्रत्युत्तर से ऐसी आदतें और मनोवृत्तियाँ बन जाती हैं जिनको बदलने में कठिनाई होती है। हमारी प्रथाएँ, भोजन की आदतें, भावात्मक प्रत्युत्तर, मनोवृत्तियाँ और हर प्रकार की सीखी हुई प्रतिक्रियाएँ समूह द्वारा प्रस्तुत पृष्ठभूमि में रह जाती हैं। समूह के मूल्यों और दृष्टिकोणों की उन पर गहरी छाप होती है।

समूह के सदस्यों में हम भावना रहती है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ को दबाता है। वह अपने को अपने से बड़े और ऊँचे स्तर का सदस्य मानता है। उसकी सहानुभूति समूह के दूसरे सदस्यों तक फैली रहती है। समूह के सम्मिलित जीवन और उद्देश्यों में भी वे आत्मसात रहते हैं। वास्तव में हम-भावना व्यापक सहानुभूति की द्योतक है। दूसरे हर समूह की कुछ निजी विशेषताएँ और लक्षण होते हैं। इसकी छाप उसके सदस्यों पर पड़ती है। यह जरूरी नहीं कि यह छाप सभी पर एक-सी पड़े। समूह की व्यक्ति पर छाप का दावा ही हम करते हैं कि यह बंगाली है, पश्चिमी देश से आया है अथवा विश्वविद्यालय का विद्यार्थी है। छोटे से छोटे और स्थायी समूह की छाप उसके सदस्यों पर पड़ती है। दूसरे समूह की कुछ सामान्य विशेषताएँ और आदर्श होते हैं। पार्क और बर्गेस तथा सरिर समूह के लिए सामान्य ध्येय अनिवार्य लक्षण मानते हैं। बोद हर समूह

अपने सदस्यों से एक विशिष्ट प्रकार के आचरण की अपेक्षा करता है। इस अपेक्षा को पूरा करने के लिए वह अपने सदस्यों पर नियन्त्रण करता है। नियन्त्रण दबाव अथवा प्रलोभन पुरस्कार अथवा दण्ड द्वारा किया जाता है। अन्तिम समूह के सामान्य उद्देश्य तथा व्यापक सहानुभूति उसके सदस्यों में सहकारिता की भावना को जन्म देते है। वे एक दूसरे पर आश्रित रहकर विशिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

जातिकेन्द्रीयता

प्रत्येक समूह समुदाय अथवा समाज के सदस्यों में यह विश्वास करने की प्रवृत्ति होती है कि उसकी संस्कृति रहने-सहने सोचने विचारने और काम करने के ढंग (या अभ्यास) सबसे अच्छे हैं। "जातिकेन्द्रीयता (ethnocentrism) एक ऐसी भावना रमक मनोवृत्ति है जिससे लोग अपने समूह प्रजाति अथवा समाज को दूसरी सांस्कृतिक या प्रजातिक इकाइयों (समूहों या समाजों) से श्रेष्ठ समझते हैं और जिससे उनमें बाहरी लोगों तथा उनके ढंगों के लिए कुछ घृणा सी होती है।" संक्षेप में लोग अपने अन्तःसमूह की संस्कृति तथा अन्य सभी विशेषताओं को सर्वश्रेष्ठ मान बैठते हैं। जातिकेन्द्रीयता एक समाज के सदस्यों में प्रचलित उस प्रवृत्ति को कह सकते हैं जिससे वे दूसरे समाजों और उनकी संस्कृतियों का निर्णय अपनी संस्कृति में प्रचलित मानकों के अनुसार करते हैं।

भारत में युवक युवतियों को परस्पर स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने, घूमने मनोरंजनगृहों (सिनेमा आदि), होटलों में जाने की अनुमति समाज नहीं देता है। हम साधारणतया इस नियम को एक वांछित नियम स्वीकार करते हैं। अतएव जब हम यूरोप या अमरीका के युवक युवतियों को सार्वजनिक जीवन में अथवा निजी जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते जुलते देखते हैं तो उनकी इस 'आजादी' पर नाक भौंह सिकोड़ते हैं। कभी कभी तो हम उनके निर्बाध संसर्गों को दुश्चारिता की काली कूँची से पोत कर प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार, पाश्चात्य देशों के लोगों को जब यह मालूम पड़ता है कि भारत में जनसंख्या का पाँचवाँ भाग 'अछूत' माना जाता है तो वे आश्चर्य चकित हो जाते हैं और भारत को 'प्रतिगामी' अथवा 'असभ्य' कहने में भी नहीं हिचकते। इसी प्रकार से भिन्न भिन्न समाजों के विभिन्न अभ्यासों का भिन्न भिन्न मूल्यांकन होता है। यहां पर यह स्मरणीय है कि यदि हम अपने समाज के विचारों तथा प्रथाओं का पालन करते हों तो हम में जातिकेन्द्रीयता है यह कहना गलत होगा। समाज के प्रचलित विचारों प्रथाओं आदि से अनुरूपता के उपयोगिता वादी और व्यावहारिक कारण हैं।

अपने समूह की संस्कृति से हमारा इतना घनिष्ठ लगाव और मोह रहता है कि दूसरी संस्कृति के किसी उपकरण की अधिक उपादेयता या सात्विक महत्व भी हमें

अपनी संस्कृति से विमुख नहीं कर पाता। हम चाहने पर भी कई बार अचेतन अथवा अर्धचेतन रूप से अपनी संस्कृति के हर पदार्थ तथा विचार को सर्वश्रेष्ठ मानने पर आदतन विवश हो जाते हैं। कारण, जाति-केन्द्रीयता की शिक्षा मनुष्य को जीवन-पर्यन्त दी जाती रहती है।

हर समाज के घरों, विद्यालयों वर्गों आर्थिक, राजनैतिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं में व्यक्ति को विधिवत् अथवा अनौपचारिक रूप से यह सिखाया जाता है कि वह अपने देश समाज और संस्कृति के प्रति वफादार रहे। अपने समाज और संस्कृति की महानता का पाठ व्यक्ति को निरन्तर अनेक युक्तियों से सिखाया जाता है। कई बार दूसरे समूहों के प्रति अजनबीपन व्यंग्य घृणा अथवा निरादर को खुलम-खुल्ला प्रचारित किया जाता है और कई बार यह सब धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से सिखाया जाता है। जाति-केन्द्रीयता की भावना को दृढ़ करने में अचेतन शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्व है। दूसरे समूहों के प्रति अपने पूर्व निर्णयों तथा अरुचियों को प्रत्येक समूह जनप्रिय गाथाओं, कहावतों मुहावरों आदि में समाविष्ट कर लेता है जिनको पारम्परिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित किया जाता है। हर समाज के पुराणों तथा लोक-साहित्य में दूसरे समाजों के प्रति पूर्व निर्णयों अथवा अरुचियों का भारी भण्डार समाया होता है।

जाति-केन्द्रीयता की शिक्षा देने वाली एजेंसियों में आधुनिक सिनेमा थियेटर, रेडियो और टेलिविजन का बड़ा महत्त्व है। बहुधा फिल्मों नाटकों अथवा प्रसारों में दूसरे समूहों के प्रति अपनी अरुचियों अथवा पूर्व निर्णयों को प्रकट करने की कोई योजना अथवा इरादे नहीं होते फिर भी उनका प्रभाव उतना ही व्यापक और स्थायी होता है जितना नियोजन करने पर होता है। जाति-केन्द्रीयता की विचारयुक्त और नियोजित शिक्षा विशेषीकृत संस्थाओं के जरिये सिद्धान्त प्रचार से दी जाती है। भारतीयता के नाम पर हिंदी का प्रचार, मानवमुक्ति की दुहाई देकर साम्यवाद अथवा 'जनतन्त्रवाद' का प्रचार इस प्रकार की शिक्षा के आधुनिक उदाहरण हैं। यद्यपि सभ्यता के विकास से यह कार्य अब बड़ी सूक्ष्मता और चालाकी से हो जाता है परन्तु इसमें कई बार संकुचितता और आक्रामकता का प्रबल हो जाना असम्भव नहीं है।

यह सत्य है कि जाति-केन्द्रीयता से सामूहिक संगठन की सुदृढ़ता एवं स्थिरता के प्रोत्साहन में बहुत अधिक सहायता मिलती है। आपात कालों (*crises*) में जाति-केन्द्रीयता से ही देश या राष्ट्र का मनोबल ऊँचा बनाये रखा जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण समूह की संस्कृति युगों-युगों तक सुरक्षित रहती है।[1] परन्तु इस सत्य से भी आँखें नहीं फेरी जा सकती कि विभिन्न समूहों समाजों अथवा देशों में अन्तर सांस्कृ-

1 R T Lapiere *Sociology*, p 23

तिक, धार्मिक और राजनतिक सघर्षों या विद्यमान द्वेष का कारण भी यही भावना है। जातिकेन्द्रीयता का कारण सस्कृति के स्रोत के विषय म हमारी अज्ञानता है। हम विभिन्न सस्कृतिया के विकास म उनके बीच आदान प्रदान का भूल जाते है और अपनी सस्कृति पर दूसर समाजा के ऋण को यूनतम मानने लगत है। इसस हम दूसर समाजा के गुणा की प्रशसा तो करते ही नही अपन गम्भीर दोषो को भी उदारता पूवक सहते रहत है। क्या इस प्रकार 'जातिकेन्द्रीयता' एक प्रतिगामी शक्ति नही कही जा सकती ? समाज के अध्ययन मे जातिकेन्द्रीयता के प्रभाव के कारण समाज शास्त्री को वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता बनाये रखने म कितनी कठिनता होती है।[1]

---

1 For detailed study of ethnocentrism refer to Cuber s *Sociology* (Chapter VII) and Odum s *Understanding of Society*

१८

समुदाय एवं राष्ट्र

समुदाय

प्रत्येक मनुष्य किसी गाँव, नगर अथवा राष्ट्र में रहता है। प्राचीनकाल से ही वह इनमें से किसी में रहता आया है। व्यक्ति का जन्म परिवार में होता है। इसलिए परिवार सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाई है। परन्तु बच्चा ज्यों ही चलने फिरने लगता है वह पड़ोस के अन्य बच्चों तथा वयस्कों से परिचित होने लगता है। इन लोगों के सम्पर्क में उसकी अनेक आवश्यकतायें पूरी होती हैं। धीरे-धीरे आयु में वृद्धि के साथ उसके सम्पर्क का क्षेत्र बढ़ता जाता है। बच्चा गाँव के अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है अथवा अपने कस्बे या नगर के मुहल्ले के ज्यादा लोगों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। उसे अनुभव होने लगता है कि उसके वासस्थान के समान अन्य लोगों से सम्पर्क बढ़ाना, सहयोग और प्रतिस्पर्धा करना अथवा इन लोगों के समान ही हितों, उद्देश्यों तथा दृष्टिकोणों का विकास करना उसके लिए आवश्यक है। संक्षेप में व्यक्ति को सामान्य प्रारूप (भूमिकाएँ) में वहाँ लोगों के साथ मिलकर सामान्य सामाजिक-मनोविज्ञान व्यवहार अपनाना पड़ता है। इस प्रक्रिया से व्यक्ति समुदाय में प्रवेश करता है और धीरे धीरे अपने को उसका अभिन्न सदस्य बना लेता है। साधारणतया व्यक्ति का अधिकांश जीवन यदि सम्पूर्ण नहीं तो भी समुदाय में बीतता है। अतएव (मनुष्यों के) सामाजिक जीवन के किसी भी पहलू का यथार्थ ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक समुदाय के संगठन तथा मनुष्य से उसके सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण न किया जाए।

मनुष्यों के एक ऐसे समूह को जो एक निश्चित क्षेत्र में रहते हों तथा जिनका एक सामान्य जीवन ढंग हो, समुदाय कहते हैं। एक समुदाय स्थानीय प्रादेशिक समूह है।

अधिकांश आदिम समाजों में समुदाय तथा समाज एक ही होते हैं व पृथक्-पृथक् नहीं होते। जनजातीय समुदाय ही आदिम समाज होता है। परन्तु अधिकांश

सम्यताओं में, समान वद पृथक समुदायों में निर्मित होना है जो न्यूनाधिक रूप से एक सामान्य सामाजिक जीवन में सम्मिलित होते हैं। इनमें से प्रत्येक समुदाय की भाषा, रीति रिवाज, शासन, वेष भूषा, संस्थायें तथा सामाजिक संहितायें आदि दूसरे समुदाय की इन बातों से इतना भिन्न एवं पृथक होती है कि वह प्रायः स्वतन्त्र सी दीखती हैं। भारत के गांव अथवा छोटे शहर के समुदाय यद्यपि अब भी सामाजिक संगठन का केंद्र बने हुये हैं परन्तु यहां के विशाल महानगर और अमरीका इंगलैण्ड के गांव अथवा छोटे शहर अब इस प्रकार के केंद्र नहीं रह गये हैं। आधुनिक विकसित सभ्यताओं में सामाजिक संगठन समुदाय के वृत्त से बाहर दूर होता जा रहा है।

उपरोक्त पंक्तियों से यह संकेत मिलता है कि समुदाय मनुष्य का सर्वाधिक सर्वाङ्गीण समूह है, जो किसी निश्चित भू खण्ड में बसता है और जिसमें व्यक्ति के लिये अपना सम्पूर्ण (या अधिकांश) जीवन बिताने की सम्भावना मौजूद है। यह आवश्यक नहीं कि समुदाय आत्मनिर्भर हो। हम पूर्व संकेत कर चुके हैं कि आधुनिक सभ्यता की उन्नति से समुदाय की इस विशेषता में घटती आ रही है। सभी समुदायों के दो आधार होते हैं (१) भूखण्ड जिसमें समुदाय के सदस्य निकट निकट बसे हों, और (२) इन सदस्यों में एक 'सामुदायिक भावना' का होना। सामुदायिक भावना से सभी सदस्यों में एकता की भावना आती है। वे समुदाय को अपना समझते हैं। उनका अन्य सदस्यों तथा भूमिखण्ड से अनुराग विकसित हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप उन सब में एक से हित, उद्देश्य और मनोवृत्तियाँ विकसित होते हैं।

समुदाय की परिभाषायें

बोगार्डस ने एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले सामाजिक समूह को जिसमें 'हम भावना' का कुछ अंश हो एक समुदाय कहा है। जब समुदाय के सभी सदस्य साथ साथ रहते, काम करते हैं और उनमें एक होने की भावना आ जाती है तो आत्मा की एकता का विकास हो सकता है।[1] ओसबान और न्यूमेयर ने लिखा है कि एक समुदाय एक निश्चित क्षेत्र तक ही सीमित रह सकता है अथवा उन सब लोगों तक इसका विस्तार हो सकता है, जो समान मूल्यों और मनोवृत्तियों के कारण एकता में बंधे हों। उन्होंने समुदाय की परिभाषा इस प्रकार की है 'एक समीप के भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के समूह को जिनके हितों और क्रियाओं के सामान्य केंद्र हैं और जो जीवन की मुख्य बातों में साथ-साथ मिल जुलकर कार्य करते हैं एक समुदाय कहा जाता है।'

1 Bogardus *Sociology* p 123

2 Community is a group of people living together in a contiguous geographical area having common centres of intrests and activities and functioning together in the chief concerns of life —Osborn and Neumeyer *The Community and Society* (1933) quoted by Bogardus p 123

किंग्सले डेविस ने भी समुदाय को एक विशिष्ट प्रकार का क्षेत्रीय समूह कहा है जिसकी सदस्यता एक निकटस्थ वासस्थान में सम्मिलित होने पर आश्रित है। वह समुदाय के दो लक्षण—भौतिक और सामाजिक—प्रधान मानते हैं। समुदाय में क्षेत्रीय समीपता और सामाजिक पूर्णता का होना आवश्यक है।[1]

पार्क और बर्गेस के अनुसार समुदाय 'संस्थाओं का एक पुंज' है। जब न्यूनाधिक स्थायी रूप किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में लोगों के समूह एकत्र होते हैं तो वहाँ इन संगठित सामाजिक प्रतिमानों (संस्थाओं) में पुंजीभवन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।[2]

लुई वथ ने भी समुदाय को एक ऐसा सामाजिक समूह कहा है जिसके सदस्यों में उस समूह तथा बड़े समाज से एक होने की चेतना (awareness) हो तथा जो एक निकट के भौगोलिक प्रदेश में बसा हो।

मकेंजी ने समुदाय को परिस्थितियों की उपज (ecological product) मानते हुए लिखा है कि यह प्रतिस्पर्धा और व्यवस्थापन की प्रक्रियाओं का परिणाम है। इन कारकों से मनुष्यों के समूहों तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों का समय और स्थान में विभाजन हो जाता है और इनसे ही समुदाय की उन्नति तथा परिवर्तन होते हैं। अर्थात् विभिन्न कालों और क्षेत्रों में सांस्कृतिक समूहों (समुदायों) की स्थापना परिस्थितियों की प्रक्रियाओं (ecological processes) से होती है।[3]

मकाइवर और पेज की परिभाषा इस प्रकार है: 'जब एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य इस तरह साथ-साथ रहते हों कि उनके एक या दो स्वार्थ एक से न हों वरन् वे सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं में सम्मिलित हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाएगा।'[4]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह संकेत स्पष्ट मिलता है कि समुदाय के अध्ययन में तीन दृष्टिकोणों पर बल दिया गया है: (१) कुछ विद्वान समुदाय का निर्माण परिस्थितियों की प्रक्रिया पर आश्रित मानते हैं। इस परिस्थितिशास्त्रीय दृष्टिकोण कहते हैं, (२) कुछ विद्वान समुदाय को सामाजिक संरचना का एक भाग (या पहलू) मानते हैं तथा (३) कुछ विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के समुदायों तथा उनके निवासियों पर विशेष ध्यान दिया है। परन्तु कोई भी दृष्टिकोण क्यों न रहा हो, एक वास्तविक समुदाय साधारणतया एक ऐसे समूह को माना जाता है जिसका एक

---

1 Davis *Human Society* pp 310-313

2 Park and Burgess *Introduction to the Science of Society* 1924 p 493

3 Quoted by Bogardus *Sociology* p 124

4 Wherever the members of any group small or large live together in such a way that they share not this or that particular interest but the basic conditions of a common life, we call that group a community MacIver and Page *op cit* p 9

भौगोलिक आधार है तथा जिसमे सामाजिक सम्मिलन की सामाजिक मनोवैज्ञानिक भावना है।

समुदाय के तत्व

यदि हम ऊपर दी गई तथा अन्य परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो उन सब मे समुदाय के चार आवश्यक तत्वों को महत्वपूर्ण माना गया है —

(१) लोगों का एक समूह (२) एक सामान्य भूखण्ड (३) एक सामान्य जीवन ढंग और (४) सर्वांगीण अथवा लगभग आत्म निर्भर जीवन।

साराश यह है कि एक समुदाय मे एक निश्चित भू भाग मे रहने वाली सम्पूर्ण जनसंख्या आती है जो एक सामान्य नियम पद्धति से नियमित होने वाले जीवन-व्यवहार से एकता मे बधी हो। समुदाय की एक विशिष्ट सरचना होना अनिवार्य है। सदस्यों के सामाजिक सम्बन्ध को नियमित करने के लिए निश्चित नियम विकसित हो जाते हैं। एक छोटा समुदाय (पडोस गाव अथवा शहर) बडे समुदाय का अग हो सकता है। समुदाय के भीतर समुदाय हो सकते हैं। भारत की समस्त जनसंख्या एक समुदाय है जिसमे अनेक छोटे बडे गाव कस्बे, महानगर और क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक समुदाय है। प्रत्येक समुदाय मे उसके सदस्यों के अधिकाश अथवा सम्पूर्ण जीवन विधान की दशाएँ विद्यमान होती हैं। समुदाय का सामान्य जीवन ढग एक निराली संस्कृति के विकास मे सहायक होता है। इसकी विशिष्टता और पृथकता के कारण समुदाय का एक विशिष्ट नाम प्रचलित हो जाता है। एक शब्द मे एक निश्चित क्षेत्र मे रहने वाले लोगों के मूर्त सामाजिक समूह को समुदाय कहते हैं जिसमे एकता की अन्तर्गहन भावना हो। इस समूह का आवश्यक तत्व है उसमे विकसित संस्थाओं का प्रतिमान। इनके अभाव मे लोगों के किसी भी समूह से समुदाय नहीं बन सकता। जीवन के विभिन्न क्रमों के प्रति लोगों की प्रतिक्रियाओं का आधारभूत तरीका सामुदायिक सगठन है। अपने सदस्यों की अनेक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए इसके सगठन को जुटाया जाता है इसलिए धीरे धीरे इसमे सच्ची सामुदायिक आत्मा विकसित हो सकती है।

मकाइवर और पेज समुदाय की दो ही विशेषताएँ मानते हैं (१) सामान्य *भूभाग अथवा वासस्थान और (२) ऐक्यभावना अथवा सामुदायिक भावना।* वास्तव मे समुदाय के यही दो आवश्यक तत्व हैं। वासस्थान को समुदाय का भौगोलिक आधार तथा समुदाय भावना को सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार कहा जाना चाहिए। गिलिन और गिलिन जो प्राथमिकतया भौतिक समीपता पर आधारित सभी स्थायी स्थानिक समूहों को समुदाय की सज्ञा देते हैं समुदायों की निम्नलिखित चार विशेषताओं का बताकर किसी नवीन आवश्यक तत्व का आविष्कार नहीं कर पाते हैं। (१) समुदाय एक भौतिक स्थान मे ही सीमित रहता है जिसके क्षेत्र की

सीमाएँ अधिकतया निश्चित होती हैं और जिन्हें उसके सदस्य तथा बाहरी लोग दोनों ही स्वीकार करते हैं। (२) समुदाय के सदस्यों की भौतिक समीपता एक प्रधान लक्षण है। यह आवश्यक नहीं है कि इन सदस्यों में प्राथमिक सम्पर्क ही हो किन्तु साधारणतया बाहरी लोगों से उनके सम्पर्कों की अपेक्षा स्वयं उनके बीच के भौतिक सम्पर्क अवश्यमेव अधिक सन्निकट होते हैं। (३) सामाजिक अस्तित्व की आधारभूत आवश्यकताओं में सभी सदस्य भागीदार होते हैं और (४) समुदाय में प्रचलित सामाजिक-व्यवहार के प्रतिमानों का निर्धारण सामान्य भौगोलिक पर्यावरण और व्यक्तियों की भौतिक समीपता से होता है।[1] इसी प्रकार कुछ अन्य लेखकों ने समुदाय के जो चार आवश्यक तत्व—एक सामान्य स्थायी भू भाग, लोगों का एक समूह, सामान्य जीवन और अधिकांशतः स्वयं पूर्ण जीवन—गिनाये हैं वे सब मैकाइवर द्वारा निश्चित दो तत्वों से बाहर नहीं हैं। सामुदायिक भावना के समकक्ष कितने ही शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे एकत्वभावना, सम-परिचय की भावना, सजातीय चेतना, हम भावना, सामुदायिक आत्मा अथवा राजनैतिक दार्शनिक ग्रीन का प्रसिद्ध शब्द-समूह 'सामान्य ध्येयों की सामान्य चेतना' आदि। अब आइये समुदाय के दो आवश्यक तत्वों – सामान्य भौगोलिक क्षेत्र (वासस्थान) तथा सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार (समुदाय भावना) पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

वासस्थान

प्रत्येक समुदाय का एक स्वाभाविक क्षेत्र होता है। एक ही भूमि-खण्ड या क्षेत्र में निकट रहने के कारण इसके सदस्यों का सामाजिक जीवन या जीवन-ढंग सामान्य होता है। समुदाय के सामाजिक जीवन पर उसके वासस्थान के प्राकृतिक स्वभाव का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। सचमुच सामाजिक जीवन पर हमेशा उसके क्षेत्र की अमिट छाप रहती है। एक प्राकृतिक क्षेत्र में वनस्पति कीट-मकोड़े अथवा जीव-जन्तु एक विशिष्ट प्रकार के होते हैं। उनका उस क्षेत्र से अधिक उपयोजन होता है। समुदाय के सामाजिक जीवन का भी उसके भौगोलिक पर्यावरण या स्थान में उपयोजन होता है। परन्तु यह उपयोजन जैविक नहीं सांस्कृतिक होता है। समुदाय का स्पष्ट रूप से क्षेत्रीय स्वभाव होता है। इसका अर्थ है कि उनकी एक ही भूमि तथा एक समग्रहीत जीवन ढंग होता है।[2]

गाँवों या शहरों की सीमाएँ स्वाभाविक होती हैं। यहाँ सीमाएँ समुदाय का विशिष्ट रूप और आकार रखती हैं। ये सीमाएँ सकुचित अथवा विस्तृत हो सकती हैं। छोटे-छोटे गाँवों या कस्बों की सीमाएँ सकुचित होती हैं और बड़े शहरों की बहुत विस्तृत। इन सीमाओं के अन्दर जनसंख्या का घनत्व समुदाय के सामाजिक जीवन की सरलता या जटिलता के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारण है। हर समुदाय

1 C n and Callin Cultural Sociology PP 266-?6?
2 MacIver and Page op cit p 293

की सरचना म एक व्याख्या ग्रथवा प्रतिमान होता है। एक गाँव को ही लीजिये। इसमे सिफ घर मन्दिर, कुएँ, धमशाला या पचायत घर जहा-तहाँ बने ही नही होते उनमे परस्पर सम्बध रहता है ग्रौर उनका स्थानिक स्वभाव से भी सम्बध होता है। इसी प्रकार एक देश के एक परिसीमित भू-खण्ड म जा गाव कस्बे या शहर बसे हाते हैं उनम मेट्रापोलिस राजधानी, कृत्यात्मक विशेषता वाले क्षेत्र तथा शहरो ग्रौर गावो सबसे परस्पर सम्बधो का एक जाल सा बना होता है। शहर म मकान काम करने के केन्द्र बाजार ग्रौर दुकान, प्रशासकीय इमारत मनोरजन के केन्द्र, शिक्षा सस्थाएँ सभी तो एक व्यवस्था म बध होत हैं। सरल समुदाय म काम के केन्द्र कम होत है। उनके पारस्परिक सम्बधो म जटिलता कम होती है। जस जसे समुदाय विकसित हाता है उनके काय विभाजन ग्रौर काय के विशेषीकरण म जटिलता ग्राती जाती है जिसके कारण क्रिया के ग्रनेक केन्द्र विकसित हो जात है।

सभी देशो म समुदायो की वतमान सरचना स्वाभाविक विकास का परिणाम है, ग्रर्थात् ग्राज समुदाय—गाव शहर क्षेत्र—का जो प्रतिमान है वह ग्रधिकाशत ग्रनियाजित रहा है। यह उन शक्तियो की उत्पत्ति है जो, मनुष्य जब कभी ग्रौर जहाँ कही बसत हैं, प्रतिस्पर्द्धा ग्राकषण, प्रबलता के लिए होड ग्रौर ग्रार्थिक व्यवस्था के लिए सहयोग के रूप म मानव समूहो म कायरत होती है। समुदाय के स्वाभाविक विकास स जो प्रतिमान बनता है यह उसके बढन के साथ बदल जाता है। सभ्यता की शक्तिया भी उसम परिवतन लाती हैं। बहुत थोडे साला पहले तक समुदायो के विकास के पीछे कोई पूवनिश्चित याजना नहीं रही है। शहरो म यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट दिखाई दती थी। मकानो के खण्डो म विविधता ग्रनियन्त्रित ग्रौर टेढा मेढी वृद्धि, धनी ग्रौर गन्दी बस्तिया तथा दूसरी ग्रार साफ सुथरे तथा ढग स बन हुए मकान तथा ग्रन्य सस्थाग्रो की इमारतें—यह सब शहरी समुदाय के स्वाभाविक विकास का साक्ष्य है। ऐस विकास म मकान घुच पुच, एक दूसर स सटे हुए ग्रौर ग्रव्यवस्थित हाते है जिसम मनुष्य के रहन ग्रौर काम करन की ग्रावश्यताएँ सुचारु रूप से पूरी नही हो पाती। वास्तव म, उसकी ग्रावश्यकताग्रो की नित्य उपक्षा होती है।

मनुष्य की ग्रावश्यकताग्रो की ग्रधूरी पूर्ति या उनकी उपक्षा समुदाय के मुख्य काय या उद्देश्य के विपरीत है। ग्रतएव थोडे सालो से मनुष्य ने सभ्यता से लाभ उठाकर समुदाय की प्राकृतिक रचना का नियोजन करना प्रारम्भ कर दिया है। रूस, इग्लण्ड स्कन्डीनविया ग्रमरीका, स्वीडन तथा भारत म भी हाल ही से गाँव, शहर या क्षत्रो के समुदाय की प्राकृतिक रचना का विकास नियाजित किया है। गावो म मकानो तथा मनुष्य की समस्त कायवाही के केन्द्रो का एक नियोजित व्यवस्था दी गई है। शहरो म भी सडको, गलियो, पार्कों रहने के मकानो, बाजारो शिक्षा केन्द्रो, व्यावसायिक तथा ग्रौद्योगिक केन्द्रो, मनोरजन के केन्द्रो, सास्कृतिक केन्द्रो, ग्रस्पतालो,

प्रशासकीय इमारतों आदि का स्थान निश्चित योजना पर आधारित रहता है। इस योजना का उद्देश्य सामाजिक जीवन की सभी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की यथेष्ट पूर्ति करना होता है। नियोजित समुदायों में व्यक्ति और समूह के सम्पूर्ण विकास के लिए सभी आवश्यक दशाओं का पता किया जाता है। यहां सामुदायिक जीवन का सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण विकास होता है। टनसी वैली योजना तथा दामोदर घाटी योजना क्षेत्रीय समुदाय विकास के दो सफल प्रयोग हैं।

समुदाय भावना

समुदाय उस स्थान से जिसमें वह बसा हुआ है अथवा उस भू-खण्ड से जिस पर बसता है, कुछ अधिक है। वह केवल मनुष्य द्वारा निर्मित कोई प्राकृतिक ढांचा मात्र नहीं है। स्थान, भू-खण्ड अथवा भौतिक ढांचे से समुदाय के केवल एक आकार का ज्ञान होता है। ये समुदाय की बाह्य रचना को प्रकट कर सकते हैं। उसकी आन्तरिक रचना तो समुदाय के सदस्यों में एक होने की भावना है जिसे हम मनो-वैज्ञानिक ढांचा कह सकते हैं। इसी मनोवैज्ञानिक ढांचे को हम 'सामुदायिक भावना' में व्यक्त होते पाते हैं।

जब कभी एक ही स्थान में बाहरी समाज से पृथक् एक अवधि तक लोग रहते हैं तो उनमें मिल-जुल कर रहने की तथा एक ही आधार पर काम करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। उनमें उन सामान्य कार्यों से पैदा होने वाले सामान्य मूल्य प्रकट होते हैं। समाज-सेवा शिविरों, फौजी छावनियों, भिक्षु विहारों, जेलों अथवा युद्धकाल में स्थापित निर्वासन केन्द्रों आदि अस्थायी और स्थायी मानव समूहों में एक ही स्थान पर रहने और सामान्य हित और क्रियाएँ होने के कारण समुदाय भावना का उदय होता है। इन समूहों के सदस्यों में सामान्य साहचर्य में सम्मिलित होने की भावना विकसित हो जाती है।

अधिक स्थायी समुदायों में उपरोक्त प्रकार अधिक गहनता से कार्य करते हैं। उनकी जड़ें ऐतिहासिक दशाओं में होती हैं जिन्होंने क्षेत्रीय समूह के सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन किया है। समुदाय के सदस्यों के लिए उनकी 'भूमि' केवल जमीन का एक टुकड़ा नहीं होता। वह तो उनका घर है जिसे उन्होंने अतीत के समग्र और वर्तमान अनुभव से समृद्ध किया है। यह भावना कि उनकी समितियाँ और परम्पराएं, प्रथाएँ और संस्थाएँ सभी सामान्य हैं, उनके सम्मुख साथ-साथ रहने की जरूरत को रखती है। समुदाय में उनके जीवन की स्थायी दशाएं, भूमि और किये हुए तक उनकी वैयक्तिकताओं का प्रक्षेप हो जाता है। दूसरे अनुराग (आसक्ति) इस विशिष्ट अनुराग से अधिक तीव्र या घने हो सकते हैं किन्तु इसका आधार उन सबसे अधिक विस्तृत होता है।[1]

1 Ibid p 29

समुदाय भावना का विकास सामाजिक प्रक्रिया से होता है। शिक्षा जिसके प्रथानुसार अधिकार और सत्ता, सामाजिक समादर अथवा निरादर काम करते हैं व्यक्तियों की आदतों और समरूपताओं को धीरे धीरे भक्तियों और दृढ़ विश्वासों के आधार में बदल देती है। साधारण आदमी के व्यक्तित्व की गहराई में समुदाय की भावना घर कर जाती है। इस प्रकार, प्रारम्भिक प्रशिक्षण काल बीतते ही व्यक्ति के लिए समुदाय भावना बाहरी दबाव न रह कर उसकी आन्तरिक भाव व्यक्तता हो जाती है। वह हमेशा के लिए उसकी वैयक्तिकता का भाग बन जाती है। इसलिये समुदाय की कुछ संहिताओं के खिलाफ जब कभी व्यक्ति विद्रोह भी करता है तब भी उसमें समुदाय की भावना खत्म नहीं होती। मनुष्य जहां कहीं भी सामान्य जीवन का निर्माण करता है वह सामाजीकरण के अनुभव से परे नहीं रह सकता।

हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि समुदाय भावना में परोपकार (परमार्थ) या परहित का अर्थ निहित है। समुदाय भावना में विविध तत्वों, विविध प्रकार के रुझानों जो सूक्ष्मता से परस्पर जुड़े होते हैं का समावेश होता है। इनमें तीन, जो बहुत समीपता से अन्तः सम्बन्धित हैं साफ साफ पहचाने जा सकते हैं (१) हमभावना (२) भूमिका की भावना और (३) पर निर्भरता की भावना।

समुदाय का सामाजिक व्यवहार भौगोलिक पर्यावरण और सदस्यों की सामाजिक निकटता या दूरी के द्वारा सचालित होता है। समुदाय के सदस्यों में हम-भावना रहती है। वे एक दूसरे के सुख दुख से क्रमशः सुखी और दुखी होते हैं। वे एक ही परम्पराओं में पलते हैं उनके हित और उद्देश्य सामान्य होते हैं। इसलिये उनके जीवन में साम्य होता है। अपने समुदाय के बाहर मनुष्यों या समूहों के प्रति उनका समान रुख रहता है। समुदाय के प्रत्येक सदस्य में अपने विशिष्ट स्थान के अनुरूप कार्य करने की भावना होती है जिसे 'भूमिका की भावना' कहते हैं। चूँकि समुदाय के सदस्यों में घनिष्ठता रहती है और उनका सारा जीवन उसी में बीतता है इसलिये वे एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। अतः निर्भरता की भावना ही उन्हें परस्पर सहयोग करने की प्रेरणा देती है। उपरोक्त तीनों भावनाओं का सामूहिक नाम समुदाय-भावना है।

समुदाय के सदस्यों के लिये वह एक अविभाज्य एकता है जिसमें वे सामूहिक रूप से सम्मिलित होते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने और दूसरे सदस्यों में कोई भेद या विभाजन नहीं समझते। सबके लिए हम और हमारा शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम भावना इस प्रकार के सामान्य हित में पाई जाती है किन्तु क्षेत्रीय समुदाय के हितों में यह सबसे अधिक स्पष्टता से प्रकट होती है। इसमें से हर एक इस भावना के उदय होने का अनुभव करता है जब उसके पड़ोस, गाँव या शहर,

प्रदेश या राष्ट्र की आलोचना की जाती है। राष्ट्र की आलोचना हम नहीं सुन सकते। उसकी रक्षा के लिए हम अपने निजी हितों की बलि दे देते हैं अथवा देने को तैयार हो जाते हैं।

समुदाय के हर सदस्य में यह भावना होती है कि उसका एक निश्चित स्थान है और उसी के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था में उसे कार्य करना है। जीवन के प्रारम्भ से ही व्यक्ति में इस भावना को उत्पन्न करने के लिए प्रशिक्षण और आदतों के निर्माण द्वारा उसके जीवन को अनुशासित किया जाता है। उसे समूह या समुदाय के सामने झुककर उसके अधीन रहने की शिक्षा दी जाती है। इसी प्रशिक्षण का परिणाम होता है कि व्यक्ति में अपने स्थान के अनुसार कार्य करने की भावना आ जाती है। परिवार में माता पिता भाई-बहिन पुत्र या पुत्री के पृथक्-पृथक् स्थान होते हैं। इसी प्रकार समुदाय में भी हर सदस्य का निश्चित स्थान होता है। उसी के अनुसार कार्य करने की भावना को भूमिका की भावना कहते हैं।

समुदाय में मनुष्य अपना निश्चित स्थान समझता है और उसी के साथ उसमें यह भावना भी होती है कि वह समुदाय पर निर्भर है। क्योंकि इसी में उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं इसलिए समुदाय पर उसकी भौतिक निर्भरता हो रहती है। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समुदाय पर निर्भर रहता है क्योंकि समुदाय उसका 'अपना घर' है जो उसे सहारा देता है और उसके जीवन के लिए सुखदायी स्थितियों को जुटाता है। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता है। उसे अपने एकाकीपन तथा भय से मुक्ति समुदाय में ही रह कर मिलती है।

जब कभी एक ही स्थान में लोग स्थायी अथवा अस्थायी समुदाय बना कर रहते हैं उनमें इन तीनों भावनाओं का विभिन्न अनुपातों में मेल मिलता। कुछ अवसरों पर समुदाय इनमें से किसी एक या सब भावनाओं का निर्माण विचारयुक्त प्रयत्नों द्वारा करते हैं। युद्ध या राष्ट्रीय आपत्काल में समुदाय भावना के विभिन्न तत्त्वों का निर्माण सावधानी से बनाये गये कार्यक्रम द्वारा किया जाता है। अभी तक राष्ट्रीयता को संसार में सबसे सशक्त समुदाय भावना माना जाता है।

समुदाय भावना की पहिचान—एक ही भूमि में एक ही प्रकार का जीवन बिताने से समूह के सदस्यों में कुछ विशिष्ट समानताएँ पैदा हो जाती हैं। इन्हीं की स्वीकृति से समुदाय भावना पुष्ट होती है। एक समुदाय की विशिष्ट जनरीतियाँ होती हैं। उनका व्यवहार का ढंग दूसरे समूहों से भिन्न होता है और यही उनके वासस्थान की विशेषता होती है। हरेक समुदाय (गाँव शहर या बड़ा प्रदेश) का अपना विशेष चिह्न होता है जिससे हम उसे बड़ी सरलता से पहचान सकते हैं। उसके स्थानिक रीति रिवाज वेष भूषा भाषा स्थानिक अभिरुचि स्थान या केन्द्र विशिष्ट विश्वास तथा मिथ्याविश्वास जनश्रुतियाँ तथा पुराण होते हैं। समुदाय भावना की सूक्ष्म पहिचान इस स्थान की भाषा है। हरेक स्थान की भाषा में अपना

विशिष्ट उच्चारण, कुछ मुहावरे और कहावतें आदि सम्मिलित होते हैं। समुदाय भावना का दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्देश (index) समुदाय के सदस्यों में स्थानीय जीवन से गहरी दिलचस्पी की उपस्थिति है। अपने समुदाय के दूसरे सदस्यों के कार्य उनमें गहरी संवेगात्मक अभिरुचि पैदा करते हैं। हमने देखा होगा कि मुहल्ले या पड़ोस में जहां दो या अधिक आदमी इकट्ठे हुए कि उन्होंने गपशप शुरू कर दी। इस गपशप में अपने समुदाय के सदस्यों के आचरण की प्रशंसा या निन्दा (भर्त्सना) की जाती है। सबको इस गपशप में बहुत आनन्द आता है। अपने स्थानिक जीवन में गहरी अभिरुचि होने के कारण ही लोग दूसरे समुदायों की बाबत कम सोचते हैं तथा उनके सदस्यों से अपने को पृथक् भी समझते हैं। इसी भावना का प्रतिबिम्ब हमें जाति केन्द्रीयता में दिख सकता है।

समुदाय का विकास

सम्भवतः समुदाय का सबसे प्रारम्भिक रूप भ्रमणशील झुण्ड रहा होगा। आदिम जातियों में आज भी ऐसे झुण्ड मिलते हैं। ये कुछ परिवारों के समूह होते हैं और किसी स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते रहते हैं। जब यही झुण्ड स्थायी रूप से गाँव बना कर रहने लगे तो ग्राम्य समुदाय की स्थापना हुई। पहले छोटे-छोटे गाँव बने फिर उनके कालान्तर से बड़े गांव स्थापित हुए। आदिम समाजों में कई छोटे गांवों तक फैले हुए समुदाय को जनजाति कहा जाता है। सामुदायिक विकास की तीसरी अवस्था में कस्बों का निर्माण हुआ। सम्भवतः कृषि में अतिरिक्त उत्पादन का प्रारम्भ कस्बों (शहरों) की स्थापना में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक समझना चाहिए। शहरों की जनसंख्या में वृद्धि तथा ग्रामीण लोगों के शहरों को निष्क्रमण से बड़े नगरों की स्थापना सम्भव हुई। औद्योगीकरण के विस्तार ने नगरीकरण की प्रक्रिया को बहुत व्यापक बना दिया। आज संसार के सभी प्रमुख देशों में महानगरों तथा मैट्रोपालिस' की संख्या बहुत अधिक हो गई है। सामुदायिक विकास की अगली अवस्था में गाँवों तथा नगरों को सम्मिलित कर एक प्राकृतिक क्षेत्र में क्षेत्रीय समुदाय का विकास सबसे महत्त्वपूर्ण है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, ज्ञान विज्ञान तथा परिवहन और संचार के साधनों में उन्नति ने एक विशाल भू भाग में बसी हुई जनसंख्या को राजनीतिक आधार पर *संगठित कर राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय समुदाय का विकास सम्भव कर* दिया है। इन्हीं कारकों की अधिक उन्नति के परिणाम से आज समस्त जगत के समाजों में सामुदायिक भावना विकसित हो गई है। यह प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विकास की द्योतक है।

समुदाय के ■ प्रधान कारक हो सकते हैं —

(अ) भ्रमणशील झुण्ड

(आ) गाँव तथा जनजाति

(इ) कस्बा, नगर और महानगर
(ई) क्षेत्रीय समुदाय
(उ) राष्ट्रीय समुदाय
(ऊ) विश्व समुदाय

डेविस का मत है कि समुदायों के वर्गीकरण में निम्नलिखित अन्तःसम्बन्धित तत्त्वों को आधार बनाया जा सकता है—

(१) जनसंख्या का आकार (२) पृष्ठ प्रदेश का विस्तार सम्पन्न तथा जनसंख्या का घनत्व, (३) सम्पूर्ण समाज में समुदाय के विशेषीकृत कार्य तथा (४) समुदाय के संगठन का प्रकार। इन लक्षणों की सहायता से हम आदिम तथा ग्राम्य और नगरीय समुदायों के भेद को समझ सकते हैं।[1]

समुदाय की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से समुदाय तथा समुदाय भावना के स्वभाव में परिवर्तन हो रहा है। कई समाज बहुत अधिक विकसित और जटिल हो गए हैं। उनमें समूहों, समितियों तथा संस्थाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। विज्ञान तथा अर्थ-व्यवस्था की उन्नति ने छोटे-छोटे समुदायों की आत्म निर्भरता खत्म कर दी है। एक व्यक्ति एक साथ ही अनेक छोटे और बड़े दोनों प्रकार के समुदायों का सदस्य होता है। उसके हितों की पूर्ति दोनों में होती है। सच तो यह है कि बड़े समुदायों में उसके वयस्क जीवन की अधिकाधिक आवश्यकताएं पूरी होती हैं। वह विविध समितियों और दूसरे समूहों का सदस्य होता है जिसमें उसके सामाजिक हित विशेषीकृत हो जाते हैं। इसलिए पहले स्थानीय समुदाय के प्रति जो उसकी भक्ति और घनिष्ठता थी उसका कुछ भाग वह विशिष्ट हित-समूहों को हस्तान्तरित कर देता है। आज के नगरों में नवागन्तुक सम्पूर्ण शहरी समुदाय में प्रवेश नहीं कर सकता। वह अपने विशेष हित या स्वार्थ के अनुसार किसी क्लब, श्रम-संघ, राजनैतिक दल, धार्मिक संघ अथवा संस्था में सम्मिलित हो जाता है। इन हितों का केन्द्र उसका स्थानीय समुदाय (पड़ोस) नहीं होता जहाँ वह रहता है। इसलिए नगरवासी या नवागन्तुक के लिए सारा नगर समुदाय तो होता है किन्तु उसको जो वह पहले एक अविभाज्य इकाई समझता था वह आज नहीं। वह आधुनिक समय में अनेक विशिष्ट समूहों और संस्थाओं का सदस्य बनता है। इसलिए उनके प्रति ही उसमें प्रगाढ़ आकर्षण और भक्ति होती है।

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य के सामाजिक जीवन में समुदाय भावना कितनी गहराई [redacted] समाहित है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए एक न एक निकास मार्ग होना ही चाहिए। अर्थात् मनुष्य में यदि छोटे समुदाय की भावना कम हो जाती है

1 Kingsley Davis, op. cit., p. 313

तो यह बडे समुदायो के बारे मे तीव्र और सुदृढ हो जाती है। परिवहन और सचार के साधनो म उन्नति होने से हमारा प्रेम अपने गाव, पडोस या नगर से कम हो गया है किन्तु क्षेत्रीय समुदाय और राष्ट्र के प्रति हमारी घनिष्ठ ममता और भक्ति हो गई है। आज के ज्ञान विज्ञान प्रौद्योगिकी के महान विकास युग म हम अनेक एस व्यक्ति मिलेगे जिनका विश्व समुदाय के लिए प्रेम दिना दिन बढता जा रहा है।

आज उन्नत सभ्यताओ म पहले के निकटस्थ घनिष्ठ समुदायो के स्थान पर नए मनोवैज्ञानिक सामाजिक सगठनो की स्थापना हो रही है जिनके सदस्य दूरस्थ क्षेत्रो म फैले होते हैं। इन लोगो मे वासस्थान की सामान्यता विकसित नहा हो पाती है। उनके मूल्य तथा मनोवृत्ति ही एक से होते हैं। एसे समूहो को साम्प्रदायिक समूह (Communality) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

ग्रीन ने समुदाय की आधुनिक प्रवत्तियो मे गावो की जनसख्या का शहरो को निष्क्रमण नगर क केन्द्र के आस पास बस्तियो, उपनिवेशो का उपनगर क रूप म विकास तथा सामुदायिक मामलो मे नगरों की प्रबलता शामिल किया है।[1]

समुदाय के आन्तरिक भेद

हर समुदाय के अन्तगत भेद होते हैं। य सामाजिक राजनीतिक आर्थिक धार्मिक सास्कृतिक आदि होते हैं। इनम स कुछ भेद तो एस होते हैं जिनका अस्तित्व समुदाय म अनिवायत होता है और व समुदाय का विघटन न करके उसके सगठन और दृढता मे सहायक होते है। ऐस भेद मुख्यत तीन प्रकार के होत हैं—कृत्यात्मक स्थायी वग या जाति तथा स्वतन्त्र राजनैतिक। कृत्यात्मक भेद श्रम विभाजन स उत्पन्न भेद होते ह। हर समूह म श्रम विभाजन स ही लोगो का निश्चित स्थान और भूमिकाए मिलती हैं। आदिम समाजो म भी श्रम विभाजन था और आधुनिक समाजो म भी हजारो विशेषीकृत पशो और व्यवसायो क रूप म पाया जाता है। हर सदस्य अपना पशा या व्यवसाय करता है जिसस उसम भूमिका की भावना आती है जो समुदाय भावना का आवश्यक निर्मायक तत्व है। इसी प्रकार स समुदायो म वग और जातियाँ हुआ करती हैं। ये भी सदस्य म समुदाय भावना को दृढ करती ह। तीसरे आधुनिक राष्ट्रो म कइ राजनैतिक दल होत हैं जिनकी विचारधारा काय प्रणाली और उद्देश्य भिन्न भिन्न होते ह किन्तु जहाँ तक राष्ट्र की एकता और समृद्धि म उनका योग होता है य भेद समुदाय के हितो क प्रतिकूल नहीं जाते।

विघटनक या एकतानाशक भेद भी तीन प्रकार क होत हैं (१) आर्थिक विषमताए और उन पर आधारित वग सघष (२) प्रजातिक भेद तथा (३) धार्मिक भेद। जिस समुदाय म आर्थिक सम्पत्ति, आय तथा रहन सहन म भारी विषमताएँ

1 A W Green *Sociology* McGraw Hill Book Co Inc New York (9 0) pp 2?6 ?6

होगी वहां की एकता नष्ट होने का भय रहेगा। ऐसे समुदायों में वर्ग संघर्ष बहुत प्रबल हो जाता है। अफ्रीका के देशों में नस्ली भेदों में समुदाय की एकता कितनी शीघ्रता से नष्ट हो गई है यह तो आधुनिक इतिहास की घटना है। इसी प्रकार भारत में हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक भेदों ने भारत का जो विभाजन कराया तथा पाकिस्तान के निर्माण की बाद की भयानक जघन्य घटनाओं को जन्म दिया उससे भी हम परिचित हैं।

किन्तु याद रहे कि समुदाय की एकता और दृढ़ता में सांस्कृतिक भेद तभी विनाशकारी साबित होते हैं जब वे भेद सांस्कृतिक उन्नति के स्तरों में प्रकट हों।

राष्ट्रीय समुदाय

आधुनिक सभ्यता में राष्ट्र सबसे बड़ा प्रभावपूर्ण समुदाय है। यही सबसे बड़ा समूह है जिसमें व्यापक सुदृढ़ता की चेतना व्याप्त रहती है। यद्यपि मनुष्य के कुछ हित ऐसे हैं जो राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर जाते हैं और इसलिये अनेक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ भी पाई जाती हैं। किन्तु अभी तक संसार में किसी समूह को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय नहीं कहा जा सकता। अन्य समुदायों की भाँति राष्ट्र के आधार वास-स्थान और राष्ट्रीय भावना है। चाहे किसी राष्ट्र का वैधानिक अस्तित्व हो अथवा लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं में ही उसका अस्तित्व हो उसका अपना भौगोलिक क्षेत्र अवश्य होता है। यदि संसार के राजनैतिक मानचित्र देखें तो शायद हम विभिन्न राष्ट्रों का स्वाभाविक क्षेत्र ढूँढना मुश्किल पड़ जाय किन्तु यह कठोर सत्य है कि हर राष्ट्र का अस्तित्व एक भौगोलिक क्षेत्र में जिसकी सीमाएँ निश्चित हों अथवा निश्चित की जा रही हों ही सम्भव है। दूसरे हर राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना होती है। इस राष्ट्रीयता की भावना कहा जाता है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्र

समुदाय भावना या वर्ग चेतन अथवा जाति-समूह मनोवृत्तियों (ethnic group attitudes) की भाँति राष्ट्रीयता में दूसरे समुदाय के अनुरागों का समावेश होता है तथा राष्ट्रीयता का अपना विशेष चिह्न भी होता है। अन्य समुदाय भावनाओं की भाँति राष्ट्र भावना भी प्रजातीय होती है अर्थात् यह राष्ट्र के हर सदस्य में होती है चाहे वह किसी श्रेणी वर्ग या समिति से सम्बन्धित हो। धनी निर्धन, विद्वान-मूर्ख, प्रतिभाशाली तथा मन्दी सभी प्रकार के व्यक्तियों में राष्ट्र भावना होती है। इसी प्रकार रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी उदार अथवा क्रान्तिकारी सभी विचारधाराओं के मानने वालों में राष्ट्र भावना रहती है। भारत में ही देख लीजिये। कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी, साम्यवादी और हिन्दू महासभा विभिन्न विचारधाराओं का प्रचार करते हैं किन्तु सभी अपना प्रचार राष्ट्रीयता के नाम पर करते हैं। भारत का साम्यवादी दल जिसका प्रेरणा-केन्द्र मास्को है, अपने सदस्यों और अनुयायियों में राष्ट्रीयता के नाम पर हो

प्रचार करने में समय हो सका है। अतएव, राष्ट्र भावना राष्ट्र के सदस्यों के विचित्र हितों अथवा उनके विशेषपूर्ण गुणों पर आश्रित नहीं है। कोई जरूरी नहीं कि एक ही भाषा संस्कृति, आर्थिक हित अथवा शारीरिक विशेषताओं पर राष्ट्रीयता आश्रित रहे। एक राष्ट्र में कई नस्लें संस्कृतियां और भाषाएं हो सकती हैं। स्विस राष्ट्र में तीन जातियां और उतनी ही भाषाएं हैं। रूस में इसी प्रकार करीब-करीब १६ जातियां और अनेक संस्कृतियां है। इनकी भाषाएं भी भिन्न भिन्न हैं। भारत में ही न तो सारे नागरिकों की शारीरिक विशेषताएं एक हैं न भाषा ही एक। विभिन्न प्रदेश में भिन्न भिन्न बोलियां बोली जाती हैं। इसी प्रकार एक धर्म के मानने वालों का भी एक राष्ट्र नहीं बनता। ईसाई और मुसलमान धर्म के अनुयायी अनेक राष्ट्रों में विभाजित हैं। हो सकता है अतीत में भाषा धर्म आर्थिक हित, प्रजाति या संस्कृति अथवा ऐतिहासिक परम्पराएँ इनमें से कोई एक या इनका कोई मेल राष्ट्र का निर्माण कर सका हो किन्तु आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के निर्माण में, रुधिर की पुकार न नहीं, एक विचार की शक्ति ने प्रमुख काम किया है।[1]

राष्ट्रीयता की भावना कबीले, गांव या क्षेत्र की अनुभूत एकता से भिन्न होती है। राष्ट्र भावना का विकास राज्य के विकास से जुड़ा है। आज भी संसार में कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जिनके पास राजकीय सत्ता नहीं है किन्तु वे स्वशासित होने का प्रयत्न कर रहे हैं। राष्ट्रीयता तथा अन्य प्रकार की समुदाय भावना में भेद करने का यह आधारभूत प्रमाण है।

लार्ड ब्राइस के अनुसार राष्ट्रीयता एक ऐसा जनसमूह है जिसमें सामान्य संस्कृति तथा इतिहास की परम्पराओं से अटूट एकता का अनुभव किया जाता है और जो दूसरे जनसमूहों से पृथक समझी जाती है। अतः राष्ट्रीयता के लिये भौगोलिक एकता की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक एकता अधिक आवश्यक तत्व है। राष्ट्रीयता की भावना के आवश्यक तत्व ये हैं—(१) हम भावना, (२) सामान्य संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा (३) सामान्य भाषा और (४) सामान्य भाग्य या अधिक उन्नत करने के लिये राजनैतिक तथा अन्य आकांक्षाएँ। जब एक राष्ट्रीयता राजनैतिक इकाई में संगठित होकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है अथवा उसे प्राप्त करने की इच्छुक होती है तो हम उसे राष्ट्र कहते हैं। आधुनिक जगत में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हैं जिनमें प्रभुता और स्थिर सरकार को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।

आधुनिक राष्ट्र किसी एक क्षण में पैदा नहीं हो पाये उन सबका उद्भव सैकड़ों वर्षों में हुआ है। राष्ट्र की उत्पत्ति और विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। उनके उद्भव में जटिल दशाओं ने जिनमें परस्पर विविध अन्तःसम्बन्ध होते हैं, भाग लिया है। अफ्रीका और एशिया में आज भी कितने राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में हैं। हम

1 Hans Kohn *World Order in Historical Perspective* p 93

इसीलिये कभी-कभी कहते हैं कि अमुक लोगों में राष्ट्र बन रहा है। एक समुदाय प्राकृतिक सीमाओं से निर्धारित नहीं होता। वास्तव में हर समुदाय सामाजिक-मनोवैज्ञानिक यथार्थता होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि समुदाय—चाहे वह गाँव हो या राष्ट्र—के विस्तार में रुचि का प्रधान महत्व है। एक राष्ट्र की सीमाएं कहाँ तक विस्तृत होंगी इसके निर्धारण में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारकों का ही प्रमुख हाथ रहता है। इसी के साथ अन्य कारक जैसे आर्थिक राजनैतिक तथा फौजी भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

एक राष्ट्र के सदस्यों में बहुत समानताएँ होती हैं। इन समानताओं की अभिव्यक्ति राष्ट्र की कला साहित्य जन रीतियों और ऐतिहासिक घटनाओं में होती है। ये समानताएँ इतनी स्पष्ट होती हैं कि दो राष्ट्रों के सदस्यों में भेद किया जा सकता है। कुछ विद्वानों तथा उपन्यास लेखकों ने राष्ट्रीय समानताओं के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र की सूक्ष्म विवेचना की है। राष्ट्रीय चरित्र या राष्ट्र को कभी-कभी काल्पनिक चित्रों या नामों से प्रकट किया जाता है। अंग्रेजी राष्ट्र के लिये 'जान बुल' अमरिका के लिये 'अंकल साम' या एशियाई राष्ट्रों के लिए 'ध्यान मग्न सन्यासी' अथवा 'चिथड़े लपेटे ठठरी वाला मनुष्य' बना लिया जाता है।

राष्ट्रीय चरित्र किसे कहते हैं? एक राष्ट्रीय समुदाय के उन गुण लक्षणों के समूह अथवा विशेषताओं को राष्ट्रीय चरित्र कहते हैं जिनमें उसके आवश्यक स्वभाव का पता चलता है। बहुधा किसी एक गुण अथवा विशेषता को राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक समझा जाता है किन्तु इस प्रतीक में राष्ट्र का आवश्यक स्वभाव पूर्णतया नहीं ही व्यक्त होता है।

हर देश की राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कुछ प्रतीक होते हैं। शब्द तथा पदार्थ दोनों प्रतीक हो सकते हैं। 'मातृभूमि', 'पितृदेश' 'हालैण्ड' आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। इसी तरह स्थूल प्रतीक 'राष्ट्रीय ध्वज' होता है। हर राष्ट्र का एक राष्ट्रीय गान भी होता है। राष्ट्रीयता के इन प्रतीकों का लगाव सारे समूह की आर्थिक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सफलताओं से होता है। राष्ट्र के अधिकांश सदस्यों की राष्ट्र की धारणा समझ में नहीं आती इसलिए मातृभूमि या पितृदेश आदि प्रतीकों से वे भक्ति रखते हैं। राष्ट्रीयता की भावना का पोषण और विकसित करने के लिये बच्चे के जन्म से ही समाजीकरण प्रक्रिया में रखा जाता है। इन राष्ट्रीयता के प्रतीकों से प्रेम और अपनी जन्मभूमि या देश के प्रति भक्ति सिखाये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता की भावना के प्रमुख दो रूप होते हैं (१) देश भक्ति और (२) राष्ट्रवाद। देश भक्ति का अर्थ है कि राष्ट्र के सदस्य अपने निजी हितों तथा अपने परिवार,

गाँव या शहर की भक्ति से देश के हितों और भक्ति को बड़ा समझते हैं। वे राष्ट्र के हितों की पूर्ति के लिये अपने हितों का बलिदान करने में गर्व समझते हैं। राष्ट्र के लिये मरना भी उन्हें सम्मान और गर्व का विषय लगता है। शान्ति और युद्ध दोनों कालों में देश भक्ति व्यक्ति में किसी प्रकार की स्वार्थरहित सेवा या बलिदान का भाव जगाती है। राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचारधारा है। इसका अर्थ है कि राष्ट्रीय समूह का एक विशेष रूप होता है जिससे हर व्यक्ति अपने राष्ट्र को सर्वोपरि भक्ति सहर्ष देता है। यह समूह की दृढ़ता की भावना होती है। यूरोप में १८वीं शताब्दी के बाद इसका विकास हुआ था और आज कल तो सारे संसार में राष्ट्रवाद की विचारधारा फैली हुई है। मौलिकतया, राष्ट्रवाद राष्ट्र के एकीकरण के लिए अपनाया गया था। यह राष्ट्र की एकता, उसकी राजनीतिक स्वाधीनता तथा विदेशी प्रभुत्व के समूल नाश की तीव्र भावना का प्रतिनिधि था। राष्ट्रवाद से आधुनिक जनतन्त्रों का विकास सम्भव हुआ है। इसी से आधुनिक राज्य का सामुदायिक आधार विस्तृत हो गया है।

ऊपर हमने राष्ट्रवाद का लाभप्रद पहलू देखा है। उग्र राष्ट्रवाद संसार की शान्ति और सुरक्षा के लिए बड़ा घातक हो जाता है। उग्र राष्ट्रवाद के ही दो रूप युद्धप्रिय देश भक्ति (Chauvinism) और साम्राज्यवाद हैं। जब कोई राष्ट्र अपने हितों के सामने सारे संसार के हितों को हेय समझता है और अपनी सत्ता या प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करता है तो साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का जन्म होता है। ये दोनों वाद संसार की शान्ति और सुरक्षा के क्रूर दुश्मन हैं। पिछले दो महायुद्धों में हम साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के काले कारनामों को देख चुके हैं। और आज जो तीसरे महायुद्ध के काले बादल मंडरा रहे हैं वह भी उग्र राष्ट्रवाद का प्रभाव है। उग्र राष्ट्रीयता राष्ट्रों में परस्पर सहानुभूतिपूर्ण समझदारी का गला घोंटती है और परिणामस्वरूप उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में सुलभ नहीं हो पाता। सन् १९६२ में भारत पर चीन के बर्बर आक्रमण और अभी हाल में ५ अगस्त १९६५ को पाकिस्तान के तानाशाही शासन का काश्मीर समस्या को लेकर भारत पर जाहिराना हमला ऐसी घटनाएँ हैं जो उग्र राष्ट्रवाद के नग्न नमूने हैं। इसलिए कुछ विद्वान 'राष्ट्रीयता की भावना' को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए अभिशाप मानते हैं।

मेरे विचार में इस भावना के केवल हानिकर पहलुओं—उग्र राष्ट्रवाद एवं युद्धप्रिय देशभक्ति में ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का खतरा उत्पन्न होता है। भारत, मिस्र आदि कई अति प्राचीन देशों के निवासी युगों युगों से देशभक्त रहे हैं उनमें प्रगाढ़ राष्ट्रीयता की भावना रही है। फिर भी उन्होंने कभी दूसरे देशों पर आक्रमण करने की नहीं सोचा। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात से कई पाश्चात्य देशों जैसे इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल, स्पेन तथा जर्मनी ने अपनी

बढ़ती हुई आर्थिक तथा सामरिक शक्ति को साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रसार में व्यक्त किया था। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में इससे विघ्न पड़े और १९१४-१९ ई० में तो प्रथम विश्व महायुद्ध ने संसार में जन धन का अपूर्व विनाश किया। १९३५ ई० के पश्चात् जापान, इटली जर्मनी आदि देशों में जो युद्धप्रिय देशभक्ति तथा उग्र राष्ट्रवाद उमड़े उन्होंने संसार की असंख्य निरीह जनता को युद्ध की ज्वाला में ढकेल दिया। इन तीनों राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर घातक प्रहार किया। परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व-महायुद्ध से अनेक युद्धरत राष्ट्र तहस नहस हो गए। उनमें भय और अविश्वास की एक फिजा बनी। अणु अस्त्रों तथा अन्य संहारक अस्त्रों के निर्माण, परीक्षण और प्रयोग ने मानवता को आज एक ऐसे भयानक गर्त के पास ला खड़ा किया है जहाँ थोड़ी सी गलती उसकी सम्पूर्ण गौरवमयी सभ्यता और स्वयं उसका पूर्ण विनाश कर सकती है। रूस तथा अमरीका के गुटों में जो शीत युद्ध छिड़ा है वह किसी भी समय प्रचण्ड ज्वाला में भभक उठ सकता है। रूस तथा अमरीका के गुट ही नहीं संसार के कई अन्य राष्ट्र भी जैसे चीन और हिन्देशिया आज उग्र राष्ट्रवाद तथा युद्धप्रिय देशभक्ति के पोषण में लवलीन हैं। उनकी यही भावनाएँ विश्व की शान्ति तथा प्रगति के लिए भीषण अभिशाप हैं।

१९

प्रजातिक एव जातीय समूह

प्रजातिया

जीवशास्त्र (biology) म समस्त मानवता को एक ही मौलिक जाति (Homosapiens) की सतति माना जाता है। ससार के सभी समाजो और समूहो की उत्पत्ति का स्रोत एक है। फिर भी समय-समय पर भिन्न भिन्न मानव समूह अथवा समाज विभिन्न प्रजातियो के वर्गों मे विभाजित माने जात रहे हैं। भारत के प्राचीन निवासी अपन को आर्य और इस देश मे उनके आने से पूव के वासियो को अनार्य कहते थे। हमारे इतिहास म भी आर्यों के आने के बाद भारत मे आने वाली अनक प्रजातियो अथवा प्रजातिक समूहो का वणन मिलता है। शक, हूण कुशान अरब भूमध्यसागरीय आदि प्रजातियो ने इस देश म प्रवेश किया। आधुनिक भारत म भी जब राज्य पुनगठन आयोग की रिपाट (प्रतिवेदन) प्रकाशित हुई तो उसम स्पष्ट उल्लख था कि किस प्रकार दक्षिण भारत के निवासियो म अपन को द्रविड वशज मानकर उत्तरी भारतीयो क प्रति विद्वष की भावना प्रबल हो चली थी। आज सरकारी भाषा क प्रश्न को लेकर उत्तरी तथा दक्षिणी भारतीयो म प्रजातिक भेद का उल्लख किया जाता है। कई बार कुछ लोग भारत की जनसख्या की अनकता का मूल कारण प्रजातिक अनकता मान बठत हैं। उनस पूछिए कि भारतीयो म सस्कृति, भाषा वष भूषा आदि क भेद क्या हैं? उत्तर—भारतीय अनक प्रजातियो क वशज हैं।

एस विचार अयत्र भी प्रचलित हैं। पश्चिमी देशो के लोग अपन को श्वत' और एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपो की जनसख्याओ का 'पीली तथा काली प्रजातियां क कहत हैं। पिछली तीन चार शताब्दियो म यूरोप के लोगो न एशिया तथा अफ्रीका म अपना साम्राज्यवादी आधिपत्य इस धारणा से किया कि श्वेत प्रजातियाँ श्रेष्ठ हैं और उन्हे ईश्वर की ओर स काली, पीली प्रजातियो पर शासन

करने का आदेश मिला है। संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्यों में प्रजाति-वाद की बडी भयानक समस्या है। नीग्रो लोगो के साथ कितना भेद भाव, दुर्व्यवहार और अनाचरण किया जाता है। सम्पूर्ण दक्षिणी अफ्रीका में काले वर्ण के निवासियों—अफ्रीकी भारतीय पाकिस्तानी आदि—के प्रति वहाँ के सत्ताधारी यूरोपवासी अमानुषिक अत्याचार करते हैं। इस क्षेत्र में विद्यमान प्रजाति-पृथक्ता (racial apartheid) की गम्भीर समस्या तो कई वर्षों से संयुक्त राष्ट्र संघ के विचाराधीन है। इस संक्षिप्त वर्णन से सिद्ध होता है कि कुछ देशों के लोगों में प्रजातिक भेद की कितनी चेतनता है। वे प्रजाति के शारीरिक लक्षणों को सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अर्थपूर्ण और महत्त्वपूर्ण मानते हैं। तथाकथित प्रजातीय श्रेष्ठता आज भी अनेक देशों के लोगों में संवेगात्मक विचारों के प्रचलित होने का एक मुख्य कारण है। परन्तु जैविक अथवा शारीरिक कारकों के आधार पर किसी मानव-समूह की श्रेष्ठता अथवा हीनता सिद्ध करने में विज्ञान अब तक तो विफल ही रहा है।

तथाकथित श्रेष्ठ प्रजातियों को सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति करने वाले एजेण्ट के रूप में मानने के लिए व्यापक प्रचार किए जाते हैं। साधारण मनुष्य विज्ञान का नियम जानकर भी न तो तर्क से और न विज्ञान से काम लेता है। अपनी मनोत्मक सुरक्षा के लिए उसमें अपरिवर्तित परम्परात्मक विचारों (stereotypes)[1] विचारधाराओं नारों धारणाओं तथा अन्य मान्यताओं की सीमा के भीतर ही सोचने की प्रवृत्ति है। आम आदमी उन मामलों की बाबत धारणाएँ बना लेता है जो उसकी सांस्कृतिक विरासत के भाग हैं तथा जिनमें उसके समाज की संरचना का प्रतिबिम्ब मिलता है। उन्हें वह बिना सोच-समझे तथा बगैर मानो मनन के स्वीकार कर लेता है। संसार की कई सामाजिक संरचनाओं में प्रजाति तथा प्रजातीय भेदों का बावन मूल्य निर्णय बडी गहराई से समाए हैं। वहाँ उन्हें सबल संवेगात्मक लगावों से पुष्टि मिलती है। प्रजाति सम्बन्धी विचारों के आधार पर एक नस्ली समूह को दूसरे से पृथक रखा जाता है। उसे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक असमानताओं में रहना पडता है तथा तथाकथित श्रेष्ठ प्रजातीय समूह का अत्याचार तथा उत्पीडन सहन करना पडता है। प्रजातीय विभेद से दो विभिन्न समूहों में सामाजिक दूरी रहती है। अतएव इन समूहों में प्रजातीय चेतनता का व्यक्तित्व निर्माण में केन्द्रीय महत्त्व है। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि प्रजाति सम्बन्धी विचारों के कारण भी राष्ट्रों के बीच युद्ध के कई खतरे उत्पन्न हुए हैं। अफ्रीका में नस्ल के नाम पर जो असहाय मानवता पर अत्याचार हो रहे हैं वे समाज की शान्ति तथा स्थिरता के लिए भयानक खतरे हैं।

---

1 रूढ विचार

हैं। उनकी क्रूर दरिद्रता के अतिरिक्त लोग उन्हें शिक्षा, चरित्र और नैतिकता में बहुत गिरा समझते हैं। वे इतने आलसी हैं कि अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते। अतएव उनमें सजीवता उत्साह और महत्वाकांक्षा का स्पष्ट अभाव है। जीवन के प्रति भग्नाशाय भी उनमें बहुत अधिक हैं।

यद्यपि आज भी अमरीका की वर्ग व्यवस्था में शीघ्र गतिशीलता बहुत अधिक है परन्तु निचले स्तरों में यह प्रक्रिया कुछ धीमी पड़ती हुई प्रतीत होती है। जिस जीवन ढंग से इतनी सामाजिक गतिशीलता जन्मी थी वह बहुत कुछ बदल गया है।[1] अमरीका में स्तरण की वृद्धि का एक साक्ष्य यह है कि वहां पर कई पीढ़ियों में एक प्रकार के पेशे करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत क्रमशः बढ़ रहा है। दूसरे, उच्च मध्य और उच्च वर्ग में तुलनात्मक रूप से जन्म दर कम हो रही है जिसका परिणाम आने वाली पीढ़ियों में उनकी जनसंख्या में ह्रास होगा। समाजशास्त्रियों का विचार है कि आर्थिक कारणों से जनित शीघ्र गतिशीलता सापेक्षिक दृष्टि से कम हो रही है क्योंकि विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच शैक्षणिक अवसरों में असमता बढ़ रही है। नीची आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक योग्यता वाले लोगों के लिए ऊंचे वर्गों के द्वार बन्द से हैं। आर्नोल्ड ग्रीन की पुस्तक से एक उद्धरण देकर हम इस विवेचना का उपसंहार दे सकते हैं "गतिशीलता (अमरीका में) के एक ऊँची गति से बनी रहने की सम्भावना है किन्तु बहुसंख्यक के लिये केवल आवृत्त सीमाओं में। बहुत कुछ सम्भाव्य गतिशीलता में अवरोध उद्योग व्यापार और व्यवसायों के प्रतिबन्धों से आता है। कल्याणकारी राज्य की कर नीति से भी उच्च और निम्न वर्गों के बीच की सामाजिक दूरी कम नहीं हुई है। एक नियोजित अर्थव्यवस्था और नौकरशाही प्रक्रिया की ओर प्रवृत्ति ने वैयक्तिक उत्तरदायित्व की भावना और उससे अधिक महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने की अभिलाषा को कम कर दिया है।"[2]

भारत में वर्ग संरचना

हम पहले देख चुके हैं कि भारत की परम्परात्मक जाति प्रणाली विगठित हो रही है और उसमें वर्ग संरचना में निरन्तर परिवर्तित होने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ भी निम्न मध्य और उच्च वर्ग बन रहे हैं। किन्तु उच्च और मध्य वर्ग में प्रबलता अभी उन्हीं जातियों की है जो परम्परात्मक रूप से आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और सामाजिक प्रतिष्ठा में उच्च रही हैं। देश की अर्थ व्यवस्था और राजनीति में इन्हीं की प्रमुखता है। निम्न वर्ग के जनसमुदाय में उच्च जातियों के प्रति परम्परात्मक आदर भक्ति और अधीनता की आज भी सबल भावना दिखती है। उनमें कर्मवाद के सिद्धान्त के नकारात्मक पहलू को समझने की आदत बाकी है।

---

1 *Ibid* p 288

2 A W Green *Sociology* p 222 (Summary to a chapter "Class and Mobility in America")

उस सनातन मत, कि जीवन कर्म-क्षेत्र है और अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा होता है, शायद उतना मान्य नहीं रहा है। प्रयत्न से सामाजिक स्थिति में उन्नति की जा सकती है। द्विज जातियाँ (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) परम्परागत कारणों से और शिक्षा, अर्थ तथा राजनीति में अधिक विकसित होने के कारण आज भी उच्च और मध्य वर्गों में अति प्रबल स्थिति में हैं। शूद्र वर्ग की जातियों का अब भी निम्न वर्ग में स्थान मिलता है। वे शिक्षा, अर्थ और राजनीति में अत्यधिक पिछड़ी हुई हैं।

भारत की जाति व्यवस्था का वर्ग संरचना में रूपान्तर हो रहा है किन्तु इस प्रक्रिया में एक बहुत प्रवाहित प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। लोगों की अपनी जाति से इतना मोह है कि वे सार्वजनिक जीवन में उच्च जाति अथवा जातिवाद से प्राप्त व्यवहार करते हैं। प्रो० घुर्ये इस प्रवृत्ति को भारतीय समाज के लिए जो अपना पुरातन रूप को त्यागकर नए रूप को वर्तमान में स्थापित करने का अनुभव कर रहा है बड़ी विनाशकारी कहते हैं।[1]

हमारे समाज की विद्यमान रचना तथा नवीन प्रवृत्तियों में जो व्यापक-बहुत परिवर्तन हुए हैं उनसे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारत में अब जन्म तथा पैतृक प्रस्थिति की अपेक्षा अर्जित प्रस्थिति का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। आर्थिक सम्पन्नता, शिक्षा और राजनैतिक प्रजातन्त्रीय शक्ति को उपार्जित व्यक्ति और परिवार को अपनी पैतृक स्थिति छोड़कर नए और ऊँची स्थिति प्राप्त करने में सहायक महत्त्वपूर्ण हैं। अब अधिक आय वाले पदों को करने वालों को समाज में ऊँचा सम्मान मिलता है यद्यपि ऊँची जाति की सम्पन्नता इस स्थिति में अब भी बार-बार दिख रही है। भारत में भी उच्च, मध्य और निम्न तीन वर्ग विकसित हो रहे हैं।

वर्ग और सामाजिक परिवर्तन

हमने आवृत्त-वर्ग व्यवस्था (जाति-व्यवस्था) और मुक्त वर्ग-संरचना का अभी तक जो विवरण किया है उससे स्पष्ट हो गया है कि वर्ग (या जाति) सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और गतिविधि को प्रभावित करते हैं। आविष्कारों के ढंग, जीवनयापन स्तर, ज्ञान विज्ञान, संस्थाएँ, दर्शन, विचार, कला और मनोरंजन—संक्षेप में—सम्पूर्ण संस्कृति को वर्ग रचना और मनोवृत्तियों रूप देता है। भारत के मध्ययुगीन रूप और उसकी जाति व्यवस्था वाले समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्था आज के परिवर्तनशील और शिथिल जाति व्यवस्था वाले समाज से कहीं भिन्न था। यह बात सब समाजों के ऐतिहासिक विकासों में सत्य रही है। पाश्चात्य समाजों की वर्ग संरचना में जो ऐतिहासिक उतार चढ़ाव हुए हैं उनसे सामाजिक सांस्कृतिक दशाएँ बदली और विभिन्न बनती हैं इसकी साक्षी उनके साहित्य दर्शन और मान्यता हैं।

---

1 G. S. Ghurye *Caste and Class in India* p. 228

सामाजिक वर्गों की स्थिरता सामाजिक दशाओं की स्थिरता पर निभर रहती है। किन्तु आधुनिक समाज का तेज सामाजिक परिवतन वग सगठन का विरोधी है। आगवन और निमकाफ ने सामाजिक वर्गों और वग चेतना की स्थिरता का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि आधुनिक समाजा म अत्यधिक प्रादेशिक और सामाजिक गतिशीलता प्रौद्योगिकी म अपूव उन्नति और बहु-मात्रा उत्पादन व्यवस्था, सचार के आधुनिक साधना द्वारा उच्च वग का उपसस्कृति का प्रचार और राष्ट्रवाद कुछ एसी महत्वपूर्ण शक्तियां हैं जो वगसगठन की विरोधी हैं। इसस वर्गों क बीच के भेद कम होते है और वग चेतना भी सुस्पष्ट और सबल नही हो पाती।[1] सम्भवत इसलिये कुछ विचारक यह आशा प्रकट करते हैं कि आधुनिक औद्योगिक और नगरीकृत सभ्यता का चरम विकास वग रहित समाज की स्थापना मे सहायक होगा। ध्यान रहे ये विचारक माक्स क वग युद्ध क सिद्धात के आलोचक है। उनके विचार से वग युद्ध क उपयुक्त सामाजिक आर्थिक अवस्था एव औद्योगिक रूस म उपलब्ध था किन्तु अब जनतन्त्रीकरण की प्रक्रिया से वर्गों के बीच के सघष का हिंसा और व्यापक रक्तपात म परिणत होने स निश्चय ही बचाया जा सकता है। इसी प्रगाढ विश्वास के दशन गाधी विनोबा के 'सर्वोदय आदश म होते हैं। इस विचार धारा तथा माक्सवाद (साम्यवाद) क चरम लक्ष्यों में अत्यधिक साम्य है। परन्तु इन दोना ने अपने साध्य की सिद्धि क लिए क्रमश जनतन्त्रीय, शान्तिपूर्ण अथवा अहिंसात्मक और हिंसात्मक एव तोड-फोड की रीतियों को अपनाने पर बल दिया है। सर्वोदय (जिस गाधीवाद भी कहा जाता है) एक जाति वग विहीन शोषण और अन्याय रहित सब प्रकार स सम्पन्न और सुखी समाज की स्थापना के लिय हृदय परिवतन का नतिक अस्त्र अपना कर चल रहा है। पाश्चात्य देशो म M R A के प्रवतक बकमन इसी विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। साम्यवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वग सघष और सत्ता हथियाने के हिंसात्मक राजनतिक और सनिक प्रयत्नो की सप्रभाविकता में आस्था रखता है। कुछ भी हो सामाजिक वर्गों की सरचना के रूपान्तर को एतिहासिक दृष्टि से समाज परिवतन का एक महत्वपूर्ण यन्त्र स्वीकार किया गया है।[2]

वग युद्ध का सिद्धात

माक्स और एजिल्स ने साम्यवादी घोषणा म इस सिद्धात की व्याख्या की है। उन्होन लिखा है समाजा और राष्ट्रो के बीच और स्वय उनके अन्तगत सघषमय प्रयत्नो का स्रोत वर्गों जिनमे एक समाज विभक्त है, क जीवन और स्थिति के भेद म है। आज तक स्थिति सम्पूर्ण समाज का इतिहास वग सग्रामो का इतिहास है। एजिल्स न बाद म आदिम साम्यवादी समाज को इसस मुक्त बताया था।

1 Ogburn & Nimkoff *op cit* pp 226-27
2. MacIver and Page *op cit* pp 381-83

आधुनिक बूर्जुआ समाज, जिसका जन्म सामंतवादी समाज के ध्वंसावशेषों से हुआ है, वर्ग विरोधों से मुक्त नहीं है। इसने नए वर्ग मात्र स्थापित हो गये हैं, उत्पीड़न की नई दशाएँ और संग्राम के पुराने रूपों के स्थान पर नए रूप बन गये हैं। किन्तु हमारे युग, बूर्जुआ के युग की यह विशेषता है कि इसमें वर्ग विरोधी सरल हो गये हैं। समाज अधिकाधिक दो विशाल वैरी दलों, बूर्जुआ और सर्वहारा में विभक्त होता जा रहा है। आधुनिक युग, जो बूर्जुआ की सम्पूर्ण विजय की प्रतिनिधि संस्थाओं, विस्तृत निर्वाचन (मताधिकार), स्वतंत्र लोकप्रिय अखबार आदि का युग है, जो शक्तिशाली और सतत विस्तारशील श्रमिक संघों और व्यावसायिक संघों का युग है, ने इस तथ्य को अधिक प्रकट रूप में व्यक्त कर दिया है कि वर्ग संग्राम घटनाओं का मुख्य चालक है। बूर्जुआ के सभी विरोधी वर्गों में केवल सर्वहारा सचमुच क्रान्तिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग क्षीण होते हैं और अन्ततः लुप्त हो जाते हैं। मध्य वर्ग के सभी टुकड़े अपने अस्तित्व की रक्षा में अवश्य बूर्जुआ का विरोध करते हैं किन्तु वे *क्रान्तिकारी नहीं, रूढ़िवादी (अनुदारवादी)* हैं। इससे अधिक वे प्रतिक्रियावादी हैं और इतिहास के चक्र को पीछे धकेलने का प्रयत्न करते हैं। अन्ततः सर्वहारा वर्ग बूर्जुआ को उखाड़ फेंकेगा और राज्य पर उसका अधिकार हो जायगा (क्योंकि प्रत्येक वर्ग संग्राम एक राजनैतिक संग्राम है)। इस प्रकार एक नए समाज (साम्यवादी समाज) की स्थापना होगी जिसमें प्रारम्भ में केवल सर्वहारा वर्ग होगा जो कालान्तर में एक वर्ग विहीन और राज्यविहीन समाज की रचना में समर्थ होगा।[1]

इस सिद्धान्त की बड़ी कटु आलोचना हुई है। प्रथम, मार्क्स का यह विश्वास कि अन्ततः पूँजीवादी समाज मात्र दो वर्गों बूर्जुआ और सर्वहारा में विभाजित हो जाएँगे, पिछली शताब्दी के इतिहास से असत्य हो जाता है। पूँजीवादी और अन्य औद्योगिक समाजों में मध्य वर्ग आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से बड़ा सशक्त रहा है। इसका आकार अनवरत बढ़ा है और यह 'शासक' और शासित (सर्वहारा या औद्योगिक श्रमिकों) दोनों से अपने को पृथक और भिन्न बनाये रखा है। इसलिए मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि राजनैतिक दृष्टि से मार्क्स का यह सिद्धान्त चाहे जितना महत्वपूर्ण रहा हो वह सामाजिक तथ्यों के अर्थनिर्णय में अवश्य अपर्याप्त है।[2] द्वितीय, वर्ग संग्राम को घटनाओं का मुख्य चालक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रवाद के प्रति गहन भक्ति से समाजों के विभिन्न वर्गों का संग्राम शिथिल पड़ जाता है। चीन, फ्रांस और द्वितीय महायुद्ध में फँसे राष्ट्रों का इतिहास इसका साक्षी है। श्रमिक वर्ग चेतना को उभाड़ने के लिए मार्क्स एंजिल का नारा— 'संसार के श्रमिकों एक हो जाओ, तुम अपनी शृंखलाएँ मात्र खोओगे' —राष्ट्रवाद की शक्ति के सामने

1. V. I. Lenin *Marx—Engels—Marxism* Foreign Languages Publishing House Moscow (1951) pp 26-29
2. MacIver & Page *op cit* p 362.

फीका पड जाता है। पालण्ड हगरी और यूगोस्लेविया म हाल के राजनतिक विप्लव इस तथ्य की पुष्टि करत है। स्वय साम्यवाद ने राष्ट्रवाद की गम्भीर शक्ति को स्वीकार कर एशिया के नव-स्वतत्र अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति क लिए सचेष्ट राष्ट्रा की सहायता कर अपना सहयोगी बनान की नई काय प्रणाली अपनाइ है।[1]

तीसरी आलोचना भी बडी सशक्त है। जवाहरलाल नेहरू और जयप्रकाश नारायण दोना इस बात पर सहमत हैं कि समाज अथवा ससार की सभी समस्याओ का समाधान वग सग्राम का उग्रतर कर नही किया जा सकता। जनतन्त्रीय समाजा म अहिंसात्मक शान्तिपूण और सजनात्मक रीतियों से समाजवाद की स्थापना निश्चय ही सम्भव है। यह लक्ष्य रक्त पात रहित सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के चर्मो त्कष पर सिद्ध हो सकेगा। सम्भवत, साम्यवाद का अधिक मगलकारी स्थानापन्न सर्वोदय ही है।

1 Dr John Mathai s lecture under Srinivas Sastri Lectureship in the Madras University (2nd Dec 1956)

२१

सामूहिक व्यवहार

(भीड, श्रोता, दर्शकगण एव जनता)

भीड की प्रकृति

ली बान (Le Bon) ने भीड शब्द का बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया है उन्होंने भीड के मनोवैज्ञानिक लक्षण पर विशेष जोर दिया है। वे शारीरिक निकटता को भीड का आवश्यक लक्षण नहीं मानते। उनके अनुसार भीड का आवश्यक गुण अनेक से लोगो मे समान भावनाओ और संवेगो का एक दिशा मे मुड जाना है। इससे उनके मन मे एक प्रकार का एकात्मक सामूहिक मस्तिष्क बन जाता है। भीड मे होने पर लोगो की वैयक्तिक चेतना पर सामूहिक चेतना हावी हो जाती है।

जनसंख्या के विभिन्न समूहो मे कुछ की विशेषतया अस्थायी अथवा अल्पकालिक प्रकृति होती है। भीडें, कोलाहली भीडें, श्रोता मंडलियाँ और जनताएं इसी प्रकार के सामाजिक समूह हैं। जब किसी वस्तु अथवा बात को देखने सुनने के लिए अधिक संख्या मे लोग अल्पकाल के लिए एकत्र हो जाते हैं तो उनके समूह को श्रोता मण्डली कहते हैं। प्रसंग के अनुसार राष्ट्र अथवा समाज के जनसाधारण को अथवा विशिष्ट दिशा के अनुसार जनसंख्या के खण्डो को क्रमश: जनता और जनताएं कहते हैं। आधुनिक राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय समाचार पत्र-पत्रिकाओ मे जो पाठ्य-सामग्री होती है वह विभिन्न जनताओ के जनसमुदायो की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से रखी जाती है। हिन्दुस्तान टाइम्स, हिन्दुस्तान अथवा अन्य पत्रिका आदि पत्रो मे सम्मिलित सामग्री राजनैतिक, धार्मिक और व्यापारिक दिशा सम्बन्धी मनोरंजन सामग्री और गम्भीर और हल्के-फुल्के मनोरंजक खण्डों मे विभक्त होती है। प्रत्येक खण्ड के पाठकों को जनता कहा जा सकता है। भारतीय दैनिक समाचार पत्र जनमत को प्रभावित करने के प्रमुख साधन हैं।

सब प्रकार की भीड के सदस्यो मे साधारणतया शारीरिक समीपता होती है। श्रोतामंडली मे प्राय: शारीरिक समीपता होना आवश्यक नहीं है। इसी

छोटी श्रोतामडलिया के सदस्यो में शारीरिक समीपता अथवा एक साथ उपस्थिति सम्भव हो जाती है। किन्तु टेलिविजन या रेडियो की श्रोतामडलियो मे केवल मानसिक सम्पर्क होता है। जनताओ म तो केवल मानसिक सम्पर्क ही मिलता है।

भीडो का आवश्यक लक्षण भारी सख्या म लोगो के बीच शारीरिक समीपता नही है। इन लोगो मे अन्त उत्तेजना और अनुक्रिया अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक लक्षण है। भीड म लोगो की उपस्थिति से जो एक दूसरे के विचारो और सवेगो पर प्रभाव पडता है वह सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह प्रभाव नाटकीय हो जाता है जब सवेग भडक उठते हैं और भीड म सघन भावना बडी सरलता से उभड जाती है। इसलिए भीड की सबसे अच्छी परिभाषा उसकी सरचना के आधार पर न होकर काय से हो सकती है। भीड का विशिष्ट चिह्न आवेश है।

भीड का अर्थ ऐसे जन समूह से नही है जो किसी बडे नगर की सडक पर कधे से कधा रगड कर चल रहा है और जिसका हर व्यक्ति अपने अपने काम पर चला जा रहा है अथवा वहा किसी को दूसरे से कोई मतलब नही है। विशाल जन-समूह बडे या राजधानी नगरो की विशेषता है। अर्थात् विशाल जनसमूह का एक स्थान पर एकत्रित होना ही भीड नही कहाता। उनके शारीरिक सपर्क मात्र से भीड नही बन जाती। भीड एक प्रकार का अस्थायी एव असगठित समूह है। स्मरण रहे कि समूह का आधार मनोवैज्ञानिक है। अतएव भीड का आधार भी मनोवैज्ञानिक है। उपरोक्त विशाल जनसमूह भीड म बदल जायगा जब उसके व्यक्तियो का ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाए। गणतन्त्र दिवस का विशेष समारोह देखने के लिए एकत्रित जन समूह भीड है। इस समूह के व्यक्तियो की दिलचस्पी इस समारोह की आकर्षक और रगबिरगी चीजो को देखना है। इसी प्रकार बाजार म एकत्रित जन समूह भी भीड बन सकता है यदि बाजार की किसी दुकान म आग लग जाए अथवा किसी लारी ठेला से कोई बच्चा कुचल जाए। इन दोनो अवसरो पर जनसमूह के व्यक्तियो का ध्यान एक ही बिन्दु पर आकर टिक जाता है। पहले म जलती दुकान पर और दूसरे म आहत बच्चे पर। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियो म एक ही प्रकार का सवेग जागृत होता है और उनम से हर व्यक्ति की मानसिक दशा दूसरे उपस्थित व्यक्तियो की मानसिक प्रक्रियाओ से कुछ अशो म अवश्य प्रभावित होती है। मैक्डूगल भी इनको भीड या अन्य सामूहिक मानसिक जीवन की मूलभूत दशायें मानता है।[1]

भीड के सदस्य म इस भावना का होना आवश्यक है कि दूसरे लोग वहाँ उपस्थित हैं और एक सदस्य के सवेग और विचार दूसरो द्वारा समगृहीत होते हैं।

---

1 McDougall *The Group Mind* Cambridge (1927) pp 22-23

गिंसबर्ग के अनुसार भीड़ के सदस्यों में संवेगों और विचारों की समानता तभी हो सकती है जब उनमें कुछ सांस्कृतिक समाजातीयत्व हो। एक ही वस्तु से आकर्षित होने के लिए लोगों में बहुत सी बातें सामान्य होना चाहिए।[1]

रॉस के अनुसार भीड़ में ध्यान के झुकाव में साम्य, आशा और चेतना के क्षेत्र का संकुचन होना चाहिये जिससे विघ्नकारी प्रभाव पैदा न हो सकें। भीड़ के सभी लक्षणों में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त गहरी शान्ति रखी, साम और मन्दिर ध्यान आदि लक्षणों पर भी जोर दिया जाता है।

भीड़ मनुष्यों के उस समूह का नाम है जिसमें कुछ देर के लिए लोग असंगठित तरीके से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। भीड़ के लिये संख्या का अधिक होना आवश्यक है। पहले से सूचना पाकर सैकड़ों हजारों या लाखों की संख्या में एकत्रित लोगों से वक्ता अभिनेता या नर्तक या गायक की उपस्थिति में भीड़ बरन् श्रोता मण्डली बनती है। श्रोतागण को एक औपचारिक भीड़ कहा जा सकता है। इसी तरह जुलूस और भीड़ में भी भेद है। जुलूस एक अस्थायी संगठित समूह है और जुलूस को देखने के लिए दर्शक समूह भीड़ है। जैसे राम बारात (रामलीला में) में सम्मिलित लोग जुलूस में होते हैं और इस बारात को देखने की रुचि से इकट्ठे जनसमूह को भीड़ कहते हैं। इसी प्रकार किसी मेले में एकत्रित जनसमूह भीड़ है या समुद्र तट पर या पार्क में एकत्रित छुट्टी में आनन्द मनाने वालों के समूह भीड़ हो सकते हैं। ये अनौपचारिक भीड़ के उदाहरण हैं।

किम्बल यंग ने बहुत अधिक संख्या में लोगों के उस संगम को जो एक केन्द्र अथवा सामान्य बिन्दु के कारण एकत्र हुआ है भीड़ कहा है।[2] थूल्स के विचार में 'भीड़ एक अस्थायी और असंगठित समूह है जो किसी सामान्य रुचि के कारण स्वतः ही बन गया है और जिसकी सीमाएँ पूर्णतः से विस्तारशील हैं।'[3]

आवश्यक लक्षण

उपरोक्त वर्णन से भीड़ के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण या दशायें प्रकट होती हैं —

(१) सामान्य वस्तु पर रुचि, ध्यान एवं कार्य का होना इस प्रतिक्रिया को ध्रुवीकरण (polarization) कहते हैं (२) रुचि की वस्तु के बारे में एक ही संवेग और समान विचार (३) समूह के सदस्यों पर पारस्परिक प्रभाव (४) समूह की

---

1 Morris Ginsberg *Psychology of Society* London (1933) p 130

2. A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attention Kimball Young *Handbook of Social Psychology* Routledge and Kegan Paul (1953) p 387

3 A crowd is a transitory group unorganised with completely permeable boundaries spontaneously formed as a result of some common interest R. H Thoules *General and Social Psychology* p 258

छोटी श्रोतामडलियो के सदस्यो म शारीरिक समीपता अथवा एक साथ उपस्थिति सम्भव हो जाती है। किन्तु टेलिविजन या रेडियो की श्रोतामडलियो म केवल मानसिक सम्पर्क होता है। जनताओ म तो केवल मानसिक सम्पर्क ही मिलता है।

भीडो का आवश्यक लक्षण भारी सख्या म लोगो के बीच शारीरिक समीपता नही है। इन लोगो म अत उत्तेजना और अनुक्रिया अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक लक्षण है। भीड म लोगो की उपस्थिति से जो एक दूसरे के विचारो और सवेगो पर प्रभाव पडता है वह सबसे महत्वपूर्ण है। यह प्रभाव नाटकीय हो जाता है जब सवेग भडक उठते है और भीड म सघन भावना बडी सरलता से उमड जाती है। इसलिए भीड की सबसे अच्छी परिभाषा उसकी सरचना के आधार पर न होकर कार्य से हो सकती है। भीड का विशिष्ट चिह्न आवश है।

भीड का अर्थ ऐसे जन समूह से नही है जो किसी बडे नगर की सडक पर कन्धे से कन्धा रगड कर चल रहा है और जिसका हर व्यक्ति अपने अपने काम पर चला जा रहा है अथवा वहा किसी का दूसरे से कोई मतलब नही है। विशाल जन समूह बडे या राजधानी नगरो की विशेषता है। अर्थात् विशाल जनसमूह का एक स्थान पर एकत्रित होना ही भीड नही कहाता। उनके शारीरिक सपर्क मात्र से भीड नही बन जाती। भीड एक प्रकार का अस्थायी एव असगठित समूह है। स्मरण रहे कि समूह का आधार मनोवैज्ञानिक है। अतएव भीड का आधार भी मनोवैज्ञानिक है। उपरोक्त विशाल जनसमूह भीड म बदल जायगा जब उसके व्यक्तियो का ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाए। गणतन्त्र दिवस का विशेष समारोह देखने के लिए एकत्रित जन समूह भीड है। इस समूह के व्यक्तियो की दिलचस्पी इस समारोह की आकर्षक और रगबिरगी चीजो को देखना है। इसी प्रकार, बाजार म एकत्रित जन समूह भी भीड बन सकता है यदि बाजार की किसी दुकान म आग लग जाए अथवा किसी लारी के नीचे कोई बच्चा कुचल जाए। इन दोनो अवसरो पर जनसमूह के व्यक्तियो का ध्यान एक ही बिन्दु पर आकर टिक जाता है। पहले म जलती दुकान पर और दूसरे म आहत बच्चे पर। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियो म एक ही प्रकार का सवेग जागृत होता है और उनम से हर व्यक्ति की मानसिक दशा दूसरे उपस्थित व्यक्तियो की मानसिक प्रक्रियाओ से कुछ अशो मे अवश्य प्रभावित होती है। मैक्डूगल भी इसको भीड या अन्य सामूहिक मानसिक जीवन की मूलभूत दशा मानता है।[1]

भीड के सदस्य म इस भावना का होना आवश्यक है कि दूसरे लोग वहाँ उपस्थित हैं और एक सदस्य के सवेग और विचार दूसरो द्वारा समगृहीत होते हैं।

---

1 McDougall *The Group Mind* Cambridge (1927) pp 22-23

गिंसबर्ग के अनुसार भीड़ के सदस्यों में संवेगों और विचारों की समानता तभी हो सकती है जब उनमें कुछ सांस्कृतिक समाजातीयत्व हो। एक ही वस्तु से आकर्षित होने के लिए लोगों में बहुत सी बातें सामान्य होना चाहिए।[1]

रॉस के अनुसार भीड़ में ध्यान के झुकाव में साम्य, अपेक्षा और चेतना के क्षेत्र का संकुचन होना चाहिए जिससे विघ्नकारी प्रभाव पैदा न हो सकें। भीड़ के सभी वर्णनों में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त गहरी शान्ति रुकी सांस और केन्द्रित ध्यान आदि लक्षणों पर भी जोर दिया जाता है।

भीड़ मनुष्यों के उस समूह का नाम है जिसमें कुछ देर के लिए लोग असंगठित तरीके से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। भीड़ के लिये संख्या का अधिक होना आवश्यक है। पहले से सूचना पाकर सैंकड़ों हजारों या लाखों की संख्या में एकत्रित लोगों से वक्ता अभिनेता या नर्तक या गायक की उपस्थिति में भीड़ वरन् श्रोता मंडली बनती है। श्रोतागण को एक औपचारिक भीड़ कहा जा सकता है। इसी तरह जुलूस और भीड़ में भी भेद है। जुलूस एक अस्थायी संगठित समूह है और जुलूस को देखने के लिए दर्शक समूह भीड़ है। जैसे, राम बारात (रामलीला में) में सम्मिलित लोग जुलूस में होते हैं और इस बारात को देखने की रुचि से इकट्ठे जनसमूह को भीड़ कहते हैं। इसी प्रकार किसी मेले में एकत्रित जनसमूह भीड़ है या समुद्र तट पर या पार्क में एकत्रित छुट्टी में आनन्द मनाने वालों के समूह भीड़ हो सकते हैं। ये अनौपचारिक भीड़ के उदाहरण हैं।

किम्बाल यंग ने 'बहुत अधिक संख्या में लोगों के ऐसे मजमे को जो एक केन्द्र अथवा सामान्य बिन्दु के कारण एकत्र हुआ है भीड़ कहा है।[2] थूलेस के विचार में भीड़ एक अस्थायी और असंगठित समूह है जो किसी सामान्य रुचि के कारण स्वतः ही बन गया है और जिसकी सीमाएँ पूर्णता से विस्तारणीय हैं।[3]

आवश्यक लक्षण

उपरोक्त वर्णन में भीड़ के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण या दशायें प्रकट होती हैं —

(१) सामान्य केन्द्र पर रुचि ध्यान एवं कार्य का होना इस प्रक्रिया को ध्रुवीकरण (polarization) कहते हैं (२) रुचि की वस्तु के बारे में एक ही मत और समान विचार, (३) समूह के सदस्यों पर पारस्परिक प्रभाव (४) समूह की

---

1 Morris Ginsberg *Psychology of Society* London (1933) p 130

2 A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attention Kimball Young *Handbook of Social Psychology* Routledge and Kegan Paul (1953) p 387

3 A crowd is a transitory group unorganised with completely permeable boundaries spontaneously formed as a result of some common interest R. H Thouless *General and Social Psychology* p 258

छोटी श्रोतामडलियो के सदस्यो म शारीरिक समीपता अथवा एक साथ उपस्थिति सम्भव हो जाती है। किन्तु टेलिविजन या रेडियो की श्रोतामडलियो म केवल मानसिक सम्पर्क होता है। जनताओ मे तो केवल मानसिक सम्पर्क ही मिलता है।

भीड का आवश्यक लक्षण भारी सख्या म लोगो के बीच शारीरिक समीपता नही है। इन लोगो म अन्त उत्तेजना और अनुक्रिया अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक लक्षण है। भीड म लोगो की उपस्थिति से जो एक दूसरे के विचारो और सवेगो पर प्रभाव पडता है वह सबसे महत्वपूर्ण है। यह प्रभाव नाटकीय हो जाता है जब सवेग भडक उठते हैं और भीड म सघन भावना बडी सरलता से उभड जाती है। इसलिए भीड की सबसे अच्छी परिभाषा उसकी सरचना के आधार पर न होकर काय से हो सकती है। भीड का विशिष्ट चिह्न आवेश है।

भीड का अर्थ ऐसे जन समूह से नही है जो किसी बडे नगर की सडक पर कधे से कधा रगड कर चल रहा है और जिसका हर व्यक्ति अपने अपने काम पर चला जा रहा है अथवा वहा किसी का दूसरे से कोई मतलब नही है। विशाल जन-समूह बडे या राजधानी नगरो की विशेषता है। अर्थात् विशाल जनसमूह का एक स्थान पर एकत्रित होना ही भीड नही कहाता। उनके शारीरिक सपर्क मात्र से भीड नही बन जाती। भीड एक प्रकार का अस्थायी एव असगठित समूह है। स्मरण रहे कि समूह का आधार मनोवैज्ञानिक है। अतएव भीड का आधार भी मनोवैज्ञानिक है। उपरोक्त विशाल जनसमूह भीड म बदल जायगा जब उसके व्यक्तियो का ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाए। गणतन्त्र दिवस का विशेष समारोह देखने के लिए एकत्रित जन समूह भीड है। इस समूह के व्यक्तियो की दिलचस्पी इस समारोह का आकर्षक और रगबिरगी चीजो को देखना है। इसी प्रकार बाजार म एकत्रित जन समूह भी भीड बन सकता है यदि बाजार की किसी दुकान म आग लग जाए अथवा किसी लारी ठेला से कोई बच्चा कुचल जाए। इन दोनो अवसरो पर जनसमूह के व्यक्तियो का ध्यान एक ही बिन्दु पर आकर टिक जाता है। पहले म जलती दुकान पर और दूसरे म आहत बच्चे पर। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियो म एक ही प्रकार का सवेग जागृत होता है और उनम से हर व्यक्ति की मानसिक दशा दूसरे उपस्थित व्यक्तियो की मानसिक प्रक्रियाओ से कुछ अशो मे अवश्य प्रभावित होती है। मैक्डूगल भी इनको भीड या अन्य सामूहिक मानसिक जीवन की मूलभूत दशायें मानता है।[1]

भीड के सदस्य म इस भावना का होना आवश्यक है कि दूसरे लोग वहाँ उपस्थित हैं और एक सदस्य के सवेग और विचार दूसरो द्वारा समगृहीत होते हैं।

---

1 McDougall *The Group Mind* Cambridge (1927) pp 22-23

गिंसबर्ग के अनुसार भीड़ के सदस्यों में संवेगों और विचारों की समानता तभी हो सकती है जब उनमें कुछ सांस्कृतिक समाजातीयत्व हो। एक ही वस्तु से आकर्षित होने के लिए लोगों में बहुत सी बातें सामान्य होना चाहिए।[1]

रास के अनुसार भीड़ में ध्यान के झुकाव में साम्य अपेक्षा और चेतना के क्षेत्र का संकुचन होना चाहिये जिससे विघ्नकारी प्रभाव पैदा न हो सकें। भीड़ के सभी वर्णनों में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त गहरी शान्ति रुकी साँस और केन्द्रित ध्यान आदि लक्षणों पर भी जोर दिया जाता है।

भीड़ मनुष्यों के उस समूह का नाम है जिसमें कुछ देर के लिए लोग असंगठित तरीके से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। भीड़ के लिये संख्या का अधिक होना आवश्यक है। पहले से सूचना पाकर सैकड़ों, हजारों या लाखों की संख्या में एकत्रित लोगों से वक्ता, अभिनेता या नर्तक या गायक की उपस्थिति में भीड़ वरन् श्रोता मण्डली बनती है। श्रोतागण को एक औपचारिक भीड़ कहा जा सकता है। इसी तरह जलूस और भीड़ में भी भेद है। जुलूस एक अस्थायी संगठित समूह है और जुलूस को देखने के लिए दर्शक समूह भीड़ है। जैसे राम बारात (रामलीला में) में सम्मिलित लोग जुलूस में होते हैं और इस बारात को देखने की रुचि से इकट्ठे जनसमूह को भीड़ कहते हैं। इसी प्रकार किसी मेले में एकत्रित जनसमूह भीड़ है या समुद्र तट पर या पार्क में एकत्रित छुट्टी में आनन्द मनाने वालों के समूह भीड़ हो सकते हैं। ये अनौपचारिक भीड़ के उदाहरण हैं।

किम्बल यंग ने 'बहुत अधिक संख्या में लोगों के ऐसे मजमे को जो एक केन्द्र अथवा सामान्य बिन्दु के कारण एकत्र हुआ है भीड़ कहा है।[2] थूल्स के विचार में 'भीड़ एक अस्थायी और असंगठित समूह है जो, किसी सामान्य रुचि के कारण स्वतः ही बन गया है और जिसकी सीमाएँ पूर्णतया से विस्तारशील हैं।[3]

आवश्यक लक्षण

उपरोक्त वर्णन से भीड़ के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण या विशेषतायें प्रकट होते हैं —

(१) सामान्य केन्द्र पर रुचि, ध्यान एवं कार्य का होना इस प्रतिक्रिया को ध्रुवीकरण (polarization) कहते हैं, (२) रुचि की वस्तु के बारे में एक ही सवेग और समान विचार, (३) समूह के सदस्यों पर पारस्परिक प्रभाव (४) समूह की

---

1 Morris Ginsberg *Psychology of Society* London (1933) p 130

2. A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attention Kimball Young *Handbook of Social Psychology* Routledge and Kegan Paul (1953) p 387

3 A crowd is a transitory group unorganised with completely permeable boundaries spontaneously formed as a result of some common interest R. H Thoules *General and Social Psychology* p 258

अल्पकालिक प्रकृति, (५) उसका स्थानिक वितरण, (६) जनसमुदाय की शक्ति का कुछ अनुभूति।

भीडों का वर्गीकरण

रुचियों के विचार से मकाइवर और पेज ने भीडों को चार वर्गों में विभक्त किया है।[1]

(१) केन्द्रित और समान रुचि वाली भीड
(focussed and like interest crowd)

(२) अकेन्द्रित और समान रुचि वाली भीड
(unfocussed and like interest crowd)

(३) केन्द्रित और सामान्य रुचिवाली भीड और
(focussed and common interest crowd)

(४) अकेन्द्रित और सामान्य रुचि वाली भीड।
(unfocussed and common interest crowd)

केन्द्रित और एकसी रुचि वाली भीड—जब एक मकान में आग लग जाती है तो चारों तरफ खडे लोग तमाशा देखते हैं। उनमें से हरेक की दिलचस्पी या रुचि यही है कि आग से मकान का क्या नुकसान हुआ? कौन आदमी जल गया? कितने आदमी भाग निकले? इसी को जानने की उत्सुकता सब में है। ऐसी भीड केन्द्रित और एक सी रुचि वाली कहलाती है। ऐसी तरह की भीड गाडी आने के पूर्व प्लेटफार्म पर होती है। गाडी आते ही भीड के हर सदस्य का ध्यान एक बात पर है कि किसी तरह से गाडी पर सवार हुआ जाय।

केन्द्रित और सामान्य रुचि वाली भीड—ऊपर दिये हुए आग के चारों ओर एकत्रित भीड के उदाहरण में एक ही रुचि पैदा हो सकती है। अगर सभी लोग दौड कर आग बुझाने लग तो पूर्व की भीड केन्द्रित और एकसी रुचि वाली भीड हो जायगी। ऐसी भीड में हरेक आदमी अपने को विशाल समूह का एक अंग समझता है। वह अपनी विशाल शक्ति का अनुभव भी करता है। इसमें हर व्यक्ति का एक ही स्वार्थ है। राजनैतिक भीडें इसी प्रकार की होती हैं। किसानों की विरोध प्रदर्शन भीड, दुकानदारों की हडताली भीड, अथवा विद्यार्थियों का अपनी मांगें पूरी करवाने के लिए स्कूल-कालेज में अनुपस्थित होकर जुलूस निकालना और चौराहे या मकान में भीड के रूप में बदल जाना कुछ इसी प्रकार की भीडें होती हैं। हडताली मजदूरों की भीड भी केन्द्रित और सामान्य रुचि वाली भीड होती है। सुना है अमरीका में लिंचिंग (lynching) भी इसी प्रकार की भीडों द्वारा होता है।

---

1 MacIver and Page *op cit* p 424 chart XVI

समाजशास्त्र में ये भीड़ें बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन भीड़ों का संगठन घटनाओं पर निर्भर रहता है। इन भीड़ों में हरेक सदस्य विशाल शक्ति का अनुभव करता है और थोड़े से इशारे पर ऐसी भीड़ें भयंकर से भयंकर उत्पात अथवा अपराध कर सकती हैं। कानून या देश की प्रथाओं की बलि दे देना इन भीड़ों के लिये साधारण बात है। ऐसे अवसर पर मनुष्य की कुत्सित या समाज विरोधी भावनाएं जाग उठती हैं और पशुता का उसमें नंगा नाच हो सकता है। इस प्रकार की भीड़ें अच्छा काम भी कर सकती हैं किन्तु उनके लिये अवसर जुटाने का काम बहुत कठिन होता है।

अकेन्द्रित तथा एक सी रुचि वाली भीड़—छुट्टी के दिन किसी बड़े पार्क में या नदी के किनारे एकत्रित भीड़ इसी प्रकार की होती है। इसमें भीड़ का ध्यान किसी एक वस्तु पर केन्द्रित नहीं होता और न सबका एक उद्देश्य पूर्ति करना ही ध्येय रहता है। किन्तु हर किसी की रुचि एकसी है। सैर-सपाटे के लिये या मनोरंजन के लिए सभी एकत्र हुए हैं। यही भीड़ केन्द्रित ध्यान की हो सकती है यदि उदाहरण के लिये नदी में कोई आदमी डूबने लगे। सभी का ध्यान उस डूबते हुए व्यक्ति पर केन्द्रित हो जायगा। यही भीड़ केन्द्रित तथा सामान्य रुचि वाली भी हो सकती है यदि पार्क में एकत्र होने के बाद ही वहां कोई मैच होने लगे या आतिशबाजी छुटाई जाय। इस प्रकार की भीड़ क्रिकेट फुटबाल आदि के मैच के अवसर पर बनती है। किसी विशेष उत्सव के अवसर पर किसी विशेष कार्यक्रम को देखने के लिए एकत्र जमघट इसी प्रकार की भीड़ होती है। सन् १५ अगस्त स्वतन्त्रता दिवस पर दिल्ली के लाल किले के समीप प्रधान मन्त्री के भाषण को सुनने के लिये एकत्रित भीड़ इसी तरह की होती है।

कार्यशील भीड़

फुटबाल के मैच को देखने के लिये भीड़ कभी कभी जोर जोर से तालियां बजाती है चिल्लाती है अथवा कभी किसी खिलाड़ी के गिर जाने से या आउट होने से सांस रोक कर शान्त बैठ जाती है। ऐसी भीड़ के सभी लोगों में संवेग उठते हैं और गहरी मनोवृत्तियाँ उभड़ आती हैं। यह सक्रिय भीड़ (action crowd) है। किम्बल यंग के विचार से सक्रिय भीड़ें दो प्रकार की हो सकती हैं—आक्रामक क्रोधी (attack rage) भीड़ अथवा संत्रस्त (panic crowd) भीड़। मान लीजिए एक मैच भारतीय और रूसी दलों के बीच में हो रहा था। रूसी दल ने चार गोल कर दिये और भारत का एक भी नहीं हुआ। भीड़ में से एक तरफ से आवाज आई हिन्दुस्तान के साथ अन्याय हो रहा है। अगर दूसरे दल के भी इसी प्रकार नाचने और चिल्लाने लगते हैं तो भीड़ या तो रेफरी को मारने दौड़ेगी या रूसी दल (टीम) पर आक्रमण कर देगी। ऐसी स्थिति में भीड़ का क्रुद्ध भाव उमड़ कर नाचने लगेगा। लूट, भीड़ द्वारा आग लगा देना, दंगा और किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह या परिवार पर एक जमघट द्वारा हमला और उनकी हत्या आक्रामक क्रोधी भीड़ के

जाय हैं। सिनेमा में आग लग जाने पर दर्शकों की भीड़ भय के मारे भागती है। हरेक को अपनी जान बचाने की पड़ी होती है। परिणामतः बहुत से स्त्री बच्चे और पुरुष दब कर मर जाते हैं। इन अशान्त और उग्र भीड़ों को कोलाहली भीड़ें (mobs) कह सकते हैं। तल्लीनता और हिंसा अथवा आक्रामक चेष्टाएँ इनकी प्रधान विशेषताएँ हैं। ऐसी कोलाहली भीड़ों को सक्रिय अथवा कर्माई भीड़ें कहते हैं। इनको पुनः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है (१) आक्रामक-क्रोधी भीड़ें और (२) भयग्रस्त भीड़ें।

आनन्द उल्लास अथवा शोक में उन्मत्त शान्तिमय भीड़ों को अभिव्यंजक भीड़ें (expressive crowd) कहते हैं। यही किसी कारण से क्षणभर में उग्र और अशान्त अथवा सक्रिय भीड़ हो सकती हैं। सक्रिय भीड़ कुछ कर डालने पर आमादा होती हैं।

क्रियाशील भीड़ पर सबसे मूलभूत संवेगों जैसे क्रोध, भय, घृणा और ईर्ष्या आदि का प्रभाव होता है। उसमें इतना आवेश होता है कि शान्ति या धैर्य से सोचना उसकी क्षमता से परे हो जाता है। उसमें सभी व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य करने पर उतावले होते हैं और उसे करने के बाद ही दम लेते हैं।

भीड़ की मानसिक विशेषताएँ

(१) **न्यून बुद्धि**—भीड़ में न्यून बुद्धि होती है। भीड़ का अंग हो जाने के बाद व्यक्ति की विचार शक्ति बहुत कम हो जाती है। भीड़ के बाहर जितनी बुद्धि का प्रदर्शन वह कर सकता था वह उसके भीतर असम्भव हो जाता है। भीड़ में व्यक्ति स्पष्ट नहीं सोच पाता। वह किसी भी विचार को सत्य मान सकता है। इतना ही नहीं दूसरों की राय को भी सिद्ध वाक्य जैसा अपना लेता है। भीड़ में विचार और राय छूत की तरह फैलते हैं। भीड़ क्षण भर में तिल को ताड़ और ताड़ को तिल बना देती है।

भीड़ में न्यून बुद्धि होने के मनोवैज्ञानिकों ने कई कारण बताये हैं —

(अ) भीड़ में सब तरह के लोग होते हैं। ऊँची बुद्धि और तर्क वाले तथा न्यून बुद्धि और तर्क शक्ति रहित भी। किन्तु बहुसंख्या दूसरी श्रेणी के लोगों की होती है। अतः भीड़ की समग्र बुद्धि अल्प और हीन स्तर की हो जाती है। भीड़ में तर्क और विचार भी हीन स्तर में प्रवेश पाते हैं क्योंकि उच्च तर्क को समझने की क्षमता बहुसंख्या में नहीं होती। बहुसंख्या के साथ अल्पसंख्या वाले जिनकी बुद्धि ऊँची होती है गम्भीरता से सोचने की शक्ति अल्प समय के लिये खो बैठते हैं।

(आ) भीड़ में सामूहिक विचार विमर्श नहीं हो पाता क्योंकि ऐसे विचार-विनिमय के लिए विचारों का आदान प्रदान और स्वतन्त्र वहस होना आवश्यक है।

और ये दोनों बातें भीड़ में होना असम्भव है। इसलिये भी भीड़ की विचार शक्ति में ह्रास आ जाता है। भीड़ में जो आदमी बोलने खड़ा होता है वही बोलता है और दूसरों को चुप कर देता है।

(इ) व्यक्तियों में सुझावग्रहणीयता बढ़ जाती है। भीड़ की भारी शक्ति का प्रभाव हर व्यक्ति पर पड़ता है। वह अपने को भीड़ के अधीन समझने लगता है और उसकी मानसिक दशा सुझाव ग्रहण करने योग्य हो जाती है। हर राय जो भीड़ में चलती है बड़ी हुई प्रतिष्ठा के कारण शीघ्र ही स्वीकार कर ली जाती है। चेतना के केन्द्र के बाहर हर विचार सुझावग्रहणीयता द्वारा दुरदुरा दिया जाता है। भीड़ का नेता भी लोगों के संवेगों और भावनाओं को जगाने और सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। जाग्रत संवेग के अनुकूल हर विचार बड़ी जल्दी ग्रहण हो जाता है। नेता की राय को लोग भीड़ की राय मानते हैं क्योंकि वह जनसमुदाय के सुझाव की शक्ति लिये होती है।

(ई) जब संवेगात्मक भावना भीड़ में आ जाती है तो सुझावग्रहणीयता बढ़ जाने के अलावा विचार शक्ति भी मन्द पड़ जाती है। आये हुए संवेगों के विरोधी विचार एक दो के ही मस्तिष्क में घुमते हैं किन्तु जिनका उन संवेगों से सामंजस्य होता है उन्हें तर्क के बगैर ही ग्रहण कर लिया जाता है। भीड़ में व्यक्ति संवेगों की अभिव्यक्ति के प्रति बहुत उत्तरशील होता है। उत्तेजक के नवीन होने का प्रभाव भी बहुत जबरदस्त होता है। जितनी अधिक भावना सघन होगी तर्क उतना ही कुण्ठित होगा। साधारण तौर पर, संवेग बौद्धिक प्रक्रिया को रोक देता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भावना की पराकाष्ठा जो कि धीरे धीरे भीड़ में पहुँच जाती है भीड़ को अस्थायी मन दुर्बलता में ला पटकती है।[1] इन्हीं परिस्थितियों में आदमी अन्धा होकर कोई भी काम कर सकता है। बहुत सम्भव है इन कामों के लिये बाद में उसे पछताना पड़े।

(उ) अनुकरणात्मक व्यवहार भीड़ की एक प्रधान विशेषता है। अनुकरण में व्यक्ति में भीड़ के साथ ही संवेग आते हैं। लोगों को हँसते देखकर वह हँसने लगता है, अगर लोग रो रहे हैं तो वह रोता है और यदि लोग शोक में अभिभूत हैं तो वह शोक में डूब जाता है। कहने का अभिप्राय है कि भीड़ में हर व्यक्ति के संवेग एक से हो जाते हैं। अगर भीड़ में क्रोध की ज्वाला धधक रही है तो उसी ज्वाला की लपटों में व्यक्ति भी जलने लगता है। भीड़ के कुछ लोगों के भागने पर बाकी लोग भी भागने लगते हैं। यह अनुकरणात्मक व्यवहार सम्पन्न प्रेरकों के प्रति उत्तरशील समान संवेगों के कारण होता है।

(२) संवेगात्मकता—यह भीड़ की दूसरी विशेषता है। संवेगात्मक भावना भीड़ों की मुख्यतम प्रकृति है। भावनाएँ कई साधनों द्वारा सजीवता से अभिव्यक्त

1 E. A. Roys *Social Psychology* pp 56-57

काय हैं। सिनेमा मे आग लग जाने पर दर्शकों की भीड भय के मारे भागती है। हरेक को अपनी जान बचाने की पडी होती है। परिणामत बहुत से स्त्री बच्चे और पुरुष दब कर मर जाते हैं। इन अशान्त और उग्र भीडो को कोलाहली भीडें (mobs) कह सकते हैं। तर्कहीनता और हिंसा अथवा आक्रामक चेष्टाएं इनकी प्रधान विशेषताएं हैं। ऐसी कोलाहली भीडो को सक्रिय अथवा दगाई भीडें कहते हैं। इनको पुन दो वर्गों में विभक्त किया जाता है (१) आक्रामक क्रोधी भीडें और (२) भयग्रस्त भीडें।

आनन्द उल्लास अथवा शोक में उन्मत्त शान्तिमय भीडो को अभिव्यंजक भीडें (expressive crowd) कहते हैं। यही किसी कारण से क्षणभर में उग्र और अशान्त अथवा सक्रिय भीडें हो सकती हैं। सक्रिय भीडें कुछ कर डालने पर आमादा होती हैं।

क्रियाशील भीड पर सबसे मूलभूत संवेगों जैसे क्रोध, भय, घृणा और ईर्ष्या आदि का प्रभाव होता है। उसमें इतना आवेश होता है कि शान्ति या धैर्य से सोचना उसकी क्षमता से परे हो जाता है। उसमें सभी व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य करने पर उतावले होते हैं और उसे करने के बाद ही दम लेते हैं।

भीड की मानसिक विशेषताएं

(१) न्यून बुद्धि—भीड में न्यून बुद्धि होती है। भीड का अंग हो जाने के बाद व्यक्ति की विचार शक्ति बहुत कम हो जाती है। भीड के बाहर जितनी बुद्धि का प्रदर्शन वह कर सकता था वह उसके भीतर असम्भव हो जाता है। भीड में व्यक्ति स्पष्ट नहीं सोच पाता। वह किसी भी विचार को सत्य मान सकता है। इतना ही नहीं दूसरों की राय को भी सिद्ध वाक्य जैसा अपना लेता है। भीड में विचार और राय छूत की तरह फैलते हैं। भीड क्षण भर में तिल को ताड और ताड को तिल बना देती है।

भीड में न्यून बुद्धि होने के मनोवैज्ञानिकों ने कई कारण बताये हैं —

(अ) भीड में सब तरह के लोग होते हैं। ऊंची बुद्धि और तर्क वाले तथा न्यून बुद्धि और तर्क शक्ति रहित भी। किन्तु बहुसंख्या दूसरी श्रेणी के लोगों की होती है। अत भीड की समग्र बुद्धि अल्प और हीन स्तर की हो जाती है। भीड में तर्क और विचार भी हीन स्तर में प्रवेश पाते हैं क्योंकि उच्च तर्क को समझने की क्षमता बहुसंख्या में नहीं होती। बहुसंख्या के साथ अल्पसंख्या वाले जिनकी बुद्धि ऊँची होती है गम्भीरता से सोचने की शक्ति अल्प समय के लिये खो बैठते हैं।

(आ) भीड में सामूहिक विचार विमर्श नहीं हो पाता क्योंकि ऐसे विचार-विनिमय के लिए विचारों का आदान प्रदान और स्वतन्त्र बहस होना आवश्यक है।

और ये दोनों बातें भीड़ में होना असम्भव है। इसलिये भी भीड़ की विचार शक्ति में ह्रास आ जाता है। भीड़ में जो आदमी बोलने खड़ा होता है वही बोलता है और दूसरों को चुप कर देता है।

(ट) व्यक्तियों में सुझावग्रहणीयता बढ़ जाती है। भीड़ की सारी शक्ति का प्रभाव हर व्यक्ति पर पड़ता है। वह अपने को भीड़ के अधीन समझने लगता है और उसकी मानसिक दशा सुझाव ग्रहण करने योग्य हो जाती है। हर बात जो भीड़ में चलती है वही हुई प्रतिष्ठा के कारण शीघ्र ही स्वीकार कर ली जाती है। चेतना के केन्द्र के बाहर हर विचार सुझावग्रहणीयता द्वारा दुत्कार दिया जाता है। भीड़ का नेता भी लोगों के संवेगों और भावनाओं को जगाने और सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। जागृत संवेग के अनुकूल हर विचार जल्दी जल्दी ग्रहण हो जाता है। नेता की राय को लोग भीड़ की राय मानते हैं क्योंकि वह जनसमुदाय के सुझाव की शक्ति लिये होती है।

(ई) जब संवेगात्मक आवेग भीड़ में आ जाता है तो सुझावग्रहणीयता बढ़ जाने के अलावा विचार शक्ति भी मन्द पड़ जाती है। आये हुए संवेगों के विरोधी विचार एक दो के ही मस्तिष्क में घुसते हैं किन्तु जिनका उन संवेगों से सामंजस्य होता है उन्हें तर्क के बगैर ही ग्रहण कर लिया जाता है। भीड़ में व्यक्ति संवेगों की अभिव्यक्ति के प्रति बहुत उत्तरशील होता है। उत्तेजना के सचयी होने का प्रभाव भी बहुत जबरदस्त होता है। जितनी अधिक भावना सघन होगी तर्क उतना ही कुण्ठित होगा। साधारण तौर पर संवेग बौद्धिक प्रक्रिया को गड़ देता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भावना की पराकाष्ठा जो विचार धीरे भीड़ में पहुँच जाती है भीड़ का अस्थायी मन दुर्बलता में ला पटकती है।[1] इन्हीं परिस्थितियों में आदमी अन्धा होकर कोई भी काम कर सकता है। बहुत सम्भव है इन कामों के लिये बाद में उसे पछताना पड़े।

(उ) अनुकरणात्मक व्यवहार भीड़ की एक प्रधान विशेषता है। अनुकरण में व्यक्ति में भीड़ के साथ ही संवेग आते हैं। लोगों को हँसते देखकर वह हँसने लगता है अगर लोग रो रहे हैं तो वह रोता है और यदि लोग शोक से अभिभूत हैं तो वह शोक में डूब जाता है। कहने का अभिप्राय है कि भीड़ में हर व्यक्ति के संवेग एक से हो जाते हैं। अगर भीड़ में क्रोध की ज्वाला धधक रही है तो उसी ज्वाला की लपटों में व्यक्ति भी जलने लगता है। भीड़ के कुछ लोगों के भागने पर बाकी लोग भी भागने लगते हैं। यह अनुकरणात्मक व्यवहार सम्पन्न प्रेरकों के प्रति उत्तरदायी समान संवेगों के कारण होता है।

(२) संवेगात्मकता—यह भीड़ की दूसरी विशेषता है। संवेगात्मक आवेग भीड़ों की कुख्यात प्रकृति है। भावनाएँ कई साधनों द्वारा सजीवता से अभिव्यक्त

1 E. A. Roys *Social Psychology* pp. 56-57

हो सकती हैं इसलिये भीड में विचारों की अपेक्षा भावनाएँ अधिक शीघ्रता से प्रकट होती हैं। सवेगात्मक आवेग से सुझावशीलता बढ जाती है। भीड में सभी एक दूसरे को नहीं पहिचानते। व्यक्ति प्राय बेनाम रहता है। इस परिस्थिति में भीड के सदस्य अपनी भावनाओं को स्वतन्त्र और बेलगाम छोड देते हैं। दूसरों से कुछ कहने के लिये बात न करके वे बेतहाशा चिल्लाते हैं। अपने को दिखाने के लिये व्यक्ति अजीब-गरीब प्रदर्शन करते हैं। कहकहे की हसी उन्माद में गाली गलौज भयानक जयघोष से भीड की खुशी क्रोध अथवा उत्साह अभिव्यक्त होते हैं। सवेग के ये अनियन्त्रित चिह्न (सकेत) सुझावग्रहणीयता से भरे दर्शकों में अनियन्त्रित मानसिक दशायें पैदा करते हैं। भीड में शान्ति और धैर्य रहना असम्भव है। भीड में व्यक्ति न तो सरलता से पहचाना और न पृथक किया जा सकता है। इसलिये वे नियन्त्रण या सयम नहीं करते वरन् अपनी भावनाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति होने देते हैं। मनुष्य की दबी हुई भावनाएं भीड में मुक्त हो जाती हैं।

(३) शक्ति की अनुभूति—एक ही रुचि के लोगों की अधिक संख्या में एकत्र होना हर सदस्य में भारी शक्ति की धारणा को जन्म देता है। भीड अपने को सर्वशक्तिमान समझती है। चूँकि हर आदमी को यह ज्ञान होता है कि उसके विचार और सवेग विशाल सख्या में अपनाये गये हैं उसमें एक बहुत आनन्ददायी आवेश की भावना आ जाती है और उसमें स्नायुक उत्कृष्टीकरण हो जाता है।[1] भीड को सर्वशक्तिमान समझकर ही तो नेता उसके सामने अधिक आक्रामक हो जाता है और ऐसी बातें कह जाता है जिनको वह दूसरी परिस्थितियों में कभी कहने की हिम्मत नहीं कर सकता और इसी सर्वशक्तिमानता के कारण भीड के सदस्य नेता के सुझावों को शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं। भीड को दुर्गम और असम्भव कार्यों को करने में भी तिल भर भय नहीं होता।

(४) उत्तरदायित्व में कमी—भीड में हरेक जानता है कि भीड जो कुछ करती है उसका उत्तरदायित्व किसी एक पर नहीं आयेगा। उत्तरदायित्व विभाजित होता है। साथ ही व्यक्ति यह भी जानते हैं कि वे बेनामपन के कारण अपने कामों के लिये कभी जिम्मेदार नहीं ठहराये जा सकते। मैक्डूगल के अनुसार आत्म महत्व की भावना के अभाव में लोगों में उत्तरदायित्व की भावना में कमी होती है। साधारणतया, लोगों में समग्र भाव की चेतना बहुत धूमिल होती है उसकी प्रवृत्तियों और क्षमताओं का नाममात्र ज्ञान होता है और भीड के लिये न तो उनमें किसी तरह का प्रेम आदर, सम्मान होता है और न उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि का ही ध्यान। उत्तरदायित्व सारी भीड का होता है और प्रतिष्ठा में वृद्धि या ह्रास सारी भीड को प्रभावित करता है जो कि सभी व्यक्तियों को जो भीड में समाहित होते हैं। इसलिये, भीड के सदस्य साव-

1 M Ginsberg *The Psychology of Society* p 132

धाना करने या आत्म-संयम या निर्णयों पर पहुँचने या फैसले देने में आलोचनात्मक विचारों को कोई महत्व नहीं देते। सामूहिक रूप से किये जाने वाले कार्य में भी शिथिलता दिखाते हैं। भीड़ में अच्छा या बुरा, हानि लाभ पहचानने का विवेक नहीं होता। अनुत्तरदायित्व की भावना का अन्तिम कारण भीड़ में सर्वशक्तिमानता के भ्रम की उपस्थिति है।[1]

(५) **श्रद्धालुता या सरल विश्वास**—सुझाविता के बढ़ जाने से भीड़ सहज विश्वासी हो जाती है। भीड़ में व्यक्तियों का प्राचीन संस्कार नष्ट हो जाता है। वे आपे से बाहर होते हैं। बौद्धिक विश्लेषण और परीक्षा का उनमें स्थान ही नहीं रहता। शंका प्रकट करने की शक्तियाँ सुप्त पड़ी रहती हैं। परिणामतः भीड़ के लोग निराधार या मिथ्या बातों को सत्य मान बैठते हैं। इसीलिए भीड़ में अफवाहें जंगली आग की तरह क्षण भर में व्याप्त हो जाती हैं। अफवाहों पर विश्वास करने से लोग उत्पात मचाने लगते हैं या कोई भी काम कर बैठते हैं।

(६) **अस्थिरता**—संवेगों और विचारों की अस्थिरता भीड़ का अन्य विशेष गुण है। भीड़ में संकल्प अथवा संवेगों की सामर्थ्य प्रायः नशे के बराबर होती है। उसका योद्धा (या आदर्श नेता) दूसरे ही क्षण भीड़ के द्वारा उन्हीं के हाथों उतारा जा सकता है। भीड़ में क्षण भर में ही आत्म-भय से असम्य साहस आ जाता है। छोटी चीजें उसके प्रयोजन का वर्णन देती हैं।[3] भीड़ जिस आदमी को पकड़ कर कच्चा ही खा जाना चाहती हो उसके लिए दो एक प्रशंसा के शब्द ही उस असहाय को भीड़ का आदर्श नेता या हृदय सम्राट बना सकते हैं।

(७) **आवेगात्मकता (Impulsiveness)**—भीड़ के कार्यों का आधार इच्छा नहीं होती। प्रस्ताव और इच्छा तभी सम्भव हैं जब समुचित रूप से विकसित आत्म चेतना और आत्म सम्मान की भावना हो। भीड़ में आत्म चेतना और आत्म-सम्मान की भावना बहुत कम अंशों में होती है। सामूहिक रूप से उसके विविध भावों का परिणाम भीड़ के काम होते हैं। उन्हें इच्छात्मक न कहकर हम आवेगात्मक कह सकते हैं।[3] भीड़ सबसे मूलभूत चालकों से काम करती है। अधिक संख्या में एकत्रित व्यक्तियों की विचारशक्ति 'लकवा' जाती है। भीड़ आसानी क्रूर और बहादुर हो सकती है किन्तु आत्मनियन्त्रण से उद्भूत (परे) गुणों—सदयता, स्थिरबुद्धि, मितव्ययता, धैर्य, दूसरे के हितों का आदर और कानून की भक्ति का अभाव होता है। भीड़ में अनैतिकता हो जाने का कारण यह है कि उसके व्यक्तियों को संयुक्त कार्य में एकरूपता मिलने के अतिरिक्त (अनुत्तरदायी और अनैतिक होने के लिए) कुछ अनुमति भी मिलती है।[2] इसका अर्थ यह नहीं कि भीड़ हमेशा अनैतिक होती है।

---

1 *Ibid* p 113

2 "He (individual) finds in joining not only some conformity but a certain sanction." K. Young *op cit* p 393

भीड के काय प्रेरक के अनुकूल अच्छे बुरे दोनो होते है । वास्तव मे भीड पर सामूहिक निर्देश का असर पडता है । भीड निर्दयी हो सकती है और उदार भी ।[1] वह तो एक कच्चा मसाला है जिसमे अच्छी बुरी दोनो प्रकार की सरचना की सम्भावना विद्यमान है । मेला और पर्वों और सामाजिक सस्कारो पर भीडें आनन्द हिलोरें लेती है । उनमे आह्लाद हर्षोन्मत्तता प्रफुल्लता उमग और उत्साह होते है । ऐसी भीडो मे बुद्धि का स्तर भी पर्याप्त होता है । उनमे निकृष्ट अथवा समाज विरोधी भावो और क्रियाओ का कोइ अग नही होता । कुम्भ के अवसर पर प्रयाग, हरिद्वार या नासिक की अपार भीडें गढमुक्तेश्वर के मेले की भीड अथवा गणतन्त्र या स्वतन्त्रता दिवस की भीडे इसी प्रकार की भीडें हैं । शोकातुर भीड अत्यधिक अनुशासित और गम्भीर किस्म की भीडें हैं । जिन्होंने आचार्य नरेन्द्रदेव तथा गाधीजी की शवयात्रा के साथ अपार जन समुदाय को देखा होगा वे शोक सतप्त भीड की गम्भीरता और अनुशासनप्रियता को भली भाँति समझ सकेंगे । इसमे मृत व्यक्ति के प्रति आदर श्रद्धा और भक्ति लोगो मे प्रवाह सवेगात्मक और सवेदनशीलता उत्पन्न कर देते हैं । किन्तु ये कितने अल्पस्थायी हो सकते है इसका अनुमान ऐसी भीडो के तितर बितर होते समय हो सकता है ।

(८) **सामाजिक सौकर्य** (Social facilitation)—दूसरे व्यक्तियो की उपस्थिति या उनके कार्यों से एक व्यक्ति की अनुक्रियाए बढ जाती है । इसको सामाजिक सौकर्य कहते है । भीड मे व्यक्ति को आवेश बडा शीघ्र आता है और वह काम करने के लिए सरलता से तत्पर रहता है । कठिन काम को भी आसानी से करने की तत्परता आ जाती है । भीड मे लोगो के कधे से कधा भिडता है वे गर्दन लम्बी करते है और आँखें फाडकर तथा कानो पर जोर डाल कर हर बात को देखने जानने और सुनने की कोशिश करते हैं । उनकी हरेक इन्द्रियो की काय शक्ति बढ जाती है । भीड मे सामाजिक सौकर्य प्राप्त करने के लिए तारो वाद्य यन्त्रो, ध्वनि यन्त्रो, गीत आदि का सहारा लिया जाता है । इससे हर व्यक्ति दूसरे का वेग देता है ।

(९) **नेता का अनुसरण**—भीड मे नेता का बहुत महत्त्व है । उसे श्रेष्ठ भूमिका के प्राप्त होने से प्रतिष्ठा मिलती है । प्रतिष्ठा सुभाव काय करने लगता है । लोग नेता के साथ अपना तादात्म्य समझते हैं । नेता इसी से अपने विचारो और मूल्यो को भीड के सदस्यो को देने लगता है । यहाँ अभिज्ञता और प्रक्षेप मे अन्त क्रिया होती है । नेता निम्नलिखित प्रेरको को प्रस्तुत करता है—(अ) भीड मे सरलता से वह सबके ध्यान का केन्द्र बन जाता है और उसके कारण भीड का सगठन और ध्रुवकीकरण होता है, (आ) वह भीड की अस्पष्ट मनोवृत्तियो और भावनाओ को

---

1 Crowds are in themselves neither good nor evil but they may be either the one or the other on occasion according to the stimulus Crowds may be brutal but they may also be generous (and) sympathetic M Ginsberg *op cit* p 133

प्रकट करता है (ड) संवेगों तथा कार्यों को भड़काने के लिए वह पुराणों, जनगाथाओं और तुलनाओं आदि का इस्तेमाल करता है (ढ) भीड़ को कार्य करने के तरीके का वह सुझाव देता है। इन सबसे भीड़ में संवेगात्मक एकता उत्पन्न होती है।

भीड़ में नेता का बहुत रोल होता है। वह भीड़ का आरम्भ, उसका मुख्य प्रतिनिधि माना है। चूँकि नेता भीड़ के प्रत्येक व्यक्ति में अपना प्रभाव डालता है इसलिए उसको संगठित शक्ति का यह प्रभाव आ जाता है। नेता का रोल प्रतिष्ठा मत्र द्वारा भीड़ को मनचाही दिशा में मोड़ सकता है। किन्तु फिर भी नेता न तो लाभदायक होता है और न हानिप्रद क्योंकि वह भीड़ में समाज विरोधी अथवा समाज हितकारी दोनों प्रकार के कार्य करा सकता है।[1]

भीड़ व्यवहार

भीड़ उन बातों पर विश्वास करने लगती है जिन पर साधारणतया आदमी का अविश्वास करता। भीड़ के सदस्यों में सन्देह की भावना नहीं रहती। वे सन्देह विश्वासी बन जाते हैं और भाव में फल विचारों या तथ्यों का तर्क या बुद्धि पर नहीं कसते।

भीड़ के व्यवहार की मुख्य विशेषता संवेगात्मक आवेग है। व्यक्ति एक दूसरे से मिल कर बैठते हैं या चलते हैं। शारीरिक सामीप्य से उनकी भावनाओं का तीव्र उद्दीपन होता है। इसलिए जितनी बड़ी व घनी भीड़ होगी उतनी ही अधिक संवेगात्मकता उसमें होगी। यहाँ विचारों की अपेक्षा भावनाएं अधिक शीघ्रता से प्रकट होती हैं। वास्तव में, भावनाओं का ही बोलबाला होता है। दूसरों की उपस्थिति मात्र से व्यक्ति की भावना में तीव्रता आ जाती है और वह ऐसे कार्य करने लगता है जिसकी दूसरे प्रशंसा करते हैं। भीड़ में उत्तेजक नारों द्वारा उपस्थित कार्य या व्यवहार को करने अथवा अपनाने का साहस कोई व्यक्ति नहीं करता। वह फिर चाहे कितना बुद्धिमान हो अथवा मौलिकता प्रेमी हो। भीड़ में व्यक्ति धीरे धीरे सुग्राहकता में पहुँच जाते हैं जहाँ सुझाव आसानी से कार्य करता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपना चेतना और विवेक खोकर भीड़ की भावनाओं में बह जाता है और उसी के अनुसार काम करने लग जाता है। हर व्यक्ति में अनियंत्रित मानसिक दशाएँ पैदा करता है। ऐसी हुई भावनाओं के निष्कासन से निकलने के कारण भीड़ में शान्ति और धैर्य का टिकना असम्भव-सा होता है।

चूँकि भीड़ में हर व्यक्ति समझता है कि उसके विचार और भावनाएं दूसरों के विचार और भावनाएं हैं दूसरे उन्हें समर्थन करते हैं इसलिए भीड़ में एक विस्तृत शक्ति की भावना आ जाती है। भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि वे जो कुछ सोचते और करते हैं उससे अच्छा कुछ नहीं हो सकता। इसलिए भीड़ के

1 Lapiere & Fransworth *Social Psychology* McGraw Hill Co New York (1943) p 468

विचार से असहमति दिखाने वाला गद्दार कहा जाता है। इस भय से कोई भीड की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस नही करता। यह समता भीड बनने से पहले व्यक्तियो के मस्तिष्क मे हो सकती है अथवा भीड बनने के बाद उनमे पैदा हो सकती है। भीड मे इस अनुभव के साथ ही एक आनन्दायी आवेग काम करने लगता है। भीड अपने को सर्वशक्तिमान समझ कर कठिन से कठिन और भयावह से भयावह काम कर बैठने मे भी नही डरती। इसी स्थिति मे, समाज को चुनौती दे सकने वाला कोई व्यक्ति नेता बन जाता है। यह भीड का मुख्य अभिनेता होता है। अपने आकर्षण और दृढता से यह व्यक्ति सभी भीड को अपने विचारो का अनुगामी बना लेता है। प्रतीक चिह्न ध्वनि नारे भण्डे आदि भीड की उत्तेजना को और भी गम्भीर बना देते है। स्पष्ट विचारो का स्थान नारे ले लेते है और जो किसी भी विरोध को सहन नही कर सकते।

भीड मे प्रतिद्वन्द्वी विचार नही रह सकते। सब ही विचार या भावना को अपना लेते हैं। इसलिए भीड की शक्ति तो विशाल हो जाती है उसमे वैयक्तिकता का स्थान भी नही रहता। लोगो को कभी यह ख्याल भी नही आता कि जो काम वे कर रहे हैं उसके लिए उनमे से कोई व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार ठहराया जा सकेगा। जो कुछ करनी है भीड करती है। परिणाम भी जो होगा वह भीड को भुगतना पडेगा। अतएव भीड के सदस्यो मे अनुत्तरदायित्व आ जाता है। समाज मे रहकर साधारण बुद्धि वाला भी जिन कर्मों को करने मे डरेगा उन्हे भीड मे करने मे वह गौरव और उल्लास का अनुभव करता है। इसीलिए भीड को मानव संसर्ग का नीचतम स्वरूप कहा जा सकता है।[1] बर्नार्ड ने रास के इस विचार के समकक्ष ही कहा है कि 'भीड नीच प्राणियो के भुण्डो और जत्थो के अत्यधिक निकट हैं।[2] किन्तु मेरे विचार से मनुष्यो की भीडें उनसे बहुत उन्नत हैं और इसलिए अनोखी।

भीड का व्यवहार नैतिक और अनैतिक दोनो हो सकता है। वह उदार हो सकता है और क्रूर भी। भीड मे व्यक्ति हर परिस्थिति को नए दृष्टिकोण से देखने लगता है। सामाजिक नियन्त्रण अथवा सामाजिक मूल्यो को वह ताक मे रख देता है।

भीड की विशेषता यह है कि वह अपने सदस्यो के व्यक्तित्वो की अनेक अचेतन व्यक्तियो की अभिव्यक्ति है। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि भीड का कोई अपना स्वतन्त्र सामूहिक मस्तिष्क है। भीड का मानसिकता उसके सदस्यो की अभिव्यक्ति मात्र है। भीड मे सदस्यो के अचेतन मस्तिष्क (psyche मन) मे कुछ ऐसी शक्तियाँ रहती हैं जो अल्पकालिक और अत्यधिक संवेगात्मक प्रकार के जमघटो के

1 Essentially atavistic and sterile the crowd ranks as the lowest form of human association Ross *Social Psychology* p 56

2 L. L. Bernard *Introduction to Social Psychology* Henry & Holt Co New York (1926) p 458

कारण मुक्त हो जाती हैं। भीड़ की उत्तेजना असाधारण और इतनी शक्तिशाली होती है जो सदस्यों के प्रचलित आचरण को अल्पकाल के लिए बदल देती है। भीड़ का यह उत्तेजक साधारणतया प्रतीकात्मक स्वभाव का होता है जिससे बड़ी जटिल प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। लोगों में सांस्कृतिक साम्य होने से उनमें अन्तःउत्तेजना बड़ी शीघ्र और सरल हो जाती है। सामूहिक आवेग में लोग परम्परागत सामाजिक प्रतिक्रिया की अस्थायी काल के लिए अवहेलना कर देते हैं और अपनी कुछ अचेतन इच्छाओं, आकांक्षाओं, क्षमता और घृणाओं को क्रिया पर काम कर निकलते हैं। इस प्रकार मुक्त शक्तियों का सम्बन्ध वैयक्तिक व्यक्तित्व की रक्षा, कल्याण और आनन्द से होता है। इसलिए प्रारम्भिक रूप से प्रेम, घृणा और भय के संवेग प्रकट होते हैं।[1]

भीड़ का व्यवहार स्थायी और स्थिर नहीं होता। वह बहुत अधिक अस्थिर होता है। एक क्षण भीड़ किसी परिवार को जला कर राख करने पर तुली हो, दूसरे ही क्षण उसी परिवार के मुखिया को देवता-सम पूजने लग सकती है। भीड़ में क्षण भर में ही अदम्य साहस और कायरता में बदल सकता है। इसका कारण है भीड़ की भावात्मकता। भीड़ के व्यवहार आवेगात्मक होते हैं। उनमें आत्म नियन्त्रण से उद्भूत गुणों का अभाव होता है। भीड़ सबसे मूलभूत चालकों से व्यवहार करती है। उसमें घृणा, हिंसा, प्रेम, उन्माद, क्रोध की पराकाष्ठा आ सकती है।

दूसरों की उपस्थिति से भीड़ के सदस्यों की अनुक्रियाएँ बढ़ जाती हैं। उनमें आवेग बड़े शीघ्र आता है और वे काम करने के लिए सरलता से तत्पर हो जाते हैं। सुझाव और अनुकरण की मानसिक प्रक्रियाएँ बड़ी क्रियाशील होती हैं।

आधुनिक समाज में भीड़ मानसिकता

आधुनिक समाज में भीड़ मानसिकता (crowd mentality) के कई महत्वपूर्ण कारक हैं —

(अ) विशाल जनसंख्या का शारीरिक सामीप्य (निकट का सहवास)
(आ) इसमें विजातीयत्व (heterogeneity) और सम्बन्धों में अनामपन (anonymity),
(इ) भारी जनसमूह में संचार (mass communication) के अनेक साधन
(ई) शक्तिशाली उत्तेजना (strong stimuli) की विविधता।

आधुनिक समाजों की महत्वपूर्ण विशेषता विशाल जनसंख्या का एक स्थान पर जमघट है। नगरों में लाखों आदमी रहते हैं। उनमें शारीरिक सामीप्य बहुत अधिक होता है। इन समाजों की विशाल जनसंख्या और विविध सांस्कृतिक समूह और

1 Merrill & Eldredge op cit pp 315-16

स्तर विजातीय और वनाम सामाजिक सम्पर्कों और सम्बन्धों को जन्म देते हैं। एसी अवस्था म न तो लोग एक दूसरे से घुलमिल कर रह सकते हैं और न अपने वयक्तिक विचारों या भावनाओं को कायम रख पाते है। दूसरे लोगों की भावनाओं और विचारों का बड़ा जबरदस्त प्रभाव उन पर होता है। इसके ऊपर विस्तृत सचार के साधनों की बहुलता ने कुछ समान विचारों और भावनाओं को सतह पर लाकर रख दिया है। इन विचारों का उद्दीपन नए-नए और विविध शक्तिशाली आवेगपूर्ण प्रेरकों से मिलता है। इन सबका परिणाम हमारे आधुनिक समाजों म भीड़ मानसिकता का उदय है।

विशाल नगरों के एक कोने म कोई घटना घटे उसकी खबर और उसके बारे म अफवाह शीघ्र ही दूसरे कोने म फल जाती है। यही हाल बड़े राष्ट्रों का है। ससार के किसी भी स्थान म होने वाली घटना का असर सभी देशों पर पड़ता है। गम्भीरता से विचार न हो सकने के कारण भावनाओं को ही प्रमुखता मिलती है। सचार के सरल और तीव्र होने म घर बठे ही लोग भावनाओं के शिकार हो जाते है। देखते ही देखते लोग घरों म निकल कर सड़कों और गलियों म उत्तेजित भीड़ के रूप म इकट्ठे हो जाते है। आधुनिक समाज म साधारण नागरिक के जीवन म इतनी असतुष्टि है कि वह उसे दूर करने का अवसर खोजा करता है। शायद भीड़ व्यवहार इसी मनोदशा की अभिव्यक्ति है।

नगरों और राष्ट्रों का जीवन भी आज कुछ नारों पर चलता है। सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र म उन्नयों का नारों की नकल दी जाती है। ये नारे हमारे ध्यान को एक विशिष्ट भावना की ओर आकर्षित किए रहते हैं। हम खुद सोचने विचारने का अवसर ही नहीं मिलता। हर क्षेत्र म नए मूल्यों और संस्थाओं को अपनाने की वसी ही प्रवृत्ति दिखाई देती है जसी कि नए फशन अपनाने म। समाज म चालाक और प्रभावशाली नेताओं की कमी नहीं। वे नित नये उत्तेजक समाज के सामने प्रस्तुत किया करते है। फिर मजदूरों की हड़तालें अध्यापकों का प्रदर्शन विद्यार्थियों के जुलूस चुनाव के सिलसिले म की जाने वाली सभाए सामाजिक आन्दोलनों को चलाने के लिए विशाल जमघट भीड़ मानसिकता की अभिव्यक्तियां हैं। कुछ विचारकों ने जनतन्त्रीय देशों म भीड़ों विशेषतया कोलाहली भीड़ों (mobs) की सार्वभौमिकता एव सर्वशक्तिमत्ता की दशा को भीड़तन्त्र (mobocracy) कह डाला है। जनतन्त्र म इस प्रकार की भीड़ कितनी महत्वपूर्ण हैं ? तो बात न भी इस दशा को जनसमुदायों का शासन कहा है। ओरटिगा वाय० गसट (Ortega Y Gasset) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Revolt of the Masses (जनसमुदायों का विद्रोह) म आधुनिक युग को भीड़ का युग कहा है। वे भीड़ को औसत आदमी कहते हैं। इस विद्वान ने आधुनिक समाजों की भीड़ मानसिकता की गम्भीर विवेचना की है।

हम अपने पाठकों को यहाँ यह बता देना चाहते हैं कि विशाल जनसंख्या वाले समाजों (अथवा समुदायों) में अधिकाधिक भीड़ों तथा श्रोता भीड़ों का बनना अनिवार्य है। बस तो प्रत्येक बड़े और छोटे समुदाय में भीड़ें बनती रहती हैं। उनका अस्तित्व समाज की अनेक आवश्यकताओं को पूरा करता है। हर्ष और विषाद के अवसर पर भीड़ें बनना समुदाय की एकता की द्योतक हैं। उत्सव मनाने की भीड़ें बनना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय एकता के लिए अनिवार्य है। दूसरे कई बार भीड़ें सामाजिक परिवर्तन और क्रान्ति की एजेंसी बन जाती हैं। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में भीड़ों का बहुत अधिक योगदान है। अनेक प्रकार की निरंकुशताएं और अन्याय भीड़ों तथा श्रोता भीड़ों की क्रिया से समाप्त किए जाते हैं। तीसरे भीड़ व्यवहार में अनेक दबी भावनाएं और इच्छाएं व्यक्त हो जाती हैं जिससे व्यक्ति और समाज में मानसिक तनाव और मन की व्यग्रता का अवांछनीय भार नष्ट हो जाता है जो यदि जमा होते रहें तो बड़ी चिन्तनीय अवस्था उत्पन्न हो जाए। और अन्त में भीड़ व्यवहार से सामाजिक जीवन में अनौपचारिकता और सरसता बनती है वरना यह जीवन नितान्त औपचारिक और नीरस हो जाए।[1] मनुष्य हाड़-मांस का बना है पत्थर नहीं उसमें अनेक इच्छाएं और भाव होते हैं। उन मन और हृदय की सभी बातें कहने का अवसर छोटे-छोटे नागरिक और स्थायी समूहों में नहीं मिलता। अतः मन और हृदय में प्रवाहित क्षणभंगुर लहरों को निकाल बाहर करने का मौका भी तो मिलना चाहिए। अतएव सामाजिक जीवन में भीड़ों का बनना और भीड़ व्यवहार नितान्त स्वाभाविक घटनाएं हैं। हां उनकी असाध्य समाज विरोधी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। जनतन्त्र में आक्रामक भारी भरकम तर्कहीनता और हिंसा जिनकी विशेषता है को व्यवहार में कम होना ही चाहिए।

विचारयुक्त व्यवहार के अवसर

यह सत्य है कि आधुनिक संस्कृति में तार्किकता और भीड़-व्यवहार बहुत बढ़ गए हैं किन्तु यह भी सच है कि दूसरी ओर स्वयं विचारहीन और अति भावनात्मक व्यवहार पर कड़ा प्रतिबंध लगाया जाता है। इस प्रकार सभ्य समाजों में ये परस्पर विरोधी दो धाराएँ दिखती हैं। यद्यपि मनुष्य का विचारशील और रचनात्मक व्यवहार करने की बहुत पुराना और प्रिय आदर्श रहा है अतः आजकल की विचारशीलता उत्पन्न करने वाली शक्तियों का प्रभाव कुछ धीमा ही रहता है। देखा यह जाता है कि मनुष्य में सुझाव-ग्रहणशीलता बहुत होती है। वह अपने से ऊँचे अथवा अधिक सम्मानित व्यक्तियों से आए अधिकतर सुझावों को बिना विचार के स्वीकार कर लेता है। अपनी इस आदत के दुष्परिणामों अथवा हानियों से वह प्रायः अनजान हो गया है। और बहुत बार विचारशीलता और रचनात्मकता के प्रभाव में किए गए आचरण के लिए वह पछताता भी है।

---

1. J. M. [illegible]hardt, *Social Psychology*, p. 208

उपरोक्त स्थिति के सचेत होकर उसने ऐसे उपाय ढूँढ निकाले हैं जो उस सहज विश्वास के शिकार होने से बचाएंगे। वह सुझाव से तुरंत और स्वत प्रतिक्रिया करने में हिचकने लगा है। वादविवाद सार्वजनिक चर्चा और वैज्ञानिक रीति आदि उपायों की सहायता से आधुनिक युग में सुझावों को समझने विरोध करने तिरस्कृत करने या सुझाव पेश करने की क्रिया उत्तरोत्तर सशक्त होती जा रही है। विज्ञान और वैज्ञानिक रीति ने सहज विश्वास अथवा विचारहीनता और भावनात्मकता को सबसे अधिक धक्का पहुँचाया है। आज सभ्य जगत में किसी सुझाव या विचार को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वैज्ञानिक रीति की कसौटी पर वह खरा न उतरे। अतएव विचारशीलता में वृद्धि हमारे युग की एक अनुपम देन है।

आगबर्न और निमकाफ ने ठीक ही कहा है कि यद्यपि आधुनिक युग में सुझाव ग्राह्य क्षमता पर प्रतिरोध लगाने में उपरोक्त सांस्कृतिक युक्तियां (वादविवाद सार्वजनिक चर्चा और विज्ञान) बड़ी लाभदायक हैं फिर भी विचारहीन और संवेगात्मक आचरण पर उनमें पूर्ण नियन्त्रण होना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति सुझाव ग्रहण कर ही लेता है। हां कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से सुझाव ग्रहण कर लेते हैं। शायद विभिन्न व्यक्तियों में सुझाव ग्रहणता के अंशों में उतना अधिक भेद नहीं होता जितना उत्तेजना के प्रकारों में जिनसे वे सुझाव ग्रहण करते हैं। परन्तु फिर भी शिक्षा और वैज्ञानिक प्रशिक्षण व्यक्तियों की कुछ स्थितियों में विचारहीन और अनुसरणशायी आचरण करने की सम्भावनाओं को अवश्य कम कर देते हैं। शिक्षा भीड़ सम्रामकता की सम्भावना को कम अवश्य कर देती है किन्तु उसे समूल नष्ट नहीं कर पाती।[1]

सुशिक्षित लोग अथवा अधिक विचारशील स्वाध्यायी और सृजनात्मक कार्य करने वाले लोग भीड़ सम्रामकता से बचने के लिए सांस्कृतिक युक्तियों का बहुधा उपयोग नहीं करते हैं। वे सबसे सरल उपाय भीड़भाड़ से बचना समझते हैं। अतएव एकान्त में रहना ही पसन्द करते हैं। किन्तु जब उन्हें अपने सुझावों, जो स्वाध्याय अथवा गहन शोध के आधार पर विकसित किए जाते हैं जो जन समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करना होता है तो वे पुन भीड़ भाड़ के सम्पर्क में आते हैं। सामाजिक परिवर्तन और क्रान्तियों के लिए किए गए आन्दोलनों के इतिहास से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति सृजनात्मक है तो गहन स्वाध्याय के लिए वह कुछ समय के लिए भीड़भाड़ से दूर रह सकता है लेकिन अन्तत उसे जन-समुदाय के बीच में आकर अपना सुझाव पेश करना पड़ेगा। आधुनिक युग में भीड़ सम्रामकता को समाज के हित में संवेगात्मक एकता जातीय सुदृढ़ता सामाजिक परिवर्तन और क्रान्ति के लिए एक सबल साधन बनाने में राजनैतिक दल और राज्य तन्मय हो जुटे हैं।

---

1 Ogburn & Nimkoff *A Handbook of Sociology* pp 192 93

भीड़ व्यवहार की व्याख्या

मनुष्य भीड़ का एक सदस्य होने पर जो विलक्षण और संवेगपूर्ण व्यवहार करता है उसका सुविस्तृत विश्लेषण पिछले पन्नों में किया गया है। अब प्रश्न यह है कि आखिर मनुष्य भीड़ में ऐसा अनुत्तरदायी और अनियमित व्यवहार करता ही क्यों है ?

'समूह मस्तिष्क' का सिद्धान्त

सामूहिक व्यवहार के कुछ प्रारम्भिक विद्यार्थियों जैसे मैक्डूगल और लीबॉन ने भीड़ की व्याख्या 'सामूहिक मस्तिष्क' या सामूहिक प्रतिनिधित्व और भीड़ की मानसिक एकता के सिद्धान्तों अथवा नियमों का प्रतिपादन कर की है। उन्होंने कहा कि भीड़ में वैयक्तिकता मिट जाती है और एक प्रकार की सामूहिक चेतना विकसित हो जाती है। इसमें मस्तिष्क का मस्तिष्क के साथ मेल हो जाता है और सभी सम्मिलित लोगों में सामान्य एवं संवेगात्मक स्तर पर सहानुभूतिपूर्ण सम्मिलन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भीड़ में इतनी एकात्मता पाई जाती है जिससे वह केवल अवैयक्तीकृत मानसिकता (de-individualized mentality) के लिए सुविधाजनक नारों और विचारों से प्रभावित हो कर काम करता है। भीड़ में वैयक्तिक चेतना को अभिभूत करने वाली जिस सामूहिक चेतना का विकास होता है उसे ली बॉन ने भीड़ की मानसिक एकता का नियम कहा है। किन्तु यह सिद्धान्त आधुनिक समाजशास्त्र अथवा समाज मनोविज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है। भीड़, जनता या जन समुदाय किसी में ऐसे समूह मस्तिष्क के अस्तित्व की बात मानी नहीं है जो वैयक्तिक मस्तिष्कों से स्वतन्त्र और पृथक् हो और जो उन पर नियन्त्रण करे। भीड़ अथवा सामूहिक व्यवहार के किसी अन्य प्रकट रूप की यह अति सरल व्याख्या है। मैकाइवर और पेज इसे एक साहित्यिक युक्ति मात्र मानते हैं जिससे भीड़ के आवेग में जन्म लेने वाली उत्तेजना और सुझाव ग्रहणशीलता की अवस्थाओं का वर्णन किया जा सकता है। नरियर का भी यही मत है। मैकाइवर और पेज तथा लपियर ने फिर भी इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त की जनप्रियता से इन्कार नहीं किया है।

विरुद्ध आदर्शों की मुक्ति का सिद्धात

बाद के लेखकों ने भीड़ व्यवहार की कुछ अधिक युक्त व्याख्याएँ दी हैं किन्तु उन्होंने भीड़ को सामाजिक रूप में असाधारण कह कर बड़ी भूल की है। मार्टिन (E. D. Martin) ने ली बॉन के 'समूह मस्तिष्क' के सिद्धान्त की आलोचना की।[1] उन्होंने भीड़ का वर्णन दार्शनिक व्यवहार की भाँति किया। भीड़ में उनके

---

1 The postulation of such a phenomenon (group mind) provides an easy explanation for any mode of collective behaviour but one that at best is a literary device with which to describe the inter-stimulation and suggestibility that come about under the influence of crowd excitement. MacIver and Page, op. cit., p. 429

अनुसार व्यक्तिया के विरुद्ध चालक मुक्त हो जाते है, उन्हे व्यवहार के अपने सही इरादा की चेतना नहीं रहती और वे आदिम स्तर की ओर पतित हो जाते है। भीड़ म सुभावशील व्यवहार हो जाता है क्योकि उनके नतिक मन पर प्रतिबन्ध ढीले पड जाते है और आदिम अह के द्वार पूर्णतया उन्मुक्त हो जाते है। मार्टिन ने यहाँ तक लिखा भीड एक ऐसी युक्ति है जिससे हम सब साथ साथ सनकी होकर एक प्रकार के अस्थायी पागलपन मे व्यवहार करते हैं।[1]

मार्टिन का विचार ली बान से अधिक भिन्न नहीं है। ली बॉन भीड व्यवहार का निम्न बुद्धियुक्त कहते है और मार्टिन उसे मानसिक रोगी किन्तु फिर भी इन दोनों सिद्धान्तों से भीड व्यवहार को समझने म कुछ सहायता अवश्य मिलती है। मकाइवर और पेज इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं क्योंकि यह तथ्यों के अनुसधान से प्रतिपादित नहीं होता है। मूल प्रवृत्तियां अथवा मौलिक अह आवेग (basic id' impulses) चाहे जो उनकी प्रकृति हो समूह की घटनाओं की व्याख्या करने म अत्यन्त उपयोगी है जब तक उस सामाजिक और सांस्कृतिक सदर्भ, जिसमे ये मनोवैज्ञानिक शक्तियां प्रकट होती है, पर विचार न किया जाए।[2] मारिस जिन्सबर्ग ने उपरोक्त दोनो सिद्धान्तों के बारे म कहा है कि इस प्रकार के मतों का सहारा लेना अज्ञान के आश्रम म शरण लेना है।[3]

रिचर्ड डियूवी (Richard Dewey) और हम्बर लिखते है कि हम यह मानने के लिये कि भीड का व्यवहार उसमे सम्मिलित व्यक्तियों का योग भर ही नही होता है किसी भीड के मन अथवा भीड की प्रवृत्ति' जैसे मनगढन्त की आवश्यकता नही है। कुछ और भी होता है और वह कुछ सामाजिक उत्तेजना और सहायता है जो समूहो म व्यक्तियों के मिलने से प्राप्त होती है। इन विद्वानो ने समस्या का पूरा हल नहीं किया उन्होंने केवल अनुसंधान का मार्ग निर्देश किया है। शिवानन्द शर्मा का मत है कि भीड म जो कुछ होता है व्यक्ति करता है। ऐसा वह भीड म प्रस्तुत आघात की प्रतिक्रिया म करता है। अतएव भीड म वर्तमान आघात एव व्यक्ति के साधारण आघातो से कुछ भिन्न क्रियाए करके उस विशिष्ट व्यवहार की प्रेरणा देता है।[4]

आलपोर्ट (F H Allport) का भी यही विचार है कि प्रतिक्रियाए भीड नहीं करती वल्कि व्यक्ति करते हैं इसलिये उनके व्यवहार की भिन्नता का कारण समझने के लिये आघात सम्बन्धी विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिये।[5]

---

1 A crowd is a device for indulging ourselves in a kind of temporary insanity by all going crazy together E D Martin The Behaviour of Crowds quoted from S S Sargent s *Social Psychology* p 379

2. Ma Iver & Page *op cit* p 430

3 M Ginsberg *The Psychology of Society* p 135

4 शिवानन्द शर्मा समाज मनोविज्ञान फ्रेंडस बुक डिपो इलाहाबाद (१९५८) पृ० २६२।

5 F H Allport *Social Psychology* Chapter I

आगबर्न और निमकॉफ ने भीड़ व्यवहार को समझने के लिए मानव प्रकृति, समूह और संस्कृति का जिनका भीड़ पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है विचार-विमर्श करने का सुझाव दिया है।[1] मैकाइवर और पेज का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है कि यदि हम विभिन्न स्थानों और कालों में भीड़ अभिव्यक्ति की अनेक विविधताओं पर विचार करें तो हम भीड़ के विशिष्ट ढंग और विशिष्ट सामाजिक और सांस्कृतिक दशाओं के बीच एक निश्चित सम्बन्ध देखेंगे। आदिम समाजों में कुछ विशेष त्यौहारों, पर्वों अथवा सामाजिक संस्कार (विवाह आदि) के अवसर पर भीड़ व्यवहार को उत्तेजित किया जाता है। आधुनिक समाजों में भी होली, दिवाली, दशहरा, क्रिसमस अथवा ईद तथा राष्ट्रीय पर्वों के अवसर पर अपार भीड़ को भावात्मक और उपयोगी माना जाता है। विशाल नगरों में आत्म-चेतनता में वृद्धि के कारणों को समझने में नगरीय पर्यावरण की विशेषताओं को समझना उपयोगी रहा। नगरों में भीड़ के बनने के प्रमुख कारण ये हो सकते हैं (१) नगरीय पर्यावरण में स्वतःचालित अभिव्यक्ति के लिए सीमित अवसर, प्रदान करना (क्रीड़ा-स्थलों, सिनेमाओं आदि) का महत्त्व मानना, भारी जनसंख्या, नगरीय पर्यावरण की अवैयक्तिकता और प्रतिस्थापनत्व (vicariousness)। व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था को भलीभाँति समझकर ही भीड़ व्यवहार का समाजशास्त्र अथवा मनोविज्ञान विकसित हो सकता है।

उपरोक्त मत युक्तियुक्त हैं। मानव व्यवहार को समझने के लिए नये-नये सिद्धान्त प्रतिपादित करने के स्थान पर व्यक्तित्व और मानव प्रकृति सम्बन्धी विवाद तथा व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध तथा विशिष्ट परिस्थितियों के व्यक्ति पर प्रभावों को वैज्ञानिक अनुसंधान से समझना ही लाभप्रद हो सकता है। भीड़ व्यवहार के वर्णन में उसके स्पष्ट और आन्तरिक दोनों पहलुओं के महत्त्व को याद रखना चाहिए।

भीड़ और कोलाहली भीड़

हम देख चुके हैं कि सक्रिय भीड़ (action crowd) कोलाहल करने वाली (इस प्रकार शोर मचाने वाली) हो सकती है अथवा दंगाई, आक्रमणकारी, भागने वाली और तमाशबीन भीड़। इन सभी प्रकार की भीड़ों को mob कहा जाता है। यहाँ मॉब और साधारण भीड़ के भेद पर विचार कर लें।

(१) मॉब (उग्र भीड़) का कोई न कोई अगुआ होता है जो उसे उद्देश्यों का ज्ञान कराता है तथा उसे किसी कार्य पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार का व्यवहार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिष्ठित सत्ता के प्रति विद्रोह है। अगुआ एक व्यक्ति हो सकता है अथवा अनेक। अनेक व्यक्तियों का आजकल कार्य-

1 Ogburn & Nimkoff op cit pp 187-91

समिति' कहने की प्रथा चल पडी है। भीड और विद्रोही भीड दोनों असगठित और अस्थायी समूह है। इसलिये इनका नेतृत्व अल्पस्थायी तथा स्वाभाविकतया भावों की उत्तेजना पर निर्भर होता है। उस विचार तथा आत्म सयम जो उच्च कोटि के नेतृत्व के लिये आवश्यक हैं का आधार नहीं मिलता। अत भीडो का नेतृत्व निम्न कोटि का होता है। किन्तु अभिव्यजक भीडो मे कई बार उच्च कोटि का नेतृत्व भी मिलता है।

(२) उग्र भीड मे साधारण अभिव्यजक भीड (expression crowd) की अपेक्षा अधिक सवगशीलता होती है। भीड मे ज्योही क्रियाशील होने का सवेग उत्पन्न हुआ वह विद्रोही समूह का रूप धारण कर लेती है। नहीं तो थोडी देर रुचि दिखला कर लोग अपने अपने मार्गों पर चल देते हैं।

(३) साधारण भीड का कोई नारा नहीं होता किन्तु विद्रोही भीड, शेष समाज से अपने कार्य का अनुमोदन कराने के लिये कोई न कोई ऐसा प्रतीक चुन लेता है जिसका काफी प्रभाव पड सके। अर्थात् विद्रोही भीड किसी उद्देश्य विशेष की प्राप्ति की ओर अभिमुख होती है। साधारण भीड ही किसी सहसा उत्तेजना के कारण विद्रोही उग्र भीड मे परिणत हो सकती है। उग्र भीड मे अस्थिरता और अव्यवस्था अत्यधिक होती है। भयाक्रान्त भीड मे भेद प्रत्येक समय यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

भीड और श्रोता दर्शक गण

(१) श्रोता-दर्शक गण (audience) शारीरिक सम्पर्क अथवा केवल मानसिक सम्पर्क के आधार पर किसी बात को सुनने अथवा देखने के लिए निर्मित होता है। जब तक वे सुनते या देखते रहते हैं उनमे व्यवस्था होती है। उनका ध्यान बहुधा उसी ओर पूर्णतया खिचा रहता है। भीड मे इस प्रकार समभाव और ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। भीड मे लोगो का भावात्मक पहलू प्रधान रहता है और श्रोतागण मे ज्ञानात्मक पहलू। श्रोतागण मनोरजन अथवा सूचना के लिये ही एकत्र होते हैं। सुन्दर गायन अभिनय, नृत्य अथवा वार्ता के समय श्रोतागण मे जो सवेग उत्पन्न होते है वे उच्चकोटि के होते हैं। भीड के एकत्र होने के कई कारण हो सकते हैं।

(२) भीड का कोई सयोजक नहीं होता। वह स्वत बन जाती है। श्रोता-दर्शकगण का कोई सयोजक होना आवश्यक है। एकत्र होने और आचरण करने के लिए सयोजक के निर्दिष्ट नियमो का पालन करने की उनमे अपेक्षा होती है। कुछ नियम तो प्रथा अथवा परम्परा से सम्मत होते हैं जिनका पालन साधारण शिष्ट आचार का अग माना जाता है। उनके उल्लघन करते ही सामाजिक प्रतिरोध सामने आ खडे होते हैं। स्वय श्रोतागण किसी सदस्य को बातचीत करने शोर मचाने अथवा अन्य प्रकार के अवाछित आचरण के लिये रोकते हैं अथवा उस पर आपत्ति

होते हैं। किसी के भाषण के समय थियेटर हाल या सिनेमाघर में बातचीत करना अशिष्टता मानी जाती है। एक रुचिकर वस्तु में ध्यान केन्द्रित होने के कारण श्रोता गण आत्मनियन्त्रण रखने में सफल होते हैं। भीड़ में ऐसे आत्मनियन्त्रण का अभाव होता है।

(३) श्रोतागण का नेतृत्व भीड़ की अपेक्षा उच्चकोटि का होता है। वक्ता अभिनेता अथवा नर्तक गायक श्रोतागण का ध्यान केन्द्रित रखने के लिए श्रोतागण के मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करता रहता है।

(४) भीड़ किसी भी समय और कहीं भी आकस्मिक घटना के कारण एकत्र हो सकती है। श्रोतागण निश्चित समय और स्थान पर किसी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार ही एकत्र होते हैं। श्रोतागण एक दृष्टि से पर्यवसित भीड़ है। भीड़ के सदस्यों में अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होने पर भी वह अपेक्षतया असंगठित होती है।

किम्बल यंग के अनुसार श्रोतागण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —(१) एक विशिष्ट प्रयोजन, (२) एकत्र होने का पूर्व निर्धारित समय और स्थान और (३) श्रोता-दर्शक-गण और वक्ता (performer) के बीच में ध्रुवीकरण (polarization) और अन्तःक्रिया का प्रामाणिक रूप।[1]

जनता

अस्थायी समूहों का एक अन्य प्रमुख प्रकार है जनता (Public)। यह एक मनोवैज्ञानिक समूह है। मनोवैज्ञानिक समूह (Psychologic group) का निर्माण जैसा कि नाम से स्पष्ट है मानव मस्तिष्क के सामान्य में होता है। इसके लिए व्यक्तियों की शारीरिक सन्निकटता अपेक्षित नहीं है। इस मानव प्राणी दूर दूर भूभागों के निवासी होते हुए भी जनता (Public) के सदस्य हो सकते हैं। वस्तुतः शारीरिक दृष्टिकोण से बहुत दूर होते हुए भी किसी एक समय एक विषय के सम्बन्ध में सामान्य विचार या रुचि रख सकते हैं। इस दृष्टिकोण से इस तरह जनता के सदस्य होते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिन्सबर्ग का मत इसी प्रकार का है। वह कहता है—जनता उन व्यक्तियों का एक असंगठित तथा बिना किसी विशिष्ट आकृति का योग है जो सामान्य मतों तथा इच्छाओं से तो बँधे हुए हों परन्तु संख्या में इतने अधिक हों कि आपस में व्यक्तिगत सम्बन्ध न रख सकें।[2] इस परिभाषानुसार जनता के निम्न लक्षणों की तरफ संकेत किया जा सकता है

(१) जनता (Public) व्यक्तियों का एक असंगठित योग है।

(२) व्यक्तियों में सामान्य मतों एवं इच्छाओं का होना आवश्यक है।

---

1 K. Young *Hand book of Social Psychology* p 399

2. The public may be described as an unorganised and amorphous aggregation of individuals who are bound together by common opinions and desires but are too numerous for each to maintain personal relation with the others

(३) व्यक्तियों की संख्या अधिक होने के कारण आमने सामने (face to face) के सम्बन्ध निर्वाह नहीं कर पाते हैं।

(४) यह एक मनोवैज्ञानिक समूह (Psychologic group) है। इन विशेषताओं से स्पष्ट है कि जनता (Public) वास्तव में एक मनोवैज्ञानिक समूह है जिसमें व्यक्तियों के सम्बन्ध अप्रत्यक्ष (Indirect) होते है। इसको द्वितीयक समूहों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे सदस्य किसी विषय के सम्बन्ध में सामान्य विचार एवं रुचि रखते हैं। हम जनता (Public) को यों परिभाषित कर सकते हैं। जनता व्यक्तियों का वह मनोवैज्ञानिक समूह है जिसमें सभी सदस्य किसी एक समस्या के प्रति सामान्य दृष्टिकोण एवं रुचि रखते है। जैसे समाचार पत्रों में हम प्राय नित्य दुर्घटनाओं के प्रति जो प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त करते है। वे सामान्य दृष्टिकोण से की जाती है। ऐसे व्यक्तियों को जनता (Public) का सदस्य कहा जा सकता है। हम भारतीय नागरिक पंचवर्षीय योजना विदेशी नीति काश्मीर समस्या इत्यादि समस्याओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण (Common attitudes) रखते हैं जबकि शारीरिक दृष्टिकोण से हम एक दूसरे से बहुत दूर रहते हैं। दूर दूर रहते हुये भी हम किसी समस्या के प्रति सामान्य उत्तेजना (Common Stimulus) की प्रतिक्रिया रखते हैं। किम्बल यंग के शब्दों में जनता एक ऐसा समूह है जिसके सदस्यों में आमने सामने अथवा कन्धे से कंधे का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। जनता में कुछ व्यक्ति जो दूर दूर स्थानों पर बिखरे हुये होते हैं परोक्ष या यान्त्रिक साधनों द्वारा प्रदान की गई किसी सामान्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया करते हैं।[1]

किम्बल यंग का विचार गिन्सबर्ग से भिन्न नहीं है। मुख्य बात दोनों की एक सी है। जनता के लिये दोनों ने आमने सामने के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। सामान्य मतों एवं सामान्य उत्तेजना को दोनों ने जनता के लिये महत्वपूर्ण स्वीकारा है।

ई० एम० मर तथा अन्य लेखकों ने जनता में केवल उन्हीं व्यक्तियों को सम्मिलित किया है जो राजनीतिक विषयों में रुचि रखते हैं। लेकिन ऐसा विचार न्याय संगत न होगा। लोगों की रुचि केवल राजनीतिक समस्याओं के प्रति ही नहीं होती है। मानव जीवन का यह तो एक पक्ष है। उसमें साहित्य, कला वाणिज्य दर्शन, अध्यात्म इत्यादि विषयों के प्रति रुचि का पाया जाना स्वाभाविक है। आधुनिक समाज मनोविज्ञान के बहुत से पण्डितों का विचार है कि जनता शब्द का प्रयोग बहुवचन के रूप में करना चाहिये। Public के स्थान पर Publics के लिये हिमायत

1 The public is not held together by face to face as shoulder to shoulder contact a member of people scattered is react to common stimulus what is provided by indirect and mechanical means

करते हैं। एक व्यक्ति भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न विषयों में रुचि रखता है। इस लिये यह स्वाभाविक है कि वह (व्यक्ति) एक जनता का सदस्य न होकर अनेक जनताओं का सदस्य होता है।

गिन्सबर्ग एवं किम्बल या दोनों ने Common opinions तथा 'Common Stimulus' की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति एक समस्या के प्रति समान दृष्टिकोण एवं सामान्य प्रतिक्रिया करे। एक ही समस्या के प्रति विभिन्न लोगों में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण का अस्तित्व स्वाभाविक है। विरोधी दृष्टिकोण व्यक्तियों में पाये जाते हैं। पंचवर्षीय योजना (Five Year Plans) के प्रति भारतीय नागरिकों में विरोधी विचारधाराएं पाई जाती हैं। कुछ लोग इसे भारतीय जनता के आर्थिक विकास का एक वरदान स्वीकार करते हैं। कुछ लोग इन को अभिशाप के रूप में रखते हैं। इसी प्रकार जीवन की जितनी भी समस्याएँ हैं उनके प्रति हम में विरोधी एवं संघर्षात्मक विचार एवं रुचिया पाई जाती हैं। समाजशास्त्रियों में भी एक ही समस्या के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण होते हैं। हम कह सकते हैं कि एक बड़ी जनता के अन्तर्गत असंख्य छोटी जनताएं पाई जाती हैं जिन्हें हम Sectional publics की संज्ञा दे सकते हैं।

आधुनिक युग में संचारात्मक साधनों के तार बिछ जाने के कारण सम्पूर्ण भूभाग में निवास करने वाले व्यक्ति एक दूसरे के काफी निकट में हो गये हैं। रेडियो, टेलीफोन, समाचार पत्र आदि संचारात्मक साधनों के विकास के कारण हम लोग दूर रहने वाले लोगों से आसानी से सम्पर्क कर सकते हैं। हम ऐसी भी समितियाँ (Associations) देखने को मिलती हैं जिनके सदस्य दूर दूर देशों के रहने वाले होते हैं। बड़ा बड़ी औद्योगिक व्यापारिक संस्थापन सांस्कृतिक धार्मिक संस्थाएं हैं जिनके सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Contact) नहीं स्थापित कर सकते हैं फिर भी एक संस्था के प्रति सामान्य दृष्टिकोण (Common Attitudes) रखते हैं इन संस्थाओं को हम 'संस्थागत जनताएं' (Institutionalized public) कह कर सम्बोधित करते हैं। उपरोक्त विवेचन के आधार हम पर जनता की निम्न विशेषताओं का वर्णन कर सकते हैं।

जनता के प्रमुख लक्षण

(१) जनता एक मनोवैज्ञानिक समूह है (Public is a psychological group)—हम कह चुके हैं कि public के लिये शारीरिक सामीप्य आवश्यक नहीं है। Public के सदस्य किसी समाचार के प्रति सामान्य दृष्टिकोण रखने के कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आबद्ध रहते हैं। किम्बल यंग के अनुसार भी जनता के लिए आमने-सामने तथा कंधे से कंधा मिलाकर सम्बन्ध बिलकुल आवश्यक नहीं है। व्यक्तियों में मनोवैज्ञानिक सामीप्य आवश्यक है। उनमें केवल यही चेतना होनी है कि

एक विषय के प्रति उनमे एक सामान्य दृष्टिकोण है। सामान्य दृष्टिकोण (Common attitudes) रखने के कारण ही उनमे एकता एव निकटता की भावना का जन्म होता है जो जनता को जन्म देता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी क्रिया सारणी के प्रतिपादन म एक वचन के कर्त्ता (Subject) का प्रयोग वाक्य मे नही करता है। जैसे यदि हम किसी सस्था एव समिति के सदस्य है तो हम (अपने) लिये (मैं) (I) का प्रयोग नहीं करगे। वरन् हम (we) का प्रयोग करते है। सचारात्मक साधन की वृद्धि ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करने म हमारी काफी सहायता की है। रेडियो समाचार पत्र सिनेमा आदि साधनो के माध्यम से जनता म सामूहिक चेतना (group consciousness) तथा हम की भावना (we feeling) का विकास बडा आसान हो गया है।

(२) परोक्ष सम्बन्ध (Indirect Relationship)—जनता के सदस्यो म कोई आमने-सामने (face to face) का सम्बन्ध नही पाया जाता है। वे अप्रत्यक्ष सम्बन्ध के सूत्र द्वारा एक दूसरे म आबद्ध रहते हैं। जनता के सदस्य एक दूसरे को बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं उनका एक दूसरे पर प्रभाव सीमित होता है। जैसे किसी रेडियो प्रोग्राम को सुनने वाले असख्य लोग एक दूसरे से नहीं वल्कि उस प्रोग्राम से ही प्रभावित होते है और उसी की प्रतिक्रिया भी करते है।

(३) सदस्यो की अधिक सख्या (Large membership)—जनता के सदस्यो की सख्या असख्य होती है। किसी क्लब फुटबाल टीम जन प्रदर्शन राजनैतिक अधिवेशन श्रोता समूह दर्शक समूह म व्यक्तियो की सख्या कुछ हजार तक ही सीमित होती है। किन्तु एक जनता के सदस्यो की सख्या लाखो तक सम्भव है। किसी भी जनता के सम्बन्ध म सख्यात्मक दृष्टिकोण असम्भव है। इनमे अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (Indirect relationship) पाये जाने के कारण सख्या काफी होती है जिसका अनुमान ठीक तौर पर नही किया जा सकता है। असख्य सख्या, परोक्ष सम्बन्ध एव अनिश्चित आकार के कारण जनता का निर्देशन करना असम्भव है। जनता का निर्देशन समाचार पत्रो म टेलिविजन के माध्यम से परोक्ष रूप से ही किया जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर स्पष्ट है कि जनताओ की उत्पत्ति (Origin of publics) आधुनिकतम सचारात्मक साधनो के विकास के फलस्वरूप ही हुई। जैसे-जैसे हमारे विचारो के आदान प्रदान के साधनो म प्रगति हुई वैसे-वैसे जनताओ का विकास हुआ। सचार साधनो के आविष्कार ने जनताओ म होने वाली प्रतिक्रियाओ म भी परिवर्तन लाया। उदाहरणार्थ समाचारपत्रो द्वारा उत्पन्न जनता, रेडियो द्वारा उत्पन्न जनता से भिन्न होगी। यह भिन्नता उनकी प्रतिक्रियाओ म अभिव्यक्त होती है।

जनता तथा भीड़

(१) भीड़ में व्यक्तियों के लिए शारीरिक सामीप्य आवश्यक है। जबकि जनता में व्यक्तियों के लिए अप्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक सामीप्य आवश्यक है। जनता के सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से रेडियो, समाचारपत्र, चलचित्र आदि द्वारा किसी विषय में रुचि रखने के कारण एक दूसरे की चेतना प्राप्त करते हैं। जिसे विद्वानों ने Consciousness of Kind भी कहा है। भीड़ के सदस्यों में वैयक्तिक सम्पर्क होता है परन्तु जनता के सदस्यों में इसका अभाव रहता है। भीड़ में अनेक लोगों की एक स्थान पर उपस्थिति, धक्का मुक्की, शोर आदि होते हैं। लेकिन जनता के सदस्यों में इनका अभाव रहता है।

(२) एक व्यक्ति एक समय में एक ही भीड़ (Crowd) का सदस्य होने का अधिकारी है। परन्तु अनेक विषयों में रुचि रखने के कारण अनेक जनताओं का वह सदस्य होने का अधिकारी है।

( ) भीड़ में सुझाव अधिक शक्तिशाली होते हैं। इन सुझावों का प्रभाव उस स्थान विशेष तक सीमित रहता है जहाँ भीड़ रहती है। इसके विपरीत जनता में सुझावों का प्रभाव अपेक्षतया बहुत कम होता है किन्तु सुझावों का क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत होता है। जब समाचार पत्रों या रेडियो द्वारा दूर-दूर स्थानों पर रहने वाले जनता के सदस्यों को सुझाव दिये जा सकते हैं।

(४) जनता के सदस्य दूर-दूर स्थान पर बिखरे रहते हैं फिर भी उनमें एक प्रकार का संगठन पाया जाता है। वाद विवाद, भाषण, सभाओं आदि द्वारा जनता को संगठित किया जा सकता है तथा प्रयत्न भी किया जाता है। भीड़ में इस प्रकार के संगठन के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती है।

हम कह चुके हैं कि सामान्यतया भीड़ में लोगों की सुझाव ग्रहण की क्षमता तीव्र होती है किन्तु कभी कभी जनता में सुझाव प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। भीड़ की अपेक्षा जनता में प्रतिष्ठा सुझाव (Prestige suggestions) शक्तिशाली होता है।

प्रतिष्ठा दो प्रकार की होती है—

(१) गुणात्मक (Qualitative)
(२) संख्यात्मक (Numerical)।

जनता में ये दोनों प्रकार के सुझाव प्रभावशाली होते हैं। जनता में व्यक्ति के अन्दर इस बात की चेतना कि हजारों व्यक्ति किसी विषय में उसी के समान भाव रखते हैं उनकी सुझाव क्षमता को बढ़ा देता है। इसी प्रकार उस विषय में रेडियो, समाचार पत्रों द्वारा किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के विचारों को प्रसारित एवं प्रकाशित किया जाता है।

व्यक्ति अनेक समूहों का सदस्य होता है। बड़े समूहों के अन्तर्गत छोटे छोटे समूह पाये जाते हैं जिनमें अनेक बातें समान तथा सघपात्मक भी पाई जाती है। कुछ समूह एक दूसरे का सहयोग करते हैं कुछ एक दूसरे का विरोध करते है। उनमें से कुछ की आकांक्षाएं विचार आदि तो समान होते हैं एवं कुछ के भिन्न। प्रत्येक समूह का अपना निजी संगठन होता है तथा उसकी अपनी परम्पराएँ होती है। समुदाय के अन्दर इन तमाम समूह संगठन तथा संस्थाओं के अन्तर्गत परिवर्तन स्वाभाविक है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। व्यक्ति परिवर्तन का स्वागत करता है। इन परिवर्तनों के होते हुए भी उनमें एक प्रकार की एकता पाई जाती है। उनमें एक प्रकार का स्थायीपन पैदा करने में जनता सहायक होती है। बिना जनता के इन समूहों में एकता एवं स्थायीपन का अभाव सा रहेगा। गिन्सबर्ग का कथन है जब जनता (Public) किसी संगठन में एकता नहीं उत्पन्न कर पाती है तो वह एक भीड़ उत्पन्न कर देती है।[1] जनता एक व्यक्तियों का संकुल है जो दूर-दूर क्षेत्रों में रहते हैं व किसी विषय में एक सामान्य दृष्टिकोण (Common attitude) रखते हैं।

यद्यपि किसी भी समाज के सभी सदस्यों की एक ही समय किसी वस्तु में समान रुचि नहीं होती फिर भी उनके आदर्शों मूल्यों आधारभूत प्रतिमानों में एक एकमतता पायी जाती है। कुछ विषयों के प्रति समान रुचि तथा कुछ के प्रति भिन्न रुचि के कारण ही एक बड़ी जनता में छोटी-बड़ी अधिकांश जनताएं पाई जाती हैं। इनमें से कुछ जनताएँ एक दूसरे का सहयोग करती हैं कुछ एक दूसरे का विरोध करती हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि जनता वास्तव में अनेक छोटी छोटी जनताओं का एक जटिल संगठन है।

---

1 When public cannot create organisation it creates a crowd —*Ginsberg*

चतुर्थ खण्ड

सामाजिक संस्थाएँ

२२ सामाजिक संस्थाएँ—साधारण परिचय

२३ परिवार एवं विवाह

२४ आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ

२५ धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाएं

२६ विज्ञान, प्रविधि और समाज

२२

सामाजिक संस्थाएं

मनुष्यों की केन्द्रीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित व्यवहार के प्रतिमानों को संस्थाएं कहते हैं। हर समाज में मनुष्यों की कुछ केन्द्रीय आवश्यकताएं तथा पारस्परिक दायित्व होते हैं। इन्हें पूरा करने के लिए निर्धारित व्यवहार के ढंग से सब समाज के व्यवस्थित जीवन के लिए जरूरी होते हैं।[1] मानव व्यवहार के संगठित प्रतिमान ही संस्थाएँ होती हैं। कामवासना की तृप्ति, सन्तानोत्पत्ति तथा उसका लालन पालन, भोजन-वस्त्र तथा घर का प्रबन्ध, सामाजिक विरासत में नियन्त्रण करने के लिए प्रतिमान, समूह तथा समुदायों में व्यक्ति की प्रस्थिति तथा भूमिका को निश्चित करना तथा उनका समाजीकरण, परोक्ष या दैवी शक्तियों को प्रसन्न कर व्यक्ति तथा उनके समूह का कल्याण करना आदि मनुष्य की केन्द्रीय जरूरतें हैं। इन्हें पूरा करने के लिए एक लम्बी अवधि में मनुष्य के व्यवहार के कुछ प्रतिमान संगठित हो जाते हैं। मानव व्यवहार के ये संगठित प्रतिमान दो आधारों पर खड़े होते हैं —(१) उनसे एक विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति सबसे अधिक सुविधा और पूर्णता से हुई है तथा (२) आवश्यकता की पूर्ति के इस ढंग से सामाजिक व्यवस्था दृढ़ हुई है। परिवार और विवाह, घर तथा सम्पत्ति, मन्दिर, विद्यालय, बाजार, संविधान, संसद, कचहरी आदि सामाजिक संस्थाएँ हैं। विवाह को ही लीजिए। काम वासना की तृप्ति का सबसे अच्छा और सफल ढंग विवाह पाया गया। विवाह एक संगठित व्यवहार प्रतिमान है। इसलिए सामाजिक संस्थाएं वे सामाजिक प्रतिमान होते हैं जो आधारभूत सामाजिक कृत्यों के करने में मनुष्यों के संगठित व्यवहारों को स्थापित करते हैं।[1] इन कृत्यों में बच्चों को समाज में स्वीकृत जन्म, उनका समाजीकरण या प्रशिक्षण, रोजी कमाना, दैवी शक्तियों को प्रसन्न करना और समूह के सदस्यों के सामाजिक नियन्त्रण का समावेश होता है। भिन्न भिन्न समाजों में दूसरे संस्थाएं

---

[1] Merrill & Eldredge, *op. cit.*, p. 379

कृत्या का उदय हो सकता है किन्तु उपरोक्त क्रियाएँ सभी सगठित समूहो मे प्रधान हैं।

हर व्यक्ति कइ सस्थानिक प्रतिमानो म अपनी भूमिकाएँ करता है। इन्ही के द्वारा समाज की विभिन्न सस्थाओ म एक जटिल सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। एक सस्कृति का बहुत बडा भाग (सब कभी भी नही) सस्थाओ के मिले हुए रूप म बनता है। इसलिये एक समाज या समुदाय के अध्ययन का एक तरीका उसकी सस्थाओ का अध्ययन होता है।

अर्थ और प्रकृति

बलार्ड (Llyod V Ballard) ने सामान्य इच्छा द्वारा किसी प्रयोजन हेतु स्थापित सगठित मानव सम्बन्धो के प्रतिमानो को सामाजिक सस्थाएँ कहा है। ये सामाजिक प्रक्रियाओ के साध्य उत्पादन है। उनका मुख्य काय कमरत समूह के आचरण का नियमित करना होता है।[1]

बहुधा लोग समाज द्वारा स्थापित किसी भी वस्तु को सस्था कहकर गलती करते हैं। वान्स ने भी सस्था का अर्थ ऐसी सामाजिक सरचना और यन्त्र से लगाया है जिसके द्वारा मनुष्य समाज मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये अपेक्षित अनेक क्रियाओ का सगठन निर्देशन और सम्पादन करता है।[2] सस्था का यह अर्थ मानने मे सस्था और समिति (या सघ) म कोई भेद नही रहता। किन्तु समाजशास्त्री इन दोनो म भेद करते हैं। मकाइवर और पेज ने सामूहिक क्रिया की कार्यविधि के प्रतिष्ठित रूपो अथवा दशाओ को सस्था कहा है।[3] परिवार एक समिति है और विवाह एक सस्था। राज्य श्रमसघ तथा व्यापारिक निगम समितिया हैं। किन्तु सरकार, न्यायपालिका सविधान वयस्क मताधिकार सामूहिक सौदा और प्रबन्ध अभिकर्त्ता व्यवस्था सस्थाए है। कालेज जेल, अस्पताल और ससद को समिति तथा सस्था दोनो कह सकते है। सगठित समूहो के रूप म ये समितियाँ हैं और कार्यविधि के रूप म सस्थाएँ हैं। समितियाँ व्यक्तियों से बने सगठित समूह हैं। हम उनके सदस्य हो सकते हैं किन्तु सस्थाओ के नही।[4]

मनुष्य के कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक और शरीर क्रिया सम्बन्धी आग्रह होते हैं। ये भोजन आश्रय यौन तथा सुरक्षा प्रत्युत्तर और नए अनुभवो की आवश्यकताओ से सम्बद्ध होती हैं। मोटे तौर पर इन्हे आर्थिक यौन आस्था और सामूहिक

1 Ballard *Social Institutions* New York (1936)
2 An institution means the social structure and machinery through which human society organises directs and executes the multifarious activities required to satisfy human needs *Social Institution* New York (1942)
3 By institutions we shall always mean the established forms and conditions of procedure characteristic of group activity *Society* p 15
4 *Ibid* p 15

कल्याण सम्बन्धी चार केन्द्रीय आवश्यकताओं में विभक्त किया जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों के आधार क्रियाओं के यही चार पुंज हैं।[1] इन समूह की क्रियाओं के आधार में सिद्धान्तों की व्यवस्थाओं को हम संस्थाएँ कह सकते हैं।[2]

सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक संगठन के ही रूप हैं क्योंकि जिन सम्बन्धों का उनमें समावेश होता है वे निश्चित ही व्यवस्थित तथा अनुमोदित होते हैं। किन्तु उनमें तथा सामाजिक संगठन के दूसरे रूपों में भेद यह है कि संस्थाएँ समूह के किसी एक कार्य को करती हैं जो उसके लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उनको सामाजिक सम्मान तथा नियन्त्रण मिलना आवश्यक है। संस्थाएँ किसी सामान्य इच्छा द्वारा स्थापित होती हैं तथा उनका एक सामाजिक व्यक्तित्व होता है। संस्था में सामूहिक क्रिया का वर्णन करने के लिए सामूहिक प्रयत्न की प्रतिध्वनि होती है। ये सिर्फ सामाजिक धारणाएँ ही नहीं होतीं। बगैर व्यक्तियों के इनका कोई अस्तित्व नहीं होता। संस्थाएँ मनुष्य ही बनाते हैं और सामाजिक रूप देकर उन्हें स्थायी रचनाओं में बदल देते हैं। यह स्थायित्व उन प्रथाओं, परम्पराओं तथा परिपाटियों के कारण है जो संस्थाओं के आस-पास बन जाती हैं। संस्थाओं के अभाव में ये नहीं होतीं। ये तो कुछ समय बाद बनने लगती हैं और संस्था को प्रौढ़ होने पर प्रतिष्ठा (Prestige) तथा स्थायित्व प्रदान करती हैं।[3]

प्रथाएँ, परिपाटियाँ तथा परम्पराएँ संस्था के सदस्यों के आचरण के लिए मानक निश्चित करती हैं। इन मानकों के प्रति निषेध, रूढ़ियाँ, सन्नियम तथा आदर्श होते हैं जो समूह के अनुभव के माध्यम चिन्तन के रूप में विकसित हुए हैं और जो संस्थाओं के वर्तमान कामकाज के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त बनते हैं। परन्तु इन प्रथाओं आदि को ही संस्था नहीं कह सकते। इनका सम्बन्ध संस्था से बना है जो कानूनों का राज्य, धर्मशास्त्र का मन्दिर या गिरजे तथा शिक्षाशास्त्र का विद्यालय में। समनर (Sumner) संस्था की परिभाषा एक धारणा और एक रचना कह कर करता है।[4]

---

1 Ogburn & Nimkoff *op cit* Chap XVIII

2 Institutions may be described as systems of principles underlying the activities of a group Martindale & Monachesi *Elements of Sociology* p 394

3 An institution can be defined as a set of interwoven folkways mores and laws built around one or more functions. K. Davis *Human Society* p 71 or An institution is the organisation of several folkways and mores (and more often but not necessarily laws into a unit which serves a number of social function A. W Green *Sociology* p 78

4 W G Sumner *Folkways* p. 53 and Gillin and Gillin *op cit* p 313

संस्थाओं के आवश्यक लक्षण

संस्थाएँ सामाजिक वस्तुएँ हैं पर अन्य सामाजिक रूपों से भिन्न हैं। इस भिन्नता को जानने के लिये संस्थाओं के आवश्यक गुणों को समझना जरूरी है।[1]

(१) धारणा या विचार (Ideation)—एक संस्था की उत्पत्ति किसी धारणा, विचार या विश्वास से होती है और उसी पर वह केन्द्रित रहती है। यह धारणा या विचार किसी ऐसे सामाजिक चित्र के बारे में होता है जो समाज की निरंतरता अथवा किसी उपलब्धि के लिये अनिवार्य माना जाता है। सामाजिक संस्थाओं का केन्द्रीय पहलू उनके कार्यों में प्रकट होता है।

(२) संरचना (Structure)—विचार या धारणा को कार्यान्वित करने के लिये एक संरचना जरूरी होती है जो विचार को यथार्थ में बदलने के लिये साधन या सामग्री जुटा देती है। सामाजिक सामग्री इमारतें तथा सज्जा संरचना में शामिल होते हैं। विवाह संस्कार राजनैतिक दल गिरजे या मन्दिर विद्यालय भवन भी संरचना तत्व हैं। साधारणतया हम इन्हें ही संस्थाएँ मानते हैं। किन्तु ये स्वयं संस्थाएँ न होकर उनका ढाँचा मात्र हैं।

विचार और संरचना क्रियाशील सम्पूर्ण के अंग हैं और उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। आधारभूत संस्थाओं की धारणाओं में स्वयं सामाजिक जीवन के प्रयोजन और ध्येय समाविष्ट होते हैं। एक ही संस्था की संरचना विभिन्न समाजों में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, परिवार की धारणा में समाज द्वारा स्वीकृति के योग्य गर्भ जन्म तथा बच्चों का लालन पालन शामिल होता है। किन्तु परिवार की संस्था की संरचना विभिन्न समाजों में अलग अलग है। यही बात आर्थिक धार्मिक सांस्कृतिक संस्थाओं की रचना के बारे में भी सही है।

(३) प्रयोजन—जिस विचार या धारणा से संस्था का जन्म होता है उसी से उसका प्रयोजन भी विकसित होता है। सामान्य इच्छा द्वारा संस्था का प्रयोजन ठहराया जाता है और यही यह निश्चित करती है कि संस्था किन हितों की प्राप्ति का प्रयत्न करेगी तथा किन उद्देश्यों के आधार उसकी क्रियाएँ परिचालित होंगी। संस्थाओं का औचित्य या अनौचित्य निर्धारण के लिये यह मालूम करना पड़ता है कि वे अपना प्रयोजन पूरा कर रही हैं अथवा नहीं।

---

1 Compare with Gillin & Gillin s characterisation of institutions (1) an organisation of conceptual and behaviour pattern (2) a relative degree of performance (3) fairly well defined objective or objectives (4) cultural objects of utilitarian value (5) symbols (6) fairly definite oral or written tradition *Cultural Sociology* pp 315-317 and also Cf Chapin *Cultural Change* New York (1928) p 49 Chart (Institutional Elements)

संस्थाएँ किसी न किसी इच्छा या आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए तो बनती हैं किन्तु कोई आवश्यकता संस्था की सृष्टि नहीं करती। संस्थाओं का किसी अकेली आवश्यकता से सहसम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हाँ, संस्था और आवश्यकता में एक शक्तिशाली सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वह अप्रत्यक्ष मात्र है। संस्था आवश्यकता पर थोपी हुई नियमों की एक व्यवस्था है जो उसका मार्ग निर्देशन करती है और उसकी पूर्ति की दशाओं को निर्धारित करती है।[1] फिर भी प्रत्येक आधारभूत संस्था का प्राथमिक कार्य एक आग्रह से निश्चित होता है।

(४) अपेक्षाकृत स्थायित्व—संस्थाएँ मनुष्य की कुछ प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बनती हैं इसलिए ये व्यवस्थित तथा स्थायी रूप ले लेती हैं। चूँकि ये प्रधान आवश्यकताएँ समाज में हमेशा के लिए या बहुत दीर्घकाल तक रहती हैं इसलिए उनकी पूर्ति की कार्यविधियाँ भी स्थायी हो जाती हैं। संस्थाओं का रूप समाज की उन्नति और अन्य दशाओं के साथ बदला करता है।

(५) अधिकार सत्ता (Authority)—संस्था एक विशिष्ट सम्बन्ध को प्रकट करती है जिसे समाज या लोक की स्वीकृति से स्थापित किया गया है। इसी स्वीकृति के मिलने से संस्था को अधिकार-सत्ता प्राप्त होती है जिससे वह अपने सदस्यों तथा समाज के अन्य लोगों पर चलाती है। हर संस्था इन्हीं प्रथाओं तथा रीतियों से परिवेष्टित होती है इसलिए उसका पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्व हो जाता है।

(६) सामाजिक नियन्त्रण—चूँकि संस्थाएँ समाज की इच्छा से बनती हैं अतः ये उसी के नियन्त्रण में रहती हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितना प्रभावशाली हो उसके विचारों का असर संस्थाओं पर तभी पड़ता जब उन्हें समाज ने अपना लिया हो। जब तक समाज किसी विचार या काम को अपने लिए लाभदायक नहीं समझता उसका असर संस्थाओं पर प्रायः नगण्य रहता है। संस्थाएँ बहुत धीरे धीरे मनुष्यों के अनुभव के आधार पर बनी हुई होती हैं इसलिए इनमें परिवर्तन भी बहुत धीमे होता है। किन्तु समूह या समाज अपनी संस्थाओं को निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमेशा अपने नियन्त्रण में रखता है। इस नियन्त्रण से संस्थाओं का स्थायित्व और प्रभाव ज्यादा बढ़ जाते हैं। हम जानते हैं कि संस्थाओं पर एक जबरदस्त प्रभाव विधान सभाओं, न्यायालयों, व्यवसायों तथा जनमत का पड़ता है।

(७) सदस्य (Personnel)—हर संस्था में कुछ लोग सदस्य रहते हैं। इनके निश्चित कार्य और प्रस्थितियाँ रहती हैं। ये संस्था के प्रयोजन को कार्यान्वित करते हैं। किसी भी संस्था की कल्पना उसके सदस्यों को छोड़ कर नहीं की जा सकती। अन्य सामाजिक संगठनों में भी मनुष्यों का होना अनिवार्य होता है किन्तु

---

1 'The institution is a system of rules imposed on need guiding its course and prescribing the conditions for its fulfilment.' Martindale & Monachesi *Elements of Sociology* p 394

कुछ सामाजिक रूपों (प्रथाएं परिपाटियाँ या परम्पराएँ) में मनुष्य नहीं होते। अर्थात् ये मनुष्यों से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं जब कि हर संस्था के साथ कुछ लोग सम्बन्धित रहते हैं।

संस्थाएँ ऐच्छिक तथा अनैच्छिक होती हैं। अनैच्छिक संस्थाओं का सदस्य होना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है। परिवार तथा धर्म इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। बच्चा परिवार में जन्म लेता है तथा वयस्क होने तक अपने लालन पालन आदि के लिए उसमें शिरकत करता है। उसे इस संस्था का सदस्य होना अनिवार्य है। इसी तरह, प्रायः सभी समाजों में व्यक्ति को धार्मिक संस्थाओं का अनिवार्यतः सदस्य होना पड़ता है। हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई या पारसी सभी समाजों में धार्मिक संस्थाओं का सदस्य होना व्यक्ति के लिए अनिवार्य रहता है। धर्म सारे समाज में व्याप्त रहता है। यह अवश्य सम्भव है कि कोई व्यक्ति धार्मिक संस्थाओं में क्रियाशील शिरकत न करे। आधुनिक समाजों के सदस्यों का बहुत बड़ा प्रतिशत धर्म में आस्था रखते हुए भी क्रियाशील आस्तिक नहीं होता। आर्थिक राजनैतिक या सांस्कृतिक संस्थाएँ ऐच्छिक होती हैं। इनका सदस्य होना न होना मनुष्य की इच्छाओं पर निर्भर है। किन्तु राज्य और राष्ट्र की सदस्यता हर मनुष्य के लिए अनिवार्य है। परिवार, धर्म, राष्ट्र आदि समाज की आधारभूत संस्थाएं हैं। इसी प्रकार कुछ सांस्कृतिक संस्थाएं भी हैं जिनका सदस्य होना बहुत कुछ मनुष्य की इच्छा के बाहर रहता है। अतएव, समाज की आधारभूत संस्थाओं में व्यक्ति की शिरकत या सदस्यता प्रायः ऐच्छिक न होकर अनैच्छिक होती है। मूलभूत संस्थाओं से सम्बन्ध का अधिकांश भाग मनुष्य के जन्म से निर्धारित होता है।

वैयक्तिक एवं सामाजिक पक्ष

सामाजिक संस्थाओं के वैयक्तिक तथा सामूहिक दो पहलू होते हैं। संस्थाओं के सामूहिक पहलू से हमारा अभिप्राय विश्वास और व्यवहार के उन संगठित प्रतिमानों से है जो एक संस्कृति के सभी व्यक्तियों की अनुक्रियाओं का निर्धारण करते हैं। परिवार के सामूहिक पहलुओं में उन जन रीतियों रूढ़ियों, कानूनों तथा अनौपचारिक अपेक्षाओं का समावेश होता है जो किसी समाज के मनुष्यों के परिवार के सदस्य होने के नाते उनके व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। ये प्रतिमान संस्कृति में ही मौजूद रहते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। ये किसी एक विशिष्ट परिवार पर आश्रित नहीं होते। वैयक्तिक परिवारों के सदस्यों के व्यवहार में वे पाए जाते हैं। जब कभी व्यक्ति परिवार के पर्यावरण में रहेंगे तो इन्हीं प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार करेंगे। परिवार के सामूहिक पहलू बने रहेंगे भले ही किसी एक परिवार का नाश हो जाए। व्यक्तिगत परिवार बनते हैं और नष्ट हो जाते हैं किन्तु परिवार की संस्था तब तक बनी रहेगी जब तक समस्त परिवार एकदम नष्ट न

हो जाएँ। इसी तरह आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि संस्थाओं के सामूहिक पहलू कायम रहते हैं यद्यपि व्यक्तिगत साझेदारियाँ कम्पनियाँ सरकारें गिरजे या मंदिर बनते और नष्ट होते रहते हैं।

संस्थाओं की अन्योन्याश्रितता

एक समाज की सभी संस्थाएँ अन्त निर्भर तथा आपस में घनिष्टता से सम्बन्धित होती हैं। समाज का जीवन और श्रम किसी एक संस्था से नहीं चलता। इसके लिए सभी संस्थाएँ बराबर महत्त्व रखती हैं। समाज चलन के लिए प्रमुख संस्था का महत्त्व ज्यादा और गौण का कम इस प्रकार का विचार गलत है। किसी भी आधारभूत संस्था—आर्थिक या धार्मिक—को सामाजिक जीवन का निर्धारण करने वाली मानना अनुचित है। समाज की व्यवस्था बनाए रखने तथा उसके क्रियाशील होने के लिए आधारभूत संस्थानिक प्रतिमानों का न्यूनतम कार्यक्षमता से काम करते रहना जरूरी है। यदि एक संस्था में गड़बड़ी आती है तो दूसरी संस्थाओं पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। किन्तु संस्थाओं में अन्त निर्भरता से यह समझना चाहिए कि उनके ध्येयों तथा प्रयोजनों में सामंजस्य अवश्य ही होता है। आधुनिक गत्यात्मक समाज में इस सामंजस्य का होना बहुत मुश्किल होता है। फिर भी समाज के चलते रहने के लिए केन्द्रीय संस्थाओं में कृत्यात्मक कार्य क्षमता होना अत्यावश्यक होता है।

सर्वत्र संस्थाएँ एक दूसरे के साथ एकसूत्र होती हैं। किन्तु आदिम संस्कृतियों की अपेक्षा आधुनिक सभ्यताओं में ये कम पूर्ण एकसूत्र होती हैं। सभ्यता के आकार और जटिलता के कारण आस्था, ज्ञान और अभ्यासों में बहुत अधिक विशेषीकरण हो जाता है।

संस्थाओं के प्रकार[1]

(१) संस्थाओं की स्थापना समुदाय तथा समितियों दोनों के द्वारा होती है। समनर ने संस्थाओं के दो प्रकार बताए (अ) स्वत विकसित और (आ) निर्मित (enacted)। विवाह सम्पत्ति और धर्म पहले प्रकार की संस्थाएँ हैं जिनका विकास रूढ़ियों से प्रचलन अथवा अनियोजित हो गया है। साख व्यापार और निगम सम्बन्धी संस्थाओं का निश्चित प्रयोजन के लिए सचेत संगठन हुआ है। वे तार्किक आविष्कार एव इरादे का परिणाम हैं। वे कानून द्वारा परिभाषित होती हैं तथा राज्यशक्ति का उन्हें स्वीकृति प्राप्त होती है। पहले प्रकार की संस्थाएँ रूढ़ि और परम्परा से अनुमोदित और प्रशस्त होती हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने संस्थाओं को परम्परात्मक और विचारात्मक दो वर्गों में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण ऊपर जैसा ही है।

---

1 Gillin & Gillin *Cultural Sociology* pp 319 20

(२) संस्थाओं के सामाजिक महत्त्व के आधार पर उन्हें (अ) आधारभूत संस्थाओं तथा (आ) गौण संस्थाओं में विभाजित किया जाता है। आधुनिक समाज में परिवार, सम्पत्ति, धर्म, राज्य और शिक्षा को आधारभूत संस्थाएँ कहते हैं। उन्हें सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण के लिए आवश्यक माना जाता है। मनोरंजन सम्बन्धी संस्थाओं को अक्सर गौण कहते हैं। किन्तु अमुक संस्था गौण है या प्रमुख? यह बात तभी निश्चित हो सकती है जब हमें समग्र संस्कृति में उनके स्थान का परिचय हो।

( ) संस्थाओं का एक अन्य वर्गीकरण किया जाता है। समाज से स्वीकृत संस्थाएं प्रथा, रूढ़ि और कानून सभी के द्वारा स्वीकृत होती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ संस्थाएं ऐसी होती हैं जिन्हें समाज सदैव अस्वीकृत मानता है। ये बहुधा समाज विरोधी कृत्य करती हैं। सट्टा, चोरबाजार, सोसाइटी वीमेन' रखना आदि अस्वीकृत संस्थाएं कही जाती हैं। वास्तव में अस्वीकृत संस्थाओं को अवांछित अभ्यास मात्र कहना चाहिए। संस्थाओं का एक आवश्यक लक्षण उनका सामाजिक कृत्य है।

(४) संस्थाएं सार्वभौमिक और विशेष भी हो सकती हैं। हिन्दू धर्म एक सार्वभौमिक संस्था (भारत में) है जबकि आर्य समाज, सनातन धर्म, जैन या बुद्ध धर्म विशेष संस्थाएं हैं। इसी प्रकार भारत की केन्द्रीय सरकार प्रणाली एक साधारण संस्था है और राज्यों की शासन प्रणालियाँ उसके विशेष रूप हैं। हमारे विचार से साधारण और विशेष में भेद करने का सबसे अच्छा आधार उनके कार्य और क्षेत्र हैं। साधारण संस्था का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और कार्य साधारण होते हैं। विशेष संस्था के कार्य विशिष्ट और क्षेत्र सीमित होता है।

(५) संस्थायें नियात्मक (operative) और नियामक (regulative) भी हो सकती हैं। पहली संस्थाओं का प्रधान कार्य एक प्रतिमान निर्माण करना है जिसका अभ्यास उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। औद्योगिकता की संस्था ऐसी ही है। वैधानिक संस्थाएं नियामक कही जाती हैं क्योंकि ये हमारे व्यवहार का नियमन करने वाले यन्त्र हैं।

हम समस्त सामाजिक संस्थाओं को निम्न ६ वर्गों में विभक्त करने के पक्ष में हैं —

(अ) कौटुम्बिक संस्थाएं,
(आ) आर्थिक संस्थाएं
(इ) राजनीतिक (और वैधानिक) संस्थाएँ
(ई) शास्त्रीय संस्थाएँ (ज्ञान विज्ञान और प्रौद्योगिकी सम्बन्धी संस्थाएँ),
(उ) धार्मिक (और नैतिक) संस्थाएँ
(ऊ) सौन्दर्यात्मक अथवा मनोरंजनात्मक संस्थाएँ।

संस्थाओं के कार्य

ग्रनाड ने संस्थाओं के चार कार्य बताए हैं (१) समाज तथा संस्कृति की व्यवस्था का संरक्षण, (२) नैतिक शिक्षा, (३) आचरण को ढालना, तथा (४) सामाजिक यंत्र का सृजन।

गिलिन तथा गिलिन ने संस्थाओं के सात कार्य बताए हैं[1] —

(१) व्यक्ति के लिए समूह के कार्य को सरल बनाना
(२) सामाजिक नियन्त्रण के साधन
(३) व्यक्ति को एक भूमिका तथा प्रस्थिति देना
(४) नए प्रतिमानों के सृजन में प्रोत्साहन
(५) सम्पूर्ण सांस्कृतिक समुच्चय में सामंजस्य पैदा करना
(६) मनुष्य के व्यक्तित्व को कभी-कभी कुण्ठित कर देती हैं
(७) समाज की प्रगति में कभी-कभी प्रतिरोध डालती हैं।

इन संस्थाओं के कार्यों का विवेचन चार शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे —

(१) संस्थाएँ तथा मनुष्य का व्यक्तित्व
(२) संस्थाएँ तथा सामाजिक विघटन
(३) संस्थायें तथा सामाजिक नियन्त्रण
(४) संस्थायें तथा सामाजिक परिवर्तन।

संस्थाएँ और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक संस्थाओं का सबसे अधिक भाग रहता है। व्यक्तित्व की सामाजिक प्रकृति उन भूमिकाओं तथा प्रस्थितियों में प्रकट होती है जो व्यक्तित्व को अपनी संस्कृति में मिलती हैं या वह उन्हें प्राप्त करता है। इनमें से अधिकांश पद या कार्य सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित होती हैं चाहे वह परिवार, धर्म या विद्यालय हो अथवा राज्य। हाँ प्रस्थिति तथा भूमिका के कुछ पहलुओं का संस्थाओं से बहुत दूर का सम्बन्ध होता है। व्यक्तित्व के उन तत्वों का जिन्हें बालक मित्र-समूह में प्राप्त करता है अथवा क्रीड़ा समूह से सीखता है संस्थाओं से बहुत दूर का सम्बन्ध होता है। किन्तु व्यक्तित्व में प्रतिमानित अपेक्षाओं के अनुसार जो व्यवहार या आचरण शामिल है उस पर संस्थाओं का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण परिवार में ही प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में परिवार सबसे सशक्त संस्था होती है। बच्चे को भाषा में प्रशिक्षण, नैतिक मूल्यतायें सीखना और सामाजिक विरासत में निरत करना—ये सभी परिवार की सीमा में

---

1 *Cultural Sociology* pp 320-26

आरम्भ होता है। जैसे-जैसे यह बड़ा होता जाता है उसका सम्पर्क अन्य नई संस्थाओं से आता जाता है और पूर्ण वयस्क होने तक उसके व्यक्तित्व का प्रायः प्रौढ़ विकास संस्थाओं के सम्पर्क में हो जाता है।

बढ़ते हुए बच्चे की इन विभिन्न संस्थाओं में जो प्रस्थिति होती है उसी से उसकी भूमिकायें निश्चित होती हैं। इन भूमिकाओं के साथ वे अपेक्षतायें जुड़ी रहती हैं जिनसे भिन्न परिस्थिति में व्यक्ति को किस प्रकार का आचरण करना पड़ेगा यह निर्दिष्ट होता रहता है। इन्हीं से बार-बार आने वाली स्थितियों के प्रति व्यक्ति के रुख का निर्धारण होता है। अधिकार और कर्त्तव्य, भार तथा दस्तूर का हमेशा दुतरफा काम होता है। संस्था के लिये कुछ बलिदान करने की व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है। जिसके बदले में वह कुछ स्पर्श्य अथवा अस्पर्श्य (tangible or intangible) लाभ पाने की अपेक्षा करता है। अपने जीवन में व्यक्ति को पुत्र, भाई पिता, पति मित्र पड़ोसी अधिकारी सेवक नागरिक आदि अनेक भूमिकायें ग्रहण करनी पड़ती है। वह संस्थाओं में रहकर सम्बन्धित भूमिका के निर्दिष्ट प्रतिमान के अनुसार ही आचरण करता है। हर भूमिका में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो बनने वाले व्यक्तित्व पर अपना स्थायी असर छोड़ जाते है। चाहे कोई व्यक्ति एक संस्था में आसामी या अधिकारी हो अथवा पूजक या पुजारी, नागरिक या निर्वाचित प्रतिनिधि शिष्य अथवा शिक्षक की भूमिका में हो उसके व्यक्तित्व में उसकी भूमिका की प्रमुख विशेषताओं के लक्षित होने की प्रवृत्ति रहती है।[1] भिन्न भिन्न संस्कृतियों में व्यक्तित्व के भिन्न प्रकार पाये जाते है। कहीं आर्थिक संस्थायें व्यक्तित्व पर सबसे अधिक प्रभाव डालती हैं या उनकी सबसे अधिक प्रबलता जीवन के बहुत से पहलुओं में रहती है। किन्हीं समाजों में धार्मिक संस्थाओं की प्रबलता और कहीं अन्य संस्थाओं की। भौतिकवादी सभ्यता में व्यक्ति प्रारम्भ से ही सीखता है कि उसकी मुख्य भूमिका रोजी कमाने वाले व्यक्ति की होगी और उसके जीवन की सफलता या विफलता की माँग उसकी आर्थिक उपलब्धियों पर निर्भर रहेगी। अध्यात्मवादी दशा में व्यक्ति आर्थिक हितों को सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। वह परोपकार, सेवा या आत्मसमर्पण को सर्वोपरि महत्त्व देता है। इसलिये शुरू से ही जीवन के प्रति उसका रुख अध्यात्मवादी हो जाता है। यह तो रहा एक समाज या संस्कृति में व्यक्तित्व का साधारण प्रकार। इसी समाज में विभिन्न समूहों वर्गों या जातियों के व्यक्तियों का व्यक्तित्व अलग अलग प्रकार का होता है। जिस समूह या वर्ग में जिस गुण को प्रबल माना जायगा उसी की पूर्ति के लिये व्यक्तियों की भूमिकाएँ विकसित होंगी। भारत में राजपूत एक योद्धा जाति रही है। इसके हरेक सदस्य को देश रक्षा में प्राण की आहुति देना बचपन से ही सिखाया जाता था। आराम या चैन से जीवन बिताना भीरुता या अकर्मण्यता की निशानी समझा जाता था। धन-सम्पत्ति का संचय वहीं तक उचित समझा जाता

[1] Ralph Lintion *The Cultural Background of Presonality* Chapter III

या जहाँ तक एक राजपूत को अपनी भूमिका अदा करने में वह सहायक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि एक संस्कृति में जिन संस्थाओं की प्रबलता होगी वही मनुष्यों के व्यक्तित्व पर सर्वोपरि प्रभाव डालेगा।

जन्म के समय व्यक्ति इतना लचीला होता है कि उसमें अत्यन्त जटिल व्यवहार प्रतिमानों की अपेक्षा की जा सकती है। किसी प्रकार का भी व्यवहार प्रतिमान उससे सम्भव हो सकता है क्योंकि एक विशिष्ट समाज में संस्थाओं की प्रबलता इन सम्भव पहलुओं में सर्वाधिक या एक पहलू को प्रधान बना देती है। समाज या समूह की संस्कृति को व्यक्ति अपनी संस्थाओं के जरिए जानता है। संस्थाएं व्यक्ति के लिए संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में मूलभूत जन्मजात गुणों का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है फिर भी प्रधान संस्थाओं के प्रतिमान उन साधारण सीमाओं को निश्चित करते हैं जिनमें व्यक्तित्व विकसित होता है।[1]

व्यक्ति के गुण, जो संस्थाओं को सबसे अधिक प्रिय होते हैं स्वयं संस्थाओं के परम्परागत ज्ञान में पाए जाते हैं। जो व्यक्ति इन गुणों को जल्दी तथा सफलता से सीख सकता है वह संस्था में बहुत असरदार या प्रतिष्ठित हो जाता है। संस्थाओं के प्रतिमान उनके सदस्यों के व्यक्तियों में वर्णित होते रहते हैं। अपनी अनुपम वंशागत विशेषताओं के कारण हर व्यक्ति अनुपम या अनोखा होता है किन्तु इसकी अपूर्वता इस कारण से होती है कि वह संस्थाओं के दबाव को भी अपूर्व रीति से सहता है। एक ही परिवार के भिन्न सदस्यों के लिये उसका वातावरण भिन्न भिन्न होता है। विद्यालय, मन्दिर या मसजिद, राज्य और बाकी संस्थाओं का हर व्यक्ति पर समान प्रभाव या समान नहीं पड़ता कुछ पर ज्यादा और कुछ पर कम। हाँ साधारण प्रतिमान अवश्य समान होते हैं। इसी अर्थ में हम 'राष्ट्रीय चरित्र' या 'राष्ट्रीय व्यक्तित्व' कह सकते हैं क्योंकि किसी एक राज्य में हर व्यक्ति अपने सामाजिक पर्यावरणों में संस्थाओं के नियन्त्रण के साधारण प्रतिमान को सहता है। सभी भारतवासी कुछ संस्थाओं तथा संस्कृति के प्रभावों में रहते हैं और इसलिये सभी एकसे मूल्यों में से बहुत से मानते हैं और महत्त्वपूर्ण मामलों (विषयों) पर उनका एकसा साधारण दृष्टिकोण होता है।

अब स्पष्ट हो गया होगा कि व्यक्तित्व एक समाज के संस्थानिक प्रतिमान की केवल आंशिक उत्पत्ति है। सभी संस्थाओं का मिलाकर प्रभाव व्यक्तित्व के निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक होता है किन्तु व्यक्ति पर कुछ एक अनौपचारिक तथा अ-संस्थानिक प्रभाव भी पड़ते हैं जिनका अध्ययन अभी तक नहीं किया जा सकता। बड़े होते हुए बच्चों पर विद्यालय या विवाह होती में ... आयु समूह के नियमों तथा मांगों का असर पड़ता है। विवाह का काम-सम्बन्धी ज्ञान परिवार या मन्दिर न

---

1 Merrill & Eldredge *Culture and Society* p 380

न मिलकर अपना आयु समूह म ही मिलना है। किशार अपराधियों के रूप तथा आदतें एसे प्रभावा की उपज हान हैं जा आधारभूत रूप स असस्थानिक होते ह।

सस्थाओं का मुख्य उद्देश्य समाज क सस्था क यक्तित्व का विकसित और उन्नत करना है। पर जब सस्था मे अवाछित स्थिरता आ जाती है जब वह समय के पीछे चलती है तो यक्तित्व के स्वस्थ और प्रौढ विकास म बाधा डालता है।

सस्थाएँ तथा सामाजिक विरासत

सस्थाएँ सामाजिक विरासत का सरक्षित रखती है और उसका सचरण करती है। उन्ही क द्वारा सामाजिक विरासत म निरन्तरता बनी रहती है। परम्पराए कानून, कला और ज्ञान विज्ञान पीढी दर पीढी चला करते हैं। हर पीढी की उप लब्धियो या करतूतों का सस्थाए कायम रखती हैं। एक समाज के सभी व्यक्ति साथ कभी नही मरते। जीवित रहने वाले व्यक्ति सस्थाओ के विचार और रचनाओ का अपने व्यक्तित्व द्वारा बनाय रखते हैं। हमारे समाज के सामूहिक पारिवारिक प्रतिमान का अमरता भी प्राप्त है किन्तु व्यक्तिगत परिवार तभी तक कायम रहता है जब तक उसक सदस्य जीवित ह। आधारभूत सस्थाओ म परिवतन की प्रक्रिया समय तथा सस्था के अनुसार धीमी या तज हो सकती है। लेकिन कोइ आधारभूत सस्थानिक प्रतिमान तब तक नष्ट नही हाता जब तक कि सारा समाज ही न मर जाय।

समाज का प्राथमिक तथा अनेक काय करने वाली सस्था परिवार है। सबस पहल यहा अपन सदस्या क यक्तित्व द्वारा सामाजिक विरासत के तत्वो को अपनाती है और उन्हे दूसर व्यक्तियो को हस्तान्तरित करती है। दूसरी सस्थाएँ सामाजिक विरासत के सरक्षण म अधिक विशिष्ट भूमिका अदा करती हैं। विद्यालय का यह विशेष काय है। शिक्षक पहले तो अपन यक्तित्व म सामाजिक विरासत का एक विशिष्ट भाग समाहित कर लेता ह और फिर उसी को शिष्यो या विद्यार्थियो के यक्तित्व म समाविष्ट करता ह। यद्यपि प्रारम्भिक पाठशाला स लेकर विश्वविद्यालय तक सामाजिक विरासत का सचरण करने के लिय अनेक तरीको को अपनाया जा चुका ह किन्तु फिर भी सामाजिक विरासत के हस्तातरण म शिक्षक का सबसे महत्व पूर्ण भाग रहता है। परिवार क बाद स्कूल का महत्व है जो सस्कृति की चतुराइयो, ज्ञान तथा प्रविधियो की रक्षा और हस्तातरण म सलग्न ह।

यद्यपि आधुनिक युग म धार्मिक सस्थाओ क पास से शिक्षा दन का काम निकल गया ह क्योकि शिक्षा को धम निरपेक्ष बना दिया गया ह फिर भी धार्मिक शिक्षा आज भी इन्ही सस्थाओ द्वारा दी जाती है। धार्मिक विरासत को मौखिक सगान अध्ययन अथवा उपदेश द्वारा य सस्थाएँ आज भी हस्तातरित तथा रक्षित कर रही हैं। समाज की भाषा साहित्य, कला, ज्ञान विज्ञान तथा अन्य तत्वो का सचरण

संस्थाओं द्वारा होता है। ये समाज को व्यवस्था तथा स्थायित्व प्रदान कर संस्कृति तथा सभ्यता की उन्नति और सामाजिक प्रगति सम्भव बनाती हैं।

संस्थाएँ सामाजिक विरासत का संरक्षण अवश्य करती हैं किन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि इसमें किसी प्रकार का संशोधन ही नहीं होता। हर एक पीढ़ी सामाजिक विरासत को उसके मूल रूप में—बिना किसी संशोधन या परिवर्तन के—संचरित कर देती है। ऐसी धारणा अपूर्ण है। संस्थाएँ व्यक्तियों के जरिये सामाजिक विरासत का हस्तान्तरण करती हैं और ये व्यक्तित्व हमेशा अनुपम होते हैं। कोई भी व्यक्ति हमेशा एक से नहीं होते। उनके विचारों, रुचियों, ज्ञान तथा आदतों में भिन्नता होती है। सामाजिक विरासत के किसी भी तत्व को जब कोई व्यक्ति अपनायेगा तो उसमें अपने व्यक्तित्व की कुछ अमिट छाप लगा देगा। इसी तरह हर संस्था के सदस्य अपनी भूमिकाओं को अपने ढंग से अदा करते हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि संचरण की प्रक्रिया में हमेशा सामाजिक विरासत संशोधित होती रहती है। भाषा को लीजिये। जिस तरह से आप इसे समझते हैं तथा प्रयोग करते हैं उसी तरह से दूसरा व्यक्ति न तो इसे जानेगा और न प्रयोग करेगा। उसकी वैयक्तिकता का प्रभाव इस पर बिना पड़े रह ही नहीं सकता।

संस्थाएँ तथा सामाजिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण की सबसे महत्वपूर्ण एजेन्सी संस्थाएँ हैं। सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया में संस्थाओं का केन्द्रीय कार्य होता है। नैतिक शिक्षा का सबसे बड़ा भण्डार संस्थाओं के व्यवहार-प्रतिमानों में होता है। युवा होने तक व्यक्ति पर इनका असर बहुत जल्दी और स्थायी पड़ता है। परिवार, विद्यालय, धर्म, राज्य और आर्थिक संस्थाएँ स्थितियों की समाज-स्वीकृत परिभाषाओं द्वारा व्यक्ति का अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित या उपयोगी-अनुपयोगी आचरण में प्रशिक्षित किया करती हैं। जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून तथा सामाजिक नियन्त्रण के दूसरे प्रतिमानों का सामूहिक संरचनाओं द्वारा प्रचालित किया जाता है। ये सम्बन्ध स्वभाव से असम्बन्धित होते हैं। किन्तु जीवन के मौलिक विषयों से सम्बन्धित सबसे अधिक नियन्त्रणों का संचरण सामाजिक संस्थाओं के द्वारा होता है।

सामाजिक संस्थाओं का आवश्यक स्वभाव आदर्शात्मक (normative) है। इनमें बहुत से मूल सामाजिक आदर्श या मानक (norms) शामिल रहते हैं जिनके आधार पर व्यक्ति के आचरण का निर्णय किया जाता है। उसे शाबाशी या प्रशंसा का पात्र ठहराया जाता है। व्यक्ति को गाली या प्रताड़ना का पात्र स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं ठहराया जाता। किसी संस्था के सदस्य होने के नाते जो उससे अपेक्षाएं की जाती हैं उन्हीं में नैतिक परम्पराओं के तत्व मौजूद रहते हैं और व्यक्ति बिना विरोध के इन नियमों को स्वीकार करता है। संस्था के केन्द्रीय तत्व के आसपास ये परा-

क्षाएँ आकर जमा हो जाती हैं और इसलिए सस्था से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखन वाली क्रियाओ मे बहुतो से स्वन सबल मूल्य निर्णयो का लगाव रहता है। परिवार के सदस्यो की भूमिकाओ म ठीक और गलत के सशक्त मानव और सवेग निहित रहते हैं। माँ बाप पति पत्नी और भाइ बहिन आदि के लिए निर्दिष्ट व्यवहार हैं। वे इन भूमिकाओ म काम करने वाला को नियन्त्रण म रखते है। उनके आचरण पर समाज सकारात्मक या नकारात्मक सम्मान देता है। इसी साधारण रीति से हर सस्था सामाजिक प्रतिमानो के बहुत बडे और जटिल भुण्ड का केन्द्र होती है।

रखा तथा व्यवहार की परिभाषा और सशोधन पर निभर रहते हुए सामाजिक नियन्त्रणो के दो साधारण रूप बनाए जाते है। इन्हे अनौपचारिक, औपचारिक प्राथमिकता तथा द्वितीयक अथवा आन्तरिक और बाह्य कहा गया है। अनौपचारिक नियन्त्रण परिवार या दूसरी प्राथमिक सस्थाओ के सम्बन्धों म पाये जाते है। मन्दिर या अन्य धार्मिक सस्थाओ द्वारा इसी प्रकार का नियन्त्रण किया जाता है। नतिक मनसिक पाप-पुण्य अच्छा-बुरा पवित्र अपवित्र आदि के विचार धम म शामिल रहते है और इनको व्यक्ति शुरू स ही अपने विवेक के रूप म विकसित कर लेता है। औपचारिक या विधिवत नियन्त्रणो का उदाहरण राज्य द्वारा प्रचलित कानून होते है। इन कानूनो का आधार परम्पराए प्रथाए जनरीतिया या रूढियाँ ही होते है जो विधिवत् रूप म समाज की व्यवस्था या उन्नति के लिए अत्यावश्यक समझे जाते हैं। आर्थिक कारपोरेशन कम्पनियाँ तथा राजनतिक दल और सास्कृतिक तथा कानूनी सस्थाए अधिकतर विधिवत् नियन्त्रण पर अधिक भरोसा करती हैं।

शिक्षा सस्थाओ के कायदे कानून विधिवत् नियन्त्रण का एक प्रमुख नमूना है। इसी तरह व्यावसायिक समूहो जसे डाक्टरो, इजीनियरो प्रोफेसरो वकीलो म व्यावसायिक आचरण के नियन्त्रण के लिए कायदे कानून बने होते हैं किन्तु इन सस्थाओ म विधिवत नियन्त्रणो के अतिरिक्त अनौपचारिक परम्पराओ का भी अधिक महत्व होता है।

सस्थाएँ और सामाजिक परिवतन

चूँकि सस्थाएँ व्यवहार म प्रतिमानित रूप होते हैं इसलिए व्यवहार की प्रशसा सामाजिक परिवतन म व अधिक रुकावट डालता हैं। सस्थाओ का व्यवहार समाज की मजूरी प्राप्त किए होता है और तदनुरूप उसकी सस्थाए भी होती हैं इसलिए साधारण व्यवहार की अपेक्षा ऐसा व्यवहार परिवतन के माग म जल्दी आ खडा होता है। शिक्षा की शाखाओ म अनन्त विविधता होती है और बडी जल्दी जल्दी बदला करती हैं किन्तु विवाह के पूव लडको तथा लडकियो के यौन व्यवहार परिवार तथा धम द्वारा बहुत कठोरता स नियन्त्रित होते है। आर्थिक क्षत्र म भी जो क्रियाए सस्थाओ म बदल जाती हैं जसे अधिकोषण उनम परिवतन बहुत धीरे धीरे होता है और जो क्रियाएँ सस्था का रूप नहा ले पाती जसे वस्त्र का उत्पादन तथा

में जलपान के सामान और मनोरंजन के साधन। इनमें आए दिन तेज़ी से परिवर्तन होते रहते हैं। इसी तरह, उद्योग में भी जो क्रियाएँ संस्थापित हो चुकी हैं उनके प्रति समाज का कुछ विचित्र लगाव हो जाता है। फलतः उनमें परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होता है। हमारे देश में वर्तमान शिक्षा प्रणाली संस्थापित हो चुकी है इसीलिए उसमें परिवर्तन या संशोधन बहुत धीमी गति से होते हैं। यही बात, राजनैतिक, धार्मिक आदि संस्थाओं के बारे में सत्य है। समाज की प्रधान संस्थाएँ सदियों तक जीवित रहती हैं। उनका गठन करने वाली जनरीतियों एवं रूढ़ियों में अनेक मौलिक परिवर्तन होते हैं किन्तु उनके आवश्यक या मौलिक तत्त्व बिल्कुल नहीं बदलते। सामाजिक संस्थाओं की प्रवृत्ति तो स्थितिपालक या संरक्षणात्मक होती है। अतीत के प्रतिमानित व्यवहार को वे प्रयत्नपूर्वक अपनाए रहती हैं और उसमें मौलिक संशोधन का प्रतिरोध करती हैं।[1] वे इतिहास की महान् संरक्षणात्मक शक्ति हैं।[2]

सामाजिक संस्थाओं की जड़ें समाज में गहरी होती हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य के समाज में भी इनकी जड़ें गहरी रहेंगी या नहीं। हर समाज को परिवार, धर्म, सरकार तथा आर्थिक व्यवहार की संस्थाओं की आवश्यकता रहती है किन्तु यह जरूरी नहीं कि इनका कोई रूप अपनी उपादेयता खत्म होने पर भी कायम रहे। जब इन संस्थाओं में से किसी के एक रूप से सामाजिक प्रगति नहीं होती तो उसका अचानक ही समापन कर दिया जाता है। फ्रांसीसी क्रान्ति ने पादरियों के राजनैतिक अधिकारों को हमेशा के लिए खत्म कर दिया। इसी तरह रूसी विप्लव में विशिष्ट प्रकार की राजनैतिक संस्थाएँ—जो बादशाहों में पनपी थीं—सदा के लिए मृत्यु का ग्रास बन गईं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो संस्थाएँ या उनके विशिष्ट रूप अपने उद्देश्य को पूरा करने में असमर्थ होती हैं उन्हें जल्दी या देर में काल के गाल में जाना ही पड़ेगा। यूरोप में सामन्तवाद बहुत पहले खत्म हो चुका था। भारत में अभी हाल में इस संस्था का जमींदारी के साथ खात्मा किया गया है।

समाज में विप्लव या क्रान्तिकारी परिवर्तनों के प्रति संस्थाओं की प्रतिक्रिया बड़ी दिलचस्प होती है। संस्था का जीवन तथा उसके सदस्यों और अधिकारियों के हित तो संस्था की यथास्थिति बनाए रखने में ही सुरक्षित रहते हैं। इसलिए अधिकारी तथा सदस्य दोनों ही ऐसे किसी आन्दोलन का खुलकर विरोध करते हैं जो उनकी संस्था के लिए घातक हो। यह विरोध तब तक जारी रहता है। सफल हों या नहीं वे संस्था के अस्तित्व को यथास्थिति बनाए रखने के लिए हजारों

---

1 *Ibid* [illegible] 389

2 Institutions have been called the great conservators of history. Cf J O Hertzler *Social Institutions* Lincoln (1946) pp 47-48 Social changes usually produce only minor modifications or disturbances among man's persistent institutions.

तक देते हैं तथा गुप्त और प्रकट दोनों रूपों में आन्दोलन की जड़ काटने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस तरह, सामाजिक संस्थाएँ समाज में परिवर्तन की प्रतिरोधी होती हैं।

तर्क पर आधारित विरोध से भी अधिक महत्वपूर्ण संस्थाओं की अविचारयुक्त रूढ़िवादिता होती है। सामाजिक परिवर्तन के प्रति यह प्रतिक्रिया संस्थाओं की प्रकृति लक्षित करती है। समाज की मूल संस्थाओं में जब कभी परिवर्तन करने का प्रस्ताव रखा जाता है तो इन संस्थाओं के सदस्य इस प्रस्ताव का डटकर विरोध करते हैं। उन्हें भय होता है कि परिवर्तन उनकी अखंडता को नष्ट कर देगा। जिस संस्था में व्यक्ति रहता है उसके ढंगों को वह उचित या ठीक समझा करता है। क्योंकि संस्थाएँ अपने सदस्यों को विश्वास और व्यवहार का प्रतिस्थापित प्रतिमान प्रदान करती हैं। इन्हीं कारणों से संस्था एक शक्ति का कार्य करती है।

सभी संस्थाएँ समाज में परिवर्तन का समान विरोध नहीं करतीं। उनमें स्थितिस्थापकता की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। धर्म सापेक्ष (non secular) संस्थाओं जैसे परिवार, विहार, मठ या गिरजा में सनातनी प्रवृत्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है इसलिए सामाजिक परिवर्तन का बड़ा विरोध भी पहले यही करती हैं। धर्म निरपेक्ष संस्थाओं में जैसे सामाजिक कल्याण, व्यापार तथा मनोरंजन परम्परागत पवित्रता बहुत कम होती है इसलिए ये न तो अधिक रूढ़िवादी होती हैं और न समाज में परिवर्तन की विरोधी होती हैं। आधुनिक विकसित समाजों में धर्म निरपेक्ष संस्थाओं की प्रबलता होती है इसलिए इन समाजों में परिवर्तन की गति बहुत तीव्र होती है।

संस्थाएं और समितियां

सामान्य अथवा विशिष्ट हितों की संतुष्टि के लिए स्थापित मनुष्य के समूहों को समितियां या संघ (associations) कहते हैं। परिवार सबसे प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण समिति है। इसी प्रकार राज्य एक राजनैतिक समिति है। बीमा कम्पनी, बैंक अथवा संयुक्त स्कंध कम्पनी, श्रमिक या सेवा योजक संघ आर्थिक समितियों के उदाहरण हैं। डवन एज्युकेशन सोसाइटी, आर्य समाज, अखिल भारतीय विज्ञान कांग्रेस क्रमशः शैक्षणिक, धार्मिक एवं ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी समितियां हैं। सारांश यह है कि समितियां चाहे 'समाज', 'संघ' या परिषद् किसी भी नाम से हों कुछ विशिष्ट हितों की संतुष्टि के लिए निर्मित मानव संगठन हैं। ये संगठन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य प्रणाली का जो रूप या ढंग अपनाते हैं वह कालान्तर में सर्वोपयुक्त होने पर प्रतिष्ठित हो जाता है। कार्यप्रणाली के सुस्थापित रूपों या ढंगों को संस्थाएँ कहते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों के बीच के सम्बन्धों को नियमित करना इनका मुख्य कार्य है। इसीलिए एलवुड (Ellwood) ने संस्थाओं को साथ-साथ रहने के एक ऐसे ढंग कहा है जो स्वीकृत हो, व्यवस्थित हो तथा उन्हें

समुदायों की सत्ता न स्थापित किया हो।[1] अर्थात् कामकाज करने के स्थायी तरीकों या व्यवस्थाओं को संस्थाएँ कहना चाहिए।

इस प्रकार संस्था और समिति में स्पष्ट भेद है। प्रत्येक समिति किसी उद्देश्य अथवा इच्छा की पूर्ति के लिए स्थापित होती है, संस्थायें इन उद्देश्यों की प्राप्ति के तरीके हैं। समितियों और समुदायों से मिलकर सामाजिक जीवन बनता है। उदाहरणार्थ संस्थाएँ वह साधन हैं जिनसे जीवन और क्रियाशीलता मिलती है। हम स्वयं समितियों में जन्म लेते हैं और काम करते हैं किन्तु हमारा समस्त ज्ञान और क्रिया संस्थाओं के द्वारा होता है। यद्यपि संस्थाएँ और समितियाँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं किन्तु फिर भी सामाजिक जीवन के ये दोनों तत्व घनिष्ठता से परस्पर उलझे हैं। संस्था स्वीकृत प्रथा अथवा सामाजिक परम्परा का वह रूप है जो समितियों के सदस्यों के व्यवहार में व्यक्त होता है। संस्थाएँ समितियों में साकार हो उठती हैं। जिन्सबर्ग ने भी कहा है, "समितियाँ सजीव वस्तुएँ हैं और सामान्य अथवा विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति के निमित्त साथ साथ काम करने वाले व्यक्तियों का संगठन हैं। संस्थाओं को उन व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध के प्रकार तथा सम्बद्ध व्यक्तियों में प्रचलित पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के समाज द्वारा स्वीकृत रूप मानना अधिक उचित होगा।"[2] समितियों की भाँति संस्थाएँ भी किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती हैं। अतः संस्थाएँ इच्छाओं के मूर्त रूप, साकार उद्देश्य तथा व्यक्तियों के स्वनिर्धारित उद्देश्यों के बाह्य रूप बनी जाती हैं।[3] "अस्थिर रूप होने के कारण संस्थाएँ एक आन्तरिक सामाजिक सरलता का निर्माण करती हैं। इनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों पर प्रतिक्रिया होती है। ये मनुष्यों की इच्छाओं की पूर्ति मात्र नहीं करतीं, वे इन उद्देश्यों के निर्धारण के साधन भी हैं। इसलिए संस्थाएँ सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित तथा व्यक्त करती हैं और उसे प्रगाढ़ रूप में मूर्त करती हैं।[4]

संस्था मूलतः एक विचार है जो सामाजिक व्यवहार के किसी पक्ष में साकार रूप में व्यक्त होता है। यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। यह वस्तुओं से सम्बद्ध होती है किन्तु उनके साथ एकरूप नहीं हो जाती। भवन, पार्थिव शरीर आदि संस्था के केवल इनके आधार[5]।

इस विवेचन का सारांश यह है कि एक संस्था धारणा और व्यवहार के प्रतिमानों का एक संगठन है और इसकी अभिव्यक्ति सामाजिक क्रिया और इसकी पार्थिव उत्पत्तियों में होती है। संस्थाओं की व्यवस्थाएँ एवं क्रिया के ढंग समाज में धर्म तथा यद्यपि नए प्रचलित और स्वीकृत रहने पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सामा

---

1 Quoted by Barnes *Social Institutions* p 30
2 M Ginsberg *Psychology of Society* p 122
3 *Ibid* p 123
4 MacIver *Community* pp 153 59

जिक चलना के इस अपेक्षाकृत स्थायी पुञ्ज को संस्था कहते हैं। हर संस्था अपनी सांस्कृतिक मज्जा होती है जिसमें उपयोगी सांस्कृतिक पदार्थ जैसे इमारतें, उपकरण यंत्र आदि शामिल होते हैं। इनका उपयोग संस्था के प्रयोजन की सफलता के लिए होता है। इसी प्रकार संस्था के कुछ पार्थिव एवं अपार्थिव प्रतीक होते हैं जैसे भारतीय सरकार का प्रतीक अशोक सिंह। इनके अतिरिक्त, बिल्ले, इमारतें, वस्तु या जीव के चित्र या नारे संस्था के प्रतीक हो सकते हैं। ये संस्था के परिचय चिह्न हैं।

आधुनिक सभ्य समाजों में विशेष हित संगठनों या समितियों की भरमार है। चार आधारभूत आवश्यकताओं के समाधान के लिए परिवार, अर्थव्यवस्था, धर्म और राज्य की जो चार प्रधान सामाजिक संस्थाएं हैं, उनमें से प्रत्येक के साथ अनेक समितियों का साथ है। फिर प्रत्येक सामाजिक वर्ग की अपनी विशेष समितियाँ होती हैं। लिंग, आयु, व्यवसाय आदि के स्तर पर भी अनेकानेक समितियाँ होती हैं। इस प्रकार एक सभ्य देश में समितियों के प्रकारों और उप प्रकारों की गणना करना बड़ा कठिन काम है। अकेले दिल्ली, बम्बई अथवा कलकत्ता नगर में हजारों की तादाद में समितियाँ होंगी।

संस्थाओं की अपेक्षा समितियाँ कम सर्वव्यापी और अधिक विशेषीकृत होती हैं। कुछ आधुनिक पड़तालों से विदित हुआ है धनी वर्गों में समय और धन की प्रचुरता के कारण साधारणतया अधिक समितियाँ होती हैं और यह भी विदित हुआ कि साधारणतया अधिक विशेषीकृत समितियों की सदस्यता नगरों में अधिक केंद्रित होती है।[1]

समितियों का प्रधान संस्थाओं से बहुधा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परन्तु यह सहसम्बन्ध सदैव एक प्रकार का नहीं रहता। कुछ मामलों में ज्यों ज्यों प्रधान संस्था जटिलतर होती जाती है त्यों-त्यों उसके कृत्यों को विभिन्न समितियाँ अपनाती जाती हैं। इन समितियों को प्रधान संस्थाओं का परिपोषक सेवा एजेंसियाँ कहा जा सकता है। समितियों और संस्थाओं का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ और विविध प्रकार का होता है। इस खण्ड के शेष अध्यायों में हम प्रधान संस्थाओं तथा समितियों के सह सम्बन्ध के विभिन्न तरीकों की सविस्तार विवेचना करेंगे।

संस्थाएं ऐसी रीतियाँ हैं जिन्हें मनुष्यों के समूह इस्तेमाल करते हैं। जीवन में संस्थाओं और उन्हें प्रयोग करने वाली समितियों को पृथक नहीं किया जा सकता। अतः सामाजिक वास्तविकता की जाँच पड़ताल करने पर मानव संस्थाओं तथा मानव समूहों दोनों को विचाराधीन रखना पड़ता है।[2]

---

1. Ogburn & Nimkoff *op cit* pp 37–73
2. Thus investigation of social reality always includes reference to both human institutions and human groups Maclver & Page *Society* p 17. Also consult Hamilton's article Institutions in the *Encyclopaedia of Social Sciences*

संस्थाओं के अध्ययन के तीन तरीके (approaches) हो सकते हैं—(१) ऐतिहासिक (२) तुलनात्मक (३) कृत्यात्मक अन्तःसम्बन्ध (functional inter-relationships)। संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन ऐतिहासिक है। जब किसी एक संस्था विवाह या सम्पत्ति आदि का अध्ययन एक ही समाज के विभिन्न भागों अथवा विभिन्न समाजों या एक ही समाज के विभिन्न कालों में किया जाए तो इस प्रणाली को तुलनात्मक कहते हैं। किन्तु जब संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए उनका समाज में अन्तःसम्बन्ध मालूम करते हैं तो यह प्रणाली कृत्यात्मक अन्तःसम्बन्ध की होती है। इस तीसरी प्रणाली में प्रायः उपर्युक्त दोनों प्रणालियों का प्रयोग भी होता है। अगले तीन अध्यायों में हम कृत्यात्मक अन्तःसम्बन्ध की प्रणाली को ही अपनाएँगे।

२३

परिवार एव विवाह

परिवार की प्रकृति

सभी आधुनिक और आदिम समाजो में पारिवारिक संगठन मिलता है। मनुष्य के जिस प्राचीनतम समाज का कुछ भी ज्ञान हम है उस परिवार की सस्था विद्यमान होने का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है। अत परिवार सदव स और सवत्र रहा है। इन सभी सस्थाओ म सावभौमिक और सबस अधिक मूलभूत कहा जा सकता ह। परिवार मनुष्य क लिए सबसे अधिक प्राथमिक समूह है। परिवार म जन्म लकर उससे मृत्युपयन्त मनुष्य किसी न किसी रूप म सम्बन्धित रहता है। उसकी आधारभूत आवश्यकताओ—भोजन यौन आश्रय, और सुरक्षा—की पूर्ति अधिकाशत परिवार मे ही होती है। हमारे व्यक्तित्व का विकास परिवार म प्रारम्भ होकर यही अधिकाश भाग म होता है। इम समाज क सदस्य बनकर सफल जीवन निर्वाह का गुर परिवार म ही मिलता है। मनुष्य और समाज क अस्तित्व एव विकास क लिए परिवार को यदि अनिवाय समूह न भी माना जाए ता इस अध अनिवाय समूह तो मानना ही चाहिए। क्योकि लगभग २० वप तक परिवार व्यक्ति क लिए एक अनिवाय समूह है। वयस्क होन पर ही वह इस त्याग कर दूसर परिवार का सदस्य हो सकता है या परिवार क बिना पूर्ण स्वतन्त्र रह सकता है।

सभी प्रधान सस्थाओ म अकेले पारिवारिक सस्था को बहुप्रयोजनीय अथवा बहुकायकारी कह सकत हैं। प्राचीन समाज म परिवार क अनेक काय थे किन्तु आज इनम स कई काय दूसरी विशिष्ट सस्थाओ न अपना लिए है। फिर भी आधुनिक परिवार क तीन चार प्रमुख काय है और कुछ समकालीन कृषिप्रधान देश म परिवार आज भी प्रधान सामाजिक सस्था है। यह सामाजिक नियन्त्रण शिक्षा, धम र ग और अनेक प्रधान सस्थागत कार्यों को कर रहा है। केवल अत्यधिक औद्योगीकृत नगरीकृत समाजो म परिवार क अनेक परम्परागत काय सावजनिक और निजी एव राजकीय तथा व्यापारिक समाज कल्याण सस्थाओ न अपना लिए हैं।

परिभाषा

'परिवार पर्याप्त निश्चित एवं स्थिर यौन सम्बन्ध द्वारा नियत एक समूह है जिसका मुख्य उद्देश्य सन्तान की उत्पत्ति और लालन पालन है। इस समूह में सम्पार्श्विक (collateral) अथवा गौण सम्बन्धी भी शामिल हो सकते हैं। किन्तु यह विशेष संगठन पति पत्नी और उनके बच्चों से निर्मित होता है।'[1]

जनगणना में परिवार का अर्थ दो या अधिक व्यक्तियों के एक समूह से है जो साथ-साथ रहते हैं तथा जिनका परस्पर सम्बन्ध रुधिर विवाह अथवा गोद लेने के संस्कार के द्वारा स्थापित है।[2]

परिवार के कार्यों को देखते हुए इसकी परिभाषा यों की जा सकती है 'परिवार माता पिता और सन्तान की एक ऐसी स्थायी समिति है जिसके प्राथमिक कार्य शिशु का समाजीकरण और सदस्यों की अभिमान एवं प्रतिक्रिया की इच्छाओं की सन्तुष्टि है।'[3] यह परिभाषा उन कार्यों पर बल देती है जो अब भी परिवार स्पष्टतया कर रहा है और हर सम्भावना में कभी भी उससे अलग नहीं हो सकेंगे। हमारे विचार से परिवार की उपरोक्त परिभाषा में उसके दोनों पक्षों—संस्थात्मक (institutional) एवं सभात्मक (associational)—पर बल दिया गया है।

साधारणतया एक परिवार के सदस्य पति-पत्नी, उनमें से किसी एक या दोनों के कोई निकट सम्बन्धी (माता पिता भाई बहिन आदि) तथा इस दम्पति से उत्पन्न सन्तान होते हैं। परिवार का न्यूनतम आकार पति पत्नी तथा उनकी सन्तान होता है। सन्तानहीन दम्पत्ति को भी परिवार कहा जाता है। प्रत्येक परिवार के मौलिक सम्बन्ध (पति-पत्नी) का सम्बन्ध विवाह संस्कार में स्थापित होता है। इनकी सन्तान वयस्क होने पर विवाह करती है और फिर नए परिवार बनाती है।

परिवार की साधारण विशेषताएँ

सारे संसार के मानव समाजों में परिवार का संगठन मिलता है। उसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिनमें ये निम्नलिखित पाँच महत्त्वपूर्ण हैं —

(१) स्त्री पुरुष का सहवास या स्थायी यौन-सम्बन्ध

(२) विवाह का एक रूप अथवा कोई अन्य संस्थागत प्रबन्ध जिससे यौन सम्बन्ध स्थापित हो तथा कायम रह सके।

---

1 MacIver and Page Society p 238

2 The family may be defined as a group of two or more persons living together and related by blood marriage or adoption

3 Family is a enduring association of parent (or parents) and offspring whose primary functions are the socialization of the child and the satisfaction of the members desires for recognition and response Truxal & Merrill The Family in American Culture Prentice Hall Inc New York (1947) p 15

(३) बच्चा की उत्पत्ति और लालन पालन स सम्बन्धित आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई आर्थिक व्यवस्था

(४) नामकरण की व्यवस्था जिसम वंशावली और वंश के नामकरण शामिल ह, और

(५) एक सामान्य वासस्थान अथवा घर।

यद्यपि य पाच दशाए हर समाज क परिवार म पाई जाती है फिर भी विभिन्न संस्कृतियों के कारण विशिष्ट पारिवारिक संगठना म अत्यधिक विविधता दृष्टिगोचर होती है। भिन भिन्न समाजों और एक ही समाज म विभिन्न समयों पर परिवार म अनेकरूपताएं उत्पन्न हो जाती हैं। परिवार की प्रणालियों म कुछ प्रमुख सांस्कृतिक अनेकरूपताए इस प्रकार हैं —

(अ) दाम्पत्य सम्बन्ध के विभिन्न रूप—दाम्पत्य सम्बन्ध जीवनपर्यन्त अथवा अल्पकालिक हो सकता है। भारत म हिन्दू विवाह स आबद्ध दम्पति आजन्म जीवन साथी रहते हैं। सबसे अधिक प्रचलित विवाह का रूप एकविवाह (monogamy) है जिसमें एक पति के एक पत्नी होती है। यह कठोर या गौण यौन-सम्बन्धों म संशोधित हो सकता है। परन्तु समाजों म बहुविवाह (polygamy) भी प्रचलित है। इसम बहुपति (polyandry) म एक स्त्री के दो या अधिक पति हो सकते है। इसके विपरीत बहुपत्नीविवाह (polygyny) म एक पुरुष के दो या अधिक स्त्रियां हो सकती हैं। बहुधा एक समाज के अन्तर्गत ही विवाह के विभिन्न रूप विद्यमान होते हैं। भारत के आदिम और आधुनिक समुदायों म य सभी प्रकार प्रचलित ह। निर्धन वर्गों म बहुपति विवाह सम्पन्न घरानों म एक विवाह तथा धनी वर्गों म बहुपत्नी प्रथा प्रचलित है। मध्यप्रदेश के गाँवों के पटेल के बहुधा कई स्त्रियां (विवाहित) होती हैं। हिन्दुओं तथा मुसलमानों म भी बहुपत्नी परिवारों का कुछ संख्या है। भारत के आदिम टोडा (नीलगिरी पहाड़ियाँ) कबील म सब भाइयों की एक पत्नी होती थी। इस्कीमो बुशमैन और आस्ट्रेलिया के कबायली लोगों म बहुपत्नी संस्था पुरुष के बड़प्पन और वैभव की निशानी है। नाइजीरिया के आइबो (Ibo) कबीले म बहुपति संस्था स्त्री के महत्व और सम्मान की सूचक है। यदि कोई स्त्री अकेले पति की पत्नी है तो उसे हीन समझा जाता है। सारांश यह है कि एक परिवार म पतियों तथा पत्नियों की संख्या म अन्तर मिलता है। हाँ लगभग सर्वत्र एकविवाह परिवार सबसे अधिक प्रचलित है। आधुनिक समाजों म तो इस आदर्श स्वीकार कर लिया गया है।

(आ) जीवनसाथी का चुनाव—पाश्चात्य देशों म प्रत्येक युवक या युवती को अपना जीवनसाथी चुनने म स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। व कोर्टशिप (courtship) स अपना जीवनसंगी चुन लेते हैं। भारत, चीन और अन्य देशों म लड़के या लड़की का जीवनसंगी उनके माता पिता अथवा अन्य बड़े सम्बन्धी चुनते

है। सिक्किम राज्य के लेप्चा (Lepcha) कबीले में यह विश्वास प्रचलित है कि यदि किसी युवक युवती की शादी माता पिता तय करते हैं तो नव दम्पति जवानी में मर जाते हैं। वहाँ पर चाचा या दादा की सहायता से गाँव का मुखिया विवाह तय करता है। कहीं विवाह अपहरण करके होता है, कहीं वधू मूल्य चुकाकर और कहीं स्त्री के पिता के घर में काम करके। या तो व्यक्ति को अपने समूह में ही शादी करने की अनुमति रहती है अथवा समूह से बाहर करने की। पहले प्रकार का नियम अन्तर्विवाह (endogamy) तथा दूसरे प्रकार का बहिर्विवाह कहलाता है। इस तरह दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध वाले विवाह के रूप पाये जाते हैं। किन्तु किन किन सम्बन्धियों के साथ विवाह सम्बन्ध हो सकता है—इस सम्बन्ध में भी समाजों में बहुत अनेकरूपता पाई जाती है। भारत में समान गोत्र तथा सपिंड विवाह वर्जित है।

(इ) नामकरण और उत्तराधिकार—कहीं पुरुष पक्ष से वंश का नाम और उत्तराधिकार मानने का चलन है और कहीं स्त्री पक्ष से। पहले को पितृवंशी उत्तराधिकार (patrilineal) और दूसरे को मातृवंशी उत्तराधिकार पद्धति कहा जाता है। दोनों पद्धतियाँ प्रचलित हैं और आज भी कुछ समाजों में दूसरी चलती है।

(ई) परिवार-वृत्त (family circle) का रूप—कुछ देशों में पति पत्नी के सम्बन्धियों के साथ जाकर रहता है। इस प्रकार के निवास को मातृस्थानिक (matrilocal) कहते हैं और कुछ में पत्नी पति के माता पिता के घर आकर रहती है। इस निवास को पितृस्थानीय (patrilocal) कहते हैं। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें विवाह के बाद पहले साल भर पति पत्नी के सम्बन्धियों के साथ जाकर रहता है फिर दूसरे साल पत्नी पति के सम्बन्धियों के यहाँ जाकर रहती है। निवास स्थान में ही नहीं परिवार वृत्त की रचना में भी अन्तर पाया जाता है। रक्त-सम्बन्धी (consanguinous) परिवार में रुधिर-सम्बन्धी एक केन्द्र में और दम्पति किनारे पर रहते हैं। विवाह-सम्बन्धी (conjugal) परिवार में दम्पति और उनके बच्चे केन्द्र में तथा अन्य सम्बन्धी किनारे पर रहते हैं।[1]

(उ) यौन सम्बन्ध विषयक नियम—इसके बारे में भी अनेक धारणाएँ हैं। हिन्दू समाज में पतिव्रत धर्म स्त्री का आदर्श माना जाता है। दूसरे पुरुष की ओर आँख उठाना भी पाप समझा जाता है। अमरीका और इंग्लैण्ड में एक विवाह को आदर्श विवाह माना जाता है। किन्तु हिन्दुओं और अमरीका तथा इंग्लैण्ड में विवाहिता स्त्री के साथ रमने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यौन-सम्बन्ध में पवित्रता की धारणा भी भिन्न भिन्न होती है। कुछ आदिम समाजों में (एस्कीमो आदि) लोग अतिथि सत्कार में अपनी स्त्री को अतिथि के पास भेज देते हैं। अरुन्टिया में जब लड़का जवान होता है तो बाद में आदमी उसके पिता के पक्ष उधार देकर

1 Ralph Linton *The Study of Man* New York (1936) p 156

जाता है। यदि पिता उस उपहार को स्वीकार कर ले तो वह पुरुष उस लडकी के साथ सभोग कर सकता है। यह सभोग सिर्फ घर पर नही होना चाहिए। पुरुष अपने साथियो को भी इस सभोग मे शामिल कर सकता है। एक मास बाद इनका सम्बन्ध टूट जाता है। उसके बाद उस लडकी का विवाह किसी अन्य पुरुष से हो जाता है। भारत या अन्य आधुनिक देशो मे विवाह के पूर्व कोई लडकी सभोग करने के लिए स्वतन्त्र नही है। प्राचीन भारतवर्ष मे भी यदि किसी स्त्री के सतान नही होती थी तो वह अपने पति की आज्ञा से अन्य किसी के साथ यौन सम्बन्ध कर सकती थी। महाभारत मे एक घटना का वर्णन है। विचित्रवीर्य की अकाल मृत्यु के बाद शान्तनु का कुटुम्ब चलाने के लिए विचित्रवीर्य की विधवा ने व्यास से पुत्र जन्माए थे।

कई जातियो मे सिर्फ विवाह से पूर्व लडकी को यौन-सम्बन्ध की स्वतन्त्रता रहती है और कई मे विवाह के बाद भी। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि कुटुम्ब का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यौन सम्बन्ध स्थापित और सचालित करना है फिर भी इस विषय पर प्रत्येक समाज की अलग अलग धारणाए है।

(ऊ) पितृत्व—पिता का सम्बन्ध सभी समाजो मे जैविक ही माना जाता हो सो बात नही है। टोडा (Toda) जाति मे एक स्त्री के कई पति होते है। वहा बच्चे के पिता का निश्चय रीति रिवाज या सस्कृति द्वारा होता है सहवास द्वारा नही। स्त्री के गर्भाधान के आठवे मास मे जो पुरुष उसको तीर और धनुष देता है वही होने वाले बच्चे का पिता माना जाता है। इसी प्रकार यद्यपि बच्चे के लालन पालन के लिए हर परिवार मे एक आर्थिक व्यवस्था आवश्यक है परन्तु कही बच्चा के पालन-पोषण का भार पिता पर, कही माता और कही मामा पर। इसके अलावा, विभिन्न प्रकार के सस्थानिक प्रबन्धो का विभिन्न मेलो मे एक साथ पाया जाता है। परिवार मे अन्तहीन विविधता है और इसके कार्यों की संख्या तथा उनके करने की विधि मे भी अत्यधिक अनेकरूपता पाई जाती है।

परिवार की अनन्य विशेषताए

समाज मे छोटे-बडे अनेक समूह या समितियाँ होती है। परिवार एक प्राथमिक समूह है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर इसका अनेक तरीको मे प्रभाव पडता है। परिवार मे असीम परिवर्तनशीलता है परन्तु फिर भी इसमे विलक्षण निरन्तरता एव स्थायित्व दृष्टिगोचर होते है। मैकाइवर और पेज के अनुसार परिवार अन्य समितियो से कई बातो मे असमान है।

(१) सार्वभौमिकता—सभी सामाजिक रूपो मे यह सबसे अधिक सार्वभौमिक है। यह हर समाज और सामाजिक विकास की हर अवस्था तथा मनुष्य से नीचे के जानवरो के समाजो मे भी पाया जाता है। हर मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य रहा है या है।

(२) संवेगात्मक आधार—परिवार का आधार हमारे सबसे गहरे स्वाभाविक आवेगों का एक जटिल है। इन आवेगों में सहवास या यौन-सम्बन्ध व सन्तानोत्पत्ति, मातृ स्नेह तथा पितृ संरक्षण शामिल होते हैं। इन प्राथमिक संवेगों के साथ द्वितीयक रूप जैसे रोमांस प्रेम, नस्ली गर्व, दम्पति में प्रेम, घर की आर्थिक सुरक्षा की कामना, वैयक्तिक सम्पत्ति की ईर्ष्या तथा शाश्वतता की उत्कट इच्छा भी सबद्ध है।

(३) निर्माणक प्रभाव—मनुष्य के जीवन पर जितने भी सामाजिक पर्यावरणों का प्रभाव पड़ता है उनमें परिवार का प्रभाव सबसे अधिक और सबसे प्रथम पड़ता है। विशेषकर परिवार व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक आदतों को बनाता है। परिवार का प्रभाव इतना दीर्घकालीन होता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व जैसा यहीं बन जाता है वैसा ही सारे जीवन भर रहता है।

(४) सीमित आकार—चूंकि परिवार जैविक दशाओं पर आश्रित है इसलिए इसका आकार अन्य सामाजिक संघटनों की अपेक्षा हमेशा सीमित होता है। अगर उसका आकार सीमित न हो तो इसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाए।

(५) समाज संरचना में केन्द्रीय (nuclear) स्थिति—दूसरे सामाजिक संघटनों का यह केन्द्र है। सरल तथा पितृसत्तात्मक (patriarchal) समाजों में सारी समाज रचना पारिवारिक इकाइयों से बनी होती है। सिर्फ उच्च जटिल सभ्यताओं में परिवार इस रूप को खो चुका है किन्तु स्थानिक समुदायों तथा सामाजिक वर्गों के भागों में परिवार की केन्द्रीय स्थिति रहती है। स्थानिक समुदाय जैसे गाँव, मुहल्ला या नगर आज भी परिवारों की इकाइयों से मिलकर बनते हैं।

(६) सदस्यों का दायित्व—परिवार के सदस्य जन्म भर इसके सम्बन्ध रखते हैं। वे उसी के लिए काम करते और कमाते हैं। परिवार में ही दूसरों के लिए व्यक्ति कठिन से कठिन और खतरनाक काम करता है। यद्यपि आपद्काल में व्यक्ति समाज और देश के लिए लड़ता और मरता है फिर भी समाज में अन्य कोई संगठन अपने सदस्यों पर इतने गम्भीर दायित्व नहीं डालता जितने परिवार। सबसे मार्के की बात तो यह है कि परिवार के सदस्य गम्भीर से गम्भीर दायित्व को स्वेच्छा से निभाते हैं।

(७) सामाजिक नियमन—परिवार के विवाह सम्बन्ध को समाज निषेधों (taboos) और कानूनी नियमों से बड़ी सावधानी से सुरक्षित करता है। परिवार का निर्माण और अन्त होना दोनों ही प्रक्रियाएं कठोर सामाजिक नियमों से शासित होती है। समाज में विद्यमान अन्य सभी अनुबन्धों की अपेक्षा वैवाहिक अनुबन्ध सबसे पवित्र और कठोर माना जाता है। भारत और कुछ अन्य प्राचीन समाजों में आज भी विवाह एक धार्मिक संस्कार (sacrament) कहा जाता है।

(८) परिवार की स्थायी एवं अस्थायी प्रकृति—एक संस्था के रूप में परिवार सबसे अधिक स्थायी एवं सर्वव्यापी संस्था है किन्तु एक समिति के रूप में यह

बहुत गम्भीर है। एक ही समाज में समय के परिवर्तन से इसके आकार और संरचना में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं।[1]

परिवार : एक सामाजिक संस्था

परिवार समस्त सामाजिक संस्थाओं में सबसे आधारभूत और सार्वभौमिक है। यद्यपि इस सामाजिक संस्था में देश काल के परिवारों से अत्यन्त विविधता होती है फिर भी इसमें कुछ सर्वव्यापी विशेषताएं हैं। यह बात दो तथ्यों के कारण है। प्रथम मनुष्य के प्रजनन की समस्या व्यक्तिगत विषय न होकर एक सामूहिक विषय है। बच्चों की देखरेख और सन्तानोत्पत्ति के लिए यौन क्रिया पर सर्वत्र और सदैव सार्वजनिक नियन्त्रण रखा जाता है। द्वितीय मनुष्य की एक ही जाति है और उसकी जैविक विलक्षणता के कारण उसके व्यवहार में विविधता कुछ अधिक सीमित रहती है।

सार्वजनिक नियन्त्रण—सभी समाजों में कुछ यौन क्रियाओं का अनुमोदन किया जाता है और कुछ का निषिद्ध। परन्तु विभिन्न समाजों में इस विषय में भारी विविधता पाई जाती है। प्रत्येक समाज में वयस्क स्त्री-पुरुषों का सन्तानोत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना जाता है। सारांश यह है कि प्रत्येक समाज में विवाह और परिवार की संस्थाएं मिलती हैं।

विवाह एक अथवा अधिक पुरुषों का एक अथवा अधिक स्त्रियों के साथ निश्चित और चिरस्थायी यौन सम्बन्ध है जिसमें दोनों लिंगों के व्यक्तियों के कुछ निश्चित अधिकार और कर्तव्य होते हैं।[2] पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध सार्वजनिक नियन्त्रण से शासित रहता है क्योंकि नातेदारी समूह, गांव, कबीला अथवा राज्य विवाह से पूर्व उनके कर्तव्यों और अधिकारों का नियमन करते हैं। परिवार किसी एक या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु से विच्छिन्न नहीं होता। परन्तु विवाह का उच्छेदन बड़ी शीघ्रता से हो जाता है क्योंकि पति या पत्नी में से कोई एक मर जाए तो विवाह सम्बन्ध भंग हो जाता है। विवाह तलाक अथवा परित्याग से भी भंग हो जाता है। दम्पति के जीवन काल में दो स्त्री या पुरुष का तनाव कम करने की कुछ न कुछ व्यवस्था प्रत्येक समाज में रहती है। विवाह सभी देशों और कालों में एक सार्वजनिक उत्सव—विवाह-संस्कार—में सम्पन्न होता है। बहुधा यह संस्कार बड़ी धूमधाम से सम्पन्न होता है। किन्तु कुछ समाजों में यह अत्यधिक सरल संस्कार होता है। भारत में विवाह-संस्कार सब मिल कर एक सप्ताह से लेकर दो सप्ताह तक होता रहता है। हमारे यहां के मुख्य वैवाहिक संस्कार (पाणिग्रहण) के आगे और पीछे अनेक रीतियाँ और प्रथाएँ सम्पन्न होती हैं। परन्तु विवाह संस्कार फलों के हार, अंगूठी, घास

1 MacIver & Page *op cit* pp 240-41
2. Marriage is a formal and durable sexual union of one or more men with one or more women within a set of designated rights and duties

को जिनको धार्मिक वर वधू से वन्दन करके भी सम्पन्न हो जाता है। इन संस्कार के उपरान्त में भोज आदि इसलिए किए जाते हैं कि समूह (या समाज) की स्वीकृति इस नए संघ (पति पत्नी का विवाह) को प्राप्त हो जाए। सम्भवतः विवाह जितना सार्वजनिक संस्कार मनुष्य के जीवन में कोई दूसरा नहीं होता। व्यक्ति के जीवन की यह शुभ घड़ी अपूर्व उल्लास हर्ष और आनन्द में मनाई जाती है।

विवाह का संस्कार चाहे सरल हो अथवा बड़े विस्तृत कर्मकाण्ड में मनाया जाय, उसका एक मात्र उद्देश्य सार्वजनिक सम्मान की परिपुष्टि प्राप्त करना है। पाश्चात्य एवं अन्य उन्नत सभ्यता वाले समाजों में विवाह संस्कार पर राज्य अथवा राज्य और धर्म का नियन्त्रण हो गया है। आदिम समाजों में आज भी जाति अथवा कबीले के अनुमोदन से विवाह संस्कार दो मौलिक परिवारों के बीच निजी अनुबन्ध है। भारत में विवाह को शास्त्रानुमोदित एक सामाजिक एवं धार्मिक अनुबन्ध स्वीकार किया जाता है। शास्त्रानुसार विवाह पुरुष और स्त्री को एक पवित्र धार्मिक बंधन में बांधने वाला धार्मिक संस्कार है जिसके तीन उद्देश्य हैं — धर्म, प्रजा (सन्तति) और रति (आनन्द)।

परिवार एक संस्थापित सामाजिक समूह है जिसका मुख्य कर्तव्य जनसंख्या का पुनर्स्थापन करना है। विवाह में अधिकांशतः दो और कभी-कभी अनेक व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं। परिवार में सदैव दो से अधिक व्यक्ति होते हैं जिनमें सन्तानों का एक क्रम होता है जो स्थायी होते हैं। किसी भी व्यक्ति के मर जाने पर परिवार नष्ट नहीं हो जाता। इसलिए आधारभूत वैवाहिक इकाई (पति पत्नी और सन्तान) को परिवार का पर्यायवाची कहना पड़ता है। हाँ आधुनिक समाज में इन दोनों के पर्यायवाची हो जाने की प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगोचर होती है। परिवार उन व्यक्तियों (नाना लिंगों के) के एक समूह को कहते हैं जो विवाह, रुधिर और गोद लेने के संस्कार से सम्बद्ध एक गृहस्थी स्थापित करते हैं जिसके विभिन्न सदस्य अन्तःक्रिया और अन्तःसंचार से अपने अपने नियत कर्तव्य करते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति की सृष्टि करते हैं।[1]

परिवार का मनोवैज्ञानिक-सामाजिक पक्ष उसके सदस्यों का तादात्म्य है जिसका उद्भव माता पिता और बच्चों द्वारा समस्याओं में पारस्परिक प्रेम और आदर से भाग लेने से होता है।

---

1 "Family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption constituting a single household interacting and intercommunicating with each other in the respective social roles of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister and creating a common culture."—*Burgess and Locke*

जविक आधार—परिवार की संस्था के जविक आधार भी सर्वत्र एक से है। वैसे तो विवाह और परिवार की संस्थाओं को शासित करने वाले नियमों में इतनी अधिक सांस्कृतिक विविधता है कि उनमें समरूपता कदापि नहीं मिल सकती। किन्तु परिवार और विवाह के सार्वभौमिक और प्राथमिक संस्था होने के लिये मनुष्य की जविक सज्जा में निहित कुछ सर्वव्यापी तथ्य जिम्मेदार हैं। पशु पक्षियों के विपरीत मानव प्राणियों में सम्भोग के लिये कोई ऋतु या सीमित अवधि नहीं होती। सम्भवत स्त्री-पुरुषों में हर समय सम्भोग करने की क्षमता है। उनमें न्यूनाधिक यौनसंसर्ग की क्षमता है। मानव प्राणियों की यह विशेषता एक सार्वभौमिक लक्षण है। दूसरे, वयस्क स्त्री की शरीर क्रिया विशेषकर गर्भावस्था और प्रसव काल के कुछ दिनों बाद तक (बच्चे की शैशवावस्था तक) ऐसी है कि उसे अपने एवं बच्चे के जीवन तथा पालन के लिये अपेक्षाकृत अत्यधिक पराश्रित रहना पड़ता है। दूसरे मानवेतर प्राणियों का बचपन इतना दीर्घकालिक और पराश्रित नहीं होता। मनुष्य का बच्चा लगभग १८ २० वर्ष तक परावलम्बी रहता है। उसे स्वावलम्बी होने के लिये लम्बी अवधि तक प्रशिक्षण लेना अनिवार्य है। तीसरे मानव परिवार का अन्य जविक आधार पुरुष की प्रबलता है। स्त्री की शरीर क्रिया सम्बन्धी असमर्थताएं (मातृत्व तथा सामयिक निराश्रयता) उसे पुरुष के आसरे पर छोड़ देती हैं। पुरुष को स्त्री तथा उसके बच्चों की पार्थिव आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का दायित्व उठाना पड़ता है। परिणामत वह समाज में स्त्री की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। व्यावहारिक रूप में प्रत्येक समाज में परिवार पुरुषों से शासित होता है। तथाकथित मातृ प्रधान व्यवस्थाओं में स्त्रियों का शासन सामान्यत उसका भाई अथवा कोई अन्य पुरुष सम्बन्धी चलाता है। सभी समाजों में पारिवारिक और सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की उच्चतर महत्ता में कोई सन्देह नहीं है।[1] स्त्री और पुरुष के बीच के जविक भेदों के कारण परिवार की व्यवस्था पुरुष के नियन्त्रण में रहती है। इससे परिवार में पुरुष की प्रधानता अवश्यम्भावी हो जाती है।[2]

चेपिन (F S Chapin) का विचार है कि परिवार की संस्था के अधोलिखित चार पहलू कहे जा सकते हैं —[3]

(अ) मनोवृत्तियां और व्यवहार प्रतिमान (आ) प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण (इ) उपयोगी सांस्कृतिक उपकरण, (ई) मौखिक अथवा लिखित निश्चित नियम।

---

1 Ralph Linton *The Study of Man* Appleton Century Crofts New York (1936) p 138

2. A W Green *Sociology* p 348

3 The institutional aspects of the family—which are typical type parts of the family structure—are as follows —
(a) attituds and behaviour patterns (b) symbolic culture territs (c) utilitarian culture traits (d) oral or written specifications F S Chapin : *Cultural Change* Appleton Century Crofts New York (1928) pp 48–49

मरिल और एल्ड्रिज ने पारिवारिक संस्था की जो विभिन्न विशेषताएँ बताई हैं वे निम्नलिखित हैं —

(अ) सार्वभौमिकता (आ) भावात्मकता (इ) प्राथमिकता (ई) उत्तरदायित्व और (उ) छोटा आकार।[1] इस उनसे सहमत हैं।

अन्य प्रधान सामाजिक संस्थाओं में उपरोक्त पांच विशेषताएं नहीं मिलती। परिवार की संस्था (या संस्थाओं के एक जटिल पुञ्ज) की अनुपम विशेषताएं इसके कार्यों पर आधारित हैं। परिवार के प्राथमिक अथवा चिरस्थायी कार्य तीन हैं (१) जैविक (सन्तानोत्पत्ति और जनसंख्या का पुनरुत्पादन) (२) समाजीकरण (बच्चों का लालन पालन और सामाजिक नियंत्रण) और ( ) भावनात्मक (परिवार के विभिन्न सदस्यों में घनिष्ठ एवं आत्मीय प्रतिक्रियाओं की व्यवस्था)। आगे अध्याय में हम परिवार के परम्परागत और आधुनिक कार्यों की विवेचना करते समय इन तीन कार्यों का विस्तृत विश्लेषण करेंगे।

परिवार चक्र

परिवार एक समिति है और संस्था भी। इसके प्रतिनिधि परिवार को एक सामाजिक प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। प्रत्येक वैयक्तिक परिवार के जीवन को तीन या चार सुस्पष्ट अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। साधारणतया प्रत्येक परिवार का जीवन इन अवस्थाओं में होकर चलता है। यह हम वैयक्तिक परिवार के जीवन इतिहास की अवस्थाएँ कह सकते हैं। हर परिवार अपने उसके मौलिक साथियों के जीवन की कहानी है। जिसका अन्त उनके जीवन के अन्त के साथ हो जाता है। एक पुरानस्थापित परिवार में हमारा तात्पर्य परिवारों की एक ऐसी क्रमानुगतता (succession) से है जो सामान्य नाम से सामान्य लोगों के समूह को धारण किये हुए हैं। परिवार अपने सदस्यों में निहित होता है और वह अपने जीवन इतिहास में सबसे बड़े सबसे कठिन और सबसे संकट परिवर्तनों में होकर गुजरता है। इसमें पारिवारिक समिति के ढाँचा और सदस्यात्मक आधार में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। उसके पुरातन सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लगातार रूपान्तरण होता रहता है।

परिवार के जीवन इतिहास में विवाह से पूर्व की अवस्था विवाह सन्तानोत्पत्ति और प्रौढ़ता ये चार प्रमुख अवस्थाएँ होती हैं। एक प्रतिनिधि परिवार के विकास में हम इन चार निश्चित अवस्थाओं को देख सकते हैं। परन्तु प्रत्येक परिवार आवश्यकीय रूप से इन चारों अवस्थाओं में होकर विकसित नहीं होता है। कुछ परिवार सन्तानहीन होते हैं। कुछ में पहली दो अवस्थाओं के उपरान्त दम्पत्ति में से एक की मृत्यु हो जाती है या परिवार का उच्छेदन तलाक या परित्याग से हो जाता है।

1 Merrill & Eldredge *op cit* p. 432.

अमरीका मे तलाक का प्रभाव लगभग एक तिहाई विवाहो पर पडता है। परिवार का प्राथमिक सामाजिक काय सन्तानोत्पत्ति द्वारा जाति का सरक्षण है। इसलिये जो परिवार अपना प्रमुख प्रयोजन पूरा करता है वह इस दूसरी अवस्था मे अवश्य पहुचता है।

परिवार के जीवन इतिहास की विभिन्न अवस्थाओ की अवधि भिन्न भिन्न समाजो म विभिन्न होती है। सामाजिक दशाओ का प्रभाव इन पर पडना अनिवाय है। इन अवस्थाओ का परिवार क सदस्यो के रूपो और व्यवहार पर बडा गहन प्रभाव पडता है।

कुछ समाजशास्त्री परिवार चक्र की केवल तीन अवस्थाए मानते हैं।[1] पहली अवधि विवाह और पहले बच्चे क जन्म के बीच की है। इस अवधि मे पति पत्नी म मौलिक समायोजन होते हैं। उनमे से प्रत्येक दूसरे को गहन प्रेम करता है और प्राय व दोनो मिलकर ही सभी काम करते हैं। यह घन स्नेह प्रगाढ प्रेम और विस्तृत सहयोग की अवधि कही जा सकती है। परन्तु कुछ परिवारो म घृणा और विच्छिन्नता के बीज भी इसी अवधि म बो दिये जाते हैं। दूसरी अवधि म बच्चे उत्पन्न होते हैं। बच्चो के लालन पालन तथा अन्य गृहकार्यों म पत्नी व्यस्त रहती है और पति परिवार की आर्थिक सुदृढता सम्पन्न करने म लगा रहता है। दम्पत्ति अपने अपने उत्तरदायित्व को निभाने म प्रसन्नता और गव का अनुभव करते हैं। उनका पारस्परिक प्रेम अब सन्तान क लिये माता पिता क प्रेम म परिणत हो जाता है। यद्यपि दम्पत्ति क कुछ प्रारम्भिक स्नेह बने रहते है फिर भी उनका पारस्परिक प्रेम तरुणावस्था का उत्साही और छटपटाता प्रेम नही रहता। तीसरी अवस्था बच्चो के वयस्क हो जाने पर आरम्भ होती है। ये वयस्क सन्तान विवाहित होकर नया घर बसाते है और पुराने घर को छोड देते हैं। अब पति-पत्नी को एक दूसरे क लिये अधिक समय मिलता है। उनका स्नेह प्रौढ और परिपक्व हो जाता है। परन्तु अब भी उन्ह अपनी सन्तति क भविष्य को सुख और समृद्धि म पूर्ण बनाने की चिन्ता बनी रहती है।

परिवार के काय

परिवार एक जैविक और सास्कृतिक समूह है। जैविक समूह होने के नाते परिवार के तीन आवश्यक काय हैं —मानव जाति की शाश्वतता बनाए रखना, काम इच्छा की स्थायी और समाजानुमोदित व्यवस्था, और घर का प्रबन्ध।

नए सदस्यो की सृष्टि

प्रजाति की शाश्वतता का काय आधुनिक परिवार क लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना पूर्वगामी परिवार व्यवस्थाओ क लिए था। प्राचीन समय की अपेक्षा आज के युग म हर देश म प्राय बच्चो की उत्पत्ति म कमी हो गई है। दूसरे

---

1 E S Bogardus *Sociology* p 59

आधुनिक परिवार प्रजाति की शाश्वतता के कार्य को अपेक्षतया अधिक अच्छी तरह पूर्ण करता है क्योंकि अब गर्भ में ही बच्चों की देख रेख और सावधानी शुरू हो जाती है। इस कारण शिशुओं की मृत्यु और बीमारियों में कमी हो गई है। इसके लिए परिवार की सहायता विशेषीकृत संस्थाएँ करती हैं किन्तु इस सहायता को प्राप्त करना परिवार की ही जिम्मेदारी है। शिशु आरोग्यशास्त्र और शिशु प्रशिक्षण के बढ़ते हुए ज्ञान की सहायता से आज माता पिता पर बच्चों के पालन की भारी जिम्मेदारी आ गई है। उनकी जिम्मेदारी सिर्फ बच्चों का पालन ही नहीं वरन् आधुनिक सभ्यता की जटिल दशाओं में उन्हें जीवित रहने और सफल उपयोजन करने योग्य बनाना है।

नये सदस्यों की सृष्टि से परिवार को चार कार्य करने पड़ते हैं पुनः उत्पादन, भरण-पोषण, प्रस्थिति निर्धारण और समाजीकरण।[1]

कई समाजों में प्राचीनकाल से सन्तति निरोध का चलन रहा है। आधुनिक सभ्य समाजों में यह चलन बहुत विस्तृत हो गया है। कुछ लोग कहते हैं कि इससे सभ्यता एक बड़े खतरे में पड़ जायगी। वे कहते हैं कि यदि सन्तति निग्रह द्वारा विवाहित व्यक्ति बच्चों को पैदा करने तथा उनके लालन-पालन की जिम्मेदारी से बचते रहे तो एक दिन मानव-जाति ही समाप्त हो जायगी। किन्तु हमें याद रहे उनकी यह भयावह भविष्यवाणी सच्ची नहीं हो सकती। क्योंकि सन्तति निग्रह आधुनिक समाज में एक मूल्य है। जनसंख्या में अनियन्त्रित वृद्धि से सामाजिक प्रगति रुक जायगी। यह मानव नियन्त्रण का एक कल्याणकारी तरीका है जिससे स्त्रियों की स्थिति में सुधार तथा सन्तति का अच्छा पालन पोषण हो सकता है। मानव जाति सन्तति निग्रह द्वारा 'आत्म-हत्या' नहीं कर रही है। वास्तव में यह नियन्त्रण उसने अपने निरन्तर अस्तित्व को अक्षुण्ण एवं अधिक सुखी और समृद्ध करने के लिए अपनाया है।

काम-तुष्टि का स्थायी प्रबन्ध

काम इच्छा की तृप्ति का स्थायी प्रबन्ध परिवार की संस्था में ही हो सकता है। काम इच्छा की तृप्ति के साथ नैतिक विचार भी संलग्न है। आधुनिक परिवार में पितृ-सत्तात्मक अथवा संयुक्त परिवार की बनिस्बत काम-तृप्ति में पति-पत्नी में घनिष्ठ वैयक्तिक सम्बन्धों के कारण अधिक सफलता मिलती है। जीवनसाथी चुनने की स्वतन्त्रता में वृद्धि होने से स्त्री और पुरुष दोनों साथी चुनने में वैयक्तिक गुणों और भावनाओं का अधिक ध्यान रखते हैं। विवाह का यह वैयक्तिक आधार यद्यपि परिवार की अस्थिरता का एक बड़ा कारण है। फिर भी इस व्यवस्था में काम-तृप्ति की सन्तुष्टि अधिक पूर्ण और स्थायी होती है। चूँकि आधुनिक परिवार के सदस्यों में आर्थिक सम्बन्ध बहुत कमजोर होते हैं इसलिए पारिवारिक सुख और वैवाहिक सफ-

---

1 The creation of new members is a four fold task—reproduction maintenance status ascription and socialization A W Green *Sociology* p 348

लता के लिए दोनो को अधिक समझदारी तथा प्रौढ सवेगो से काम लेने की जरूरत पडती है ।

आधुनिक परिवार म सतानोत्पत्ति और काम सतुष्टि के काय सतति निग्रह न पृथक पृथक कर दिय है । पितृसत्तात्मक परिवार म य दोनो काय हमशा एक साथ रहत थे इसीलिय परिवार से बाहर स्वतन्त्र काम-तुष्टि के लिय रखेल स्त्रिया तथा वेश्यागमन का प्रचलन था । आधुनिक परिवार म पत्नी का ही प्रेम क्रिया समभने म अधिक आपत्ति नही होती । पुरुष अपनी पत्नी को अपनी इच्छानुसार शृगार करा सकता है और मनचाह तरीको म दोनो जीवन यापन कर सकते है । सयुक्त परिवार का कठोर नियन्त्रण या परम्परा उनके माग म नही आत हैं । किन्तु साथ ही काम सतुष्टि की रूढ़िया या नैतिक विचारो म सतति निग्रह से क्रातिकारी परिवतन हो रहा है । सतति निग्रह स अविवाहित व्यक्ति भी सभोग करने क बाद सतान पालन के दायित्व से बच सकते हैं । इसलिय युवक-युवतियो म विवाह क पूव सभोग करन का भय नही के बराबर रहा है ।

घर का प्रबन्ध

प्राय समाजो क सदस्य वयस्क होने पर एक स्थायी सम्बन्ध निर्माण करना चाहत हैं । ऐसा सम्बन्ध जिससे हमशा कुछ अपने लोग साथ साथ रह एक दूसर से घुल मिल सकें काम-वासना की तृप्ति तथा अन्य मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित अनुकूल स्थान मिल सके । इसी बलवती इच्छा का परिणाम घर का प्रबन्ध है । हर विवाहित युग्म एक घर का प्रबन्ध करता है और उसका निर्माण वह स्वय करना चाहता है । उसकी रचना और वातावरण को वह अपनी पसन्द के अनुसार बनाता है । इससे स्पष्ट है कि परिवार का तीसरा आवश्यक काय एक घर का प्रबन्ध करना है । यद्यपि आधुनिक जटिल सभ्यताओ म घर स सम्बन्धित सतुष्टियो को देने म परिवार से अन्य सस्थाएँ जसे क्लब, होटल आदि प्रतियोगिता करती है । किन्तु परिवार इस प्रतियोगिता म विजयी होता है । कारण स्पष्ट है स्त्री-पुरुष या पति पत्नी और सतान क लिए घर म अपक्षतया अधिक घनिष्ठ और अनौपचारिक सतुष्टियाँ प्राप्त हो सकती हैं । मनुष्य सदव स्वतन्त्रता और अबाधित इच्छा पूर्ति चाहता है । क्लब और होटलो अथवा अन्य सस्थाओ म जो घर' के प्रतियोगी हैं न तो अभीष्ट स्वतन्त्रता और न अबाधित इच्छापूर्ति हो सकती है । यद्यपि आज घर' काम का केन्द्र नहा रह गया फिर भी बच्चो क लालन पालन और पति पत्नी क प्रेम और सहयोग म क्रमश सुलभता और वद्धि आज के घर म मिल सकत हैं । सयुक्त परिवार म मुखिया के नियन्त्रण म कभी-कभी घर का जीवन बहुत शुष्क और व्यक्तिगत इच्छा क विरुद्ध हुआ करता था । आधुनिक युग म परिवार क अधिकतर सदस्य रोजी कमाने और अवकाश क समय की दिलचस्पियो को पूरा करने क लिय दिन क अधिक

भाग में घर के बाहर रहते हैं। किन्तु परिवार में कुछ आवश्यक और केन्द्रीय कार्यों को पूरा करने के लिए उन्हें घर में ही रहना पड़ता है।

संस्कृति का संचार

सांस्कृतिक समूह होने के नाते परिवार का प्रमुख कार्य परम्परा का वाहन है। पाल श्रेकर (Paul Schreker) ने लिखा है कि बच्चों का संस्कृतिकरण परिवार का मुख्य कार्य है। विवाह के समान परिवार की संस्था भी संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों द्वारा बनती है। इस कारण ही इसके धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, कलात्मक और भाषा सम्बन्धी पहलू होते हैं। चूँकि संस्कृति के विकास में इन विभिन्न पहलुओं का भिन्न-भिन्न महत्त्व रहता है इसलिए संस्कृति के इस विकास के अनुरूप ही कुटुम्ब धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्था में परिवर्तित होता रहता है। जब कोई नया क्षेत्र किसी युग पर अपना अधिकार जमाता है तो वह पारिवारिक व्यवस्था को भी तदनुरूप नया रूप दे देता है जिससे कि आने वाली पीढ़ियों का लालन-पालन और मनोवृत्ति उस क्षेत्र के अनुरूप रहे।[1]

अपने समाज या समुदाय की संस्कृति से बच्चों को परिचित करना परिवार का बहुत आवश्यक कार्य है। समाज या समुदाय के रीति-रिवाज, व्यवहार, आदर्श और मूल्य—इन सभी को आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाने का कार्य परिवार करता है। संक्षेप में परिवार परम्परा का वाहन करता है। पाल श्रेकर तो परिवार के अधिक काम को महत्त्वपूर्ण ही नहीं मानता। वह कहता है कि सभ्यता की उन्नति के साथ बच्चों के लालन-पालन का कार्य अन्य संस्थाओं के पास चला जा रहा है। टेस्टट्यूब बच्चे भी होने लगे हैं। इसलिए कुटुम्ब या परिवार का अधिक कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है। उसके अनुसार परिवार एक ही माता-पिता से उत्पन्न कुछ व्यक्तियों की वह संस्था है जो सांस्कृतिक उपकरणों, कुशलताओं और जीवन की शारीरिक, मानसिक और नैतिक व्यवस्थाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाता है। अतः परिवार का अधिक सम्बन्ध उस समय तक ही महत्त्वपूर्ण है जब तक उसके द्वारा उस समाज की स्वीकृत सभ्यता में बच्चे रंगे जा रहे हैं। परम्परा का वाहक होते हुए भी परिवार को प्रचार का प्लेटफार्म नहीं माना जा सकता।

समाजीकरण

इससे परिवार को सामाजिक जीवन की प्राथमिक पाठशाला कहा है। हर समाज की संस्कृति के अनुरूप ही परिवार की व्यवस्था होती है। बच्चों का लालन-पालन काफी समय तक परिवार के वातावरण में होता है। इसलिए उनका मानसिक विकास समाज द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों के अनुरूप होता है। परिवार में ही बच्चे समाज की संस्कृति और सभ्यता सीखते हैं। इस बात में परिवार के वातावरण का प्रभाव

1 Paul Schreker, *Family: Its Functions and Destiny*, p. 241

बच्चे के मस्तिष्क पर स्थायी रूप से पडता है। बच्चा जो कुछ सीखता है वह उसकी स्थायी निधि हो जाती है जिसे हम उसकी 'दूसरी प्रकृति' (second nature) कहते हैं। आदतो के निर्माण म परिवार का प्रमुख हाथ है।

सामाजिक सगठन की दृढ़ता और स्थायित्व के लिये मनुष्य को जिन व्यव हारो या आचरणो को करना चाहिए उन सबकी शिक्षा उस परिवार से मिलती है। सामाजिक अन्त क्रिया की सभी प्रक्रियाएँ सवप्रथम परिवार म ही प्रारम्भ होती हैं। यहीं पर व्यक्ति काय विभाजन कर सहकारिता प्रतिस्पर्द्धा अनुकूलन सघर्ष और सात्मी करण तथा अन्य उप प्रक्रियाओ द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास और समूह का सगठन सुलभ कर पाता है।

आवेगो की अभिव्यक्ति का नियम

कुछ विद्वान परिवार को मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति का सर्वोत्तम साधन मानते है। परिवार म स्त्रीपुरुष का सम्बन्ध केवल शारीरिक नही रहता। उनम घनिष्ठ सम्बन्ध आत्मा को सन्तोष देने वाला होता है एक दूसरे का सहारा होता है एक दूसरे से जीवन सग्राम म काम करने की प्रेरणा लेता है। बुढ़ापे म जीवनसाथी की मृत्यु बहुत दुखदायी होती है क्योंकि इसी समय आत्मा को सबसे अधिक शान्ति की आवश्यकता होती है जो जीवनसाथी के अभाव म नही मिल सकती। अतएव परिवार का मुख्य काम व्यक्ति को स्नेह सुरक्षा एव आत्म-सन्तोष देना है।[1]

बच्चा को स्नेह और प्रेम कुटुम्ब म ही मिल सकता है। राल्फ लिंटन लिखते हैं कि शिशु के समुचित विकास के लिये शारीरिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि काफी नहीं है। बच्चा का वैयक्तिक ध्यान प्रेम और अनुक्रिया के सन्तोष की अधिक आवश्य कता है। शिशु कल्याण केन्द्रो के द्वारा बच्चा का पूर्ण सन्तोष नहीं मिल सकता। कुछ लोगो का कहना है कि शिशु-केन्द्रो के खुल जाने से बच्चा के लालन-पालन के लिए परिवार आवश्यक नही रहेगा। केन्द्रो की इस योजना उत्पन्न की परिस्थिति म जिन बच्चो का लालन-पालन होता है उनम सामान्य व्यक्तित्व का विकास नहीं दिखाई देता जिसम उन्ह अपनी युवावस्था म बाहरी समाज से उपयोजन करने म काफी कठिनाई होती है। सक्षेप म हमारे समाज की नित्यता के लिये पारिवारिक सस्था की नितान्त आवश्यकता मालूम होती है।"[2]

गिडिंग्ज (Giddings) के विचार म परिवार म सब सदस्यो का अपना-अपना स्थान होता है प्रत्येक के अपने अधिकार और कर्तव्य होते हैं। इसलिए परिवार के पर्यावरण म ही स्व की चेतना आगे बढकर जाति की चेतना म बदलती

1 Linton *The Natural History of the Family* p 34
2. *Ibid*

है। परिवार में छोटे-बड़े भाई-बहिन होते हैं। इसलिए वहां मनुष्य की आत्म प्रदर्शन और विनम्रता की दो विरोधी मूल प्रवृत्तियों का सामंजस्य परिवार में होता है और उनका ऐसा समुचित विकास होता है कि समाज के संगठन में इन प्रवृत्तियों से कोई बाधा न पड़े।

एलवुड (G A Elwood) ने लिखा है कि समाज में परमार्थ (परोपकार) को पैदा करने का काम मुख्यतया परिवार करता है। यहीं बच्चा प्रेम करना, दूसरों की सेवा करना, दूसरों के लिए बलिदान करना और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना सीखता है। पारिवारिक आदर्शवादिता और परोपकारिता के सिद्धान्त धर्म और सभ्यता का हमेशा आधार रहे हैं और अब भी हैं।

सारांश[1]

परिवार के कार्यों का जो विश्लेषण ऊपर किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है। परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण और मूलभूत सामाजिक संस्था है। बच्चा को अपने माता पिता से शारीरिक वंशानुक्रमण प्राप्त होता है। जैसे माँ बाप होते हैं वैसी ही उनकी अच्छी या बुरी सन्तान की सन्तान होती है। परिवार प्रत्येक व्यक्ति को समाज में एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान करता है। इसी समूह में बच्चे सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ सीखते हैं। वे जीवन की हार-जीत को खिलाड़ी की भाँति हँसी-खुशी स्वीकार करना तथा सफल जीवन के लिए दूसरों से सहयोग करना परिवार में ही सीखते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूह के नाते परिवार अपने सदस्यों में (बच्चों में) आधारभूत मनोवृत्तियाँ, प्रतिमान, विचार और शक्तियाँ अथवा जीवन की रूपरेखा विकसित करता है। प्राचीन परिवार एक बहुकार्य संस्था थी। इसके आर्थिक और सामाजिक कार्यों में सन्तानोत्पत्ति, कामतुष्टि, समाजीकरण और संस्कृति का हस्तान्तरण के अनिवार्य कार्यों के अलावा उत्पादन, उपभोग, शिक्षण, मनोरंजन, धार्मिक और रक्षा सम्बन्धी काम सम्मिलित होते थे। आधुनिक परिवार में अनिवार्य काम ही बचे हैं। पर कृषक एवं दस्तकार परिवारों का रूप अब भी प्राचीन प्रकार के रूप में देखते हैं। अत्यधिक औद्योगीकृत और नगरीकृत समाजों में अधिकांश परिवार केवल उपभोक्ता परिवार रह गए हैं। परिवार के अन्य परम्परागत कार्यों को शिक्षण, मनोरंजन, धर्म तथा राज्य की संस्थाओं ने छीन लिया है। परन्तु परिवार सदा एक अनौपचारिक समूह रहा है और रहेगा। इसलिए यह शिक्षण, मनोरंजन एवं धर्म के कार्यों को अनौपचारिक और न्यूनतम मात्रा में सदा करता रहेगा।

परिवार का महत्त्व घर तक सीमित नहीं है। वह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का केन्द्र है। समाज के सभी पक्ष आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, पर परिवार

---

1 Cf Gillin & Gillin *Cultural Sociology* p 369 Davis *Human Society* p 394 Merril & Eldredge *Culture and Society* pp 432—38 Green *Sociology* p 341 & MacIver & Page *Society* p 264

के जीवन का गहरा प्रभाव पडता है। अनेक भयानक सामाजिक समस्याओं का स्रोत पारिवारिक विगठन है। अपराध बालापराध तलाक वयक्तिक विगठन आदि का एक प्रमुख कारण परिवार की सुदृढता का ह्रास हो सकता है। दूसरे समस्त सामाजिक परिवतनो का प्रभाव परिवार पर पडता ही है। अत पारिवारिक जीवन और सामाजिक परिवतनो का प्रभाव परिवार पर पडता ही है। अत पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन म मौलिक इकाइ एव सम्पूण का सम्बन्ध है।

परिवार और एकान्तता (privacy) का साथ है। परिवार म व्यक्ति स्वच्छन्द और अकृत्रिम व्यवहार कर सकता है। ससार की भीड भाड और औपचारिकता से दूर और पृथक रह कर परिवार मे वह अपने मन और हृदय की बात कह डालता है। यहा उसका असली रूप स्वत प्रकट हो जाता है।

परिवार की उत्पत्ति एव विकास

१६वी शताब्दी म जविक रूपा की उत्पत्ति और विकास का सादृश्य लकर परिवार तथा अन्य सामाजिक सस्थाओं की उत्पत्ति और विकास का विश्लेषण किया गया। इस विश्लेषण म कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गय। किन्तु यदि यह ध्यान रखा जाय कि परिवार एक सामाजिक रूप है जविक नही तो इसकी उत्पत्ति की समस्या पर सही दृष्टिकोण स विचार किया जा सकेगा। यह निश्चय है कि एक विशिष्ट परिवार कही किसी प्रकार प्रारम्भ हुआ और फिर विशिष्ट ढग स विकसित हुआ। सभी परिवारो की उत्पत्ति का अकेला स्रोत मानना कोई बुद्धिमत्ता नही है। न सभी परिवारो के विकास का सामान्य क्रम रहा है। ऐसी कोई निश्चित अवस्थाएँ नही बताई जा सकती जिनसे परिवार अवश्यमेव गुजर कर विकसित हुआ हो। जहा तक हम प्राचीन मानव समाज के अस्तित्व का परिचय मिला है वहा तक सभी समुदायो म परिवार और विवाह का कोइ न कोई रूप प्रचलित था। आइए परिवार की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी कुछ प्रमुख सिद्धान्तो की समीक्षा कर लें।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

हनरी मन (Maine) न प्राचीन वधानिक दस्तावजो व तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया कि सबस प्राचीन (आदिकालीन) परिवार एक रुधिर और गोद लेने के सस्कार स सम्बन्धित सदस्यो का विस्तृत समूह था जिसम पिता सर्वशक्तिमान था और उसकी बात का विरोध करने वाला कोइ न था जो परिवार की सम्पत्ति पर नियन्त्रण रखता था और परिवार के सदस्यो के जीवन पर भी। यह पितृसत्तात्मक गृहस्थी कालान्तर म विभक्त होने लगी जस-जस पुत्रो को अपनी कमाई पर अधिकाधिक नियन्त्रण मिलता गया तथा दासो और स्त्रियो को मुक्ति मिली। आदिम गृहस्थी की सभी शक्तियाँ तितर बितर हो गई और आज हमारे समय म व्यक्ति अकेला राज्य के आधीन स्वतन्त्र खडा है। अब व्यक्ति विवाह

अनुसन्धान करने में स्वयं समर्थ है। पुरानी प्रणाली में नातेदारी समूह के एक सदस्य की हैसियत से ही उसकी प्रस्थिति थी आज वह अकेला और स्वतन्त्र अनुबन्धीय प्रबन्धों में सम्मिलित होता है। मेन ने इस प्रकार परिवार और साथ ही समाज के विकास को प्रस्थिति से अनुबन्ध में विकास कहा था।[1] पितृसत्तात्मक परिवार की सार्वभौमिकता सिद्ध करना सम्भवतः कम कठिन होगा। आधुनिक समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि जैविक कारणों से परिवार में पुरुष की न्यूनाधिक प्रधानता सदैव रही है।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

बैकोफन (J J Bachofen) ने समाजों का तुलनात्मक अध्ययन किया और उसने उदाहरण ढूँढ निकाले जिनमें समाजों में स्त्री की सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति को केन्द्र मानकर परिवारों का संगठन हुआ था। इस विचारक के लेखों में दो मान्यताएँ स्पष्ट हैं प्रथम हमारे अर्वाचीन समाजों में जो पितृसत्तात्मक परिवार मिलता है वह आदिम समाजों में विद्यमान मातृसत्तात्मक परिवार के बहुत बाद का विकास है। द्वितीय चूँकि समाज के मातृसत्तात्मक परिवारों की संरचना अभी जटिल है इसलिए उनसे पूर्व कोई सरल संरचना का परिवार अवश्य रहा होगा। इस आधार पर बैकोफन ने परिवार के एक विश्वव्यापी विकास की एक योजना प्रस्तुत की है। प्रारम्भ में मनुष्य जाति संरचना रहित साम्यवादी झुण्डों में रहती थी और बच्चों का नामकरण उनकी माताओं के आधार पर होता था क्योंकि उन परिस्थितियों में बच्चों के पिता का पता लगाना सम्भव नहीं था। बैकोफन ने इस प्रथम अवस्था को हेटेरिज्म कहा है जिसका विकास एक दूसरी अवस्था स्त्रीतन्त्र (gynocracy) में स्त्रियों द्वारा विशिष्ट परिवारों की स्थापना द्वारा हुआ। इन परिवारों में सम्पत्ति की मालिक स्त्रियाँ थीं और सामाजिक दृष्टि से भी वे प्रबल थीं। परन्तु मनुष्य ने अपनी पाशविक शक्ति (brute force) का उपयोग करके भी प्रधान गृहस्थियों पर अपनी प्रभुता थोप दी और साधारण सामाजिक मामलों में स्त्रियों से नेतृत्व छीन लिया। इस प्रकार पितृसत्तात्मक परिवार बने।[2]

रॉबर्ट ब्रिफॉल्ट (Robert Briffault) के मातृसत्तात्मक सिद्धान्त के तत्त्व बैकोफन के सिद्धान्त के समान ही हैं। संक्षेप में ब्रिफाल्ट का सिद्धान्त इस प्रकार है प्रारम्भ में मनुष्य जाति बड़े खानाबदोशी झुण्डों में रहती थी और ये झुण्ड मातृसत्तात्मक परिवारों में संगठित थे। परन्तु कालान्तर में पुरुष ने लालच और अहंभाव के कारण इन परिवारों को पितृसत्तात्मक परिवारों में बदल डाला। इस विचारक ने विकासवादी सिद्धान्त की आलोचना की और वेस्टरमार्क के एक विवाह

1 H S. Maine *Ancient Law* Henry Holt Co New York (1885) quoted in Martindale and Monachesi *Elements of Sociology* p 405.
2 J J Bachofen quoted by Martindale and Monachesi *op cit* p 406

सिद्धान्त को साक्ष्यहीन बतलाया। ब्रिफाल्ट ने अपनी पुस्तक 'दि मदर्स' में आदिम समाजों में विद्यमान मातृवंशीय और मातृस्थानिक संस्थाओं तथा पुरुष से कभी-कभी स्त्रियों की उच्चतर सामाजिक स्थिति से यह निष्कर्ष निकाला कि मौलिक परिवार मातृ-सत्तात्मक था। उसने आदिम समाजों में बच्चों के पितृत्व के प्रति अज्ञानता का भी जिक्र किया। ऐसे ही अनेक साक्ष्यों के आधार पर ब्रिफॉल्ट ने यह निष्कर्ष निया कि परिवार का प्रारम्भ माता की स्वयं तथा बच्चों की आर्थिक और सामाजिक रक्षा की स्थायी आवश्यकता से हुआ उसकी आधारभूत मूल प्रवृत्तियों के अनुरूप उस समाज में उच्च स्थान मिला क्योंकि पुरुष की अभिरुचि अधिकतया मार्मिक और केवल काम-सम्बन्धी थी। इस तरह परिवार का आदि रूप मातृसत्तात्मक था और केवल उच्चतर कृषि और पुरुष की आर्थिक प्रबलता के विकास से पितृसत्तात्मक परिवार का उदय हुआ है।[1]

मकाइवर और पेज ने ब्रिफाल्ट का यह तर्क कि परिवार के विकास में मातृत्व की आवश्यकताओं का महत्त्व रहा है स्वीकार किया है किन्तु उसे ही परिवार के विकास का एकमात्र महत्त्वपूर्ण कारक नहीं माना। परिवार ऐसे गहरी जड़ वाले सामाजिक प्रबन्ध को किसी 'मूलप्रवृत्ति' या विशिष्ट मानव गुण की अभिव्यक्ति कहना साक्ष्यहीन तर्क है। ब्रिफाल्ट का यह तर्क अमान्य है कि मानव जाति का विकास 'मातृ अधिकार' से पितृ अधिकार की ओर हुआ है। कुछ सरलतम आदिम समुदायों में जटिल पितृवंशीय संस्थाएँ मिली हैं। फिर मातृवंशीय संस्थाओं तथा स्त्रियों की ऊँची सामाजिक प्रस्थिति में कोई स्पष्ट सहसम्बन्ध नहीं है। अतः ब्रिफाल्ट ने परिवार उत्पत्ति में जिन कारकों को महत्त्वपूर्ण माना है वे अपर्याप्त हैं।[2]

यहाँ 'आरम्भिक यौन साम्यवाद' के सिद्धान्त की भी समीक्षा कर लेना उपयुक्त रहेगा। 'महाभारत' में एक स्थान पर आरम्भिक काम स्वच्छन्दता का उल्लेख है। लिखा है कि एक स्त्री-पुरुष विवाह का नियम श्वेतकेतु नामक ऋषि ने बनाया। मेन, ब्रिफाल्ट और मार्गन के लेखों में आदिकालीन काम स्वच्छन्दता के सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है।[3] इनके मतानुसार मानव जाति की मौलिक अवस्था काम स्वच्छन्दता की थी। इन लेखकों ने आदिम जातियों में प्रचलित पर्वों पर काम स्वच्छन्दता, पत्नियों का विनिमय और अतिथि सत्कार में पत्नियों का देना आदि प्रथाएँ मौलिक यौन साम्यवाद के अवशेष प्रतीत हुए। समान आयु के सभी पुरुषों को पिता अथवा स्त्रियों को माता और इसी प्रकार से भाई बहिन, पुत्र पुत्री कहने के रिवाज को वे आदिम लोगों की जविक पितृत्व में अनभिज्ञता का साक्ष्य मानते थे।

1 R Briffault *The Mothers* New York (19 7) Chapters III IV & V of Book I
2 MacIver & Page *op cit* p 245
3 Cf Maine s book cited above Briffault s *The Mothers* and L H Morgan s *Ancient Society* Refer to *Society* pp 243-44 for a discussion of this theory

हमारे गाँवों में आज भी लोगों को 'बाबा', 'दादी', 'पोता', 'पोती', चाचा, 'चाची', कहने का रिवाज प्रचलित है। स्वयं लेखक अपने गाँव में चमार से लेकर ब्राह्मण जाति के लोगों को प्रथानुसार बाबा, चाचा, दादा और दादी आदि कहता है। किन्तु इस रस्म को जैविक पितृत्व से अनभिज्ञता तो नहीं कहा जा सकता। मानव शास्त्रीय खोज ने मौलिक काम-स्वच्छन्दता के इस सिद्धान्त को अवैज्ञानिक और कोरी कल्पना मात्र सिद्ध कर दिया है। मानव जाति की मौलिक अवस्था में भी काम सन्तुष्टि का कोई समाजानुमोदित ढंग रहा होगा। यौन-सम्बन्धों पर किसी न किसी प्रकार का सार्वजनिक नियन्त्रण सदैव प्रचलित रहा है।

राल्फ लिंटन और मैलिनोवस्की ने आदिम समाजों में तथाकथित काम-स्वच्छन्दता के विरोधी अनेक साक्ष्य एकत्र किए हैं। मार्गन ने जिस वर्गीकृत व्यवस्था में माता की आयु की सभी स्त्रियों को 'माता' आदि कहने की रस्म को यौन साम्यवाद का एक साक्ष्य कहा है वह एक मुख्य सामाजिक प्रयोजन—बहिर्विवाह को प्रोत्साहन—के निमित्त बना था। जैविक पितृत्व की अपेक्षा सामाजिक पितृत्व को आदिम समाजों में बहुधा अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। तीसरे, पर्वों पर अथवा विशेष स्थितियों में काम स्वच्छन्दता के अस्तित्व को यौन-साम्यवाद का अकाट्य साक्ष्य नहीं कहा जा सकता। एलान द्वीप में रहने वाले आदिम लोगों में विवाह के पूर्व लड़कियों को यौन स्वच्छन्दता है किन्तु विवाहित होते ही स्त्रियों का (और पुरुषों का भी) यौन व्यवहार कठोर सामाजिक नियन्त्रण में आ जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी काम स्वच्छन्दता सिद्धान्त एक थोथी कल्पना मात्र है।

विकासवादी सिद्धान्त

उपरोक्त सभी सिद्धान्त यह प्रतिपादित करते हैं कि परिवार का आधुनिक प्रकार किसी आदिम प्रकार से विकसित हुआ। लेविस मार्गन का विश्वास है कि सभी परिवारों का विकास कुछ सुनिश्चित अवस्थाओं के द्वारा हुआ है। आधुनिक परिवार के विकास में उसने पाँच विशिष्ट अवस्थाओं का वर्णन किया (१) रक्त सम्बन्धी परिवार जिसमें भाइयों और बहिनों का अबाधित परस्पर विवाह होता था (२) कई बहिनों और कई भाइयों का सामूहिक अन्तर्विवाही परिवार (punaluan family) (३) अकेले युग्मों का विवाह जिसमें पति पत्नी बाहरी व्यक्तियों से भी सम्बन्ध रखते थे (syndasmian family) (४) पितृसत्तात्मक परिवार (patriarchal family) जिसमें एक पुरुष के कई पत्नियाँ होती थीं और (५) आधुनिक समय का एक विवाही परिवार।[1]

मार्गन के सिद्धान्त का आधार अधोलिखित मान्यताएँ हो सकती हैं (१) समकालीन पाश्चात्य समाजों का परिवार अन्तिम पारिवारिक प्रकार है (२) सभी समाजों

---

1 *Ancient Society* Charles Kerr Chicago (1877)

म एतिहासिक अवस्थाएँ समान रही हैं और अर्वाचीन समाजा के प्रचलित परिवार-प्रकार को ऐतिहासिक प्रवृत्तियो का सूचक कहा जा सकता है, (३) विकास की प्रवृत्ति सरलता स जटिलता की ओर रही है।[1]

एकविवाही परिवार का सदस्य

एडवर्ड वेस्टरमार्क न शाश्वत एकविवाह का सिद्धात प्रतिपादित किया। परिवार का सबसे मूलभूत रूप एक पुरुष और स्त्री का सघ रहा है। इस तर्क के लिए उन्होने अनेक साक्ष्य एकत्र किए और आग्रह किया कि (१) मनुष्य स निकटतम सम्बन्ध रखने वाले स्तनधारी जीवो (mammals) म भी एकविवाह सर्वाधिक प्रतिष्ठित विशेषता है (२) काम स्वच्छन्दता शरीर क्रिया के विचार स अत्यधिक सतरनाक है (३) पुरुष की स्वाभाविक गर्व और ईर्ष्या भावना के कारण एक-विवाही प्रणाली ही चिरस्थायी हो सकती है और अधिकाश म सर्वाधिक समाज हित-कर विवाह एक विवाह है।

वेस्टरमार्क के उपरोक्त सभी तर्कों को अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक सिद्ध कर दिया गया है। स्तनधारी जीवो मे एकविवाह सर्वाधिक प्रचलित नहा है। काम-स्वच्छन्दता शरीर क्रिया के लिए अहितकर नही है। यह कहना भी गलत है कि एकविवाही परिवार म हा मनुष्य के स्वाभाविक मवेगो की सरस अच्छी अभिव्यक्ति हो सकती है। अन्त म कौनसी परिवार प्रणाली सवश्रेष्ठ है यह तो समाज व्यवस्था की आवश्यकताओ के अनुसार निश्चित होता है।[2]

मकाइवर और पेज न वेस्टरमार्क द्वारा उल्लखित कारको का सापेक्षिक मानत हुए भी उन्हे अपर्याप्त ठहराया है।[3] एतिहासिक साक्ष्यो म भी एकविवाही परिवार की शाश्वतता असिद्ध होती है।

फ्रायड का सिद्धात

परिवार की उत्पत्ति की व्याख्या करन वाल सिद्धान्तो म फ्रायड का मनो-विश्लेषणात्मक सिद्धात नवीनतम है। फ्रायड परिवार की उत्पत्ति काम निषेध स मानता है। मौलिक पितृसत्तात्मक झुण्ड म समस्त स्त्रियो पर पिता का सर्वोपरि अधिकार था। पुत्रो का इस स्थिति स वञ्चित रखा था। उन्होने ईर्ष्या से क्रुद्ध होकर एक दिन पिता की हत्या कर डाली जिसस उन्हे उसकी स्त्रियो का उपभोग करने का अवसर मिल सके। किन्तु शीघ्र ही उन्हे अपने दुष्कृत्य पर ग्लानि और भय हुआ। अत उन्होने अपने समूह के बाहर की स्त्रियो से विवाह करने का कठोर नियम बना लिया।

---

1 Martindale and Monachesi *op cit* p 407
2 *Ibid* p 421
3 *Society* p 244

निकट रक्त-सम्बन्धियों में विवाह करना वर्जित है। इसे निकट रक्त सम्बन्धी विवाह निषेध (Incest taboo) कहते हैं। पिता की हत्या की घृणित घटना फ्रायड की सारी कल्पना मात्र हो सकती है। दूसरे पितृसत्तात्मक मुण्डा में परिवार और विवाह का तो कोई रूप इस घटना से पूर्व से विद्यमान था। फ्रायड का सिद्धान्त बहिर्विवाह की एक व्याख्या मात्र हो सकती है न कि परिवार की उत्पत्ति का सिद्धान्त। तीसरे मनोविश्लेषकों द्वारा प्रत्येक सामाजिक प्रथा या संस्था का उद्गम काम इच्छा को बताना एकांगी और मनोवैज्ञानिक आग्रह है।

सारांश

परिवार की उत्पत्ति या मौलिक रूप की खोजना एक व्यर्थ प्रयत्न है। मानव समाज में ऐसी किसी अवस्था की कल्पना आज नहीं की जा सकती जब किसी प्रकार का विवाह और परिवार प्रचलित नहीं था। दूसरे विभिन्न समाजों का ऐतिहासिक विकास एक क्रमिक एवं समरेखिक दिशा में नहीं हुआ है। वह तो देश काल के अनुकूल विभिन्न दिशों मुखी रहा है। तीसरे परिवार की उत्पत्ति किसी अकेली मानवीय मूल प्रवृत्ति में नहीं खोजी जा सकती। असलियत तो यह है कि मानव की कामनाओं और अन्तर आवश्यकताओं के एक जटिल रूप की विभिन्न पर्यावरणों में भिन्न भिन्न रूप से अभिव्यक्ति हुई है। प्रत्येक समाज में परिवार के किसी न किसी रूप के प्रचलित होने की कल्पना करना व्यावहारिक है। समकालीन समाजों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि एक ही समाज में विभिन्न प्रकार की परिवार प्रणालियाँ मिलती हैं। परिवार की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या विकासवादी सिद्धान्त भी नहीं कर सकता। परिवार के रूपों में विभिन्नता का कारण सांस्कृतिक भिन्नता है। कुटुम्ब की प्रणालियाँ और संस्कृति के अन्य उपकरणों में कृत्यात्मक सम्बन्ध है।[1]

पारिवारिक संस्थाओं के उद्भव सम्बन्धित सिद्धान्त में आलोच्य सिद्धान्तों के प्रमुख कारकों के अतिरिक्त निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है (१) परिवारों का जैविक विकास की अपेक्षा सामाजिक कारकों से उदित संरचनाएं मानना समुचित है (२) परिवार की उत्पत्ति जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न होता है किन्तु यह सदैव विशिष्ट सामाजिक प्रणाली की उपज है (३) सार समाज में कोई एक साधारण परिवार नहीं है वरन् विशिष्ट समाजों में विशिष्ट परिवार है। साधारण परिवार एक धारणा मात्र है और (४) परिवारों में भिन्नता का कारण उनके सारभूत तत्त्व हैं।[2]

विवाह और परिवार के रूप

परिवार का आधार विवाह है। स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध की प्रतिष्ठित रीति को विवाह कहते हैं। विवाह के दो प्रधान प्रकार हैं एक विवाह और बहु विवाह। एक

1 *Ibid* p 246
2 Martindale and Monachesi *op cit* p 409

विवाह (monogamy) एक पुरुष की स्त्री के साथ विवाह है और इसके विपरीत बहु विवाह (polygamy) एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियों से विवाह अथवा एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों से विवाह होता है। पहली व्यवस्था को बहुपत्नी विवाह और दूसरी को बहुपति कहते हैं। द्विविवाह बहुविवाह का वह रूप है जिसमें एक पुरुष के दो स्त्रियाँ अथवा एक स्त्री के दो पति होते हैं।

कुछ पुराने मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों में विवाह के एक अन्य प्रकार —समूह विवाह का प्रचलन बतलाया था। इसमें पुरुषों का एक समूह कई स्त्रियों से संयुक्त रूप से ब्याह कर लेता है। अनुसंधान में यह प्रकार व्यावहारिकता में कहीं नहीं मिला। संभवतः बहुविवाह को ही ये लोग समूह विवाह मानकर गलती कर बैठे थे।

कुछ आवश्यक प्रश्न

विवाह के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करते समय विवाह की संस्था से सम्बन्धित कुछ प्रमुख प्रश्नों का उत्तर दे देना आवश्यक है। प्रश्न इस प्रकार हैं (१) लोग विवाह क्यों करते हैं? विभिन्न व्यक्तियों और समाज के लिए विवाह की संस्था क्यों महत्त्वपूर्ण है? विवाह के विभिन्न रूपों के उदय होने का क्या कारण है? तथा इन सबमें से कौन सा रूप समाजशास्त्रीय दृष्टि से सर्वोत्तम या आदर्श है?

लोग विवाह क्यों करते हैं? हम सब परिवार में जन्म से ही रहते और वयस्क होने पर भी यह भावना नहीं त्याग पाते कि परिवार में रहना ही उपयुक्त व्यवहार है। सच तो यह है कि परिवार में रहना हमें एक मात्र संभव ढंग लगता है। विवाह करके ही हम सामाजिक जीवन में पूर्ण सफलता की अभिलाषा कर सकते हैं। हम इस वाक्य को अविवाहित मनुष्य अपूर्ण है स्वयं सिद्ध मान मन में कतई नहीं खिचकते। प्रत्येक धर्म गृहस्थ को ही पूर्ण पुरुष या नागरिक मानता है। अतएव, विवाह करके पारिवारिक जीवन बिताने की परम्परा का पालन हम इसलिए करते हैं कि वह धर्मसम्मत है और व्यावहारिक दृष्टि से भी सर्वांग सत्य है।[1]

प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक प्रस्थिति प्राप्त करने का इच्छुक होता है। विवाह संस्था को नई सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करता है। विवाह का पूर्ण महत्त्व तभी प्रकट होता है जब इसे हम एक प्रस्थिति उपलब्धक युक्ति के रूप में समझ लें। (१) विवाह से व्यक्ति को अपने माता पिता के परिवार में उच्चतर प्रस्थिति प्राप्त होती है। (२) इससे व्यक्ति की अपने पेशे या व्यवसाय में प्रस्थिति ऊँची हो जाती है। (३) समुदाय में भी उसका सामाजिक स्थान अधिक सम्मानित होता है। (४) विवाहित व्यक्ति जीवन की समस्याओं के समाधान में भी उन्नत प्रस्थिति से कार्य कर

1 Cf Koeing & others *Sociology A Book of Readings* Prentice Hall New York Chap 7

सकता है। (५) विवाहित जीवन व्यक्ति को अपनी अस्थिति के अनुकूल मानसिक व्यवहार करने पर बाध्य करता है। इससे मनःसुख की सृष्टि होती है।

समाज की निरन्तरता और स्वास्थ्य के लिए विवाह अनिवार्य है। यह संस्था अनेक एकत्र-प्रणाली हितों का संगम है। इससे दम्पति के यौन जीवन पर प्रतिबन्ध रहता है। वे आर्थिक उपार्जन में संयुक्त उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। यह अनेक सामाजिक क्रियाओं का आधार स्थल है। इसमें स्त्री और पुरुषों के उपस्थित अनुपात को स्थिर अथवा अधिक सन्तुलित किया जाता है। विवाहित जीवन की आवश्यकताएँ व्यक्ति को अधिक उत्तरदायी और सक्रिय बनाती हैं। वह समाज का वास्तविक अंग बनकर समाज के कल्याण और शान्ति में कार्यरत हो सकता है। समाज का कल्याण और स्वास्थ्य अधिकांश विवाहित लोगों के कर्त्तव्यों पर निर्भर है। समाज के लिए बहुविवाह आदर्श संस्था है अथवा एकविवाह? यह तो इससे स्पष्ट है। व्यावहारिक और वैधानिक रूप में एक विवाह ही मान्य है। किन्तु हमारे विचार से इसका उत्तर स्वतः मिल जाएगा जब पाठक विवाह के प्रचलित रूपों का सामाजिक महत्त्व समझ लें।

बहुपति प्रणाली (Polyandry)

इस प्रणाली में एक स्त्री का विवाह एक से अधिक पुरुषों के साथ होता है या सभी भाइयों के एक अथवा अधिक सामान्य पत्नियाँ होती हैं। जब कई भाइयों के एक या अधिक सामान्य पत्नियाँ होती हैं तो इस व्यवस्था को भ्रातृक बहुपति प्रणाली (fraternal polyandry) कहते हैं। सभ्य समाजों में बहुपति प्रणाली कहीं भी नहीं पाई जाती है। आदिम समाजों में भी यह प्रणाली अति सीमित प्रचलन में है। एस्कीमो लोगों की कुछ जन-जातियों में, कुछ अन्य कबीलों और भारत के खासा, नायर, ट्रावनकोर, टोडा और कोटा कबीलों तथा कुछ नीची जातियों में यह प्रणाली आज भी कुछ-कुछ प्रचलित है। महाभारत में द्रौपदी के पाँच पाण्डव पतियों का विवरण मिलता है। किन्तु विद्वान् इस घटना को संदिग्ध बतलाते हैं। प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दू समाज में यह प्रणाली कभी भी प्रचलित नहीं रही है। हिन्दुओं में इसे अधार्मिक तथा अप्राकृतिक कहा जाता है।[1]

तिब्बत, हिमालय की तराई तथा कुर्ग और मलाबार के आदिवासियों में इस प्रणाली का प्रचलन अति कठोर प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में ही विद्यमान है। देहरादून जिले के जौनसार बावर की सीमा, सिरमौर, टिहरी गढ़वाल तथा बाल्ट[illegible]ियों में भ्रातृक बहुपति प्रणाली प्रचलित है। इसमें या तो सभी भाइयों के केवल एक पत्नी होती है अथवा एक से अधिक। टिहरी के रवाई और जौनपुर परगना में भी इसी प्रथा का प्रचलन है। जब सबसे बड़े भाई की शादी होती है तो उसकी पत्नी

1 K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay (1958), Chapter IX.

उसके सभी छोटे (किशोर) भाइयों की पत्नी होती है। यदि कोई छोटा भाई पृथक विवाह करता है तो उसकी पत्नी भी सभी भाइयों की पत्नी बन जाती है। एक भाई की सन्तान सब भाइयों की सन्तान मानी जाती है। बच्चों का अपने बड़े पिता स्वीकार करने में गर्व होता है। लड़कियों के मा बाप भी उनका विवाह ऐसे परिवारों में करते हैं जहां कई सगे भाई हों।

पंजाब के पहाड़ी भाग, कांगड़ा जिले के स्पीती लाहौर परगना, चम्बा, कुलू तथा मंडी के ऊंचे प्रदेशों में कानेता और नीची जातियों में यह प्रणाली प्रचलित है।

नीला कबीले में समूह या गांव का कोई भी पुरुष युवती के विवाह के अवसर पर या उसके पूर्व उससे समागम कर सकता है। यह रीति इस धारणा की प्रतीक है कि नववधू पूरे समूह या गांव की पत्नी है। पुञ्ज महोदय ने इस रीति को समूह में दृढ़ता लाने की एक युक्ति कहा है।[1] खासा लोगों में इस प्रणाली का प्रचलन क्रूर प्राकृतिक परिस्थितियां, निर्धनता और कुछ परम्परागत सामाजिक रस्मों के कारण बताया गया है। घर में बड़े भाई का मालिकाना अधिकार होता है। उसकी उपस्थिति में छोटे भाई सामान्य पत्नी से बात भी नहीं करते। घरेलू जीवन में उसमें सम्भोग आदि की उन्हें जो भी सुविधाएं प्राप्त हैं वे केवल घर से बाहर खुले आकाश के नीचे। इस स्त्री के साथ पति सा व्यवहार करने की बारी हर भाई की केवल एक निश्चित दिन आती है। यदि स्त्री सभी भाइयों के पत्नीत्व से मुक्त होकर केवल एक की पत्नी रहना चाहती है तो वह सामाजिक प्रथा के अनुसार कर सकती है। खासा में तलाक का साधारण चलन है। सिरमौर जिले के जुब्बल और गुरपाट क्षेत्रों के खासा लोगों में बहुभर्तृता केवल दो भाइयों तक सीमित है। तीसरे भाई को पृथक विवाह करना पड़ता है।[2] नायर लोगों में केवल भ्रातृक बहुभर्तृता प्रचलित है। खासा और नायर किसी समय मातृवंशी कबीले थे। मलाबार के इरावन नीलगिरी पहाड़ियों के टोडा तथा कोटा कबीले में जो पितृवंशी हैं बहुभर्तृता प्रणाली प्रचलित है। हमारे हिन्दू समाज की कुछ नीची (शूद्र) जातियों में बड़े भाई की विधवा का अविवाहित देवर में विवाह हो जाता है। कहीं-कहीं छोटे भाई की विधवा से अविवाहित बड़े भाई (विधवा के जेठ) का विवाह हो जाता है। पहली प्रथा को Levirate कहते हैं।

मैकलनन (McLenan) ने समाज के विकास में बहुभर्तृता को एक अनिवार्य प्रणाली कहकर तथ्यों की नितांत अवहेलना की है। समाज की कोई अवस्था पूर्व बहुभर्तृता प्रणाली वाली नहीं पाई गई। जिन समाजों में यह प्रणाली न्यूनाधिक प्रचलित है वहाँ भी साथ-साथ एकविवाही परिवारों की संख्या सम्भवतः अत्यधिक

1 *India's Legacy and the World Heritage* Book I Part I p 207
2. Kulapati's Letter No 94 Bhartiya Vidya Bhawan Bombay

रही है। सम्पूर्ण समाज म बहुभर्तृता तभी सम्भव हो सकती है जब जनसंख्या म स्त्रिया का अनुपात आध से बहुत कम हो। बहुधा स्त्रिया और पुरुषो की जनसंख्या लगभग समान अनुपात म होती है।

बहुभर्तृता के प्रचलन के क्या कारण है ? कुछ स्थितियो के कारण बहु भर्तृता विवाह की एक अविकसित व्यवस्था मात्र कही जा सकती है। स्त्रिया की अपेक्षा पुरुषो की अधिक बडी सख्या इसका एक प्रमुख कारण है। लावी (Lowie) न इस प्रकार की स्थिति म प्रचलित बहुपति प्रणाली को एक पत्नी विवाह प्रणाली कहा है जिसम पत्नी दूसरा से वध रूप से सम्भोग कर सके।[1] अतएव बहु-भर्तृता (विशेषकर भ्रातृक) का एकविवाह प्रणाली का सन्निकट रूप कहना चाहिए।* बहुभर्तृता के अन्य कारण भी हो सकते हैं जसे जीवन निवाह की अत्यन्त कठिन परिस्थितियाँ तथा ऊँचा वधू मूल्य। भारत के उत्तरी पहाडी क्षेत्रो मे तथा एस्कीमो लोगो म गृहस्थी तथा कर पत्नी और बच्चो का पालन-पोषण बडा कठिन काय है। दरिद्र साधना म एक पुरुष यह सब नही कर पाता। अतएव अपने भाइयो अथवा अन्य पुरुषो के सहयोग म गृहस्थ चल सकता है।

बहुपत्नी प्रणाली (Polygyny)

जब एक पुरुष के एक स अधिक पत्नियाँ होती हैं तो इस व्यवस्था को बहु पत्नी प्रणाली अथवा बहुभर्तृता कहते हैं। बहुभर्तृता की अपेक्षा बहुभायता का अधिक प्रचलन है। यह प्रणाली अनेक आधुनिक सभ्य समाजो म पाई जाती है। हिन्दू और मुसलमान समाजो म इसका प्रचलन ससार मे सबस अधिक है। हिन्दू राजाओ मुगल बादशाहो तथा दोनो समाजों के भूपतियो एव अन्य धनिको म यह प्रणाली बहुधा साधारण बात रही है। आज भी हिन्दुओ तथा मुसलमानो म बहुपत्नी घराना की कमी नही है। भारत पाकिस्तान के मुसलमानो म चार पत्नियाँ तक रखना कुरान (शरियत) के अनुकूल है। हैदराबाद म वतमान निजाम की १०० के लगभग विवाहिता और रखल स्त्रियाँ बताई जाती हैं। देश के अधिकाश हिन्दू राजाओ के भी अनेक पत्नियाँ हैं। साधारण नागरिको म भी धनी मानी पुरुषो की बहुधा कई पत्नियाँ होती हैं। मध्यप्रदेश के गोंड के पटेलो की बहुधा अनेक पत्नियाँ होती हैं। दक्षिण भारत की नम्बूदरीपाद जाति में बहुभायता प्रचलित है। हमारे देश म वदिक काल म भी बहुभायता के प्रचलन का वणन मिलता है। बहुपति प्रणाली का सदव अधार्मिक और अप्राकृतिक घोषित किया गया किन्तु बहुभायता सदव म आवश्यक स्वाभाविक और धार्मिक प्रथा स्वीकार की गई है। स्वय प्रसिद्ध शास्त्रकार मनु (मनुस्मृति के रचयिता)

1 Pascual Gisbert *Fundamentals of Sociology* Orient Longmans Bombay (1957) p 64
2. A W Green *Sociology* p 351

की दस पत्नियां बताई गई हैं। राजाओं की अनेक रानियां में पटरानी से लेकर न्यूनतम प्रस्थिति वाली स्त्रियां थीं।[1]

समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक अनुसंधानों से विदित हुआ है कि बहुभार्यता का दास प्रणाली, कुलीन विवाह प्रणाली, सम्पन्नता एवं सन्तानोत्पत्ति की कामना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। विजयी समूहों ने विजित समूह की स्त्रियों का अपहरण कर उन्हें पत्नियाँ अथवा रखेलियाँ बनाया है। रखनी को पत्नी के बाद दूसरे दर्जे का स्थान प्राप्त होता है। दास प्रणाली के अंतर्गत भी स्वामियों के अनेक पत्नियाँ होती थीं जो बहुधा दासों द्वारा उन्हें समर्पित कर दी जाती थीं। कुलीन घरानों में कन्या के विवाह करने की प्रथा में भी कुलीन घरानों के पुरुषों में एक से अधिक पत्नियाँ हो जाती थीं। भारत में बंगाल, बिहार तथा राजस्थान में आज भी यह प्रणाली बहुत प्रचलित है।[2] इतिहास में इस तथ्य के कई साक्ष्य हैं कि समृद्धिशाली पुरुषों ने अनेक विवाह किए अथवा स्त्रियों को खरीद कर अनेक पत्नियां रखीं। सम्पन्नता के साथ यदि कभी कामुकता में उत्पन्न उन्मत्तता रही तो फिर क्या कहना। धनी और कामी लोगों के घर में दो चार पत्नियाँ रहना साधारण बात थी। इसके अतिरिक्त, सुन्दर, प्रख्यात अथवा वीर पुरुष भी एक से अधिक विवाह करते पाए गये हैं। इस प्रकार के कुछ कारणों से अधिक स्त्रियों का रखना पुरुष और परिवार के सम्मान का चिह्न माना गया। पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका में थोंगा कबीले के लोग अपना धन स्त्रियां खरीदने में व्यय करते हैं। जिन समाजों में स्त्री आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभदायक होती हैं, गरीब लोग भी कई विवाह कर लेते हैं। पहली पत्नी के बाँझ (sterile) निकल जाने पर लोग दूसरा, तीसरा और चौथा या अधिक विवाह करते पाए गए हैं। कई बार तो स्वयं बाँझ स्त्रियाँ अपने पति को खानदान का नाम चलाने के लिए दूसरा विवाह करने के लिए प्रेरित करती हैं। बहुभार्यता का अंतिम कारण पुरुषों तथा स्त्रियों के अनुपात में असमता का होना है। जब पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक होती है तो बहुभार्यता सामाजिक अनिवार्यता हो जाती है। किन्तु शायद ही संसार के किसी समाज में स्त्रियों और पुरुषों के अनुपात में इतनी विषमता हो। अधिकांशतः बहुभार्यता ऐसे समाजों में प्रचलित है जहाँ पुरुषों तथा स्त्रियों की जनसंख्या लगभग समान है। अतएव बहुभार्यता के आर्थिक और सामाजिक कारण ही प्रमुख कहे जा सकते हैं।

मातृस्थानिक परिवारों में कई बार पुरुषों को अपनी सालियों से विवाह करना पड़ता है। इसे साली-बहुभार्यता (sororal polygyny) कहते हैं। अमरीका के क्रो और हिदत्सा कबीलों में यह विवाह प्रणाली बहुत प्रचलित है। बहु-

1. K. M. Kapadia, *op. cit.*, pp. 97-98.
2. *Ibid.*, Chap. V.

भावना तथा 'Levirate और Sororate' में अन्तर है। जब एक पुरुष अपने मृत भाई की सन्तानहीन विधवा से विवाह करता है तो इसे 'भाभी विवाह' (levirate) कहते हैं। इसके विपरीत, यदि सन्तानहीन विधुर अपनी साली से विवाह कर लेता है तो इसे साली विवाह (sororate) कहते हैं। रखैल स्त्रियों की प्रणाली (concubinage) भी साली बहुभार्यता से भिन्न है। एक पुरुष के विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अनेक रखैल स्त्रियाँ रह सकती हैं जिनके साथ सम्भोग वह मर्जी जाने में करता है। अनेक धनी मानी राजपूतों, पठानों और ब्राह्मणों आदि के कई रखैल रहती थीं। घर में रन्डियों का रखना इसी प्रणाली के अन्तर्गत कहा जा सकता है। रखैल स्त्रियों को द्वितीयक पत्नियाँ कहना उपयुक्त होगा। प्राथमिक पत्नियों के विपरीत इनका विवाह नहीं होता। किन्तु रखैल स्त्रियों की प्रणाली भी समाजस्वीकृत संस्था है।

बहुभार्यता के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि इस प्रणाली में स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति बहुत गिर जाती है। दूसरे, शुद्ध दाम्पत्य के बजाय काम-वासना को प्रोत्साहन मिलता है जिससे बहुधा वैवाहिक बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। पारिवारिक कलह, नैतिक पतन, आत्महत्याएं, सन्तति के पालन पोषण में भारी लापरवाही, विवाह विच्छेद, माता पिता तथा सन्तान में वैर विरोध आदि इसके कुख्यात दुष्परिणाम हैं। इससे हम यह न समझें कि सभी समाजों में बहुभार्यता से पारिवारिक कलह उपजती है। जहाँ बहुभार्यता धार्मिक और सामाजिक प्रथानुमोदित है वहाँ यह स्वस्थ पारिवारिक जीवन को सुदृढ़ करती पाई जाती है।[1]

संसार के सभी सभ्य देशों ने धीरे धीरे इस प्रणाली को अवैध घोषित कर दिया है। बहुभार्यता का सबसे प्रबल शत्रु स्त्री स्वातन्त्र्य आन्दोलन तथा स्त्रियों के आर्थिक स्वावलम्बन ने किया है। अतएव, आजकल सभी सभ्य समाजों में बहुभार्यता केवल नाम मात्र को शेष रह गई है। भारतीय संसद ने सन् १९५५ ई० में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित कर हिन्दुओं में इस प्रणाली को गैर-कानूनी घोषित कर दिया है। मुसलमानों में अब भी चार पत्नियाँ तक रखना कानूनन जायज है।

सभ्य समाजों में अब एकविवाह जिसमें कोई भी स्त्री या पुरुष अपने जीवन साथी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता, लगभग सामान्य प्रचलन हो गया है। यह सभ्य और सबसे आदर्श विवाह माना जाता रहा है।

एकविवाह प्रणाली (Monogamy)

सभी वर्तमान समाजों में एकविवाह प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित रूप है। जहाँ बहुभार्यता और बहुपतित्व स्वीकृत है वहाँ भी साथ साथ एकविवाह प्रणाली का

1 A. W. Green, *Sociology*, p. 352

यावहारिक दृष्टिकोण से सवश्रेष्ठ समझते ह। प्रथा, निधनता एव जीवन साथियो के एक से अधिक सख्या म न मिलने के कारण लगभग सभी समाजा न इस प्रणाली को आदश एव व्यावहारिक माना है। यूरोपवासी अपने एकविवाही परिवार का विकास प्राचीन रोम-यूनान के उस एकविवाही परिवार से बताते हैं जिसमे पुरुषो की शक्तिशाली प्रबलता थी। स्वय चीन भारत जापान हिंदेशिया, बर्मा के एक विवाह पितृप्रधान परिवार म पुरुषो की प्रबलता रही है। इस प्रणाली मे सम्पत्ति का स्वामित्व और धार्मिक सत्ता पिता या पति म केंद्रित होती थी। इसलिए पितृ निष्ठा एव भक्ति इस व्यवस्था के अनिवाय लक्षण थे। उन्हे सर्वोच्च महत्वपूण गुण अथवा सदाचार माना जाता था। इस व्यवस्था म बहुत अधिक स्थिरता पितृत्व की निश्चितता और सम्पत्ति के अधिकार की सबल भावना स्वाभाविक थे। यहाँ पुरुष को धार्मिक सत्ता और अबाध आर्थिक अधिकार प्राप्त थ किन्तु स्त्रियो की सामाजिक स्थिति निश्चित ही नीची थी। पुरुष की छत्रछाया म रहना उनके लिए अनिवाय समझा जाता था। स्त्री को पुत्री, स्त्री और माता तीनो भूमिकाओ म पुरुष (पिता पति पुत्र) की रक्षा अनिवाय थी। उन्हे जीवन म किसी काय के करने की स्वतन्त्रता नही थी। पिता को अपनी इच्छानुसार पुत्रियो का विवाह करने का अधिकार था। पत्नी के लिए पति ही आराध्य देव था। पातिव्रत ही उसका आभूषण था। स्त्री द्वारा पर पुरुष सभोग अधार्मिक, अनैतिक और सबसे घृणित आचरण था। पत्नी का यह आचरण पति की समस्त मर्यादा और प्रतिष्ठा को नष्ट कर देता था। अतएव पत्नी का इस अभियोग म क्रूरतम दण्ड दिया जा सकता था। बहुधा पर-पुरुष सम्भोग (व्यभिचार) एक कानूनी अपराध माना जाता था। किन्तु मजे की बात यह है कि इस एकविवाही पुरुष प्रधान व्यवस्था म पुरुष को पत्नीव्रत भग करने (परस्त्री गमन) के लिए व्यभिचारी नही ठहराया जाता था। परिवार और सन्तान का नामकरण पुरुष (पितामह) के आधार पर होता था। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी पुरुष हो सकता था।

आधुनिक समाजो के एकविवाह पितृप्रधान परिवारो को उपरोक्त प्रणाली का वशज कहा जा सकता है किन्तु अब उस प्रणाली म अनेक सशोधन हो गए है। अब तो परिवार म स्त्री और पुरुषो को समता के अधिकार प्राप्त हो रहे ह। स्त्रियो की सामाजिक प्रस्थिति पर्याप्त उन्नत हो गई है। उन्हे परिवार म भी पुरुषो के बराबर या निकट-बराबर की प्रस्थिति प्राप्त होने लगी है। पितृ सत्तात्मक परिवार के विकास के वणन म हम इस तथ्य की विस्तृत विवेचना करेंगे।

विवाह सम्बन्धी नियम एव प्रतिबन्ध

जीवन साथी का चुनाव

आदिम एव कृषिप्रधान अथवा आर्थिक दृष्टि से पिछडे देशो म विवाह बन्धन म बन्धने वाले वर और वधू को अपने जीवन साथी के चुनने म प्राय नही के बराबर

स्वतन्त्रता है। अपने पुत्र-पुत्रियों के जीवन साथी की तलाश करना माता पिता का कर्तव्य और दायित्व है। किन्तु यूरोप, रूस और अमरीका के अति औद्योगिक और सभ्य समाजों में साधारणतया तरुणों को जीवन साथी के चुनाव में व्यक्तिगत रुचि और स्वतन्त्रता के अवसर उपलब्ध हैं। किन्तु कौन किसका जीवन साथी हो सकता है या नहीं इस विषय पर सभी समाजों में अनेक जटिल नियम (स्वीकारात्मक और निषेधात्मक) विकसित हो गए हैं। सभी लोग निकट के रुधिर सम्बन्धियों में विवाह करने पर निषेध लगाते हैं। इसी प्रकार अपने कबीले, प्रजाति, जाति एवं सामाजिक वर्ग के भीतर विवाह करना (जीवन साथी प्राप्त करना) सर्वव्यापी प्रथा है। निकटस्थ रुधिर सम्बन्धियों में विवाह न करने पर बने हुए नियमों को बहिर्विवाह और स्वजाति, स्ववर्ग आदि के भीतर विवाह करने के नियमों को अन्तर्विवाह कहते हैं।

बहिर्विवाह—माता पिता की पुत्र-पुत्रियों में तथा भाई बहिनों का परस्पर विवाह सदैव से सर्वत्र निषिद्ध रहा है। किन्तु प्राचीन मिस्र के राजघरानों (Tolemies royal households), हवाई द्वीप वासियों तथा पेरू के इन्कास लोगों (Incas) में भाई-बहिन के परस्पर विवाह होने के साक्ष्य मिले हैं। मिस्र के राजघरानों में इस प्रकार के विवाह सम्बन्धों का उद्देश्य सम्भवतः शाही रुधिर की शुद्धता, शाही परिवार की रक्षा एवं राज्य की सुरक्षा रहे होंगे। माता पिता का पुत्र-पुत्रियों और भाई बहिनों का परस्पर विवाह अथवा सहवास सर्वत्र अनैतिक और अप्राकृतिक माना जाता रहा है। इस निषेध को अगम्यागमन निषेध कहते हैं। यह निषेध बहुधा चाचा भतीजियों तथा प्रथम श्रेणी के भाई-बहिनों (चचेरे भाई बहिनों) (first cousins) पर भी लागू होता है। ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहिनों में भी परस्पर विवाह सम्बन्ध अधिकतर वर्जित बताया जाता है। इन सम्बन्धियों का परस्पर विवाह सर्वत्र निषिद्ध नहीं है किन्तु चचेरे भाई बहिनों का तो सार्वभौमिक निषेध है। भारत के हिन्दुओं में सपिण्ड विवाह (marriage of cognates) निषिद्ध है जिसमें पिता के पक्ष से सात तथा माता के पक्ष से पाँच पीढ़ियों को सपिण्डी माना जाता है। हिन्दुओं में सगोत्र विवाह भी निषिद्ध है। इस जाति में एक प्रवर का पाठ करने वाले युवक युवतियों में भी परस्पर विवाह निषिद्ध है। इस प्रकार हिन्दुओं में सगोत्र, सपिण्ड एवं सप्रवर विवाह बहिर्विवाह के अन्तर्गत माने जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के विवाह कानूनन जायज स्वीकार कर लिए गए हैं। मुसलमानों में सगे चचेरे भाई-बहिनों का परस्पर विवाह परम्परा से तथा कानूनन जायज है।[1] अन्य आधुनिक समाजों में समानान्तर भाई-बहिनों (parallel cousins) का परस्पर विवाह निषिद्ध है किन्तु (cross cousins) का विवाह प्रोत्साहित किया जाता है।

---

1 K. M. Kapadia *Marriage and Family in India* pp 124-137

बहिर्विवाह की उत्पत्ति पर विचारको ने कई सिद्धात प्रतिपादित किए हैं। वेस्टरमार्क के अनुसार निकट रुधिर सम्बन्धियो म परस्पर सभोग करने के विरुद्ध सशक्त अरुचि अथवा अनिच्छा की धनात्मक भावना (strong aversion or positive feeling of aversion) होती है। अत वे परस्पर विवाह नही करना चाहते। मनुष्य की यही भावना सस्कृतियो म एक निपध बन गई है।[1] वतमान समाजो म अधिकाश स्त्री-पुरुष इस भावना से परिपूर्ण होते हैं परन्तु यह उनके समाजीकरण (सस्कारो) का परिणाम हो सकती है। अतएव वेस्टरमार्क का सिद्धात बहिर्विवाह की उत्पत्ति की सतोषजनक व्याख्या नही कर पाता। सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार माता पिता की पुत्र-पुत्री से सयोग करने की इच्छा सवव्यापी है। प्रारम्भ म पुत्रो ने अपने पिता की स्त्रियो से सभोग करने की ईर्ष्या से प्रेरित होकर उसे मार डाला किन्तु तदनन्तर उन्हें यह कृत्य नितान्त घृणित लगा। उन्हें ग्लानि हुई और वे प्रायश्चित्त करने के लिए अपनी माताओ से भविष्य म सभोग न करने की कसम खा बठे। इस समय से निकटस्थ रुधिर सम्बन्धियो म परस्पर विवाह निषिद्ध माना जाने लगा।[2] मनोविश्लेपक फ्रायड का यह सिद्धात भी अवैज्ञानिक एव असत्य है।

हमारे विचार से बहिर्विवाह सम्बन्धी समस्त नियम शन शन विकसित हुए हैं। घरानो के लोगो म यौन प्रतियोगिता सामाजिक दृष्टि से अस्वस्थ है। अत प्रारम्भ से ही मनुष्य ने निकट रुधिर सम्बन्धियो म परस्पर सभोग अवाछित घोषित कर दिया होगा। कालान्तर म अपने अगम्यगमन निपधो को अस्वाभाविक एव अनतिक स्वीकार कर लिया गया। सभी समाज इस निपध की अवहेलना मानव प्रकृति के प्रतिकूल मानने लगे। अतएव, बहिर्विवाह की उत्पत्ति और विकास मनुष्य के सामाजिक आचरण सम्बन्धी अनुशासन या सदाचार के प्रारम्भिक नियमो से हुए हैं। हिन्दू समाज म गोत्र, पिण्ड और प्रवर बहिर्विवाह का प्रचलन सामाजिक सदाचार का बडा सुव्यवस्थित आदर्श रहा है, हमारे देश म बहुधा एक गाँव के लडके लडकियो म परस्पर विवाह प्रथा प्रतिकूल माने जाते हैं। शायद प्रादेशिक बहिर्विवाह का यह चरम उदाहरण है।

अन्तर्विवाह—ससार के सभी लोगो मे अपने वग जाति, प्रजाति अथवा धम वाले लोगो से विवाह सम्बन्ध करना प्रचलित है। सास्कृतिक अनन्यता और भौगोलिक एकान्तता अन्तर्विवाह के दो प्रमुख कारण हैं। हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक जाति या समूह म जातिकेन्द्रीयत्व (ethnocentrism) की भावना होती है इसलिये लोग अपने समूह से बाहर विवाह करना अनुचित समझते हैं। अत प्रजा

1 Edward Westermarck *A Short History of Human Marriage* Macmillan New York (1927)
2. Piddington *Social Anthropology* (1950) pp 107 216 and S Freud *Totem and Taboo*

तीय विवाहों का सबंध निरुत्साहित किया जाता है। भारत में हिन्दू मुसलमान या ईसाई धर्मावलम्बियों से विवाह करते ही अहिन्दू हो जाता है। हिन्दू पुरुष समाज एवं धर्म से बहिष्कृत होने से बच जाता है यदि वह नवविवाहिता के साथ भोजन-पान नहीं करता। किन्तु आधुनिक भारत में अन्तर-धार्मिक अथवा अन्तर-साम्प्रदायिक विवाहों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। पुरानी धार्मिक कट्टरता धीरे धीरे शिथिल पड़ती जा रही है। समस्त हिन्दू जातियाँ अन्त विवाही समूह हैं। अन्तर्जातीय विवाहों को शास्त्रीय परम्परा के प्रतिकूल माना जाता है। किन्तु अब इस प्रकार के विवाहों की संख्या भी बढ़ रही है।

प्राचीन भारत में सम्पूर्ण समाज ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों में विभक्त था। वैदिक काल में प्रथम तीन वर्णों में परस्पर विवाह समाजानुमोदित थे। ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय तथा वैश्य की लड़कियों तथा क्षत्रिय पुरुष वैश्य युवती से विवाह कर सकता था। इन्हें अनुलोम विवाह कहते थे किन्तु वैश्य पुरुष का क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण स्त्री से विवाह करना अमान्य था। इसे प्रतिलोम विवाह कहते थे। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान 'मातृगोत्री' मानी जाती थी और वह साधारणतया अपनी माता या पिता के वर्ण का अंग नहीं मानी जाती थी। भीष्म और मनु के जाति उत्पत्ति के सिद्धान्तों का यही आधार है।

समस्त विश्व में वर्ग अन्त विवाह प्रचलित है किन्तु आधुनिक सभ्यता की उन्नति में यह नियम भी उत्तरोत्तर शिथिल पड़ता जा रहा है। रूस और अमरीका में विवाह सम्बन्धों में आर्थिक एवं सामाजिक प्रस्थिति के विचार का महत्व नहीं के बराबर हो गया है। किन्तु बहुधा लोग अपनी कन्याओं का विवाह उच्च कुल या घराने (आर्थिक या सामाजिक प्रस्थिति के विचार से) के युवकों से करना स्पृहणीय समझते हैं। भारत का कुलीन विवाह (hypergamy) इसी से सम्बन्धित एक रूढ़ नियम है।

विवाह की रीतियाँ

सभ्य समाजों में विवाह की एक ही रीति सर्वाधिक प्रचलित है। विवाह एक समस्तरीय (अथवा धर्मनिरपेक्ष) सामाजिक संस्कार के रूप में सम्पन्न होता है। विवाह निश्चित हो जाने पर मुख्य संस्कार (पाणिग्रहण) अथवा वर-वधू का सगे-सम्बन्धियों और मित्रों के समक्ष एक दूसरे को वरण करना बड़ी धूम धाम से मनाया जाता है जिससे विवाह को सार्वजनिक अनुमोदन मिल जाय। हिन्दू विधायकों ने पत्नी प्राप्त करने के आठ साधन बताये थे जिनमें से चार धार्म्य (धर्मानुसार) और चार अधार्म्य (धर्म के प्रतिकूल) माने गये थे। पराश्रित सभ्यता में राक्षस (बल) और पैशाच निकृष्टतम थे क्योंकि पहले में स्त्री का अपहरण और दूसरे में उसका पर दुरावस्था में प्रलोभन का प्रयास किया जाता था। विभिन्न महाद्वीपों में विद्यमान एवं

अन्य किसी प्रकार ■ उन्मत्त स्त्री के साथ सम्भोग करना पशाचिक कृत्य कहा जाता था। ऐसे बलात्कार को समाज मान्यता इसलिए देता था कि स्त्री का कौमार्य प्रतिष्ठित रखा जाये। इन ना रीतियों का विवाह का उचित ढंग कभी नहीं कहा जा सकता। गान्धर्व विवाह में युवक और युवती को स्वतन्त्र वरण का अवसर था। इस प्रेम विवाह भी कह सकते हैं। इसमें बहुधा मुख्य विवाह संस्कार के विधिवत् सम्पन्न होने के पहले ही प्रेमियों का यौन सम्बन्ध हो जाता था। बाद में इसे उचित विवाह संस्कार द्वारा धर्मसम्मत कर दिया जाता था। काम सूत्र में इस रीति का आदर्श कहा गया है। स्वयम्वर से युवक और युवतियों (केवल राजाओं की सन्तान) को स्वतन्त्र वरण का अवसर मिलता था। किन्तु कई बार स्वयम्वर के अवसर पर एकत्र हुए राजकुमारों में युद्ध छिड़ जाता था और युद्ध करते-करते उनमें ■ कोई दल राजकन्या का अपहरण करने में सफल हो जाता था। संयोगिता' स्वयम्वर में पृथ्वीराज ने जयचन्द की इच्छा के विरुद्ध संयोगिता का अपहरण कर लिया था। सीता और द्रौपदी का पुरुषोत्तम रामचन्द्र और अर्जुन से विवाह स्वयम्वर द्वारा ही हुआ था। स्वयम्वर में राजकन्या उसी राजकुमार को वर सकती थी जो किसी निर्धारित कार्य को सफलता से सम्पन्न करने। इससे यह प्रकट होता है कि स्वयम्वर से सदैव राजकन्या को स्वतन्त्र वरण का अवसर नहीं मिलता था। अवांछित विवाहों में से तीसरा आसुर था जिसमें वधू के माता पिता को वर या उनके माता पिता वधू मूल्य चुका कर विवाह करते थे। यह एक प्रकार का आर्थिक अनुबन्ध या विनिमय-सा था।

विवाह के धर्म्य या वांछित ढंगों में ब्राह्म दैव आर्ष और प्रजापत्य शामिल किये जाते थे। इन सबमें माता पिता अपनी कन्या वर को दान (भेंट) स्वरूप देते थे। कन्या को वस्त्रालंकार आदि से सुसज्जित करके धन धान्य के साथ विद्वान शीलवान वर को आमन्त्रित करके कन्यादान करना ब्राह्म विवाह है। ब्राह्म विवाह ब्राह्मण वर्ण के लिए अनुमोदित था। क्षत्रियों के लिये प्रजापत्य विवाह का उल्लेख मिलता है। इस विवाह की पद्धति या ढंग ठीक ब्राह्म के समान थे। शायद इसलिये ही वशिष्ठ और आपस्तम्ब दो प्रारम्भिक हिन्दू शास्त्रकार प्रजापत्य का कोई उल्लेख नहीं करते। मनु ने वांछित विवाहों की श्रेणी में ब्राह्म दैव आर्ष के अतिरिक्त प्रजापत्य का भी उल्लेख किया है। दैव विवाह में किसी ऐसे कुमार यज्ञकर्त्ता को कन्यादान किया जाता था जो यज्ञशाला में पुरोहित का कार्य उचित ढंग से पूरा करे। यह विवाह बौद्धिक अभी आर्थिक स्वतन्त्रता एवं गौरवपूर्ण सामाजिक प्रस्थिति का सूचक था। आर्ष विवाह में गृहस्थाश्रम में प्रवेश के इच्छुक किसी योग्य ऋषि को कन्यादान किया जाता था। ऋषि इस सम्बन्ध में वचन की तत्परता दिखाने के निमित्त कन्या के माता पिता को एक गाय और बैल अथवा दो जोड़े बैल देता था।

मनु ने ब्राह्मणों के लिये चारों धर्म्य रीतियाँ तथा क्षत्रियों के लिए गान्धर्व और राक्षस और वैश्यों तथा शूद्रों के लिए आसुर उचित बताया था। किन्तु समस्त

प्राचीन साहित्य मे उल्लेख है कि धाम्य विवाह रीतियो का प्रचलन सभी वर्णों म साधारण बात थी। अप्राम्य विवाह रीतियाँ अवांछित थी और इसलिए असाधारण घटनाएँ मात्र। आजकल हिंदुओ म ब्राह्म (या प्राजापत्य) तथा आसुर विवाह प्रचलित है।[1] अन्य सभ्य समाजो की विवाह रीतियो म ब्राह्म और प्राजापत्य बिलकुल मिलते-जुलते हैं। किन्तु सभी सभ्य तथा आदिम समाजो म अपहरण प्रलोभन से विवाह होने की घटनाएं भी स्फुट रूप से होती रहती हैं। प्रेम विवाह अथवा स्वतन्त्र वरण ढग का प्रसार उत्तरोत्तर बढ रहा है। पश्चिमी देशो म इसे ही रोमास विवाह कहते हैं।

विवाह की आयु

एशिया और अफ्रीका के अनेक भागो म बच्चो का विवाह किसी भी आयु म हो सकता है। विवाह की आयु पर किसी प्रकार का वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। कुछ देशो म लडकियाँ १२ वर्ष और लडके १४ वर्ष की आयु के बाद कानूनन विवाह कर सकते हैं। वयस्क होने के पूर्व विवाह को बाल विवाह कहते हैं। भारत म बाल विवाह बहुत अधिक प्रचलित है और कोई वर्ण या जाति इससे दूर होने का गर्व नहीं कर सकती। मुसलमानो म भी बाल विवाहो की सख्या कम नहीं है। हमारे देश म कुछ बाल विवाह तो शिशुओ के बीच म होते हैं। ६ मास से लेकर एक वर्ष की आयु के शिशुओ का विवाह कैसा क्रूर मजाक है। मध्ययुगीन भारत म (१००० से १७०० ई०) बाल विवाह बहुत अधिक प्रचलित हुआ। कन्या का रजदर्शन प्रारम्भ होने के पूर्व विवाह कर देना धार्मिक माना जाने लगा। १९ वीं शताब्दी के धार्मिक-सामाजिक सुधार आन्दोलनो म बाल विवाह को रोकने का प्रचार हुआ। अन्तत १९२९ ई० म केन्द्रीय विधानसभा ने बाल विवाह प्रतिरोध कानून पारित किया। इसमे १५ वर्ष से नीची आयु की कन्या तथा १८ वर्ष से कम के लडके के विवाह को निषिद्ध एव सम्पन्न करना एव उसमे सहायता देना एक दण्डनीय कृत्य (offence) घोषित है किन्तु ऐसे विवाह के सम्पन्न हो जाने पर उसे अवैध घोषित नहीं किया जाता। भारत की कुछ व्यापारी तथा तन्त्र मन्त्र म विश्वास करने वाली छोटी जातियो म बच्चो के जन्म के पूर्व ही विवाह निश्चित हो जाता है। भारत का क्या कहना। यह आश्चर्यों का घनात्मक देता है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ५ से १४ वर्ष की आयु के लडको म ६.२% और लडकियो म १४.६% विवाहित थे।

भारत के पढ़े लिखे और सुसस्कृत वर्गों के लडके-लडकी का विवाह वयस्क हो जाने पर ही करते हैं। भारतीय दण्डसहिता के अनुसार स्वीकृति की आयु (age of consent) १८ वर्ष की मानी गई है। पर लडकी का विवाह १८ वर्ष तथा लडके का २१ वर्ष के बाद करना ही उचित समझा जाता है। कुछ सास्कृतिक एव धार्मिक

1 Govt of India *Social Legislation—Its Role in Social Welfare* Publications Division New Delhi (1956) P 40

आवश्यकताओं के कारण इन वर्गों में विवाह की आयु १८ वर्ष के ऊपर ही होने की ओर प्रवृत्त है। सन् १९५५ के हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार विवाह के लिये एक आवश्यक शर्त वर और वधू की आयु क्रमश १८ और १५ वर्ष स्वीकार की गई है। किन्तु अब भी इस न्यूनतम आयु से नीचे के विवाहों को अवैध नहीं ठहराया जायगा। वे केवल कानूनन दण्डनीय होंगे।

अनेक यूरोपीय देशों में विवाह की निम्नतम आयु (लडकों तथा लडकियों दोनों के लिये) कानून द्वारा निर्धारित है। बालविया आयरलण्ड में लडकी का १२ वर्ष से पूर्व विवाह अवैध है। चेकोस्लोवेकिया, डेनमार्क और इथीयोपिया में १८ वर्ष से पूर्व कन्या का विवाह अवैध है। लडके की निम्नतम विवाह आयु भी भिन्न भिन्न है चिली स्पेन एवं ब्रह्मा में यह १४ वर्ष तथा पश्चिमी जर्मनी में २१ वर्ष है। इस इंगलण्ड फ्रांस और अमरीका में विवाह की न्यूनतम आयु वयस्कता की आयु है। अन्य देशों में जहाँ विवाह की निम्नतम आयु कानूनन निश्चित नहीं है, लोग किशोरावस्था के पश्चात् ही साधारणतया विवाह करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रतिवेदन में जो स्त्रियों की प्रस्थिति के आयोग के बारहवें सम्मेलन को प्रस्तुत किया जायगा, विवाह की आयु के बारे में उपरोक्त विभिन्नताओं का उल्लेख है। इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि स्त्रियों की प्रस्थिति को उच्च करने के लिए यह आवश्यक है कि बाल विवाहों को रोका जाये और विवाह के वैध ठहराने के लिये सम्मति की आयु (age of consent by a woman to enter into sex relationship) को एक पूर्व दशा घोषित कर दिया जाय।[1]

बाल विवाह अप्राकृतिक और समाज विरोधी है इसलिये इस पातक को अवैध घोषित कर देना नैतिक और समाज हितकारी है। बाल्यावस्था में सम्पन्न विवाह अपरिपक्व कहे जा सकते हैं। इस कारण वे वर वधू की जैविक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक किन्हीं भी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते। उलटे उनसे दम्पति का स्वास्थ्य बिगडता है और सन्तान कमजोर होती है। अनमेल बाल विवाह बडे खतरनाक होते हैं। छोटी उम्र के विवाह में लडको और लडकी पर अवांछनीय मानसिक और नैतिक प्रभाव पडते हैं। उनसे व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है। बाल विवाह के अभिशाप को अनेक दम्पति जीवनपर्यन्त भोगते है और उनकी निर्बल सन्तान अपने भाग्य को कोसा करती है। बाल विधवाओं की अधिक संख्या समाज की इस मूर्खता का विडम्बनास्पद साक्ष्य है।

---

1 The U N Report entitled Consent to Marriage and Age of Marriage to be presented to Twelfth Session of the Commission on the Status of Women to be held in Geneva in March—April 1958 (Hindustan Times Sunday Magazine Feb 23 1958)

अन्त म एक बात स्मरण रखने की यह है कि मनुष्य समाज मे विवाह की उच्चतम आयु कानूनन कभी निर्धारित नही की जाती। स्त्री और पुरुष वृद्ध होने पर भी प्रथम या तदनन्तर विवाह करने म नहीं सकुचाते।

विवाह विच्छेद और पुर्नाविवाह

यद्यपि सिद्धान्तत कोई भी समाज विवाह विच्छेद (divorce) को मान्यता नही देता फिर भी सभी म विवाह विच्छेद (तलाक) कानूनन स्वीकृत है और वास्त विक जीवन म होते हैं। सवत्र आदश विवाह का उद्देश्य पुरुष और स्त्री को आजीवन एक सूत्र म बाँधना है। हिन्दू विवाह एक पवित्र सस्कार है अतएव इसके भग होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पति पत्नी आजीवन एक दूसरे म सम्बद्ध हैं और पति की मृत्यु के बाद भी पत्नी उससे विलग नही मानी जाती। वह उसकी धमपत्नी है। इस लिए साधारणतया हिन्दू विधवा पुर्नाविवाह करने स वर्जित थी। किन्तु हिन्दू विधवा पुर्नाविवाह अधिनियम १८५६ ई० ने विधवा विवाह वध घोषित कर दिया है। इस कानून के पूव भी शूद्रा म विधवा पुर्नाविवाह प्रचलित था। वह केवल द्विज वर्गों म धार्मिक और इसलिए वर्ज्य था।

आदिम लोगा म विवाह विच्छेद बहुधा सरल है। पति पत्नी विच्छेद चाहती है तो वह पति म यह इच्छा प्रकट कर देती है अथवा कबीले के बड़े-बूढ़ा को अपने इरादे की सूचना देकर अपनी सन्तान के साथ माता पिता के घर चली जाती है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों तथा अण्डमन किन्तु श्रीलंका के वेदा (Veddahs) आदिवासियों म विवाह सम्बन्ध भंग नही किया जा सकता।

उन्नत सभ्यताओं म (हिन्दू को मिलाकर) बहुधा विवाह विच्छेद अपेक्षाकृत कठिन है और सम्भवत इसलिए यहाँ अवध सन्तान अधिक गम्भीर समस्या है। जहाँ विवाह एक पवित्र सस्कार है अथवा एक सामाजिक अनुबन्ध है वहाँ इसका विच्छेद तभी मान्य होता है जब वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति म असफल हो। रोमन कानून म विवाह परिवारों के बीच एक निजी अनुबन्ध मात्र था। इसलिए प्रारम्भिक ईसाई समाजों म भी विवाह एक नागरिक अनुबन्ध था। धम (गिरजा) उसमे हस्तक्षेप नही करता था। किन्तु १६ वी शताब्दी म विवाह पर धम ने एकाधिकार-सा कर लिया। विवाह को एक पवित्र सस्कार कहा गया और इस कारण वह अभंग्य था। फिर भी आज प्राय ईसाई समाज म विवाह एक नागरिक अनुबन्ध होता जा रहा है। ईसाई देशों म विवाह के पवित्र सस्कारीय स्वभाव का उन्मूलन नहीं हुआ है। पारस्परिक सम्मति म समाप्त हो सके एसा नागरिक अनुबन्ध है जो स्थायी होता की पारस्परिक सम्मति स समाप्त नहीं किया जा सकता। प्रथा और चलन तथा कानून के अनुसार अब तो इस नागरिक अनुबन्ध को नैतिक मान्यता प्राप्त है जो अन्य प्रकार के अनुबन्धों से कहीं अधिक दृढ़ म कठोर है। टीक यही स्थिति जापान चीन और रूस के तथा अन्य उन्नत

एशियाई और यूरोपीय समाजो म विवाह विच्छेद के बारे म है। विवाह को नतिक अनुबंध बनाया जा रहा है जो केवल पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति स समाप्त नही हो सकता। विवाह विच्छेद वध है किंतु कुछ विशिष्ट आधारो पर ही करने की अनुमति है।

दम्पत्ति म से पति या पत्नी कोइ भी एक पक्ष मर जाए तो भी विवाह भग हो जाता है। कइ बार पति या पत्नी अपने दूसरे जीवन साथी का परित्याग (desertion) कर देते ह। इन सभी स्थितियो म पुनर्विवाह व्यक्ति की इच्छा पर निभर है। इसके लिए उसे कोई कानून विवश नही करता। विधुर पुनर्विवाह सावभौमिक है। विधवा-पुनर्विवाह पर अनेक नतिक और सामाजिक प्रतिबन्ध लगे रहते ह। किन्तु विधवा-पुनर्विवाह सवत्र कानूनन जायज है। प्राय देखा जाता है कि युवा तथा सन्तानहीन विधवाएँ पुनर्विवाह की इच्छुक होती ह। बाल अथवा युवा विधवाओ का पुनर्विवाह अब सामाजिक और नतिक दृष्टि स आवश्यक माना जाने लगा है। परन्तु फिर भी इन विधवाओ पर पुनर्विवाह के लिए कोई वधानिक विवशता कही प्रचलित नही है।

सती प्रथा — भारत म विधवा पुनर्विवाह को शास्त्रो म अधार्मिक कहा गया। इहलोक और परलोक दोनो म पति पत्नी को विवाह आत्मिक एकता म बाँधता है। स्त्री के जीवन का चरम उद्देश्य अपने पतिदेव की आराधना और सेवा है। अत विधवा का जीवन निस्सार एव दु खमय है। इस तर्क क आधार पर सती प्रथा को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई थी। सम्भ्रात घराने की विधवाए पति क शव के साथ ही स्वेच्छा म जल जाती थी। ऐसा करने पर उनका पतिव्रत धम सफल समझा जाता था। कालान्तर म सती होने की अनिच्छा प्रकट करने पर भी विधवाओ को पति की चिता म जबरदस्ती ढकेल दिया जाने लगा। भयाक्रान्त, रोती चिल्लाती विधवा की असहायता म उस पर निदय अत्याचार कुछ विचारशील सहृदय नर-नारियो को बबर और अमानुषिक कृत्य प्रतीत हुआ। अन्तत सन १८२९ म राजा राममोहन राय के सद्प्रयत्नो से सती को बगाल सरकार न अप्राकृतिक मृत्यु की श्रेणी म रख कर एक अपराध घोषित कर दिया। आज समस्त भारत म सती अवध है और सती होने वाली स्त्री तथा सहायता देने वाले सभी व्यक्तियो को अपराधी ठहराया जाता है। अब सती होने की इक्का दुक्का घटनाएँ ही सुनने मे आती हैं।

परिवार के प्रकार

उपरोक्त विवेचन म हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि विवाह के विभिन्न पहलुओ म कितनी सांस्कृतिक अनेकरूपता है। विवाह के आधार पर परिवार क दो भेद हो सकते हैं एक विवाही परिवार और बहु विवाही (बहुभार्या या बहुपति)

परिवार। आकार के आधार पर भी दो प्रकार के परिवार मिलते हैं। विवाहावद्ध[1] (conjugal) परिवार और रुधिर-सम्बन्धी (consanguinous) परिवार। पहले का आकार बड़ा छोटा होता है। दम्पति और उनकी सन्तान इसका केन्द्र है। दूसरे प्रकार के परिवार का केन्द्र निकटस्थ नातेदार हैं। इसे संयुक्त परिवार कहा जाता है। आधुनिक सभ्यताओं में संयुक्त परिवार टूट गए हैं और विवाहावद्ध या वैयक्तिक परिवार बन गए हैं।

परिवार के सदस्यों में सत्ता के मामले में स्त्री (माता) या पुरुष (पिता) की प्रधानता हो सकती है। जहाँ परिवार में माता (या मामा) की सत्ता सबसे प्रबल है उसे मातृप्रधान परिवार और इसके विपरीत जहाँ पिता (या घर के सबसे बूढ़े पुरुष) को सारी सत्ता प्राप्त है उसे पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। यद्यपि अर्वाचीन औद्योगिक समाजों में एकात्मक समानता परिवारों का उदय तीव्र गति से हो रहा है फिर भी कृषिप्रधान और प्राचीन समाजों में मातृप्रधान या पितृसत्तात्मक परिवार ही साधारणतया विद्यमान रहे हैं।

मातृप्रधान परिवार

मैकाइवर और पेज के अनुसार मातृसत्तात्मक और मातृप्रधान परिवार एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। किसी भी मानव समाज में मातृसत्तात्मक परिवार कभी भी प्रचलित नहीं था। जो अमरीकी इरोक्वीस (Iroquois) एस्कीमो कुछ अफ्रीकी तथा एशियाई जन जातियाँ (भारत की गारो खासी नायर टोडा आदि) में स्त्रियों को परिवार में उच्च सत्ताधिकार प्राप्त रहे हैं किन्तु व्यावहारिक जीवन में सत्ता को पुरुष ही भोगते रहे हैं। अतएव ऐसे परिवारों को मातृप्रधान (मातृसत्तात्मक नहीं) कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। पितृप्रधान परिवारों में भी स्त्रियों को काफी ऊँचे अधिकार और सत्ता प्राप्त रह सकते हैं।

मातृप्रधान परिवार में स्त्रियों की प्रस्थिति सर्वोच्च होती है और सन्तान का नाम तथा उत्तराधिकार मातृपक्ष में ही संचरित होते हैं। इस प्रकार के परिवार के अधोलिखित मुख्य लक्षण हैं —

१ वंश का नाम मातृपक्ष से चलता है। इसे मातृवंशीय व्यवस्था कहते हैं।

२ बहुधा बच्चों का पालन पोषण माता के सम्बन्धियों के घर में होता है। पति को भी इसी घर में रहना पड़ता है। उसकी स्थिति यहाँ एक सम्मानित अतिथि से अधिक ऊँची नहीं होती। घर के मामलों में उसे केवल गौण स्थान प्राप्त होता है। स्वयं अपनी पत्नी के परिवार में इस व्यक्ति की प्रबल स्थिति होती है। इस व्यवस्था को मातृस्थानिक (matrilocal) कहते हैं।

1 इसे निकटस्थ परिवार (immediate family) भी कह सकते हैं।

३ परिवार मे सारी सत्ता पति को नही वरन् उसके साले (पत्नी के भाई) को प्राप्त होती है। पत्नी के भाई की अनुपस्थिति म किसी दूसरे पुरुष सम्बन्धी को यह स्थान प्राप्त होता है। मलयद्वीप के ग्रोहामा इडियस म पत्नी का भाई और लाबरोडर इडियस म उसका पिता सत्ताधारी होता है।

४ मातृप्रधान परिवार म नातेदारी समूह या रक्त सम्बन्धी परिवार सुदृढ होता है किन्तु विवाहबद्ध परिवार कम सयुक्त हो जाता है।

यह व्यवस्था साधारणतया उन्हीं जातियो म मिलती है जहाँ बाह्य विवाह के सिद्धान्त पर कबीला या जाति पृथक पृथक अन्त विवाही समूहो मे विभक्त हैं। मातृप्रधान कुटुम्ब दुनिया के बहुत से भागो म विद्यमान है। टोबरीयड (Tobriand) और मलयद्वीपो के वासियो दक्षिण भारत के मलाबार की आदिम जातियो आसाम की गारो एव खासी कबीलो के कुटुम्ब मातप्रधान हैं। ससार के सभ्य समाजो म मातप्रधान कुटुम्बो का सवथा अभाव है।

पितसत्तात्मक परिवार

अनेक प्राचीन सभ्यताओ म पितसत्तात्मक परिवार ही प्रधानतया प्रचलित था। राम यूनान सिन्धु घाटी फिलस्तीन मिस्र एव चीन की सभ्यताओ म यही व्यवस्था प्रचलित थी। हमारी वदिक सभ्यता म भी पितृप्रधान परिवार का प्रचलन था। इसाई सभ्यता (पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता) म भी पितसत्तात्मक परिवार प्रबल रहा है। पितसत्तात्मक परिवार की सुदृढता और व्यापक प्रचलन के प्रमुख कारण सम्पत्ति का विकास कृषि की उन्नति सत्ता का केन्द्रीयकरण और कार्यों का विशेषीकरण हैं। आधुनिक औद्योगिक सभ्य देशो म य सभी बातें उपस्थित हैं। इनका पितसत्तात्मक सिद्धान्त स सामजस्य है। इस सिद्धान्त की कार्यपरिणति से परिवार समाज की एक ठोस और घनिष्ठता स सगठित इकाई बन गया है। मातप्रधान व्यवस्था के अन्तगत समाज साधारणतया बाह्य विवाही समूहो म विभक्त होता है किन्तु पितृप्रधान व्यवस्था म पारिवारिक इकाइयो का ठास सगठन वहत् नातेदारी समूह म बन जाता है।

पितृप्रधान परिवार मे सिद्धातन सम्पूर्ण सत्ता पितृ पक्ष म सन्निहित होती है। कभी-कभी इस व्यवस्था का रूप सयुक्त परिवारो का होता है जसा हमारे देश म। सयुक्त परिवार म पिता के भाइयो के परिवार माता का कोई रिश्तेदार और पुत्रो के परिवार भी सम्मिलित रहते हैं। कई बार एस परिवार म पितृ-पक्ष की चार पाँच पीढ़ियाँ तक एक घर म निवास करती हैं। इस परिवार म विवाहिता पत्नी (या पत्नियाँ) के अतिरिक्त रखनी और उसकी सन्तान भी सम्मिलित होती है। यदि सयुक्त परिवार बहुत बडा होता है तो उसके वयक्तिक परिवार एव बड़े दालान के चारो तरफ रहते हैं। किन्तु उनकी एक ही रसोई, कुआँ मन्दिर होते हैं और उनकी

समस्त सम्पत्ति संयुक्त होती है। इस सम्पत्ति का स्वामी घर का सबसे वृद्ध पुरुष या पितामह होता है। स्टेट्समैन के एक समाचार के अनुसार बंगाल के एक ग्रामीण संयुक्त परिवार के सदस्यों की संख्या लगभग १२०० है जिनमें से ६०० तो सदा एक घर में साथ साथ रहते हैं।

सिद्धान्ततः सभी प्रकार की सत्ता और अधिकार पितामह को प्राप्त होते हैं। धार्मिक-संस्कारों, पूजा-पाठ और सामाजिक उत्सवों पर घर के मुखिया पुरुष को प्रधान भूमिका करनी पड़ती है। कुछ वर्षों पूर्व घर का मुखिया स्थानीय अधिकरण और राज्य का प्रतिनिधि माना जाता था। इस मुखिया को घर के अन्य सभी सदस्यों पर वस्तुतः अनिर्वाय बने रहना रहती है। उसका सम्मान और श्रद्धा करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। सभी को उसकी आज्ञा पालन करना पड़ती है। कुछ प्राचीन सभ्यताओं में पूर्वज-पूजा का प्रचलन इस बात का साक्ष्य है कि मरने के बाद इस मुखिया का इष्टदेव स्वीकार किया जाता था। रोमन समाज में प्रधान पुरुष को पुत्र और पुत्री की मृत्यु दण्ड का अधिकार भी प्राप्त था। प्राचीन फिलस्तीन में पिता अपनी पुत्री को दासी रूप में बेच सकता था।

इस परिवार में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की प्रस्थिति सदैव नीची होती है। स्त्री को कन्या पत्नी और माता तीनों भूमिकाओं में पुरुष के नियन्त्रण और संरक्षण में रहना पड़ता है। स्त्री को पुरुषों के अधीन रहना अनिवार्य है। उसे न तो सम्पत्ति में कोई अधिकार था और न ससुराल के मामलों में किसी प्रकार का अधिकार। पति और पत्नी में यौन-सम्बन्धों में स्त्री की अपेक्षा पुरुष को अत्यधिक स्वतन्त्रता थी। पति अन्य स्त्री के साथ सम्भोग कर सकता था और उसके लिए नतिकता का प्रश्न नहीं था। किन्तु पत्नी का परपुरुष साहचर्य (adultery) के लिए तलाक का कारण होती थी। विवाह भी पुरुष और स्त्री के अधिकारों में या अन्य नियम दण्ड दिया जाता था। विवाह भी पुरुष और स्त्री के अधिकारों में भेद को निर्दिष्ट करता था।

भारत के गाँवों में पितृसत्तात्मक परिवार का जो रूप आज प्रचलित है उसमें भी स्त्रियों की स्थिति कितनी नीची है। स्त्रियों को घरेलू चिड़ियाँ कहा जाता है। उन्हें घर के बाहर पर के नौकरों आदि में व पुरुषों के कठोर नियन्त्रण में रहती हैं। उन्हें विशेष अवसरों पर जाने की यदा-कदा अनुमति मिलती है। सार्वजनिक जीवन में उन्हें विशेष अवसरों पर पुरुषों के समक्ष में ही आने दिया जाता है। स्त्रियों को गृहस्थी की सत्ता में कठोर प्रतिबन्धों का अधिकार मिलता है। यद्यपि शिक्षित होना उनके लिए अनावश्यक कहा जाता है। स्त्री की नीची प्रस्थिति प्रतिष्ठा उस पर अनेक कठोर प्रतिबन्धों का परिणामस्वरूप परिष्कृत हुआ है। इससे व्यक्तित्व का पूरा विकास कुण्ठित हुआ तथा समाज को उनके योगदान का पूरा लाभ नहीं मिला। पितृसत्तात्मक परिवार में सत्ता और अधिकार के मद में स्वभावतः पुरुष दूर हो गया कि स्त्री और पुरुष जीवन

रथ के दो चक्र है। एक को भी निबल अथवा कम कुशल रखना जीवन की प्रगति म निश्चय वाधक होगा।

अर्वाचीन विश्व क अधिकाश आदिम समाजा और लगभग सभी अय समाजा म पितृसत्तात्मक परिवार प्रणाली विद्यमान है। कितु वह मध्ययुगीन (सामन्तीय) तथा १८वी और १९वी शताब्दी के पितृसत्तात्मक परिवार का सशोधित रूप है।

आधुनिक परिवार मे परिवतन

१८ वी शताब्दी के अन्तिम चरण म यूरोप म दो महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाएँ घटी। वे थी औद्योगिक क्राति और जनतत्रीकरण का प्रसार। इनके कारण समाज म अनेक तीव्र परिवतना का सूत्रपात हुआ अथवा उन्ह बल मिला। सामाजिक परिवतना का परिवार पर प्रभाव अवश्यम्भावी था। उस समय का परिवार पितृसत्तात्मक था जिसकी प्रधान विशेषताए निम्नलिखित थी

(१) परिवार वत्त का बडा आकार और अधिक सतान (२) एक उत्पादक इकाई, (३) पिता की सत्ता और शक्ति की भूमिका, (४) स्त्रियो का काय क्षेत्र केवल गृहस्थी तक सीमित, (५) विवाह सम्बन्धो का विच्छेद केवल मृत्यु होने पर हो सकता था, (६) परिवार एक बहुकायकारी सस्था (७) परिवार पर रूढि और धम का नियत्रण।

उपरोक्त पितृसत्तात्मक परिवार (परम्परात्मक) म पिछले १५० वर्षों म अनेक महत्त्वपूर्ण परिवतन हुए हैं।

जनतत्रीकरण व्यक्तिवादी विचारधारा एव बौद्धिकवाद का परिवार की सत्ता पर जो प्रभाव पडा उसस मुखिया-पुरुष की सत्ता और अधिकार धीरे धीरे कम होन लग। स्त्रियाँ पुरुषो की अधीनता स निकलने का प्रयत्न करने लगी। परिवार के अन्य सदस्य भी मुखिया की निरकुश सत्ता का विरोध करन लगे। बौद्धिकवाद तथा अन्य सास्कृतिक दशाओ के विकास स पितृसत्तात्मक व्यवस्था म प्रचलित मनोवृत्तियो और विशेषाधिकारो का नई परिस्थितियो स असामजस्य बढने लगा। धम और राजनीति की सत्तावादी रूढियाँ कमजोर पड रही थी। इस बात में कि परिवार एक ईश्वर निर्मित सस्था है लोगो को अब विश्वास नही रहा था। प्रम, भक्ति और पवित्रता शब्दो के अथ म परिवतन आ गया। स्त्रियो तथा घर के अन्य वयस्को को मत देने का अधिकार मिलने लगा। रोमान्स प्रेम को बहुत उच्च आदश समझा जान लगा। धीरे धीरे युवक युवतियो को अपना जीवन साथी चुनने म राय देन का अधिकार मिला। वे परिवार के मुखिया के शासन स क्रमश अधिक स्वतन्त्र होते गये। यत्र तत्र वे कुटुम्ब की परम्परा का उल्लघन भी कर देने थ। समता न्याय और स्वतन्त्रता की शक्तियो ने स्त्रियो तथा परिवार के अन्य सदस्यो को नई प्रस्थिति और भूमिका दी।

इन सांस्कृतिक परिवर्तनों को आर्थिक और औद्योगिक परिस्थितियों से बहुत बल मिला। वे उत्तरोत्तर तीव्रतर हो गए। नये आविष्कारों से आर्थिक उत्पादन में जो क्रान्ति हुई उससे परिवार के आर्थिक कार्यों में कमी आ गई। उसकी आत्मनिर्भरता कम होने लगी। परिवार एक उत्पादक इकाई के स्थान पर उत्तरोत्तर उपभोग इकाई मात्र बनता गया। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही घर से बाहर काम करने जाने लगे। जीवन-स्तर उच्च करने की अभिलाषा ने उन्हें सबसे सबल प्रेरणा दी। स्त्रियों का स्थान केवल घर में ही नहीं था। वे आर्थिक स्वावलम्बन को प्राप्त कर पुरुषों की पराधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगीं। विवाहित स्त्रियाँ घर के बाहर उद्योगों में तो काम करती ही थीं घर के भीतर भी घरेलू कामों में आविष्कारों का उपयोग कर वे काफी समय और शक्ति बचा लेती थीं। इस अवकाश के समय को वे सांस्कृतिक कार्यकलापों में उपयोग करने लगीं। कला और मनोरंजन में उनकी रुचि और अवसर बढ़े। इन सबका प्रभाव उनकी सन्तानोत्पादकता पर पड़ा। कालान्तर में परिवार में औसतन बच्चों की संख्या गिर गई।

इस प्रकार परम्परात्मक परिवार की संरचना में तीन प्रकार के विशेष परिवर्तन हुए (१) विवाह तय करने में लड़के-लड़कियों पर माता पिता का नियन्त्रण ढीला पड़ गया (२) स्त्रियों की आर्थिक प्रस्थिति ऊँची हुई और उनके अधिकार बढ़े, (३) परिवार पर धार्मिक नियन्त्रण कम हो गया।

उपरोक्त तीन प्रकार के परिवर्तनों के कारण परिवार की स्थिरता में बड़ा ह्रास हुआ। व्यक्तिवादी विचारधारा, रूमानी प्रेम, काम रोजगार की तलाश में गाँव से शहर और एक शहर से दूसरे शहर को निष्क्रमण, घर से बाहर बीतने वाले समय में अधिक वृद्धि, धर्म बन्धन तथा बच्चों के लालन-पालन में अधिकाधिक सुविधा, परिवार के अनावश्यक कार्यों को दूसरी विशेष संस्थाओं द्वारा करना, स्त्रियों की स्वतन्त्रता और अधिक अधिकार, क्रियाओं की पवित्रता की धारणा में परिवर्तन से परम्परागत परिवार का समूचा स्वरूप ही बदल गया। फिर पिछले ५० ६० वर्षों के अन्तर उपरान्त कारकों के व्यापक परिवर्तन, राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार, प्रौद्योगिकी की प्रगति और नगरीकरण के विस्तार से समकालीन परिवार बड़ा अस्थिर हो गया है। रूढ़ि और धर्म से नियन्त्रित इस सुरक्षित संस्था का वर्तमान रूप एक लोचयुक्त वैयक्तिक सम्बन्ध व्यवस्था से कुछ अधिक नहीं है। पति-पत्नी इसे साथ-साथ रहने का एक प्रबन्ध समझते हैं। यह एक नये प्रकार की साझेदारी है। विवाह उनके बीच एक सरल प्रतिज्ञा मात्र है जो तनिक असफलता में तलाक द्वारा तोड़ी जा सकती है। औद्योगीकृत समाजों (विशेषकर पश्चिमी यूरोपीय इंगलैंड और अमरीका) के मध्यम निर्धन और सम्पन्न वर्गों में उन सामाजिक मूल्यों का (त्याग का जीवन, वैवाहिक पवित्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व का निभाना) जिन पर परिवार आधारित है ह्रास हो रहा है। यहाँ तलाक की दरें सबसे अधिक हैं।

अत परिवार म चिन्ताजनक अस्थिरता आ गई है।[1] इस मूलभूत सस्था म व्यक्ति को जो शिथिलता और विघटन अनुभव होता है उससे वह सन्देह और आत्म परीक्षण को प्रवृत्त होता है। उस पारिवारिक अनिश्चितता से अनेक असुरक्षाओ का भय आ घेरता है।[2]

परिवार म हाल म होने वाले परिवतनो का बडा सूक्ष्म अध्ययन किया गया है, इस विषय पर आधुनिक समाज शास्त्रियो के विचारो का सारांश दे देना पर्याप्त होगा।[3]

(१) परिवार के स्थानिक (spatial) और पार्थिव प्रतिमानो म परिवतन। परिवार अधिकाशत एक उपभोग इकाई हो गया है। परिवार की अपनी सम्पत्ति दनिक जरूरतो की वस्तुए ही है।

(२) परिवार म पति और पिता की सत्ता और अधिकारो म कमी जिससे सदस्यो की समता और स्वतन्त्रता म वृद्धि हुई।

(३) परिवार का छोटा आकार। माता पिता और सन्तान के अतिरिक्त सम्बन्धियो की संख्या मे बहुत कमी।

(४) स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो और सामाजिक भूमिकाओ म कमी। एक विवाह का आदश सुदृढता म प्रतिष्ठित हो गया है। स्त्रियो की प्रस्थिति ऊँची हुई है जिससे परिवार एक नये प्रकार की साझेदारी बन रहा है। स्त्री गृहस्थी क बाहर उद्योग, व्यापार राजनीति कला एव सस्कृति के क्षेत्रो म भी काय करने लगी है।

(५) सतानोत्पत्ति की धारणा और नियन्त्रण म परिवतन। कम और नियोजित सतान स्त्रियो की सतानोत्पादकता (fertility) म कमी—सतति निग्रह का बढता हुआ प्रचार।

(६) परिवार केवल अनिवाय जविक और सामाजिक कृत्य वाली सस्था रह गया है। उसके रक्षात्मक कार्यों को उत्तरोत्तर राज्य हटपता जाता है। स्वय परिवार की सुरक्षा और कल्याण के प्रति राज्य का ध्यान बढ रहा है। साथ ही बच्चो के पालन-पोषण की प्रगतिशील सुविधाए (बालगृह क्रच नर्सिङ्ग केन्द्र) क्रमश बढती जा रही हैं।

(७) प्रेम-सन्तुष्टि और निराशा के बढते हुए अवसर। साथ ही प्रेम तथा परिवार के बाहर यौन-सन्तुष्टि के अवसरो म भी वृद्धि हो रही है।

(८) परिवार और विवाह सम्बन्धी व्यवहार म धार्मिकता की कमी।

(९) परिवार के सदस्यो मे वयक्तिकता एव स्वतन्त्रता की क्रमश वृद्धि।

---

1 Bogardus *Sociology* pp 57 84
2 Merrill & Eldredge *op cit* p 447
3 Cf MacIver & Page *Society* pp 157 268 Ogburn & Nimkoff *Technology and Changing Family* (Houghton Miflin Co Boston (1955) and J K Folsom *The Family and Democratic Society*

१०) परिवार की बढ़ती हुई अस्थिरता और अधिक विघटन। तलाकों की मंद वृद्धि। परिवार की अनेक समस्याओं के समाधान के लिए पुस्तकों, कार्यकर्ताओं, विशेष संस्थाओं तथा राज्य का योग आवश्यक हो गया है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि आधुनिक या समकालीन के केवल तीन आवश्यक कार्य हैं (१) काम इच्छा की स्थिर सन्तुष्टि, सन्तान की उत्पत्ति और पालन-पोषण (३) सदस्यों की अधिक सांस्कृतिक स्नेहात्मक (affectional) सन्तुष्टियों के लिए घर (गृहस्थी) की व्यवस्था। इन तीनों कार्यों को परम्परात्मक पितृसत्तात्मक परिवार भी करता था फिर भी इनका गुण बहुत कुछ बदल गया है। वैसे तो आधुनिक परिवार कभी यह दावा नहीं करता कि उपरोक्त कार्य सिर्फ वही कर सकता है किन्तु इतना सत्य है कि वह ऐसा तरीका और अवसर अवश्य प्रदान करता है जिससे घनिष्ठता से परस्पर सम्बन्धित कुछ कार्यों का मेल और सामंजस्य हो जाता है।[1]

भारत में आधुनिक परिवार

औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ से पूर्व यूरोप में पितृसत्तात्मक परिवार का जो रूप रहा था उसी के सदृश परिवार-व्यवस्था भारत में २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक बनी रही। लगभग १००० ईसा से अभी तक हमारे यहाँ सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था रही है। बड़े-बड़े पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार भारत की अपनी विशेषता रही है। आज भी शहरों तथा विशेषकर गाँवों में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों की संख्या बहुत अधिक है। किन्तु आधुनिक औद्योगीकरण, नगरीकरण, जनन प्रवाद तथा नई वैयक्तिक विचारधारा के प्रभाव से संयुक्त परिवार का विघटन बड़ी तेजी से प्रारम्भ हो गया है। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि महानगरों में बहुसंख्यक परिवार छोटे छोटे और वैयक्तिक हैं जिनमें दम्पत्ति, उनकी सन्तान और वृद्ध माता पिता अथवा एक-दो अविवाहित भाई-बहिन रहते हैं। विवाहाबद्ध परिवार की संख्या और उपादेयता निरन्तर बढ़ती जा रही है। सम्भवतः परिवार का यह संगठन उसके अनिवार्य कार्यों को अधिक सप्रभाविकता और कुशलता से करने में समर्थ सिद्ध हो रहा है। पाश्चात्य औद्योगिक समाजों में प्रचलित आधुनिक परिवार की अस्थिरता एवं विघटन के समान ही भारत के आधुनिक परिवार में यह प्रवृत्ति उभर आती जा रही है। परिवार से धर्म का प्रभुत्व शिथिल पड़ता जा रहा है और विवाह एक पवित्र संस्कार के स्थान पर एक शिष्ट नागरिक अनुबन्ध माना जाने लगा है।[2]

आधुनिक परिवार का विघटन

आधुनिक परिवार की अस्थिरता इस बात की द्योतक है कि स्थायी संगठन का

1 MacIver and Page *op cit* p 263

2 K M Kapadia *Marriage and Family in India* Chapter XII

हरिदत्त वेदालंकार हिन्दू परिवार मीमांसा सरस्वती सदन मसूरी (१९६०)।

न्यूनाधिक अभाव है। परिवार की पूर्णतया सगठित अवस्था तो शायद कभी भी नही रही किन्तु अपेक्षाकृत सगठन की स्थिति वही कही जा सकती है जब परिवार स्थिर हो और अपने कार्यों को अत्यधिक कुशलता से करे। अतएव सगठित परिवार (सयुक्त पितृसत्तात्मक) म निम्नलिखित विशेषताए पाई जाती थी (१) आवश्यक कार्यों की सर्वोत्तम व्यवस्था (२) सदस्यो म एकता अर्थात् उनम परस्पर प्रेम स्नेह कर्तव्य और भक्ति से परिपूर्ण सम्बन्ध और परिवार के हितो के प्रति सबका सामजस्यपूर्ण कर्तव्य (३) तात्कालिक-समाज-व्यवस्था म परिवार का सर्वोत्तम प्रभावपूर्ण इकाई की भाँति क्रियाशील होना।

पारिवारिक विगठन से उपरोक्त व्यवस्था मे ऐसी अस्त-व्यस्तता का बोध होता है जब परिवार अपने नियत कार्यों को सप्रभाविकता से करने मे अत्यधिक असमर्थ हो और एक समिति के रूप मे बहुत अस्थिरता हो जाए। जसे कोई परिवार पूर्णतया सगठित नही हो पाता उसी प्रकार कोई भी परिवार पूर्णतया विघटित होकर नही बना रह सकता। परिवार मे विगठन की स्थिति तब प्रकट होती है जब उसके सदस्यो के हित उद्देश्य और आकाक्षाए परस्पर विरोधी हो अथवा उनम इतनी वयक्तिकता और स्वार्थ हो कि समूचे परिवार का कल्याण खटाई म पड जाए। सदस्यो म स्वार्थपरता और व्यक्तिनिष्ठा आते ही परिवार का स्नेह प्रेम और सामजस्य से ओत प्रोत वातावरण कटुता विद्वेष घृणा और सघर्ष से विषाक्त हो जाता है। परित्याग, पृथक्करण और तलाक इस स्थिति के प्रकट चिह्न है। विगठित परिवार के सदस्यो को अपनी भूमिका और प्रस्थिति का सही ज्ञान नही रहता। उनके कार्य और आचरण अनिश्चित एव परिवार विरोधी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त समाज-व्यवस्था की कार्य कुशलता पर भी पारिवारिक विघटन का अवाछित प्रभाव पडता है। व्यक्ति को प्रत्येक कदम पर साधारण सामाजिक व्यवहार मे अनिश्चितता और विशृङ्खलता के दर्शन होते है। वह प्राय समूह-कल्याण के विपरीत आचरण करता है और जब इसका ज्ञान भी होता है तो भी उसे आत्म ग्लानि अथवा पश्चाताप नही होता।

ध्यान रहे परित्याग पृथक्करण और तलाक पारिवारिक विघटन के बाह्य और अन्तिम लक्षण हैं। बहुत से ऐसे परिवार होते हैं जिनम इन लक्षणो के प्रकट होने का अवसर नही आता किन्तु फिर भी उनके सदस्यो म कटुता, घृणा और तनाव की स्थिति बराबर बनी रहती है। पति-पत्नी अथवा सन्तान परिवार म आर्थिक सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक विवशता के कारण बने रहते हैं। ऐसे परिवारो म विगठन की प्रक्रिया कायरत रहती है किन्तु पूर्ण सम्पन्न नही हो पाती। अतएव पारिवारिक विगठन से हमारा अभिप्राय उस दशा से है जिसम परिवार का सगठन न्यूनाधिक भग हो जाता है और परिवार अपने आवश्यक कार्यों को सप्रभाविकता से नही कर सकता। वस्तुत पारिवारिक व्यवस्था म अस्त व्यस्तता और अस्थिरता उत्पन्न होना विगठन है।

आधुनिक औद्योगीकृत समाजों में पारिवारिक विघटन की समस्या बहुत गम्भीर हो गई है।[1] परित्यागों, पृथक्करणों तथा तलाकों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या इस चिन्ताजनक अवस्था की परिचायक है। किन्तु पारिवारिक व्यवस्था की सतह पर प्रकट होने वाले इन लक्षणों से सही स्थिति का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। पारिवारिक कटुता और कलह बहुत व्यापक घटनाएँ हैं। अधिकांश परिवारों में खिंचाव और तनाव असामंजस्य और विघटन को बढ़ावा देते हैं। थोड़े से ही परिवारों में पारस्परिक स्नेह और निष्ठा पूर्ण आन्तरिक सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। पारिवारिक विघटन की प्रवृत्ति के मुख्य निर्देशक ये हैं : परिवार के मुखिया की सत्ता और प्रभाव में कमी, शिक्षित वर्ग का विवाह को एक पवित्र संस्कार मानने से इन्कार, जीवनसाथी के चुनाव में युवक-युवतियों की बढ़ती स्वतन्त्रता और बढ़ती हुई स्वतन्त्रता, आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति में स्त्रियों की पुरुषों से होड़ तथा विवाहितों का घर से बाहर अन्य पुरुषों और स्त्रियों के साथ अधिक समय बिताना।

पश्चिमी देशों के पारिवारिक विघटन का वैज्ञानिक अध्ययन बहुत भाग कर चुका है। अनेक समाजशास्त्रियों ने गम्भीर गवेषणा से परिवार में विघटनकारी शक्तियों, विघटन की मात्रा और प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनका सार यहाँ दे देना पर्याप्त होगा।

पश्चिमी समाजों में गाँवों की अपेक्षा नगरों में पारिवारिक विघटन अधिक स्पष्ट और तीव्र गति से हो रहा है। परिवार विघटनकारी शक्तियों में मुख्य औद्योगीकरण और सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनके साथ व्यक्तिवाद और बुद्धिवाद आते हैं। परिवार के विघटन में जो सामाजिक शक्तियाँ जिम्मेदार रही हैं उनमें प्रमुख इस प्रकार हैं :—

(१) व्यक्तिवाद और विवाह सम्बन्धी प्रयोग—परिवार के सदस्यों में वैयक्तिक स्वार्थ, सुख और प्रत्यक्ष आनन्द के लिए प्रतियोगिता होती है। वैवाहिक सम्बन्धों को वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार में हर स्त्री-पुरुष अधिकतम स्वाधीनता और स्वशासन चाहता है। सभी सदस्य आनन्द लेने और आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए साझा प्रयत्न नहीं कर पाते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थों की प्राप्ति में प्रतियोगिता के कारण पारिवारिक असामंजस्य बहुत बढ़ गया है। सुखवादी वैयक्तिक सम्बन्धों में आनन्द की प्रत्यक्ष प्राप्ति का ध्येय प्रधान होता है। विवाहित जीवन की सफलता का प्रमुख आधार यौन की भूमिका को मानकर यौन के महत्त्व को अतिरंजित किया जाता है। जहाँ यौन-सन्तुष्टि में बाधा

1 देखिए जिमरमैन फैमिली एण्ड सिविलाइजेशन, कूलाव (१९४७) तथा ट्रक्सल और मरिल फैमिली इन अमेरिकन कल्चर (१९४७)।

पडती है वहाँ विवाहित दम्पत्ति अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करते पाए जाते हैं।[1] विवाह को पवित्र संस्कार मानने का विरोध किया जा रहा है और इसलिये उसे केवल एक नागरिक अनुबन्ध मानने पर बल दिया जाता है। विवाह के पूर्व रोमांस प्रेम का आदर्श मूल्य माना जाता है और विवाहित जीवन मे भी संवेगात्मक जीवन का अधिक स्पृहनीय माना जाता है। विवाह को पूर्णतया धर्म निरपेक्ष संस्था बनाने का आन्दोलन चल रहा है। परिवार म धार्मिक उद्देश्यो के स्थान पर आर्थिक तथा अन्य धर्म निरपेक्ष हितो का प्राधान्य है।

(२) परिवार में परम्परात्मक पतृक सत्ता का ह्रास—पिता या घर के बडे बूढे के प्रभाव और अधिकारो का अन्य सदस्यो द्वारा उल्लंघन बढता जाता है। दूसरी ओर परिवार पर सामूहिक प्रतिरोधो के नियन्त्रण म भी शिथिलता आ गई है। अब परिवार के व्यवहार पर धर्म और समुदाय का कठोर नियन्त्रण केवल नाममात्र को रह गया है।

(३) उद्योगों का विशेषीकरण—नगरो मे बसे समस्त परिवारो म गृहस्थी के सभी आर्थिक कार्यों को विशेष आर्थिक संस्थाओ ने छीन लिया है। नगरो म परिवार केवल उपभोग इकाई' रह गया है।

(४) नगरीकरण का प्रसार—परिवार की निष्क्रमणशीलता से नगर के अधिकाश परिवार को किराये के मकानो म रहना पडता है। उनके पास न तो अपना निजी घर होता है और न अन्य घरलू सम्पत्ति की ही अधिक मात्रा। इसका परिणाम यह हुआ है कि परिवार का आर्थिक आधार कमजोर पड गया है और उसकी आर्थिक असुरक्षा भी बढ गई है।

शहरी जीवन म व्यक्ति के दैनिक जीवन का बहुत बडा भाग परिवार के बाहर बीतता है। उसे अपने समुदाय से अत्यधिक घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखना पडता है। वह अनेक समितियो और संगठनो का सदस्य होता है। अनेक संस्थाओ के कार्यक्षेत्र म उसे व्यवहार करना पडता है। परिवार से बाहर के इस जटिल संसार के नियम और रीति-नीतियाँ परम्परागत पारिवारिक आदर्श प्रथा और मूल्य से मेल नही खातीं। इस परिस्थिति म कई बार व्यक्ति को विवश होकर परिवार की परम्परा की उपेक्षा और अवहेलना करनी पडती है। इससे पारिवारिक असामंजस्य और अस्थिरता को पोषण मिलता है।

(५) स्त्रियों की भूमिका—आधुनिक परिवार म स्त्रियो की भूमिका और प्रस्थिति म भारी परिवर्तन हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र म पुरुषो की बराबरी और स्वतन्त्रता प्राप्त कर स्त्री ने घर में भी समान अधिकार और स्वतन्त्रता चाही। इस

1 With failure of sexual harmony the marriage structure rests on shifting sands Havelock Ellis in *Little Essays on Love and Marriage*

लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने पुरुष प्रधान व्यवस्था को चुनौती दी और उसके खिलाफ खुलकर विद्रोह किया। आर्थिक विकास ने स्त्रियों को घर से बाहर उद्योगों आदि में काम कर स्वावलम्बी बनने को प्रोत्साहित किया। प्रशासकीय विभागों, शिक्षा और चिकित्सा संस्थाओं और कला मनोरंजन के क्षेत्रों में स्त्रियों को रोजगार के प्रचुर अवसर मिलने लगे। गृह-कार्य के अतिरिक्त अनेक अभिरुचियों ने उन्हें आकृष्ट किया। नौकरी अथवा व्यवसाय करने वाली औरतों को बहुधा गृहकार्य के उत्तरदायित्व बड़े तुच्छ और अरुचिकर लगने लगे। वे गृह-व्यवस्था को हेय समझने लगीं।

स्त्रियाँ सदियों से घर की चहारदीवारी में बन्द थीं। इस बन्दी जीवन की घुटन से वे तंग आ गई थीं। अवसर मिलते ही वे उससे बाहर आ गईं और समाज के उन्मुक्त वातावरण—होटलों, क्लबों, पार्टियों और जलपान-गृहों—में वे स्वच्छन्द विचरने लगीं। घर की चहारदीवारी से बाहर की बढ़ती रंगीनियों में सर्वाधिक होती है। अतएव कितनी ही जवान औरतों ने गृहस्थी के जंजाल से दूर रहकर स्वतन्त्र और स्वावलम्बी जीवन बिताना ही बेहतर समझा। वे उन्मुक्त वातावरण में मनचाहे पुरुषों से परिचय और मित्रता करतीं और नए एवं मनचाहे अनुभवों को पाने के लिए अप्रत्याशित आचरण भी कर डालतीं। विवाहित स्त्री-पुरुषों के घर से बाहर के आचरण ने उनके कौटुम्बिक जीवन को दुःखमय बना दिया है।

घर से बाहर निकलने की बढ़ती का रोमांस भाव (romantic complex) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक समाज में स्त्रियों का जीवन के प्रति रोमांसपूर्ण दृष्टिकोण है। उन्हें आश्चर्य, नवीनता और अनूठेपन का अनुभव करने का अजीब शौक लग गया है।

आधुनिक स्त्री को गृहस्थी का काम-काज कर लेने के बाद भी बहुत अवकाश (leisure) मिलता है। इस खाली समय में वह रोमांस कहानी आदि खूब पढ़ती है और जीवन को आनन्दमय बनाने के स्वप्न देखा करती है। परिणामतः उसके समय का अधिकांश इस आदर्श को या तो स्वयं अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने के प्रयत्नों में बीतता है। चूँकि वह आज घर से बाहर काम करती है, मनोरंजन के लिए क्लब और सिनेमा जाती है या सभा-समितियों में और स्कूल पर काम करती है इसलिए उसे दूसरे पुरुषों को अपना बनाने का भारी अवसर रहता है। धीरे-धीरे वह अपने पति के गुण-स्वभाव से असन्तुष्ट हो जाती है और मनचाहे नए सम्बन्धों को स्थापित कर परिवार के बाहर सन्तोष ढूँढ़ती है।

(६) व्यापारिक मनोरंजन—व्यापारिक मनोरंजन के साधनों और अवसरों में आजकल अत्यधिक वृद्धि हुई है। बहुधा इनका प्रभाव घरेलू जीवन के वातावरण को बहुत दूषित करता है। जहाँ एक बार व्यक्ति इनमें तल्लीन हुआ, वह परन्तु नैतिकता को निमान में डुबोया करने लगता है। क्लबों में जुआ खेलना, शराब

पीना, नाचना, घुडदौड मे बाजी लगाना, वैश्यागमन, 'सोसाइटी गर्ल्स' से मित्रता आदि पारिवारिक जीवन के आधार को ढहा देते हैं।

(७) राजनतिक दशायें—राजनतिक विचारधारा अथवा अन्य विचारो म प्रतिकूलता भी पति-पत्नी तथा परिवार के अन्य सदस्यो मे असामजस्य उत्पन्न करती है। कुछ परिवारा का स्थायी विगठन केवल इसलिए हो गया कि उसके मुख्य सदस्या म विरोधी वादा के प्रति भक्ति थी। कई बार जीवन के प्रति बेमेल दृष्टिकोण स भी पारिवारिक कलह पनपता है।

(८) भौतिक उन्नति—आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता म लोगो का ऊँचा जीवन-स्तर और रहन सहन का ऊँचा व्यय हो जाना स्वाभाविक है। आडम्बर और दिखावा स प्रेरित स्त्री पुरुष घर के साज सवार, पोशाक भोजन रडियो, टेलिविजन बच्चा की शिक्षा क्लब जीवन तथा मोटर आदि पर हैसियत से अधिक या असतुलित व्यय कर बठते हैं। भौतिकवादी आनन्द लाभ के लिए सरल नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का तिरस्कार कर दिया जाता है। अत जीवन-यापन अनावश्यक रूप स पार्थिवता का पुजारी हो जाता है। उत्तरोत्तर बढती हुई पार्थिव जरूरतो का सदैव पूरा होना असम्भव है। इससे परिवार म असतोष और निराशाभाव बढत जाते हैं।

(९) निस्सतानता—उच्च भौतिकवादी जीवन स्तर वाले वर्गों की स्त्रियो तथा पुरुषो म बाझपन (sterility) और नपुसकता (impotency) का अनुपात भी बढ गया है। कई बार इसी स असन्तुष्ट होकर कौटुम्बिक जीवन म कटुता और कलह पैदा हो जाते हैं।

(१०) अन्य कारण—पारिवारिक विगठन के कुछ अन्य कारण भी हैं जसे निधनता बेकारी रोग और मृत्यु व्यक्तित्व दोष और विपरीत सास्कृतिक पाश्व भूमियाँ।

यहाँ स्मरण रखने की यह बात है कि आधुनिक परिवार के विगठन म स्त्री और पुरुष दोनो का लगभग समान उत्तरदायित्व है। यह सत्य है कि स्वतन्त्रताप्रिय स्वावलम्बी और मनचली स्त्रिया ने परिवार की सुदृढता को भारी धक्का दिया है। परन्तु शराबी जुआरी वेश्यागामी तथा भ्रष्ट या अपराधी पति भी परिवार को सुदृढ और सगठित कभी नहीं रख सकते। समाजशास्त्रीय खोजो स पता चला है कि साल के अधिक भाग म यात्रा करने वाले फौजी तथा धन-सम्पन्न पति वैश्यागमन, सोसाइटी गर्ल्स स मित्रता और अन्य अवांछित यौन-सम्बन्ध करते हैं। दूसरे अधिकांश पुरुष आज भी स्त्रियो को कम अक्ल कहकर उनकी हर इच्छा और अधिकार को कुचलना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। पुराने जमाने की भांति स्त्री को चेरी और दासी मानना मूर्खता है। स्त्री और पुरुष परिवार रूपी रथ के दो चक्र

(पहिए) हैं। एक के निर्बल होते ही परिवार की सुदृढ़ता और समन्वय बिगड़ जाएँगे।

अमरीका में पारिवारिक विघटन का सबसे प्रकट लक्षण तलाक की दरें हैं। १९५६ ई० में एक सामाजिक सर्वेक्षण की रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी जिसमें यह उल्लेख था कि अमरीका के प्रति ६ पुरुषों में से १ विवाह विच्छेद से प्रभावित था। लगभग १ करोड़ व्यक्ति और ८० लाख बच्चे तलाक से प्रभावित थे। उच्च वर्ग की अपेक्षा निम्न वर्ग में तलाक स्तर ऊँचा था। विवाह विच्छेद के महत्वपूर्ण कारण आर्थिक (२१%) व्यभिचार (१३%) क्रूरता (१८%) शराबखोरी (१२%) परित्याग और जुआ खेलना (१०%) व्यक्तित्व संघर्ष (११%) गृहस्थी में रुचि का अभाव (६%) थे।

भारत के बड़े-बड़े नगरों में तलाक के मुकदमों की संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है। परित्याग और पृथक्करण के मामलों की संख्या की वृद्धि में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही है। यहाँ पर तलाक के प्रमुख कारणों में निर्धनता, बेकारी, भरण पोषण की उपेक्षा (non maintenance) शराबखोरी, शारीरिक या मानसिक क्रूरता, जुआ, अपराध, असाध्य या संक्रामक रोग, व्यभिचार, परित्याग, बन्ध्यापन या नपुंसकता हैं। विशेष विवाह अधिनियम १९५४ ई० तथा हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ ई० ने भारत में विवाह विच्छेद के कानूनी आधारों को निश्चित कर दिया है। पाश्चात्य जगत में अनेक परिवार निःसन्तान हैं। विशेषकर उच्च और समृद्ध घरानों में नपुंसक पुरुषों और बाँझ स्त्रियों की संख्या अधिक है। इसके विपरीत भारत में अधिक सन्तान की समस्या बड़ी गम्भीर है। यहाँ प्रति वर्ष लगभग ५० लाख आबादी बढ़ जाती है। देश में बढ़ती हुई आबादी की रोकथाम के लिए यहाँ परिवार नियोजन का आन्दोलन चलाया गया है। इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य सन्तति निग्रह को सरल बनाकर परिवार के आकार को छोटा करना है।

पारिवारिक विघटन और बालापराध का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाजशास्त्रीय अनुसंधानों से सिद्ध हो गया है कि विघटित परिवारों के बच्चों में अपराध की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है।

दरिद्रता का भी एक प्रमुख कारण पारिवारिक विघटन है। क्लेश कलह और संघर्ष से विच्छिन्न परिवार कभी आर्थिक सुख नहीं पा सकता।

८ परिवार का पुनर्गठन

आधुनिक परिवार की अस्थिरता और समस्याओं को देखकर कुछ लोग बड़े हताश हो जाते हैं। उन्हें परिवार का प्राचीन रूप ही सर्वश्रेष्ठ लगता है। आधुनिक परिवार का पुनर्निर्माण कर वे उसी ढाँचे की पुनः प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता समझते हैं। परन्तु ऐसा करके वे भारी भूल करते हैं। प्रत्येक संस्था परिवर्तनशील

सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था की उत्पत्ति होती है। किसी संस्था को बदलने के लिए उस सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलना अनिवार्य है। अतएव इन पुरातनवादियों का स्वप्न कदापि वास्तविकता नहीं बन सकता। पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार कृषि प्रधान, अनौद्योगिक और प्राथमिक समाज के अनुरूप था। आज के द्वितीयक जटिल, औद्योगिक समाज में वह परिवार कभी आदर्श व्यवस्था नहीं हो सकता। इस नए युग की अनेक नवीन संस्थाओं मूल्यों और मान्यताओं में हमारी आस्था है। उन्हीं के अनुरूप हमें परिवार का पुनर्गठन करना पड़ेगा। विद्यमान परिवार प्रणाली में आवश्यक संशोधन और सुधार करके उसे समयानुकूल बनाया जा सकता है। परिवार के पुनर्गठन के लिए जो भी कार्यक्रम और लक्ष्य अपनाया जाए उसमें विशेष बल इस बात पर दिया जाए कि परिवार अपने अनिवार्य कार्यों को अत्युत्तम कुशलता से कर सकें।

पारिवारिक पुनर्गठन के लिए व्यापक परिवार नियोजन (समग्र नियोजन) अपनाना पड़ेगा। आधुनिक परिवार की गम्भीर समस्याएं सभी देशों में समान नहीं हैं। अतएव पारिवारिक पुनर्गठन के किसी व्यावहारिक कार्यक्रम में देश, काल और परिस्थिति का ध्यान रखना पड़ेगा। फिर भी यहां पर परिवार के पुनर्गठन के कुछ साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना लाभदायक होगा।

(१) परिवार में पति पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक सम्मान प्रेम श्रद्धा और सहयोग पर आश्रित हो। परिवार के समस्त सदस्यों में सहयोग और पारस्परिक दायित्व पर आश्रित सम्बन्ध बनाए रखे जाएँ। प्रत्येक स्थिति में वे एक दूसरे की इच्छाओं भावनाओं और कठिनाइयों को सहानुभूतिपूर्वक समझें और आवश्यक कार्य करें।

(२) परिवार का वातावरण इतना उन्मुक्त उदार और सामंजस्यपूर्ण हो कि प्रत्येक के व्यक्तित्व का उत्तम विकास हो सके।

(३) विवाह की प्रणाली और रीतियों में आवश्यकतानुसार सुधार किए जाएँ जिससे दम्पति को सुखी वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक समायोजन करने के अवसर मिल सकें।

(४) विवाह और पारिवारिक सम्बन्धों पर लोगों को मार्ग प्रदर्शन देने के लिए समाजसेवी संस्थाएं, शिक्षण और सम्पति केन्द्रों की स्थापना करें।

(५) लोगों को समग्र परिवार नियोजन के लिए वैज्ञानिक मार्ग-दर्शन और निर्देशन मिल सके। राज्य समाज सेवी संस्थाओं और परिवार तथा विवाह अनुसंधान केन्द्रों का इस कार्य में विशेष महत्व रहेगा। परिवार की सुदृढ़ता और सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक कार्यवाही आधुनिक राज्य का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर जिन देशों में परिवार का पुनर्गठन हो रहा है अथवा भविष्य में होगा वहाँ पारिवारिक विघटन को निश्चय ही रोका जा सकेगा।

किन्तु परिवार में परिवर्तन लगातार होते रहेंगे। ये परिवर्तन प्रधानतया परिवारों की संख्या, आकार और स्थिरता को प्रभावित करते रहेंगे। क्योंकि परिवार सदैव आधारभूत सामाजिक परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करता है। यदि हम चाहते हैं कि परिवार में होने वाले परिवर्तन हमारे समाज के लिए एक चिन्ताजनक समस्या न बन जाएँ तो हमें अपने व्यवहार के अन्य तत्वों के समकक्ष ही अपनी सामाजिक मान्यताओं को बदलना होगा। स्वतःचालित परिवर्तन में सामाजिक मान्यताएं व्यवहार के अन्य तत्वों से सदैव पिछड़ जाती हैं।

परिवार का भविष्य अन्धकारमय नहीं है। शायद अब तक के समाजों के अनुभव ने इस संस्था को हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य सिद्ध कर दिया है। साम्यवादी देशों में परिवार को समाप्त कर उसके कार्यों को विशेष संस्थाओं में बाँटने का एक प्रयत्न हुआ। आशा की जाती थी कि यह प्रयोग सफल होगा और परिवार और परिवार की स्थानापन्न संस्थाएं प्रभावशाली सिद्ध होंगी। किन्तु यह प्रयोग विफल हुआ और साम्यवादी देश भी समाज के स्वस्थ और समृद्ध जीवन के लिए परिवार को अनिवार्य प्राथमिक संस्था मानने लगे।[1]

संसार के उन्नत और सभ्य देशों में परिवार की जो व्यवस्था विकसित हुई है उससे स्पष्ट है कि समय और परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार बदलने की क्षमता परिवार में है। उसका आवश्यकतानुसार पुनर्मूल्यांकन (revaluation) अथवा पुनर्दिशा निर्देश (reorientation) हो सकता है। शायद इसीलिए आधुनिक परिवार के परिवर्तनों को फॉल्सम विघटन या भ्रष्टता (demoralisation) नहीं कहता। वह इसे परिवार की पुनर्मूल्यांकन प्रवृत्ति कहता है।[2]

राल्फ लिंटन परिवार के भविष्य पर बहुत आशापूर्ण प्रतीत होते हैं। उन्होंने लिखा है कि राजनीति या विज्ञान हमारे लिए जो प्रलय बना रहे हैं उसमें भी अन्तिम मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम क्षणों को अपनी पत्नी और सन्तान की खोज में लगा देगा।[3] सभ्यता की उन्नति चाहे जिस दिशा में हो हर समाज के अधिकांश सदस्य अपनी अधिक मानसिक और सामाजिक आवश्यकताओं की सर्वोत्तम और स्थायी पूर्ति विवाह और परिवार की व्यवस्था में ही देखते रहेंगे। निश्चित और अनन्य प्राय परिवार बच्चों के पालन एवं प्रशिक्षण के लिए सर्वोत्तम संस्था सिद्ध हुई है। लगभग समस्त बच्चों की अनुकूलता विवाह और परिवार में निर्धारित होती है जो सम्पूर्ण संस्कृति और परम्परा की वाहक है और व्यक्तित्व के विकास के लिए प्राथमिक उत्तेजक है। सभ्यता की भावी अवस्था में घर मानव जाति की मनोवैज्ञानिक निराशाओं और मानव स्नेह का उत्तम केन्द्र बना रहेगा।[4]

---

1 W. W. Rostow, *The Dynamics of Soviet Society*, Secker and Warburg, London (1953), p. 100.
2 Folsom, *Family and Democratic Society*, New York (1933).
3 Ralph Linton, *The Natural History of Family*, p. 35.
4 Bogardus, *Sociology*, p. 116.

परिवार की सुदृढता और सरक्षण समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इस तथ्य का स्वीकार कर आधुनिक राज्य वित्तीय सहायता, कर नीति और सामाजिक कानूनो के माध्यम से परिवार के विकास और स्वस्थ सम्पन्न जीवन के सरक्षण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। बहुविवाह, दहेज, स्वतन्त्र प्रेम, आदि सस्थाओ को अवध घोषित करना इसी दिशा मे प्रयत्न है। ऐसे कानून बन गए हैं जिनसे तलाक देना सरल बात नही रही। स्त्रियो की अवस्था मे सुधार के लिए भी अनेक उदार कानून बने हैं। इसके अतिरिक्त वेश्यावृत्ति को अवध करार देना भी परिवार की स्थिति को दृढ करने के उद्देश्य से किया जाता है। प्रत्येक देश मे बेकारी तथा निर्धनता को समाप्त किया जा रहा है और आवास-योजनाए (housing schemes) चला कर परिवारो के रहने की समुचित व्यवस्था की जा रही है। स्वास्थ्य सुधार और सुप्रजनन योजनाए भी चल रही हैं। इन समस्त प्रयत्नो का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव परिवार की सुदृढता और स्थिरता पर अच्छा ही पडता है। परिवार का कल्याण आधुनिक राज्य का एक आवश्यक कार्य हो गया है।[1]

---

1 Cf Alva Myrdal *Nation and Family* Folsom *The Family and Democratic Society* Kapadia *Marriage and Family in India* and Plans of India China Russia and also Family Welfare Programmes in U S A Canada U K Sweden and Germany

२४

आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ

अर्थ व्यवस्था

प्रत्येक समाज में लोगों की सुखी और समृद्ध जीवन बिताने की उत्कट इच्छा होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें अनेक प्रकार की अनन्त आवश्यकताएँ सन्तुष्ट करनी पड़ती हैं। भूख-प्यास, वस्त्र और मकान का प्रबन्ध करने में मनुष्य की प्रारम्भिक जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इनके उपलब्ध न होने पर उसका जीना असम्भव है। किन्तु मनुष्य जीने भर से सन्तुष्ट नहीं रहता। वह सुख और सुविधाओं से सम्पन्न जीवन बिताने की आकांक्षा करता है। इसलिए भोजन, वस्त्र और मकान के अतिरिक्त उसकी आवश्यकताओं में अनेक प्रकार की सुविधाजनक और विलासितापूर्ण वस्तुओं का समावेश होता है। इन सबको आर्थिक आवश्यकताएं कहते हैं। इनकी पूर्ति के लिए हम सब आर्थिक क्रियाकलाप करते हैं जिनसे अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन कर हम अपना पार्थिव कल्याण बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। जीवन की पार्थिव सुख-समृद्धि बढ़ाने के लिए आर्थिक क्रियाओं से हम जिन साधनों का उत्पादन करते हैं उन्हें सम्पत्ति कहा जा सकता है। इसी सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग के लिए प्रत्येक समाज में कई आर्थिक संस्थाएँ और समूह तथा समितियाँ स्थापित होते हैं। जिनके पारस्परिक सम्बन्ध से बने जटिल संगठन को अर्थव्यवस्था कहते हैं। अर्थ-व्यवस्था अन्तःसम्बन्धित संस्थाओं का वह जटिल संगठन है जिसके माध्यम से मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है।[1] दूसरे शब्दों में एक समाज के सदस्यों के बीच बने आर्थिक सम्बन्धों के प्रतिमान को अर्थ-व्यवस्था कह सकते हैं।

आधुनिक समाजों की अर्थ-व्यवस्था में केवल विविध उत्पादन प्रणालियों में विस्तृत उद्योग और व्यापार समाविष्ट ही नहीं होते बल्कि अनेक दृष्टिकोणों का भी

---

1 An economic system is the complex of interrelated institutions through which the economic activity of man is expressed

जिन्हे उन्नतिशील बना दिया गया है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी का समाज ग्रथ व्यवस्था के ग्रध्ययन म मुख्य उद्देश्य ग्रथ यवस्था क ग्रान्तरिक कार्यो को समझना नही है। वस्तुग्रो का उत्पादन, उनकी माँग ग्रौर पूर्ति विनिमय क माध्यम, द्रव्य ग्रौर साख की व्यवस्थाएँ प्रबन्ध, वितरण ग्रौर उपभोग ग्रादि समस्याग्रो का ग्रध्ययन ग्रथशास्त्री का विशेष ग्रध्ययन क्षेत्र है। समाजशास्त्री की विशेष दिलचस्पी यह देखन म है कि ग्रार्थिक क्रियाग्रो तथा हमार सामान्य जीवन के दूसर पहलुग्रो म क्या सम्बन्ध है। हम ग्रथ-व्यवस्था का सामाजिक सगठन के एक ग्रग क रूप म ग्रध्ययन करते है। इसलिए प्रस्तुत ग्रध्याय मे हम निम्नाकित प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। (१) सम्पूर्ण सामाजिक सगठन को ग्रथ यवस्था कैसे प्रभावित करती है? विशेषकर समाज की ग्रन्य सस्याग्रो पर इसके क्या प्रभाव पडते हैं? हमारे रहन सहन ग्रौर सोचन के साधारण ढगो पर ग्रथ-व्यवस्था का किस सीमा तक प्रभाव पडता है?

ग्रार्थिक सस्था

हमारे समाज म कैसी ग्रथ व्यवस्था है यह समझन म ग्रधिक कठिनता नही होती। हम ग्रपन समाज की ग्रार्थिक सस्थाग्रो को ग्रपेक्षाकृत सरलता से समझ सकते हैं। किन्तु इतनी जानकारी मात्र से हमारा काम नही चलता। हम मानव समाज की ग्रथ यवस्थाग्रो को समझना जरूरी है तभी हम ग्रार्थिक सस्थाग्रो ग्रौर ग्रन्य सस्थाग्रो के ग्रन्त सम्बन्ध को भली भाँति समझ सकते हैं।

प्रत्येक समाज म हम प्रविधियो की एक व्यवस्था देख सकते हैं जिसका प्रयोजन पर्यावरण का शोषण कर मनुष्य की जीवन निर्वाह की ग्रावश्यकताग्रो को पूरा करना होता है। इन समस्त प्रविधियो के योग को ग्रथ यवस्था का प्राविधिक पक्ष कहते हैं जो ग्रार्थिक सस्था का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। सामाजिक सगठन के ग्रनेक पहलुग्रों पर इस व्यवस्था का व्यापक प्रभाव पडता है। किन्तु प्रविधि ग्रार्थिक सस्था का एक भाग मात्र है। प्रविधियो के ग्रास पास विकसित होने वाली प्रथाग्रो विचारो, ग्रास्थाग्रो एव मिथ्या विश्वासो का महत्त्व हमारे लिए ग्रधिक ग्रथपूर्ण है। इन सबका सम्बन्ध कुछ बातो म होता है जैसे प्रविधियो का उपयुक्त उपयोग, उपकरणो का स्वामित्व प्रविधि के उत्पादनो (उपजो) का वितरण उत्तराधिकार ग्रौर प्रविधि से सम्बन्धित ग्रन्य समस्याए। समकालीन समाजो म ग्रार्थिक प्रथाग्रो ग्रौर ग्रास्थाग्रो पर प्रविधि के व्यापक प्रभाव के कारण कई बार गम्भीर समस्याए पैदा हो जाती हैं। ग्रतएव ग्रार्थिक सस्था को प्रविधियो का योग मात्र मानना भूल होगी। ग्रार्थिक सस्था म प्रविधियो के योग के ग्रतिरिक्त प्रथाग्रो ग्रौर ग्रास्थाग्रो की जटिलता का भी समावेश होता है। ग्रार्थिक सस्था की परिभाषा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

'जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पर्यावरण के शोषण (उपयोग) से सम्बन्धित प्रविधियों, विचारों और प्रथाओं के जटिल को आर्थिक संस्था कहते हैं।'[1]

अर्थ-व्यवस्थाओं के प्रकार

प्रत्येक मानव समूह किसी न किसी भौगोलिक क्षेत्र में रहता है। उस क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर ही वह अपना जीवनयापन करता है। इन साधनों का उपयोग कैसा और कितना होगा यह बात उस समूह की संस्कृति पर निर्भर होती है। साधारणतया सर्वोन्नत संस्कृति वाले समाज की अर्थ-व्यवस्था सबसे अधिक विकसित होती है। अर्थ-व्यवस्था का संगठन और विकास किसी मानव-समूह और उसके प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण के बीच अन्तःक्रिया पर निर्भर होता है। विभिन्न समाजों का प्राकृतिक पर्यावरण और उनकी संस्कृति एक दूसरे से असमान होती है। अतः संसार में अनेक अर्थ-व्यवस्थाओं की उपस्थिति स्वाभाविक है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम संसार की समस्त अर्थ-व्यवस्थाओं को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं

(१) संग्रहकारी अर्थ-व्यवस्थाएँ (collecting economies)
(२) सरल रूपान्तरकारी अर्थ-व्यवस्थाएँ (simple transformative economies)
( ) जटिल रूपान्तरकारी अर्थ-व्यवस्थाएँ (complex transformative economies)
(४) मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाएं (*mixed economies*)।

संग्रहकारी अर्थ-व्यवस्थाएं—संसार के विभिन्न क्षेत्रों के अत्यधिक सरल और आदिम लोगों की अर्थ-व्यवस्थाएं इसी श्रेणी में आती हैं। ये लोग शिकार या मछली मार कर, प्रकृति में से पौधे, कन्द-मूल फल आदि को एकत्र या संग्रह कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इन लोगों को न तो कृषि करना आता है और न पशुपालन ही। वस्त्र और मकान की आवश्यकताओं को भी ये प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं से पूरा करते हैं। इनके अन्न वस्त्र और मकान इन लोगों की देन हैं। स्पष्ट है कि संग्रहकारी अर्थ-व्यवस्थाओं में प्राकृतिक पर्यावरण से तैयार वस्तुओं को प्राप्त कर उनका उपयोग करना आधारभूत आर्थिक क्रियाएं हैं।

सरल रूपान्तरकारी अर्थ-व्यवस्थाएं—इनमें प्राकृतिक उपजों को सरल ढंगों से रूपान्तरित कर लिया जाता है। कृषि और पशुपालन की अर्थ-व्यवस्थाएं ऐसी ही हैं। यद्यपि इन वस्तुओं में मनुष्य की आधारभूत आर्थिक क्रियाएं बड़ी सरल होती हैं और

1 The economic institution is the complex of techniques, ideas and customs relating to the exploitation of the environment for the satisfaction of subsistence needs. Jones, *Basic Sociological Theory*, p. 244

उनकी अधिकांश सफलता अनुकूल प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर रहती है फिर भी इनमें मनुष्य के जीवन निर्वाह की समस्या अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जाती है। वह अपने जीवन-यापन के लिए प्रकृति पर पूर्णतया आश्रित नहीं रहता। अपने सरल औजारों एवं अभ्यासों से वह पशु पालकर उनकी संख्या में वृद्धि कर, और खेती कर अपनी खाद्य समस्या बहुत कुछ सरल कर लेता है। ज्यों-ज्यों वह अच्छे औजार और अभ्यास जानता जाता है प्रकृति पर उसका नियन्त्रण बढ़ता जाता है। वह प्रकृति की दासता से धीरे धीरे मुक्त होने की चेष्टा करता है। वह प्रकृति की प्रक्रियाओं को अधिक अच्छी तरह समझता जाता है और इसीलिए अपनी वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुसार आर्थिक साधनों की पूर्ति की योजना करता है। सरल रूपान्तरकारी अर्थ-व्यवस्था में लोग नए और अधिक कुशल औजारों की सहायता से प्राकृतिक पदार्थों को निरन्तर संशोधित कर नए नए उत्पादन करते हैं। इस स्थिति में वे अपने पर्यावरण साधनों का अधिक कुशल उपयोग करने में समर्थ होते हैं। अनेक प्रकार की कारीगरियाँ अथवा सरल औजारों से निर्मित उपजें मनुष्य को अनेक समृद्ध साधन उपलब्ध कराती हैं। कला और दस्तकारी इस अवस्था की प्रमुख आर्थिक क्रियाएँ होती हैं। धीरे धीरे दस्तकारी में इतनी उन्नति हो जाती है कि कालान्तर में आर्थिक तथा अन्य संस्थाओं में जटिल अन्तःसम्बन्ध विकसित हो जाता है। इस प्रकार की अर्थ व्यवस्थाएँ आज दुनिया के अनेक पिछड़े समाजों में विद्यमान हैं।

जटिल रूपान्तरकारी अर्थ व्यवस्थाएँ—इन व्यवस्थाओं में लोग अधिकांशतः ऐसी वस्तुओं को बरतते हैं जो प्राकृतिक पदार्थों से नितान्त भिन्न हैं। यहाँ प्रकृति की उपजों को कच्ची सामग्री मानकर उन्हें अनेक जटिल प्रक्रियाओं से उत्कृष्ट पदार्थों में निर्मित किया जाता है। हमारे जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक खान-पान वस्त्र, मकान आदि सभी से सम्बन्धित पदार्थों को शक्तिचालित बड़े बड़े कारखानों में विशाल मात्रा में उत्पादित किया जाता है। जीवन के लिए सभी प्रकार की आवश्यकताओं—अनिवार्यताओं, सुविधाओं और विलासिताओं—की पूर्ति के लिए अगणित वस्तुओं का उत्पादन होता है। हमारी रुचियाँ मानक और जरूरतें सभी तो अत्यधिक विचित्र होती हैं और वे सरल प्रक्रियाओं से निर्मित पदार्थों से सन्तुष्ट नहीं होते।

जटिल रूपान्तरकारी अर्थव्यवस्थाओं में औद्योगीकरण का अत्यधिक विकास होता है। आधुनिक सभ्य देश जैसे अमरीका इंगलैण्ड जर्मनी, फ्रांस, पूर्वी यूरोपीय देशों और रूस की अर्थ-व्यवस्थाएँ इसी प्रकार की हैं।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाएँ—जिन देशों के निवासी विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को एक ही समय में करते हैं उनकी अर्थ-व्यवस्था मिश्रित कही जा सकती है। वैसे तो संसार का कोई ऐसा देश न होगा जिसमें कुछ प्रकार की प्राथमिक आर्थिक क्रियाएँ बिल्कुल अनुपस्थित हों परन्तु फिर भी कुछ देश इतने अधिक विक

सित हो गए हैं कि उनमें उन्नत कृषि, कुटीर उद्योग और विकसित उद्योग ही प्रधान आर्थिक क्रियाएँ हैं। इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ मूलतः औद्योगिक कही जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त संसार के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्थाओं में न तो कृषि और दस्तकारी ही अधिक विकसित हैं और न व्यापार तथा उद्योग। ऐसी अर्थव्यवस्था को मिश्रित कहते हैं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का अर्थ ऐसी व्यवस्था है जिसमें पूँजीवादी और समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं का आवश्यक वनावश मिश्रण हो। भारत जापान इंगलैंड की अर्थव्यवस्थाएँ इसी श्रेणी में रखी जाती हैं।

आज संसार में रूस तथा अमरीका सबसे अधिक औद्योगिक देश हैं। किन्तु अमरीका पूँजीवाद के चरमोत्कर्ष का उदाहरण है और रूस समाजवाद के अपूर्व विकास का। पश्चिमी यूरोप के देशों कनाडा तथा जापान में जो औद्योगिक अर्थ व्यवस्था है वह अमरीका और इंगलैंड के बहुत अनुरूप हैं। पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी रूस के अनुरूप अर्थव्यवस्था है। इन दोनों प्रकार की औद्योगिक अर्थ व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भारत चीन आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड बर्मा कोरिया, इंडो चीन मिस्र तथा दक्षिणी अमरीका के देशों में अब भी कृषिप्रधान अर्थव्यवस्थायें हैं परन्तु इन सभी देशों में औद्योगीकरण की प्रगति बड़ी तीव्रगति से हो रही है। सबसे मार्के की बात तो यह है कि जनतन्त्र और समाजवाद के कारण इन देशों में औद्योगीकरण की प्रगति में समाजवादी प्रवृत्ति झलकती है।

कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था और सामाजिक जीवन

कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था का सामाजिक जीवन पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ता है कि सम्पूर्ण जनसंख्या भूपतियों और कृषकों के दो प्रधान वर्गों में विभक्त हो जाती है। समाज में भूपतियों का सर्वश्रेष्ठ सम्मान और प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा इस बात से नापी जाती है कि उसके परिवार के पास भूमि की कितनी मात्रा है। चूँकि भूपतियों का भूमि पर पतृक स्वामित्व होता है इसलिए उनकी सन्तान को केवल एक ही बात सीखनी पड़ती है कि इस पतृक भूमि का स्वामित्व उनके पास बना रहे। भूस्वामित्व के संरक्षण के लिए भूपतियों (जागीरदारों, नवाबों या जमींदारों) में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष होता है। बहुधा इस प्रकार का संघर्षमय जीवन भूपति वर्ग के लोगों में वीरता और शौर्य के गुण विकसित कर देता है। भारत के राजपूतों में परम्परागत वीरता और संघर्षमय जीवन का शायद एक प्रमुख कारण यही है। किन्तु दूसरी ओर पतृक भूस्वामित्व इस वर्ग के लोगों को घमण्डी और विलासिताप्रिय भी बना देता है। जीवन के साधनों की निश्चित और नियमित प्राप्ति हो जाने के कारण उन्हें कठिन जीवन संघर्ष नहीं करना पड़ता। कृषकों की गाढ़ी कमाई का वे उपभोग करते रहते और सब से मस्त रहते हैं और यदि शोषण के मार्ग में कोई व्यक्ति अथवा वर्ग बाधक बनता है तो उस पर नृशंस

अत्याचार करने मे जरा भी नही हिचकते। भूपति वर्ग की भूमि पर स्वामित्व बनाए रखने की इतनी प्रबल इच्छा होती है कि वे इसकी सतुष्टि के लिए प्रत्येक त्याग कर सकते हैं। वे ऐसे किसी विचार या सस्था को नही पनपने देते जो उनके अधिकारों को चुनौती दे सके। परिणामत कृषको और मजदूरो (भूमिहीन) का शोषण निरन्तर बढता जाता है और वे उत्तरोत्तर निधन और असन्तुष्ट होते जाते हैं।

भूपति वर्ग के ऐश इशरत की जिन्दगी बिताने के कारण कुछ अवाछित प्रथाओ और सस्थाओ का जन्म होता है। दासी प्रथा वेश्यावृत्ति जुआ और मदिरा पान इसके उदाहरण है। विलासी राजा और नवाबो के दरबारो म अनेक नर्तक गवये, वेश्याएँ और लौंडियाँ पलती थी। कुछ सदाचारी भूपतियो न कलाकारो विद्वानो आदि को भी आश्रय दिया था। राजपूत और मुगल काल म सगीत नाटक, कविता मूर्तिकला चित्रकला और भवन निर्माण कला (वास्तुकला) का बहुत भव्य विकास हुआ। कुछ राजाओ और नवाबो ने बडे सुन्दर राजधानी नगरो का निर्माण करवाया।

कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था वाले समाज म धार्मिकता बडी प्रबल होती है। लोग दवी शक्तियो की पूजा करते है और अनेक प्राकृतिक शक्तियो क अधिष्ठाताओ को पूज्य देव मानते हैं। इसका कारण यह है कि कृषि म सफलता बहुत कुछ प्रकृति की अनुकूलता और उदारता पर निभर है। दूसरे मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर प्रकृति की गहरी छाप लग जाती है। वह सदव प्रकृति क प्रागण में रहता बसता और काय करता है। इसलिए उसके आर्थिक अभ्यासो भोजन वस्त्र, मकान विचारो, दशन साहित्य और कला पर प्रकृति का व्यापक प्रभाव होता है। वह प्रकृति की अपार शक्ति म भयभीत भी होता है परन्तु उसकी उदारता का कायल भी। प्रकृति को वह अपनी सहचरी मित्र और कल्याणकारिणी समझता है।

कृषि प्रधान व्यवस्था म मनुष्य का प्रविधि इतनी उन्नत नही होती कि वह प्रकृति क विनाशकारी कार्यों पर नियन्त्रण पा ल। इसलिए उस बहुधा विनाश, निराशा और विफलता सहनी पडती है। इसका फल यह होता है कि वह भाग्यवादी और दाशनिक प्रवृत्ति का हो जाता है। भारतीय लोगो का भाग्यवादी और अध्यात्म वादी होने का एक प्रमुख कारण यह है कि इनकी अर्थ-व्यवस्था दीघकाल तक कृषि प्रधान रही है। किसी अनपढ या गँवार भारतीय बूढे क पास जाकर बात करिए। उसकी बातो को आप अध्यात्मवाद दाशनिकता और भाग्यवादिता म सराबोर पाइयगा। शायद, सरल जीवन और उच्च विचार का उद्देश्य उसका भलीभाँति परिलक्षित करता है। कृषि प्रधान व्यवस्था म अधिकाश जनसमुदाय को केवल अनिवार्य आवश्यकताए ही सतुष्ट करने के साधन उपलब्ध होत हैं। व्यापक दरिद्रता अथवा निम्न जीवन स्तर इसकी विशेषता है।

कृषि प्रधान समाज में प्रथाओ और परम्पराओ का बोलबाला होता है। सामाजिक विचार और सस्थाएँ भी रूढिवादी या सनातनी हो जाते हैं। इसलिए समाज म

परिवर्तन बहुत थोड़ा और धीरे धीरे होता है। निहित हित वाले वर्ग समाज की वर्तमान व्यवस्था में कोई मूलभूत परिवर्तन करने के विरोधी होते हैं।

ऐसे समाजों में शक्ति और सत्ता अल्पसंख्यक लोगों के हाथ में होती है जो या तो भूपति हों अथवा भूपतियों के प्रशासनिक और सैनिक वर्गों से सम्बद्ध हों। जनतन्त्रात्मक शासन और कानूनी समता की स्थापना होना असम्भव होता है। समाज के सत्ताधारी वर्गों को अनेक कानूनी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं।

कृषि प्रधान समाजों में असहायों, दीन दुखियों की सहायता करना धनी-मानी लोगों की कृपालुता, दानशीलता और दया पर निर्भर रहता है। मंदिर, धर्मशाला, अनाथालय और दरिद्र शरणालय सभी तो दानशील और दयालु धनिकों के सहारे ही होते हैं। इसी प्रकार दैवी प्रकोपों, महामारियों अथवा अन्य विपत्तियों से पीड़ित लोगों की सहायता यही वर्ग करता है। परन्तु असहाय रहे निराश्रित दीन-दुखी और पीड़ितों को दया-सहायता पाने का कोई अधिकार नहीं होता। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध समाज या राज्य की कोई विशेष संस्था या समिति नहीं करती।

इन समाजों में संस्कृति का प्रसार-केन्द्र भूपति वर्ग माने जाते हैं। उनकी वेश भूषा, रीति-रिवाजों, विचारों तथा विश्वासों का अनुकरण शेष जनसमुदाय करता है। समाज में धर्म, राजनीति आदि क्षेत्रों में नेतृत्व करना भी इन्हीं लोगों की बपौती मानी जाती है।

कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था में सामान्य जीवन का क्रम ऋतुओं के क्रम के साथ बदलता रहता है। विवाहादि संस्कारों का सबसे उपयुक्त अवसर तब होता है जब लोग कृषि-कार्य में सबसे कम व्यस्त हों। हमारे देश में गर्मी की ऋतु में सबसे अधिक ब्याह शादी होते हैं। इसी प्रकार आनन्द और उल्लास से भरे पर्व और त्योहार भी ऐसे समय होते हैं जब प्रकृति में मोद और उल्लास छाया हो। हमारे यहाँ का दशहरा, दिवाली और होली इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

पूँजीवाद के सामाजिक प्रभाव[1]

काफी लम्बे काल से पूँजीवाद ने संसार की सेवा की है और संसार के अनेक भागों में यह आर्थिक प्रणाली अभी तक लाभदायक कार्य कर रही है। इसके बड़े आलोचक भी इस बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु इस युग में पूँजीवाद का अपने मूल रूप में बना रहना समाजों के सिद्ध हो रहा है। वर्तमान समाज पर पूँजीवाद के प्रभाव का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है —

1 Gill — Cultural Sociology, pp. 395-398

(१) जीवन स्तर की उन्नति—पूँजीवाद न औद्योगीकरण को खूब विकसित किया जिसके साथ प्रौद्योगिकी का विकास भी होता गया। औद्योगीकरण और प्रौद्योगिकी के विकास से पूँजीवादी देशो के आर्थिक साधनो का बहुत व्यवस्थित और कुशल उपयोग हुआ। गुणो म उत्तरोत्तर अच्छी तथा प्रचुर वस्तुओ का निर्माण हुआ। वर्तमान युग म वस्तुओ और सेवाओ की विविधता और प्रचुरता का प्रमुख श्रेय पूँजीवादी प्रणाली को है। इससे समाज का जीवन स्तर और सतोष स्तर निरन्तर ऊपर उठा है। जनसाधारण के जीवन म सम्पन्नता बढी है। पार्थिव जीवन की सम्पन्नता के समान ही शिक्षा स्वास्थ्य, मनोरजन आदि म अप्रत्याशित वृद्धि हुई है जिससे साधारण आदमी को भी सरलता से सस्ती वस्तुए और सेवाए उपलब्ध हो सकी है। पूँजीवाद ने ज्ञान विज्ञान के विकास को जो प्रोत्साहन दिया उससे मनुष्य सभ्य ही नही हुआ किन्तु अनेक शोधो तथा अन्वेषणो म जीवन की खुशहाली, सुरक्षा और सुदीर्घता के बढने का अवसर मिला है। भयङ्कर से भयङ्कर रोगो का उपचार खोज लिया गया है जिससे मानव का जीवन कम कष्टमय और दीर्घजीवी हो गया है। इससे जनसख्या म भारी वृद्धि हुई है।

(२) जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण—पूँजीवाद के पूर्व जीवन के साधन बड़े परिमित थे। साधारण आदमी बहुधा अकिंचनता, अभाव और निराशा का जीवन बिताता था। अतएव वह अत्यधिक भाग्यवादी होता था। जीवन म आशा और सम्मान लेकर टिके रहने के आधार बहुत कम थे। किन्तु साधनो की प्रचुरता और सरल उपलब्धि के कारण मनुष्य अभावो के कष्ट से बचा। उसके जीवन से अनिश्चितता और निराशा भागे। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण उसे जीवन म जीभर महत्त्वाकाक्षाए पूरी करने का अवसर मिला। वह स्वाभिमानी हुआ और सुखी, सन्तोषी तथा आशावादी जीवन बिताने लगा। उसे अपने बल-बूते और पराक्रम पर मौज करने का मन्त्र मिला। इससे भगवान के भरोसे रहने की प्रवृत्ति क्षीण हो गई।

(३) संस्कृति और सभ्यता का विकास तथा प्रसार—परिवहन और सचार की उन्नति तथा व्यापार के विस्तार से ससार की विभिन्न संस्कृतियो का सम्पर्क हुआ। उनम परस्पर आदान प्रदान हुआ। उन्नत संस्कृतियो के सम्पर्क म आकर अविकसित और आदिम संस्कृतियाँ भी विकसित हुई। पश्चिमी विकसित सभ्यता की पार्थिव सुखसुविधाएँ आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशो को मिल सकी। उन्ह भी सभ्यता को अपनाने का लोभ हुआ जिससे उन्होंने अपना राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास करने का प्राणपण से प्रयत्न किया। पूँजीवाद की उन्नति ने जहाँ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को फैलाया वहाँ उनकी विरोधी शक्तियो—राष्ट्रवाद और देशभक्ति—को भी प्रोत्साहित किया। पूँजीवाद के प्रसार से समस्त ससार आज एक छोटा समुदाय बन गया है। मनुष्य म विशाल मानवता और विश्वबन्धुत्व की भावनाएँ दृढ़ होती जा रही हैं। समय और दूरी की समस्याए अब एक समाज को दूसरे

समाज में पृथक नहीं रह सकती। आज संसार के किसी भाग की कोई घटना सर्वत्र अपना प्रभाव डालती है।

(४) वर्ग-संघर्ष—पूँजीवाद समाज को दो प्रतिरोधी वर्गों में बाँटता है एक वर्ग में पूँजीपति होते हैं जो सब प्रकार से साधन-सम्पन्न होते हैं। दूसरे वर्ग में श्रमजीवी जो साधनहीन होते हैं और केवल अपने श्रम को बेचकर जीवन निर्वाह करते हैं इनके बीच की खाई निरंतर बढ़ती है क्योंकि साधनहीनों का शोषण और उनका उत्पीड़न उनमें अधिकाधिक असन्तोष भरता है। फलतः इन दोनों वर्गों में वर्ग युद्ध की प्रवृत्ति उग्रतर होती जाती है। यह सामाजिक आर्थिक जीवन को दूषित और विषाद मय बनाती है।

(५) बेकारी और सामाजिक विघटन—पूँजीवाद में आर्थिक स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली और साधन-सम्पन्नों की होती है। शेष लोगों को केवल शोषित होकर निर्धन और बेकार होने की स्वतन्त्रता होती है। घोर निर्धनता आय और धन के वितरण में विषमता बेकारी और कानूनी अत्याचार इन लोगों के व्यक्तित्व और परिवार का विघटन कर देते हैं। फलस्वरूप अपराध बाल-अपराध भ्रष्टाचार और पाप पूँजीवादी समाज की अनिवार्य विशेषताएं हैं।

(६) व्यापारिक मनोरंजन के दोष—पूँजीवाद में सारा का सारा मनोरंजन मुनाफाखोर व्यापारियों के हाथ में चला जाता है जो मुनाफे के लोभ में दर्शकों की छिछली और कुत्सित मनोभावनाओं को प्रसन्न करने के लिए पाप अत्याचार व्यभिचार तथा पतन करने वाली अन्य बातों को रेडियो टेलिविजन और फिल्म द्वारा प्रसारित या प्रदर्शित करते हैं। जुआ शराब और नाच गाना, मधुर नृत्य का सम्मानी होटल बार क्लब नाचघरों तथा थियेटरों में अगणित युवक-युवतियों को व्यभिचार और कृत्रिम जीवन में सराबोर किया जाता है।

(७) विरोधों से भरा सामाजिक जीवन—पूँजीवाद में सामाजिक जीवन विरोधों से भरा रहता है। इसमें सम्पन्नता और दरिद्रता विलासिता और भुखमरी न्याय और अन्याय शासन और दासता दुर्बलता और बेकारी साथ-साथ देखने को मिलते हैं। इस कारण समाज में भारी विषाद और असन्तोष पनपता है। यह स्थिति अनेक प्रकार के घृणित अपराधों को जन्म देती है। सत्ता और धन के मद में धनी, निर्धन और दरिद्रों पर नृशंस अत्याचार करते हैं जिससे प्रतिशोध की प्रखर भावना भड़कती है। सम्पत्ति सत्ता और सौन्दर्य का प्रदर्शन जनसाधारण में इनकी ओर प्रलोभन और लालसा जगाते हैं जिससे उनमें कुप्रवृत्तियाँ पनपती हैं।[1]

(८) आर्थिक हितों की प्रबलता—पूँजीवाद में मनुष्यों के जीवन में आर्थिक हित सबसे प्रबल होते हैं। इस अनेक प्रतियोगिता के मुकाबले में सहकारिता नहीं टिक

1 J. F. Cuber, Sociology, Appleton Century-Crofts Inc. New York (1951) p. 459

सकती है जब वह आर्थिक साधनो की बढती हुई मात्रा का स्वामी होता जाए। अत मनुष्य के जीवन का एक मात्र उद्देश्य धन कमाना होता है। निधनता सामाजिक अनादर बुलाती है और इसलिए पाप है। सम्पन्नता सामाजिक प्रतिष्ठा और ऊँची प्रस्थिति दिलाती है। जीवन की प्रत्येक क्रिया की सफलता या विफलता का मूल्यांकन आर्थिक आधार पर होता है। कला साहित्य आदि की सफलता इस बात से आकी जाती है कि उनकी उपजो की कितनी बिक्री होती है अथवा उनसे कितना लाभ होता है। दूसरे प्रत्येक बात का मूल्यांकन आकार और संख्या के आधार पर होता है। 'सत्य वही है जिसे अधिकाश लोग सत्य कहते ह। भौतिक समृद्धि ही जीवन का चरम लक्ष्य रह जाता है। फलत नैतिकता ईमानदारी सदाचार और आध्यात्मिकता की उपेक्षा कर भी आर्थिक समृद्धि के लिए प्रयत्न किया जाता है। जीवन के प्रत्येक कार्य का प्रेरक आर्थिक प्रतिफल ही माना जाता है। समाज की सभी गैर आर्थिक सस्थाएँ और दृष्टिकोण अवयक्तिक जटिल अर्थ-व्यवस्था की प्रबलता से प्रभावित हो जाते हैं।[1]

समाजवाद

समाजवाद का जन्म पूँजीवाद के अतर्विरोधो अर्थात् पूजीवाद समाज के वर्गभेद वर्गसघर्ष और शोषण स्थिति के प्रति भावात्मक विद्रोह व प्रतिक्रिया के कारण हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव म यूरोप और विशेषकर इङ्गलण्ड का समाज कुछ ऐसी विषमताओ स ग्रसित हो उठा, जिनमे १६वी शताब्दी के व्यक्तिवाद की आदर्शवादिता का खोखलापन व्यावहारिक स्तर पर स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गया। तत्कालीन समाज दो वर्गों म बँट चुका था। उद्योगो तथा मिलो पर पूँजीपतियो का स्वामित्व नियन्त्रण और अधिकार था। व सुखी और सम्पन्न थ। दूसरी तरफ सर्वथा अकिंचन और दरिद्र श्रमिक वग था। पूँजीपति वग जो सिर्फ मुट्ठी भर था इस विशाल मजदूर वग का घोर शोषण करता था। सामाजिक अन्याय और विषमता की इस दुखदायी स्थिति न संवेदनशील लोकनायको को समाज म आमूल परिवतन करने की प्रेरणा दी। फलत उस विचारधारा का उद्गम हुआ, जिसके मध्ययुगीन पोषक सेण्ट साइमन राबर्ट ओवन सिसमण्डी और प्रोधो आदि थ तथा जिनक सद्धान्तिक विचारो को कार्ल मार्क्स और एजल्स के विचारो न पूर्णता दी।

समाजवाद के कितने ही रूप हैं। मार्क्सवादी समाजवादी मार्क्स स पूर्व के समाजवादियो को आदर्श अथवा कल्पनापूर्ण (utopian) समाजवादी कहते हैं और मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवादी। सेण्ट साइमन ओवेन फरिअर आदि समाजवादी मार्क्सवादियो के अनुसार कोरा आदर्शवादी समाजवाद ही जानत थ। उन्होंने समाजवाद की स्थापना कर उसके आदर्शों को मूर्त रूप प्रस्तुत करने कोई वैज्ञानिक योजना

1 Jones *Basic Sociological Theory* p 251

नहीं प्रस्तुत की। इसके विपरीत कार्ल मार्क्स ने समाजवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की और यह भी बताया कि समाज की स्थापना और विकास कैसे किया जाए।

मार्क्स समाजवाद को समाज की एक स्थिति विशेष का ही अपरिहार्य परिणाम मानते थे। समाज में जब यह स्थिति आ जायगी समाजवाद के प्रादुर्भाव को कोई नहीं रोक सकता। इस तरह मार्क्स का समाजवाद उसके पूर्ववर्ती आदर्शवादी, समाजवादियों की तरह एक ऐसा आदर्शात्मक स्थिति मात्र नहीं थी जिसकी स्थापना मनुष्य और मानव समाज के समस्त व्यक्तिगत और सामूहिक विवेक और सदिच्छा पर आश्रित हो। मार्क्स का दृढ़ विश्वास था कि समाज प्रगतिशील है और जिन विकासशील नियमों के आधार पर समाज की अवस्थाएं आज तक बदलती रही हैं उन्हीं नियमों की क्रिया से पूँजीवाद समाज भी बदलेगा और समाजवादी समाज की स्थापना होगी चाहे मनुष्य इसे पसन्द करें या न करें।

समाजवाद की शाखाएँ[1]

समाजवाद का जन्म पूँजीवादी समाज के दूषित अत्याचारों के प्रति भावात्मक विद्रोह और प्रतिक्रिया के कारण हुआ इसलिए विभिन्न समाजवादी विचारकों ने पूँजीवाद के विकल्प अथवा स्थानापन्न के रूप में जिस व्यवस्था की कल्पना की उसके आदर्शों में स्वाभाविकतया एकता थी। परन्तु समाजवाद की प्राप्ति के ढंगों या साधनों में बहुत भेद था। मजदूर संघवाद (syndicalism) गिल्ड संघवाद (guild socialism) समष्टिवाद (collectivism) और साम्यवाद (communism) तथा अराजकतावाद (anarchism) सभी समाजवाद के नाम से पुकारे जाते हैं और इनके अर्थों में तात्विक एकता भी है। वर्तमान युग में समाज के पुनर्निर्माण की हर योजना समाजवादी कही जा सकती है। इसलिए जोड (Joad) ने कहा है कि "समाजवाद एक ऐसा टोप है जिसको पहनते सभी लोगों के पहिनने से बिगड़ गई है।"[2]

मोटे तौर पर समाजवाद की विभिन्न शाखाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं (१) विकासवादी समाजवाद (Evolutionary socialism) (२) क्रान्तिकारी समाजवाद (Revolutionary socialism)। यद्यपि इन दोनों प्रकार के समाजवाद में उद्देश्य समान है फिर उसे प्राप्त करने की नीतियों में बड़ा अन्तर है। विकासवादी समाजवाद यह विश्वास करता है कि समाज का पुनर्निर्माण शान्तिपूर्ण सावधानिक रूप में समाज के क्रमिक रूपान्तरण और स्वतः विकास से सम्भव

---

1. H W Laidler Social Economic Movements T Y Crowel Co New York (1945) for an historical and comparative survey of socialism communism etc systems of reform and reconstruction
2. Socialism in short is a hat which has lost its shape because every body wears it C E M Joad Modern Political Theory (1943) p 40

है। इसके लिए देश के संविधान की मर्यादा का सम्मान करते हुए समाजवादी दल प्रजातन्त्रीय ढग से राज्य सत्ता हथिया लें और कल्याणकारी राज्य की स्थापना कर समाजवाद की स्थापना करें। समष्टिवादी और ब्रिटेन के फेबियन समाजवादी (Fabian socialists) इसी प्रकार के समाजवाद में विश्वास करते हैं। संसार के अनेक यूरोपीय, अफ्रीकी और एशियाई देशो में समष्टिवादी समाजवाद को प्रजातान्त्रिक समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस तरह के समाजवादी राज्य को बनाए रखने के पक्ष में हैं और इसलिए राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है। सामाजिक हितों का संरक्षक तथा समाजवाद की स्थापना का प्रमुख साधन राज्य ही होता है। धीरे धीरे उद्योगों और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है और राज्य के सामाजिक और आर्थिक कार्यक्षेत्र को बढ़ाया जाता है। संक्षेप में, राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाकर उसे समाजवाद की स्थापना के लिए रक्तपातहीन क्रान्ति का साधन बनाया जाता है।

इसके विपरीत क्रान्तिकारी समाजवाद में समाजवाद की स्थापना क्रान्ति द्वारा की जाती है। इसमें उथल पुथल, हिंसा और रक्तपात के उपायों को बुरा नहीं माना जाता क्योंकि वे एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के साधन माने हैं। इसमें यह विश्वास पाया जाता है कि ध्येय की प्राप्ति के लिए हर प्रकार के साधन उचित हैं।[1] पूँजीवाद का विनाश क्रान्ति में करना आवश्यक माना जाता है। दूसरे क्रान्तिकारी समाजवाद राज्य को भी शोषण और आतंक का ही एक साधन मानता है। अतएव वह अन्ततः उसके विनाश के पक्ष में होता है। धीरे धीरे ऐसी समाजव्यवस्था निर्मित की जाएगी जब राज्य अनावश्यक होगा और मुरझा कर सूख जाएगा।[2] रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में क्रान्तिकारी समाजवाद का ही बोलबाला है। पिछले विश्व महायुद्ध (१६३६ ४५ ई०) के बाद उत्तरी कोरिया चीन उत्तरी इंडोचीन में भी यही व्यवस्था स्थापित है।

आदर्श समाजवाद और वैज्ञानिक समाजवाद के इन विभिन्न रूपों के कारण समाजवाद के सही अर्थ का एक जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। दूसरे, समाजवाद के अर्थ में राजनैतिक और आर्थिक दोनों पक्षों का घनिष्ठ मेल है। इन दोनों पक्षों की पृथक्-पृथक् विवेचना न तो सम्भव है और न अपेक्षित। समाजवादियों में राजनैतिक और प्रशासकीय संगठन के बारे में बड़ी विभिन्नता है फिर भी उनके आर्थिक उद्देश्यों (सैद्धान्तिक पक्ष) में पूर्ण एकता है। उनके अनुसार समाजवाद वह सामाजिक व्यवस्था है जिसका आधार समता का सिद्धान्त है। इसमें सम्पत्ति का समान वितरण होता है तथा सामाजिक न्याय के आधार पर व्यष्टि और समष्टि का जीवन चलता है। इसकी प्राप्ति के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है

1 Ends justify the means
2. The State will wither away

(१) उत्पादन के साधनों का समाजीकरण (अर्थात् व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त) (२) प्रमुख उद्योगों और सेवाओं पर सामाजिक स्वामित्व और नियन्त्रण की स्थापना (३) सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था (विशेषकर उत्पादन और वितरण) का सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि से, व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से नहीं, संचालन। (४) प्रतिस्पर्धा पर आधारित स्वचालित अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर विचारयुक्त संचालन और योजना से निर्देशित अर्थ-व्यवस्था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समाजवाद निम्नलिखित तात्विक सिद्धान्तों पर आधारित है (१) समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्व देना (२) उन्नति के अवसरों में समानता (३) शोषण के साधनों का अन्त और (४) निजी लाभ तथा स्पर्धा का अन्त।

समाजवाद का समाज पर प्रभाव

संसार के कई देशों में समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना हो गई है, परन्तु कितने ही देश ऐसे हैं जिनकी अर्थव्यवस्था अब भी पूँजीवादी या मिश्रित है। इन गैर-समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं पर समाजवाद के प्रभाव में वृद्धि हो रही है। यहाँ पूँजीवादी देश अमरीका की अर्थव्यवस्था भी इस प्रभाव से अछूती नहीं है। हमने पहले ही यह स्पष्ट किया कि पूँजीवादी देशों में औद्योगिक संस्थाओं पर राज्य नियन्त्रण, राजकीय उपक्रम और सहकारी संस्थाएँ समाजवाद के प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ जैसे भारत और इङ्गलैण्ड की तो निरन्तर समाजवाद की ओर बढ़ रही हैं। इनमें सम्पत्ति का अधिक उचित वितरण, पूर्ण रोजगार की दशाएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न, भूमि और आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, पूँजीवाद पर राजकीय नियन्त्रण, सामाजिक पाप, विषमता और शोषण का निराकरण, श्रम तथा अन्य पिछड़े वर्गों का अधिकाधिक कल्याण आदि कुछ बातें समाजवाद की स्थापना की दिशा में प्रयत्न हैं। समाजवादी देशों में एक नए प्रकार की सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई जिसमें वर्तमान आर्थिक विषमता, शोषण और दरिद्रता प्रायः मिट गए हैं तथा दरिद्रता का नाम की वस्तु आज नहीं मिलती। सचमुच समाजवाद ने सामाजिक जीवन में एक अपूर्व क्रान्ति ला दी है।

(१) मनुष्य का जीवन और समाज के प्रति दृष्टिकोण—समाजवाद ने मनुष्य में यह विश्वास भर दिया है कि अपना और समाज का उन्नति एवं सुख-कल्याण के लिए मानवेतर (दैवी) शक्तियों की कृपा के बगैर वह स्वयं प्रयास कर सकता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। समाज मनुष्य के सुख कल्याण का एक साधन मात्र है। उसमें यथावश्यक संशोधन या परिवर्तन करने की उसे पूरी छूट है। भौतिकवादी विचारधारा ने मनुष्य को इस संसार का एक वास्तविक केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया है। वह इस विश्व को मनुष्य के उद्धार का सबसे महान् यन्त्र मानता रहा है। अतः मनुष्य भौतिकवादी हो गया है। वह भौतिकवाद में अपना

चरम कल्याण देखता है। धर्म और अध्यात्म उसके लिए अनावश्यक हैं। आज उसे स्वाभिमान है और अपने जीवन पर गर्व।

(२) समता, न्याय और स्वतन्त्रता—समाजवादी समाज के प्रत्येक सदस्य को दूसरों के साथ पूर्ण आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समता है। प्रजाति, रंग, धर्म, लिंग अथवा देश के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता। सारा समाज वर्ग-विहीन है। समाज में दलितों का कोई चिन्ह नहीं। आर्थिक अवसरों की समता है। आय और सम्पदा के वितरण में केवल अनिवार्य असमानता ही है। इसी प्रकार पेशे, रोजगार, धर्म, राजनीतिक संगठन आदि की स्वतन्त्रता है। व्यक्ति को पूर्ण रोजगार और काम पाने का अधिकार है और व्यक्ति तथा परिवार दोनों को सामाजिक सुरक्षा पाने का अधिकार। इस प्रकार, समाज में आर्थिक और सामाजिक शोषण और विषमता, वर्गभेद, दरिद्रता, वेश्यावृत्ति और बेकारी का निराकरण हो गया है और सामाजिक-आर्थिक न्याय तथा समता स्थापित हुए हैं। इससे मानववाद (humanism) को अपूर्व प्रोत्साहन मिला है।

(३) ऊँचा जीवन स्तर—समाजवाद भौतिकवादी व्यवस्था है। इसमें सम्पदा के अधिकतम उत्पादन के अवसर उत्पन्न किए जाते हैं। प्रौद्योगिकी की उत्तरोत्तर प्रगति से उत्पादन में तीव्र वृद्धि सम्भव हो गई है। इस सम्पदा का न्यायपूर्ण वितरण होता है। आय और सम्पत्ति में लोगों में न्यूनतम विषमताएँ रहती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, परिवहन और संचार तथा कला और मनोरंजन का स्वस्थ समाजोपयोगी विकास जीवन-स्तर को वास्तविक रूप से उन्नत करता है। समाज सेवा और सुरक्षा की सेवाएं इतनी प्रचुर होती हैं कि व्यक्ति और परिवार का वास्तविक कल्याण बहुत अधिक होता है।

(४) संस्थाओं की समाज उपयोगिता—प्रत्येक सामाजिक संस्था का प्रधान प्रयोजन समाज हित होता है। जिस संस्था में इस गुण का अभाव है अथवा जो समाज-विरोधी हितों को पूरा करती है उसका अस्तित्व असम्भव है। कला, साहित्य, मनोरंजन सभी को समाज हित की सिद्धि करनी पड़ती है। उन्हें राज्य नियन्त्रण तथा निर्देशन से समाजोपयोगी बनाया जाता है। पूँजीवादी समर्थक इसे राष्ट्रीयकरण कहकर समाजवाद की आलोचना करते हैं। उनकी आलोचना गलत है। सच बात तो यह है कि रूस जैसे समाजवादी देशों में शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, कला, मनोरंजन आदि का सर्वोत्तम विकास हुआ है।

(५) सुखमय पारिवारिक जीवन—परिवार की पार्थिव आवश्यकताओं की अच्छी पूर्ति होने के कारण उसे आर्थिक दबावों की चोट नहीं सहनी पड़ती है। बच्चों का पालन-पोषण, शिक्षा और सम्पत्ति के स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था होने के कारण पारिवारिक जीवन बड़ा सुखमय है। व्यभिचार के अवसरों को बहुत कम तथा

वेश्यावृत्ति का सर्वथा उन्मूलन कर दिया गया है। इससे दम्पत्ति का जीवन प्रेम और सहयोगपूर्ण हो गया है।

(६) ग्राम और नगर के जीवन में न्यूनतम भेद—पूँजीवादी औद्योगिक समाजों में ग्राम तथा नगर के समाजों में भारी भेद होता है। दोनों समाज के अनेक मामलों में एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत होते हैं। समाजवादी देशों में ग्राम्य जीवन के विकास को महत्त्व नहीं दिया जाता। ग्रामों पर नगरों की पूर्ण प्रबलता नहीं होती। राष्ट्रीय जीवन में लोगों को समान अवसर प्राप्त होते हैं। गाँवों की आर्थिक उन्नति शिक्षा स्वास्थ्य परिवहन और संचार संस्कृति सभी का यथासम्भव विकास किया जाता है। अतएव गाँवों में भी सभ्य जीवन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं।

(७) सामाजिक आयोजन—समाजवादी अर्थव्यवस्था की मुख्य आर्थिक संस्था आर्थिक आयोजन है। देश के आर्थिक विकास के लिए इसको सफल करने के हर सम्भव उपाय किए जाते हैं। अतः समग्र आयोजन आवश्यक हो जाता है। सामाजिक आयोजन इसका प्रमुख अंग होता है। सामाजिक संरचना कैसी हो, कौन-कौन संस्थाएँ रहें तथा सामाजिक स्थिरता और सुरक्षा के लिए क्या किया जाए ये सभी बातें सामाजिक आयोजन का अंग होती हैं। आयोजित समाज के विभिन्न अंगों तथा व्यक्ति और समाज के हितों में सुखद समायोजन समाज की विशेषता है।

(८) उल्लास और आल्हादपूर्ण सामुदायिक जीवन—राष्ट्र के समस्त पर्व और उत्सव बड़ी धूम धाम से मनाए जाते हैं। राज्य इनके आयोजन में सहायता देता है। पर्वों और उत्सवों में जनसाधारण का उत्साह और आनन्दपूर्ण सम्मिलन इसलिए सम्भव हो जाता है कि साधारण दैनिक जीवन में घृणा, विवाद और संघर्ष के बहुत कम अवसर मिलते हैं। गाँव और नगर दोनों के नागरिकों में सामुदायिक सामाजिक सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ, सहानुभूतिपूर्ण और स्वाभाविक होते हैं। विराट समाज (mass societies) होने पर भी समाजवादी नागरिकों में मधुर सामुदायिक सम्बन्ध बने रहते हैं। वर्ग संघर्ष, आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय का अभाव सम्भवतः इस सुखद स्थिति का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

आर्थिक संस्थाओं का समाज पर प्रभाव

पिछले पृष्ठों में हमने सामन्तवादी, पूँजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के उन प्रभावों का विवेचन किया जो मनुष्य के व्यवहार और गैर-आर्थिक संस्थाओं पर पड़ता है। पिछले १५० वर्षों में जो आर्थिक परिवर्तन हुए उनका समाज पर कितना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा इसका भी यथावसर संकेत किया गया है। वास्तव में इन आर्थिक परिवर्तनों से कुछ समाजों के परिवार, राज्य, धर्म और संस्कृति में इतना गम्भीर वातावरण हुआ है कि उनके वर्तमान और पुरातन रूप में किसी प्रकार समानता का ढूँढना ही कठिन हो जाता है। आधुनिक सभ्य समाजों में

आर्थिक संस्थाएँ इतनी महत्वपूर्ण हो गई हैं कि समस्त जीवन के समस्त पहलुओं पर आर्थिक रंग चढ़ गया है। हमारा सारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन भौतिकता में सराबोर हो गया है। हम कई बार सोचने लगते हैं कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन और परिवर्तन का एक मात्र कारण आर्थिक कारण है। किन्तु इस प्रकार की धारणा गलत है। हम पहले ही मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद की आलोचना कर चुके हैं। यद्यपि आर्थिक संस्थाएँ आधुनिक समाज में बहुत महत्वपूर्ण हैं किन्तु मानव व्यवहार और समाज की गैर आर्थिक संस्थाओं (परिवार, राज्य, धर्म, शिक्षा, साहित्य, कला और मनोरंजन आदि) के निर्धारण का एक मात्र कारण उन्हें नहीं माना जा सकता। मानव सम्बन्धों की सम्पूर्ण जटिलता में विविध संस्थाओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। समस्त संस्थाओं का एक दूसरे से अन्त निर्भरता का सम्बन्ध है। हाँ एक बात अवश्य है। देश-काल परिस्थिति के अनुसार इनमें से किसी विशिष्ट संस्था का दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रबल हो जाना संभव है। अमरीका इंगलैंड आदि पूँजीवादी देशों में आर्थिक संस्थाएं प्रबल स्थिति में हैं। समाजवादी और साम्यवादी देशों में राजनीतिक संस्थाएं प्रबल हैं। यह स्थिति केवल संक्रान्ति-कालीन है। पूर्ण समाजवाद कायम होते ही विभिन्न संस्थाओं में अनावश्यक असंतुलन समाप्त हो जाएगा।

किसी भी समाज की प्रगति के लिये उसकी आर्थिक उन्नति अनिवार्य है। दरिद्रता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह मनुष्य और समाज दोनों के सुखी जीवन की शत्रु है। दरिद्र मनुष्य अनैतिक अथवा समाज विरोधी कार्य करने को सरलता से उद्यत हो जाता है। दरिद्रता की सहचरी बेकारी है। इन दोनों के साथ आर्थिक शोषण और विषमता रहते हैं। इन सबका संयुक्त प्रभाव समाज पर इतना गंभीर पड़ता है कि समाज में व्यापक असंतोष फैल जाता है। राजनैतिक भ्रष्टाचार और अस्थिरता बढ़ते हैं। वर्ग संघर्ष वेश्यावृत्ति बालापराध और अपराध व्यक्तिगत और पारिवारिक विघटन सभी का बड़ा भयानक रूप हो जाता है।

हम देख चुके हैं कि पूँजीवादी समाजों में अत्यधिक आर्थिक विकास से दरिद्रता भिक्षावृत्ति और बेकारी नष्ट हो गये थे। उनकी सामाजिक सुरक्षा भी बढ़ गई थी किन्तु औद्योगिकी के अपूर्व विकास ने नए नए प्रकार की बेकारी को जन्म दिया है व्यापारिक संकट बने रहते हैं। कृषि और उद्योग में अति उत्पादन ने उन्हें आर्थिक साम्राज्यवाद स्थापित करने को प्रोत्साहित किया है। जिन न्यूनविकसित या निर्धन देशों को पूँजीवादी देश आर्थिक और प्राविधिक सहायता देते हैं उन पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं तथा उनके घरेलू मामलों में बार-बार हस्तक्षेप करते हैं। दूसरे अतुल आर्थिक समृद्धि तथा सम्पन्नता ने अपूर्व विलास को पूँजीवादी समाजों में व्यभिचार वेश्यावृत्ति बालापराध और राजनैतिक भ्रष्टाचार को सबसे अधिक बढ़ावा दिया है। वहाँ का पारिवारिक जीवन भी तलाकों तथा नैतिकहीनता का शिकार है।

जीवन अत्यधिक भौतिकवादी और कृत्रिम हो चला है। समाज की नीतियों तथा धर्म पर अवांछित प्रभाव पड़ा है। नीग्रो श्रमिकों की जागृति ने अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं। हड़तालें, तालाबन्दी, वर्ग संघर्ष श्रम समस्या को चिन्ताजनक बनाते हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति दूर भागती जा रही है।

समाजवादी देशों ने अपनी आर्थिक समस्याओं के समाधान में अपूर्व सफलता प्राप्त की है किन्तु वहाँ नौकरशाही, सैन्यीकरण (regimentation) और एक दल शासन से उत्पन्न समस्याएँ कम चिन्ताजनक नहीं हैं। अल्पविकसित देशों में दरिद्रता, बेकारी, आर्थिक विषमता समाज के जीवन को असन्तोषमय और विघटित कर रही है। यहाँ जनसंख्या की तीव्र वृद्धि निर्धनता को उत्तरोत्तर बढ़ा रही है। अतएव यहाँ की आर्थिक समस्याएँ निराली हैं। भारत को लीजिए। यहाँ की निर्धनता तब मिट सकती है जब कृषि, छोटे और बड़े उद्योगों के विकास के लिए जनता और सरकार दोनों पूरी लगन से जुट जाएँ तथा साथ ही जनसंख्या की तीव्र वृद्धि को रोका जाए। आर्थिक विकास के लिए भारत में आयोजन किया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि तथा कुटीर उद्योग-धन्धों को प्राथमिकता दी गई थी। दूसरी योजना में आधारभूत उद्योगों को प्राथमिकता मिली है। किन्तु इसके साथ-साथ सामाजिक सांस्कृतिक विकास पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। कृषि और उद्योग के विकास में श्रम शक्ति के अलावा मानवीय तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक किसान को अपने परिश्रम का उचित प्रतिफल नहीं मिलता तब कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन नहीं होगा। इसी प्रकार उद्योगों के अधिकतम विकास की समस्या श्रम-कल्याण की जटिल समस्या से सम्बन्धित है। आर्थिक विकास के लिए अन्य आवश्यकताएँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं जैसे पूँजी का निर्माण और प्रौद्योगिकी की प्राप्ति। हम इन बातों में बहुत पिछड़े हैं। अतएव केवल आर्थिक और प्राविधिक साधनों के मिलने पर भी हमारी प्रगति की गति बहुत तेज नहीं हो सकती। देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक दशाएँ उत्पन्न करने में सामाजिक दृष्टिकोण, मूल्यों और संस्थाओं को यथावश्यक संशोधित या परिवर्तित करने की जरूरत पड़ती है। साथ जनता का सहयोग न मिलने पर आर्थिक प्रगति की गति धीमी ही रहती है फिर चाहे धन कितना ही प्रचुर क्यों न हो?

इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश की आर्थिक समस्याएँ एक तरह की नहीं होतीं जिससे समाज का सर्वोत्तम आर्थिक कल्याण हो सके। दूसरे शब्दों में हर समाज की कुछ आर्थिक समस्याएँ होती हैं जिनका समाधान न होने पर समाज पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है और इन समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना भी जरूरी होता है जिसके लिए सामाजिक व्यवस्था में भी आवश्यक परिवर्तन करना अनिवार्य होता है। फिर आर्थिक विकास के साथ-साथ नई-नई समस्याएँ भी पैदा हो जाती हैं। उनका सम्बन्ध समाज के हर पहलू

पर पड़ता है और यदि प्रौद्योगिकी को समाज हित में न इस्तेमाल किया जाए तो इससे बहुत बड़ी सामाजिक हानि हो सकती है।

औद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षण[1]

वर्तमान युग में विकसित समाजों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका अत्यधिक औद्योगीकरण। औद्योगीकरण से राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है उसकी सामरिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति भी सुदृढ होती है। यही कारण है कि आज सभ्य और उन्नत देशों की सामर्थ्य का प्रतीक उद्योग हैं। औद्योगिकवाद (industrialism) सभ्यता का मूल दर्शन हो गया है। यदि हम आधुनिक उन्नत समाजों के जीवन का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उसके प्रत्येक पहलू पर औद्योगीकरण का गहरा आघात हुआ है। और औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल अछूते अथवा कम विकसित देशों के सामाजिक जीवन पर भी औद्योगीकरण का प्रभाव कम नहीं है। औद्योगीकरण के कारण सामाजिक संरचना आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं मूल्यों और रस्मों धर्म व संस्कृति आदि में जो परिवर्तन परिवर्द्धन हुए हैं उन्हें औद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षण (social implications) कहते हैं। आइये, अब उन्हीं की विवेचना करें।

औद्योगीकरण का मुख्य उद्देश्य आर्थिक है। बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य वस्तुओं का विशद् मात्रा में उत्पादन है। यदि ये उद्योग गैर सरकारी निजी व्यक्तियों अथवा समूहों के स्वामित्व में होते हैं तो उनसे बहुत बड़ी मात्रा में सस्ते माल का उत्पादन कर अधिकतम लाभ कमाया जाता है। लाभ कमाने की लालसा ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है उद्योगों पर स्वामित्व और नियन्त्रण समाज हित की दृष्टि से न होकर निजी लाभ के लिये होता है जिसका उग्र रूप हम पाश्चात्य देशों के पूँजीवाद में देखने को मिलता है। किन्तु जहाँ उत्पत्ति के सभी बड़े साधनों पर समाज या राज्य का अधिकार होता है वहाँ बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि कर जनसाधारण के जीवन-स्तर को उन्नत करना होता है। औद्योगीकरण के विकास से आर्थिक विकास के वेग को बढ़ाया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में वही देश अपनी स्वतन्त्रता और सम्मान की रक्षा कर सकता है जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो। सैनिक सामर्थ्य का आधार भी आर्थिक सम्पन्नता है।

औद्योगीकरण के आर्थिक प्रभाव बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। विशद् मात्रा, सस्ते और अच्छे माल के उत्पादन से जनसाधारण की पार्थिव आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर अच्छी सन्तुष्टि होती है। उनका जीवनस्तर ऊँचा होता है। ऊँचे जीवन-स्तर में लोगों की आवश्यकताएं भी फिर खूब बढ़ती हैं। उनकी पूर्ति के लिये नए-नए

1 Social implications of industrialization

काम धन्धे, पेशे और व्यवसाय कायम होते हैं। जीवन की सुख सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, भवननिर्माण, परिवहन और संचार सभी क्षेत्रों की उन्नति होती है। उन सब में विविध विशेष पेशों या व्यवसायों का विकास होता है। रूस या अमरीका जो औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत देश हैं, श्रम विभाजन और विशेषीकरण की जटिल व्यवस्था इस तथ्य की साक्षी है। उद्योगों के केन्द्रीयकरण ने कारखानों की संख्या में श्रमिक तथा अन्य सम्बन्धित कर्मचारी, व्यापारी, दुकानदार, व्यवसायी आदि के जमघट से बड़े-बड़े नगर बसते हैं। यद्यपि औद्योगीकरण के पहले भी नगर थे किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् संसार में नगरों की स्थापना और संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के विकास के साथ प्रविधि की उत्तरोत्तर प्रगति अवश्यम्भावी है। प्राविधिक उन्नति से उद्योगों में अभिनवीकरण (rationalization) का विस्तार होता है। इससे नई-नई और अधिक कुशल मशीनें लगाकर उत्पादन प्रक्रियाओं को श्रेष्ठ कर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। मशीनों की कार्यक्षमता में वृद्धि से श्रमिकों की संख्या में कमी करना आवश्यक हो जाता है। मजदूरों की छटनी से बेकारी बढ़ती है। इधर छोटे उद्योगों तथा कृषि पर औद्योगीकरण का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कृषि तथा छोटे उद्योग बहुधा समाप्तप्राय हो जाते हैं। छोटे उद्योगों के विनाश से भी बेकारी बढ़ती है और यदि कृषि का यन्त्रीकरण भी किया जाय तो भी कृषि मजदूरों में बेकारी बढ़ती है। बेकारी की यह समस्या औद्योगीकरण तथा प्राविधिक उन्नति के साथ भयंकरतर होती जाती है जब तक कि अतिरिक्त श्रमशक्ति को अन्य उचित रोजगार न मिले या फिर उनके उचित निर्वाह के लिए राज्य या समाज की ओर से समुचित प्रबन्ध न किया जाय। औद्योगीकरण के विकास से राष्ट्रीय साधनों का बड़ा कुशल उपयोग तो निश्चित हो जाता है और राष्ट्रीय उत्पादन में अपूर्व वृद्धि होती है किन्तु यदि औद्योगीकरण का समाज हित में नियन्त्रण या संचालन न हो तो आर्थिक विषमता, शोषण और वर्ग संघर्ष की बड़ी भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पूंजीवादी देशों के अन्दर गृहयुद्ध अथवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध बीसवीं शताब्दी की सबसे कलुषित घटनाएं हैं और यह शताब्दी अपूर्व औद्योगिक प्रगति का युग कह सकती है। औद्योगीकरण के विकास से श्रमिकों तथा पूंजीपतियों या नियोजकों की भावना और वादी की शक्ति संगठित करने के लिए प्रतिस्पर्धी संघों में संगठित होना पड़ता है। हड़ताले, तालाबन्दी और वर्ग संघर्ष होते हैं। शान्ति और सुरक्षा तथा जन के आर्थिक हित की रक्षा के लिए सरकार को उद्योगपतियों और मजदूरों के सम्बन्धों के सुधारने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसी प्रकार कृषकों और छोटे उद्योग-धंधों के हितों की रक्षा के लिए राज्य को बड़े उद्योगों की मनमानी उत्पादन-नीति तथा व्यापार-नीति पर नियन्त्रण करना पड़ता है। पूंजीवादी देशों में राज्य के बढ़ते हुए नियन्त्रण तथा राजकीय योजनाओं का विस्तार इस पक्ष का सूचक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि

अनियन्त्रित और निजी लाभ से प्रेरित औद्योगीकरण के कई गम्भीर आर्थिक कुप्रभाव होते हैं किन्तु नियन्त्रित और समाज के कल्याण की दृष्टि में औद्योगिक विकास में अधिकांश आर्थिक दुष्प्रभाव बिल्कुल नहीं होते और बेकारी आर्थिक विषमता तथा गावों द्वारा नगरों की अधीनता जैसे दुष्प्रभावों का न्यूनतम कर लिया जाता है। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में कृषि का विकास कतई उपेक्षित नहीं है और न कृषि और छोटे उद्योग धंधों को औद्योगीकरण से कुचल ही दिया गया है। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के प्रत्येक खण्ड को उचित महत्व दिया जाता है।

पूँजीवादी देशों में औद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षणों में कुछ अति घृणित बातें हुई हैं, जैसे वेश्यावृत्ति भ्रष्टाचार, अपराध और व्यभिचार की वृद्धि, वर्ग विषमता और संघर्षों की उग्रता, शहरों में गन्दी बस्तियों की उपस्थिति भौतिकवादिता की प्रबल लहर के साथ सुन्दरी सुरा और सम्पत्ति की अतृप्ति व्यापारिक मनोरंजन में अनैतिकता और दुराचार की प्रबलता तथा काम और अपराध का नग्न प्रदर्शन। ये सभी उपलक्षण वैयक्तिक और सामाजिक विघटन को बढ़ाते हैं तथा सामाजिक स्वास्थ्य और सुदृढ़ता की जड़ पर कुठाराघात करते हैं। सामाजिक जीवन में कृत्रिमता और पार्थिवता, आडम्बर और छिछलापन आ जाता है। ये स्वाभाविक और स्निग्ध सामाजिक सम्बन्धों को नहीं पनपने देता। सभ्यता की चरम उन्नति में भी मानव पशु या दानव का जीवन बिताये इससे अधिक लज्जा की बात सभ्य मनुष्य के लिए क्या हो सकती है?

औद्योगीकरण के ऐसे सामाजिक उपलक्षणों का विश्लेषण करना अधिक महत्वपूर्ण है जो सभी देशों में अनिवार्यतः प्रकट होते हों। इन्हें किसी विशिष्ट सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रणाली की सहायता से संशोधित नहीं किया जा सकता है। नागरीकरण का प्रसार, विराट समाज और उनकी अपूर्व विशेषताएं, संस्कृति का रूपान्तर और मनुष्य के सोचने और कार्य करने के तरीकों और आदतों में परिवर्तन कुछ ऐसे ही उपलक्षण है।

नगरीकरण का विस्तार और विराट समाज—औद्योगीकरण के शीघ्र विकास से लाखों की जनसंख्या वाले अनेक महानगरों की वृद्धि हुई है। आज से १५० वर्ष पूर्व मानव कल्पना के यह परे था कि टोकियो लन्दन न्यूयार्क, मास्को, कलकत्ता जैसे विशाल महानगरों में ५० लाख से ऊपर जनसंख्याएं एक स्थान पर बस सकेंगी। औद्योगीकृत देशों की ग्रामीण जनसंख्या भी बढ़ी है। गांवों और नगरों की जनसंख्या में अति भारी वृद्धि से विराट समाज (mass societies) बन गये हैं। इन समाजों में प्राथमिक और छोटे छोटे समूहों के ऊपर विशाल द्वितीयक समितियों का जमघट लगा है। बड़े समुदायों का सर्वोच्च महत्व है। इनमें प्रजातीय भाषायी, सांस्कृतिक और व्यावसायिक विजातीयत्व (heterogeneity) का अति जटिल रूप देखने को मिलता

है। इस कारण इन समुदायों में अवैयक्तिक और अनुबन्धीय सम्बन्धों (contractual relations) की भरमार है।

विशाल महानगरों के समाज की दैनिक आवश्यकताएं वहां जटिल होती हैं। स्थानीय निकायों के लिये सामान्य वस्तुओं की पूर्ति जल बिजली सफाई स्वास्थ्य शिक्षा परिवहन और संचार विश्रान्ति-स्थल, मनोरंजन-केन्द्र आदि की व्यवस्था करना निहायत मुश्किल जिम्मेदारी होती है। साथ ही अवैयक्तिक सम्बन्धों और बनावटीपन की स्थिति में कानून और व्यवस्था की समस्या भी प्रयत्न टंगी रहती है।

जीवन में वेग और यान्त्रिकता—प्रत्येक नागरिक को अपने अपने काम करने की धुन होती है। कार्याधिक्य के कारण निश्चिन्तता का कोई स्थान नहीं है। हरेक का नदी होती है। वह घड़ी की सुइयों के साथ अपने समय का विभाजन करता है। कारखानों के द्रुतगामी यन्त्रों और नगर के भागते हुए जीवन के साथ मनुष्य का दैनिक जीवन भी एक दौड़ लगाता है। घर के बाहर जीवन इतना अधिक व्यस्त है कि बगैर भाग दौड़ के काम ही नहीं चलता।

सामाजिक संस्थाओं का रूपान्तरण—औद्योगिक समाज की समस्त सामाजिक संस्थाओं की संरचना कार्यों और शक्तियों में परिवर्तन हो जाता है। संयुक्त परिवार टूट कर छोटे वैयक्तिक परिवार विकसित होते हैं। विवाह और पारिवारिक जीवन पर धर्म का नियन्त्रण कम घट जाता है। रीति-नीतियाँ भी शिथिल पड़ जाती हैं। विवाह-विच्छेद करने की कानूनी स्वीकृति हो जाती है। स्त्री और पुरुष दोनों को समान स्तर में पारिवारिक उत्तरदायित्व उठाने पड़ते हैं। स्त्रियां घर के बाहर कारखानों, दफ्तरों और बाजारों में काम करती हैं। वे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में शामिल होती हैं। रोजगार तथा अच्छे अवसरों की तलाश में परिवार मूल गाँव तथा नगर को छोड़कर अन्यत्र जाते हैं। इससे परिवार की गतिशीलता बढ़ती है। अधिकांश परिवारों को किराये के मकानों में रहना पड़ता है और दैनिक जरूरतों की वस्तुएँ ही अधिकांश उनकी सम्पत्ति होती हैं। परिवार के कार्यों में यौन-सन्तुष्टि, बच्चों का जन्म और पालन भी प्रमुख होते हैं। परिवार के सभी मनोरंजनात्मक कार्य दूसरी विशेष संस्थाओं के पास चले जाते हैं।

इसी प्रकार राज्य-व्यवस्था की संस्थाओं में भी परिवर्तन आता है। हमारी विवेचना इस पक्ष पर कर चुके हैं। विशाल औद्योगिक समाजों में राज्य का कार्य-भार और सत्ता बढ़ जाते हैं। कल्याणकारी राज्य से लेकर सर्वसत्ता-सम्पन्न (totalitarian) राज्य तक का विकास होता है। राजनीति एक पेशा सा हो जाता है। विभिन्न राजनैतिक दलों का संगठन और चुनावों द्वारा सत्ता पर अधिकार करने के प्रयत्न होते हैं। राज्य का समाज की समस्त आवश्यकताओं के संरक्षण का एक साधन समझा जाता है।

शिक्षा का स्वरूप भी औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बदल जाता है। उसका विस्तार एव विशेषीकरण होता है। प्राविधिक और औद्योगिक शिक्षा को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। ज्ञान विज्ञान के प्रसार तथा शोध के लिये अनेक सङ्गठन बनते हैं। राज्य नियन्त्रण और वित्तीय अनुदान से उसके सङ्गठन और उद्देश्यों को नियमित करता है। सामान्य और सामाजिक शिक्षा का महत्व बढ़ जाता है क्योंकि नागरिकता के लिये उसे अनिवार्य माना जाता है। साहित्य का प्रकाशन बहुत बड़ी मात्रा में होता है और यह चेष्टा की जाती है कि सामाजिक जीवन के नियमन, सुधार या परिष्कार के लिए साहित्य एक सशक्त साधन बने। समाचार पत्रो, रेडियो टेलीविजन सिनेमा आदि विराट सचार साधनो से लोगों की सूचना पाने की अतृप्त प्यास को बुझाने की चेष्टा की जाती है।

पेशेवर खेलो, सिनमा, रेडियो, टेलिविजन आदि का जनसाधारण के मनोरजन के लिये अभूतपूर्व विकास होता है। जनसाधारण की इन तक पहुँच होती है। उनकी रुचियो के विचार से ही चलचित्रो तथा अन्य कार्यक्रमो का आयोजन होता है। कला और मनोरजन की सर्वसाधारण के लिये उपयोगी होने की प्रवृत्ति का जनतन्त्रीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रवाह बहा जाता है। ललित कलाओ को जीवनोपयोगी होना पड़ता है। कला कला के लिए नही जीवन के लिए होती है।

स्त्रियो तथा श्रमिकों की उच्च प्रस्थिति—उद्योगो की उन्नति से स्त्रियो को लगभग पुरुष के समान ही प्रस्थिति मिल गई है। उसका कार्यक्षेत्र केवल घर तक सीमित नही रहा है। वह ससार के विशाल प्रागण मे क्रियाशील है। सामाजिक जीवन का कोई भी आचल स्त्रियो के बिना सप्रभावी एव सुन्दर नहीं हो पाता। श्रमिको को अब केवल श्रम बचकर अकिंचन जीवन बिताना नही पड़ता। सभी प्रकार के उत्पादन में श्रम का वास्तविक स्थान स्वीकार किया जाने लगा है। बुद्धिजीवी भी अपने को श्रमिक कहने में गर्व समझता है। वास्तव मे श्रमिक ही उत्पादन कर्त्ता है। सामाजिक सम्पदा में उसको उचित भाग मिलना चाहिए और उसे कम प्रतिष्ठित या सम्मानित समझना मूर्खता होगा। श्रमिको के सगठन राष्ट्रव्यापी और अन्तर्राष्ट्रीय हैं और उनकी शक्ति के सामने राज्य तथा समाज के अन्य वर्गों को झुकना पड़ता है।

सामाजिक भेदो में कमी—औद्योगीकरण ने विभिन्न रगो जातियो, धर्मों और शिक्षा तथा सस्कृति के स्तरो के लोगो को साथ साथ काम करने और रहने को विवश कर दिया है। ऊँच-नीच की भावना अत्यधिक कम हो गई है। सामाजिक सास्कृतिक स्तरों पर किसी मनुष्य या वर्ग को हीन नहीं समझा जाता है। जनसाधारण तथा नेताओ बौद्धिकों तथा elites के बीच में भी कम से कम अन्तर रह गया है। नेतृत्व भी किसी विशेष वर्ग की बपौती नही रह जाता है। उद्योगो के सचालन के लिये

प्रबन्धक वर्ग अथवा समाजवादी देशों की नौकरशाही में सम्मिलित होना सबके लिये सम्भव है यदि उनमें अपेक्षित योग्यता हो।

समृद्ध जीवन की समस्याएँ—लोगों का जीवन-स्तर बराबर ऊँचा होता जाता है। सामाजिक सेवाओं की अभिवृद्धि से जीवन में वास्तविक सुख-सुविधा बढ़ जाती है। इससे दो प्रमुख समस्यायें उत्पन्न होती हैं अति दीर्घजीवन और अतिरिक्त अवकाश। आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त सुरक्षित और सुखी जीवन से मनुष्य खूब स्वस्थ रहता है। औसत जीवन-काल बढ़ जाता है। अनेक लोगों की आयु १०० साल से भी बढ़ जाती है। इन लोगों के भरण-पोषण और मनोरंजन की समस्या पैदा होती है। दूसरी समस्या लोगों के निरन्तर बढ़ते हुए अवकाश के उपयोग की है। समृद्धि बढ़ने पर काम के घंटे कम हो जाते हैं और देश की आर्थिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ण पूर्ति के लिये थोड़ी श्रम शक्ति से काम चल जाता है। अवकाशकाल के उपयोग के नये ढंग ढूँढ़ने पड़ते हैं। इसकी विफलता से समाज में एक निठल्ले वर्ग का आविर्भाव होता है। इससे सम्पन्न समाज का घोर विलासिता और पुरुषार्थहीनता में डूबने लगता है। प्राचीन काल में अनेक भव्य सभ्यताओं का पतन घोर विलासिता और निठल्लेपन के कारण हुआ है।

सामाजिक विघटन के अधिक अवसर—विशाल औद्योगिक समाजों में परिवर्तन बड़ी तेजी से होता है। संस्थाएं स्वभावतः संरक्षणात्मक होती हैं। वे शीघ्र परिवर्तन में समाज के लक्ष्यों से बहुत पीछे छूट जाती हैं। इसी तरह असन्तुलन और विघटन पैदा करने वाली अनेक शक्तियाँ उभड़ा करती हैं। परिणामतः इस स्थिति में सामाजिक विघटन के अधिक अवसर होते हैं। औद्योगिक कारखानों और नगर भी सामाजिक विघटन उत्पन्न करते हैं। तीसरे सामाजिक मामलों पर विशाल भीड़ों के जुलूस और प्रदर्शन तथा कभी-कभी उत्सव के अवसरों पर भीड़ भीड़ मानसिकता अपराधी तथा समाज विरोधी प्रवृत्ति को उभाड़ता है। साम्यवादी देशों में भी दंगे, उपद्रव और गृह-युद्ध भड़क उठते हैं।

सामाजिक आयोजन—उपरोक्त कारणों से सामाजिक नियन्त्रण की समस्या बड़ी कठिन हो जाती है। सामाजिक सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था प्रगति के लिए अनिवार्य हो जाती है। अतः औद्योगिक समाजों में सामाजिक आयोजन का महत्व बहुत बढ़ जाता है। सामाजिक जीवन का संचालन पूर्व निर्धारित लक्ष्यों (goals) के अनुसार अनिवार्य आवश्यकता बन जाता है।

राजनैतिक संस्थाएं

प्रत्येक मानव समूह में व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य का कार्य-भार रूप होता है। हम प्रारम्भ में बता चुके हैं कि सामाजिक नियन्त्रण की अनेक एजेंसियाँ होती हैं। जैसे परिवार, समुदाय, पंथ, राज्य और अन्य संस्थाएं। इसमें

समाजो म भी नागरिको के जीवन, सम्पत्ति और सम्मान की रक्षा के लिए काइन्न काइ व्यवस्था होनी है। आधुनिक जटिल समाजो म भी उस आवश्यकता की पूर्ति का काइ स्थाई प्रबन्ध होता है। राज्य के पुलिस और सनिक काय सवविदित हैं। समाज की आन्तरिक सुरक्षा तथा उसकी बाहरी शत्रुओ स प्रतिरक्षा राज्य के बडे महत्त्वपूर्ण काय हैं कि तु वतमान राज्य को इन कार्यों क अतिरिक्त नागरिको के कल्याण और प्रगति के लिये अनेक काय करने पडते है। हममें स प्रत्येक जन्म स लेकर मृत्यु तक राज्य के अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष सम्पर्क म आया करता ह। हम प्रतिदिन अपने निजी और सावजनिक जीवन पर राज्य का न्यूनाधिक प्रभाव अनुभव होता है।

मैकाइवर न राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है 'राज्य एक एसी समिति है जा कानून द्वारा शासनतन्त्र स नियन्त्रित होती ह और जिसे एक निश्चित भू प्रदेश में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखन के सर्वोच्च अधिकार होत है।"[1] गानर न लिखा ह कि राज्य व्यक्तियो का ऐसा समूह है जो न्यूनाधिक एक निश्चित भूभाग म रहता है तथा वाह्य नियन्त्रण से लगभग पूर्णत मुक्त होता है और जिसका अपना एक शासनतन्त्र है। इस शासनतन्त्र के प्रति सभी निवासियो म स्वभावत आज्ञापालन की भावना होती है।[2] इसी लेखक न राज्य क चार तत्त्व बताये हैं (१) जन संख्या, (२) भूखण्ड (३) शासन तन्त्र और (४) सम्प्रभुता। गानर के इस मत को राज्य के तत्त्वो की सबस विशद और स्पष्ट व्याख्या मानी जाती है। गानर द्वारा राज्य की परिभाषा म इन सभी तत्त्वो का समावेश है। राज्य के तत्त्व उसकी एकता के परिचायक हैं।[3]

राज्य की विशेषताएँ—राज्य की कद विशेषताएँ है जो उसके गुण या प्रकृति को प्रकट करती है।

(१) राज्य म निवास करन वाले व्यक्तियो का समाज अपने आपको एक दृढ राजनैतिक अग म परिवर्तित करना चाहता है।

(२) राज्य की एकता अविभाज्य और सनातन है। उसे काई वितरित नही कर सकता और उसमें काई परिवतन होना भी सम्भव नहा है।

(३) यह विशद और व्यापक रहत हुए भी अपन आपस ही सीमित रहता है। राज्य की सम्प्रभुता (sovereignty) का अधिकार राज्य क समस्त व्यक्तियो वस्तुओ एव भूमि पर लागू होता है। केवल वहीं इसका प्रयोग नहीं होता जहाँ सम्प्रभुता स्वय अपन अधिकारो को त्यागती है। एक राज्य के अन्तगत शासनतन्त्र

---

1 MacIver *The Modern State* (1926) p 26
2 Garner *Political Science and Government* (Indian Edition 1952) p 52
3 सम्पादक पत और मदनगोपाल राजनीति शास्त्र के आधार, भाग १, इलाहाबाद (१६५६) पृष्ठ ५६

को सम्प्रभुता प्राप्त होती है। यह अन्य किसी संस्था को राजाज्ञा का अधिकार नहीं देता है। दूसरे राज्य में उस कोई अधिकार नहीं होता है।

(४) राज्य स्थायी होता है। इसका आशय यह है कि जब समाज में एक बार किसी राज्य-व्यवस्था की स्थापना हो जाती है तो फिर वह निरंतर बनी रहती है। जनसंख्या में वृद्धि अथवा प्रादेशिक ह्रास से राज्य के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं पड़ती। एक राज्य पर एक दूसरे राज्य का अधिकार हो सकता है। किन्तु फिर भी उस समाज का एक राज्य के अन्तर्गत रहना ही है। सरकार या शासनतन्त्र बदल सकता है किन्तु राज्य स्थायी होता है। १९४७ के पूर्व भारत पर अंग्रेजी शासन था और उसके बाद में हम स्वतन्त्र हैं परन्तु भारतीय राज्य के अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

(५) सभी राज्यों में सैद्धान्तिक समता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समक्ष छोटे-बड़े निर्बल-सबल सभी राज्य समान हैं। परन्तु तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में सभी राज्यों की आवाज एक सी ही बलवान नहीं होती। सभी को समान प्रतिष्ठा भी नहीं प्राप्त होती है। यही कारण है कि छोटे-छोटे राज्य किसी शक्तिशाली राज्य-गुट के सदस्य या पिछलग्गू बन जाते हैं।

(६) बल राज्य की अन्तिम विशेषता है। राज्य को अपनी इच्छाओं के प्रकट करने के उपरान्त यह अधिकार है कि उनकी पूर्ति के लिए वह आवश्यकतानुसार बल का प्रयोग करे। बल प्रयोग के अनन्य अधिकार के कारण वह शान्ति से आज्ञा का पालन करता है। राज्य सर्वोच्च सत्ताधारी है अतएव बल प्रयोग के साधनों व स्वरूपों का निर्णय भी वही करता है।

राज्य तथा अन्य समितियाँ

आधुनिक समाजों की सभी महासमितियाँ (great associations) अधिकतर उपयोगितावादी हैं। इनके विपरीत सांस्कृतिक महासमितियाँ (जिनमें धार्मिक महासमितियाँ भी सम्मिलित हैं) अधिकतर सांस्कृतिक हैं। यद्यपि राज्य का सांस्कृतिक काम बहुत महत्त्वपूर्ण है फिर भी इस संस्था को सभ्यता का ही एक अंग कह सकते हैं।[1] उपयोगितावादी महासमितियों का आधार द्वितीयक रुचि है, जिनका मनुष्य के सभी हितों का सम्बन्ध है और जिनकी उन्हीं के द्वारा पूर्ति होती है। राज्य और अर्थव्यवस्था का उपयुक्त संचार साधनों की उपस्थिति में असीमित विस्तार हो सकता है। उनके सांस्कृतिक विकास या क्षेत्र की सीमाएँ नहीं बाँध पातीं। इन दोनों का आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार इस तथ्य का साक्षी है।

राज्य तथा अन्य समितियों (परिवार, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक समितियों) में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद हैं। केवल राज्य और परिवार को

1 MacIver and Page *Society* p 433

सदस्यता मनुष्य के लिए अनिवार्य होती है। हम किसी एक परिवार और राज्य में जन्म से लेकर मृत्यु तक रहते हैं। एक विचार से हम जितनी समितियों के सदस्य होते हैं वे सभी राज्य की समिति के भाग अथवा शाखाएँ हैं। अन्य सभी समितियों का सदस्य होना न होना व्यक्ति की स्वच्छा पर निर्भर है। फिर एक व्यक्ति एक साथ कई समितियों का सदस्य हो सकता है पर कई राज्यों का नहीं। राज्य की सदस्यता से व्यक्ति को रक्षा अधिकार और विशेषाधिकार मिलते हैं जो उसके सुखी जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

राज्य के पास एक निश्चित भू भाग होता है। उसके बाहर उसका कार्य-क्षेत्र नहीं होता। किन्तु अन्य महासमितियाँ कई राज्यों तक फैली होती हैं। हाँ, राज्यों का एक संघ अवश्य है—संयुक्त राष्ट्र संघ।

राज्य का अस्तित्व शाश्वत है। सभ्य जीवन के विकास की अनन्त आवश्यकता राज्य ही से पूरी होती है। अन्य समितियाँ तभी तक कायम रहती हैं जब तक उनके उद्देश्य पूरे नहीं होते। इन समितियों के उद्देश्यों अथवा काम प्रणाली से असन्तुष्ट सदस्य उन्हें छोड़ देते हैं। समितियाँ अपने उद्देश्य की सिद्धि हो जाने या उससे पूर्व ही अपने को भंग कर सकती हैं। राज्य कभी भंग नहीं होता। असन्तुष्ट नागरिक उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते हैं।

राज्य का आधार बल (force) है। अन्य सभी समितियों की अपेक्षा अकेले उसे ही बल प्रयोग का वैधानिक अधिकार है। जब राज्य आग्रह भी करता है तो उसके पीछे भी बल प्रयोग की धमकी या उसकी सम्भावना छिपी रहती है। राज्य सम्प्रभुतापूर्ण है। वह अपने आदेशों एवं इच्छाओं की पूर्ति मृत्यु-दण्ड तक देकर कर सकता है। स्वयं अन्य सभी समितियाँ राज्य के नियन्त्रण में होती हैं और उसके कानूनों का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। किन्तु स्वच्छिक समितियाँ लोगों की स्वतन्त्र इच्छा से अनुनय कर अधिक सफलता प्राप्त कर सकती हैं। राज्य का प्रचार-यन्त्र भी बड़ा सशक्त होता है परन्तु उसे लोग बहुधा सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

कुछ काम विशेषतया राज्य बड़ी प्रभावकता से कर सकता है और कुछ को नहीं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर राज्य का प्रभाव होते हुए भी कुछ कार्यों को स्वच्छिक समितियाँ ही सर्वोत्तम रूप से कर सकती हैं। आर्थिक और सांस्कृतिक समितियाँ अपने कार्यों को बड़े प्रभावी ढंग से करती हैं।

राष्ट्र, समुदाय तथा राज्य में अन्तर

राष्ट्र और राज्य—राज्य एक राजनैतिक संगठन है और राष्ट्र केवल जातीय। जब एक राष्ट्र अपना राज्य स्थापित कर लेता है तो उसे राष्ट्रीय राज्य कहते हैं। पराधीन राष्ट्र का अपना राज्य नहीं होता। यद्यपि आजकल अन्तराष्ट्रीय विधान तथा साधारण बोलचाल में राष्ट्र और राज्य में अन्तर नहीं किया जाता है फिर भी

राष्ट्र और राज्य एक नहीं हैं। एक राज्य के अन्तर्गत कई राष्ट्र हो सकते हैं जैसे प्रथम महायुद्ध के पूर्व आस्ट्रिया हंगरी। लार्ड ब्राइस ने राष्ट्र को एक ऐसी राष्ट्रीयता बताया है जिसने अपने आपको एक ऐसी राजनैतिक इकाई में परिवर्तित कर लिया हो जो या तो स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती हो। टी० एच० ग्रीन ने लिखा है कि राष्ट्र से राज्य निर्मित है। राज्य को राष्ट्र का न्यायपूर्ण प्रतीक कहा जा सकता है। राष्ट्र का आधार सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता है परन्तु राज्य का आधार राजनैतिक बल और सम्प्रभुता।

राज्य और समुदाय—किसी विशिष्ट देश के अन्दर रहने वाले समाज को समुदाय कहते हैं अथवा एक विशिष्ट समाज ही समुदाय है। भारत के निवासियों के सामाजिक सम्बन्ध की व्यवस्था को हम चाहे भारतीय समाज कहें अथवा भारतीय समुदाय। साधारण बोलचाल में भारत के लोग देश राज्य तथा राष्ट्र सभी को 'भारत' ही कहकर पुकारते हैं। इससे राज्य तथा देश, राष्ट्र या समाज के अन्तर को समझने में बहुधा गलती हो सकती है। किन्तु राज्य देश और राष्ट्र से भिन्न है और इसी प्रकार समाज या समुदाय से भी। समाज या समुदाय के राजनैतिक संगठन को राज्य कहते हैं। दोनों को एक मानना गलती है। समाज की एक विशिष्ट संस्था राज्य है। यह समाज के व्यापक उद्देश्यों में से केवल राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधन या एजेन्सी का काम करता है। यह सत्य है कि आज राज्य हमारी सामाजिक क्रिया और सम्बन्धों के एक बहुत बड़े भाग का नियमन करता है किन्तु इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता कि राज्य और समुदाय एक ही हैं। उनके अस्तित्व को समान मानना भ्रामक होती है।

समाज की अनेक संस्थाएँ हैं जो राज्य की संस्थाओं से पृथक हैं और जिनके बहुत थोड़े भाग पर राज्य का प्रभाव रहता है। हमारे जीवन का अधिकांश भाग समाज की संस्थाओं से ही नियमित होता है। हम अनेक समितियों के सदस्य होते हैं जो केवल राज्य के भाग या शाखाएँ नहीं हैं। हम सामाजिक प्राणी की हैसियत से अनेक सम्बन्ध बनाते हैं और अनेक क्रियाएँ करते हैं जिन्हें हम नागरिक या राज्य के सदस्य होकर नहीं करते। समाज की क्रिया का क्षेत्र बहुत व्यापक है। राज्य के कार्यों पर संविधान या प्रथा से अनेक प्रतिबन्ध लगे होते हैं। राज्य समाज में सन्निविष्ट है। इस तथ्य को समझ लेने से राज्य तथा समाज के सही सम्बन्धों का परिचय मिल सकता है।

राज्य सामाजिक संरचना का एक आवश्यक अंग है पर पूरा समाज कभी नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक राज्य समाज की एक ऐसी एजेन्सी है जिसके व्यापक और महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। फिर भी यह एक सीमित एजेन्सी है। समाज की अन्य एजेन्सियों का स्थान न तो कभी राज्य ले पाया है और न ले पायेगा। उनके निजी कार्य हैं जिन्हें स्वयं वे ही कर सकती हैं। मार्क्सवादी राज्य ने धर्म-संगठन को

अपने में समा लिया है पर शासनतन्त्र ने परिवार को अप्रतिबन्धित छोड़ दिया है। नागरिकों के सभी हितों का समुच्चय और नियन्त्रण करने के उद्देश्य से सर्वसत्ता राज्य (नाजी अथवा फासिस्ट राज्य) ने उन हितों और समूहों का सबल दमन किया जो समुच्चय के लिए तैयार नहीं थे फिर भी राज्य और समाज बिल्कुल एक नहीं हो पाए।

इसमें सन्देह नहीं है कि राज्य जीवन के बाह्य पहलुओं का अधीक्षण बड़ी प्रभावकता से कर सकता है। परन्तु इसके अतिरिक्त, किसी भी दशा में इस उन सांस्कृतिक संघटनों की जगह नहीं रखा सकता है जो एक आधुनिक समाज के विभिन्न समूहों के विविध विश्वासों, मतों हितों और आदर्शों की अभिव्यक्ति करते हैं।[1]

राज्य और सरकार—राज्य एक समिति है जिसकी कार्यकारी संस्था सरकार (Government) है। सरकार राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कार्य विधि का एक स्थापित रूप है। हम सरकार को देश का शासनतन्त्र भी कहते हैं। शासनतन्त्र राज्य का आवश्यक तत्व है। वह राज्य की कार्यकारिणी है जो राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये निश्चित कार्यों की एक संगठित व्यवस्था है। राज्य के नागरिकों का एक बहुत छोटा अंश सरकार चलाता है। जहाँ राज्य के कार्य-क्षेत्र (scope of activity) का निर्णय संविधान (constitution) से होता है वहाँ की सरकार वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त किसी अधिकार का नहीं माँग सकती। इसके विपरीत जहाँ सरकार किसी स्वेच्छाचारी राजा या शासक के इशारों पर चलती है वहाँ उसके कार्य क्षेत्र और अधिकार निरंकुश होते हैं। सरकारें बदलती रहती हैं किन्तु राज्य स्थायी रहता है। भारत राज्य में आज काँग्रेस सरकार है अगले चुनाव में साम्यवादी अथवा समाजवादी दलों की सरकारें शासनारूढ़ हो सकती हैं। फिर सरकारों में उलट फेर क्रान्ति या बल प्रयोग से हो सकता है। परन्तु शासनतन्त्र के अन्त से या तब्दीली से राज्य का अन्त या परिवर्तन नहीं होता है। राज्य के कानून बनाना उन्हें परिपालित करना और न्याय का प्रबन्ध करने का सारा काम शासनतन्त्र करता है। सरकार के तीन अंग होते हैं विधायक कार्यकारी न्यायकारी। सेना के संचालन से लेकर पुलिस न्यायालय और जेल के प्रबन्ध तथा विभिन्न समितियों पर नियन्त्रण और उनकी सहायता करना सरकार के कार्य हैं।

साराश यह है कि एक निश्चित प्रदेश में निश्चित अवधि में शासनतन्त्र राज्य का एकमात्र प्रतिनिधि होता है। इसका कारण यह है कि शासनतन्त्र राज्य की ओर

---

1 The state can effectively supervise only the external aspects of life Beyond all els it cannot under any conditions be a substitute for those cultural organisations which express the variant beliefs opinions interests and ideals diversified group of a modern society MacIver and Page *op cit* p 456

से काम-काज करता है और वही राज्य की विधिनिर्माण शक्ति का प्रयोगाधिकारी है। शासनतन्त्र का स्वरूप ही राज्य के राजनैतिक स्वरूप को स्थिर करता है। जब हम कहते हैं कि भारत में सांविधानिक जनतन्त्र है तब हमारा राज्य और शासन दोनों से ही आशय होता है। राज्य का आधार सर्वत्र समान है किन्तु विभिन्न राज्यों में शासनतन्त्रों का आधार भिन्न भिन्न है। उदाहरण के लिए रूस और अन्य साम्यवादी राज्यों में सरकार के उद्देश्य और कार्य समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार हैं जबकि अमरीका में वे पूंजीवादी जनतन्त्र के लक्ष्यों के समरूप।

राज्य और आधुनिक सामाजिक संगठन

आधुनिक जटिल समाजों में राज्य के कार्यों में अत्यधिक विस्तार हुआ है। सम्भवतः हमारे सामाजिक अथवा व्यक्तिगत जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं है जिस पर राज्य का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव न पड़ता हो। यद्यपि जनतन्त्रीय और साम्यवादी दोनों ही शासनतन्त्र इस आरोप का खण्डन करते हैं कि वे उत्तरोत्तर सर्वेसर्वा (totalitarian) होते जा रहे हैं। फिर भी उनकी यह प्रवृत्ति बहुधा उभर आती है। जनतन्त्रीय राज्य में बहुसंख्यक दल मनमानी कर बैठता है या कई बार अल्पसंख्यक दल राजसत्ता को पाकर उसकी शक्ति का दुरुपयोग करता है। साम्यवादी राज्य में शासक सदैव एकदलीय होता है इसलिए उसे मनमानी करने के अधिक अवसर प्राप्त हैं। साम्यवादी राज्य समाज के समस्त संगठनों, संस्थाओं, जीवन की सुविधाओं अथवा आवश्यकताओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। अपने विशाल साधनों से यह नागरिक जीवन के समस्त सम्बन्धों और कार्यकलापों को नियमित और निर्देशित करता है। जीवनयापन के साधन, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन सभी पर तो राज्य का व्यापक प्रभाव होता है। राज्य ही यह तय करता है कि अच्छा जीवन क्या है और उसके लिए आवश्यक दशाएं कब और कैसे उत्पन्न की जाएं। यह सामाजिक परिवर्तन की दिशा और गति का निश्चय करता है।

तथाकथित जनतन्त्रीय राज्यों का कार्यक्षेत्र भी व्यापक नहीं है। बालक के जन्म तक की सूचना राज्य को देनी होती है। पुलिस तथा न्यायालयों की सहायता से राज्य अपराधियों से हमारे जान माल की रक्षा करता है। दैनिक जीवन में हम दूसरों के सम्पर्क में आकर क्या करें अथवा न करें इसका निर्धारण राज्य के कानूनों से होता है। जीविकोपार्जन, सम्पत्तिक सम्बन्ध, शिक्षा, मनोरंजन आदि सभी दिशाओं में हमारे हितों की रक्षा राजकीय कानून ही करते हैं। जहाँ प्रथाएं यह काम करती हैं वहाँ पर तो व्यावहारिक राज्य-कानूनों से मिलते हैं। आधुनिक जटिल समाजों के अधिकांश सामाजिक सम्बन्ध अनुबन्धों पर आश्रित होते हैं। इन अनुबन्धों का सम्पादन राज्य की नागरिक संहिता (civil code) के अधीन होता है। हम समता, न्याय और मानव सम्मान के सिद्धान्तों का व्यावहारिक परिपालन राज्य के कानूनों अथवा नियमों की व्यवस्थाओं में ही करते हैं। हमारी स्वतन्त्रता तथा हितों की रक्षा सरकार

ही करती है। और अन्तत निराश्रयो, पतितो तथा दलितो के कल्याण की जिम्मेदारी भी तो सरकार पर होती है। सामाजिक सुरक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था तभी राज्य करता है जब समाज स्वय उसे करने म असफल होता है।

सामाजिक व्यवस्था के निर्माण और रक्षा के लिय राज्य ही नीति बनाता है और फिर उस नीति का पालन स्वय करता है और समस्त नागरिको से करवाता है। कानून बनाना और उसका पालन कराना दोनो म राज्य सर्वोपरि सत्ताधारी है। हमारे विचार विश्वास दृष्टिकोण सभी पर उसकी नीतियो के प्रचार का प्रभाव पडता है। सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि के लिय आवश्यक सामाजिक परिवतन की दिशा और वेग का निर्धारण भी राज्य कर सकता है। आज तो राज्य ने मनोरजन साहित्य शिक्षा और कला म पदार्पण कर हमारे जीवन को गहराई से प्रभावित किया है। वह नागरिको की रक्षा और सुख सुविधा का प्रबन्ध विदेशो म भी करता है और अन्त-राष्ट्रीय सगठनो म सम्मिलित होकर देश की सुरक्षा और शांति का अंतिम अभि भावक बन गया है। वह अपने देश के समाज म सावजनिक व्यवस्था बनाये रखने म एकमात्र सरक्षक है।

वतमान राज्य के कायक्षेत्र के अति व्यापक हो जाने से दो खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। पहला खतरा उसके सर्वेसर्वा बन जाने का है जिसम वह समाज की एक एजेंसी न रह कर स्वय समाज होने का दावा कर सकता है। इससे शासित समाज और सारी मानवता को बहुत भयानक हानि हो सकती है। दूसरा खतरा यह है कि यदि व्यक्ति को पहल करने तथा स्वतन्त्र क्रिया का कोई अवसर ही न मिलेगा तो उसकी वयक्तिकता (individuality) नष्ट हो सकती है। अनुभव यह बताता है कि समाज और मनुष्य के जीवन की सम्पन्नता और रगीनी का प्रमुख आधार व्यक्तियो की वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता है न कि पूर्ण अनुरूपता और स्वातन्त्र्यहीनता। अत आज आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि राज्य को कौन-कौन काय करने दिय जाए और कौन काय व्यक्तियो तथा गर सरकारी सस्थाओ पर छोड दिय जाए। अभी तक समाजशास्त्रियो की यह दृढ धारणा बनी है कि राज्य सभी कार्यों को करने के लिए सक्षम नही है। समाज को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए एसे कई काय हैं जिन्हे राज्य के कायक्षेत्र म ढकेलना मानव की सबसे भयकर भूल होगी।

२५

धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ

प्रस्तुत अध्याय में हम धर्म के सामान्य स्वरूप और उसके सामाजिक महत्व की व्याख्या करेंगे। तत्पश्चात आधुनिक समाजों की संस्कृतियों की वर्तमान प्रवृत्तियों और समस्याओं का विश्लेषण करेंगे।

धर्म

धर्म का सामान्य स्वरूप

मनुष्य के समस्त आदिम और सभ्य समाजों में धर्म संस्कृति का एक अभिन्न अंग रहा है। धर्म मनुष्य समाज की सार्वभौमिक विशेषता है। किन्तु प्रत्येक समाज के धार्मिक विश्वास का स्वरूप और अनुष्ठान बहुधा दूसरे समाज के धर्म से भिन्न होते हैं।[1] संसार में कुछ ऐसे धर्म प्रचलित हैं जिनके अनुयायियों की संख्या करोड़ तक पहुँच गई है और जो कई महाद्वीपों तक फैले हैं।

धर्म	धर्मावलम्बी	क्षेत्र
१ ईसाई	७५ करोड़	यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका
२ मुस्लिम	३२ "	एशिया और अफ्रीका
३ बौद्ध और हिन्दू	६०	एशिया
४ कन्फ्यूशियन	३०	एशिया
५ ताओ	५	एशिया
६ शिन्तो	२५	एशिया (जापान)
७ यहूदी	१.१५	यूरोप, अमेरिका और मध्यपूर्व

1 See Hertzler, J. O., *Religious Institution*, Annals of the American Academy of Political and Social Science, Vol 256 (1948, pp 1-13). Also Nottingham, E. K., *Religion and Society*, New York (1954).

धर्म संस्कृति में प्रतिष्ठित ऐसा व्यवहार है जिसमें लोग किसी अलौकिक (Supernatural) शक्ति या जीव में विश्वास करते हैं और सामुदायिक या वैयक्तिक आचरण कर उस सर्वोपरि सत्ता को प्रसन्न कर अपने श्रेयस की कामना करते हैं। धर्माचरण में मानसिक और शारीरिक क्रियाएं दोनों ही का समावेश होता है। मानसिक क्रियाएँ वे गहरे उद्वेग और भावनाएँ हैं जो अलौकिक सत्ता में विश्वास के साथ रहते हैं। शारीरिक क्रियाएँ वे कार्य या व्यवहार होते हैं जिनसे उस अलौकिक शक्ति को प्रसन्न किया जाता है।

अतएव धर्म के स्वरूप में तीन तत्व शामिल हैं (१) अलौकिक अथवा पवित्र (प्राकृतिक नहीं) शक्ति या जीव की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास (२) इस विश्वास के साथ जुड़ी हुई उद्वेगपूर्ण भावनाएँ, (३) विश्वासों और भावनाओं के परिपालन के लिए प्रकट व्यवहार। धर्म के इन तीनों पहलुओं में घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध होता है।[1]

(१) अलौकिक शक्ति या जीव में विश्वास—सभ्य समाजों में इस अलौकिक सत्ता के विश्वास में बड़ी विभिन्नता है। कहीं लोग इस सत्ता को सर्वशक्तिमान मान कर एकेश्वरवादी और कहीं लोग अनेक ईश्वरों या देवी देवताओं की कल्पना कर अनेकेश्वरवादी कहलाते हैं। सर्वशक्तिमान परमात्मा को भी सर्वत्र निराकार या निर्गुण नहीं कहा जाता। कहीं कहा उसे सगुण और साकार परमात्मा माना जाता है। फिर कहीं ईश्वर या देवों को कृपालु और हितकारी माना जाता है तो अन्यत्र उन्हें प्रतिशोधक, कठोर और दण्डदाता भी मानते हैं।

(२) उद्वेगपूर्ण भावनाएँ—मनुष्य अलौकिक सत्ता से एकात्म भाव प्रकट करता है। उससे प्रीति कर उसके सान्निध्य, दर्शन स्पर्श की प्रगाढ़ भावना से अभिभूत रहता है। सान्निध्य मिलन में बाधा पड़ने पर विह्वल होता है और विरह-वेदना से तड़पता है। उसकी कृपालुता में प्रगाढ़ विश्वास प्रकट कर नम्र व विनीत भाव से उसकी शरणागत हो जाता है। किसी अनुचित आचरण के हो जाने पर परमात्मा के भयंकर क्रोध की कल्पना से भयातुर हो जाता है। कठिन से कठिन प्रायश्चित्त करने को उतावला हो जाता है। अपने आराध्यदेव या इष्टदेव की कल्पित रुष्टता में विषाद आत्मग्लानि और पश्चाताप से घटा जाता है। कहने का आशय यह है कि पारलौकिक सत्ता में विश्वास के साथ मनुष्य के बहुधा उन सभी प्रगाढ़ उद्वेगों (intense emotions) का संयोग है जिन्हें वह व्यक्त कर सकता है।

(३) आराध्यदेव को प्रसन्न करने के उपक्रम—मनुष्य के उन समस्त प्रकट आचरणों को प्रसन्नकारी उपक्रम (propitiation) कहते हैं जिनसे वह अपने आराध्यदेव को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसमें मनुष्य के लगभग सभी आचरणों और युक्तियों का समावेश होता है। मन्दिर, गिरजा या मसजिद को देवस्थान

1 Cf Cuber Sociology p 533 & Green Sociology pp 413 17

मानकर या बगैर इनके ही वह अकेला अथवा सामुदायिक रूप में अपने इष्टदेव की विनती (प्रार्थना) करता है, उसके भजन में रत रहता है। उसकी वन्दना कर उसकी कृपालुता दया रक्षाशक्ति करुणा महानता के समक्ष अपनी तुच्छता निराश्रयता पाप का निर्भीक वर्णन करता है और पूर्ण शरणागत हो जाता है। इष्टदेव के प्रति स्तोत्र और अर्चना करता है। उसे नृत्य से रिझाता है। तीर्थस्थानों की यात्रा करता है और अपनी वासनाओं को मार कर आत्म-संयम करता है। पर इष्टदेव की तुष्टि के लिए स्वच्छन्द यौन प्रसंग मेल (sex orgies) वेश्यागमन भी यहीं कहीं होते हैं। आजीवन अविवाहित रहना विराग ले लेना समाधि एवं तपसाधना से शरीर को कष्ट देना और मन पर कठोर नियन्त्रण करना पशु या नर-नारी (बालक बालिका) की बलि चढ़ाना अपना अंग भंग कर लेना, या जादुई कर्मकाण्ड करना आदि आचरण इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं। इसी उद्देश्य से लोगों को अनेक कार्यों के करने तथा वस्तुओं के उपभोग का निषेध है।

(ख) उपरोक्त धर्माचरण की सफलता के लिए प्रत्येक धर्म में कुछ सामग्री और प्रतीकों का प्रयोग होता है। इष्टदेव की प्रतिमा या चित्र उसका प्रतीक माना जाता है। अग्नि-दीपशिखा या मोमबत्ती को आत्मिक प्रकाश का प्रतीक कहा जाता है। धूप-बत्ती या अन्य सुगन्धित वस्तु आध्यात्मिक सुगन्ध का प्रतीक होता है। धार्मिकता के प्रतीकों में विशिष्ट पोशाक तिलक आवास आसन तथा धर्मग्रन्थों का भी समावेश होता है। वेद कुरान बाइबिल ईश्वरीय ज्ञान के प्रतीक हैं। धर्माचरण के लिए उपयोगी या सहायक सामग्री में मन्दिर मसजिद पूजा या हवन की वेदी कलश धूप-दीप-नैवेद्य पुष्प रोली अगरबत्ती हवन सामग्री आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(ग) धर्माचरण के साथ आचार-व्यवहार में भी सदाचार, नैतिकता, पुण्य, परोपकार, दया और अहिंसा का पालन किया जाता है। अन्य धर्म में इन नैतिक और सामाजिक मूल्यों की जड़ में व्यवसाय मनन आत्म-प्रमाद अथवा स्पष्ट कर्म विषयक सिद्धान्त रहते हैं। सभी वर्तमान धर्म-सम्प्रदाय जातियों की स्थापना अलौकिक शक्तियों की महानता और दिव्यशक्तियों के आधार पर करते हैं।

(घ) धर्माचरण में सफलता की निश्चितता के लिए संत मुल्ला-मौलवी, पण्डित पुजारी या अन्य धार्मिक व्यक्ति को अपना गुरु बना लेते हैं। गुरु धर्मज्ञान तथा मोक्ष मार्ग की निश्चय ही प्राप्ति कराएगा यह विश्वास बना रहता है। शंकर स्वामी तथा सिक्ख सम्प्रदायों में गुरु का प्रचार मन्दिर स्थापित करने के कारण ही इन सम्प्रदायों को गुरु प्रधान कहा जाता है। पैगम्बर और अवतारों को ईश्वर के सन्देश का वाहक माना जाता है। पैगम्बर अथवा गुरुओं की व्यापक ख्याति के कारण कई बार नए धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित हो जाते हैं।

विभिन्न धर्मों के विश्वास और आचरण में इन अनेकताओं के बावजूद सभी आधुनिक धर्मों का चरम लक्ष्य मनुष्य को इस जीवन तथा परलोक में सुरक्षा प्रदान करना है। परलोक में सुरक्षा का अर्थ मोक्ष होता है। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को भरोसा देता है कि वे सहायता, प्रेरणा और मंगल के लिये परमात्मा की शरण में आ जाएँ। ईश्वर के प्रयोजन व्यक्ति के लक्ष्यों और भाग्य से अधिक अर्थपूर्ण है। अतः व्यक्ति को ईश्वर की इच्छा बगैर आनाकानी के स्वीकार करना चाहिए, तभी उसे जीवन के भयों और अनिश्चितताओं से मुक्ति मिल सकेगी। धर्म यह भी जोर देते हैं कि ईश्वर समस्त प्राणीमात्र को समान प्रेम करता है। अतः जो ईश्वर के बंदों को प्रेम करता है उसे ईश्वर प्रेम करता है। सभी धर्मों में साधारणतया यह विश्वास भी है कि विश्व एक नैतिक राज्य है और धर्म उस राज्य का कानून।

धर्म के कुछ अन्य प्रतिमान[1]

अधिकांश धर्मों में कुछ ऐसे प्रतिमान होते हैं जो सामाजिक संगठन के लिये बड़े महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि न केवल वे व्यक्तियों के आचरण को वरन् धर्म और अन्य संस्थाओं के बीच के सम्बन्ध को भी प्रभावित करते हैं। इन प्रतिमानों का नीचे दिया जा रहा है —

१ आचार—नैतिक आचरण में ऐसे आचरण का समावेश होता है जो सत्कार्य और दुष्कार्य अथवा सही और गलत कार्यों में चुनाव पर आश्रित होता है। किसी कार्य का सही या गलत ठहराना या प्रमाण आचार संहिता होती है जो धर्म के प्रसंग में विकसित होती है। विभिन्न धर्मों में आचार संहिताओं के ब्यौरे एक से नहीं होते। उनमें बड़ी भिन्नता होती है। हिन्दू और मुसलमान धर्म में बहुभार्यता स्वीकृत है किन्तु ईसाई धर्म में इसका निषेध है। नैतिक आचरण के नियम हमारे समस्त कार्यकलापों को नियन्त्रित करते हैं। हिन्दू समाज में सन् १८२९ के पहले सती प्रथा को एक नैतिक आचरण माना जाता था। आज सती प्रथा अवैध ही नहीं अनैतिक मानी जाती है। एक समाज के भीतर विभिन्न समूहों में आचार नियमों में कई बार विरोध होता है। साधारणतया आचार संहिताओं का विकास धर्म ग्रंथों में वर्णित सही और गलत कार्यों के आधार पर होता है। नैतिकता का स्रोत बहुधा ईश्वर की इच्छा या उसके न्याय को प्रकट करने वाले धर्म-ग्रंथ होते हैं।

स्वीकृत आचार-संहिता के अनुरूप व्यवहार करने का परिणाम यह होता है कि सामाजिक संगठन में एक व्यवस्था आ जाती है। जो इन आचारों का विरोध या उल्लंघन करता है उसे अनेक प्रकार के दण्ड या उसकी धमकी दी जाती है। आचार-संहिता के तोड़ने वाले को ईश्वर के क्रोध का भी भय होता है और यदि उसे उसका समूह दण्ड न भी देता हो या तो उसे आत्मग्लानि होती है अथवा उसे यह भय

3 Cf Jones *Basic Sociological Principles* pp 281 85

रहता है कि उसका कोई-न-कोई अहित अवश्य हो जाएगा। इतने पर भी सभी व्यक्ति समान रूप से समूह के आचारों के अनुकूल सदैव व्यवहार नहीं करते हैं। इसलिए व्यक्ति का आचरण कैसा होगा इसका पूर्वकथन बड़ा कठिन होता है। लेकिन सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो आचारों की सत्ता सामाजिक आचरण के नियमन में बहुत कुछ सफल होती है।

वर्तमान समाजों में आचार संहिताओं के उल्लंघन और विरोध की आए दिन घटनाएँ होती रहती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि पुरानी आचार-संहिता समकालीन समाज की आवश्यकताओं से बहुत पिछड़ गई है। नई दशाओं और परिस्थितियों में हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के लिए एक नई और स्वीकृत आचार संहिता की आवश्यकता है। इसका विकास अभी नहीं हो सका है। फलतः नैतिक आचरण के क्षेत्र में थोड़ा-बहुत गड़बड़ी का अनुभव होना अनिवार्य है।

२. श्रद्धापूर्ण विश्वास—अधिकांश धर्म अपने अनुयायियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे कुछ बातों में विश्वास रखेंगे। इन विश्वासों का तार्किक प्रदर्शन करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वह स्वतः साक्षी है। उन्हें बगैर तर्क और प्रदर्शन के स्वीकार करना ही चाहिए। धार्मिक विश्वासों को ऐहिक जीवन में सदाचार लोग चुनौती नहीं दे सकते। वे पारलौकिक हैं और इसलिए उनमें निष्ठा रखना ही चाहिए। विज्ञान और तर्क से उनकी सत्यता को चुनौती देना अधार्मिक और अनैतिक है। किन्तु वैज्ञानिक और तर्कशास्त्री धर्म के इस दावे को स्वीकार नहीं करते कि धर्म के प्रदत्त विश्वास में श्रद्धा हो फिर वह चाहे निहायत मूर्खता और अंधविश्वास पर आधारित हो।

३. स्वधर्माभिमान—स्वधर्माभिमान उसे कहते हैं जिसमें एक समूह अपने धर्म के किसी विशिष्ट स्वरूप या अभिव्यक्ति को ही सच्चा विश्वास मानता है और समस्त मानवता पर उसे थोपने का प्रयत्न करता है। स्वधर्माभिमान एक प्रकार की क जाति-कट्टरपना है जो अपने धर्म के छोटे-से छोटे पहलुओं को भी सर्वश्रेष्ठ मानती और दूसरों के धर्म को अनादर या घृणा से देखती है।

यद्यपि सभी धर्मों में स्वधर्माभिमान की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत पाई जाती है। अतीत में अनेक युद्धों और संघर्षों का कारण यही धर्मान्धता रही है। धर्म के नाम पर असंख्य नर-नारी और शिशुओं का न जाने कितना खून बहाया गया है। मध्ययुग के धर्मप्रधान राज्यों ने दूसरे राज्यों और अपने नागरिकों पर धर्म की प्रतिष्ठा और रक्षा के नाम पर ऐसे अत्याचार किये जिनकी मिसाल नहीं मिल सकती। कई राष्ट्रों का विभाजन और सर्वनाश इसलिए हो गया कि उनके नागरिकों में विभिन्न धार्मिक समूहों में उग्र धर्मान्धता बड़ी प्रखर हो गई थी। भारत

हिन्दू और मुसलमानों के दंगे और १९४७ में देश का बटवारा धर्मान्धता का ही परिणाम था। धर्मान्धता लोगों को अंध विश्वासी बना देती है और धर्म से उसकी संजीवनी शक्ति छीन लेती है। धर्मान्धता से लबालब धर्म एक विकृत धर्म है। वह समाज का हित नहीं कर सकता। मनुष्य को सुरक्षा नहीं दे सकता। प्रत्युत समाज को रोगी और कमजोर बनाता है।

४ सम्प्रदायवाद—जब एक धर्म छोटे विभेदों के आधार पर ही विभिन्न सम्प्रदायों में बंट जाता है जिनके बीच में कटुता और संघर्ष बढ़ते हैं तो धर्म की इस प्रवृत्ति को सम्प्रदायवाद (denominationalism) कहते हैं। हिन्दू धर्म में अनेक छोटे-बड़े सम्प्रदाय हैं। वह मतमतान्तरों का जमघट है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में सैकड़ों सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदायों की अत्यधिकता धर्म को कमजोर कर देती है और बहुधा मूलधर्म नष्ट हो जाते हैं। सीमित सम्प्रदायवाद धार्मिक सम्प्रदायों को सशक्त करता है क्योंकि इससे धार्मिक अभिव्यक्तियों के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता मिलती है। परन्तु कठिनाई यह है कि यदि धर्म का संचालन अनुदार और स्वार्थी लोगों के हाथों में चला गया है तो नए सम्प्रदायों के उदय को वे रोक नहीं सकते।

५ श्रेणीबद्ध संगठन—अधिकांश धर्मों में यह भी प्रवृत्ति होती है कि उनके संगठन में एक ऐसा आन्तरिक पद सोपानात्मक स्तरण (hierarchical stratification) हो जाए जिसमें विभिन्न स्तरों के विशेषाधिकार, निर्योग्यताएं निश्चित हों। पुजारी या पुरोहित विशेषाधिकारों के आधार पर सबसे ऊँचे स्तर पर आ जाते हैं और शेष धर्मावलम्बी धार्मिक आचरण में सफलता पाने के लिये इनके मुखापेक्षी हो जाते हैं क्योंकि पुरोहितों और पुजारियों के अतिरिक्त पवित्र संस्कारों को करने का किसी को अधिकार नहीं होता है। इस स्थिति में धर्म के मूल सिद्धान्तों का पालन उतना आवश्यक नहीं माना जाता जितना कि विविध संस्कारों और धार्मिक विधि विधानों को करने की सही रीति।

धर्म का सामाजिक महत्त्व[1]

धर्म और सामाजिक संगठन के बीच कई सम्बन्ध हैं। एक बहुत महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध यह है कि धर्म समाज के परम्परागत जीवन ढङ्ग को उचित ठहराता है। हम जानते हैं कि धर्म एक संरक्षणात्मक शक्ति है। यह परम्परा को बनाए रखती है और उसको सार्थक और उचित ठहराती है। संस्कृति और पर्यावरण का अपेक्षतया कुछ स्थिर समायोजन होता है। धर्म इसे मजबूत कर देता है। जो परम्परा से होता चला आया है वही सही तरीका है, उसे ही ईश्वर की अनुमति कहना चाहिए और चूँकि वह धर्म ग्रन्थों में लिखा है इसलिए वही स्वीकृत आचार-

1 Jones *Basic Sociological Principles* p 285 & MacIver and Page *Society* pp 488-491

करता है। धर्म इस बात पर बल देता है। समाज की सबसे अच्छी व्यवस्था वह मानी जाती है जो धर्म-सम्मत परम्पराओं और मूल्यों के अनुसार आचरण करें। धर्म का यह रूढ़िवादी प्रभाव समाज के विकास को इसलिए नहीं रोकता है क्योंकि उस पर सन्देह करते हैं। धार्मिक लोग उसे ईश्वर की इच्छा मानकर उसे स्वीकार करते हैं एवं परिवर्तनों में भी समाज के अधिक लोग धर्म-सम्मत आचरण का समर्थन करते हैं। धार्मिक लोग यही विश्वास बनाए रखते हैं कि इन उल्लंघनकारियों के विनाश को देखना होगा।

धर्म सामाजिक नियन्त्रण का एक सशक्त साधन है। लोग कानून को तोड़ने से उतना भय नहीं खाते जितना दुष्कर्म करने में ईश्वर का भय खाते हैं। यह प्रभाव लोगों में सदाचार की भावना जगाती है। वे प्रत्यक्ष समाज विरोधी कार्य करने में बहुधा इसलिए हिचकते हैं कि वह धर्म विरोधी भी होगा। जिन धर्मों में कर्म और आवागमन के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा है वहाँ लोग नरक-यातनाओं से बचने के लिए धर्माचरण, परोपकार और दूसरों की सेवा करते हैं।

गाँवों और शहरों में सामुदायिक रूप में मन्दिर-पूजन के अनेक अवसर आते हैं। ये सामाजिक व्यापार के विस्तार में सहायक हैं। इसलिए उन्हें सामाजिक एकता का साधन कहा गया है। सत्यनारायण की कथा, कीर्तन, रामायण पाठ अथवा अन्य धार्मिक उत्सवों पर एकत्र हुए लोगों में घनिष्ठता और सामाजिक संगठन की भावना बढ़ती है।

धर्म ऐसे किसी नियम या व्यवस्था का [illegible] है जो आपस में घृणा उत्पन्न करे या किसी मानव समूह को नीच कहकर उसके लिए अत्याचार या शोषण का शिकार बना दे। दलितों या पतितों की सेवा धर्म ने कई बार की है। धार्मिक संस्थाओं के संस्थान, पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था धार्मिक मिशनरियों ने की है। संसार में आज भी धर्म जाति भेद और युद्ध का विरोधी है।

धार्मिक संगठन समाज के आन्तरिक संगठन को मजबूत करते हैं। धार्मिक एकता जाति या राष्ट्र की एकता में एक महत्वपूर्ण कारक है। दार्शनिक को पुष्ट करने में भी धर्म का कम महत्व नहीं है।

धर्म एक सनातन स्थायी शक्ति होते हुए भी सदैव परिवर्तन का विरोधी नहीं होता है। यह जब तक सजीवता शक्ति से भरपूर रहता है प्रगति के लिए गतिशीलता का पोषक होता है किन्तु जब किसी धर्म में रूढ़िता और विकृति इतनी अधिक आ जाती है कि उसकी सहिष्णुशीलता और सजीवता ही मिट जाती है तब प्रगति के समाज को भारी क्षति पहुँचता है। कौन नहीं जानता कि संसार की सबसे बड़ी क्रान्तियाँ बुद्ध, ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म प्रवर्तकों ने कीं।

समाज के लिए धर्म अहितकारी तब हो जाता है जब उसका संचालन स्वार्थी और मूढ़ लोगों के हाथ में आ जाए जो उसे निकम्मा और संकुचित स्वार्थों की रक्षा

के लिए धर्म का सामाजिक शोषण, असमानता एवं अन्याय के लिए उपयोग करें या प्रगतिवादी शक्तियों और धाराओं का खुलकर विरोध करें। धार्मिक असहिष्णुता और युद्ध सच्चे धर्म के दोष नहीं हैं वह तो धर्म की विकृति के ही परिचायक हैं।

एक स्थिर समाज में धर्म एवं प्रामाणिक आचार संहिता का विकास करके सामाजिक नियन्त्रण की समस्या को बड़ा सरल कर देता है और विकासवादी परिवर्तनों में समाज और व्यक्ति को समायोजन करने के उचित अवसर देता है।

आधुनिक जटिल समाजों में धर्म—आधुनिक जटिल समाजों में धर्म की सत्ता और प्रतिष्ठा में क्रमशः ह्रास हो रहा है। इस प्रवृत्ति के दो कारण हैं (१) जटिल समाज की जनसंख्या में अनेक विजातीय समूह होते हैं जिनकी पार्श्वभूमियाँ, हित और व्यवहार प्रतिमान एक दूसरे से बहुत विभिन्न होते हैं। यह विभिन्नता वर्तमान समय और संस्कृतियों और पर्यावरणों की अनेकता के कारण बहुत अधिक बढ़ गई है। भारत को लीजिए। यहाँ ईसाई, मुसलमान, पारसी धर्मावलम्बियों की एक भारी संख्या है। ये इस देश के मूल हिन्दू धर्म के प्रतियोगी बन गए हैं। पिछले वर्षों में न जाने कितने भारतवासी मुसलमान और ईसाई हो गए। ये दोनों धर्म अपने साथ विदेशी संस्कृतियों को भी लाए हैं जिनका भारतीय संस्कृति से सामंजस्य नहीं हो पाया। अतः भारतीय संस्कृति में अनेक विघटक शक्तियाँ काम करने लगी हैं। ईसाई संस्कृति का सम्मोहन अनेक भारतीयों को ईसाई धर्म के निकट लाता है और अपने धर्म से दूर। दूसरे हिन्दू धर्म की कुछ दुर्बलताएँ और अन्तर्विरोध उसकी सत्ता और प्रतिष्ठा को चुनौती देते हैं। अस्पृश्यता, बालविवाह, विधवा विवाह पर रोक, नारी का शोषण और हिन्दू धर्म में आदिम धर्मों के नीच तत्वों के समावेश के कारण अनेक शिक्षित, विचारशील और प्रगतिवादी हिन्दू अपने धर्म की निन्दा करने को विवश हैं।

सभ्य समाजों में धार्मिक प्रतिष्ठा के गिर जाने का दूसरा कारण यह होता है कि इन समाजों में धार्मिक प्रतिमानों के स्थान पर नये प्रतिमान विकसित हो गए हैं जो जीवन के लक्ष्यों और मूल्यों को निर्धारित करते हैं। आर्थिक और औद्योगिक व्यवस्था कुछ समूहों और व्यक्तियों के लिए वही काम करने लगी हैं जो धर्म करता था। बहुत से लोग आर्थिक सफलता को ही जीवन का परम ध्येय मानने लगे हैं। इसी प्रकार से सभ्यता और विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को अनेक ऐसे अवसर और प्रेरणाएं दी हैं जिनमें वह ऐहिक जीवन के कल्याण को ही जीवन का परम लक्ष्य मान बैठता है। अनेक राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों और समाजसेवियों का मिशन अपने अपने क्षेत्र में कर्म-तत्परता ही है। विज्ञान, ज्ञान, कला और मनोरंजन ने व्यक्ति के जीवन को सुखी होने के अवसर दिए हैं। फिर भला मनुष्य परलोक के सुख और मोक्ष की चिन्ता में ही क्यों डूबा रहे? जीवन में प्रचुरता और

उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सन्तोष मनुष्य को कई बार ईश्वर और परलोक की बात सोचने ही नहीं देता। पार्थिव समृद्धि और आध्यात्मिकता में विपरीत सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है।

विज्ञान ने बुद्धिवाद का विकास किया है। यह धर्मान्धता और धर्मभीरुता को सदा चुनौती देता है। धर्म के अनेक विश्वास और अभ्यास तर्क के सामने नहीं टिकते।[1] परलोक या पारलौकिक शक्ति में विश्वास रखना भी मनुष्य को अपनी दुर्बलता प्रतीत होता है। इस युग [illegible] नास्तिकता को बढ़ावा दे रहा है। मार्क्स का यह कहना कि धर्म जनसाधारण को शोषण और अत्याचार से बचाने के लिए सत्ताधारियों द्वारा दिया हुआ नशा है। इस [illegible] के उत्थान पर भी यह शायद ही अपने आदर्श का स्थिर [illegible] कर सकता। समकालीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि जिस देश में अधिक धार्मिकता है वहां निर्धनता और सामाजिक बुराइयों का जमघट है। धर्म के ठेकेदारों ने जनसाधारण को आर्थिक विषमता, अन्याय और पक्षपातता की चक्की में पीसा है। सिद्धान्ततः धर्म सदाचार, सत्य और ईमानदारी का पोषक कहा जाता है किन्तु व्यावहारिक जगत में जो धार्मिक नेता हैं या जो ईश्वर और जनता के बीच के ठेकेदार हैं वही मन्दिरों, धर्मशालाओं, मस्जिदों, गिर्जों तथा तीर्थस्थानों में व्यभिचार, भ्रष्टाचार और पशुवृत्ति, जुआ आदि के अखाड़े बना रहे हैं। यदि ईश्वर अपने घर को ही अनाचार और पाप से नहीं बचा सकता तो फिर उससे साधारण मनुष्य अपने कल्याण की आशा कैसे करे?

सभ्यता की प्रगति से अनेक संस्थाएँ बन गई हैं, जैसे शिक्षा, सामाजिक कल्याण की संस्थाएँ, जिन्होंने धर्म के [illegible] और समाज-सेवा-कार्यों को छीन लिया है। यही बात चिकित्सा के विकास में भी हुई है। अतएव धर्म के पास अब थोड़े कार्य रह गए हैं जिनको नितान्त धार्मिक कहा जा सकता है। यह धर्म के महत्व की कमी में एक अन्य प्रमुख कारण है।

फिर धर्म में [illegible] के आधार पर अनेक सम्प्रदायों का उदय, राष्ट्रीयता का प्रसार, राज्य और धर्म का पृथक्करण आदि अनेक कारण हैं जिन्होंने धर्म की सत्ता और प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचाया है।

आधुनिक समाज में मनुष्य का [illegible] और विधाता के भरोसे बैठे रहना और भाग्य पर आशा करना असमाजिक समझा जाता है।[2] वह समाज के पुनर्निर्माण और स्वयं अपने भाग्य का निर्माता बनने में विश्वास रखता है। [illegible] प्रकृति पर पूर्ण नियन्त्रण चाहिए। [illegible] सामाजिक [illegible] समस्त वस्तुओं का [illegible] है। [illegible]

1 Green, [illegible] Religion and Science
2. [illegible] हिन्दू धर्म की महत्ता (बम्बई १९६८) पृष्ठ १०८

पथाया सस्थाओ और मूल्यो को प्रतिक्रियावादी समझता है जो धर्म सम्मत होने के नाते प्रगति के मार्ग को रोकते हैं। भारत मे जातिवाद अस्पृश्यता कर्मवाद और नारी का समाज म निम्न स्थान सभी के ऊपर धर्म की कृपा दृष्टि रही है। परन्तु यह सस्थाएँ हमारी प्रगति का मार्ग रोक खडी हैं। इनको बदले या तोडे बगर प्रगति करना असम्भव-सा है।

हमारे जसे देश म समाज बडे वेग म परिवर्तित हो रहा है। उसकी मूलभूत सरचना ही बदल रही है। सयुक्त परिवार धर्म-सम्मत पवित्र विवाह दवी वर्ण जाति रचना अस्पृश्यता सरल और भाग्यवादी जीवन सब पर आधुनिक प्रगतिशील शक्तियाँ प्रहार कर रही हैं। मनुष्य को विवश होकर परम्परा के विरुद्ध व्यवहार करना पडता है। समय उसम नए ढग विश्वास मूल्य और विचार चाहता है किन्तु समाज की पर म्पराए और रूढियाँ उसे ऐसा करने से रोकती हैं। धर्म के नाम पर उसकी प्रगति शीलता को निन्दनीय ठहराया जाता है। इस स्थिति म मनुष्य का समाज स समायो जन म बडी कठिनाई होती है। जीवन के किसी भी क्षेत्र को ले लीजिए। आपको लोग यही कहते मिलेंगे भई क्या करें समय की मांगो के अनुकूल आचरण न करने म बडा कष्ट होता है किन्तु यदि समय के साथ चलो तो समाज के कोप निन्दा और तिरस्कार का भाजन बनना पडता है। हम तो बडे असमजस म हैं। समझ म नहीं आता क्या करें और क्या न करें।' अन्तर्जातीय विवाह शूद्रो का साथ प्रेम विवाह सामाजिक सस्कारो तथा उत्सवो पर मिथ्या विधि विधानो का न करना जाति पाँति के भेदभाव का परित्याग, स्त्री शिक्षा सभी मनुष्यो की समानता म विश्वास य सभी ऐसे व्यवहार हैं जि है स्वय करने या उनका सम्मान करने को हर भारतीय परि-स्थितिवश उचित या आवश्यक समझने को विवश होता है किन्तु ऐसा करने पर धर्म की रूढिवादिता का विरोध सहना पडता है। अस्तु इस स्थिति म समाज स समायो जन की अनेक समस्याएँ व्यक्ति और समूह के सामने आती हैं। सफल समायोजन कठिन ही नहीं कई बार असम्भव हो जाता है। फलत वयक्तिक और सामाजिक विघ टन बढता है।

विज्ञान और सभ्यता की प्रभा म धर्म की कट्टरता, रूढिवादिता, अन्धे विश्वासो ढकोसलो और मिथ्या पौराणिक कल्पनाओ स मनुष्य ठगा नहीं जा सकता। उसे अपने जीवन और समाज तथा अनन्त ब्रह्माण्ड के बारे म जो ज्ञान चाहिए वह धर्म नहीं दे सका। ज्ञान विज्ञान की साधना ने उस सत्य के पथ को प्रकाशित किया है। उसे समाज और अन्तर्राष्ट्रीय (मानव समाज) जगत की ऐसी व्यवस्था चाहिए जिसम अन्याय शोषण और विषमता न हो। जिसम सबको अपने योग क्षेम तथा समाज के कल्याण म अभिवृद्धि करने के समुचित अवसर मिलें। वह विवेकपूर्ण सदाचार करना चाहता है जो उसकी और समाज की स्वाभाविक इच्छाओ के अनुकूल हो। उस सबम महान् और अमनी धर्म का दर्शन सभी मानवो स प्रेम, सहयोग

भ्रातृत्व और समता के व्यवहार में मिलता है। यह मानववाद है जो समस्त संसार के मनुष्यों की निष्ठा का पात्र होगा क्योंकि उसमें सभी धर्मों के सार तत्त्व सन्निविष्ट हैं। ऐसा ही सार्वभौमिक धर्म हमारा साध्य है।

संसार के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल, टॉयन्बी, राधाकृष्णन और भारत के युगान्तरकारी महात्मा गाँधी एक ही सामाजिक धर्म की प्रतिष्ठा के हिमायती हैं। वरन् इस धर्म के सम्मुख निराधार हो जायेंगी। ऐसे धर्म से हमारी इहलौकिक क्रियाएँ अनुशासित हों। यही धर्म हमें आधुनिक सभ्यता के प्रमुख तत्त्वों—विज्ञान और प्रविधि—के उचित उपयोग में सहायता दे सकता है जिससे मानव सभ्यता के नाशक न होकर मानवता के विकासक हो जाएँगे।[1]

धर्म और सामाजिक विघटन

रूढ़ियों एवं लोकरीतियों के सबल अङ्कुश (Sanction) के लिए ही धर्म का प्रयोग किया गया है और इस प्रकार धर्म ने लगभग उन सभी व्यवहारों का समर्थन किया जिन्हें धर्म ने कभी भी मान्यता नहीं दी थी। कुछ पुरातन एवं बर्बर सी रूढ़ियों को धर्म ने नवीन जीवन दिया। प्राय ऐसी रूढ़ियाँ व्यक्तियों के जीवन का निर्देशन करने लग जाती थीं। इस प्रकार के परिवर्तन ने समाज में कतिपय भ्रान्तियों को जन्म दिया और कुछ दशाओं में समाज में वैयक्तिक एवं सामाजिक विघटन का पथ खुला। जब किसी प्रकार समाज में कोई नया विचार अङ्कुर बनकर पनपने लगता है तब इस पुरातन समाज के धार्मिक ढाँचे में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ होने लगते हैं और इन्हीं के कारण कतिपय नवीन रूढ़ियों का भी जन्म होता है। ऐसी रूढ़ियों को धर्म प्राय मान्यता दे देता है। व्यक्ति इन स्थितियों में प्रतिदिन प्राय ऐसे काम किया करता है जिन्हें धर्म मान्यता नहीं प्रदान करता। ऐसे कार्यों की धर्म निन्दा करता है। केवल निन्दा करने के अलावा धर्म इन कार्यों का संगठित व्यवस्था की भाषा में कोई सार नियन्त्रित नहीं करता। प्राय ऐसा होता है कि धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के मूल्यांकन की धर्म व्यवस्था नहीं कर पाता इस प्रकार समय में धर्म का नियन्त्रण कम हो जाता है और धर्म अन्य सामाजिक संस्थाओं की तुलना में एक सामाजिक प्रगति में बाधा हुआ रह जाता है।

धर्म एवं वास्तविकता से बचाव (Religion and Reality-evasion)

धर्म प्राय अपनी सार्वभौमिकता की आड़ में कुछ बातों के करने को प्रोत्साहित करता है जो मनुष्य मात्र एवं पड़ोसियों के साथ में [illegible] स्वार्थ [illegible] समाज में वास करने लगते हैं। समाज के धार्मिक संस्थाओं का [illegible] प्राय [illegible] हो [illegible]

---

1 Arnold J. Toynbee in his lecture on [illegible] and Religion in Delhi on February 17, 1957. A similar view is expressed in P. A. Sorokin's Reconstruction of Humanity.

विरोधी काय करने की प्रेरणा मिलती है और सामाजिक नियमों की अवहेलना कराने में ये सिद्धहस्त होते हैं। प्रत्येक समाज इसका साक्षी है कि उसके बहुत से हृष्ट पुष्ट सभ्य समाज की आर्थिक एवं नतिक अन्य प्रगति में सहायक न होकर समाज पर भार बनकर साधु सन्त, पण्डा पुजारी एवं मठाधीशों के चेले एवं सेवक बनकर घूमा करते हैं। इतिहास धार्मिक युद्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। मन्दिरों मठों एवं चर्च इत्यादि की लम्बी रकम देकर पूँजीपति मजदूरों की अनुचित कमाई दान के पाप से या निन्दा से बच जाते हैं। अनेक धर्म जैसे क्योंकि, अपने सदस्यों द्वारा किये गये पापों एवं अपराधों को स्वीकार कराकर प्रायश्चित या क्षमा कर देने का विधान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार मानव की सबसे बड़ी कमजोरी अपराध करने की प्रवृत्ति को केवल प्रायश्चित एवं क्षमादान से सुधारने की व्यवस्था से उसे अपने स्वभाव को बदलने की जिम्मेदारी से छुटकारा मिल जाता है। वैराग्य (asceticism) मनुष्य को कठोर जीवन हठ योग गम्भीरता एवं अन्य सामाजिक मूल्यों का भण्डार एवं अव मानना करा कर उसे सामाजिक उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों से परे हटाता है।

धर्म एवं मानसिक व्याधि (Religion and mental ill health)

धर्म के कारण ही पाप दोष भावना (Sin guilt complex) पश्चाताप (Remorse) एवं हीनता की भावना सदेह एवं असुरक्षा की भावना एवं भय प्रभूत भावनाओं को मानव मस्तिष्क में जन्म देता है। कतिपय विचारकों के अनुसार मान सिक व्याधियों के उत्पन्न करने में उपरोक्त भावनाओं का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिन धार्मिक प्रवचन करने वालों के प्रवचन से व्यक्ति के मन में डर पश्चाताप, लज्जा एवं अन्य उद्वेगात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वास्तव में वे ही प्रवचन कारक वैयक्तिक विघटन के उत्तरदायी होते हैं।

धर्म एवं सांस्कृतिक संघर्ष (Religion and Cultural Conflict)

संसार में ऐसे भी धर्म हैं जो संघर्ष, असहनशीलता और स्वसमूह प्रेम (ethnocentrism) की प्रक्रियाओं का संरक्षण दे रखे हैं। इनकी आड़ में विभिन्न विधिलेतर (Extra legal) संगठन एवं अन्य धार्मिक समूहों के व्यवहारों का नियन्त्रण करने वाली संस्थायें पल्लवित-पुष्पित एवं फलित होती रहती हैं। हिन्दू और मुस्लिम कैथोलिक एवं प्राटेस्टेन्ट तथा यहूदी एवं जेन्टाइल धर्म समूहों के बीच में जो भी संघर्ष हुये या जिनके होने की सम्भावना है उनके प्रेरक तत्व मानवता के विरुद्ध पक्ष पात घृणा असहनशीलता और भय पनपाते रहे हैं। विभिन्न कालों में बहुत से समाजों में धार्मिक युद्ध हुये हैं और वर्तमान में धार्मिक दंगे तो साधारण बात हो गये हैं। इन धार्मिक दंगों के फलस्वरूप न केवल मन्दिर मस्जिद एवं चर्च की सम्पत्ति का विनाश हुआ बल्कि इन धर्मों के अनुयायियों के साथ बलात्कार एवं हत्यायें भी हुई हैं। एक ही सम्प्रदाय या चर्च के परिधि के अन्दर भी संघर्ष होना कोई नई बात

नगरों में होना अस्वाभाविक है। अमरिकी समाज में धार्मिक अशान्ति के कारण हैं अमरिका के उजले एवं हब्शी वर्गों के बीच का संघर्ष।

अनेक धर्मों या सम्प्रदायों में तपस्या को धार्मिक अनुष्ठानों में महत्त्वपूर्ण एवं उच्च स्थान प्रदान किया गया है। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि भिन्न भिन्न कालों में समाजों में सन्यास एवं शारीरिक मृत्यु (Martyrdom) मतान्तर आदि की तरह फल। आत्म-त्याग (Self abregation), स्थायी ब्रह्मचर्य (Obsessional continence) पत्र पत्नियों एवं आश्रित परिवार सामाजिक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों का त्याग अमन काय संयम एवं तपस्या के प्रतिमान हैं।

इन तमाम असामाजिक एवं समाज विरोधी प्रतिमानों के अतिरिक्त धर्म या धार्मिक संस्थाएँ समाजों में अशान्तियों की भी सृष्टि होती हैं। इंगलैंड में प्यूरीटन क्रान्ति का जन्म उच्च मध्यम वर्ग, राजा एवं राजदरबार से सम्बन्धित उच्च वर्गों के विरोध में धार्मिक मांग प्रमुख कारण थी परन्तु यह धार्मिक उपद्रव या क्रान्ति ही थी। समाज के पदवी ने पूजा करने का अधिक स्वतन्त्रता की माँग की। रूसी चर्च शासक जार के प्रभाव में था अतः चर्च पतन कर्तव्य का दुरुपयोग करता रहा जिससे जनता की तबाही और असन्तोष बढ़ते गए।

आधुनिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ

अध्याय ६ में हमने संस्कृति और सभ्यता की धारणाओं की व्याख्या करते हुए उनके स्वरूप और संगठन का विस्तृत विश्लेषण किया है। संस्कृति उन क्रियाओं का समुदाय है जो हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिए जन्म से आए हुए हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध बनाती हैं। संस्कृति में मनुष्य के व्यक्तित्व का अत्यन्त सुन्दर विकास होता है। संस्कृति ही मानव प्रकृति का स्वभाव उत्कृष्ट है और इस प्रकृति का माप भी संस्कृति ही है। संस्कृति वह वस्तु है जिसे मनुष्य स्वयं उसके लिए उत्पन्न करता आया है। वास्तव में संस्कृति उच्च तथा समृद्ध जीवन का प्रयास है। ऐसा उच्च और समृद्ध जीवन सृष्टि के प्राणियों में केवल मनुष्य का ही सम्भव हो सकता है। संस्कृति मनुष्य की विशिष्ट शक्तियों और विशेषताओं का प्रदाय है। सांस्कृतिक जीवन का उपभोग सभी मनुष्य कर सकते हैं। अतः यह मनुष्य जाति का सामान्य या सामाजिक जीवन है। सांस्कृतिक जीवन ऐतिहासिक होता है। विभिन्न व्यक्ति मरते जाते हैं किन्तु समाज या राष्ट्र की संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इसी इतिहास में संस्कृति का किसी भी समाज का अपना विशिष्ट या निराला जीवन बन जाता है।

हम पहले ही इस बात का मनन कर चुके हैं कि आधुनिक विश्व के समाजों की निराली संस्कृतियों में पारस्परिक सम्पर्क और आदान प्रदान के कारण बहुत साम्य उत्पन्न हो गया है। संस्कृतियों में सर्वांगीण और साम्य उत्पन्न करने में सबसे महत्त्वपूर्ण

योगदान पाश्चात्य भौतिक सभ्यता को है जिसमे विज्ञान और प्रविधि की उन्नति का प्रमुख स्थान है। जैसे आधुनिक जगत की एक विश्वव्यापी सभ्यता के निर्माण की भविष्यवाणी बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे कई इतिहासकारो और विचारको ने की थी उसी प्रकार आज कुछ विद्वान यह भविष्यवाणी कर रहे हैं कि निकट भविष्य मे समस्त विश्व में एक समान संस्कृति का प्रसार हो जायेगा। निम्नांकित पंक्तियो मे हम आधुनिक सभ्य समाजो की संस्कृतियो की कुछ प्रमुख वर्तमान प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक प्रथाएँ, परम्पराएँ और रूढ़ियाँ

आधुनिक सभ्य समाजो मे प्राचीन और मध्ययुगीन की बहुत सी प्रथाओ परम्पराओ और रूढ़ियो तार्किकता और व्यावहारिकता के आधार पर परखकर उनमे से इस कसौटी पर खोटी उतरने वालो का परित्याग किया जा रहा है। यौन, जाति, वर्ग, धर्म, रंग अथवा संस्कृति के आधार पर भेद भावो को मानव समाज के लिए सर्वथा त्याज्य समझा जाता है। स्त्रियो को समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे पुरुषो के समान स्तर पर ही कार्य करने का अवसर मिल रहा है। प्रजातीय भेद भाव, छुआ छूत और ऊँच-नीच की भावनाओ को प्रतिक्रियावादी माना जाता है। समाज की विभिन्न संस्थाओ मे विशेषकर परिवार और धर्म मे व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं। परिवार मे जनतन्त्रीय भावनाओ के आधार पर प्रत्येक सदस्य को सर्वोत्तम विकास करने का अवसर प्रदान किया जाता है। धर्म के क्षेत्र मे प्रत्येक समूह को अपने धर्म मे आस्था रखने उसकी उपासना और प्रचार करने की समान छूट है। इसे ही धर्म निरपेक्षता कहते हैं। सामाजिक परम्पराएं तथा रूढ़ियां जो अभी तक सर्वाधिक रूप से धर्म सम्मत थी, उदारवादी और तर्कवादी विचारधारा मे रंगती जा रही हैं। समाज के आचार नियम सरलता, सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक न्याय पर क्रमश आश्रित होते जाते हैं। कोई भी सभ्य समाज अपने सदस्यो मे स्थानीयता अथवा अन्य प्रकार के संकुचित दृष्टिकोण उत्पन्न करना अधिकार मानता है। सहनशीलता उदारता पारस्परिक आदान प्रदान प्रेम और सदिच्छा आधुनिक मानव के व्यवहार के अंग कहे जा सकते हैं। राष्ट्रो मे परस्पर भले ही वैमनस्य और संघर्ष हो विभिन्न देशो की जनता मे एक दूसरे के दृष्टिकोणो और हितो को समझने मे काफी उदारता और सहानुभूति बढ़ती जाती है। आज के समाज मे अन्याय अत्याचार उत्पीडन और शोषण के विरुद्ध जनसाधारण मे तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक सा हो गया है।

वेशभूषा और भाषा

आधुनिक सभ्य समाजो मे व्यापक स्तर पर वस्त्रो के पहिनाव, बोल चाल और भाषा मे बहुत साम्य बढ़ता जा रहा है। संसार के किसी आधुनिक नगर मे जाइए पाश्चात्य ढंग का पहिनावा एक साधारण सी घटना लगती है। संसार की कुछ सर्वाधिक प्रचलित भाषाओ जैसे अंग्रेजी से बहुत से पढ़े लिखे लोग परिचित मिल जाएँगे। यूरोप अमरीका, रूस, एशिया, अफ्रीका और लटिन अमरीका के प्रबुद्ध

वेशभूषा और भाषा के मामले में एक दूसरे के बहुत निकट हैं। कुछ प्रमुख भाषाओं ने तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का रूप धीरे-धीरे ग्रहण कर लिया है। अभिवादन और कुशल क्षेम पूछने के ढंग में बहुत साम्य बढ़ रहा है। प्रायः आधुनिक देशों में उन्नत देशों की भाषाओं को विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। भाषाओं के पारस्परिक सम्पर्क और आदान प्रदान ने आज उनके विकास की गति और दिशा में बहुत क्रान्तिकारी समानताएँ उत्पन्न हो गई हैं। रेडियो, सिनेमा, टेलिविजन, समाचार पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से भाषाओं की समानता और समीपता में बहुत योगदान मिला है। टाइपराइटर और छापाखानों के आविष्कार ने भाषाओं की लिपियों में वैज्ञानिक संशोधन और सरलीकरण की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिला है।

साहित्य

उन्नत देशों के साहित्य में यथार्थ जीवन का चित्रण करने की प्रवृत्ति प्रधान बढ़ती जा रही है। आज साहित्य में प्रगतिवाद, यथार्थवाद और प्रतीकवाद का बोलबाला है। साहित्य को समाज की संस्कृति को समृद्ध करने और उसको प्रगतिशील बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। साहित्य समाज की अनुकृति कहा जाता है। साहित्यकारों का ऐसा विश्वास है कि आधुनिक जगत में साहित्य सामाजिक परिवर्तन और क्रान्ति का एक सबल अस्त्र है। आज साहित्य केवल स्थानीय या क्षेत्रीय नहीं रहा। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवता के भाव विस्तार और मनोरंजन को समृद्ध कर रहा है। एक समुन्नत देश के साहित्य में जो भी नए प्रयोग या उपलब्धियाँ होती हैं वे दूसरे देशों में शीघ्र ही विज्ञापित हो जाते हैं। साहित्य में आदान प्रदान के लिए और उसको मानव कल्याण में योग प्रदान करने के लिए प्रोत्साहन देने के लिए वर्तमान विश्व में कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। साहित्य पर नागरीकरण और औद्योगीकरण की समस्याओं की स्पष्ट छाप मिलती है।

कला और मनोरंजन

कला के क्षेत्र में भी उपर्युक्त प्रवृत्तियों से मिलती जुलती अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। आज कला कला के लिए के नारे में कोई आकर्षण नहीं रह गया है। कला जीवन और समाज के लिए उपयोगी हो, यह धारणा धीरे-धीरे दृढ़तर होती जाती है। कला के कलात्मक और व्यावहारिक पक्ष में तालमेल स्थापित करने का प्रयत्न सराहनीय माना जाता है। कलाकृतियों में भी आंचलिकता अथवा क्षेत्रीयता के स्थान पर राष्ट्रीयता या मानवीयता की प्रगति बढ़ती जा रही है। अब कला केवल कुछ समृद्ध परिवारों अथवा अभिजात वर्गों की सम्पत्ति नहीं रह गई। कलाकार की कला का क्षेत्र जनसाधारण के समाज तक विस्तृत हो गया है। कला के उत्थान ने कला को जनसुलभ कर दिया है। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, सिनेमा, टेलिविजन, प्रदर्शनियों आदि के माध्यम से उच्च से उच्च कला जनसाधारण तक पहुँच जाती है। कला में सर्जनात्मकता के अतिरिक्त व्यावसायिकता भी आ गई है। अब कलाकार का आदर

जनिक प्रशंसा और सम्मान पाने के अधिक अवसर है। कला को राज्य का संरक्षण और प्रोत्साहन न भी मिले तो वह जनसाधारण के संरक्षण और सहायता से जीवित रहती है। कविता, उपन्यास कहानी, चित्रकारी संगीत, नृत्य, वास्तु कला, स्थापना आदि विभिन्न कलाओं में नवयुग की अपेक्षाओं आकांक्षाओं संभावना एवं समस्याओं का बहुत सुरुचि में चित्रण होता है। आज कलाओं का सामाजिक नियन्त्रण और परिवर्तन दोनों के लिए प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है।

कलाओं तथा मनोरंजन के अन्य साधनों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रगति हो रही है। मनोरंजन के व्यवसायीकरण से कुछ विषम समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। सिनेमा और टेलिविजन तथा सस्ते अश्लील साहित्य को कुछ सीमा तक जनरुचियों के विघटन के लिए दोषी ठहराया जाता है।

ज्ञान विज्ञान

ज्ञान विज्ञान के विकास में भी आज कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही है जो यह स्पष्ट संकेत करती हैं कि उस क्षेत्र में विज्ञान से पूर्व की मान्यताएँ समाप्त हो रही हैं अथवा शिथिल पड़ गई हैं। ज्ञान विज्ञान की समस्त शाखाओं में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का बोलबाला है। वही ज्ञान शाखा सम्मानित मानी जाती है जो अपनी विषय वस्तु का अध्ययन मान्य वैज्ञानिक नियमों के अनुसार करती है। सभी ज्ञान शाखाओं में उन्नति करने की दिशा में एक अभूतपूर्व होड़ है। प्राकृतिक विज्ञान सामाजिक विज्ञानों और मानवीय ज्ञानों सभी में उपयोगितावादी व्यवस्था के संदर्भ में विकास हो रहा है। सभी ज्ञानों का चरम लक्ष्य मानव कल्याण की वृद्धि करना स्वीकार किया जाता है। ज्ञान विज्ञान के विकास और परिवर्तन पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का निस्संदेह प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय आदान प्रदान और प्रयोगों के माध्यम से ज्ञान विज्ञान का एक सर्वमान्य विश्वस्वरूप विकसित हो रहा है। राष्ट्रीय सीमाएँ भाषा के प्रतिबन्ध अथवा विचारधाराओं के संघर्ष ज्ञान विज्ञान के प्रचार प्रसार में अनवरत बाधक नहीं। ऐसा प्रयास करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की कतिपय संस्थाएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन यत्न सक्रिय है। उस क्षेत्र में भी जनतन्त्रीकरण की प्रवृत्ति की प्रबल है।

२६

विज्ञान, प्रविधि और समाज

आधुनिक जगत में विज्ञान और प्रविधि का अभूतपूर्व विकास हुआ है। इन दोनों के विकास ने मानव समाज की शक्ति में इतनी वृद्धि कर दी है कि उसने प्रकृति पर नियन्त्रण सा कर लिया है और अनेक आविष्कार और खोजें कर एक अत्यन्त गौरवशाली सभ्यता का निर्माण कर लिया है। आज विश्व में जिधर दृष्टि डालिए विज्ञान के नए नए चमत्कार दिखाई देते हैं। इस्पात के बड़े-बड़े कल-कारखाने, रेल, हवाई जहाज, समुद्री जहाज, तार, रेडियो, टेलीफ़ोन, टेलिविज़न, कैमरा, सिनेमा, उद्योग की मशीनें, घरों में काम आने वाली बिजली की अनेक सुविधाएँ और यन्त्र, बड़े नगरों की जल-पूर्ति व्यवस्था, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ आदि आधुनिक सभ्यता की देन हैं और आश्चर्यचकित कर देने वाली इन वस्तुओं से कौन परिचित नहीं है। आधुनिक युद्ध में विज्ञान और प्रविधि के चमत्कारों का ही बोलबाला होता है क्योंकि युद्ध में वही देश जीतता है जिसकी सेना अद्यतन शस्त्रास्त्रों से सज्जित होती है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की निर्णायक विजय का प्रधान कारण था उनकी सेना के पास अणु बम का होना। किसी भी आधुनिक राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक शक्ति का आधार उसकी वैज्ञानिक एवं प्राविधिक उन्नति को ही माना जाता है। अतएव विज्ञान और प्रविधि की उन्नति राष्ट्रों को शान्ति और युद्धकाल में समान रूप से शक्तिशाली एवं समृद्ध बनाती है। सच तो यह है कि आधुनिक मानव समाज का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिस पर विज्ञान और प्रविधि का गहरा और विस्तृत प्रभाव न पड़ा हो। मानव को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक विज्ञान और प्रविधि से प्राप्त सुविधाओं से सुख-समृद्धि बढ़ाने में आश्चर्यजनक सहायता मिली है। इससे यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि विज्ञान और प्रविधि की उन्नति के अभाव में वर्तमान सभ्यता का विकास असम्भव होता। किन्तु जहाँ एक ओर विज्ञान और प्रविधि की महान् उन्नति ने मानव समुदाय की अनेक कठिन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर दिया है और उसे एक आश्चर्यजनक एवं अभूत-

पूर्व गौरवशाली सभ्यता का सृजन करने का श्रेय दिया है वहाँ दूसरी ओर इसी सभ्यता की उन्नति ने मानव समाज में कुछ ऐसी भयंकर समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं कि यदि उनका कारगर समाधान न किया गया तो हमारा संसार शीघ्र ही एक भयंकर विनाश के कगार पर अपने को पायेगा।

इस परिस्थिति में वैज्ञानिकों तथा अन्य विचारकों को दो विषयों पर गंभीरता से विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है (१) समाज में विज्ञान का स्थान, और (२) समाज पर विज्ञान और प्रविधि का संघात (impact)। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वानों ने इन विषयों पर मूल्यवान विचार व्यक्त किए हैं किन्तु विज्ञान के सामाजिक पहलुओं (social aspects of science) पर अधिक मूल्यवान विचार समाज वैज्ञानिकों से ही अपेक्षित हो सकते हैं। पिछले कई दशकों में समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक संरचनाओं की सूक्ष्मताओं का बड़ा गहन विश्लेषण किया है। उन्होंने मानव समाज के विस्तृत और जटिल क्षेत्र पर वैज्ञानिक आविष्कारों तथा खोजों के अद्भुत प्रभावों का विश्लेषण भी किया है।[1] हाल में दो प्रमुख समाजशास्त्री राबर्ट मर्टन और बर्नार्ड बार्बर ने समाज में विज्ञान के स्थान पर उल्लेखनीय कार्य किया।[2] समाज पर विज्ञान और प्रविधि के प्रभावों के विश्लेषण में आगबर्न, निमकॉफ, बारनर, हार्ट और एलन आदि समाजशास्त्रियों का कार्य अग्रगण्य है।[3] इल्टन मेयो ने आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं का अच्छा विवेचन किया है।[4] यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि आधुनिक समाज विज्ञान में उस पर अनुसंधान करना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यूनेस्को जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी विज्ञान और प्रविधि के सामाजिक उपलक्षणों (social implications) पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनुसंधान-योजनाएँ प्रारंभ कर दी हैं।

विज्ञान और उसके सामाजिक पर्यावरण का सम्बन्ध

राबर्ट मर्टन की उक्त पुस्तक के अंतिम पाँच अध्यायों में उपरोक्त विषय की विवेचना की गई। इन लेखों में सर्वप्रथम विज्ञान और सामाजिक संरचना की अन्तर्निर्भरता के विभिन्न ढंगों की व्याख्या की गई है। विज्ञान स्वयं एक सामाजिक संस्था है जो समाज की समकालीन अन्य संस्थाओं से विभिन्न प्रकार से सम्बंधित रहता है। दूसरे मर्टन ने विज्ञान और समाज की अन्तर्निर्भरता का कार्यात्मक विश्लेषण (functional analysis) करने का प्रयास किया है जिसमें विशेष ध्यान इस बात पर

1 See Kingsley Davis *Human Society* Chapter on *Science Technology and Society* and Lundberg etc *Sociology*
2 R K Merton *Social Theory and Social Structure*
3 See Allen & Others *Technology and Social Change* Appleton Century Crofts New York 1957
4 Elton Mayo *Social Problems of an Industrial Civilization*

दिया गया है कि समाज और विज्ञान का एकीकरण (integration) जहाँ तक सम्भव हो सका है और वहाँ उसमें विफलता मिली है।

सामाजिक व्यवस्था और विज्ञान के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन समाजों में राजनैतिक सत्ता अत्यधिक केन्द्रीकृत होती है वहाँ विज्ञान का विकास राजनैतिक अधिनायकवाद की शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया जाता है। विज्ञान जनता का शोषण और युद्ध का अस्त्र बन जाता है। नात्सी जर्मनी में विज्ञान के विकास का यही उद्देश्य रहा। अमरीका और इंग्लैण्ड जैसे देशों में विज्ञान का विकास भी अन्त तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विस्तार के लिए हुआ। इन देशों में पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था इतनी उन्नत हो गई है कि वह अपनी सत्ता की सुरक्षा के लिए कभी-कभी विज्ञान प्रविधि की ऐसी व्यापक उन्नति करता है कि बेरोजगारी तथा अन्य अनेक सामाजिक आर्थिक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। पूँजीवाद को आधुनिक साम्यवाद से इतना खतरा हो गया है कि वह साम्यवाद की प्रगति रोकने के लिए युद्ध के ध्वंसात्मक अस्त्रों का निर्माण करता है जिससे समाज और मनुष्य की सुख शान्ति के लिए गम्भीर खतरे उत्पन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में विज्ञान के दुरुपयोग की अधिक चर्चा होना स्वाभाविक है।

जनतन्त्रीय समाज व्यवस्था में विज्ञान का स्थान बहुत भिन्न होता है। जनतन्त्रीय समाज में अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति विज्ञान की संस्था का महत्त्व उसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता में है। यहाँ विज्ञान का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि उसमें सामाजिक कल्याण के लिए कार्य करने की कितनी क्षमताएँ हैं और उसकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं। विज्ञान की जितनी उपलब्धियाँ हैं वे समाज के हर वर्ग के नागरिक से समान रूप से उपभोग कर सकें। जनतन्त्रीय समाज में यह विश्वास किया जाता है कि विज्ञान के ज्ञान को जनसाधारण से गुप्त न रखा जाय। जो भी उस ज्ञान को प्राप्त करने। उपभोग करने की क्षमता रखे उसे उसके आत्म-समझने का अवसर दिया जाय। किन्तु कभी-कभी आर्थिक तथा सैनिक दृष्टिकोणों से कुछ वैज्ञानिक खोजों अथवा आविष्कारों को गुप्त रखा जाता है जिससे समाज और मानव की स्थिति स्पष्ट हो सकती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि जनतन्त्र समाज की प्रगति वैज्ञानिक अनुसंधान की स्वतन्त्रता से हो सकती है। वैज्ञानिक स्वतन्त्रता प्रगति के लिए आवश्यक है।

विज्ञान के आर्थिक सम्बन्ध या प्रविधि और व्यावहारिक उपलब्धियाँ विज्ञान के सामाजिक पद (social status) पर प्रभाव डालते हैं। जब विज्ञान का ज्ञान व्यावहारिक जीवन को सम्पन्न बनाने में प्रयुक्त हो जाता है तो विज्ञान का सामाजिक मूल्य बहुत ऊँचा हो जाता है और जनता तथा अन्य सामाजिक संस्थाएँ विज्ञान के भावी विकास की सम्भावनाओं को बढ़ाती हैं। फलस्वरूप जनता विज्ञान के महत्त्व को उसके सामाजिक कल्याण और प्रतिदिन उपयोगों से आँकती है। प्रति-

पूव गौरवशाली सम्यता का सृजन करने का श्रेय लिया है वहा दूसरी ओर इसी सम्यता की उन्नति ने मानव समाज म कुछ ऐसी भयकर समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं कि यदि उनका कारगर समाधान न किया गया तो हमारा ससार शीघ्र ही एक भयकर विनाश के कगार पर अपने को पायगा।

इस परिस्थिति म वैज्ञानिकों तथा अन्य विचारकों को दो विषयों पर गभीरता से विचार करने के लिए बाध्य होना पडा है (१) समाज म विज्ञान का स्थान, और (२) समाज पर विज्ञान और प्रविधि का सघात (impact)। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वानों ने इन विषयों पर मूल्यवान विचार व्यक्त किए हैं किन्तु विज्ञान के सामाजिक पहलुओं (social aspects of science) पर अधिक मूल्यवान विचार *समाज-वैज्ञानिकों से ही अपेक्षित हो सकते है। पिछले कई दशकों म समाज वैज्ञानिकों* ने सामाजिक सरचनाओं की सूक्ष्मताओं का बडा गहन विश्लेषण किया है। उन्होंने मानव समाज के विस्तृत और जटिल क्षेत्र पर वैज्ञानिक आविष्कारों तथा खोजों के अद्भुत प्रभावों का विश्लेषण भी किया है।[1] हाल म दो प्रमुख समाजशास्त्री रॉबर्ट *मर्टन और बर्नार्ड बार्बर ने समाज में विज्ञान के स्थान पर उल्लेखनीय काय किया।*[2] समाज पर विज्ञान और प्रविधि के प्रभावों के विश्लेषण म आगबर्न निमकॉफ, ऐलनेर, हार्ट और एलेन आदि समाजशास्त्रियों का काय अग्रगण्य है।[3] इल्टन मेयो ने आधुनिक औद्योगिक सम्यता से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं का अच्छा विवेचन किया है।[4] यह विषय इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि आधुनिक समाज विज्ञान म उस पर अनुसंधान करना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यूनेस्को जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं ने भी विज्ञान और प्रविधि के सामाजिक उपलक्षणों (social implications) पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनुसधान योजनाएं प्रारभ कर दी है।

विज्ञान और उसके सामाजिक पर्यावरण का सम्बन्ध

रॉबर्ट मर्टन की उक्त पुस्तक के अंतिम पाँच अध्यायों म उपरोक्त विषय की विवेचना की गई। इन लेखों म सवप्रथम विज्ञान और सामाजिक सरचना की अन्त निर्भरता म विभिन्न ढगों की व्याख्या की गई है। विज्ञान स्वय एक सामाजिक सस्था है जो समाज की समकालीन अन्य सस्थाओं से विभिन्न प्रकार से सम्बन्धित रहती है। दूसरे मर्टन ने विज्ञान और समाज की अन्तर्निर्भरता का कार्यात्मक विश्लेषण (functional analysis) करने का प्रयास किया है जिसम विशेष ध्यान इस बात पर

1 See Kingsley Davis *Human Society* Chapter on *Science Technology and Society* and Lundberg etc *Sociology*
2 R K Merton *Social Theory and Social Structure*
3 See Allen & Others *Technology and Social Change* Appleton Century Crofts New York 1957
4 Elton Mayo *Social Problems of an Industrial Civilisation*

किया गया है कि समाज और विज्ञान का एकीकरण (integration) कहाँ तक सम्भव हो सका है और कहाँ उसमें विफलता मिली है।

सामाजिक व्यवस्था और विज्ञान के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन समाजों में राजनैतिक सत्ता अत्यधिक केन्द्रीकृत होती है वहाँ विज्ञान का विकास राजनैतिक अधिनायकवाद की शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया जाता है। विज्ञान जनता के उत्पीड़न और युद्ध का अस्त्र बन जाता है। नाजी जर्मनी में विज्ञान के विकास का यही उद्देश्य रहा। अमरीका और इंग्लैण्ड जैसे देशों में विज्ञान का विकास भी बहुत कुछ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विस्तार के लिए हुआ। इन देशों में पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था इतनी उन्नत हो गई है कि वह अपनी सत्ता की सुदृढ़ता के लिए बहुधा विज्ञान प्रविधि की ऐसी व्यापक उन्नति करती है कि बेरोजगारी तथा अन्य अनेक सामाजिक आर्थिक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। पूँजीवाद को आधुनिक साम्यवाद से इतना खतरा हो गया है कि वह साम्यवाद की प्रगति रोकने के लिए युद्ध के भयंकरतम अस्त्रों का निर्माण करता है जिससे समाज और मनुष्य की सुख शान्ति के लिए गम्भीर खतरे उत्पन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में विज्ञान के दुष्प्रभावों की अधिक चर्चा होना स्वाभाविक है।

जनतन्त्रीय समाज व्यवस्था में विज्ञान का स्थान बहुत भिन्न होता है। जनतन्त्र समाज में अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति विज्ञान की संस्था का महत्त्व उसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता में है। यहाँ विज्ञान का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि उसमें सामाजिक कल्याण के लिए काम करने की कितनी क्षमताएँ हैं और उसकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं। विज्ञान की जितनी उपलब्धियाँ हैं वे समाज के सब वर्ग के नागरिक में समान रूप से उपभोग कर सकें। जनतन्त्रीय समाज में यह विश्वास किया जाता है विज्ञान के ज्ञान को जनसाधारण से गुप्त न रखा जाय। सभी लोग ज्ञान को प्राप्त करें। उपयोग करने की क्षमता रखें, उसे स्वतन्त्र मौलिक-चिन्तन का अवसर दिया जाय। किन्तु कभी-कभी आर्थिक तथा सैनिक दृष्टिकोणों से कुछ वैज्ञानिक खोजों अथवा आविष्कारों को गुप्त रखा जाता है जिससे तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि मानव समाज की सतत प्रगति वैज्ञानिक अनुसंधान की स्वतन्त्रता से हो सकती है। वैज्ञानिक गुप्तता उनकी प्रगति के लिए बाधक है।

विज्ञान से आर्थिक उत्पादन की प्रविधि और उत्पादन सम्बन्धों द्वारा लोगों के सामाजिक पद (social status) पर प्रभाव डालते हैं। यदि विज्ञान के ज्ञान द्वारा उत्पादन व्यावसायिक जीवन को सरल बनाने में प्रयुक्त हो सकता है तो विज्ञान का सामाजिक मूल्य बहुत ऊँचा हो जाता है और जनमत तथा अन्य सामाजिक शक्तियाँ विज्ञान के भावी विकास की सम्भावनाओं को बढ़ा देते हैं। वस्तुतः जनता विज्ञान के महत्त्व को उसके सामाजिक उपयोग और प्रतिष्ठित संस्थाओं में आँकती है। प्रति-

विज्ञान और प्रविधि के विकास पर किसी एक वर्ग विशेष या निहित स्वार्थों वाले वर्ग का नियन्त्रण हो जाता है तो विज्ञान की समाज-कल्याण की बहुत सी सम्भावनाएँ कमजोर अथवा विनष्ट हो जाती हैं।

अन्त में यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि विज्ञान एक सामाजिक संस्था है। उसका विकास और स्थायित्व समाज के प्रचलित मूल्यों पर निर्भर है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विज्ञान एक अत्यधिक तर्कपूर्ण (rational) क्रिया होकर भी अतर्क एवं अतर्कपूर्ण (unrational) वस्तु सामाजिक मूल्यों—पर निर्भर रहती है। प्रत्येक समाज और युग का इतिहास इस प्रकार के साक्ष्यों से भरा पड़ा है कि विज्ञान के विकास के लिये अनेक बाह्य कारक, जैसे आर्थिक राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विभिन्न समयों में विभिन्न अंशों में महत्वपूर्ण कार्य करते रहे हैं।

समाज को विज्ञान की महत्वपूर्ण देन

मानव समाज को विज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण देनें हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और आधारभूत देन है वैज्ञानिक विधि (scientific method)। विज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य के सोचने का तरीका धार्मिक, दार्शनिक अथवा आधिभौतिक (metaphysical) था। यद्यपि विचार करने के इन तरीकों से मनुष्य ने कुछ प्रगति अवश्य की थी किन्तु फिर भी वह अनेक अन्धविश्वासों रूढ़ियों और मिथ्याविश्वासों से जकड़ा था जिससे उसकी वास्तविक प्रगति बहुत कुछ अन्धकार से दबी थी। विज्ञान की उत्पत्ति ने मनुष्य को अनुभव के आधार पर ज्ञान संचित करने का एक नया मार्ग दिखाया। धीरे धीरे अनुभव सिद्ध ज्ञान (empirical knowledge) का क्षेत्र इतना विस्तृत होता गया कि प्राचीन समाज की बहुत सी मान्यताएँ आस्थाएँ और विश्वास झूठे साबित होने लगे। उनके स्थान पर नई मान्यताएँ नये विश्वास और नई आस्थाएँ विकसित हुई जो तर्क पर खरी उतरीं। इस प्रक्रिया में मनुष्य को अपने आसपास के संसार के बारे में नया-नया ज्ञान प्राप्त हुआ। उसको प्रकृति के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने की सफलता मिली। प्राकृतिक पदार्थों और शक्तियों का वैज्ञानिक उपयोग करके मनुष्य ने अपनी सम्पदा को समृद्ध करना आरम्भ कर दिया। वास्तव में मनुष्य के संसार में वैज्ञानिक विधि के प्रयोग से एक नवीन वैचारिक क्रान्ति हुई जिसने मनुष्य के दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक परिवर्तन किया। वह अब प्रत्येक सुख-दुःख को केवल भगवान की इच्छा अथवा प्रकृति की का रहस्य कहकर अपमान को तैयार नहीं था। अपने तर्क और बुद्धि के सहारे वह प्रत्येक प्राकृतिक तथा मानवीय घटना का विश्लेषण करने लगा। मानव विचारों और जीवन निर्वाह की इस प्रवृत्ति में प्रधानतः मनुष्य की वैज्ञानिक मनोवृत्ति (scientific attitude) का योगदान था। यही वैज्ञानिक मनोवृत्ति आधुनिक गौरवमयी सभ्यता की प्रेरक शक्ति और निर्धारण करने वाला कारक है। भारतीय समाज में प्राचीन उत्पत्ति योन रंग जाति अथवा सम्प्रदाय के आधार पर भेद भाव या

छुआ-छूत की भावना का त्याग, परिवार नियोजन, जनतन्त्र और समाजवाद की धारणाओं का सर्वमान्य महत्व वैज्ञानिक मनोवृत्ति के विकास की आधारशिला पर टिका है।

विज्ञान ने समाज को शुद्ध और सुसंगठित होने के लिए नये नये सूत्र आधार प्रदान किये हैं। इस जगत में किसी विशेष वर्ग को जन्मजात रूप से शासन करने अथवा उनका शोषण करने का अधिकार नहीं है। समाज में सुख-समृद्धि के साधनों में वृद्धि और उनका समान वितरण वैज्ञानिक विचारधारा पर ही आधारित है। विज्ञान और प्रविधि की उन्नति से मनुष्य को अपने अनेक अवांछित रिवाजों, प्रथाओं, संस्थाओं को पुनर्गठित करने अथवा खत्म करने का प्रोत्साहन मिला है। इससे व्यक्तियों में वांछित सम्पत्ति और सभ्यता का उज्ज्वल विकास सम्भव हो सका है। प्राचीन समाजों में जो महत्ता धर्म को प्राप्त थी उसे महत्ता आज के विज्ञान को है। विज्ञान मनुष्य का एक महान सम्बल और सेवक बनकर आ गया है। आधुनिक मानव की भौतिक सम्पन्नता अपनी अनुपम क्षमताओं और सम्भावनाओं के साथ एक ऐसी दशा तक पहुँच रही है जो अतीत की आध्यात्मिक सभ्यता के लिए कदाचित सम्भव न था। यहाँ हमारे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि आधुनिक समाज के सामने कुछ विकट समस्याएँ नहीं हैं। ऐसी अनेक विषम समस्याएँ हैं किन्तु आज मनुष्य को अपनी वैज्ञानिक सफलताओं से इतनी दृढ़ आस्था हो गई है कि वह कठिनाइयों में कभी निराश नहीं होता। अपनी कठिनाइयों और निराशाओं से त्रस्त होकर वह आज धर्म और भगवान की शरण की गलियों में नहीं भटकता फिरता। आधुनिक मनुष्य का यह व्यावहारिक और तार्किक दृष्टिकोण उसकी गरिमा और सम्मान का मूल है।

प्राविधिक उन्नति का समाज पर प्रभाव

रेल, मोटर और जहाज के आविष्कार ने यात्रा को अत्यधिक सुलभ बना दिया है। मनुष्य को अब अत्यधिक दूर का स्थान भी बहुत निकट लगता है। यातायात के साधनों में उन्नति से भिन्न भिन्न प्रदेशों और संस्कृतियों के लोगों का परस्पर सम्पर्क सम्भव हो गया है। इस प्रकार लोगों में जो एक दूसरे से बहुत दिनों तक अपरिचित और अप्रभावित रहे, प्रथाओं, आचारों और विचारों का आदान प्रदान सरल हो गया है। दूरस्थ प्रदेशों के निवासियों की उपलब्धियों और समस्याओं का प्रभाव हमारे समाज पर पड़ता है। विश्व और विभिन्न प्रदेशों के समाजों से सम्पूर्ण संसार एक छोटा सा परिवार हो गया है। इसी प्रकार रेडियो, तार, टेलीफोन और सिनेमा तथा टेलीविजन जैसे सन्देश वाहन के आविष्कारों ने संसार में समाचार वितरण प्रणाली को अत्यधिक शीघ्रगामी और सरल कर दिया है। आज हम दुनिया के दूसरे स्थानों के बारे में अधिक घनिष्ठ जानकारी रखते हैं। अन्तर्जातीयता ... दूसरे समाजों की ... प्रथाओं ने दोनों पक्षों ... विश्व-बन्धुत्व ... है। यातायात में यातायात और सञ्चार के साधनों ... मानव समाज में ...

व्यापक क्रांति कर दी है। भाप और बिजली की शक्ति के आविष्कार ने विशाल कल कारखानों का विकास सम्भव कर दिया है। इनसे औद्योगीकरण हुआ है और विभिन्न प्रकार की अच्छे गुण की सस्ती दर पर बहुमात्रा वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हो गया है। उद्योगों की उन्नति ने संसार के साधनों का उत्तम उपयोग संभव कर दिया है और विशाल जनसमूहों को रोजी प्रदान की है। अधिक मात्रा में उत्पादित वस्तुएं सस्ते मूल्य पर गरीबों को भी उपलब्ध हुई हैं जिससे उनके जीवनस्तर में अप्रत्याशित उन्नति हुई है। उद्योगों में यन्त्रीकरण का प्रभाव खेती पर भी पड़ा है। खेती में यन्त्रों के प्रयोग से व्यापारीकरण और औद्योगीकरण की संभावनाएं उत्पन्न हो गई हैं।

मनुष्य को आज भयंकर संक्रामक रोगों से मुक्ति दिलाने और नीरोग बनाने में विज्ञान और प्रविधि का महत्वपूर्ण योगदान है। मलेरिया, चेचक, हैजा, प्लेग सर्दी-बुखार जैसे रोगों को विज्ञान की सहायता से अधिकांशतः निर्मूल कर दिया गया है। कैंसर, क्षय आदि जैसे प्राणघातक रोगों का प्रभावकारी उपचार तलाश कर लिया गया है। मनुष्य के जीवन-काल में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार विज्ञान ने मनुष्य के दैनिक जीवन में, घर में, दफ्तर में, मैदान और जंगल-पहाड़ में अनेक अभूतपूर्व सुख सुविधाएं प्रदान करने के अतिरिक्त अप्रत्याशित खतरों से सुरक्षित रहने के उपाय भी प्रदान किये हैं। विज्ञान और प्रविधि की निरन्तर उन्नति से मानव समाज पर अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते हैं।

आविष्कारों के निर्माण और उपयोग से जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं उन्हें प्रविधि का प्रत्यक्ष प्रभाव (direct effect) कहते हैं। उदाहरण के लिये, रेडियो मोटर, साइकिल, घड़ी, ट्रांजिस्टर के उपयोग से उपभोक्ताओं की आदतों और प्रथाओं में परिवर्तन आता है। कृषि में यन्त्रों के उपयोग से कृषकों और मजदूरों के सम्बन्धों में तथा स्वयं कृषकों के जीवन स्तर में भी परिवर्तन आते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों को निकटस्थ प्रभाव (immediate effect) भी कहा जाता है। प्रविधि के प्रत्यक्ष प्रभाव उपभोक्ताओं की संख्या, समय और परिणाम पर निर्भर करते हैं। इनसे साधारणतया बहुत लोगों को जानकारी होती है। किन्तु प्राविधिक-उत्पादनों का उपभोग प्रत्यक्ष प्रभाव (indirect or derivative effects) भी उत्पन्न करता है। जिन आविष्कारों से उपभोक्ताओं की आदतें और रस्म बदलते हैं वे पुनः अन्य प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ बहुमात्रा औद्योगिक उत्पादन ने स्थानीय बाजारों को समाप्त कर क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बाजारों का विकास किया जिनका अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अनेक संस्थाएं तथा प्रयोग उत्पन्न हुए। व्यापारिक बैंकें, बीमा कम्पनियाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनुबंध इन्हीं अप्रत्यक्ष प्रभाव हैं। एक अप्रत्यक्ष प्रभाव कई अन्य अप्रत्यक्ष प्रभावों को जन्म देता है। इस प्रकार एक आविष्कार से उत्पन्न सामाजिक प्रभावों का क्षेत्र विस्तृत होता है।

प्राविधिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों को कैसे उत्पन्न करते हैं इसकी समझदारी कारणता की प्रकृति (nature of causation) पर निर्भर है। इस प्रक्रिया में आधारभूत बात यह है कि प्राविधिक प्रभाव प्रत्यक्ष परिवर्तन तक ही नहीं रुक जाता। इस परिवर्तन से द्वैतीयक परिवर्तन होते हैं जिनकी एक शृंखला (chain) पहचानी जा सकती है। बहुधा ऐसा होता है कि एक विशिष्ट सामाजिक परिवर्तन में प्राविधिक प्रभाव के अतिरिक्त अन्य कारकों का प्रभाव भी कारण रूप है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन में प्राविधिक आविष्कारों तथा खोजों का महत्वपूर्ण प्रभाव सदैव बड़ी सावधानी से आँकना चाहिए।

एक और बात स्मरण रखने की है। प्राविधिक आविष्कारों का प्रभाव चारों ओर प्रसारित (dispersed) होता है। उदाहरण के लिए हवाई जहाज के प्रभाव विभिन्न दिशाओं में पड़ जाते हैं। हवाई जहाज के आविष्कार से युद्ध, यातायात, प्रवासन, व्यापार, कृषि, मलेरिया औषधि, पुरातत्व और नगर विन्यास पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े हैं। आविष्कारों के सामाजिक प्रभावों के प्रसार (dispersion) की यह घटना सामाजिक प्रभावों के अभिसरण (convergence) की घटना से बिल्कुल विपरीत है। यातायात, संचार, औषधिविज्ञान, उद्योग आदि में अनेक आविष्कारों के सामाजिक प्रभावों का केन्द्रीकरण भी होता है। सामाजिक प्रभावों के अभिसरण की यह प्रक्रिया भी प्रभावों की समझदारी में सहायक है।

आधुनिक समाज में प्राविधिक उन्नति ने जहाँ एक ओर समाज की सुख सुविधा में वृद्धि की है वहीं अपने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभावों से जिन सामाजिक समस्याओं और कुप्रभावों को उत्पन्न कर दिया है उनका गहन और सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक हो गया है।

पञ्चम खण्ड

सामाजिक नियन्त्रण, परिवर्तन और पुनर्गठन

२७ व्यक्ति और समाज

२८ समाजीकरण

२९ सामाजिक अन्तःक्रिया

३० सामाजिक नियन्त्रण

३१ सामाजिक परिवर्तन

३२ सामाजिक विकास एवं प्रगति

३३ सामाजिक विघटन और पुनर्गठन

२७

व्यक्ति और समाज

हम पहले बता चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव और आवश्यकताओं से एक सामाजिक प्राणी है। अरस्तू के इस कथन में व्यक्ति और समाज की अन्तर्निर्भरता के मूलभूत और गत्यात्मक रूप सम्बन्धी एक गहन सत्य छिपा है। इस कथन का अर्थ इतना ही नहीं है कि मनुष्य एक मिलनसार या समाजप्रिय (sociable) प्राणी है। समाज के सभी मनुष्यों की मिलनसारिता (sociability) एक समान नहीं हो सकती। वह भिन्न भिन्न मात्रा में होती है। उपरोक्त कथन से यह भी अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य में परोपकार भावना (altruistic feeling) समाज का आधार होता है और न यही अर्थ है कि मनुष्य की सामाजिकता उसकी मानवीय प्रकृति की किसी मौलिक रचना का एक गुण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, स्पष्ट अभिप्राय है कि सामाजिक विरासत (social heritage) की एक विशिष्ट मात्रा की सहायता के बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का उदय और विकास नहीं हो सकता। सामाजिक विरासत में सम्मिलन (participation) और उसका अपने व्यक्तित्व में एकीकरण कर लेने पर ही मनुष्य में समाजोचित स्वभाव और गुणों का विकास होता है।

सभी जीवधारी समाज में ही पैदा होते हैं और समाज में ही रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। समाज बहुत विशाल है। वह हमारे चारों तरफ के पर्यावरण में भी बाहर है। वह हमारा स्वभाव है। वह हमारे अन्दर और बाहर दोनों तरफ है। प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य है। मनुष्य जन्म के समय अन्य जीवधारियों की अपेक्षा अधिक असहाय होता है। अतः उसे जन्म से ही अपनी रक्षा के लिए दूसरे मनुष्यों (अपने माता पिता या संरक्षकों) पर आश्रित हो जाना पड़ता है। यद्यपि मानव शिशु अन्य जीवधारियों के शिशुओं से बहुत भिन्न होता है किन्तु वह एक इकाई है। इसीलिए उसे व्यक्ति कहा जाता है। आरम्भ में मानव शिशु में मनुष्य के कोई समाजोचित गुण नहीं होते। मनुष्य में व्यवहार आदि की जो बहुत-सी विशेषताएँ होती हैं उनका इस नवजात शिशु में अभाव होता है। वह बात चीत नहीं कर

सकता, कपडे नही पहन सकता उसे समाज म चलने फिरने और व्यवहार के नियम ढग नही आते होते और न उसके पास कोइ सिद्धात और मूल्य होते हैं जो उसके दूसरो के प्रति व्यवहार को निर्देशित कर सकें। पर जन्म के ठीक पश्चात् बच्चे म इन सभी गुणो का समावेश होने लगता है। बच्चे दूसरे लोगो का अनुकरण करते है। धीरे धीरे उसके दूसरो से सम्बन्ध विकसित होने जाते हैं। वह दूसरो के प्रभाव मे आता है और अपने गुणो का प्रभाव उन पर डालता है। यही वह प्रक्रिया है जो अनुकरण और सीखने की क्रियाओ के माध्यम से मनुष्य का सामाजीकरण करने म आधारभूत भूमिका अदा करती है। सामाजीकरण की प्रक्रिया का सविस्तार विश्लेषण अगले अध्याय म किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे हम उन दशाओ और परिस्थितियो का निर्देश करने का प्रयास करेंगे जो मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के लिए उत्तरदायी और सहायक है।

किस अर्थ मे मनुष्य सामाजिक प्राणी है ?

मकाइवर ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार करने से पहले एक बडा दिलचस्प प्रश्न विवाद के लिए रखा है।[1] यह प्रश्न है मनुष्य किस अर्थ म सामाजिक प्राणी है ? किस अर्थ म वह समाज का सदस्य है ? किस अर्थ म समाज उसका है ? यही तीन प्रश्न समाजशास्त्र के मूलभूत प्रश्न हैं। इनके मूल म सबसे बडी बात यह छिपती है कि व्यक्ति का जो समाज की इकाई है तथा समाज और सामाजिक व्यवस्था का क्या सबध है ? व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध का पर्याप्त विश्लेषण करना समाजशास्त्र के लिए केन्द्रीय महत्व का प्रश्न है।

व्यक्ति और समाज का सबध—कुछ अपर्याप्त व्याख्याएँ

प्रारम्भ से ही प्रत्येक समाज के विद्वानो ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सबध की व्याख्या करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानो म इस विषय पर कई परस्पर विरोधी और भ्रामक सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं। पाश्चात्य जगत के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तो— सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (social contract theory) और सामाजिक सावयवी सिद्धान्त (social organismic theory) की काफी समय तक बहुत चर्चा रही है। इन सिद्धान्तो की सक्षिप्त आलोचना से हमारे कई भ्रम और झूठी मान्यताएँ दूर हो जाएगी। वस्तुत ये सिद्धात मनुष्य तथा समाज के सम्बन्ध की एकागी व्याख्या करते रहे हैं। ये दोनो सिद्धात समाज दार्शनिको और राजशास्त्रियो की देन हैं। आजकल तो ये दोनो वर्ग भी इन सिद्धान्तो को मनुष्य और समाज के सम्बन्धो की व्याख्या के लिए नितान्त दोषपूर्ण और अपर्याप्त मानते हैं।

---

1 *Op cit* pp 14-15

सामाजिक सावयवी सिद्धान्त

सावयवी सिद्धान्त (organismic theory) इस सम्बन्ध की एकांगी और भ्रामक व्याख्या करता है। समाज और व्यक्ति (सावयवी संरचना) में कुछ महत्त्वपूर्ण समानताएँ हैं किन्तु उनके बीच में भेद अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य के मस्तिष्क होता है परन्तु समाज के कोई ऐसा मस्तिष्क नहीं होता है। स्पेंसर की यह धारणा कि समाज में एक केन्द्रीयकृत संस्थान (common sensoriam) होता है बिल्कुल गलत है। समाज व्यक्तियों के सम्बन्धों में है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भावनाएँ और विचार होते हैं उनमें दूसरों का कोई प्रत्यक्ष सम्मिलन नहीं है। दूसरे लोग केवल हमारी भावनाओं और विचारों को जानकर उनका अर्थनिर्णय करते हैं और समानानुभूति अथवा विपरीतभाव दिखाते हैं या समूह का मस्तिष्क उसके सदस्यों के पृथक् मस्तिष्कों से परे कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। मैकडूगल की समूह मस्तिष्क की धारणा नितान्त काल्पनिक है। हम केवल इतना मान सकते हैं कि समाज के सदस्यों के विचार तथा भावना के तरीके समान हैं उनकी अनुक्रियाएँ (responses) समान होती हैं और वे समान अथवा सामान्य हितों से प्रेरित होते हैं।

व्यक्तियों का समाज से वह सम्बन्ध नहीं है जो कोष्ठों का शरीर से। व्यक्ति ही चिन्ता, भावना, काम और प्रयोजन के केन्द्र होते हैं। समाज एक ऐसी व्यवस्था मात्र है जो इसी व्यक्तियों को काल और स्थान की सीमाओं में बाँधती है। समाज व्यक्तियों के बीच उन सम्बन्धों को बनाता है जिनके निर्माता और उत्तराधिकारी व्यक्ति हैं। समाज का अनुभव वास्तव में व्यक्तियों का ही अनुभव है। समाज का लक्ष्य और कार्य इसके सदस्यों के प्रयत्नों, हितों, उनकी आकांक्षाओं, आशाओं और भयों में ही सन्निहित है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध एकतरफा नहीं है वह दुतरफा है। उन दोनों में अन्तर्निर्भरता (interdependence) है।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त

व्यक्तिवादियों (individualists) ने समाज और व्यक्ति की अन्तर्निर्भरता को समझने में गलती की है। हॉब्स और मिल जैसे पाश्चात्य विचारक समाज को प्रकृति से ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और उन्नति का शत्रु मानते थे। आज भी अनेक दार्शनिक समाजों की विचार-सम्पदा में ऐसे विचार विद्यमान हैं जो सामाजिक गुणों का गुणगान करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जाता है व्यक्तिवादी उनका विरोध करते हैं। वे इस पर लोगों की स्वतन्त्रता और अधिकारों के छीनने का आरोप लगाते हैं। व्यक्तिवादी व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समाजहित (यथा व्यक्तियों के सामूहिक हित) की बलि दे सकते हैं। डार्विनवाद के 'उपयुक्ततम की अतिजीवन' नामक सिद्धान्त ने व्यक्तिवाद को एक गम्भीर विचार धारा दे दिया था। इससे पूर्व सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract Theory)

का जो प्रभाव व्यक्तिवाद पर पड़ा था वह भी कम महत्त्वपूर्ण न था। किन्तु आज डार्विनवाद और सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त दोनों ही अवैज्ञानिक और मिथ्या सिद्ध हो गये हैं।

समाज की सर्वोपरिता का सिद्धान्त

समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध पर एक दूसरी गलतफहमी भी प्रचलित है। हीगेल (Hegel) के विचारानुयायियों ने समाज के कल्याण को व्यक्ति के कल्याण से पृथक स्वीकार किया। उनका विश्वास था कि व्यक्तियों के कल्याण के बाहर अथवा उसे कुचलकर भी समाज कल्याण हो सकता है। अतएव समाज-कल्याण के लिए व्यक्ति के कल्याण की बलि देना उचित और आवश्यक है। नाजीज्म और फासिज्म का परिपाक इसी विचारधारा के आधार पर हुआ था। सामाजिक जीवन को साध्य मानना गलती है। समाज मनुष्य के कल्याण और प्रगति का साधन मात्र है। परन्तु यह ध्यान रहे कि किसी विशेष वर्ग के मनुष्यों के कल्याण की प्रगति का साधन समाज नहीं बनाया जा सकता वह सभी के कल्याण का साधन है और समाज सभी मनुष्यों से पृथक कोई वस्तु नहीं। अस्तु समाज कल्याण में निश्चय ही व्यक्तियों का कल्याण होगा।

समाजशास्त्रीय व्याख्या

समाज और मनुष्य के असली सम्बन्ध का परिचय हम उस सम्बन्ध की जानकारी से मिल सकता है जो मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और समूह के बीच सामाजिक जीवन में निरन्तर परिवर्तनशील प्रतिमान की क्रियाशील प्रक्रियाओं में विद्यमान है। मनुष्य का जन्म समाज में होता है और वह स्वयं अपनी पूर्णता के लिए भौतिक और मानसिक आवश्यकताओं के अनुसार उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था का निरन्तर समायोजित करता रहता है। सामाजिक व्यवस्था का सारा महत्व इस बात में है कि उससे मनुष्यों के साध्यों की प्राप्ति में सहायता और योग मिलता है। इन साध्यों के बाहर सामाजिक एकता (social unity) की बात करना गलत है। इसी सिद्धान्त के आधार पर समाज और वैयक्तिकता (individuality) का सामञ्जस्य सम्भव हो सकता है।

व्यक्ति और समाज सम्बन्धी कुछ अनुसंधान

व्यक्ति समाज का एक अपरिहार्य अंग है और आगे भी रहेगा। इस सम्बन्ध को समझने के लिए सामाजिक वैज्ञानिक ने कई खोज और अनुसंधान किए हैं। इनमें से मुख्यतः तीन ऐसे हैं जो व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं।

(१) कुछ असभ्य अवस्था के प्रमाण (Some firal Cases)—मानव की प्रकृति एवं व्यवहार उसके समाज के ऊपर निर्भर है। कुछ अद्ध प्रमाण

द्वारा इसका प्रमाण भी मिल गया है। यद्यपि यह प्रमाणित करना कठिन है कि हम एक नवजात शिशु को सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से पृथक करें और फिर उसके व्यवहार का अध्ययन करें। पर सामाजिक वैज्ञानिकों को कुछ ऐसे अवसर प्राप्त हुए हैं जिनमें उन्होंने नवजात शिशुओं के स्वभाव और समाज में उनके विकास का अध्ययन किया है। यहाँ हम ऐसे चार प्रमाणों का उल्लेख करेंगे।

(क) कास्पर हासर (Kaspar Hausar)—कास्पर हासर की कहानी बड़ी रोचक है। राजनीतिक दाँव पेच के फेर में इस युवक को एक बन्द स्थान में डाल दिया गया जहाँ उसे किसी मनुष्य का सम्पर्क प्राप्त नहीं था। उसके आगे पीछे मैल, ईंट और पत्थर थे। मनुष्य की वाणी और मनुष्य की परछाईं से वह बहुत दूर था। जब सत्रह वर्ष की अवस्था में सन् १८२५ में हासर न्यूरम्बर्ग शहर की सड़कों से निकला तो वह असहाय और दीन था। वह बड़ी कठिनाई से चल पाता था। नवजात शिशु की तरह उसका अविकसित मस्तिष्क था। वह बड़ी कठिनाई से थोड़े से शब्द तुतला पाता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह जानदार और बेजान वस्तुओं में भेद नहीं कर सकता था। इसी लिए वह बाजार की जड़ और बेजान वस्तुओं को भी जानदार समझता था। पाँच वर्ष बाद जब इसे मौत के घाट उतार दिया गया तो उसके शरीर की चीर-फाड़ हुई। इस चीर-फाड़ के पश्चात् मालूम हुआ कि उसका मस्तिष्क अर्द्ध विकसित था। हासर को समाज का सम्पर्क नहीं मिला इसीलिए उसका प्राकृतिक विकास भी रुक गया। हासर की इस दशा पर टिप्पणी लिखते हुए प्रो० मकाइवर ने लिखा है— कास्पर हासर को समाज से दूर रखने का अर्थ उसे मनुष्य स्वभाव से भी वंचित कर देना था।[1]

(ख) भेड़िये बच्चे—भेड़िया-बच्चा (wolf-children) का वर्णन किम्बाल यंग (Kimball Young) ने अपनी पुस्तक में किया है। यह घटना सन् १९२० की है। दो हिन्दू बच्चे जिनमें एक बच्चा लगभग आठ वर्ष का था और दूसरा डेढ़ वर्ष से छोटा भेड़ियों की गुफा से लाए गए। प्राप्त होने के कुछ दिनों के पश्चात् छोटा बच्चा मर गया पर बड़ा बच्चा जिसका बाद में कमला नाम रखा गया था सन् १९२९ तक जीवित रहा। इस लड़की कमला के जीवन की सभी घटनाएँ बराबर ध्यानपूर्वक लिखी गई हैं।

कमला को देखकर ज्ञात हुआ कि मनुष्य में पाई जाने वाली कोई भी विशेषता उसमें नहीं थी। न वह मनुष्यों की तरह व्यवहार ही करती थी। वह केवल दो हाथों और दो पैरों के सहारे चल सकती थी। वह बोल भी नहीं सकती थी। वह केवल भेड़ियों की तरह गुर्राना मात्र जानती थी और मनुष्यों की परछाईं से इतनी

2. The denial of Society to Kaspar Hausar was a denial to him also of human nature itself. Ibid p. 45

भयभीत या शर्मिन्दा हो जाती थी जितना कि कोई अन्य जंगली जानवर। बहुत परिश्रम और सहानुभूति के साथ उसे मानव व्यवहार सिखाये गये। मरने के पहले वह साधारण भाषा में ही बोलना सीख गई थी। मनुष्य की तरह कपड़े पहिनना और भोजन करना भी जान गई थी। इस तरह इस बालिका में प्रारम्भ में "मनुष्य का 'स्व' की भावना (Sense of human selfhood) नहीं थी पर समाज के सम्पर्क से क्रमशः उसमें यह भावना पैदा हुई। उसमें यह 'स्व' या व्यक्तित्व की भावना समाज का सदस्य होने के बाद ही जाग्रत हुई।

(ग) अमरीकी बालक अन्ना—किंग्सले डेविस ने अमरीका के इस प्रकार बालक अन्ना का अध्ययन किया है। जन्म के ठीक छः महीने से ही इस बालक को एक कमरे में बन्द कर दिया गया और पाँच वर्ष तक (सन् १६३० तक) यह बालक बराबर बिना किसी सामाजिक सम्पर्क के उसी कमरे में पड़ा रहा। अपने इस कारागृह के जीवन में अन्ना को केवल दूध को छोड़कर खाने के लिए और कुछ नहीं दिया गया बच्चों को साधारण व्यवहार की जो शिक्षा दी जाती है वह भी इसे नहीं दी गई और कमरे के बाहर की दुनिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रखा गया। यह चरम और क्रूर सामाजिक पृथक्ता वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला के लिए एक और दृष्टान्त देती है। इसने उस पाँच वर्ष के सामान्य बच्चे के ... में असमर्थ थी। ... अन्ना को निकाला गया तो वह चलने और बातचीत ... थी।[1] वह अपने पास खड़े व्यक्तियों से पूर्ण तटस्थ और निरुत्साहित ... उपरोल्लिखित कमला की तुलना में अन्ना छोटी अवस्था की होने के कारण, मनुष्य के व्यवहारों को जल्दी सीख जाती थी। सन १६४२ में मरने से पहले अन्ना ने मनुष्यों के बहुत से व्यवहार सीख लिये थे। अन्ना के दृष्टान्त से इस बात की और अधिक पुष्टि होती है कि मनुष्य में मानवीय स्वभाव तभी उत्पन्न होता है जब वह सामाजिक मनुष्य बनकर अगणित मनुष्यों में एक होकर सम्मिलित जीवन में भाग लेता है।[2]

इस तरह मनुष्य और समाज के सम्बन्धों में महत्व का समाज शास्त्रियों ने समझने का प्रयास किया है। अनेकों अमरिकन समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने इस बात का अध्ययन किया है कि मनुष्य में 'स्व' की भावना कब और कैसे पैदा होती है। मारगरेट मीड (Margaret Mead) ने बताया है कि बच्चा अपने दैनिक

[1] This extreme and cruel social isolation which provides the scientist one more laboratory case left the child with few of the attributes of the normal five year old when Anna was discovered she could not walk or speak. She was completely apathetic and indifferent to people around her. Ibid p 44

[2] Annas Case illustrates once again that human nature develops in man only when he is social animal only when he is one of many man sharing a common life Ibid p 45

जीवन में गुड़ियों और दूसरे बच्चों के साथ खेल-कूद करता है और इसी में वह माता-पिता, नौकर-चाकर, अध्यापक, नर्स आदि का पाठ ग्रहण करता है। स्व के जागृत करने की प्रक्रिया में बालक निरन्तर अपने साथियों के व्यवहार के साथ अनुकूलन करना सीखता है। सामाजिक मनोवैज्ञानिक फेरिस (Faris), मर्फी (Murphy) और न्यूकाम्ब (New Comb) आदि ने अपने अनुसंधान के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में उसका स्व (self) या व्यक्तित्व समाज में रह कर और पारस्परिक आदान प्रदान में ही उत्पन्न हो सकता है। सब मिलाकर मनुष्य के लिए समाज एक अनिवार्य आवश्यकता है।

(२) मनुष्य विशिष्ट प्रकार से अपनी सामाजिक धरोहर पर निर्भर है। (Man's peculiar dependence upon the social heritage)—मनुष्य अपने समूह की उपज है। अपने समूह के सामाजिक सम्बन्धों, परम्पराओं और रूढ़ियों की यह देन है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि मनुष्य अनिवार्य रूप में सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है। ऐसा व्यक्ति न तो आरम्भ है और न अन्त पर जीवन की निरन्तरता में एक कड़ी है।[1]

मनुष्य के लिए समाज उसके पर्यावरण (Environment) से भी बढ़कर है। भौगोलिक सुविधाओं, धरती, पहाड़, नदी, नाला आदि से भी कहीं अधिक मनुष्य पूर्ण समाज और उसका पर्यावरण है। व्यक्ति का सम्बन्ध उसकी सामाजिक परम्परा (Social traditions) से उसी प्रकार है जैसे बीज का मिट्टी से। हम जिस समाज में पैदा होते हैं वह समाज ही हमारे सम्पूर्ण जीवन के सामाजिक और मानसिक पक्षों की रचनाओं का साँचा देता है। हम इन्हीं रचनाओं का सार भी ग्रहण मानकर उन पर चलकर जिन्दगी के रास्ते का प्रयोग करते हैं। हम में जो लोग हिन्दू समाज में पैदा हुए हैं उनके लिए विवाह, त्यौहार, दैनिक व्यवहार, खान पान सभी पूर्व निश्चित हैं। यह सामाजिक धरोहर और संस्कृति मनुष्यों के मस्तिष्क को पूरी बराबर बनाती रहती है। समाज जहाँ व्यक्तियों की शक्ति को नियन्त्रित करता है वहाँ उन्हें स्वतन्त्र होने का भी पूर्ण अवसर देता है। समय-समय पर अपने सदस्यों को प्रोत्साहन, अवसर और उत्साह देता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य और समाज अन्योन्याश्रित हैं। इस मत के विश्लेषण के पश्चात् हम अरस्तू के इस कथन —मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। इस पर भी हम यह नहीं कहते कि मनुष्य जन्म से एक सामाजिक प्राणी है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर की बनावट ही ऐसी है कि वह सामाजिक

---

1 The individual is neither a beginning nor an end but a link in the succession of life. Ibid p 46

बन जाता है। समाज के बिना, समाज की सामाजिक धरोहर के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकता।[1]

(३) स्व का विकास (The growth of self)—मनुष्य में 'स्व' की जाग्रति समाज के सम्पर्क द्वारा होती है। 'स्व' से हमारा तात्पर्य मनुष्य के व्यक्तित्व या अहम् से है। जब मनुष्य पैदा होता है उस अवस्था में वह चेतन और जड़ में कोई भेद नहीं करता। माँ का दूध पीना या बोतल की निपिल से दूध पीना दोनों उसके लिए बराबर है। वह तो केवल एक जैविक आवश्यकता की पूर्ति मात्र चाहता है। पर धीरे धीरे उसमें सामाजिकता का उदय होने लगता है और उसका 'स्व' जाग्रत होना प्रारम्भ हो जाता है। समाज के अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर वह व्यवहार के प्रतिमान अपनाता है। यह वह केवल तोते की तरह समय के वयस्कों के व्यवहार की नकल मात्र नहीं करता यद्यपि उसमें नकल करने का गुण है। इस नकल करने की प्रक्रिया में वह धीरे धीरे अपने सामाजिक स्वभाव को व्यक्त भी करता है। छोटी अवस्था में बच्चा स्वयं अपने से ही बात करता है। पर धीरे धीरे वह दूसरों से भी बात करना सीख जाता है। इसी तरह प्रारम्भ में वह बच्चों के साथ जो कुछ भी खेलता है उसकी नकल मात्र करता है पर धीरे धीरे उसमें अपना स्व जाग्रत होने लगता है और वह खेल में भी नियम उपनियम उत्तरदायित्व के साथ निभाने का प्रयत्न करता है।

सामाजिक दार्शनिक दुर्खिम (Durkheim) मीड (Mead) और कूले (Cooley) आदि ने मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन विद्वानों ने बताया है कि नवजात शिशु प्रारम्भ में केवल एक जैविक अवयव मात्र होता है पर धीरे धीरे वह सामाजिक व्यक्ति होने लगता है। इस सारी प्रक्रिया को इन लेखकों ने सामाजीकरण की प्रक्रिया का नाम दिया है।

इस तरह व्यक्ति समाज में आकर सामाजिक व्यक्तित्व का विकास करता है। समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है। पिछले दिनों में हाब्स (Hobbes) जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) जैसे विद्वानों ने भी तथ्यों को समझने में भूल की है। अभी अभी बेंजामिन किड (Benjamin Kidd) ने भी ऐसी ही महत्वपूर्ण बात कही है। उनका मत है कि व्यक्ति समाज से छोटा है और इसलिये समाज को व्यक्ति पर दबाव रखना चाहिए।

ये सब अस्पष्ट और भ्रामक बातें हैं। व्यक्ति और समाज के अन्त सम्बन्ध के बारे में हमारी धारणा बिल्कुल साफ और सैद्धान्तिक होनी चाहिए। व्यक्ति और समाज के अस्तित्व और विकास का आधार सामाजिक सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों के बीच अन्त क्रिया में रहते हैं। समाज अपनी सारी परम्पराएँ रीति

[1] But we do mean that without society the support of the social heritage the individual personality does not and cannot come into being p 47

रिवाज, संस्थाएँ आदि व्यक्ति को देता है। ये सब व्यक्ति की मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति समाज द्वारा दिये गये इस पर्यावरण में स्वयं को विकसित करता है। इस तरह व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति के बिना समाज का अस्तित्व ही नहीं है और समाज के बिना व्यक्ति असभ्य और जंगली है। समाज में रहकर और उसके कार्यकलापों में सक्रिय भाग लेकर व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी बनता है। तभी उसमें मानवोचित श्रेष्ठ गुणों तथा व्यवहार का विकास होता है। मनुष्य की प्रकृति के उद्भव और विकास का स्रोत है सामाजिक जीवन और उसकी समस्त विशेषताएँ।

वैयक्तिकता का अर्थ

वैयक्तिकता (individuality) शब्द का अर्थ हम साधारणतया मनुष्य की विशिष्टता अथवा उसके व्यक्तित्व (personality) के निरालेपन (uniqueness or peculiarity) मानते हैं। आइए हम यहाँ पर वैयक्तिकता के भौतिक-जैविक (physical biological) तथा समाजशास्त्रीय (sociological) अर्थों का विवेचन करें। समाजशास्त्री प्रायः वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग दूसरे—समाजशास्त्रीय—अर्थ में करते हैं।[1]

(१) वैयक्तिकता का भौतिक जैविक अर्थ—जब हम वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग भौतिक सन्दर्भ में करते हैं तो इसमें प्रत्येक इकाई भौतिक रूप से एक दूसरे से अलग अलग होती है और जब इसका प्रयोग हम उन जीवों के लिए करते हैं जो कि नये जीवों को जन्म देते हैं तो हम एक प्रकार के भ्रम में पड़ जाते हैं। [illegible] में [illegible] जानवर हैं जो [illegible] उपनिवेश के रूप में भी जीवित रहते हैं और बढ़ते हैं। जिसमें व्यक्ति समूह उपनिवेश के प्रति भिन्न भिन्न कार्यों के लिए विशेषज्ञ (specialized) होते हैं जैसे सन्तानोत्पत्ति, आत्म रक्षा आदि। [illegible] पुनरावृत्ति के [illegible] को लिया जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण से यह स्पष्ट हो सकता है कि भौतिक वैयक्तिकता स्वयं ही मात्राओं में होती है और जीवन के अधिक [illegible] रूप ही [illegible] रूपों की अपेक्षा [illegible] हैं। इसका दूसरा रूप तब सामने आता है जब हम वैयक्तिकता का प्रयोग निर्जीव पदार्थों के लिए करते हैं। [illegible] बीज [illegible] में मिलकर अपना भाग [illegible] की [illegible] कर [illegible] है। इस तरह स्पष्ट है कि वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग स्वयं में अपूर्ण अथवा [illegible] सिद्ध होता है।

जैविक अर्थ में एक जीवधारी जितना अधिक [illegible] हुआ है उतना ही [illegible] है जितना [illegible] के प्रति [illegible] करता। उतना ही [illegible] का [illegible] कर सकता है जिसमें [illegible] लिए विभिन्न आवश्यकताओं का

1 देखिए मैकाइवर और पेज सोसाइटी, में व्यक्ति और समाज अध्याय।

पूर्ति कर सकता है। व सावयव उस सावयव की अपेक्षा कम वैयक्तीकृत होते हैं जो तरंगों में चलने की अपेक्षा स्वयं चलने का उपाय सोचता है। वह सावयव जो कुछ सरल प्रतिक्रियायें करने की क्षमता रखता है व मनुष्य जैसे सावयव से कम वैयक्तीकृत होता है जिसकी रचना अधिक संवेदना के लिए की गई है।

वयक्तिकता का समाजशास्त्रीय अर्थ

समाजशास्त्रीय वयक्तिकता का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जबकि इसका विस्तार मनुष्य के लिए करना हो। समाजशास्त्रीय अर्थ में वयक्तिकता वह गुण है जो किसी समूह के सदस्य को सदस्य से अधिक अभिव्यक्त करता है। क्योंकि यह सब काय व्यापार का केन्द्र है और अपने ही ढंग से प्रदर्शित होने वाली एवं प्रकृति की अनुक्रिया है। वास्तव में अपने देश या काल की सजीवता अथवा गुण की अधिक पूर्णता को शक्तिशाली वयक्तिकता अभिव्यक्त कर सकता है। परन्तु वह शीघ्रतापूर्ण अनुकरणात्मक है इसलिए ऐसा नहीं करती। जब किसी समूह के सदस्य अधिक वयक्तीकृत होते हैं तो वे अधिक से अधिक भेद को प्रस्तुत करते हैं और स्वयं को भी कई प्रकार से अभिव्यक्ति कर लेते हैं। परन्तु वयक्तिकता की यह कसौटी नहीं है कि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कितने भिन्न भिन्न मार्गों को अपनाता है बल्कि यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के प्रति अपने सम्बन्ध में कहाँ तक अपना चयन और व्याख्या में स्वयं पर और दूसरों के अधिकारों को मान कर व्यवहार करता है। जब कोई वयक्तिकता का स्वामी किसी दूसरे वयक्तिकता के स्वामी के जैसा कार्य करता है तो केवल इसलिए करता है कि स्वयं वह ऐसे कार्य का अनुमोदन करता है न कि इसलिए ऐसा करता है कि अन्य लोग भी ऐसा करते हैं। जब किसी अधिकारी का अनुमोदन करता है तो केवल इसलिए नहीं कि वह अधिकारी है बल्कि इसलिए कि उस पर पूर्ण विश्वास है। औरों के अभिप्राय को व्यक्ति ऊपर से ही स्वीकार नहीं करता बल्कि वह अपने चरित्र बल से ही करता है। जितने अंशों में व्यक्ति इन गुणों का प्रदर्शन करता है उसमें उतनी ही मात्रा में वयक्तिकता पाई जाती है।

यह स्मरणीय है कि हम यह दावा नहीं करते कि वयक्तिकता का स्वामी अपनी इच्छा का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक सहयोगियों की अपेक्षा अधिक कर सकता है। यहाँ हमारा यह सम्बन्ध नहीं है कि मनुष्य को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है या नहीं। कुछ पाठक व्यक्ति के चुनाव की स्वतन्त्रता के प्रयोग की क्षमता पर विश्वास कर चुके हैं। परन्तु हम विश्वास है कि वयक्तिकता के प्रति हमारे इस अर्थ ग्रहण पर अवश्य सहमत होंगे अर्थात् व्यक्तित्व के उस पहलू पर जो सामाजिक प्राणी को अपने तथा औरों के उद्देश्यों के प्रति सम्मानजनक करता है।

वैयक्तिकता और सामाजिकता का समन्वय

समाज के सदस्यों में वैयक्तिकता होना सदैव अवांछित नहीं है। मनुष्य समाज का सदस्य है और सामाजीकरण की प्रक्रिया में उसमें बहुत से वही लक्षण प्रकट होते हैं जो दूसरों में। किन्तु सूक्ष्म अवलोकन से यह प्रकट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का आचरण केवल दूसरों का अनुकरण मात्र ही नहीं है। उसका व्यवहार सुझाव का परिणाम ही नहीं है। मनुष्य का व्यवहार समाज की प्रथाओं और परम्पराओं का पूरा गुलाम नहीं होता और न सामाजिक पर्यावरण के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ ही बिल्कुल स्वयं चालित और अधीनतायुक्त होती हैं। उसके जीवन की समस्त क्रियाओं में उसकी अपनी समझदारी और व्यक्तिगत कारक हैं। वैयक्तिकता समूह के सदस्य का वह गुण है जो उसमें समूह के सदस्य के अतिरिक्त एक तत्त्व भी प्रकट करता है। इसी तत्त्व को उसकी प्रकृति की व्यंजना के लिए क्रिया और प्रतिक्रिया का रूढ़ कहते हैं। हममें से प्रत्येक किसी गाँव, नगर या राष्ट्र का एक सदस्य है और समस्त मकान, मोहल्ले, कमरे आदि भी। हम जब किसी व्यक्ति से कहते हैं "क्या तुम क्या हो? अपने को पहचानो!" तो हम व्यक्ति की वैयक्तिकता की ओर संकेत करते हैं। प्रत्येक स्त्री पुरुष एक अनूठा सामाजिक प्राणी है। वैयक्तिकता किसी व्यक्ति की मौलिकता (originality) अथवा अत्यन्त विचित्रता (eccentricity)* का पर्याय नहीं है। वैयक्तिकता का यह प्रमाण नहीं कि हर किसी के व्यवहार से विलग व्यवहार किया जाय। वैयक्तिकता से व्यक्ति के उस गुण का अभिप्राय है जिससे वह दूसरों से व्यवहार करते समय अपनी निर्णय-स्वाधीनता, पहल, विवेक के आधार पर ऐसा व्यवहार करता है जिससे उसकी स्वशासन क्षमता (autonomy) झलकती है। वैयक्तिकता के स्वामी में अधिक इच्छा स्वातन्त्र्य का होना अनिवार्य नहीं है। वैयक्तिकता व्यक्तित्व का वह पहलू है जो मनुष्य को अपने प्रयोजनों और दूसरों के प्रति सूक्ष्मग्राही (sensitive) बनाता है।[1] आधुनिक जटिल समाजों में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य को अनेक अवसर मिलते हैं, जैसे भाषा, पेशा या व्यवसाय और विश्राम। यहाँ प्रथा, रूढ़ियाँ और नियम सरल समाजों की भाँति कठोर नहीं होते हैं। शिक्षा, राजनीति, मनोरंजन और कला सभी क्षेत्रों में समरूपता शक्तियों के साथ स्वतन्त्र तथा वैयक्तिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। समाज, संस्कृति और सभ्यता की प्रगति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज में समानता (similarity) और भेद (difference) दोनों का समान महत्त्व है। मनुष्य की भावनाओं, विचारों तथा कार्यों में विशुद्ध समरूपता (uniformity) का होना विकास और भिन्नता को कभी पनपने नहीं देता। समाज का

---

* Deviation from the norm or centre singularity of conduct
नियम के बाह्य घटना, केन्द्र या मध्य से विचलन।

1 MacIver and Page *Society* p 51

उन्नति और विकास भी सम्भव न होते और समाज अधिक से अधिक कृत्रिम, छिछला और शुष्क होता।[1] शायद आल्डस हक्सले की प्रसिद्ध रचना 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में कल्पित दशाओं के समान ही समाज में समरूपता और मानवीकरण होते।

सच तो यह है कि मनुष्य के वास्तविक संसार में समाज और वैयक्तिकता दोनों साथ-साथ रहते हैं। यद्यपि उन दोनों में आन्तरिक विरोध (inherent antagonism) है फिर भी दोनों में आवश्यकतावश अन्तःआश्रितता है। समाज के विकास का सबसे अच्छा गुण वह अंश है जिसमें विभिन्न वैयक्तिकताएं समाज में पारस्परिक एवं सामान्य सेवा में रत पाई जाएँ। वैयक्तिकता की अन्धाधुन्ध कुचलना सर्वथा समाज हित में नहीं होता है। समाज और वैयक्तिकता में सामंजस्य स्थापित करना ही बुद्धिमानी है। समाज का आवरण उसके सभी सदस्यों में भावनाओं, विचारों, हितों और कार्यों की पूर्ण एकरूपता में नहीं दिख सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक एकीकरण (social integration) की अपूर्णता को सनातन सत्य स्वीकार कर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया जाए। हमें सदैव सामाजिक एकीकरण की प्राप्ति के लिए उपयुक्त भौतिक और सामाजिक दशाएँ प्रोत्साहित करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब समाज से कट्टर रूढ़िवादिता, संकीर्णता, कठोरता एवं असहनशीलता की मात्रा क्रमशः कम हो साथ ही आधुनिक जटिल समाजों में सर्वसाधारण के विचारों, भावनाओं, आदर्शों और कार्यों को एक साँचे में ढालने का मानवीकरण प्रक्रियाओं को, जो स्वतन्त्रता तथा भिन्नता का गला दबा रही हैं, समाज के वास्तविक लक्ष्यों से समायोजित किया जाए। ध्यान रहे हम वैयक्तिकता का अर्थ व्यक्तिवादिता अथवा अहम्मन्यता (egoism) नहीं लगाते हैं। व्यक्तिवादिता और अहम्मन्यता का प्रोत्साहन जनसाधारण के हितों पर कुठाराघात है और अन्ततः समाज के विघटन की तैयारी है।[2]

मैकाइवर और पेज वैयक्तिकता के बारे में दो तथ्यों का संकेत करते हैं (१) समाज वैयक्तिकता की उन्नति के लिए मूलभूत दशा है। समाज उन दशाओं को उत्पन्न करता है जिनमें हमारी हर इच्छा अथवा आकांक्षा की पूर्ति होती है। (२) जितनी ही अधिक वैयक्तिकता किसी व्यक्ति में होगी उतना ही अधिक वह समाज पर निर्भर रहेगा और उतना ही अधिक समाज को उसमें प्राप्त हो सकेगा।[3] इस

---

1 प्रतिभाशाली लोग प्रायः विद्रोही होते हैं और अपने व्यवहार में वे जिन जिन चीजों में विद्रोह करते हैं उन उन चीजों में वे अपने समाजों को क्रमशः सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर ले जाते हैं।'

– प्रा० देवराज संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, लखनऊ (१९५७ पृष्ठ २०३)

2 See A. D. Lindsey's article on Individualism in *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol. 7 (1932)

3 MacIver & Page *op. cit.* p. 54

दूसरे तथ्य की सत्यता महात्मा गांधी, बुद्ध, शिवाजी, राणा प्रताप, सुभाष बोस, जवाहरलाल, नानक, शंकराचार्य और मार्क्स जैसे महान् व्यक्तियों के जीवन-चर्या में प्रकट हो सकती है। प्रो० यू० बी० मुकर्जी कहा करते थे कि समाज की प्रगति में उन लोगों का योगदान अधिक है जिनमें सक्रिय वैयक्तिकता अधिक होती है। वास्तविकता भी यही है। समाज की परम्पराओं अथवा रूढ़ियों का लकीर का फकीर रहकर शान्त और निष्क्रिय व्यक्तियों से समाज की संस्कृति में न कोई आविष्कार हो सकता है और न क्रान्ति। सृजन और प्रगति में अपरम्परावादी एवं उग्र वैयक्तिकता का महान योग होता है।

२८

सामाजीकरण

मानव प्रकृति

मानवता मनुष्य को जन्म से न प्राप्त होकर बाद में प्राप्त होती है। मानवता का अभिप्राय व्यवहार के उन लक्षणों से होता है जो मनुष्य और पशु में अन्तर करती है। वास्तव में मनुष्य और पशु के शारीरिक स्थान का अन्तर उतना नहीं है जितना वास्तव में उनके व्यवहार में है। मनुष्य समाज के वे लक्षण जो उसे पशु से भिन्नता प्रदान करते हैं अपने सामाजिक पर्यावरण से प्राप्त करता है। पशु और अन्य व्यक्तियों के मध्य होने वाली प्रक्रियाओं के द्वारा उनके अन्दर आत्मचेतना व्याप्त होती है। वह अपने समाज की भाषा का अर्जन करके ही अन्य व्यक्तियों के साथ विचारों, भावनाओं आदि का आदान प्रदान करने के योग्य बनता है। अन्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सम्पर्क के अभाव मे वह व्यवस्था के उन लक्षणों को कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता है जो एक मनुष्य कहलाने के लिए आवश्यक होती है। उदाहरण स्वरूप अमला तथा कमला भेड़ियों द्वारा पाली गई लड़कियों जो बचपन से ही मानव सम्पर्क से वंचित रही थे इस कथन को पूर्ण रूप से स्पष्ट करती हैं कि मानव कहलाने के लिए व्यवहार के जिन लक्षणों की आवश्यकता होती है वे केवल मानव समाज के सम्पर्क में ही उत्पन्न हो सकते हैं। यदि व्यक्ति जीवन के किसी स्तर पर मानव समाज के सम्पर्क से दूर हो जाता है तो उसके अन्दर मानसिक असन्तुलन तथा व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है। कोई अपराधी को जो एकान्तवास में रखे जाते हैं तथा व्यक्ति भी जो स्वयं अपनी इच्छा से पृथक होकर एकान्तवास करते हैं अधिकांशत पागल तथा चिड़चिड़े हो जाते हैं। यह भी सम्भव है कि शारीरिक रूप से कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में रहते हुए भी मानसिक रूप से उनसे पृथक हो सकता है। इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर मानसिक एकान्त का वही प्रभाव पड़ता है जो कि समाज से अलग रहने का पड़ता है। मानसिक रूप से व्यवहार के उन लक्षणों

को एकान्तवासी ठीक से नहीं सीख पाता जिनकी एक मानव में आशा की जाती है। यह भी सम्भव होता है कि पिछली सीखी हुई बातों को भुला बैठे।

प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे तरीके प्रचलित रहते हैं जो अपनी परिस्थितियों में अनुकूलन स्थापित कर लेते हैं। ये प्रचलित तरीके पीढ़ी दर पीढ़ी प्रथाओं, संस्कारों, परम्पराओं, रूढ़ियों आदि के रूप में हस्तान्तरित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति में जैविक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि, सामाजिक व्यवहारों, विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा आदान-प्रदान के अपने कुछ तरीके होते हैं। यह जरूरी होता है कि प्रत्येक व्यक्ति जो उस समाज में जन्म लेते हैं वे इन तरीकों को सीखें क्योंकि इसके अभाव में न तो वह उस समाज के जीवन में सक्रिय भाग ग्रहण कर सकता है और न सदस्य ही बन सकता है। वह तब तक अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता है और न अन्य व्यक्तियों का सहयोग पा सकता है जब तक कि प्रचलित प्रथाओं को न सीख ले। समाज में प्रचलित व्यवहार के तरीकों को सीखने तथा ग्रहण करने को ही हम उस व्यक्ति का सामाजीकरण कहते हैं।

सामाजीकरण की परिभाषा

किम्बल यंग के अनुसार 'सामाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक संसार में प्रवेश करता है, जिससे वह समाज का और उसके विभिन्न समूहों का सदस्य बन जाता है और जो उसे उस समाज की मूल्यताओं और मानकों के स्वीकार करने को प्रेरित करता है।'[1]

इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए यंग ने लिखा है कि सामाजीकरण का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी संस्कृति की जनरीतियों, रूढ़ियों, विधियों और दूसरी विशेषताओं को सीखता है। वह उसकी स्थितियों और अन्य आवश्यक ज्ञान को सीखता है। इससे वह अपने समाज का एक क्रियाशील सदस्य बनने में समर्थ हो जाता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया से वह अपने परिवार, पड़ोस, वर्ग और समुदाय के उद्देश्यों और मान्यताओं को अपना लेता है। संक्षेप में सामाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया अन्तःक्रिया अथवा सामाजिक क्रिया के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है।

सामाजीकरण एक प्रकार का सीखना (learning) है। यहाँ सीखने शब्द का प्रयोग बड़े विस्तृत अर्थ में किया गया है। जॉनसन के विचार से सामाजीकरण सीखने का एक महत्वपूर्ण भाग है। सामाजीकरण वह सीखना है जो समाज के नियमों के अनुसार मान्य है।" अर्थात् समाज के भीतर जीवन बिताने के लिए व्यक्ति का

1 Kimball Young : A Handbook of Social Psychology, p. 89
2. Johnson : Sociology : A Systematic Introduction, (1961) p. 110

समाज द्वारा अनुमोदित समस्त आचरणों को सीखना ही सामाजीकरण है। इस प्रक्रिया से व्यक्ति को सामाजिक जीवन के ढाँचे में ढाला जाता है।

सामाजीकरण और सीखना

सामाजीकरण एक प्रकार का सीखना है। सीखना (learning) विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त होता है। सामाजीकरण सीखने का एक महत्वपूर्ण भाग है। जानसन ने लिखा है कि सम्पूर्ण सीखना सामाजीकरण नहीं है। यह माना जाता है कि कुछ सीखना सामाजिक व्यवस्थाओं में भाग लेने और सप्रेरणा (motivation) के लिये आवश्यक है। सामाजीकरण एक निश्चित दिशा में सीखना होता है। यह दिशा समाज द्वारा निर्धारित होती है। पुन: जानसन ने लिखा है कि सामाजीकरण वह सीखना है जो सामाजिक कार्यों में करने की किसी की योग्यता में सहायक होता है तथा वह सीखना किसी विशेष दिशा और गुण में होता है। किसी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से यह सीखना वांछनीय है और इसे सीखने की इच्छा की जाती है।[1]

अतः यह स्पष्ट है कि सीखना शब्द का व्यापक अर्थ है। मनुष्य बहुत कुछ सीख सकता है जो उसके सामाजीकरण का भाग न हो। केवल वही सामाजीकरण सीखना कहा जा सकता है जो समाज के नियमों के अनुसार मान्य हो। अर्थात् वह सीखना जो समाज के नियमों के प्रतिकूल अथवा उनके द्वारा स्वीकृत न हो सामाजीकरण नहीं कहा जायगा।

सामाजीकरण के अभिकरण

समाज के अन्तर्गत सामाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों (agencies) में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवार के अन्तर्गत माता और पिता की भूमिकाएँ ही साधारणतया सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। परिवार के अतिरिक्त मनुष्य के सामाजीकरण में अन्य अभिकरणों अथवा माध्यमों का भी महत्व है। सामाजीकरण के अन्य माध्यमों में पड़ौसी सम्बन्धी जन प्राथमिक समूहों के सदस्य और विभिन्न प्रकार के द्वितीयक समूहों की सदस्यता का उल्लेखनीय स्थान है। किम्बल यंग ने सामाजीकरण के अभिकरणों का निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया है—

(अ) परिवार (आ) आयु-समूह (इ) पड़ौस (ई) नातेदारी समूह (Kin-ship group) (उ) विद्यालय (ऊ) अन्य प्राथमिक समूह जैसे मित्र मण्डली क्लब अथवा मनोरंजन गोष्ठी। ये सभी अभिकरण प्रारम्भिक समूह हैं।

द्वितीयक समूहों में भी व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। वर्ग जाति, राष्ट्रीयता, समूह राष्ट्र, राजनैतिक दल, धार्मिक समूह भाषा समूह, सांस्कृतिक समूह तथा व्यावसायिक समूह आदि सामाजीकरण की द्वितीयक एजेंसियाँ कही जाती हैं।

---
1. *Ibid*

परिवार द्वारा समाजीकरण

बच्चों का समाजीकरण परिवार से ही प्रारम्भ होता है। बच्चों के प्रति माता पिता का स्नेहपूर्ण व्यवहार उन्हें बहुत कुछ सिखा देता है। बच्चों को बहुधा सभी आवश्यक कार्यों की शिक्षा माता पिता के व्यवहार के अनुकरण से मिल जाती है। परिवार में माता और पिता की ओर से जो अनुशासन बनाये रखा जाता है उससे भी बच्चों का समाजीकरण होता है। सामाजिक जीवन की बहुत सी बातों को बच्चे परस्पर खेलकर और एक दूसरे का अनुकरण कर सीख लेते हैं। पति पत्नी के पारस्परिक मधुर और प्रेमपूर्ण सम्बन्धों का बच्चे के व्यक्तित्व विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। दम्पत्ति के परस्पर सहयोग, सहानुभूति, समझदारी और संकट या कठिनाई में साहस और धैर्य से काम करने का स्पष्ट प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। असंयमी या झगड़ालू अथवा किसी भी प्रकार से असामान्य व्यवहार करने वाले माता पिता का बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ेगा। पति-पत्नी की एक दूसरे के प्रति अनुदारता, घृणा अथवा असहयोग का प्रभाव बच्चों के लिए बड़ा अस्वास्थ्यकर होता है। कुछ माँ-बाप अपने बच्चों को अपनी छोटी बात पर झिड़की, तिरस्कार अथवा निरन्तर निन्दा से भयभीत और आशंकित रखते हैं। इससे बच्चों के मन में आत्मग्लानि, आत्महीनता, माता पिता और समाज के प्रति विरोध और विद्रोह की प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं। इसी प्रकार जब बच्चों को अधिक लाड़-प्यार मिलता है तो उनमें स्वावलम्बन की भावना नहीं पनपती। वे अपने कार्यों और व्यवहार की सही आलोचना सुनने को तैयार नहीं होते। इस कारण बहुधा आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी हो सकते हैं। कुछ माता पिता असावधानी या ना समझी से अपने बच्चों में गन्दे भाव भरते हैं इससे उनमें अस्वस्थ रुचियों का विकास हो जाता है। माता पिता की सामाजिक स्थिति और जीवन में सफलता, निष्फलता का बहुत स्थायी प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। इसी प्रकार माता पिता अथवा अन्य कुटुम्बियों के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव निश्चय ही बच्चे के व्यक्तित्व विकास पर पड़ता है। परिवार की आर्थिक सम्पन्नता या विपन्नता का प्रभाव बच्चों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित परिवार के सदस्यों के व्यक्तित्व में हीनता, असुरक्षा अथवा अनिश्चितता की प्रवृत्तियाँ घर नहीं कर पातीं। दरिद्रता, बेकारी, ऋण अथवा अन्य प्रकार की आर्थिक असुरक्षा से ग्रस्त परिवार के वातावरण में एक अजीब घुटन और कटुता भरी रहती है। कोई भी सदस्य उसके दूषित प्रभाव से नहीं बच सकता। सारांश यह है कि परिवार का परिवेश सदस्यों के व्यक्तित्व के विकास में बहुत महत्वपूर्ण है। जीवन दर्शन, व्यक्ति के विचारों, दृष्टिकोणों, आदर्शों और मूल्यांकनों पर परिवार के परिवेश की छाप अमिट रहती है। अतएव व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार एक महत्वपूर्ण एजेन्सी कही जा सकती है।

आधुनिक परिवार की सामाजीकरण में भूमिका कुछ संशोधित है। आधुनिक परिवार में प्रतिस्पर्धा, प्रयास और उपलब्धियों पर कुछ बहुत जोर दिया जाता है। इस वातावरण में परम्परा अथवा प्रथा के प्रति अनुदारता अथवा विरोध भड़कता है। लुडवग और उसके सहयोगियों ने आधुनिक औद्योगीकृत समाजों के परिवारों के अन्तर्गत सामाजीकरण की प्रक्रिया का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि परिवार के भीतर पति पत्नी के चुनाव और दैनिक जीवन में प्रतिस्पर्धा पर बड़ा बल दिया जाता है। इस कारण परिवार के इस प्रतिमान में जो व्यक्तित्व विकसित होता है वह परम्परागत पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में विकसित व्यक्तित्व प्रतिमान से बहुत बातों में भिन्न है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार के अतिरिक्त अन्य प्राथमिक समूहों जैसे पड़ोस सम्बन्धी समूह, क्रीड़ा समूह, विद्यालय आदि की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में इन समूहों का प्रभाव उस पर पड़ता है। व्यक्ति के जीवन में उपरोक्त अभिकरणों का जितना ही सक्रिय स्थान है उतना ही वह व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। बच्चे के व्यवहार, विचार और आदर्श के निर्माण में उसके क्रीड़ा समूह पड़ोस और विद्यालय का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। यह कोई भी अपने सामाजिक अनुभवों की पार्श्वभूमि और स्रोतों की व्याख्या करके जान सकता है।

इसी प्रकार व्यक्ति के सामाजीकरण में द्वितीयक समूहों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का जाति भाषा धर्म अथवा व्यवसाय समूह उसके लिए व्यवहार अपने प्राथमिक समूहों में सीखता है उनमें पर्याप्त संशोधन, संवर्द्धन और परिष्कार द्वितीयक समूहों के आजीवन की सक्रिय सदस्यता की अवधि में हो जाता है। आधुनिक जटिल समाजों में व्यक्ति का अधिकांश जीवन व्यापार व्यावसायिक समूहों, राजनैतिक दलों सांस्कृतिक गोष्ठियों, केन्द्रों अथवा मनोरंजन केन्द्रों में सक्रिय सम्मेलन से बीतता है। अतः आधुनिक व्यक्ति के व्यक्तित्व पर स्पष्ट छाप उसके द्वितीयक समूहों की पड़ती है। कई बार उसके द्वितीयक समूह की आवश्यकताएँ उस आचरण की अपेक्षा करती हैं जिनमें प्रारम्भिक जीवन की बहुत सी स्थापनाएँ और मर्यादाएँ गंभीर रूप से संशोधित हो जाती हैं। आधुनिक मनुष्य के मनोवैज्ञानिक तनावों का स्रोत कुछ यही विविधतापूर्ण परिवेश है।

सामाजीकरण के कारक

किम्बल यंग के अनुसार सामाजीकरण के अनेक साधनों में स्वीकृति अस्वीकृति और दण्ड एवं रचनात्मक सम्मिलित हैं। सामाजीकरण के कुछ प्रमुख कारक हैं (१) सुझाव (२) अनुकरण (३) सहानुभूति (४) पुरस्कार और दण्ड, (५) सहमति और असहमति, तथा (६) मजाक उड़ाना (ridicule)।

(१) सुझाव—बच्चे सुझाव बहुत शीघ्र मान लेते हैं। यही कारण है कि माता पिता तथा परिवार के अन्य बड़े लोग बच्चों के सामने अपने विचार दृढ़ता से व्यक्त करते हैं। जो भी व्यक्ति अनुभव तथा ज्ञान में कम होते हैं वे अपने से अधिक अनुभवी और ज्ञानवान के सुझाव को शीघ्रता से मान लेते हैं। यह स्थिति बच्चों के साथ है। सुझाव से हम दूसरों के व्यवहार का अनुकरण करते हैं और उनके अनुभवों का लाभ उठाते हैं।

(२) अनुकरण—बच्चे अपने माता पिता और अन्य स्वजनों के व्यवहार से बहुत कुछ अनुकरण द्वारा सीखते हैं। वे अपने को भिन्न भिन्न स्थितियों में रखकर तदनुकूल आचरण करते हैं। बच्चे को प्रारम्भ में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संकेत भाषा (gesture laugage) का अनुसरण ही सीखना पड़ता है। जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो अपने ढंग से वह भाषा और बोली सीख लेता है। रहन-सहन के ढंग, वस्त्र और शृंगार की रीतियाँ तथा खान पान और उठने की सारी बातें बच्चे और किशोर अनुकरण द्वारा ही सीखते हैं।

(३) सहानुभूति—सहानुभूति बच्चों को उद्वेगों, भावनाओं एवं प्रेरणाओं को सीखने में सहायक होती है। बच्चों और किशोरों का भावना-जीवन (emotional life) सहानुभूति की प्रक्रिया से विकसित होता है। युवा और प्रौढ़ जीवन में भी हम न जाने कितनी बातों में अपना लगाव और भावनाओं तथा उद्वेगों का विकास दूसरों के प्रति सहानुभूति की प्रक्रिया से करते हैं।

(४) पुरस्कार एवं दण्ड—बच्चों के समाजीकरण में पुरस्कार और दण्ड का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। माता पिता अथवा अध्यापक की इच्छा के अनुसार कार्य करने में सफल बच्चों को पुरस्कार दिया जाता है और जो बच्चे इसमें असफल होते हैं उन्हें दण्ड मिलता है। बच्चों को अच्छे बुरे काम की पहिचान भी पुरस्कार और दण्ड की प्रक्रिया से करायी जाती है। बच्चों को उन्हीं आचरणों, प्रथाओं और विचारों अथवा भावनाओं को सीखने दिया जाता है जो सामाजिक मर्यादा के अनुकूल होती हैं। इन्हें सीखने की आदत अथवा झुकाव डालने में बच्चों को अनेक बार पुरस्कार या दण्ड मिलता है। सही या वांछित व्यवहार के लिए पुरस्कार किसी भी रूप में हो सकता है। एक सरल मुस्कान से लेकर व्यवस्थित प्रशंसा तथा सुन्दर वस्तुओं से पारितोषिक सभी पुरस्कार के उदाहरण हैं। इसी प्रकार झिड़की, साधारण मारपीट और अन्य प्रकार के दण्डों से बच्चों से गलत अथवा मर्यादानुकूल व्यवहार करने की मनाही की जाती है। आजकल दण्ड की अपेक्षा पुरस्कार को अधिक प्रभावशाली माना जाता है। वैज्ञानिक परीक्षणों ने सिद्ध कर दिया है कि दण्ड देने से बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। दण्ड से बच्चे के स्वाभाविक विकास को धक्का लगता है और उसमें समाजीकरण के अभिकर्ताओं के प्रति प्रतिकार एवं द्वेष की भावना विकसित होती है। फलतः इससे समाजीकरण की प्रक्रिया को हानि पहुँचती है। ऑलपोर्ट ने दण्ड देने के दो पक्षों की ओर संकेत किया है। इससे समाजीकरण में

एजेण्ट के प्रति घृणा तथा विद्रोह की भावना बढती है और दूसरे सामाजीकरण की प्रक्रिया अस्वाभाविक हो जायगी क्योंकि दण्ड पाने पर बच्चे में सामान्य और वांछित व्यवहार प्रतिमानों को सीखने की इच्छा दब जाती है। अवोलकर ने अबोध बच्चों को दण्ड देने के भयंकर परिणामों का संकेत करते हुये लिखा है कि दण्ड से उत्पन्न धब्बे उसकी स्मृति पटल से कभी नहीं धुलते। ये 'नरसिस्ट घाव" (narcissitic wounds) स्थायी चिन्ह छोड जाते हैं।[1]

(५) सहमति तथा असहमति—जब बच्चा ठीक व्यवहार करता है तो उससे सहमति (approval) प्रकट की जाती है और इच्छा या प्रथा के विपरीत आचरण करने पर उससे असहमति (disapproval) प्रकट की जाती है। इससे बच्चे में उचित अनुचित अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य के पहचानने की आदत का विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह की सहमति का भूखा रहता है। वह ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहता जिससे उसकी भर्त्सना अथवा निन्दा हो अथवा उसकी स्थिति की अवमानना हो जाए। व्यक्ति में इस इच्छा का निर्माण करना ही सामाजीकरण का सफल शिक्षण है।

(६) मजाक उडाना—मजाक उडाना एक प्रकार का दण्ड है। यह असहमति का अधिक कठोर रूप है। जिस व्यक्ति अथवा बच्चे की मजाक उडाई जाती है वह लज्जित होता है और अपने व्यवहार में आवश्यक सुधार करता है। मजाक उडाने में भी सावधानी बरती जानी चाहिए। अनजाने में की गई गलती की बहुत मजाक उडाने से अथवा प्रथम गलती पर ही बच्चे की अन्धाधुन्ध मजाक उडाने से उसमें हीनता तथा विरोध की भावना का विकास हो सकता है। मजाक उडाने के लिए ढंग और अवसर का चुनाव बडी सावधानी से करने पर ही मजाक से सामाजीकरण की प्रक्रिया में सहयोग मिलता है। नहीं तो इस साधन का उपयोग अहितकर परिणाम दे सकता है।

सामाजीकरण और व्यक्ति

समाज मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से बनी एक व्यवस्था है। पिछले दो खण्डों में हमने इस व्यवस्था के संगठन विकास और परिवर्तन का विश्लेषण किया। समाज के प्रत्येक रंगमंच पर होने वाले नाटक का अभिनेता (actor) मनुष्य ही है। अतएव, इस अभिनेता के व्यवहार को समझना नितांत आवश्यक है क्योंकि इसी व्यवहार को उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों का आधार कहा जा सकता है। मनुष्य के व्यवहार को समझने का सर्वोत्तम साधन उसके व्यक्तित्व के निर्माण और विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी कैसे बनता है और अपने जीवनकाल में विभिन्न मनुष्यों के साथ विभिन्न अवसरों पर जो व्यवहार करता है

1 बी० बी० अकोलकर समाज मनोविज्ञान, पृष्ठ १३४

वह क्या करता है ? इसका उत्तर व्यक्ति का सामाजिक निवारण या सामाजीकरण की प्रक्रिया है । जन्मते ही बच्चा केवल एक मानव जीव होता है । उसमें मनुष्य की विशेषताएँ अथवा मानवोचित गुण नहीं मिलते । न वह बोलता है न कपड़े पहनता है, न शिष्टाचार जानता है और न उसके कोई लक्ष्य अथवा आदर्श होते हैं । अधिक से अधिक उसके पास स्नायु मज्जा (मांसपेशी) होती है जिसमें कुछ जैविक और मानसिक लक्षण होते हैं । किन्तु जन्मोपरान्त बच्चे की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती है उसमें अनेक परिवर्तन दिखने लगते हैं । वह सकना अथवा भाषा का प्रयोग करने लगता है । माँ-बाप के स्नेह की इच्छा करता है । उनके मुस्कराने हँसने पर स्वयं भी मुस्कराना-हँसना है । उठना-बैठना, खाना दूसरों से व्यवहार करने के ढंग सीखता है और वस्तुओं, परिवार के सदस्यों तथा बाहरी लोगों के प्रति निश्चित मनोवृत्ति रखना सीख जाता है । उसे अपने पराये का ज्ञान होने लगता है । इसी प्रकार कर्तव्याकर्तव्य का भी उसे परिचय हो जाता है । सारांश यह है कि उसमें सामाजिक जीवन में सम्मिलित होने की कामना और इच्छा विकसित होती है । बाल्यकाल में यह प्रक्रिया परिवार में प्रारम्भ होती है फिर आयु-समूह (हमजोलियों के साथ) विद्यालय तथा पड़ोस में चालू रहती है । किशोर और तरुण होते-होते इस प्रक्रिया द्वारा उसे सामाजिक जीवन में प्रभावी सम्मिलन के लिए बहुत कुछ तैयार कर लिया जाता है । किन्तु वास्तविक जीवन में प्रवेश कर लेने के बाद यह प्रक्रिया खत्म नहीं होती है । व्यक्ति इसके प्रभाव से आजीवन दूर नहीं भाग पाता क्योंकि प्रत्येक कदम पर उसे यह जानना जरूरी मालूम पड़ता है कि समाज (या दूसरे लोग) उससे कैसे व्यवहार की अपेक्षा करते हैं । समाज का सदस्य होकर अपने जीवन निर्वाह के लिए उसे अपने 'आत्म' (self) का विकास कर सामाजिक व्यक्ति बनना पड़ता है । इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया को सामाजीकरण (socialization) कहते हैं ।

सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य दूसरे मनुष्यों और समूहों से अन्तःक्रिया कर सामाजिक परिपाटियों और संस्कृति के अनुकूल व्यवहार करता हुआ एक सक्रिय सामाजिक मनुष्य बन जाता है । सामाजीकरण से व्यक्ति में आत्मचेतना, आत्मनिर्णय, हम भावना, सामाजिक आत्म नियन्त्रण और सामाजिक उत्तरदायित्व के गुण आ जाते हैं जो उसके व्यक्तित्व को सम्पूर्ण बनाते हैं । मनुष्य के सामाजीकरण में उसका समूह और संस्कृति ही सक्रिय भाग लेता है । यदि कोई मनुष्य समूह और संस्कृति के प्रभावों के प्रति सजग और सुविचारपूर्वक प्रतिक्रिया करेगा तो उसका अधिक अच्छा सामाजीकरण होगा । सभी मनुष्यों के व्यक्तित्व का समान प्रकार का विकास नहीं हो पाता है । एक समूह के अन्तर्गत समाज में कई प्रकार के व्यक्तित्व मिलते हैं । तीसरे सामाजीकरण में प्रत्येक व्यक्ति अवश्य ही वर्तमान समाज की मान्यताओं के अनुसार ही व्यवहार करेगा, यह भी जरूरी नहीं है । हरेक समाज में एक-दो व्यक्ति होते हैं जो समाज की प्रचलित परम्पराओं, रीतियों, आदर्शों और

राज्य के कानूनो की उपेक्षा अथवा खुला विरोध करते हैं। इस समाज विरोधी प्रवृत्ति के निर्माण के लिये अपर्याप्त या दोषपूर्ण सामाजीकरण जिम्मेदार है। मनुष्य म उपयुक्त मानवोचित गुणा का—मानव प्रकृति का—विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति जन्मपर्यन्त सामाजिक जीवन म प्रभावपूर्ण भाग लेने का अवसर पाता रहे।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है

यह कथन एक स्वय सिद्ध सत्य है। मनुष्य का जन्म समाज म होता है और उसी म मृत्यु। व्यक्तित्व के विकास जीवन की सुख सुविधाएँ और सफलताएँ सभी के लिये उस उपयुक्त अवसर समाज के भीतर मिलत हैं। वह अपनी रक्षा, पालन पोषण शिक्षा, मनोरजन और जीवन की समस्त उपलब्धिया के लिये समाज पर निभर है। अपने विचारा स्वप्नो और आकाक्षाओ की उत्पत्ति और परिपालन के लिए भी वह समाज पर निभर है। वह समाज के बाहर भले ही कुछ समय तक जीवित रहे किन्तु अधिक मनुष्य बन कर जीवित नही रह सकता है। यदि जन्मते ही बच्चे को समाज स बाहर जगल आदि म रहने को विवश होना पडे तो उसम मानव प्रकृति (human nature) विकसित नही हो सकती और यदि किसी युवक अथवा प्रौढ को समाज के बाहर रहने को विवश किया जाए तो उस कितना कष्ट होगा इसका अनुभव राबिन्सन क्रूसो' जसे अभागे मानव को ही हो सकता है। समाज से निरन्तर पृथकता से उसकी मानव प्रकृति का विकास कुण्ठित हो जाता है और अन्तत वह समाज म रहने वाले मनुष्या से इतना भिन्न हो जाता है कि उसे किसी भी प्रकार मानव नही कहा जा सकता है। आजन्म कद भोगने वाले बन्दी कभी-कभी पागल तक हो जाते है। इसी प्रकार स्वेच्छा स लम्बी अवधि तक वन वासी या एकान्तवासी सन्यासी आदि असाधारण व्यवहार करते हैं उन्ह सनक भी आ जाती है। समाज से पृथक रहकर मनुष्य को आज अपनी गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति पर गव करने का अवसर नही मिलता। वह भी पशुमात्र होता है। अत यह सत्य है कि मनुष्य को जीवित रहने और प्रगति करने के लिए समाज म रहना अनिवाय है। समाजीकृत व्यक्ति (socialized person) म ही मानव प्रकृति विकसित हो सकती है। असमाजीकृत (unsocialized) व्यक्ति का व्यवहार जगली जानवरो से भी निम्न कोटि का होता है। इस कथन की सत्यता के साक्षी असमाजीकृत बच्चा के उदाहरण हैं।

(१) १८२८ ई० म नूरेम्बग में कास्पर हासर (Kasper Hauser) नामक १७ वष के एक बालक को पकडा गया। वह किन्हीं राजनतिक कारणो से बहुत छोटे पर समाज से बाहर रखा गया था। जब नूरेम्बग म वह पकडा गया तो न सीधे खडे होकर वह चल सकता था और न बात कर सकता था। उसका मस्तिष्क बिल्कुल अविकसित था और उसम एक छोटे बच्चे जसी ही बुद्धि थी। वह केवल कुछ निरथक शब्द बोल सकता था। बेजान पदार्थों को जानदार समझता था और

उसके साथ जानवर जैसा व्यवहार करता था। पाँच वर्ष बाद इसकी हत्या कर शव परीक्षा (postmortem examination) की गई जिससे यह मालूम हुआ कि उसकी मानसिक उन्नति सामान्य से हीन (subnormal) थी। उस अभागे लड़के को समाज से छीन कर उससे उसकी मानव प्रकृति भी छीन ली गई थी। ध्यान रहे कास्पर हाउजर की असंस्कृत अवस्था का कारण उसकी जन्मजात मानसिकता नहीं थी।

(२) इसी तरह का एक दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण दो हिन्दू बालकों का है। १९२० ई० में उन दोनों को एक भेड़िये की माँद में पकड़ा गया। उनमें से एक तो कुछ महीनों के बाद मर गया। बड़ा बच्चा जिसका नाम कमला था सन् १९२९ तक जीवित रहा। इस ९ वर्ष की अवधि में उसके जीवन इतिहास का सूक्ष्म अवलोकन किया गया। १९२० में जब उसे भेड़िये की माँद से लाया गया था तो उसमें कोई मानवोचित गुण नहीं थे। वह चारों हाथों-पैरों से चलती थी। उसकी भाषा सिर्फ ध्वनियाँ या गुर्राने जैसी थी। वह मनुष्यों से शरमाती थी और उनसे दूर भागने का प्रयत्न करती थी। बड़ी सहानुभूति और सावधानी से उसे प्रारम्भिक सामाजिक धारणाओं को सिखाया गया। मृत्यु के पहले उसे धीरे-धीरे मामूली भाषा में कुछ बोलना, मनुष्य की तरह खाना खाना, कपड़े पहनना आदि आदतें आ गई थीं। प्रारम्भ में इस बच्चे में मानवीय आत्मत्व (human selfhood) की कोई भावना न थी किन्तु ९ वर्ष के मानव सम्पर्क में उसे इसका थोड़ा-थोड़ा भान होने लगा था। उसमें धीरे-धीरे वैयक्तिकता (individuality) का विकास होने लगा था परन्तु तब जब वह समाज का एक सदस्य बनी।[1]

(३) १९३८ ई० में अमरीका के एक नगर के एक बन्द कमरे में अन्ना (Anna) नामक एक बच्चा निकाला गया। कहते हैं कि जन्म के छः मास बाद उसकी माँ ने अवैध बच्चा (illegitimate child) होने के कारण उसे कमरे में डाल दिया था। कभी जीवन में बच्चे को दूध के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया गया था। उसे मामूली आदतें भी नहीं सिखाई गईं और न किसी दूसरे प्राणी से उसका सम्पर्क होने दिया था। इस अति (extreme) और निर्दयी एकान्तवास (isolation) ने उस बच्चे में ५ वर्ष का होने पर भी सामान्य मानवोचित गुणों का विकास नहीं होने दिया। उसे चलना फिरना और बोलना कुछ न आता था। वह पास में खड़े या बैठे आदमी के प्रति पूर्णतया अबोध रहती। उसमें इस स्थिति से कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। धीरे धीरे जब बड़ी सहानुभूति से कुछ शिक्षा दी गई तो वह आदमी के जैसा व्यवहार करने लगी। कम आयु होने के कारण एकान्तवास उसे पूर्ण असामान्य नहीं बना पाया था। इसलिए अन्ना ने शीघ्र ही साधारण बच्चों की तरह खाना-

1 Kimball Young: *Introduction to Sociology* New York (1947) Several instances of wolf children (feral cases) have been quoted by the author in this book.

पीना बात करना, कपड़े पहनना और चलना सीख लिया था, किन्तु इतने पर भी उसका मानसिक विकास बड़े निम्न स्तर पर था। वह अभागी लड़की भी १९४२ ई० में मर गई।

यह उदाहरण भी इस बात का साक्षी है कि मनुष्य में मानव प्रकृति तभी विकसित होती है जब वह समाज के सामान्य जीवन में भाग लेता रहे।[1]

(४) असमाजीकृत व्यक्तियों के कई वर्तमान उदाहरण भी मिले हैं। १९५४ ई० में रामू नामक एक बच्चे को लखनऊ के बलरामपुर अस्पताल में भरती किया गया। वह अभागा बालक अपने माँ-बाप से शैशवावस्था में ही पृथक हो गया था और किसी जंगली पशु ने उसे पाला था। ऐसा ही एक दूसरा बच्चा, परशुराम १९५६ ई० में आगरा के अस्पताल में भरती किया गया। कुछ शिकारी उसे एक भेड़िये से छीन लाये थे। इन दोनों बच्चों में अपने समवयस्क साधारण बच्चे की भाँति कोई मानवोचित गुण नहीं थे। उनकी चेष्टाएँ, खान-पीने की आदतें, उठना बैठना सभी जानवरों जैसा था। उनका मस्तिष्क छोटे बच्चों से भी कम विकसित था। ये बच्चे आज भी जीवित हैं किन्तु प्रारम्भ में समाज से पृथक हो जाने के कारण उनके व्यक्तित्व का विकास कुण्ठित हो गया है। अत्यधिक सहानुभूति सावधानी और प्रशिक्षण के बावजूद भी वे अभी तक सामान्य बच्चे नहीं हो पाए और सम्भवतः कभी स्वस्थ मानव न हो पायेंगे।

मनुष्य सामाजिक प्राणी तभी हो सकता है जब वह अन्य मनुष्यों के साथ अपने समूह के जीवन और संस्कृति में शरीक होता रहे। जब तक वह दूसरों से शारीरिक या मनोवैज्ञानिक सम्पर्क न बनाए रखेगा उसकी अन्य लोगों से अन्तःक्रिया नहीं हो सकती। हमें याद रखना चाहिए कि मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक अन्तःक्रिया नितान्त आवश्यक है जो केवल समूह में रहकर निरन्तर संचार के अवसर पाने से सम्भव है। असमाजीकृत मनुष्य का व्यक्तित्व अविकसित और विकृत रहता है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्तित्व का निर्माण और विकास[2]

समाजीकरण की साधारण और उसमें सन्निविष्ट अनेक विशिष्ट प्रक्रियाओं की विवेचना व्यक्तित्व निर्माण और विकास के प्रसंग में करना उपयोगी होगा। सामाजीकरण की सांगोपांग विवेचना समझने का यह अपेक्षाकृत सरल उपाय है।

बहुधा साधारण लोग सब मनुष्य के व्यक्तित्व का अनुमान उसकी ख्याति (reputation) अथवा उस प्रभाव (impression) से जो उसके किसी साधारण

1 Quoted by MacIver and Page from American Journal of Sociology XLV (1940) pp 554-565 and III (1947) pp 432—87
2. A W Green *Sociology* Chap 7 (Socialization)

से उन लोगों पर पड़ता है लगाते हैं। व्यक्तित्व को इस अर्थ में समझना कठिन हो जाती है क्योंकि एक विशिष्ट व्यक्ति की ख्याति या उसके आचरण का प्रभाव सभी लोगों के लिए समान न होकर भिन्न भिन्न होता है किन्तु मनुष्य का व्यक्तित्व एक होता है अनेक नहीं। व्यक्तित्व मनुष्य का आन्तरिक गुण है। उसका व्यक्तित्व वह है जो वह है, न कि वह दूसरों को क्या प्रतीत होता है। व्यक्तित्व मनुष्य की उन स्थिर विशेषताओं के लाक्षणिक संगठन को कहते हैं जिनकी अभिव्यक्ति उसके विचार के ढंग, मनुष्यों और स्थितियों से समायोजन करने और संवेगात्मक व्यवहार में होती है। मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति उसकी उपरोक्त प्रक्रियाएं अपेक्षाकृत स्थिर और आदतन होती हैं।[1]

समाजशास्त्र में व्यक्तित्व की परिभाषा यों की जाती है 'व्यक्तित्व एक मनुष्य के मूल्यों (जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील है जैसे आदर, प्रतिष्ठा, शक्ति और धन) का योग है जिनके साथ अभौतिक गुण (क्रिया और प्रतिक्रिया के उसके आदतन तरीके) भी शामिल हैं।' किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति के मूल्यों और गुणों को योगमात्र नहीं कहा जा सकता है। व्यक्तित्व उनके गत्यात्मक संगठन में बनी एकता है।

व्यक्तित्व की परख साधारणतया निम्नांकित परिमाणों (dimensions) के आधार पर की जाती है —

(१) योग्यताएं (बुद्धि और अन्य विशेष योग्यताएँ)
(२) गतियोग्यता (motility)
(३) स्वभाव (temperament)
(४) लक्षण (traits)
(५) दूसरों के प्रति मनोवृत्तियाँ
(६) स्वयं के प्रति मनोवृत्तियाँ।

प्रकृति और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के निर्माण में जैविक कारक बहुत महत्वपूर्ण हैं। प्रकृति मात्र ही मानव प्रकृति का विकास नहीं कर सकती किन्तु वह ऐसी सामग्री प्रदान करती है मनुष्य जिससे व्यक्तित्व बना लेता है। सम्पूर्ण जैविक संरचना से संबद्ध कुछ ऐसे कारण हैं जिनका प्रभाव व्यक्तित्व पर गहरा पड़ता है। स्नायु संस्थान (nervous system), प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (ductless glands) इन्द्रिय प्रेरक (organic drives), संवेग (emotions) और सामान्य तथा विशिष्ट

1 Personality may be defined as 'the characteristic organisation of the habitual ways of thinking, of adjusting to persons and situations and the habitual emotional behaviour.' V. V. Akolker, *Social Psychology*, Asia Publishing House, Bombay (1957), p. 165

मानसिक योग्यताएँ ऐसे जविक कारक हैं जिनका व्यक्तित्व निर्माण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन लक्षणों की भिन्नता से व्यक्तित्व के भेद उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, बुद्धि म बहुत अधिक भेद व्यक्तित्व म प्रतिबिम्बित होते हैं। जडबुद्धि (idiot) और मूढ (imbecile) व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ अजीव प्रकार का होता है। परन्तु अति पैतृक भेद बहुत कम होते हैं। अधिकांश लोगो म सामान्य बुद्धि होती है। जब पैतृक भेद अति या निर्णायक नही होते हैं तो व्यक्तित्व को प्रभावित करने का अवसर पर्यावरण को अधिक मात्रा म मिलता है।

पैतृकता के परोक्ष प्रभाव भी बडे महत्वपूर्ण होते हैं। जिन लोगो के शारीरिक रूप, आकार अथवा रचना को एक संस्कृति म सुन्दर कहा जाता है उन्हे आत्मगर्व और आत्माश्वासन (self assurance) होता है। ऐसे लोगो को जिनका शरीर दूसरो की प्रशंसा या आकर्षण का विषय नही हो सकता, कुछ हीनता अथवा अभाव का अनुभव होता है।

व्यक्तित्व पर पैतृक कारकों का प्रत्यक्ष प्रभाव बडा सीमित होता है। उनसे व्यक्तित्व के केवल साधारण पहलू निश्चित होते है जसे संवेगात्मक चालक और मानसिक स्फूर्ति का अंश। भूख लगना जविक है किन्तु भूख से सम्बन्धित आदतें और मनोवृत्तियाँ अनुभव के कारण बनती हैं। इसी प्रकार संवेग हमारा जन्मजात गुण है किन्तु उसका किस प्रकार उपयोग किया जाए। हम कब और किस प्रेम करें, किस पर और क्या क्रोध कर अथवा किसके प्रति दया दिखाए आदि हमारे प्रशिक्षण पर निर्भर रहता है। हम अपने संवेगो की अभिव्यक्ति के उपयुक्त परिस्थितियाँ और तरीके समाज स सीखने पडते हैं। हममें से लगभग सभी को स्फूर्ति युक्त काम करने का जन्मजात गुण मिलता है किन्तु हम उसे भिन्न प्रकार के कार्यों म लगाते हैं। इस लिए सामाजिक अनुभव एक ऐसा कारक है जो व्यक्ति की गत्यात्मक जविक विरासत को विशिष्ट मनोवृत्तियो और आदतो स युक्त व्यक्तित्व म ढाल देता है। यद्यपि व्यक्ति के सामाजिक अनुभव म अनेक कारको का समावेश होता है किन्तु उन सब म समूह और संस्कृति के दो कारक व्यक्तित्व के लिए सबस महत्वपूर्ण हैं।

समूह और व्यक्तित्व

बच्चे के जन्मजात गुण सहज क्रियाएँ (reflexes) चालक भावनाएँ और क्षमताएँ—सांसारिक जीवन की कच्ची सामग्री हैं। नियन्त्रित प्रतिक्रियाए (conditioned responses) उन्हें व्यक्तित्व की उपलब्धियों जसे आदतो मनोवृत्तियो योग्यताओ और विचारो म बदल देती हैं। विभिन्न जीवन स्थितियो (life situation) म व्यक्ति की जो नियन्त्रित प्रतिक्रियाएँ होती हैं या जो उसका सामाजिक अनुभव है उसे समझ कर ही हम उसके व्यवहार का जान सकते हैं। व्यक्ति को प्रकृति स दुःखद और सुखकर दोनो प्रकार का अनुभव होता है। वह प्राकृतिक पर्यावरण की किसी विशेष वस्तु या स्थान को देखकर कई बार बडा खिन्न अथवा भयभीत हो जाता है

क्योंकि उसको अतीत का अनुभव उसे याद आता है। लेखक को अपने गाँव के एक आदमी के बारे में एक घटना याद है। वह मेरे साथ रात को ११ बजे स्टेशन की ओर जा रहा था। रास्ते में एक घने पेड़ के नीचे वह सहसा चीख कर गिर पड़ा। मैं आश्चर्य चकित था। जब उसे उठा कर पेड़ की छाया से बाहर ले गया तो उसे कुछ ढाढ़स बँधा। उसके चीखने का कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि एक बार पहले वहीं पर उसे भूत ने घेरा था। अब उसे भूत ने कभी घेरा था या नहीं, उसे उस अतीत अनुभव की याद अवश्य है। ऐसे ही अजीब गरीब अनुभव अनेक व्यक्तियों के साथ होते हैं जो उनके व्यक्तित्व पर अमिट छाप छोड़ देते हैं। उनका प्रभाव हमारी मनोवृत्तियों, आदतों और विचारों पर पड़े बगैर नहीं रह सकता।

सामाजिक पर्यावरण से सम्बन्धित हमारे अनुभव व्यक्तित्व पर सबसे व्यापक और गहरा प्रभाव डालते हैं। बच्चे को प्रारम्भ से ही अपने माता पिता भाई-बहिन या दादा का स्नेह मिलता है उनकी लाड़ प्यार भरी आवाजें सुनने को मिलती हैं। इसलिए वह मनुष्य का सहवास और उसकी आवाज सबसे अधिक पसन्द करने लगता है। बच्चे को प्रारम्भ से अन्य मनुष्यों के कारण जीवन रक्षा से लेकर अनेक जैविक और सामाजिक आवश्यकताएं पूरी करने का अवसर मिलता है। बड़े होने पर उसका सारा जीवन ही दूसरों से घिरा रहता है जिससे वह सामाजिक सम्पर्कों की लालसा करता है। दूसरे मनुष्यों के सहवास के हम बचपन से ही आदी हो जाते हैं इसलिए यदि वयस्क होने पर एकान्त कारावास की सजा मिल जाए तो उसे अति दण्ड मानते हैं। असमाजीकृत व्यक्तियों तथा समाज से पृथक रहने वाले लोगों की शोचनीय दशा पर हम प्रकाश डाल चुके हैं।

हमारा सामाजिक पर्यावरण सामूहिक अन्तःक्रिया और संस्कृति से मिलकर बनता है। अधिकांश सामूहिक अन्तःक्रिया सीखे हुए व्यवहार होते हैं और इसलिए वे संस्कृति का एक भाग हैं। प्रत्येक संस्कृति में नकल, अनुकरण, दिखावा, अनुकरण द्वारा डराना, सेवा, समाज-बहिष्कार, प्रशंसा, निन्दा आदि आचरण के साधारण प्रतिमान रहते हैं किन्तु इनमें से किसे सम्मानित और किसे निषिद्ध या निन्दित माना जाए यह विशिष्ट संस्कृति के अनुरूप निश्चित होता है। माताएं सभी जगह अपने बच्चों को सिखाती हैं किन्तु रूस की माताएँ जो अपने बच्चों को सिखाती है वही भारत की माताएँ नहीं करतीं। हम परस्पर विचार और भावनाओं के आदान प्रदान के लिए प्रत्येक संस्कृति में समान भाषा नहीं पाते। भारत में ही १४ प्रादेशिक भाषाएँ बोली जाती हैं। कहने का आशय है कि साधारण सामूहिक प्रक्रियाओं का निर्धारण संस्कृति करती है इसलिए एक विशिष्ट संस्कृति में विशेष व्यक्तित्व का विकास होना स्वाभाविक होता है।

सामाजिक अन्त क्रिया की सामान्य प्रक्रियाओं में प्रशसा, आरोप, सहयोग, सघर्ष, प्रभुता और अधीनता व्यक्तित्व पर अधिक प्रभाव डालती हैं। व्यक्ति की दूसरों से जैसी अन्त क्रिया होती है उसी के अनुसार वह नेता, झगडालू, कायर अथवा अनुकरणकर्त्ता होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि सामूहिक अन्त क्रिया ही हमारे व्यक्तित्व को भिन्न भिन्न साँचों में ढालती है।

शिशु का एकमात्र समूह उसका परिवार-समूह है इसलिए उसका अनुभव अपने माँ-बाप, भाई-बहिन से अन्त क्रिया ही पर निर्भर रहता है। बच्चा अनुकरण, सकेत, सहानुभूति तादात्म्य की प्रतिक्रियाओं द्वारा अपने समूह की अपेक्षाओं के मुताबिक व्यवहार करना है। शुरू में तो वह आत्म केन्द्रित होता है, अपनी जरूरतों और रुचियों के लिए अन्य सभी लोगों को साधन बनाना चाहता है किन्तु जब उनके इच्छावरोधों से निराशा और पराजय भाव मिलता है तो पहले विद्रोह करने पर भी बाद में दूसरों की इच्छाओं, पसन्दों और हितों का ध्यान करने लगता है। इस स्थिति में उसे आत्मचेतना होती है और वह दूसरों के आत्म (self) की उपस्थिति को स्वीकार करता है। बच्चे में आत्म (अह) की धारणा का विकास व्यक्तित्व विकास में केन्द्रीय महत्त्व का है। इस अह के आविर्भाव का आधार हमारी वह प्रतीति है जो हमारे और दूसरों के बीच की समताओं और भेदों को स्पष्ट करती है। हम आत्म का ज्ञान दूसरों की उन मनोवृत्तियों को अपनाने से होता है जो वे हमारे प्रति बनाते हैं। बच्चे के बारे में दूसरे लोग कई रायें बनाते हैं उसकी प्रशसा करते हैं अथवा उसकी निन्दा उसे होनहार समझते हैं या निकम्मा। दूसरों की इन रायों का उसके व्यक्तित्व पर अमिट निशान बन जाता है। बच्चे को काल्पनिक भूमिकाएँ करने में बडा आनन्द आता है। लडकियाँ गुडियाँ खेलते समय, माँ सास बहू आदि बनती हैं। लडके खेल खेल में राजा जज दरोगा डाकू चोर और योद्धा आदि की कल्पित भूमिकाएँ करते हैं। इन विभिन्न कल्पित भूमिकाओं में अपने को रखकर बच्चा अपने और दूसरे के प्रति अपने व्यवहार को प्रकट करता है। आत्म का विकास और बारे दूसरों की भूमिका अभिनीत करने से विकसित होता है। दूसरों के आचरण की कल्पना कर हम अपने आचरण का जो समायोजन करते हैं वह व्यक्तित्व में केन्द्रीय तथ्य है। इससे हमारा आत्म दूसरे के आचरण के लिए दर्पण का काम करता है।[1]

हरेक व्यक्ति के अनेक सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, उसे कई समूहों में अन्त क्रिया करनी पड़ती है। इस कारण उसे कई भूमिकाएँ अभिनीत करनी पड़ती हैं। इन भूमिकाओं की संख्या समूह सदस्यों के आधार पर बहुत अधिक हो सकती है। इन विभिन्न भूमिकाओं में उसका व्यवहार एक-सा नहीं रहता है। पिता की भूमिका में

1 C. H. Cooley *Human Nature and Social Order* New York (1922) pp 183-85

एक मनुष्य बड़ा उदार, मृदुभाषी, स्नेही और त्यागी हो सकता है जबकि अधिकारी की भूमिका में अति कठोर, अनुशासनप्रिय, प्रबल और अनुदार हो सकता है। इसलिए एक व्यक्ति के व्यवहार की पूरी जानकारी उन सभी स्थितियों (situations) को देखकर ही की जा सकती है जिनमें वह व्यवहार करता है। पर्यावरण हमारे व्यवहार को बहुत अधिक प्रभावित करता है और प्रत्येक स्थिति में हम एक नए और भिन्न पर्यावरण में आ जाते हैं। भूमिकाएँ स्थितियों का गत्यात्मक पक्ष हैं।[1]

'आत्म' विकास में इस बात का बड़ा महत्त्व है कि हम अपने किस आचरण का प्रदर्शन करना है और किसको छिपाना है। शिष्टता और अशिष्टता अथवा नैतिकता और अनैतिकता के भय से हम कुछ व्यापार प्रत्यक्ष करते हैं और कुछ को छिपाए हुए। ईमानदारी, सत्यता, आज्ञा पालन आदि गुणों की प्रशंसा मिलने के कारण हम उनके विपरीत आचरण को सप्रयत्न छिपा लेते हैं। हमारी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। कारण कुछ को समाज विरोधी अथवा अनिष्ट होने के कारण हमें दबाना पड़ता है। इच्छाओं के घोर दमन से मानसिक असामंजस्य उत्पन्न होता है फिर भी हम अनेक प्रबल इच्छाओं को स्थायी रूप से दबाए रखना पड़ता है। कई बार हम विशिष्ट इच्छाओं का स्थानापन्न ढूँढ़ लेते हैं। यह तब जब हमारी इच्छाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उनका दमन सम्भव नहीं हो पाता। नियन्त्रण का पंजा जहाँ ढीला हुआ कि हमारी दबी इच्छा ने नया रूप धारण कर लिया। फ्रायड तथा उसके अनुयायी मनोविश्लेषक यह मानते हैं कि हमारे अवांछित या असाधारण सामाजिक भीड़ व्यवहार की व्याख्या भी इसी सिद्धान्त के आधार पर की जाती है।

हमारे आत्म का विकास एक दूसरी प्रक्रिया से भी होता है जिसे प्रक्षेपण (projection) कहते हैं। इसमें हम अपनी कमजोरियों या गलतियों को दूसरे पर थोपते हैं। जैसे यदि हम किसी किवाड़ या कुर्सी से टकरा गए तो अपनी लापरवाही नहीं स्वीकार करते वरन् किवाड़ या कुर्सी पर क्रोधित होकर उसे ठोकर देते हैं। अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा अधीन कर्मचारियों पर इसी प्रकार की जिम्मेदारी थोपते हैं। कोई काम बिगड़ जाए उसमें हमारा हाथ नहीं है और है भी तो बहुत कम।

युक्तिकरण (rationalization) में हमारा आत्म-सम्मान बना रहता है। हम अपनी इच्छाओं और कार्यों को हर प्रकार से उचित ठहराने का तर्क प्रस्तुत करते हैं जब दूसरे उन्हें निन्दा या अनादर से देखते हैं। यदि कोई विद्यार्थी अपने साथी को थप्पड़ मार बैठता है तो उस घटना से बचने के लिए बहाना तैयार करता है। वह यह भी कह सकता है कि वह लड़का अध्यापक की निन्दा या उसकी गलतियों में छेड़छाड़ करता था।

कुछ व्यक्तियों में स्थायी रूप में हीनता का भाव (inferiority complex) या श्रेष्ठता भाव (superiority complex) आ जाता है। हीनता भाव का

---

1 Ralph Linton, *The Cultural Background of Personality*, p. 77

कारण व्यक्ति की शारीरिक विकृति, अंग भंग अथवा मानसिक अभाव हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति सुसंस्कृत लोगों के बीच शिष्ट व्यवहार न कर पाए तो भी उसमें हीन भाव आ जाता है। स्त्रियों में बाँझपन, विधवापन या परित्यक्तता हीनता भाव भर सकते हैं। इसी प्रकार यदि किसी सुंदर लड़के को लड़कियाँ ताकती नहीं अथवा किसी सुंदरी की प्रशंसा कई तरुण नहीं करते तो उसमें हीनता भाव आ सकता है। कहने का आशय यह है कि व्यक्ति में हीन भाव भी दूसरों की उसके प्रति मनोवृत्तियों से जन्मता है। इसी प्रकार, श्रेष्ठता भाव की उत्पत्ति सामाजिक अनुभव से होती है।

अंतिम, व्यक्ति में बड़ों की आज्ञा-पालन की प्रवृत्ति साधारणतया आती ही है किन्तु कई बार व्यक्ति अति नियन्त्रण या सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी कर बैठता है। इसका कारण व्यक्ति के विकासशील 'अहं' और माँ-बाप, मालिक या अध्यापक की ओर से कठोर नियन्त्रण या सत्ता प्रयोग के बीच संघर्ष है।

इस तरह सामूहिक अनुभव का फल आत्म मनोवृत्तियाँ होती हैं। व्यक्ति में श्रेष्ठता अथवा हीनता का भाव, आज्ञाकारिता अथवा अधीनता स्वाधिकारिता अथवा परोपकारिता उसके उस अनुभव का फल होते हैं जो दूसरे लोगों के साथ होता है। विभिन्न समूहों में व्यक्ति जो भूमिकाएँ अदा करता है उसका व्यक्तित्व उन्हीं की अभिव्यक्ति है। किन्तु यहाँ पर सामूहिक अनुभव और व्यक्तित्व के लक्षणों के सम्बन्ध पर एक चेतावनी देने की जरूरत है। यह सोचना ठीक नहीं है कि अमुक सामाजिक व्यवहार व्यक्ति में अमुक व्यक्तित्व-लक्षण अवश्य पैदा कर देगा। सामूहिक व्यवहार के प्रतिफल को संस्कृति संशोधित कर सकती है।

संस्कृति और व्यक्तित्व

मनुष्य समाज में रहता है जिसके विभिन्न समूह संस्कृति के वाहक (bearers) होते हैं। समूह की मनोवृत्तियाँ ही सांस्कृतिक मनोवृत्तियाँ हैं। बाह्य संसार का हमारे लिए क्या अर्थ है संस्कृति ही निश्चित करती है। इसी अर्थ का समावेश हमारे व्यक्तित्व में हो जाता है। व्यक्ति के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू एक दूसरे से पृथक नहीं हैं, वे तो एक दूसरे के पूरक (supplementary) हैं। व्यक्तित्व में संस्कृति का जितना भी संयोग (absorption) होता है वह समूह में सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह से ही होता है। किन्तु व्यक्तित्व को संस्कृति का चेतना सम्बन्धी पहलू (subjective aspect) मात्र समझना भ्रमोत्पादक है। कभी न ऐसा मानकर व्यक्तित्व और संस्कृति के सही सम्बन्ध को समझने में भूल की है।

मानव शिशु जन्म के समय जैविक और मनोवैज्ञानिक सज्जा से युक्त एक कच्ची सामग्री होता है जिसे किसी भी दिशा या प्रयोजन के अनुसार मोड़ा जा सकता है। मानव शिशु की अत्यधिक नमनीयता (elasticity) संस्कृति के लिए स्वतन्त्र क्षेत्र छोड़ देती है। संस्कृति उसे किसी दिशा में मोड़ सकती है, उसकी उन्नति इसी

पर निर्भर है। शिशु के समाजीकरण का प्रारम्भ उसके परिवार में प्रारम्भ होता है। उसके व्यवहार को निर्देशित करने के लिए कुछ सांस्कृतिक प्रतिमान होते हैं जिन्हें आदर्श (norms) माना जाता है। मनुष्यों के व्यवहारों में सारी विभिन्नता का कारण सांस्कृतिक विभिन्नता है।[1] हर संस्कृति केवल कुछ प्रतिमानों और उपकरणों को चुनकर उन पर बल देती है और उन्हें ही अपनाने के लिए प्रशंसा और निन्दा आदि के द्वारा व्यक्तियों को उकसाया जाता है। उन्हें स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को प्रतिष्ठा (prestige) और अनुमोदन (approbation) मिलता है किन्तु मनुष्य इन प्रतिमानों का चुनाव सचेत और विचारयुक्त होकर नहीं कर पाता है। वह धीरे धीरे सहज रूप से उन्हें अपनाता जाता है और अपनी दूसरी पीढ़ियों को हस्तान्तरित करता है।

यद्यपि हर समाज के अधिकांश सदस्य सांस्कृतिक प्रतिमानों या आदर्शों का अनुगमन करते हैं फिर भी कुछ लोग उनके प्रतिकूल आचरण भी करते हैं। अनुगमन कर्ताओं (conformists) को अनेक सामाजिक लाभ प्राप्त होते हैं। आदर्शों के विपरीत आचरण करने वालों (non-conformists) को अनेक दण्ड और खतरों का सामना करना पड़ता है। समाज की प्रथाओं जनरीतियों परम्पराओं आचार संहिताओं तथा कानूनों का उल्लंघन या अनादर व्यक्ति को सामाजिक निन्दा एवं दण्ड का पात्र बनाता है। आदर्श विहीन आचरण का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर हम आगे देंगे।

प्रत्येक व्यक्ति आनन्द बढ़ाना और कष्ट घटाना चाहता है। हम शैशवावस्था से ही दूसरे लोगों (माता पिता भाई आदि) की अपेक्षाओं के अनुकूल अनुक्रिया (response) करने लगते हैं क्योंकि इससे हमारा आनन्द बढ़ता है। बच्चे को धीरे धीरे अपनी संस्कृति का ज्ञान होने लगता है। उसके संघात (impact) से उसके व्यक्तित्व को नया रूप मिलता है। किन्तु व्यक्ति सांस्कृतिक प्रभावों को केवल निष्क्रिय (passive) होकर प्राप्त नहीं करता है। न एक प्रकार के सांस्कृतिक प्रभावों का सभी सदस्यों के व्यक्तित्व पर समान प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव (temperament) बुद्धि और शारीरिक विशेषताएँ दूसरे से भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों की अन्य जन्मजात विशेषताओं (genic characters) में भी भेद होता है। इन भेदों के कारण एक मनुष्य के व्यक्तित्व में सांस्कृतिक प्रतिमानों का जैसा एकीकरण होता है ठीक वैसा ही दूसरे मनुष्य के व्यक्तित्व में नहीं हो पाता है।

संस्कृति के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रभाव पड़ने का दूसरा कारण भी है। मनुष्य के लिए संस्कृति का अर्थ निर्णय करने वाले सामूहिक संस्थाएँ (group

1 Ruth Benedict: *Patterns of Culture* Boston (1934) p. 237. This book includes an interesting discussion on the relation of cultural variability and personality.

pressures) में भी असमानता होती है। परिवार का ही लीजिए। जीवन की दैनिक क्रियाओं से लेकर ईश्वर में आस्था तक सभी बातों से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमानों का अर्थनिर्णय हर परिवार में निराले ढंग से होता है। तीसरा कारण देखिए। विभिन्न उपसंस्कृतियों के अन्तर्गत प्रतिमानों में बड़ा अन्तर होता है और एक विशिष्ट उपसंस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव दूसरी उपसंस्कृतियों के प्रभाव की अपेक्षा विचित्र होता है।

इस प्रकार जैविक और सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों के मेल से हम में से प्रत्येक का एक निराला व्यक्तित्व विकसित होता है। किन्हीं दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व एक से नहीं हो सकते। संस्कृति और व्यक्तित्व के व्यापक और जटिल सम्बन्ध के समझे बगैर संसार के व्यक्तियों की अनन्त विविधता का अनुमान करना असम्भव है।

संस्कृति और आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार—प्रत्येक समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व में कई ऐसी समरूपताएं (समान तत्व) होती हैं जिनसे उन्हें दूसरे समाज के सदस्यों से पृथक पहचाना जा सकता है। व्यक्तित्व के इन तत्वों को सामुदायिक निर्धारक कहा गया है। इन तत्वों में महत्व और जटिलता की दृष्टि से शिक्षा, शिष्टाचार (etiquette) आदि से लेकर समाज और विश्व के प्रति मनोवृत्तियों का समावेश होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में जिन तत्वों का समावेश होता है वे उसके लालन पालन शिक्षा दीक्षा और तत्पश्चात् भविष्य जीवन की अगणित परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं। एक विशिष्ट समाज के साधारण सदस्यों के व्यक्तित्व में इन तत्वों के एक निराले संगठन (configuration) को राल्फ लिंटन (Linton) ने उस समाज का आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार (basic personality type) कहा है।[1] यह प्रकार एक कठोर आदर्श नहीं है वरन् आस्था और व्यवहार का वह साधारण प्रतिमान है जिसके प्रति एक विशिष्ट समाज के सभी सदस्यों में आकृष्ट होने की प्रवृत्ति होती है। यह बात भारत और अमरीका अथवा किसी अन्य देश के साधारण व्यक्तियों की तुलना करने से सरलता से ज्ञात हो सकती है। एक समाज में अन्तर्गत जातियों-वर्गों पेशा-व्यवसायों, और भूमिकाओं आदि की भिन्नता के बावजूद भी उसके सभी सदस्यों पर प्रारम्भिक जीवन में कुछ विशेष प्रकार के (typical) निर्माणकारी प्रभाव (formative influences) पड़ते हैं जिनका अनुभव और ग्रहण समस्त सदस्यों के व्यक्तित्व के केन्द्र (core) में समानता पैदा कर देता है। संस्कृति जिन मूल्यों और आदर्शों को महत्त्वपूर्ण मानती है उन्हें ही बच्चों को ग्रहण कराती है। एक समाज के बच्चों का व्यक्तित्व जहाँ बड़ों का आदर और आज्ञापालन करना अनिवार्यतः सिखाया जाता है दूसरे समाज के बच्चों के व्यक्तित्व से बहुत भिन्न होगा जहाँ बच्चों को स्वेच्छानुसार कार्य करने और

1 Ralph Linton: *The Cultural Background of Personality* New York (1945) pp 129 ff

स्वतन्त्र विकास का अवसर मिलता है। मोटे तौर पर एक देश या संस्कृति के लोगों के व्यक्तित्व की कुछ मूलभूत समरूपताएँ अवश्य होती हैं जिनके आधार पर हम सदस्यों के आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार का अनुमान कर सकते हैं। किन्तु इन आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार से व्यक्तियों की अनन्त विभिन्नता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सामाजिक मूल्यों के प्रति मनुष्य की जो मनोवृत्ति होती है वह सामाजिक जीवन में भाग लेने से ही विकसित होता है। प्रत्येक सामाजिक मूल्य का व्यक्तिगत साध्य ही व्यक्तित्व में समा पाता है किन्तु फिर भी मनुष्य साधारण सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर पाता है क्योंकि उनका पालन करना वह बचपन से सीखता रहा है।

व्यक्तित्व में सामाजिक मूल्य तभी समाविष्ट हो पाते हैं जब वे उनके प्रति आकर्षक हैं अर्थात् वह उनके पक्ष या विपक्ष में है और जब उनके सबल और जाग्रत रहना दीर्घकाल तक स्थायी रहते हैं। व्यक्तित्व में जिन सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है वे तीन रूपों से सम्बद्ध होते हैं अमूर्त भावनाएँ (abstract sentiments) नैतिक मानदण्ड (moral norms) और आत्म विचार (self conception)। यद्यपि आत्म विचार पर अमूर्त भावनाओं की अपेक्षा नैतिक मानदण्ड अधिक प्रभावशाली प्रभाव डालते हैं फिर भी नैतिक मानदण्ड और अमूर्त भावनाएँ तभी प्रेरित (motivate) होती हैं जब वे आत्म विचार के आधार स्तर (sub stratum) में परिणत हो जाते हैं। आत्म विचार प्रेरणा (motivation) का केन्द्र बिन्दु हो जाता है।

व्यक्तित्व आत्म विचार के आधार पर ही एक गत्यात्मक एकता है। मूल्य और लक्षण कभी ऊपर आते हैं और कभी पीछे चले जाते हैं क्योंकि विभिन्न स्थितियों में आत्म विचार को कम या अधिक करने की जरूरत पड़ती है। मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व जो एक गत्यात्मक एकता है को लक्षणों और मूल्यों का योग नहीं कहा जा सकता है। गत्यात्मक एकता होने के कारण इसमें एक सृजनात्मक सम्भावित शक्ति (creative potential) है जिसकी व्याख्या अभी तक कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं कर पाया है।[1]

प्रत्येक व्यक्तित्व की बाह्य और आन्तरिक स्थिरता बनाए रखने के लिए मनुष्य निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। किन्तु ऐसी पूर्ण स्थिरता कभी नहीं आ पाता

---

1 व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए मनोविज्ञान में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। व्यक्तित्व को आन्तरिक की अभिव्यक्ति मानने वाली प्रेरक मनोविज्ञान (drive psychology) कहलाती है और व्यक्तित्व को बाह्य उत्तेजना का परिणाम मानने वाली उत्तेजक अनुक्रिया मनोविज्ञान (stimulus response psychology) कहलाती है।

है। जिस व्यक्तित्व म अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता होती है वह पराजयरत अनुभवो (frustrating experiences) का प्रतिरोध कर सकता है। इस प्रकार के व्यक्ति स आत्म विचार सन्तुष्ट रहता है। उसके लक्ष्या एव भूमिकाओं का अन्य लक्ष्या एव भूमिकाओ स विरोध नही आता है। परिवतन म भी स्थिर व्यक्तित्व के आत्म विचार लक्ष्य और भूमिकाए सरल और निरन्तर परिवर्तित होता हैं। किसी भी समय पर इसकी आकाक्षाओ और उपलब्धिया म बहुत अधिक अन्तर नही प्रकट होता है।

व्यक्तित्व की स्थिरता अथवा सयम सस्कृति पर निभर होते है। यदि सस्कृति म अधिक विरोध और अस्थिरता है तो व्यक्तित्व की स्थिरता भी कम हो जायगी। व्यक्तित्व म जो भी अपसमायोजन दिखेगा वह सस्कृति का प्रतिबिम्ब होगा। अपेक्षाकृत सगठित सस्कृति म व्यक्तित्व का विगठन बहुत कम होता है।

व्यक्तित्व म परिवतनो का कारण सामाजिक सास्कृतिक परिवतन है परन्तु सस्कृति और समाज म परिवतन व्यक्तित्व के परिवतन से होते हैं। व्यक्ति सदैव सक्रिय रहता है। वह समाज और सस्कृति के परिष्कार और सवद्धन के लिए प्रयत्नशील रहता है। इमसे स्पष्ट है कि व्यक्ति और सस्कृति म अन्त निभरता है।

असाधारण और विगठित व्यक्तित्व

यदि किसी व्यक्ति क व्यवहार का लगातार समाज के स्वीकृत मानदण्डो म *समन्वय रहता है तो उसके व्यक्तित्व को साधारण (normal) कहा जाता है।* इसके विपरीत जब किसी व्यक्ति का व्यवहार इन मानदण्डो स तीव्र और निरन्तर रूप म विचलित (deviate) रहता है तो उसके व्यक्तित्व को असाधारण (abnormal) कहा जाता है। प्रत्येक समाज म साधारण व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि इन्हा सब लक्षणो को दूसरे समाज म साधारण-व्यक्तित्व का द्योतक माना जाए। एक समाज म जिन व्यवहारो को साधारण कहा जाता है उन्ही को दूसरे म असाधारण माना जा सकता है। इसी तरह, *साधारण व्यवहार की परिभाषा सनातन सत्य नही है।* आज जिस व्यवहार को सामान्य कहा जाए उस ही कुछ वर्षों क बाद असाधारण माना जा सकता है। मानव समुदाय अपने सदस्यो के व्यवहार के लिए मानदण्डो को निश्चित करते हैं जो कुछ स्वीकृत मूल्यो के अनुसार बनते हैं। साधारण व्यक्तित्व इन मूल्या का प्रतिबिम्ब होता है। अतएव साधारण अथवा असाधारण व्यक्तित्व की परिभाषा सस्कृति के प्रसग म ही की जा सकती है। प्रस्थिति और भूमिका की धारणाए इस दृष्टिकोण को समझने म साकेतिक अथनिरूपण (suggestive interpretation) प्रदान कर सकती हैं। *एक साधारण व्यक्तित्व वह है जो अपनी सस्कृति से स्वीकृत* या अनुमानित भूमिकाओ को सफलता म अभिनीत करता है और जो अपनी प्रस्थिति

से अवगत रहता है। जिसका अर्थ यह है कि वह प्रस्तुत अथवा उपलब्ध स्थितियों के उपयुक्त व्यवहार करता रहता है।

भारत में हम ऐसे व्यक्ति को असाधारण व्यक्तित्व का कहेंगे जो यहाँ की संस्कृति में स्वीकृत मूल्यों के प्रतिकूल लगातार आचरण करता है। यदि कोई तरुण विद्यार्थी कालेज में भी निष्क्रिय रहे, घर से बाहर न निकले, अपने सहपाठियों तथा अन्य लोगों से मिलने या बातचीत करने में लजाए, यौवन की जिम्मेदारियों से भाग तो उसके व्यक्तित्व को असाधारण कहा जाएगा। अथवा कोई नवयुवक सभी औ लोगों की अवज्ञा कर बात-बात में दूसरों से लड़े झगड़े, पढ़ाई का काम छोड़कर घर पर काल्पनिक लोक की हवा खाए और यदि विवाहित हो तो पति-कर्तव्य से मुँह मोड़ या घर-बार छोड़कर संन्यासी बनने की धुन में तीर्थाटन को निकल पड़े तो उसका व्यक्ति भी असाधारण कहा जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के साधारण क्रियाकलाप से जो विचलित होकर सनकी और विक्षिप्त जैसे व्यवहार कर उसे असाधारण कहना चाहिए। यह स्थिति वह है जिसमें व्यक्ति सामाजिक जीवन से लगातार चेतनायुक्त और घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रख पाता। वास्तव में यह व्यक्ति के साधारण अथवा असाधारण होने की माप उन अंशों से की जा सकती है जिनमें एक व्यक्ति अपने समूह के जीवन से सम्पर्क और समायोजन करने में सफल है। संस्कृति द्वारा स्वीकृत मूल्यों अथवा मानदण्डों के विरुद्ध निरंतर आचरण ही असाधारणता (abnormality) है।

व्यक्तित्व को साधारण अथवा असाधारण बनाने में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानसिक या शारीरिक विकृति अथवा निर्योग्यता (disability) होने पर व्यक्ति सामूहिक जीवन में घनिष्ठ और प्रभावपूर्ण भाग नहीं ले सकता। वह आलोचना, निन्दा, व्यंग्य अथवा उपेक्षा होने के भय से समूह से एकान्तता (isolation) प्राप्त करता है। इसी से उसके व्यक्तित्व में असंतुलन अथवा कुसमायोजन आ जाता है। परन्तु व्यक्तित्व के असंतुलन (imbalance) के लिए केवल व्यक्ति ही जिम्मेदार नहीं होता है। वह इस स्थिति से बचना चाहता है और इसके लिए भरसक कोशिश करता है किन्तु समूह या संस्कृति उसे ऐसी स्थितियों में डाल देते हैं जिनमें व्यक्तित्व का विकार प्रकट है।

असाधारण व्यक्तित्व तथा विघटित व्यक्तित्व सदा एक ही बात नहीं है अपराधी के साथ, शराबी तथा अन्य विचित्र और समाज विरोधी व्यवहार करने वाले असाधारण कहे जाते हैं। उनका व्यक्तित्व विघटित नहीं हुआ है क्योंकि वे अपने समूह में अपनी साधारण भूमिका का सम्पादन और करने में सफल भी समय हैं यदि उन्हें उपयुक्त अवसर मिले। अपने असाधारण व्यवहार के अलावा शेष बातों में अन्य सभी अवसरों पर वे साधारण मनुष्य-सा व्यवहार करते हैं। अपराधी अपने घर में माँ-बाप पत्नी और बच्चों को प्रेम और प्यार करता है परिवार के भरण-पोषण के लिए श्रम

आवश्यक कर्त्तव्य करता है, और साधारणतया समाजानुमोदित आचरण करता है। वह केवल कुछ मामलों में अपने समूह के प्रतिकूल व्यवहार करता है। किन्तु जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व विगठित हो जाता है वह साधारण अवस्थाओं में भी न तो समूह अथवा संस्कृति की अपेक्षाओं को समझ ही सकता है और न उनके अनुकूल उसमें आचरण करने की क्षमता होती है। उसका मानसिक विकास कम अथवा अवांछित दिशा में होता है। उसमें अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित साधारण भूमिका को पूरा करने की मानसिक या शारीरिक क्षमता ही नहीं रहती। मन्दबुद्धिता, पागलपन, मानसिक दुरवस्था, उन्माद आदि व्यक्तित्व के विगठित रूप हैं। व्यक्तित्व विगठन के कारणों में जैविक कारक तो महत्वपूर्ण हैं ही, सामाजिक सांस्कृतिक कारणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।[1]

सामाजीकरण के सिद्धान्त[2]

(१) फ्रायड के विचार से व्यक्तित्व तीन केन्द्रीय तत्वों से मिलकर बना है (१) इद (id) (२) अहम् (ego) और (३) परा अहम् (super ego) अनेक मौलिक अचेतनताएँ (unconsciousness) की घटनाएँ इद को प्रकट करती हैं और परा अहम् पूर्वगामी नियन्त्रक (censor) के रूप में कार्यों में प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त फ्रायड के मत में मनुष्य का संवेगात्मक जीवन और मरण की सहज प्रवृत्तियों से भरपूर है। परिवार एक ऐसी संस्था है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। कामवासना जनित आवेग मनुष्य के बचपन में भी उसके व्यवहार के निर्धारण में महत्वपूर्ण होते हैं। बच्चा ज्यों-ज्यों कामुकता से स्वचालित मौखिक और गुद-कामुकता (anal eroticism) की अवस्थाओं की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में विजातीय-कामुकता की अवस्था में आ जाता है वैसे-वैसे प्रत्येक अवस्था में समरूप उसे सामाजिक उपलब्धियाँ प्राप्त होती जाती हैं। इस विकासक्रम में फ्रायड कामुकता की बाद वाली अवस्थाओं की अभिव्यक्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण मानता है। विकास की अवस्था में बच्चे की प्रकृति अपने विषमलिंगी जनक/जननी पर अपने प्रेम भावना को केन्द्रित करता है। इससे लड़के और लड़की में दो विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व प्रकार विकसित हो जाते हैं। फिर बच्चे का पूर्ण सामान्य विकास

---

1 For a detailed discussion on personality formation development and disorganisation readers may refer to the following books
 1 R S Woodworth *Phychology* Hindi Translation by Umapati Rai Chandel Upper India Publishing House Lucknow (1957) Chap IX
 2 Jones *Basic Sociological Principles* Chap IX
 3 Merrill & Eldredge *Culture and Society* Chaps IX & X
 4 V V Akolker *Social Psychology* Chap XI
 5 Ogburn & Nimkoff *A Hardbook of Sociology* Part III
 6 Green *Sociology* Chaps. VIII & IX
 7 K Young *A Handbook of Social Psychology* Chap III
2 Gillin & Gillin *Cultural Sociology*

तब हो जाता है जब वह अपने माता/पिता की ओर अभिमुख ध्यान हटा कर किसी अन्य व्यक्ति की ओर स्थानान्तरित कर पाता है। इस अन्तिम स्थानान्तरण में असफलता होने से व्यक्ति का व्यक्तित्व ठीक ढंग से विकसित नहीं हो पाता।

फ्रायड का यह सिद्धान्त अन्य अतर्कवादी आदर्शवादियों—शोपनहॉर, नीत्शे और परेटो—के सिद्धान्त से भिन्न है। शोपनहॉर और नीत्शे इच्छाशक्ति को मनुष्य के विकास का केन्द्र मानते थे। परेटो के विचार में मनुष्य के व्यवहार का विकास संयोगों के अवशिष्टों (residues of combinations) और समुच्चयों की स्थिरता (persistence of aggregates) के आधार पर होता है। फ्रायड ने यौन प्रवृत्ति को विशेषकर महत्त्वपूर्ण माना है। स्पष्ट है कि फ्रायड ने यह व्याख्या समाज के एक सिद्धान्त के विकास करने की दिशा में दी किन्तु यह सिद्धान्त अधूरा रहा और व्याख्या भी अपर्याप्त। व्यक्ति के समाजीकरण की व्याख्या फ्रायड के उपरोक्त विचारों के आधार पर नहीं की जा सकती है।

(२) चार्ल्स कूले के विचार से समाज एक मानसिक घटना है यह व्यक्तिगत विचारों में एक सम्बन्ध मात्र है। कूले की आत्म (self) की धारणा जेम्स की सामाजिक आत्म (social self) की धारणा से बहुत मिलती जुलती है। हमारे मस्तिष्क में दूसरे व्यक्तियों के व्यक्तित्वों की धारणा केवल विचारों का एक व्यवस्थित अथवा समूह सा है जिसका प्रयोग हम उनके लिए प्रतीक रूप में करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं का आत्म उसके कुछ विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। 'मैं', 'मेरा', 'मुझको' और 'स्वयं' मैं आदि शब्दों के प्रयोग में जिन विचारों का सम्बन्ध है वास्तव में सामाजिक आत्म की यही मूलभित्ति है। मनुष्य के आत्म में विशेषकर उन्हीं वस्तुओं का समावेश होता है जिन्हें वह अपने से सम्बन्धित समझता है अथवा अपना मानता है। एक सहजरूप से विकसित आत्म भावना से ही आत्म का मूलाधार बनता है। कल्पना और भाषा, जो सहज आत्म भावना पर आश्रित हैं सामाजिक आत्म का निर्माण करती है। कूले ने सामाजिक आत्म की धारणा के स्थान पर दर्पण आत्म (looking glass self) की प्रसिद्ध धारणा का प्रयोग किया था। इस धारणा का अर्थ है कि आत्म के बारे में दूसरे लोगों की जो रायें होती हैं उनके प्रतिबिम्बों पर आधार से व्यक्ति में एक सामाजिक आत्म की धारणा का विकास होता है। इस प्रकार के आत्म विचार के तीन प्रधान तत्त्व होते हैं — दूसरा व्यक्ति हमारे रूप के प्रति जो कल्पना करे, उस रूप के प्रति उसके निर्णय की कल्पना तथा किसी प्रकार की आत्म भावना जैसे गर्व अथवा ग्लानि। सामाजिक आत्म की धारणा का विकास व्यक्ति में धीरे धीरे होता जाता है और प्राथमिक समूहों जैसे परिवार, पड़ोस, क्रीड़ा समूह और अन्य अनौपचारिक आमने-सामने के समूहों में व्यक्ति को सामाजिक एकता के विचार प्रारम्भिक और आधारभूत अनुभव होते हैं। इन अनुभवों को व्यक्ति के उन भावों का सार कहा जा सकता है जो स्वयं समूह की सम्पूर्ण एकता की धारणा

से निसृत होते हैं। व्यक्ति यही समूह के हितों के अधीन अपने हितों को करना सीखता है और इस प्रकार उसकी वैयक्तिक अहमन्यता और लालच दब जाते हैं। उसकी नैतिकता के आदर्श की व्याख्या स्वामिभक्ति कानून की आज्ञाकारिता और स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों से की जा सकती है। ऐसे ही आदर्शों से व्यक्ति में सामूहिक एकता के अनुरूप आचरण करने की आदत पड़ती जाती है। सामाजिक संगठन व्यक्तियों के विचारों और एकता की एक संरचना है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कूले विचारों और आदर्शों को ही समाज का ठोस तथ्य मानता है। अतः उसने सामाजीकरण की जो व्याख्या की है वह सामाजिक व्यवहारवाद के सिद्धान्त का फल है।

(३) जार्ज हर्बर्ट मीड के विचार से मनुष्य के सामाजिक अनुभव की जो विमर्शक विशेषता है वह भाषा के प्रयोग का परिणाम है। मनुष्य के सामाजिक अनुभव में विमर्शक गुण (reflective property) के होने पर ही उसके आत्म का विकास निर्भर है। आत्म को उत्पन्न करने वाली अन्तर्निहित प्रक्रिया मनुष्य की उस क्षमता में है जिससे वह विभिन्न भूमिकाएं अदा करने की (role taking) सोच सकता है। हम दूसरे के अनुभव की कल्पना करके ही किसी निश्चित प्रतीक को सीख पाते हैं। मनुष्य अपने दैनिक जीवन व्यापार में जितने लोगों से मिलता है उतने ही आत्मों की कल्पना करके वह अपने आत्म का विकास करता है। वास्तव में दूसरों से विचारों और व्यवहार के आदान प्रदान में उसे विभिन्न भूमिकाएं अदा करने का अनुभव होता रहता है जिससे उसके व्यक्तित्व में अनुभव की अनेक विविधताएँ समा जाती हैं। व्यक्ति जिस समुदाय में रहता है उसके अनुरूप एक एकीकृत (अथवा संयुक्त) आत्म का विकास साधारणतया कर लेता है किन्तु जब उसे समाज की भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तो उसका आत्म टूट सकता है और परिणामतः व्यक्तित्व भी।

मनुष्य के सामाजिक अनुभव की एक प्रकार की एकता आत्म की उत्पत्ति है और भूमिकाएं निभाने की क्रिया उसकी आधारभूत प्रक्रिया है। प्रारम्भ में बच्चा शनैः शनैः में माता पिता भाई राजा पुलिस आदि की विभिन्न भूमिकाएं अदा करने का जो प्रयास करता है उससे वह सामाजिक पर्यावरण की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने व्यक्तित्व का विकास करता जाता है। इस प्रक्रिया में दूसरों के रुखों को वह अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट करता रहता है। व्यक्ति का अपने आत्म की रचना जिस संगठित समूह अथवा समुदाय से प्राप्त होती है उसे मीड सामान्यीकृत अन्य (the generalized other) की संज्ञा देता है। सामान्यीकृत अन्य की मनोवृत्ति (attitude) सम्पूर्ण समुदाय की मनोवृत्ति है। इसी सामान्यीकृत अन्य के माध्यम से व्यक्तिगत सदस्यों के आचरण पर समुदाय नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार मीड के विचार से आत्म के विकास की दो अवस्थाएं हैं (१) स्वयं के आत्म के प्रति

दूसरे व्यक्तियों के विशिष्ट रूपों का संगठन और (२) स्वयं के आत्म के प्रति सामान्यीकृत अन्य के सामाजिक रूपों का संगठन। आत्म का पूर्ण विकास व्यक्तिगत रूपों के संगठन और उनके सामान्यीकरण में होता है तथा यह तब होता है जब सामूहिक व्यवहार के सामान्य व्यवस्थित सामाजिक प्रतिमान, जिसमें दूसरे लोग सम्मिलित हैं, एक व्यक्तिगत विषय बनने में सफलता मिल जाती है। संक्षेप में संगठित आत्म का विकास सामान्यीकृत सामाजिक रूपों के आधार पर ही सम्भव है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया में सुधार[1]

किंग्सले डेविस के विचार में समाजीकरण को समझने के लिए उसके निम्नांकित तीन पहलुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है—

(१) व्यक्तित्व के दूसरे निर्धारकों तथा सामाजीकरण का सम्बन्ध,

(२) आत्म का विकास और

(३) सामाजीकरण के अभिकरण

सामाजीकरण प्रक्रिया के उपरोक्त तीनों पहलुओं की व्याख्या पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। हाँ, आधुनिक औद्योगीकृत समाजों में सामाजीकरण की प्रक्रिया बड़ी जटिल हो गई है। शैशव और युवावस्था की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित सामाजीकरण की कई आधारभूत समस्याएँ आधुनिक समाजों में समाधान चाहती हैं। इतना विकास और प्रगति होने के बाद भी यह कहना कठिन है कि संसार का कोई भी समाज अपने सदस्यों की क्षमताओं का पूर्ण उपयोग कर पा रहा है। सामाजीकरण की वर्तमान प्रक्रिया में बहुत संशोधन की गुंजायश है। ऐसा करने पर भविष्य में मनुष्य के स्वभाव और समाज को परिवर्तित करने की महान सम्भावनाएँ उपस्थित हो जायेंगी।

1 Kingsley Davis *Human Society*

२९

सामाजिक अन्त क्रिया

समाज मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था सदैव स्थिर नही रहती है। यह तो गत्यात्मक है इसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। समाज की इस गत्यात्मक प्रकृति (dynamic nature) को समझने के लिए सामाजिक सम्बन्धो के निर्माण की प्रक्रियाओ तथा उनमे होने वाले परिवर्तनो की प्रकृति कारको तथा परिणामो का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। अतएव इस खण्ड मे सामाजिक अन्त क्रिया के रूपो, सामाजिक परिवर्तन सामाजिक विकास, सभ्यता और सामाजिक प्रगति का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन मे सामाजिक अन्त क्रिया के रूपो—सामाजिक प्रक्रियाओ—का विश्लेषण का समावेश है। समाजशास्त्रियो का रूपकीय सम्प्रदाय (formal school) समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सामाजिक प्रक्रियाओ मात्र का विवेचन सब कुछ समझता था। परन्तु हम आरम्भ मे ही इस दृष्टिकोण को अपर्याप्त मान चुके है।

सामाजिक अन्त क्रियाओ का अर्थ

मनुष्य समाज मे रहता है। उसे दूसरे मनुष्यो से सम्पर्क स्थापित करना पडता है। केवल शारीरिक निकटता को सम्पर्क नही कहते हैं। दो या अधिक सामाजिक मनुष्यो मे सम्पर्क स्थापित होने का अर्थ है कि उनमे मानसिक सम्पर्क स्थापित हुआ है। तब वे एक दूसरे की उपस्थिति से प्रभावित होते हैं। उसके व्यवहार मे न्यूनाधिक परिवर्तन भी स्वाभाविक हो जाता है अथवा उनमे परस्पर अर्थपूर्ण प्रतिक्रिया (meaningful response) होती है जिसका माध्यम उनके बीच मे होने वाला सचार (communication) है। सामाजिक व्यक्तियो के बीच यही अर्थपूर्ण सम्पर्क (meaningful contact) उनके सामाजिक सम्बन्धो को जन्म देता है। प्रत्येक व्यक्ति के जितने भी सामाजिक सम्बन्ध होते हैं उन सबका आधार

सामाजिक अन्तःक्रिया (social interaction) है। दूसरे शब्दों में सामाजिक व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क और संचार से जो अन्तःक्रिया होती है उसे सामाजिक अन्तःक्रिया कहा जाता है। सामाजिक या मानवीय अन्तःक्रिया वस्तुतः संचारात्मक अन्तःक्रिया (communicative interaction) होती है।

जब कभी एक ही समूह के सदस्यों अथवा दो या अधिक समूहों के सदस्यों में कोई सम्पर्क होता है उनमें किसी न किसी ढंग की अन्तःक्रिया आवश्यक हो जाती है। एक दूसरे को नमस्कार कर कुशल मंगल पूछना, अन्य कोई बात करना अथवा किसी काम में सहयोग, प्रतिस्पर्धा या संघर्ष करना आदि अगणित ढंगों से मनुष्यों में सम्पर्क स्थापित होता है। इसी सम्पर्क से उनमें अनेक प्रकार के सम्बन्ध बन जाते हैं जिन्हें वे संस्कृति के माध्यम से चलाते रहते हैं। सामाजिक सम्बन्धों के सम्पूर्ण विस्तार को सामाजिक अन्तःक्रिया कहते हैं। मनुष्यों के बीच अन्तःउत्तेजना और अनुक्रिया से उन पर जो पारस्परिक प्रभाव पड़ते हैं उन्हें सामाजिक अन्तःक्रिया कहा जाता है।[1]

परिभाषाएँ

ग्रीन ने लिखा है कि समस्याओं के समाधान या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर जो पारस्परिक प्रभाव डालते हैं उन्हें सामाजिक अन्तःक्रिया कहा जाता है।

गिलिन और गिलिन के अनुसार सामाजिक अन्तःक्रिया से तात्पर्य उन सभी प्रकार के गत्यात्मक सामाजिक सम्बन्धों से है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच में हों या समूह और समूह अथवा व्यक्ति और समूह के बीच में।[2] ये कहते हैं कि किसी भी प्रकार की सामाजिक क्रिया के लिए अन्तःक्रिया एक आवश्यक पूर्वदशा है। अतएव सामाजिक अन्तःक्रिया सामाजिक प्रक्रिया का सबसे अधिक साधारण प्रकार है। पार्क और बर्गेस ने भी सामाजिक अन्तःक्रिया की ऐसी ही परिभाषा दी है। एल्ड्रिज और मेरिल द्वारा दी गई परिभाषा भी मूलतः समान है। वे लिखते हैं कि सामाजिक अन्तःक्रिया वह साधारण प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्तियों में अर्थपूर्ण सम्पर्क स्थापित होता है जिसके परिणामस्वरूप उनके व्यवहार में चाहे कितना ही थोड़ा हो संशोधन आ जाता है।[3]

---

1 By social interaction is meant the mutual influence that individuals and groups have upon one another in their attempts to solve problems and in their striving toward goals. A. W. Green: *Sociology* (1957), p. 49.

2 By social interaction we refer to social relations of all sorts in function—dynamic social relations of all kinds—whether such relations exist between individual and individual, between group and group, or between group and individual, as the case may be. *Cultural Sociology* (1948), p. 459.

3 Social interaction is thus the general process whereby two or more persons are in meaningful contact, as a result of which their behaviour is modified, however slightly. *Culture and Society* (1955), p. 48.

उपरोक्त परिभाषाग्रो स यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक ग्र त क्रिया स तात्पय व्यक्तियो या समूहा के कायशील सामाजिक सम्ब घो से है। मानव ग्र त क्रिया प्रारम्भ हात ही कर्त्ताग्रो के व्यवहार म कुछ न कुछ सशोधन हो जाता है। समाज म व्यक्तिया क पारस्परिक सम्ब ध कुछ ग्रपेक्षताग्रो के ग्राधार पर होते हैं ग्रौर इन सम्पर्कों को नियमा तथा प्रतिमाना के स दभ म भी रखना पडता है। मनुष्य इन नियमा ग्रौर प्रतिमाना को समूह के दूसरे लागा स सीखता है ग्रौर तदनुरूप ग्रपन व्यवहार का बनान का यत्न करता है। सामाजिक ग्रन्त क्रिया म सामाजिक ग्रपेक्षताए एक महत्वपूण तत्व हैं।

समाज और सामाजिक ग्र त क्रिया

समाज की जडें सामाजिक ग्र त क्रिया म गडी हाती हैं। जब तक मनुष्य समाज के ग्र य मनुष्या से भौतिक ग्रथवा प्रतीकात्मक सामाजिक सम्ब ध बनाए रखता है। तब तक वह समाज का सदस्य बना रहता है। ज्योही इन सामाजिक सम्ब धा म काइ बिगाड ग्राया ग्रथवा हस्तक्षेप हुग्रा त्याही मनुष्य क सामाजिक सम्ब ध बिगड जात है। उसका समूह से सम्पक टूट जाता है। मानसिक व्याधि स पीडित लोगा का विवश हाकर समाज के क्रिया-कलापा म पर्याप्त सम्मिलन स वचित रहना पडता है। व उसस ग्राशिक रूप से या पूणत पृथक हो जाते हैं। इसस स्पष्ट हा गया है कि समाज का ग्रस्तित्व तभी सम्भव है जब बहुत बडी सख्या म लोगा म ग्र त क्रिया हाती रहती है। समाज का ज म सामाजिक ग्र त क्रिया स होता है क्याकि मनुष्या क बिना ग्र त क्रिया क सामाजिक सम्ब ध नही बन सकते ग्रौर समाज ता सामाजिक सम्ब धा की ही एक व्यवस्था है। पाक ग्रौर बर्गेस न इसीलिए कहा है कि समाज की सीमाग्रो का निश्चय सामाजिक ग्र त क्रिया की सीमाग्रो स होता है।[1] मनुष्या म ग्रगणित सामाजिक सम्ब ध स्थापित होत हैं जो सभी समाज द्वारा परिभाषित ग्रथवा स्वीकृत हात हैं। इन समस्त सम्ब धा की सूची बना कर उ हे व्यक्तिगत रूप से समझना ग्रसम्भव है। उनका वर्गीकरण करना भी कम ग्रसम्भव नही। इसलिए उ हे समझन क लिए सामाजिक ग्र त क्रिया के रूपा को—जि हें सामाजिक प्रतिक्रियाए कहा जाता है—भली प्रकार समझना ग्रावश्यक है। ग्रथात् समाज की गत्यात्मकता का ठीक ज्ञान प्राप्त क न क लिए सामाजिक ग्र त क्रिया का समझना ग्रनिवाय है।

सामाजिक ग्र त क्रिया की मौलिक दशाए

सामाजिक ग्र त क्रिया की ग्राधारभूत दशाए दो हैं —

(१) सामाजिक सम्पक ग्रौर (२) सचार। हम पहले कह चुके हैं कि जब

---

1 Park and Burgess *Introduction to the Science of Sociol gy* (University of Ch ago Press (Chicago) 1924 p 341

तब मनुष्यों में सामाजिक सम्पर्क और संचार न हो उनमें अन्तःक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती है।

(१) सामाजिक सम्पर्क—सामाजिक सम्पर्क का अर्थ व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच किसी शारीरिक सम्पर्क का होना नहीं है। शारीरिक सम्पर्क के बिना भी सामाजिक सम्पर्क सम्भव है। हाँ शारीरिक सम्पर्क से व्यक्तियों को अधिक अन्तर उत्तेजना अवश्य मिलती है। आलिंगन, हाथ मिलाना, चुम्बन करना शारीरिक सम्पर्क के कुछ उदाहरण हैं। परन्तु सामाजिक सम्पर्क की स्थापना तब भी हो जाती है जब व्यक्ति अपने सामने खड़े भर हों अथवा उन्हें एक दूसरे की स्थिति और कार्य का ज्ञान हो जाए। इसी प्रकार आँख के इशारे या हाथ हिलाने से अस्पष्ट बोल से अथवा शरीर को झुका कर भी सामाजिक सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। अथवा व्यक्तियों या समूहों में जो एक दूसरे से कई या हजारों मील दूर हों यदि एक दूसरे की स्थिति के ज्ञान से कुछ अन्तः उत्तेजना और अनुक्रिया होती हो तो उनमें सामाजिक सम्पर्क स्थापित हो सकेगा। सामाजिक सम्पर्क के लिए आवश्यक पूर्व दशा कर्ताओं में अनुक्रिया का आरम्भ होना है।

गिलिन और गिलिन ने लिखा है कि सामाजिक सम्पर्क स्वीकारात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। स्वीकारात्मक सामाजिक सम्पर्क वह है जिसका अनुगमन सहगामी अन्तःक्रिया करे और कर्ताओं में सहिष्णुता, समझौता अथवा सहकारिता या सात्मीकरण की दिशा में ले जाने वाले सम्बन्ध स्थापित हो जाएँ। निषेधात्मक सामाजिक सम्पर्क वे हैं जिनका परिणाम या तो असहगामी होता है अथवा कोई अन्तःक्रिया ही नहीं होती। कर्ताओं में परस्पर उपेक्षा, तिरस्कार, संघर्ष अथवा उपराभाव असहगामी अन्तःक्रिया उदाहरण हैं।

सामाजिक सम्पर्क प्राथमिक और माध्यमिक भी होते हैं। जब कर्ता एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं तो उनमें प्राथमिक सम्पर्क होता है। इसके विपरीत जब उनके बीच में कोई मध्यस्थ एजेंसी आ जाती है जो उनमें सम्पर्क स्थापित करने का साधन होती है तो यह सम्पर्क माध्यमिक होता है। इस प्रकार का सम्पर्क किसी तीसरे व्यक्ति के द्वारा अथवा किसी सांस्कृतिक वस्तु के माध्यम से स्थापित होता है। प्राथमिक सम्पर्क वैयक्तिक और माध्यमिक अवैयक्तिक होता है। आधुनिक समाजों में व्यक्तियों के समूह में सम्पर्क अवैयक्तिक होते हैं। इन समूहों के बीच तो सम्पर्क सदा अवैयक्तिक होता है क्योंकि उनके सम्बन्धों में अन्तःक्रिया सदैव अवैयक्तिक स्तर पर होती है।

कुछ सामाजिक सम्पर्क आरम्भ होने के शीघ्र बाद समाप्त हो जाते हैं और कुछ दीर्घकाल तक बने रहते हैं। अल्पकालिक सम्पर्क को अस्थायी और दीर्घकालिक सम्पर्क को स्थायी कहा जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि सामाजिक अन्त क्रिया में सामाजिक सम्पर्क संयुक्त है और सम्पर्क के लिए किसी पार्थिव अथवा इन्द्रिय सम्बन्धी माध्यम का होना आवश्यक है। सामाजिक सम्पर्क में किसी प्रकार की ऐन्द्रिक अन्त क्रिया संयुक्त है।

(२) **सचार**—मनुष्यों में सम्पर्क होने पर पशुओं की भाँति स्वत चालित प्रतिक्रिया नहीं होती। व्यक्तियों और समूहों में जो भी अन्त क्रिया होती है वह अर्थ पूर्ण होती है। उनके बीच के प्रत्येक सम्पर्क का कुछ अर्थ होता है। यह अर्थ निश्चय सम्पर्क में आने वाले कर्त्ता करते हैं और तदनुसार ही एक दूसरे के प्रति व्यवहार करते हैं। मनुष्य हर स्थिति का अर्थ निर्णय उद्देश्यों और ध्येयों से सम्बद्ध करने करता है। अर्थ निर्णय अचेतन तथा स्वत चालित अथवा चेतन और विचार पूर्वक हो सकता है। सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति इस प्रकार का अर्थ निर्णय करके ही सामाजिक अन्त क्रिया को प्रारम्भ होने देते हैं। अतएव अर्थों का सचार और उनका निर्वचन सामाजिक अन्त क्रिया का एक महत्वपूर्ण पहलू है।[1] एक व्यक्ति अथवा समूह की मनोवृत्तियाँ और अभिप्राय सचार से ही दूसरे व्यक्ति अथवा समूह को ज्ञात हो पाते हैं और उनकी अनुक्रिया कम से कम अंशत सचार से ही निर्धारित होती है।

समाज में सचार का केन्द्रीय स्थान है। समाज के अस्तित्व के लिए सचार केवल आवश्यक ही नहीं है सचार में ही तो समाज का अस्तित्व हुआ है। सामाजिक अन्त क्रिया की विधा (प्रक्रिया) से व्यक्तित्व का निर्माण होता है और सामाजिक अन्त क्रिया पर्याप्त और निरन्तर सचार पर आश्रित है। व्यक्तित्व को परिपक्व या प्रौढ़ बनाने में सचार का बहुत महत्वपूर्ण हाथ है।

सामाजिक अन्त क्रिया एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया है। क्योंकि व्यक्तियों के बीच सचार शब्दों शब्द समूहों पदार्थों और सकेतों से होता है। ये सभी प्रतीक हैं और समाज ने उन्हें विशेष अर्थ प्रदान किए हैं। इसीलिए समूह या समाज के सदस्य उनका विशेष अर्थ समझ लेते हैं। अर्थ कनहीं न समझने पर कोई सचार नहीं होता और पूर्ण अर्थ समझ लेने पर सचार होता है अर्थात् व्यक्तियों और समूहों में जब अर्थ 'आदान-प्रदान' रहते हैं तो उन्हें अपूर्ण या पूर्ण रूप में समझा जा सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि सदव एक प्रतीक का समान अर्थ ही समझा जाए। उदाहरण के लिए यदि आप किसी किसी प्रश्न पर वाद विवाद कर रहे हैं और यदि दूसरा व्यक्ति धीरे से मुस्करा दे तो मुसकान के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला वह आपकी बात से सन्तुष्ट है। दूसरा, वह आपकी बात को व्यर्थ अथवा तिरस्कार योग्य समझता है।

---

1 Gillin and Gillin *Cultural Sociology* (1946) p 495

सामाजिक पृथक्करण

मनुष्यों के बीच में होने वाली अन्तःक्रिया में सम्पर्क और संचार का उपयुक्त महत्व समझने के लिए सामाजिक पृथक्करण पर विचार कर लेना सहायक होगा।

स्वयं व्यक्तियों अथवा उनकी सम्पूर्ण स्थिति की कोई भी दशा जो उनके परस्पर सम्पर्क और संचार को रोक या उसमें बाधा डाले पृथक्करण का कुछ अंश उत्पन्न करता है। अर्थात् व्यक्तियों में पृथक्करण तब उत्पन्न होता है जब या तो उनकी शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक दशा सामान्य सामाजिक अन्तःक्रिया में रुकावट या बाधा बने अथवा वे किसी ऐसी स्थिति में फँस जाएँ जो इस अन्तःक्रिया को सामान्य रूप में होने दे।

पृथक्करण के प्रकार

पूर्ण पृथक्करण केवल एक उपकल्पना मात्र है क्योंकि हम किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं पाते जिसके जीवन में कभी भी समाज का कोई प्रभाव न पड़ा हो। हाँ जंगली जानवरों द्वारा अपहृत बच्चे, जो कुछ अवधि तक मानव समाज से पूर्णतया पृथक रहते हैं अवश्य ही लगभग पूर्ण पृथक्कीकृत व्यक्ति कहे जा सकते हैं। हमने देखा है कि जहाँ कभी ऐसे बच्चे मनुष्यों द्वारा जंगली जानवरों (भेड़ियों आदि) के चंगुल से छुड़ा लिए गए वे समान आयु के सामान्यतः समाज में पले बच्चों से एक दम भिन्न निकले। उनमें मनुष्य के प्रायः सभी गुणों का अभाव था। वे न मनुष्य की नाईं चल सकते थे, न मनुष्यों के खाद्य-पदार्थ ही खा सकते थे और न मनुष्य की भाषा ही बोल सकते थे। यहाँ तक कि वे मनुष्य की उपस्थिति से डरते थे और पुनः जंगल में भाग जाने का प्रयत्न करते थे। ऐसा क्यों होता है? जंगली जानवरों के पास पले बच्चों में जानवरों की आदतें ही विकसित हो जाती हैं। उनमें मानवोचित किसी गुण का विकास न होना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि मानव प्रकृति का पर्याप्त अथवा सामान्य विकास तभी हो सकता है जब व्यक्ति समाज में रहे और दूसरे व्यक्तियों से अर्थपूर्ण सम्पर्क और संचार करता रहे।

लगभग पूर्ण पृथक्करण में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापन और संचार करने में पूर्णतया अयोग्य हो जाता है अतएव उसे सामाजिक अन्तःक्रिया का कोई अवसर नहीं मिलता।

पृथक्करण कई कारणों से हो सकता है। उदाहरणार्थ अपराधियों अथवा दण्डितों को एकान्त कारावास का दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी लोगों को देश से बाहर निकाल दिया जाता है। किन्तु देश निकाला होने पर व्यक्ति दूसरे समाज के लोगों के साथ में आकर रह सकता है। इसमें वह केवल अपने समूह या समाज से पृथक हो जाता है। इस पर भी मानव-सम्पर्क मिलता रहता है। दूसरे ढंग द्वारा

भयावह घन जगलो के निवासी भी वाह्य ससार से पृथक रहते है और इसीलिए उनका विकास बडा ही कुठित रहता है। प्रजातीय पृथक्ता हिन्दू जातियो मे छुआ छूत पर आधारित पृथक्ता स्त्री और पुरुषो मे सामाजिक दूरी अथवा अविकसित उन्नत सस्कृतियो मे कृत्रिम पृथक्ता सामाजिक पृथक्करण के अन्य उदाहरण हैं। इसी प्रकार व्यक्ति की शारीरिक अथवा मानसिक असमर्थता अथवा दोष भी उसे समाज से न्यूनाधिक पृथक कर सकते हैं। अन्धे बहरे अथवा अपाहिज लोगो को विवश हो कर समाज से बहुत कुछ पृथक रहना पडता है। उन्हे अन्य लोगो से सम्पर्क और सचार बनाए रखने के अवसर बहुधा अपर्याप्त ही होते हैं। मन्द बुद्धि, विक्षिप्त और पागल व्यक्तियो को भी सामाजिक पृथक्करण मे रहना पडता है। इसी तरह जिन आदमियो मे किसी तरह से भावात्मक गडबडी का दोष आ जाता है वे भी सामान्य व्यक्तियो के समान व्यवहार नही कर पाते। इसलिए या तो वे स्वय समाज की नजरो से बचने के लिए एकान्त प्रिय हो जाते है अथवा समाज ही उन्हे 'विचित्र' समझ कर पृथक कर देता है। पूर्ण और स्थायी पृथक्करण व्यक्ति के शारीरिक मानसिक और नैतिक विकास को अवरुद्ध कर देता है।

कभी-कभी हर मनुष्य समाज से 'दूर भागना' चाहता है। जब हम विश्रान्ति और मानसिक शान्ति के लिए एकान्त मे रहना चाहते हैं तो हम सामाजिक पृथक्करण को वाछित और आवश्यक समझते है। किन्तु यह 'एकान्तवास'' सदैव अति अस्थायी होता है। जब एकान्तवास से हम घबडाने लगते है तो उसे अकेलापन कहते हैं। अकेलापन व्यक्ति को बडा कष्टदायी लगता है। बडे-बडे नगरो मे व्यक्ति को इस प्रकार का अकेलापन कई बार अनुभव होता है। न तो उसके मित्र ही होते है और न उसे कोई जानता है और न वह किसी से परिचित होता है। मनुष्य की इस स्थिति को मित्रहीन अजनानता कहा जाता है।

सामाजिक पृथक्करण के दो अन्य प्रकार भी है —(१) धर्म या जाति से बहिष्कार और (२) समूह से बहिष्कार। जब किसी व्यक्ति या परिवार को किसी धार्मिक समुदाय सम्प्रदाय अथवा जाति से निकाल दिया जाता है तो यह पहले प्रकार का बहिष्कार है। दूसरे प्रकार का बहिष्कार धर्म से असम्बद्ध होता है। यह पहले प्रकार के बहिष्कार की भाँति कठोर नहीं होता। किसी व्यक्ति या परिवार का समूह से बहिष्कार तब होता है जब उसके किसी कार्य या स्थिति से अप्रसन्न होकर समूह उससे सम्पर्क तोड देता है। इससे व्यक्ति अपने समूह मे कोई सन्तोषजनक समागम नही बनाए रख सकता। लेकिन दूसरे समूहो मे व्यक्ति का सम्पर्क या समागम बना रहता है। समूह-बहिष्कार का भय व्यक्ति को समूह के आदर्शों और सगठन को बनाए रखने के लिए बाध्य करता है। विशिष्ट समूहो या वर्गों की दृढता को बनाए रखने के लिए समूह बहिष्कार किया जा सकता है। किसी हिन्दू को उसके धर्म से च्युत कर देना पहले प्रकार के बहिष्कार का उदाहरण है। दूसरे प्रकार के बहिष्कार

समूह बहिष्कार का उदाहरण एक ऐसे व्यक्ति अथवा परिवार में दिया जा सकता है जो किन्हीं कार्यों के करने में समूह के क्रोध का भागी बन जाता है और जिसके साथ समूह का सम्पर्क बनाए रखना अपमान समझा जाता है। [illegible] अथवा [illegible] के [illegible] द्वारा किया [illegible], हुक्का अथवा [illegible] व्यक्ति का बहिष्कार [illegible] में पाया जाता है।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति के [illegible] शीघ्रकालीन और [illegible] पूर्ण पृथक्करण का एक नकारात्मक मूल्य क्यों माना जाता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। पहला कारण यह है कि एक व्यक्ति के [illegible] में [illegible] व्यक्ति के [illegible] द्वारा [illegible] मिलती हैं। मानव स्वभाव के [illegible] निर्भर है कि [illegible] सहजात इच्छाएँ [illegible] भी तभी पूरी हो सकती हैं जब उन्हें मनुष्यों का साथ मिले। फिर मनुष्य की अनेक उपार्जित रुचियाँ और इच्छाओं की पूर्ति दूसरों पर निर्भर है—जैसे नाटक, संगीत और विविध [illegible] आदि के लिए रुचि। दूसरे मनुष्यों के व्यक्तित्व की रचना सामाजिक अन्तःक्रिया का [illegible] है। ज्यों ही यह अन्तःक्रिया लुप्त हो जाती है व्यक्तित्व में भी ह्रास आने लगता है। एकान्त कारावास का बन्दियों के मानसिक सन्तुलन पर कितना अधिक विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। आधुनिक समाजों में इस दण्ड व्यवस्था का प्रायः त्याग किया गया है। कभी-कभी व्यक्ति दूसरे लोगों से अलग रहकर एकान्त में अपने व्यक्तित्व के [illegible] सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। वह स्वयं में ही वार्तालाप करता और द्वन्द्व करता है। वह अपनी जिज्ञासा का उत्तर दूसरों से प्राप्त [illegible] करता है। किन्तु इस स्थिति में दूसरों की अनुभूतियाँ वहाँ तो हो सकती हैं जिनको वह स्वयं [illegible] करता है। अतएव, उनमें [illegible] नवीनता [illegible] की तुलना [illegible] और [illegible] बाह्यिक उत्तेजना भी नहीं मिलती। इसके विपरीत [illegible] व्यक्ति [illegible] समाज में दूसरों से सम्पर्क और संचार स्थापित करने में [illegible] व्यक्तित्व [illegible] का अवसर पाता है। अन्त में, सामाजिक सम्पर्क की आवश्यकता इसलिए भी है कि व्यक्ति के [illegible] में सामाजिक सम्बन्ध [illegible], [illegible] [illegible] और [illegible] आदि के [illegible] हैं। [illegible] [illegible] दूर हो [illegible] मनुष्य में [illegible] सकता है। [illegible] अथवा भावात्मक सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती। [illegible] है कि [illegible] मनुष्यों के साथ ([illegible]) का [illegible] करता है। [illegible] [illegible] हैं। [illegible]

स्वेच्छिक पृथक्करण

पिछले पृष्ठों में हमने अनिच्छिक पृथक्करण के कुछ प्रकारों पर विचार किया है। पृथक्करण स्वेच्छा से भी हो सकता है। यदि कोई साधु-संन्यासी अथवा योगी समाज से एकान्त में रह कर कुछ समाजोपरि मूल्यों की प्राप्ति के लिये साधना करता है तो उसका पृथक्करण स्वेच्छिक है। किन्तु पृथक्करण कैसा भी हो—चाहे अनिच्छिक और चाहे स्वेच्छिक—वह सदैव अस्थायी और आंशिक होता है। व्यक्ति का पृथक्करण जितनी अधिक लम्बी अवधि तक रहेगा उतनी ही गहरी खाई व्यक्ति के साध्यों और समूह के साध्यों के बीच में पड़ जायगी। सामाजिक सम्पर्क से पृथक रहने पर दूसरों के साध्यों में सम्मिलित होना असम्भव हो जाता है।[1]

जैसे व्यक्ति का पृथक्करण उसके पर्याप्त सामाजीकरण में बाधक होता है वैसे ही समूह का पृथक्करण संस्कृतियों के अपर निषेचन में बाधा डालता है। यह बाधा समूह को सम्पन्न नहीं होने देती।[2] जो समाज दूसरों की अपेक्षा अधिक पृथक होता है उसमें परिवर्तन बहुत धीमा होता है। दुर्गम पर्वतों, जंगलों या द्वीपों में रहने वाले समाज पृथक्करण के प्रभाव में सांस्कृतिक परिवर्तन और समृद्धि में बहुत पीछे रह जाते हैं।

पृथक्करण सामाजिक संगठन का सिद्धान्त

सामाजिक पृथक्करण से व्यक्ति और समूह के पर्याप्त विकास में जो बाधाएं पड़ती हैं उनका संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया गया है। परन्तु सामाजिक पृथक्करण सामाजिक संगठन में एक मूल सिद्धान्त भी है। प्रत्येक समाज में स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्पर्क में न्यूनाधिक अलगाव रखा जाता है। जाति, धर्म, संस्कृति तथा वर्ण के आधार पर भी सामाजिक पृथक्करण प्रचलित है। कुछ विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों में जैसे सास-दामाद, ससुर-बहू अथवा अन्य निकटस्थ सम्बन्धियों में पारस्परिक सम्पर्क स्वतन्त्र नहीं होता है। इसी प्रकार हर समूह में विदेशी व्यक्ति को पृथक रखा जाता है। उसी समाज में विशिष्ट समूहों के बीच अलगाव (बचाव) अथवा सामाजिक दूरी बनाए रखी जाती है। व्यवसाय, संस्कृति, धर्म या राष्ट्रीयता के आधार पर नगरों में पृथक पृथक बस्तियाँ होती हैं। सम्भवतः समूहों के बीच में पृथक्करण प्रत्यक्ष की गुत्थियां बनाये रखने के लिए किया जाता है। समाज में अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं इनमें पारस्परिक बचाव और पारस्परिक निकटता की नियमबद्ध व्यवस्था होती है। इसलिए सामाजिक निकटता और सामाजिक दूरी दोनों ही समाज की रचना के सिद्धान्त हैं। व्यवस्थित आंशिक सामाजिक पृथक्करण

---

1 The longer the isolation the more it signifies a deep hiatus between the ends of this individual and those of the group. Removal from social contact makes it impossible to share ends with other. Kingsley Davis, *Human Society*, 1957, p 153.

2 Gillin and Gillin, *Cultural Sociology* (1948) p 1?9

समाज की सुदृढ़ता में सहायक होता है और कभी-कभी तो जाति-केन्द्रीयता सम्बन्धी मनोवृत्ति भी इसका आवश्यक साधन माना जाता है।

आंशिक पृथक्करण—फिर चाहे इसका कोई विशिष्ट रूप हो—व्यक्तियों की सामाजिक स्थितियों से सम्बन्ध रखता है और इन स्थितियों के अधिकारों और कर्तव्यों में व्यक्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न परिस्थितियों के व्यक्तियों में सम्पर्क में अन्तर होता है। इसलिए आंशिक पृथक्करण समाज के संगठन का एक साधन है। समाज में कुछ पारम्परिक अलगाव कुछ सामाजिक दूरी और कुछ जाति केन्द्रीयता का होना अवश्यम्भावी है।[1]

सामाजिक अन्त क्रिया के रूप

समाज के व्यक्तियों अथवा समूहों में जो अन्त क्रिया होती है उसे सामान्य सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं। अर्थात् सामाजिक अन्त क्रिया के साधारण और बार बार दोहराये जाने वाले रूपों को सामाजिक प्रक्रिया कहना चाहिए। पार्क और बर्गेस ने सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा इस प्रकार की है "सामाजिक प्रक्रिया से अर्थ उन समस्त परिवर्तनों से है जो समूह के जीवन में परिवर्तन माने जाते हैं।"[2]

सामाजिक प्रक्रिया के अनेक रूप होते हैं। इन्हें सामाजिक अन्त क्रिया के रूप अथवा सामाजिक प्रक्रियाएँ कहते हैं। सामाजिक प्रक्रियाएँ प्रकृति से ही सामूहिक जीवन की प्रक्रियाएँ हैं। ये सार्वभौमिक हैं और सभी समूहों एवं सभी सांस्कृतिक स्तरों पर होती हैं।

सामाजिक प्रक्रियाएँ व्यवहार की ऐसी समस्याएँ हैं जिनका वर्गीकरण अन्त पता हो सकता है। मनुष्येतर जीवधारियों तथा निर्जीव पदार्थ के व्यवहार की समस्याएँ मानव-व्यवहार की समस्याओं की अपेक्षा अधिक सरलता से जानी जा सकती हैं। फिर एक बात और भी है। आधुनिक समाज में मानव-व्यवहार बहुत जटिल हो गया है। एक विशिष्ट स्थिति में अनेक सामाजिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जो अन्त क्रिया के अति जटिल रूप होते हैं। जो राष्ट्रों अथवा समूहों में संघर्ष (युद्ध अथवा तनाव आदि) की स्थिति होती इसी में समय के साथ उनमें से प्रत्येक के भीतर में सहयोग, समुदायों का लगाव इत्यादि में भी परस्पर लगना आदि अनेक जटिल सामाजिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न कर देती हैं।

समाज में प्रक्रियाओं के प्रकार प्रकट होते हैं। परन्तु इन प्रक्रियाओं के वर्गीकरण में समाजशास्त्रियों में कुछ मतभेद हो जाता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक अन्त क्रिया के रूप, (सामाजिक प्रक्रियाओं) को दो प्रमुख वर्गों में बाँटा है। इन वर्गों को क्रमशः सहयोगी और विघटनकारी, संगठनात्मक और असंगठनात्मक अथवा

1 K. Davis, op. cit., p. 15
2 Park and Burgess, op. cit., p. 51

सुदृढता और विरोधी कहा गया है। दूसरे समाजशास्त्रियों ने ठीक इसके विपरीत सदा विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं का वर्णन किया है किन्तु उपरोक्त दोनों वर्गीकरण हमारी समस्या का यथोचित समाधान नहीं कर सकते। हम तो इनके बीच का मार्ग अपनाना चाहिए। यह सत्य है कि समाज में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ होती हैं किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन की सुविधा के लिए यह वांछित है कि हम उन असंख्य सामाजिक प्रक्रियाओं में से मौलिक आधारभूत प्रक्रियाओं का विश्लेषण करें। पार्क और बर्गेस ने इन प्रक्रियाओं के चार प्रधान प्रकारों—प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, व्यवस्थापन और सात्मीकरण—का विश्लेषण किया है। आधुनिक प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर, मर्टन, मेरिल आदि इस सूची में सहयोग को जोड़ देते हैं। हम भी सामाजिक प्रक्रिया के पांच प्रधान प्रकारों (रूपों) की चर्चा करेंगे। हाँ, यह संकेत कर देना लाभदायक होगा कि इन पांच मौलिक प्रक्रियाओं में से सहयोग, व्यवस्थापन और सात्मीकरण सहगामी अथवा संयुक्तक प्रक्रियाएँ और प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष को असहगामी अथवा विभाजक प्रक्रियाएँ हैं। पहले वर्ग की प्रक्रियाओं से सामाजिक असंतुलन को संतुलन में बदलने का प्रयत्न होता है और दूसरे वर्ग की प्रक्रियाओं से संतुलन भंग होकर असंतुलन उत्पन्न होता है।

सामाजिक प्रक्रियाओं की विशेषताएं

सामाजिक प्रक्रिया के मौलिक रूपों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

(१) सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था में सामाजिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। इसलिए उन पर विशिष्ट समाज की रचना और विशेषताओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। समस्त सामाजिक प्रक्रियाएं किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में होती हैं। ये तो मनुष्यों के प्रत्येक समूह या संस्था में क्रियाशील होती हैं। किसी भी संस्था या समूह (परिवार, गाँव आदि) को ले लीजिए उसमें सहयोग और संघर्ष दोनों ही कुछ या अधिक मात्रा में व्याप्त मिलेंगे।

(२) यों तो एक समाज अथवा समूह में समस्त मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं परन्तु उनमें से कौन प्रधान रहे और कौन गौण यह समाज पर निर्भर रहता है। उसमें कुछ प्रक्रियाओं को महत्वपूर्ण समझा जाता है इसलिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है और जिन प्रक्रियाओं को गौण अथवा न्यूनतम महत्व का समझा जाता है उन्हें दबा दिया जाता है। उदाहरण के लिए अमरीका और अन्य औद्योगिक पाश्चात्य समाजों में आर्थिक और राजनैतिक कार्यों में प्रतिस्पर्द्धा को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। यहाँ प्रतिस्पर्द्धा को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है और दूसरी ओर, शिक्षा, राजनीति, मनोरंजन तथा मित्रता में भी सहयोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता। अन्य समाजों में मौलिक मान इस प्रकार के होते हैं जिनमें सहयोग मिलता है और प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा को यथासम्भव दबाया जाता है। इसी प्रकार कुछ समाजों में युद्धप्रिय गुणों का [illegible] होती है जब कि दूसरों में शान्ति

क्रियता और सहिष्णुता के अनुरूप गुणों का सर्वोच्च महत्व प्राप्त होता है। हमारे भारतवर्ष में शान्ति प्रिय और उदार गुणों की समाज में भारी महिमा है।

सारांश

सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि इन प्रक्रियाओं का अध्ययन करने पर उनका सामाजिक सन्दर्भ, समाज के नायक प्रतिमानों अथवा प्रतिमानों परिस्थितियों और कार्यों का विचार अनिवार्य है। सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने की समस्या समाजशास्त्रीय है मनोवैज्ञानिक नहीं। आज उन समाजशास्त्रियों और विद्वानों के विचार नहीं स्वीकार किए जा सकते जो व्यक्ति के सामूहिक व्यवहार की व्याख्या उनकी पाशविक जन्मजात भावनाओं अथवा अर्जित प्रवृत्तियों का वर्णन करते थे। सहयोग अथवा संघर्ष करना मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। उस जीवन की प्रारम्भ स्थितियों में दूसरे व्यक्तियों से सहयोग अथवा संघर्ष करने का समाज में प्रशिक्षण मिलता है। अपने समाज के प्रतिमानों अथवा तथा अपेक्षाओं के अनुरूप ही वह सामाजिक प्रक्रिया में भाग लेता है।

तुलनात्मक संस्कृतियों के किए गए अनुसंधानों में तो यह अधिकाधिक सिद्ध हो गया है कि सामाजिक प्रक्रियाओं के मूल स्रोतों को जन्मजात या अर्जित प्रवृत्तियों से व्याख्या करना अति सरल है और इसलिए गलत।[1] विविध संस्कृतियों में सम्बन्धों की जन्मजात सत्ता में स्वभावगत और आदतगत गुणों का लगभग पूर्ण अनुपात भिन्न हुआ प्रतीत होता है। एक विशिष्ट समाज में सहयोग पर बल दिया जायगा अथवा संघर्ष पर यह व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर निर्भर नहीं होता है। इसका निश्चय तो समाज और संस्कृति की व्यवस्था करती है। समाज के प्रतिष्ठित प्रतिमानों के अनुरूप जो व्यवहार होते हैं उन्हें समाज प्रोत्साहित करके प्रबल बनाता है और जो व्यवहार उनके प्रतिकूल होते हैं उनको अनादर और भर्त्सना के द्वारा या दण्ड देकर समाज दुर्बल रखता है। संक्षेप में समाज इन सामाजिक नियमों का निश्चित करता है जिनमें व्यक्तियों सम्बन्ध विविध सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रवाह में भाग लेते हैं।

सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति का परिचय करा देने के पश्चात् मौलिक प्रक्रियाओं का सविस्तार विवेचन करना उपयुक्त प्रतीत होगा।

सहयोग

समाज में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन सहयोग पर आधारित है। अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक और सारे जीवन भर सभी के लिए दूसरे व्यक्तियों के सहयोग पर उसे निर्भर रहना पड़ता है।

1 Cf. Margaret Mead, *Cooperation and Conflict among Primitive Peoples* (New York: McGraw Hill Book Co. Inc., 193)

सामाजिक अन्तःक्रिया के उस रूप को सहयोग कहते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक सामान्य ध्येय की पूर्ति के लिए साथ-साथ कार्य करते हैं।[1] फेयरचाइल्ड द्वारा सम्पादित समाजशास्त्र के शब्दकोष में सहयोग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है — सहयोग वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह न्यूनाधिक संगठित रूप से अपने प्रयत्नों को सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त करते हैं।[2] इस प्रकार दो या अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों ने किसी समान रूप से इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जब मिलकर प्रयत्न किए हों तो कहा जायगा कि उनमें सहयोग है। सहयोग करने वाले तब तक निरन्तर साथ-साथ प्रयत्न करते हैं जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। *सहयोग की प्रक्रिया के दो तत्व हैं*—(१) दो या अधिक व्यक्तियों में एक सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने का निश्चय, और (२) न्यूनाधिक संगठित रूप में साथ-साथ निरन्तर प्रयत्न करना।

प्रकृति

मनुष्य अपने जन्म तक के लिए अन्य व्यक्तियों के सहयोग पर निर्भर है। सन्तानोत्पत्ति की सामान्य अभिलाषा में पति पत्नी में सहयोग होने से ही बच्चे का जन्म सम्भव है। जन्मते ही बच्चा माता पिता के सहयोग पर आश्रित हो जाता है। उसका लालन पालन, शिक्षा-दीक्षा सभी तो परिवार के अन्य सदस्यों के स्नेहमय सहयोग से पूरे होते हैं। मनुष्य को अपने सफल जीवन यापन के लिए जिन गुणों, दक्षताओं और योग्यताओं की आवश्यकता होती है उन सबको वह परिवार, पड़ोस, *विद्यालय आदि में दूसरों के सहयोग से सीखता है। सामाजिक सफलता के लिए वह* जो कुछ सीखता है वह अन्य व्यक्तियों और समूहों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार व्यक्तियों की अपनी मानसिक और भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी दूसरों का सहयोग आवश्यक है। अन्य लोगों से पृथक रहकर उसका मानसिक विकास कुण्ठित हो जाता है। उसकी प्रेम, स्नेह, दया, कृपा, राग आदि की इच्छा भी बिना दूसरों के सहयोग से पूर्ण नहीं हो पाती। प्रेमी, मित्र अथवा जीवन-साथी की इच्छा करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं भोजन, वस्त्र, मकान और काम-तृप्ति की सन्तुष्टि में मनुष्य बिना दूसरों की सहायता सहयोग के सफल नहीं हो सकता।

मनुष्य का जीवन-संग्राम बड़ा कठिन होता है। आए दिन उसे कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। रोग, मृत्यु जैसी आपदाओं सामाजिक

---

1 Co-operation thus may be defined as a form of social interaction wherein two or more persons work together to gain a common end. Merrill & Eldredge, *op cit*, p. 494.

2 Co-operation is the process by which individuals or groups combine their efforts in a more or less organised way for the attainment of common objectives.

संघर्षों तथा प्रतिस्पर्द्धा-सभी में हर व्यक्ति स्वाभाविकता से सम्बन्धियों और मित्रों के सहयोग से स्थिति पर काबू पाता है। उत्पादन में अधिक कुशलता पाने के लिए भी श्रम विभाजन, विशेषीकरण का आधार सहयोग रखना पड़ता है। परिवार, पड़ोस, ग्रामों अथवा नगरों, समुदाय के सामान्य कल्याण में सभी अपने-अपने रूप में न्यूनाधिक संगठित होकर साथ-साथ यत्न करते हैं। समूह अथवा समाज की रक्षा, स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए उनके सभी सदस्यों का संयुक्त प्रयत्न करना एक अनिवार्य आवश्यकता है। संस्कृति जो मानव समाज की अनोखी विशेषता है के विकास और समृद्धि में समाज के सभी सदस्यों का सहयोग होता रहा है और होता रहेगा।

संक्षेप में मनुष्यों का मिल-जुल कर सामान्य उद्देश्य को पाने का प्रयत्न करना व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से अनिवार्यतः आवश्यक है। न जाने कितने रूपों में मनुष्य परस्पर सहयोग किया करते हैं। जीवन और समाज के हर क्षेत्र में सहयोग की प्रक्रिया कार्य करती है। सहयोग सामाजिक जीवन की आधारभूत और सर्वोपरि आवश्यकता है। यह समाज के संगठन का प्रथम सिद्धान्त है।

सहयोग के रूप

समाज के प्रत्येक समूह, समिति या संगठन में सहयोग होता रहता है। विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परिवारों से राष्ट्रों तक में परस्पर सहयोग होता है। युद्ध और शान्ति दोनों में ही सहयोग का अनुपम महत्त्व है। शान्ति बनाये रखने और सभ्यता के विकास के लिए राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग की अचूक माँग। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके विभिन्न विशिष्ट संगठनों में देखने को मिलती है। सहयोग के प्रमुख रूप आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक हैं। परिवार और समुदाय सामाजिक सहयोग से ही बनते और चलते हैं। राजनीतिक दलों का आधार राजनीतिक सहयोग है। इसी प्रकार आर्थिक संगठनों और संस्थाओं में आर्थिक सहयोग मूलभूत कारक है। इसी प्रकार शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संगठनों और संस्थाओं का आधार क्रमशः शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सहयोग है।

सहयोग पैदा होता है।[1] क्रोपोटकिन ने पारस्परिक सहायता को मानव विकास में एक महत्वपूर्ण कारक माना है। भारत में सामुदायिक विकास योजनाएं पारस्परिक सहायता और स्वावलम्बन के सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

मनुष्यों में सहयोग सदैव समान अंश में नहीं रहता है। कभी-कभी उनमें सहयोग का अति न्यून अंश होता है और कभी अत्यधिक अंश। सहयोग के अत्यधिक अंश होने पर घनीभूत सहयोग होता है।

विचारयुक्त एवं अचेतन सहयोग

जब लोग किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विचारयुक्त सहयोग करते हैं तो वे रीतियों और कार्य प्रणालियों को अपनाने पर पहले सहमत हो जाते हैं। खन्दक या दल-दल से गाड़ी निकालने में लोग जो सहयोग करते हैं वह विचारयुक्त सहयोग का उदाहरण है। इसी प्रकार किसी संस्था के उन्मूलन (जैसे जमींदारी उन्मूलन अथवा बेगार उन्मूलन) अथवा एक नये राज्य की स्थापना, भाषा की स्वीकृति आदि के लिए आन्दोलन चलाना इसी प्रकार के सहयोग पर आश्रित होता है। हाकी या फुटबाल के मैच में भी खिलाड़ियों में विचारयुक्त सहयोग होता है। किन्तु जब लोग एक धार्मिक संस्कार को करते हैं अथवा किसी राष्ट्रीय पर्व को मनाते हैं तो उनमें अचेतन सहयोग होता है। इसी प्रकार कालेज की प्रतिष्ठा, परिवार या राजनैतिक दल आदि की सुदृढ़ता बनाए रखने के लिये उनके सभी सदस्य साधारण एवं अनुमोदित आचरण ही करते हैं। इस स्थिति में सबका प्रयत्न सामूहिक कल्याण और प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करना है किन्तु उसके लिये वे परम्परागत अचेतन आचरण ही करते हैं।

सहयोग के प्रकार

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष—मैकाइवर ने सहयोग के दो प्रकार माने हैं—(१) प्रत्यक्ष सहयोग और (२) अप्रत्यक्ष सहयोग। जब दो या अधिक व्यक्ति (या समूह) एक साथ समान या मिलते जुलते काम करते हैं तो उनके बीच में प्रत्यक्ष सहयोग होता है। कई व्यक्तियों द्वारा एक खेत को मिलकर जोतना, बोना या काटना प्रत्यक्ष सहयोग है। जब कई व्यक्ति एक उम्मेदवार के लिये चुनाव प्रचार करते हैं और उसमें भाषण करते हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के पास अथवा घर घर जाकर मत माँगते हैं अथवा चुनाव के लिये संगठन करते हैं तो उनमें प्रत्यक्ष सहयोग होता है। इसके विपरीत एक सरकारी विभाग, विश्वविद्यालय, बैंक अथवा कम्पनी के कर्मचारियों में जो सहयोग होता है वह अप्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्ष सहयोग में सभी लोग समान उद्देश्य की पूर्ति में मिल जुल कर तो प्रयत्न करते हैं परन्तु उन सबके कार्य भिन्न और पृथक होते हैं।

प्राथमिक द्वितीयक आदि—ग्रीन तथा कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं—(१) प्राथमिक, (२) द्वितीयक, और (३) तृतीयक सहयोग।

---

[1] Mutual aid is a special name for co-operation. E. S. Bogardus: Sociology, p. 351

इस वर्गीकरण का आधार प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक समूहों में होने वाले सामाजिक सम्बन्ध है। प्राथमिक समूहों (परिवार, पड़ोस, मित्र मण्डली एवं किसी दल या संघ का अन्तरंग समूह) में व्यक्ति और समूह के स्वार्थ में कोई अन्तर नहीं होता। प्रत्येक सदस्य समूह के स्वार्थों की पूर्ति में ही अपने स्वार्थों की सफलता समझा करता है। यहाँ साधन और साध्य में भेद नहीं होता। प्रत्येक स्थिति में एक-दूसरे से सहयोग करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह प्राथमिक सहयोग है। द्वितीयक समूहों (आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सभा) के सदस्यों में होने वाले सहयोग को द्वितीयक कहते हैं। इन सभाओं के सदस्यों में से प्रत्येक के समान स्वार्थ होते हैं। इन स्वार्थों को वैयक्तिक प्रयत्न से नहीं पूरा किया जा सकता। अतः श्रम विभाजन, विशेषीकरण आदि से प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार कोई पृथक् काम करता है जो दूसरे लोगों के कार्य का पूरक या सहायक होता है। आधुनिक समाज में ऐसे अनेक द्वितीयक संगठन हैं जिनमें द्वितीयक सहयोग की प्रधानता है। तृतीयक सहयोग उस सहयोग को कहते हैं जो समाज के विभिन्न द्वितीयक समूहों में परस्पर व्यवस्थापन के लिए होता रहता है। विद्यमान परिस्थितियों से अनुकूलन करने की प्रक्रिया को व्यवस्थापन कहते हैं।

आगबर्न का वर्गीकरण—आगबर्न ने सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं। जब लोग एकसा कार्य करने में साथ-साथ प्रयत्न करते हैं तो उनके सहयोग को सामान्य सहयोग कहा जाता है। जब हम अपने मित्र, साथी अथवा सगे-सम्बन्धियों के काम में हाथ बँटाते हैं तो हमारा सहयोग और उनके लिए अधिक गुणकारी होता है। इसे मित्रवत् सहयोग कहते हैं। सामान्य सहयोग का दूसरा प्रकार [illegible] रूप है। इसमें किसी कार्य को पूरा करने में प्रत्येक सदस्य अपनी क्षमतानुसार प्रयत्न करके दूसरों के प्रयत्न का पूरक बनता है। श्मशान में दाहसंस्कार, स्कूल अथवा सड़क का निर्माण इसी प्रकार के सहयोग से होता है। सामान्य सहयोग में यदि लोग पृथक् और भिन्न कार्य करते हुए एक सम्पूर्ण कार्य को सम्पन्न करते हैं तो उनके विभिन्न श्रमों का एकीकरण होता है। मकान अथवा बाँध के निर्माण में सैकड़ों अथवा हजारों मजदूरों, राजों, इन्जीनियरों, लुहारों आदि के विभिन्न श्रमों का एकीकरण करके ही एक ध्येय की पूर्ति हो सकती है।

सहयोग का महत्त्व—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक जीवन का प्राथमिक सिद्धान्त सहयोग ही है। समाज की अनेक बाधाओं और असफलताओं की प्रक्रिया पर सहयोग का आवरण चढ़ाने से ही समाज में एकता और दृढ़ता कायम रह सकती है। सहयोग का विपरीत (विरोध) संघर्ष है न कि प्रतिस्पर्द्धा। एक समूह द्वारा प्रतिस्पर्द्धा या संघर्ष में सफल रहने हेतु किसी भी प्रकार आन्तरिक सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि शान्ति और युद्ध दोनों ही काल में हर समूह अपने अधिकतम सहयोग करने का प्रयास किया करता है। किन्तु

कुछ लोग समाज के विकास में प्रतिस्पर्द्धा का ऐतिहासिक महत्व बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहते हैं। विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों ने डारविन के "योग्यतम का अतिजीवन" के सिद्धान्त को अंधाधुंध अपनाया। मनुष्यों में, पशुओं अथवा पौधों की भाँति जीवन को बनाये रखने के लिये कड़ी प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती। मनुष्य ने अपने जीवन और समाज का सम्पूर्ण विकास सहयोग के द्वारा किया है। हाँ प्रतिस्पर्द्धा उनके सहयोग को घनीभूत और दिग्दर्शित करने में अवश्य सहायक हुई है। आधुनिक भौतिकवादी समाजों (अमरीका आदि) में सहयोग की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा को अधिक महत्व दिया जाता है। यह विशेष प्रवृत्ति इन समाजों के प्रतिमानों का परिणाम है।

समाजों के विकास में सहयोग के व्यापक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संस्कृतियों की उन्नति में सैकड़ों हजारों वर्षों में लोग सहयोग करते आये हैं। आधुनिक गौरवमयी विशाल सभ्यता का मूलाधार सहयोग है। समनर ने ठीक ही कहा है कि प्रतिस्पर्द्धा भी तभी सफल होती है जब लोगों में सहयोग हो। हम नित्यप्रति ऐसे अनेक उदाहरण पाते हैं जिनमें लोग किसी बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिये अपने छोटे छोटे विरोधों को दबा कर संयुक्त प्रयत्न करते हैं। रूथ बेनेडिक्ट ने आदिम संस्कृतियों से अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि लोगों में सहयोगी भावना को सर्वत्र अत्यधिक महत्व दिया जाता है। किन्तु ऐसे कबायली भी हैं जहाँ जीवन में भयंकर प्रतियोगिता को ही सर्वोपरि महत्त्व मिलता है। भारतीय समाज में सहयोग को प्राथमिकता दी जाती है। लेकिन एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए। किसी भी समाज में न तो पूर्णतया प्रतियोगिता होगी और न पूर्ण सहयोग, और न अकेले व्यवस्थापन, सात्मीकरण तथा संघर्ष ही किसी समाज में मिलेंगे। प्रत्येक समाज में सामाजिक अन्तःक्रिया के सभी मौलिक रूप मिलते हैं। इन सामाजिक प्रक्रियाओं के सापेक्षिक महत्व में किसी को कम प्रधानता दी जाती है और किसी को अधिक। इसलिए सामाजिक प्रक्रियाओं में सापेक्षिक महत्व के अंश का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। शान्तिकाल में राष्ट्रों के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं, वर्गों और अल्पसंख्यक समूहों तथा संघों में व्यापक प्रतिस्पर्द्धा होती है किन्तु ज्यों ही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष (युद्ध) की स्थिति आती है सम्पूर्ण राष्ट्र एक सुदृढ़ इकाई बन जाता है। राष्ट्रीय नैतिक अवस्था बहुत ऊँची हो जाती है जो स्वयं एक सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सहयोगी क्रिया की द्योतक है। राष्ट्र की सुरक्षा के लिये अधिकारी तथा नागरिक राष्ट्रीय प्रतीकों की प्रतिष्ठा के लिये राष्ट्रीय उद्देश्यों में अपने उद्देश्यों और स्वार्थों को विलीन कर देते हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र एक व्यक्ति की भाँति उठ खड़ा होता है व्यक्ति और राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। नागरिकों के आन्तरिक अन्तर, प्रतियोगिता और संघर्ष जो उत्पन्न होते थे भुला दिये जाते हैं और सभी वर्गों और हितों के लोग आक्रमणकारी शत्रु का मुकाबला करने के लिए डट जाते हैं।

सारांश यह है कि सामाजिक जीवन का आधार सहयोग है। इसका पर्याप्त विकास, सुन्दरता और कल्याण तभी सम्भव है जब इसके नागरिकों और विभिन्न निकायों में साधारण और असाधारण दोनों स्थितियों में सामान्य उद्देश्यों व लक्ष्यों के लिए सहयोग में प्रवृत्त करने की क्षमता और तत्परता हो।

प्रतिस्पर्द्धा

चार्ल्स डार्विन ने जीवन-संग्राम की जो उपकल्पना प्रतिपादित की थी, बहुत से समाजशास्त्री उसे ही मानव जीवन की व्याख्या करने में प्रयोग करते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि मानव-समाज में पाई जाने वाली प्रतियोगिता पशुओं और पौधों से भिन्न है। मनुष्यों अथवा समूहों में पाई जाने वाली प्रतियोगिता की बौद्धिक और भावनात्मक विलक्षणता की उपमा नहीं दी जा सकती। प्रकृति में जहाँ पशुओं तथा पौधों में जीवन का संग्राम प्रचलित है। उसमें प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया काम करती है। मनुष्य समाज में मनुष्य की बुद्धि प्राकृतिक प्रवरण को सीमित कर देती है और परिवर्तित दशाओं से अधिक शीघ्रता से समायोजन करा देती है।

अर्थ और प्रकृति

दो या अधिक व्यक्तियों (समूहों) में सीमित अथवा स्वल्प सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न को प्रतियोगिता कहते हैं। सीमित वस्तुओं के उपभोग या अधिकार के लिए प्रयत्न करना प्रतियोगिता है। मनुष्यों की आवश्यकताएँ अनन्त हैं किन्तु उनकी सन्तुष्टि के साधन स्वल्प हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति में साधनों की स्वल्पता मनुष्यों में प्रतियोगिता को अनिवार्य बना देगी। अतः प्रतियोगिता का उदय वस्तुओं और सेवाओं की स्वल्पता से होता है जिनको प्राप्त करने की इच्छा व्यापक अथवा सर्वव्यापी होती है। सीमित लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में साधारणतया परम्परा, प्रथा, विधान अथवा अन्य सांस्कृतिक प्रतिमानों से प्रतिस्पर्द्धा को नियन्त्रित किया जाता है। इसलिए सामाजिक जीवन में अबाध प्रतियोगिता नहीं पाई जाती है। इस स्थिति में प्रतियोगी व्यक्तियों और समूहों का आचरण समाज के प्रतिष्ठित नियमों और सम्बन्धों के अनुकूल ही होता है। समाज एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है और एक स्थिर स्थापित करता है जो प्रतिस्पर्द्धा को बनाए रखते हैं। इस प्रकार सीमित साध्य के लिए [illegible] प्रतियोगिता है जो समाज द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार [illegible] है। [illegible]

अतः प्रतियोगिता समाज द्वारा [illegible] के लिए [illegible] नियमों के अनुसार [illegible] है।[1]

---

1 Competition is a [illegible] between individuals or groups for achievement of [illegible] scarce goals and [illegible] in accordance with [illegible].

प्रतियोगिता की प्रकृति अवैयक्तिक, बहुधा अचेतन, निरंतर और सर्वव्यापी होती है। प्रतियोगी एक दूसरे से अनभिज्ञ रहते हुए उद्देश्य प्राप्ति का निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। प्रतियोगिता में उद्देश्यों पर ही सारा ध्यान केंद्रित रहता है। यदि प्रतियोगिता की दिलचस्पी प्रतिस्पर्धा के उद्देश्यों से हट कर व्यक्तिगत प्रतियोगियों पर टिक जाय तो वे प्रतिद्वंद्वी हो जाते हैं। प्रतिद्वंद्विता वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा है।[1] समस्त सामाजिक प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा सबसे अधिक अवैयक्तिक है अथवा व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता है कि वह स्वल्प सामाजिक मूल्यों के लिए प्रतियोगिता कर रहा है। यदि उसे इसकी अस्पष्ट चेतना भी हो जाय तब भी अपने प्रतियोगियों से उसका परिचय सम्भव नहीं होता है। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में परीक्षार्थियों को हजारों प्रतियोगियों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। यही बात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य है। उत्पादक को न जाने अन्य कितने उत्पादकों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। ये प्रतियोगी समाज या देश के बाहर और भीतर सभी जगह पर होते हैं। जिस सामाजिक रचना में हम रहते हैं वही हम में प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति पोषित करती है। घर में विद्यालय और खेल के मैदान में बच्चे को प्रारम्भिक जीवन में सफल प्रतियोगिता का महत्व ज्ञात होने लगता है। उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अधिकांश महत्वपूर्ण पदों तथा प्रतिष्ठा प्रतीकों में से बहुतों को प्राप्त करने के लिए उसे अपने साथियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ेगी। जो व्यक्ति मानसिक अभाव, शारीरिक विकलता अथवा स्वभावगत अनिच्छा के कारण सफलतापूर्वक प्रतियोगिता नहीं कर सकते हैं उनके व्यक्तित्व के विकास में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। प्रतिस्पर्धा हर प्रकार के समाज में मिलती है। गत्यात्मक समाजों में अपेक्षाकृत स्थिर समाजों में बहुत अधिक प्रतियोगिता होती है। सामाजिक जीवन की स्थिति और क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती है।

प्रतिस्पर्धा के रूप

सामान्यतः प्रतिस्पर्धा के सामाजिक आर्थिक राजनैतिक प्रजातीय और सांस्कृतिक रूप होते हैं। गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के चार विभिन्न रूप बताए हैं —(१) आर्थिक (२) सांस्कृतिक (३) भूमिका और स्थिति के लिए और (४) प्रजातीय।[2]

आर्थिक प्रतियोगिता उत्पादन विनिमय वितरण और उपभोग के क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों में होती है। उत्पादकों में गला-काट प्रतियोगिता से बचने के लिए बड़े व्यापार संगठन बन जाते हैं। इसी प्रकार उपभोक्ता भी अवांछित प्रतियोगिता से बचने के लिए उपभोक्ता-सहकार-संस्थाएं आदि बना लेते हैं।

1 When there is a interest from the objects of competition to the competitors themselves rivalry results Rivalry is personalized competition Ogburn and Nimkoff *Handbook of Sociology* p 234

2 Gillin and Gillin *Cultural Sociology* pp 59--600

जब दो विभिन्न संस्कृतियों में सम्पर्क होता है तो उनमें सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो जाती है। अमरीका तथा एशिया में यूरोप से आए लोगों में परस्पर प्रतियोगिता स्पष्ट हुई कि वे यहाँ अपना अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। किन्तु इन आवासियों तथा मूलनिवासियों में भी सांस्कृतिक प्रतियोगिता हुई। इस्लाम धर्म तथा हिन्दू, बौद्ध और ईसाई धर्मों में प्रतियोगिता सांस्कृतिक प्रतियोगिता का श्रेष्ठ उदाहरण है। धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा में सफलता पाने के लिए आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रतियोगिता का आश्रय लिया जाता है। एक समाज की विभिन्न संस्थाओं में प्रतियोगिता को संस्था-सम्बन्धी प्रतियोगिता कहते हैं। इस प्रकार की प्रतियोगिता आधुनिक समाजों में बहुत बढ़ गई है। हर व्यक्ति और समूह में सम्मानपूर्ण पद ग्रहण तथा स्थान पाने की स्वाभाविक इच्छा होती है। समाज में सम्मान पाने का यह साधन है। अतः विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में सामाजिक सम्मान पाने के लिए सभी कठिन और सजग प्रतिस्पर्धा होती है जिससे वे समाज में (धार्मिक समूह में) उच्चतर स्थान प्राप्त हो सकें। इसे भूमिका और प्रस्थिति के लिए प्रतियोगिता कहा जा सकता है। अमरीका तथा अफ्रीका में गोरे लोगों तथा नीग्रो और भारतीयों में होने वाली प्रतियोगिता प्रजातीय है। सारे विश्व में आधुनिक जगत में राजनीतिक और औद्योगिक प्रतियोगिता सर्वाधिक प्रचण्ड रूप धारण कर रही है। राष्ट्रों के अन्दर विभिन्न राजनीतिक दलों में शासन-सत्ता को हथियाने की होड़ में कभी सरकारों का तख्ता उलट कर स्थिर कर लिया है। चीन और पाकिस्तान इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कूटनीतिक प्रतियोगिता बड़ा प्रबल हो गया है। पूर्वी तथा पश्चिमी राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता की सफलता के लिए आर्थिक और औद्योगिक उन्नति में जो प्रचण्ड प्रतियोगिता हो रही है उससे कौन परिचित नहीं है। रूस द्वारा प्रथम कृत्रिम भू-उपग्रह के अन्तरिक्ष में छोड़ने से अमरीका का लज्जित और चिन्तित होना इस प्रतियोगिता की तीव्र भावना का परिचायक है।

प्रतिस्पर्धा और कार्यकुशलता

जाता है। ऐसी स्थिति में, मनुष्यों (और उनके समूहों तथा समितियों) में तीव्र और व्यापक प्रतियोगिता होती है। भौतिकवादी समाजों, जैसे, अमरीका, इंगलैण्ड तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्रों में सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। व्यक्तित्व के विकास, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन और संग्रह तथा सामाजिक स्थिति में उन्नति के लिए व्यक्ति या परिवार, पड़ोस, विद्यालय, खेल के मैदान, समुदाय, दफ्तर या कारखाने तथा स्थानीय स्वायत्त शासन और प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय प्रशासनिक संस्थाओं में कठोर प्रतियोगिता का मुकाबला करना पड़ता है। सारांश यह है कि व्यक्ति को सामूहिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दूसरे लोगों से प्रतियोगिता कर अपने विकास और प्रतिष्ठा को बनाये रखने का निरन्तर अथवा अथवा चेतन प्रयास करना पड़ता है। अनेकानेक समितियों और संघों का विकास इसी प्रकार की सफलता में अत्यधिक सहायक है। किंग्सले डेविस ने पाश्चात्य समाजों को लक्ष्य कर लिखा है कि वहाँ प्रतियोगिता को आधुनिक सभ्यता का एक आवश्यक लक्षण कहा जाने लगा है क्योंकि इसका और प्रगति का स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।[1]

भले ही अनियंत्रित और अवांछित प्रतिस्पर्द्धा को नकारात्मक माना जाय क्योंकि इससे समाज में संघर्ष और विघटन बढ़ता है परन्तु आधुनिक समाजों में प्रतिस्पर्द्धा को नकारात्मक मूल्य प्राप्त है। यह स्पृहणीय हो गई है और उसे यथाशक्ति प्रोत्साहन मिलता है। समाजवादी देशों में व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति को कोई स्थान नहीं है। वहाँ सामूहिक स्वार्थ ही सब कुछ है। इन सामूहिक स्वार्थों की सप्रभाविक और शीघ्र प्राप्ति के लिए वहाँ भी प्रतिस्पर्द्धा को अधिकतम महत्व प्राप्त है। वे इसे समाजवादी प्रतियोगिता कहते हैं। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये समाजवादी विभिन्न सामूहिक कृषि-संगठनों में नियन्त्रित प्रतियोगिता को पूरा प्रोत्साहन देते हैं। इसी प्रकार, विभिन्न प्रयोगशालाओं एवं कारखानों में प्रतियोगिता कराके श्रेष्ठतम परिणाम लाये जाते हैं। रूस के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास में इस समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा का भारी योगदान है। अतएव यह निःसन्देह सत्य है कि सीमित और समाज निर्देशित प्रतियोगिता में कार्य की श्रेष्ठतम सफलता के लिये स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है तथा यह न्यूनतम अपव्यय से हो जाता है। प्रतियोगिता मनुष्य और समाज की कार्य-क्षमता को बढ़ाता है।

संघर्ष

हम लिख चुके हैं कि जब प्रतियोगिताओं का अभीष्ट लक्ष्यों से ध्यान हटकर व्यक्तियों पर आ जाता है तो प्रतिद्वंद्विता पैदा हो जाती है। यह प्रतिद्वन्द्विता संघर्ष

1 In fact its obvious connection with what is call d progress has led to its enthronement in some cir les as the essential feature of modern ci ilization Kingsley Davis *Human Society* p 163-65

प्रतिकूल लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करें अथवा उनकी प्राप्ति के लिए परस्पर विरोधी रीतियाँ अपनाएँ।

संघर्ष की प्रकृति प्रतिस्पर्द्धा से भिन्न है। इसकी प्रमुख विशेषताएं चेतना, वैयक्तिकता एवं अनिरन्तरता है। संघर्ष में व्यक्ति और समूह अपने उद्देश्यों में पूर्ण परिचित होते हैं और विरोधियों की क्षमता का भी उन्हें ज्ञान होता है। उनमें परस्पर वैयक्तिक विरोध होता है। वे विरोधियों के प्रति अति सतर्क होते हैं। उनमें विरोधी को दबाने या नष्ट करने के लिए घृणा, क्रोध, तीव्र उद्वेग और अत्यधिक शक्तिशाली उत्तेजना होती है और इसी पर उनका समस्त ध्यान और प्रयत्न एकाग्र हो जाता है।[1] संघर्ष कभी भी निरन्तर एक ही तीव्रता से नहीं चल सकता। इसमें समय समय पर शिथिलता आ जाती है और कभी वह रुक जाता है। इस अनिरन्तरता का कारण यह है कि विरोधियों के तीव्र उद्वेगों में उतार चढ़ाव होते रहते हैं और उनकी शक्ति और साधनों की एकाग्रता भी समान नहीं रहती। कई बार यह शिथिलता प्रतिद्वन्द्वी को धमका न के लिए जान बूझ कर की जाती है।

संघर्ष के रूप

कुछ समाजशास्त्री संघर्ष के दो रूप—पूर्ण और आंशिक—मानते हैं। किन्तु व्यावहारिक जीवन में इन दो रूपों में भेद करना अत्यधिक कठिन हो जाता है। पूर्ण एवं आंशिक संघर्षों में केवल मात्रा का अन्तर है। संघर्ष के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपों में अन्तर करना अधिक महत्वपूर्ण है। जब दूसरों के प्रयत्नों के ठीक विरोधी कार्य किया जाय जिससे वे अपने साध्यों को न प्राप्त कर पायें तो वह प्रत्यक्ष संघर्ष होता है। युद्ध, दो दलगत संघर्ष अथवा व्यक्तियों में परस्पर मार-पीट या हत्या प्रत्यक्ष संघर्ष के उदाहरण हैं। किन्तु जब विरोधी दल एक दूसरे का प्रत्यक्ष विरोध न करके कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति का इस प्रकार प्रयत्न करें जिससे दूसरों को उन्हें प्राप्त करने में रुकावट पड़े तो इसे अप्रत्यक्ष संघर्ष कहेंगे। अनियन्त्रित प्रतियोगिता अप्रत्यक्ष संघर्ष है। विरोधी दलों में परस्पर घृणा, अविश्वास और क्रोध तथा हानि पहुँचाने की भावना अप्रकट संघर्ष है। शीतयुद्ध इसी प्रकार का संघर्ष है। इसमें दोनों विरोधियों में तनाव होता है। प्रकट या अप्रत्यक्ष संघर्ष तब प्रारम्भ हो जाता है जब विरोधी लोगों या समूहों में परस्पर प्रकट शत्रुता का अथवा हिंसा प्रारम्भ हो जाए। गृह युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध, शत्रुओं की हत्या अथवा उन्हें आहत करना, पारिवारिक झगड़े आदि इसी प्रकार के संघर्ष हैं।

संघर्ष के प्रकार

व्यक्तिगत, प्रजातीय, वर्ग, राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, संघर्ष के प्रमुख प्रकार हैं। व्यक्तिगत संघर्ष में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच संघर्ष होते हैं। क्रोध प्रति

1 Park and Burgess *Introduction to the Science of Sociology* p 574

कुछ सामूहिक संघर्ष में समूहों में परस्पर संघर्ष होता है। प्रजातीय वर्ग राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में एक या अधिक समूह दूसरों का विरोध करते हैं। आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष, राजनैतिक संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध ने विकराल रूप धारण कर लिया है। अमेरिका तथा अफ्रीका में श्वेत और श्याम जातियों के बीच का संघर्ष प्रजातीय संघर्ष है। राष्ट्र के अन्दर विरोधी राजनैतिक दलों का संघर्ष कई बार जनतन्त्र की अस्थिरता के लिए जिम्मेदार है। जनतन्त्रीय दलों में शासक दल और विरोधी दलों में निरन्तर संघर्ष चला करता है यद्यपि सभी दलों का घोषित उद्देश्य राष्ट्र-कल्याण की वृद्धि होता है। समाज के नीचे, मध्यम और ऊँचे वर्गों अथवा उद्योगपतियों और मजदूरों में संघर्ष वर्ग-संघर्ष है। पूँजीवादी व्यवस्था की विषमताओं तथा मार्क्सवादी विचारधारा ने आधुनिक युग में वर्ग-संघर्ष को उग्र रूप और जटिल बना दिया है। इसी स्थिति के कारण समूचे समाज के शक्तिशाली राष्ट्र दो गुटों में बंट गये हैं। दोनों गुट कूटनीतिक आर्थिक सामाजिक एवं औद्योगिक उन्नति करके एक दूसरे का विनाश करना चाहते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की आशंका घनी होती जा रही है और युद्ध की अत्यधिक विनाशकारी शक्ति से मानव भयभीत हो गया है। परमाणु बम हाइड्रोजन बम और दूरगामी अस्त्रों (जैसे राकेट और अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र) के उत्पादन ने भावी युद्ध की विनाशकारी शक्ति को अत्यधिक बढ़ा दिया है। यदि आणविक युद्ध हुआ तो सारे समाज की मानवता और उसकी गौरवमयी सभ्यता नष्ट हो सकती है।

संघर्ष अवश्यम्भावी क्यों है ?

यद्यपि प्रत्येक समूह अथवा समाज में संघर्ष की निन्दा की जाती है और इस को रोकने अथवा पूर्णतया नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है फिर भी संघर्ष मानव समाज का एक निरन्तर लक्षण बना रहा है। ऐसा क्यों ? क्या संघर्ष मनुष्य की प्रकृति में निहित है ? अथवा क्या संघर्ष के बिना समाज का विकास होना सम्भव नहीं है ? इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। समाज व्यक्तियों और समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। इन सम्बन्धों का मूलाधार मनुष्यों अथवा समूहों का शारीरिक अथवा जैविक एकीकरण (biological interration) नहीं है। इनका एकीकरण तो मानसिक स्तर पर होता है। इस एक दूसरे को निरन्तर नया और कायम बनाये रखने के लिए सिद्धान्तों का शिक्षण (indo trination) करना और पुनरावृत्ति तथा मानसिक प्रक्रियाओं का निरन्तर चलना नितान्त आवश्यक है। किन्तु स्वाभाविक रूप से इस कार्य अथवा पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव सामाजिक एकीकरण में विभिन्नता या असामान्यता का आना स्वाभाविक है। समाज के सदस्यों में धार्मिक आर्थिक राजनैतिक और सांस्कृतिक भेद होते हैं जो विभिन्न स्तर पर सामाजिक एकीकरण में उत्पन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में संघर्षों

की उत्पत्ति अवश्यभावी है। विभिन्न राष्ट्रीय समुदायों अथवा उपसंस्कृतियों में होने वाले संघर्षों का आधार उनकी जाति-केन्द्रीयता है। मनुष्य सदैव अपने राष्ट्र या संस्कृति को पसन्द करता है और दूसरा को नापसन्द।

मानव प्रकृति में संघर्ष निहित नहीं होता है। हां अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए विरोधी से संग्राम कर सफलता प्राप्त करने की शिक्षा हर समाज में चेतन अथवा अचेतन रूप में दी जाती है। जहां सहयोग से काम नहीं बनता वहां संघर्ष का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसीलिए मकाइवर ने कहा है कि समाज संघर्ष से काटा हुआ सहयोग है।[1] अतीत के समाजों में संग्राम और हिंसा का गवाह इतिहास है। आज भी समाज में संघर्ष अनेक रूपों में प्रकट होता है। फिर सम्भवतः संघर्ष विहीन भावी समाज की कल्पना करना मूर्खता होगी। संघर्ष के नम्र रूप—प्रतिस्पर्द्धा और स्पर्द्धा तो सदैव बने रहेंगे। हाँ प्रत्यक्ष संघर्ष का जिसमें हिंसा और बरबादी होती है, फिर वह चाहे किसी रूप में प्रकट हो समाज से बहिष्कार कर देना चाहिए। दार्शनिक बर्ट्रेंड रसल और गांधी जी का विचार है कि प्रत्यक्ष संघर्ष का बहिष्कार करना मनुष्य के लिये सम्भव है यदि उनमें ऐसा करने की उत्कट इच्छा हो। व्यक्तित्व और समाज के विकास में नम्र संघर्ष—प्रतिस्पर्धा स्पर्धा और जनतन्त्रीय प्रतिकूलता—ही आवश्यक हैं। उन्हें नियमित बनाये रखना समाज के लिये हितकर है। हाँ, जीवन की कठिनाइयों और समस्याओं से संघर्ष करने से व्यक्ति और समूह दोनों में आत्म चेतना, आत्म विश्वास बढ़ते हैं और कार्यक्षमता को बढ़ाने की इच्छा बढ़ती है। संघर्ष व्यक्ति और समूह के प्रयत्नों को एक दिशा और अधिक सशक्त होने के अवसर देता है। निरोध संघर्ष के बहिष्कार से ही मनुष्य जाति का परम कल्याण हो सकता है। विभिन्न संस्कृतियों एवं व्यवस्थाओं और शासन प्रणालियों के लोगों में शान्तिमय सह अस्तित्व रह सकता है। सबका जीवन सम्पन्न और समृद्ध बनाने का निरन्तर प्रयत्न प्रकृति अथवा अन्य बाह्य शक्तियों से संघर्ष करने से ही सफल हो सकता है। मनुष्यों में परस्पर सहयोग के परिणाम संघर्ष की अपेक्षा सब श्रेष्ठ और अधिक स्थायी होते हैं। सहयोग से ही सामाजिकता और एकता प्राप्त करने की मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा पूरी हो सकेगी।[2]

व्यवस्थापन

मनुष्य का पर्यावरण निरन्तर बदलता रहता है। उसमें होने वाले समस्त परिवर्तनों को मनुष्य या समूह भी पसन्द नहीं करते। नापसन्द परिवर्तनों (बाधाओं अथवा

---

1 Society is co-operation crossed by conflict
2 P Gisbert *Fundamentals of Sociology* (Orient Longman 1927) p 37

परिस्थितियों) से वे संघर्ष करने लगते हैं। किन्तु यदि इस संघर्ष में वे उन्हें अपनी इच्छानुकूल नहीं बना पाते तो फिर क्रमशः धीरे धीरे समायोजन कर लेते हैं। इसी समायोजन की प्रारम्भिक अवस्थाओं को व्यवस्थापन कहते हैं। व्यवस्थापन संघर्षों का स्वाभाविक निष्कर्ष (परिणाम) है। व्यवस्थापन में परस्पर संघर्षरत तत्वों का विरोध कुछ समय के लिये नियन्त्रित हो जाता है और प्रत्यक्ष कार्य के रूप में संघर्ष गायब हो जाता है यद्यपि सम्भाव्य शक्ति के रूप में यह प्रच्छन्न बना रहता है।[1] गिलिन और गिलिन लिखते हैं कि प्रतियोगिता और संघर्ष में व्यवस्थापन विशेषकर वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति या समूह सहगामी एकता के हित में अपनी विरोधी क्रियाओं का समायोजन कर लेते हैं।[2] व्यवस्थापन का तात्पर्य उन सामाजिक परिवर्तनों जैसे मान्यतों रस्म व्यवहार प्रतिमान प्रविधियाँ संस्थाएँ परम्पराएँ आदि से हैं जो [illegible] और उपलब्ध के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। मैकाइवर और पेज के अनुसार व्यवस्थापन का अभिप्राय विशेषकर उस प्रक्रिया से है जिससे मनुष्य अपने पर्यावरण से सामञ्जस्य की भावना उत्पन्न कर लेता है।[3] जोन्स ने लिखा है कि एक अर्थ में व्यवस्थापन असहमत रहने के लिये समझौता कहा जा सकता है। इन सभी लेखकों के विचारों का सारांश यह है कि विद्यमान परिस्थितियों को नापसन्द करते हुए भी उनसे प्रत्यक्ष संघर्ष न करना व्यवस्थापन है। इस सामाजिक प्रक्रिया से नापसन्द वर्तमान दशाओं से अनुकूलन कर संघर्ष प्रतियोगिता एवं प्रतिकूलता से उत्पन्न कठिनाइयों पर काबू पाने का प्रयत्न किया जाता है।

रायटर और हार्ट व्यवस्थापन को एक प्रक्रिया और दशा दोनों मानते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में व्यवस्थापन प्रयत्नों का वह क्रम है जिससे मनुष्य परिवर्तित दशाओं के कारण मानसिक आदतों और दशाओं का निर्माण करके जीवन की परिवर्तित दशाओं से समझौता कर लेता है। और एक दशा के रूप में व्यवस्थापन सम्बन्धों की एक अवस्था से परिचय और उसकी स्वीकृति है जो समूह में मनुष्य की अथवा एक अधिक व्यापक सामाजिक संगठन में समूह की परिस्थिति निश्चित करती है।[4] हर व्यक्ति और समूह अपने समाज की कुछ वर्तमान दशाओं से असन्तुष्ट रहते हुए भी परिस्थितियों में अपेक्षाकृत शान्तिमय व्यवहार करता है। सामाजिक इच्छाओं के सामने

---

1 Accommodation is the natural issue of conflicts. In an accommodation the antagonism of the hostile elements is for the time being regulated and conflict disappears as overt action although it remains latent as a potential force. Park and Burgess op cit p 655

2 ... in competition as is conflict accommodation is a process by which the individual and the group adjust their antagonistic activities in the interest of associated unity. Cultural Sociology p 5..

3 The term accommodation refers particularly to the process in which man attains a sense of harmony with his environment. ... Society p 1..

4 Reuter and Hart Introduction to Sociology (McGraw Hill Book Co) p 322

उनकी उच्छाएं दबी रहती हैं। अनौपचारिक रूप से विरोध प्रकट करने के बाद भी वे औपचारिक विरोध नहीं प्रकट करते और प्रचलित अवस्था के अनुकूल प्रकट आचरण करने लगते है। इसलिये एक अर्थ मे व्यवस्थापन को समस्त औपचारिक सामाजिक संगठन का आधार कहा जा सकता है। समाजो मे सम्पत्ति के अधिकार निहित स्वार्थ पारिवारिक संगठन दासता, जातियाँ और वर्ग आदि सभी व्यवस्थापन के प्रतिनिधि हैं। उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों में असमानता, अन्याय और अयोग्यताओं के प्रति सदव से विद्रोह और घृणा की भावना रही है किन्तु फिर भी वे विवश होकर वर्तमान दशाओं से न्यूनाधिक समायोजन बनाये रहते हैं। उनकी स्वाभाविक इच्छाएं सीमित रहती हैं जिससे सामाजिक शान्ति बनी रहती है। परन्तु यह स्थिति पूर्ण अनुरूपता अथवा शान्ति की अवस्था में कभी भी विकसित नहीं हो पाती। व्यवस्थापन से दु:खदायी कठिनाइयों पर काबू पाने के लिये संघर्ष को केवल टालकर आवश्यकतानुसार अनुरूपता लाई जाती है।

इस तरह व्यवस्थापन एक अत्यधिक गत्यात्मक प्रक्रिया है क्योंकि यह संघर्षरत शक्तियों में एक सन्तुलन है जो कभी भी पुन: खुली हिंसा में बदल सकता है। संघर्ष को जन्म देने वाले तनाव और विरोध कदापि समाप्त नहीं होते, वे केवल अस्थायी रूप से नियन्त्रित हो जाते हैं। भारत में जाति व्यवस्था तथा दक्षिणी अफ्रीका में श्वेत और प्रजातियों की व्यवस्था विभिन्न जातियों अथवा प्रजातियों में व्यवस्थापन का परिणाम है। इनके निहित स्वार्थों (उच्च द्विज जातियाँ तथा श्वेत लोगों) को सदैव यह आशंका बनी रहती है कि शूद्र अथवा अश्वेत लोग किसी दिन भी अपने प्रति अन्याय और अयोग्यताओं से पीड़ित होकर इन व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह कर सकते हैं।

संघर्ष से विरोधी पक्षों की सामाजिक परिस्थिति निश्चित हो जाती है। व्यवस्थापन इसे औपचारिक बनाकर अपेक्षाकृत स्थायी कर देता है क्योंकि विजित (निबल) विजेता (प्रबल) के सामने झुक जाता है और परिस्थिति अनुकूल आचरण करने लगता है। पराजित समूह दूसरे की आधीनता न्यूनाधिक स्थायी रूप से स्वीकार कर लेता है और दूसरा अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिये अधीनों के प्रति अपने दायित्वों का पूरा करने का प्रयास करता है। अतएव जिन पक्षों में व्यवस्थापन होता है वे एक दूसरे के प्रति दायित्वों और अधिकारों को निभाने लगते हैं। परन्तु फिर भी दोनों पक्षों में प्रेम और घृणा की मनोवृत्तियाँ साथ-साथ बनी रहती हैं।[1]

संक्षेप में व्यवस्थापन की प्रकृति के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण हैं —

---

1 In accommodation ... both love and hate attitudes coexist. Ogburn and Nimkoff *Handbook of Sociology* p 252

(अ) यह संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है। व्यवस्थापन संघर्ष के कारण उत्पन्न होता है और संघर्ष को ही कम से कम प्रत्यक्ष रूप में, दूर करता है।

(आ) व्यवस्थापन नाना दशाओं में अनिच्छा से ही अनुकूलन करता है। आवश्यकतानुसार अनुरूप आचरण करने के साथ ही वर्तमान स्थिति में पूर्ण होती है।

(इ) यह अधिकांशतः अचेतन प्रक्रिया है। वर्तमान परिस्थिति का यथासम्भव ज्ञान हो जाने पर ही व्यवस्थापन हो सकता है। किन्तु कई बार यह अप्रत्यक्ष अथवा अचेतन अवस्था में ही होता है। कई दशाओं में जब नये सामाजिक सम्बन्धों से सम्बद्ध मूल्यों और मनोवृत्तियों में लोग धीरे धीरे और अप्रत्यक्ष अथवा अचेतन रूप से प्रभावित होते रहते हैं। बहुधा उन्हें इस प्रभाव का अनुभव तब होता है जब यह बहुत आगे बढ़ चुका है।

व्यवस्थापन के प्रकार

साधारणतया व्यवस्थापन के दो प्रकार होते हैं (१) समन्वित और (२) प्रभुता आधीनता युक्त।

(१) समन्वित व्यवस्थापन—यदि दो समान शक्ति वाले पक्षों में प्रतियोगिता या संघर्ष होता रहा हो तो उनके बीच वाले व्यवस्थापन को समन्वित व्यवस्थापन कहते हैं। समान शक्ति वाले दो प्रतियोगी विक्रेताओं अथवा [illegible] में यदि यह [illegible] पर मत हो जायगा कि भविष्य में व्यापार पर दोनों का समान हित [illegible] तो उनके [illegible] व्यवस्थापन होगा। [illegible] समान शक्तिशाली राष्ट्रों, राजनीतिक दलों, उद्योगपतियों और श्रमजीवियों में व्यवस्थापन भी इसी प्रकार का होगा। परन्तु मामलों पर [illegible] झगड़ा होने पर जब समझौता हो और दोनों कुछ बातों में झुककर समझौता कर लें तो भी इसी प्रकार का व्यवस्थापन होगा।

(२) प्रभुता आधीनतायुक्त—यह दो असमान प्रतियोगियों अथवा [illegible] में व्यवस्थापन है। इसमें प्रबल पक्ष सबल निर्बल का [illegible] रहता है। [illegible] पराजित या प्रतियोगियों में संघर्ष का त्याग कर प्रबल या विजेता की शर्तों के अनुसार ही समझौता करना पड़ता है। धार्मिक क्षेत्र में धर्मसंस्थापक तथा [illegible] के बाद इसी व्यवस्थापन का [illegible] मिलता है यदि उनमें से कोई भी दूसरे से अधिक निर्बल हो। १८५७ ई० के भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में जब अंग्रेज विजयी हुए तब से १९४७ ई० तक भारतीयों का अंग्रेजों के साथ में व्यवस्थापन इसी प्रकार का रहा। इस प्रकार व्यवस्थापन में निर्बल [illegible] बहुत [illegible] जाता है किन्तु [illegible] में [illegible] रहता है कि भविष्य में वहीं का अवसर मिलने पर [illegible] का [illegible] किया जायगा।

दोनों प्रकार के व्यवस्थापन में समझौता न्यूनाधिक अस्थायी होता है और विद्यमान स्थिति पर निर्भर रहता है।

व्यवस्थापन की रीतियाँ

व्यवस्थापन लाने की अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। इनके विकास के दो आधार होते हैं (१) पक्षों में सम्बन्धों का प्रकार और (२) लोगों की संस्कृति। गिलिन और गिलिन ने व्यवस्थापन की ७ प्रधान रीतियाँ बताई हैं (१) बलप्रयोग के सामने झुकना, (२) समझौता (३) पंचनिर्णय और सराधन (४) सहिष्णुता (५) स्थिति परिवर्तन, (६) उत्पादन और (७) युक्तिकरण।[1] हम यहाँ इन रीतियों का अति संक्षिप्त परिचय देंगे।

शारीरिक अथवा मानसिक बल प्रयोग के सामने झुककर अपने अधिकारों को छोड़ने को *बल प्रयोग से पृथकता* कहते हैं। समझौते में *लगभग समान शक्तिशाली* पक्ष संघर्ष अथवा प्रतियोगिता को छोड़कर अपने अपने कुछ स्वार्थों का त्याग कर मेल कर लेते हैं। दो समान शक्तिशाली पक्षों के संघर्ष को यदि तीसरे पक्ष की मध्यस्थता से मिटाया जाता है तो इसे पंचनिर्णय एवं सराधन कहते हैं। पहली रीति में मध्यस्थ का निर्णय दोनों पक्षों को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। दूसरी रीति में मध्यस्थ समझौते की शर्तों का सुझाव दे सकता है, उन्हें स्वीकार करना या न करना सम्बद्ध पक्षों पर आश्रित रहता है। यह दोनों रीतियाँ मध्यस्थता के ही रूपान्तर हैं। मध्यस्थता में तीसरा असम्बद्ध पक्ष संघर्षरत पक्षों के विचारों और दृष्टिकोणों को एक दूसरे तक ले जाता है और उन्हें उनका स्पष्टीकरण भी कर देता है। वह स्वयं अपना सुझाव या निर्णय नहीं देता।

सहिष्णुता में दोनों पक्ष एक दूसरे के दृष्टिकोणों और स्वार्थों के प्रति सहानुभूति और उदारता से सोचते हैं और यथासम्भव उन्हें स्वीकार करने का प्रयास करते हैं। सहिष्णुता प्रशंसनीय भी हो सकती है। पारस्परिक भेदों का शान्ति से सहना ही सहिष्णुता है। *स्थिति परिवर्तन व्यवस्थापन की बड़ी असाधारण रीति है।* अपने धर्म या संस्कृति को छोड़कर दूसरे धर्म या संस्कृति को अपना लेना स्थिति-परिवर्तन है। ऐसा बहुधा व्यक्ति ही करते हैं पर कभी कभी समूह समूहों ने धर्म परिवर्तन किया है। उत्पादन व्यवस्थापन का वह प्रकार है जिसमें व्यक्ति या समूह प्रतियोगी अथवा संघर्षात्मक क्रियाओं के स्थान पर ऐसी प्रतिक्रियाओं को करने लगते हैं जो यथार्थ या सम्भावित विरोधी भी कुछ कुछ स्वीकार करें। इस रीति में उन उद्वेगों को बाहर

---

1 (1) yielding to coercion (2) compromise (3) arbitration and conciliation (4) toleration (5) conversion (6) sublimation and (7) rationalization *Cultural Sociology* p 459 Eldredge and Merrill in their work cited before have contended that both arbitration and conciliation ordinarily involve mutual compromise on the part of the conflicting groups

निकल जाने का अवसर मिल जाता है जो विरोध की स्थिति में जन्म ले। धर्म परिवर्तन में यह नीति सबसे स्पष्ट कार्य करती है। मनुष्य या समूह अपनी पुरातन मान्यताओं और मनोवृत्तियों के स्थान पर नई मान्यताओं और मनोवृत्तियों को अपना लेता है। युक्तिकरण वह प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति अथवा समूह एक विशिष्ट व्यवहार अथवा मनोवृत्ति को किसी न किसी युक्ति से उचित ठहराता है। जब कोई अच्छा विद्यार्थी परीक्षा में असफल हो जाता है तो कह उठता है 'परीक्षाएँ किसी की योग्यता का यथार्थ परीक्षण नहीं हैं।' अथवा जब कोई व्यक्ति श्रेष्ठ सरकारी नौकरी में नहीं लिया जाता तो वह अपनी अवस्था के बारे में यों कहता है 'अरे आज सरकार में योग्यता को कौन पूछता है? वहाँ तो सिफारिश चलती है' आदि। इसी प्रकार १९५६ ई० के मिस्र पर इसराइली आक्रमण में इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों युद्ध में कूद पड़े। कारण? 'हम ऐसा इसलिए कर रहे हैं कि पश्चिमी एशिया में भयंकर युद्ध न फैल जाए।'

व्यवस्थापन के परिणाम

संघर्ष और प्रतियोगिता को रोकना, विरोध को नष्ट करना, विभिन्नता लिए हुए व्यक्तियों में समन्वय लाना, संस्थाओं तथा परिस्थितियों में संशोधन करना और आत्मसात्करण के लिए मार्ग साफ कर देना आदि व्यवस्थापन के मुख्य परिणाम हैं।[1]

व्यवस्थापन के सामाजिक यन्त्र

आधुनिक समाजों में परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होते हैं। फलतः मनुष्य को अनेक नई दशाओं से व्यवस्थापन करना पड़ता है। इस कार्य में उसकी सहायता के लिए राज्य, सार्वजनिक निर्वाचन, न्यायालय, पुलिस, व्यवस्थापिका सभाएँ (संसद आदि) आदि बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। आधुनिक जनतन्त्रीय राज्य व्यवस्थापन के सिद्धान्त की सफलता का ज्वलन्त उदाहरण है। राष्ट्रों के क्षेत्रीय संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यवस्थापन करने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति, परिवार और समूहों का नई परिस्थितियों से व्यवस्थापन कराने में समाज-कार्यकर्त्ता, समाज-कार्य संगठन और मानस-चिकित्सक एवं मानस-चिकित्सा संस्थाएँ आदि नये सामाजिक यन्त्र सर्वत्र सभ्य समाजों में विकसित हो गये हैं।

अन्य समूह-स्तरों के मध्य व्यवस्थापन के लिए विविध प्रकार की सामूहिक क्रियाएँ विकसित कर ली गई हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) सूचना, शिक्षा और प्रचार, (२) राजनीतिक और कानूनी न्याय, (३) समझौता और पंच-निर्णय, अन्तःसमूह संगठनों का संगठन, (४) शिक्षणात्मक, मनोरंजनात्मक और सांस्कृतिक क्रियाओं में अन्तःसमूह संगठनों का संगठन, (५) विभिन्न जातियों, प्रजातियों अथवा

---

1 Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, pp. 517 [illegible]

धार्मिक सम्प्रदायों में पारस्परिक आदान प्रदान और समायोजन के लिए संगठन, (६) सार्वजनिक प्रशंसा और पारितोषिक (७) व्यक्ति और समूह की मानसिक चिकित्सा, एवं (८) अनुसंधान और तथ्यों की खोज।[1]

वर्तमान सभ्य समाजों में इन विकासों के कारण व्यवस्थापन की प्रक्रिया कम कठोर है। परन्तु व्यवस्थापन की प्रक्रिया अत्यधिक जटिल फिर भी है।[2]

सात्मीकरण

व्यवस्थापन की भाँति सात्मीकरण भी सामाजिक समायोजन का एक रूप है। प्रतियोगिता, प्रतिकूलता और संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम व्यवस्थापन है। यदि उन्हें आवश्यकतावश कुछ या अधिक समय के लिए नियन्त्रित किया जाय और विरोधी पक्ष से समझौता कर लिया जाये। व्यवस्थापन सम्पन्न हो जाने पर सात्मीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

सात्मीकरण का अर्थ है असमान व्यक्तियों और समूहों का स्वार्थों और दृष्टिकोणों में समान हो जाना। पार्क और बर्गेस की परिभाषा अत्यन्त प्रसिद्ध है : सात्मीकरण, अन्तःप्रवेश और एकता की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों की स्मृतियों, भावनाओं, रुखों को अपना लेते हैं और उनके अनुभव और इतिहास में भागीदार बनकर उनके साथ एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में सम्मिलित हो जाते हैं।[3]

यागाइम ने लिखा है : सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिससे अनेक व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ एक हो जाती हैं और वे एक एकता पूर्ण समूह में विकसित हो जाते हैं। आगबर्न और निमकॉफ ने भी लिखा है कि सात्मीकरण की प्रक्रिया असमान व्यक्तियों और समूहों के स्वार्थों और दृष्टिकोणों को एक कर देती है।[4]

व्यवस्थापन में जो समायोजन होता है वह तीव्र और विस्तारयुक्त होता है। सात्मीकरण की प्रक्रिया बड़े धीरे धीरे (क्रमिक) और अचेतन होती है। इसमें व्यक्ति या समूह को दूसरे व्यक्ति अथवा समूह की भावनाओं में सम्मिलित होकर नई परिभाषाओं और मान्यताओं को धीरे धीरे ग्रहण करना पड़ता है। सात्मीकरण सामाजिक मनोवृत्तियों का एक संशोधन है, नई परिस्थितियों तथा भूमिकाओं की

---

1. Merrill and Eldredge *op cit* 402—7 [as adapted by them from R M Williams (Jr) The Reduction of Intergroup Tensions (New York 1947) pp 20-25
2. See also *Accommodation* in chapter 10 of this book
3. Assimilation is a process of interpenetration and fusion which persons and groups acquire the memories, sentiments and attitudes of other persons or groups and by sharing their experience and history are incorporated in a common cultural life *Introduction to the Science of Sociology* p 735
4. Assimilation is the process whereby individuals or groups once dissimilar become similar that is become indentified in their interests and outlook *Handbook of Sociology* p 735

प्राप्ति और नये प्रतीकों से एक परिचय है। इन प्रक्रियाओं को सम्पन्न होने में बहुत समय लगता है।[1] सात्मीकरण एक प्रक्रिया भी है और दशा भी।

आधुनिक समाजों में विजातीय संस्कृतियों के घनिष्ठ सम्पर्क और जनसंख्या के निष्क्रमणों ने सात्मीकरण को अत्यधिक व्यापक प्रक्रिया बना दिया है। दसवें अध्याय में हम इस तथ्य की सविस्तार विवेचना कर चुके हैं। सात्मीकरण की सफलता के लिये दो दशाओं का होना आवश्यक है (१) अधिकतम संचार और (२) प्राथमिक सामाजिक सम्पर्क। भारतीय समाज जो जाति-व्यवस्था के कठोर स्तरीकरण का दृश्य है में सात्मीकरण की प्रक्रिया मुक्त वर्ग व्यवस्था वाले समाजों (जैसे अमरीका) की अपेक्षा कम और धीमी होगी। वर्तमान अमरीकी समाज अनेक असमान लोगों और संस्कृतियों के सात्मीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है। रूस में भी विभिन्न आधुनिक तथा प्राचीन समुदायों के सात्मीकरण से पूर्ण एकीकरण सम्भव हो गया है।

सात्मीकरण, व्यवस्थापन और सम्मिश्रण

मनुष्य या समूह जब अपने पर्यावरण की वर्तमान दशाओं से प्रतियोगिता और संघर्ष करते-करते उनसे अस्थायी समायोजन कर लेते हैं तो व्यवस्थापन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। व्यवस्थापन मनुष्यों और समूहों द्वारा अपने विरोधियों अथवा प्रतियोगियों (अथवा नापसन्द स्थितियों) से अपेक्षाकृत अस्थायी अनुकूलन करने की प्रक्रिया है। किन्तु अधिकतम व्यवस्थापन जहाँ समाप्त होता है वहाँ सात्मीकरण प्रारम्भ होता है। सात्मीकरण में असमान मनुष्यों, समूहों अथवा संस्कृतियों में ऐसा समायोजन होता है जिससे उनके भिन्न रूपों और दृष्टिकोणों में पूर्ण एकता स्थापित हो जाय। पूर्ण सात्मीकरण से पूर्ण सामाजिक एकीकरण की स्थिति आ जाती है। सामाजिक एकीकरण वह प्रक्रिया है जिससे एक समाज के विविध वर्गों, जातीय समूहों अथवा दूसरे भिन्न भिन्न तत्वों का समन्वय एक संयुक्त सम्पूर्ण में हो जाता है।[2] सम्मिश्रण एक शारीरिक और प्रजातीय प्रक्रिया है।[3] दो प्रजातीय समूहों, वर्गों अथवा संस्कृतियों में अन्तर्विवाह से उनके रक्त और रूप रंग का सम्मिश्रण होता है। सम्मिश्रण से वर्णसंकरता उत्पन्न होती है। सम्मिश्रण के विपरीत व्यवस्थापन और सात्मीकरण दोनों मानसिक और सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं।[4]

सात्मीकरण की सफलता

सात्मीकरण के सहायक ये कारक हैं[5] —(१) सहिष्णुता (२) [illegible] सामाजिक सम्पर्क (३) सांस्कृतिक और प्रजातीय समानता (४) समान आर्थिक अवसर और (५) सम्मिश्रण। पृथक्करण, वर्ग तथा शारीरिक भेदों और संस्कृति की

---

1 Merrill & Eldredge, op. cit., p. 503.
Social integration is the process of coordinating the various classes, ethnic groups or other diverse elements of a society into a unified whole.

भिन्नता, प्रभुता प्राधीनता, श्रेष्ठता हीनता की उग्र भावनाएँ तथा सामाजिक सपोग्न जम यारवा स आत्मीकरण म बाधा पडती है।

एकीकरण

हम पीछे कह चुके हैं कि आत्मीकरण और उसकी सहयोगी सास्कृतिक प्रक्रियाओं का परिणाम सामाजिक और सास्कृतिक एकीकरण होता है यदि उनम कोई बाधा न पडे। बहुधा इस एकीकरण को हम सामाजिक एकता (social unity) कहते हैं। समाज एक कायशील सगठन है। अतएव प्रत्येक समाज मे कुछ अशो म एकीकरण होना अनिवाय है। सामाजिक एकीकरण म अन्तक्रिया के सामाजिक *सारूप्य का महत्व तो है किन्तु उसमे तथा सस्कृति प्रतिमानो म अभिन्न सम्बन्ध है।* किसी समाज म एकीकरण का अभिप्राय सगठन प्रथानुकूल व्यवहार, मनोवृत्तियो, हितो और भावनाओ क सगठन से है। यह सम्पूण व्यवहार सस्कृति द्वारा प्रति मानित होता है। सहगामी प्रक्रियाए अन्त कुछ व्यक्तियो तथा समूहो क बीच के भेदो को मट देती हैं। तो क्या एकीकरण सामाजिक सजातीयत्व का समानार्थी है? कदापि नही। एकीकरण का अथ यह नही है कि समाज के व्यक्तियो तथा समूहो म कोइ आन्तरिक भेद नही है और वे सब बातो म समान हैं। यदि इसे एकीकरण का लक्षण माना जाए तो फिर ससार का कोई समूह या समाज एकीकृत नही कहा जायगा।

गिलिन और गिलिन न लिखा है कि एकीकरण सजातीयत्व न होकर सगठन है।[1] एक समूह या समाज म एकीकरण की वही अश होगा जिसम उसके सदस्यो सामाजिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ और उसकी सस्कृति म सामान्य प्रयोजनो अथवा लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए सगठन होगा। एक एकीकृत समूह म व्यक्ति और समूह म कोई भेद नही होता। प्रत्येक व्यक्ति का समाज की व्यवस्था म एक सुसगठित स्थान (अथवा अनेक स्थान) होता है और वह प्रथानुकूल ही आचरण करता है जो सम्पूर्ण सस्कृति के अनुरूप है तथा सभी सामान्य नियम स निश्चित लक्ष्यो की प्राप्ति की ही प्रयत्न करते हैं। एकीकरण म सजातीयत्व नही हो सकता क्योकि उसम तो विभिन्न तत्वो म न्यूनाधिक पारस्परिकता और सतुलन एव सन्तुलित और पूरक प्रकार क काय का होना आवश्यक है। एकीकरण काय कुशलता का भी पर्यायवाची नही है। एकीकरण के अभाव म भी अधिकतम कायकुशलता सम्भव हो सकती है।

एकीकरण क प्रमुख लक्षण ये हैं पर्याप्त समाजीकरण सामान्य लक्ष्य तथा दृष्टिकोण और सस्कृति के तत्वो म परस्पर तादात्म्य क सम्बन्ध। प्रत्येक समाज म कुछ असगतियाँ रहा करती हैं किन्तु यदि यह असगतियाँ अधिक हो तो फिर समाज म एकीकरण कदापि नही हो सकता। इसलिए हर समाज छोटी मोटी असगतियो को

1 Integration is organisation rather than homogeneity *Cultural Sociology* p 580

सहन करता है किन्तु सारी असंयुक्तताओं को विनष्ट कर संयुक्तता की प्रवृत्ति को सबल बनाता है। अपर्याप्त समाजीकरण और विस्थापन प्रक्रियाओं एवं आर्थिक सहमति से निश्चित लक्ष्य एकीकरण में बाधक होते हैं।

आधुनिक समाजों में बहुत विजातीयत्व (heterogeneity) है और व्यापक तथा भारी परिवर्तनों ने इन्हें अधिक विघटित कर दिया है। अतएव इनमें एकीकरण के निरन्तर प्रयत्न होते रहते हैं। एक अधिक पूर्ण सामंजस्य लाने के लिए समाज के विभिन्न तत्वों में हर प्रकार का समायोजन करने की कोशिश की जाती है। सात्मीकरण की प्रक्रिया इस प्रयत्न में अत्यधिक सहायक होती है। यह समाज के समस्त तत्वों—जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों, विचारों तथा आदर्शों को कुछ न कुछ एकत्र पूर्ण प्रतिमान में एकीकृत कर देता है। साथ ही, विविध सामाजिक संस्थाओं—परिवार, आर्थिक, राजनीतिक और शिक्षा की पद्धतियों और वेश भूषा तथा जीवन के विभिन्न सम्बन्धों में आचरण के प्रकारों में परस्पर इस प्रकार समायोजित होने की प्रवृत्ति आ जाती है जिससे समाज के सदस्यों को किसी भारी खींचा-तानी (stress and strain) का अनुभव नहीं होता। ऐसा होने पर समाज में एकीकरण आ जाता है और उसके विभिन्न तत्व इधर उधर के होने पर भी परस्पर एक मत (fused) हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार जो सन्तुलन स्थापित होता है वह वर्तमान आधुनिक औद्योगिक और प्राविधिक कारणों से निरन्तर बिगड़ता रहता है और इसलिए सम्भवतः कभी भी तो सम्पूर्ण नहीं हो पाता। यही कारण है कि प्रत्येक आधुनिक समाज में सामाजिक असमायोजन का कुछ न कुछ अंश होना निरन्तर स्वाभाविक है।

३०

सामाजिक नियन्त्रण

सतत् परिवर्तनशीलता हमारे समाज का प्रमुख गुण है। सामाजिक संरचना के विभिन्न भागों का विश्लेषण करते हुए हमने देखा है कि अस्थिर और चपल सामाजिक संरचना स्थायी बनी रहती है। प्रत्येक अवस्था में उसका एक निश्चित स्वभाव होता है और उसके प्रधान तत्वों में परिवर्तन होने पर भी उसमें अनिक दृढ़ता (persistence) दिखाई देती है। अतः यह प्रश्न उठता है कि सामाजिक संरचना में एकता और समन्वय बनाए रखने वाली कौन-सी शक्तियाँ हैं और वे कैसे कार्यशील होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में जितना समाजशास्त्रीय साहित्य रचा गया है उसे 'सामाजिक नियन्त्रण' के शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है। प्रस्तुत अध्याय में हम इस समस्त साहित्य की ऐतिहासिक समीक्षा करना उपयुक्त नहीं समझते हैं। उत्सुक पाठक उसे अन्यत्र पढ़ सकते हैं।[1] इस समय हमारा प्रयोजन सामाजिक नियन्त्रण के सामान्य अर्थ, उसके मुख्य प्रकारों, स्वरूपों, साधनों और आधुनिक समाज में उसकी क्रिया (operation) का विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

अर्थ और प्रयोजन

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस ढंग से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और स्थायित्व बने रहते हैं अथवा जिससे यह समग्र व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती है।[2] समाजशास्त्र की केन्द्रीय समस्या सामाजिक व्यवस्था और व्यक्ति अथवा सम्पूर्ण और इकाई के सम्बन्ध का सही निर्देश करना है। सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध इस समस्या के सैद्धान्तिक

---

1 Curvitch and Moore 30th Century Sociology Chapter on Social Control S tion J

2 .. By social control is meant the way in which the entire social order coheres and maintains itself—how it operates as a whole as a changing equilibrium Maclver and Pag op cit p 137

और व्यावहारिक पक्षों से है हमने यह देखा है कि समाज व्यक्तियों के व्यवहार को किस प्रकार प्रतिमानित करता है और व्यक्तियों का प्रतिमानित एवं प्रमाणीकृत व्यवहार किस प्रकार सामाजिक संगठन को बनाए रखता है। परन्तु ध्यान रहे सामाजिक नियन्त्रण का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए सामाजिक नियन्त्रण का व्यक्ति और समाज के तथाकथित संघर्षों से विशेष सम्बन्ध दिखाना परम्परागत गलती को दोहराना है। असम्बद्ध पृथक-पृथक व्यक्तियों पर 'व्यवस्था' थोपना भी सामाजिक नियन्त्रण का काम नहीं है और न यह व्यक्तियों को समाज में संगठित करने का कोई यन्त्र है। इसी प्रकार, समाज के अनन्य आत्म नियमन (self regulation) अथवा आत्म निर्णय को भी सामाजिक नियन्त्रण नहीं कहा जा सकता है। सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक विकास और प्रगति का एक यन्त्र भी नहीं है और न आध्यात्मिकता का माध्यम। हाँ, सामाजिक नियन्त्रण का निश्चय ही उस तनाव (tension) संघर्ष और विद्रोह स्थितियों (revolt situations) से वास्ता है जो व्यक्ति और सामाजिक जीवन के साधारण लक्षण हैं। व्यक्ति और समाज की दृष्टियों में पारस्परिकता (reciprocity of perspectives) है। इसलिए उपरोक्त स्थितियों की विशेषता यह है कि विभिन्न स्तरों (depth levels) समूहों प्रतिमानों नियमों मूल्यों, विचारों और आदर्शों के बीच संघर्ष अवश्य रहता है किन्तु इससे व्यक्ति और समाज के बीच यथार्थ संघर्ष कभी नहीं होता है।

अत सामाजिक नियन्त्रण सांस्कृतिक प्रतिमानों सामाजिक प्रतीकों सामूहिक आध्यात्मिक अर्थों, मूल्यों विचारों और आदर्शों के सम्पूर्ण योग अथवा सम्पूर्ण को कहा जा सकता है। इसमें उन क्रियाओं और प्रक्रियाओं का भी समावेश होता है जो प्रत्यक्षत इन सबसे सम्बन्धित हैं जिनसे सम्पूर्ण समाज उसका प्रत्येक विशिष्ट समूह और उसमें भाग लेने वाला हर व्यक्ति अपने भीतर के तनावों और संघर्षों पर अस्थायी सन्तुलन के द्वारा काबू पा लेता है और नए रचनात्मक प्रयत्नों की ओर अग्रसर होता है।[1] गुरविच की यह परिभाषा सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट कर देती है। प्रो० गिलिन और गिलिन की परिभाषा भी देखिए "सामाजिक नियन्त्रण सुझाव अनुनय प्रतिरोध और हर प्रकार के बलप्रयोग जिसमें शारीरिक बल भी शामिल है जैसे उपायों की वह व्यवस्था है जिससे एक समाज अपने उप-समूहों के व्यवहार को स्वीकृत प्रतिमान के अनुरूप बनाता है अथवा जिससे एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को अपने अनुकूल ढाल लेता है।"[2]

---

1 Gurvitch and Moore, op. cit., pp. [illegible]
2 We shall define social control as the system of measures—suggestion, persuasion, restraint and coercion by whatever means including physical force—by [illegible] a society brings into conformity to the approved pattern of behaviour a subgroup or by which a group moulds into conformity its members. Cultural Sociology, p. [illegible]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं का सारांश यह है कि सामाजिक नियंत्रण आंशिक रूप से उन सब आयोजित और आयोजना रहित प्राथमिक प्रक्रियाओं का सामूहिक नाम है जिनमें व्यक्ति को समूह और समूह को विशद् समाज के आदर्शात्मक प्रतिमान (normative pattern) मूल्यों विचारों एवं आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने को प्रलोभित (induce) या बाध्य (compel) किया जाता है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला गया था। सामाजीकरण में ऐसी प्रक्रियाओं का समावेश होता है जिससे व्यक्ति के विकास की अवधि (development period) में उस समूह पर दबाव डालकर उसकी मनोवृत्तियों और व्यवहार का अनुमोदित आचरण व्यवस्था में एकीकरण कराता है। सामाजिक नियन्त्रण में एक समूह के विशेषकर और व्यक्तियों का अथवा समाज के संघटक समूहों को सकारात्मक अथवा नकारात्मक रीतियों (निरसन elimination) से एकता में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजीकरण व्यक्ति में सामाजिकता के विकास के लिए जिस प्रक्रिया का आविर्भाव करता है उसका व्यक्ति के जीवन भर निरन्तर परिपुष्टि करने का कार्य सामाजिक नियन्त्रण का है। यह समाज के उपसमूहों अथवा समूहों को भी एक कार्यशील इकाई का अंग बनाता है। इसलिए सामाजीकरण और सामाजिक नियन्त्रण दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं।

सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य (प्रयोजन) यह है कि सामाजिक व्यवस्था में एक अपरिमित अंश में इतना बनी रहे नहीं तो व्यक्तियों का जीवन अनिश्चित और कष्टमय हो जायगा और सामूहिक सम्मिलन में भारी बाधा पड़ेगी। सामाजिक संगठन की शाश्वत चपलता और अस्थिरता में दृढ़ता कायम रखकर उसका शाश्वत संरक्षण करना तथा विभिन्न समूहों के कार्यों में समरूपता लाना ही सामाजिक नियन्त्रण का प्रयोजन है। व्यक्ति और समाज के बीच के तथाकथित संघर्षों को मिटाना, असम्बद्ध पृथक्-पृथक् व्यक्तियों पर सामाजिक व्यवस्था थोपना समाज के संगठन का यन्त्र अथवा प्रगति और आध्यात्मिकता का माध्यम बनना सामाजिक नियन्त्रण के कार्यों और प्रयोजनों से परे है। यह केवल उन्हीं शक्तियों (forces) के व्यापार (operation) से सम्बन्धित है जो सामाजिक संरचना में सुदृढ़ता और संतुलन बनाए रखती है।

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारों (types or kinds)[1] की कोई निश्चित संख्या नहीं है। मूल्य मापकों (value scales) आदर्शों और विचार पद्धतियों की विभिन्नता के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। धर्म नैतिकता कानून सेना ज्ञान और शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण के मुख्य अंग या प्रकार

---

1. Some sociologists have called them as factors of social control

कहे जा सकते हैं। प्रत्येक विशिष्ट समाज का इनमें अधिमान क्रम (order of preference) अपना अपना है। कहीं धर्म सबसे प्रबल है तो कहीं ज्ञान एवं शिक्षा।

सामाजिक नियन्त्रण के उपरोक्त प्रकारों में से प्रत्येक के कई उपप्रकार हो सकते हैं। प्रत्येक समाज या समूह में किसी विशिष्ट प्रकार के उपप्रकारों में से सभी को समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं माना जाता है। उदाहरणार्थ ज्ञान को ले लीजिए। दृष्टिगत (perspective) अथवा प्राविधिक अथवा रहस्यात्मक अथवा राजनैतिक अथवा वैज्ञानिक अथवा न्यायिक ज्ञान में से कोई भी ज्ञान एक समाज में सबसे प्रबल हो सकता है। कानून के विषय में भी यही कहा जा सकता है। कहीं 'सामाजिक कानून' प्रबल होता है और कहीं 'अन्त वैयक्तिक कानून' अथवा 'संगठित या असंगठित कानून' अथवा 'पूर्वनिश्चित कानून' अथवा 'लोचपूर्ण' अथवा 'अन्तर्ज्ञान सम्बन्धी (intutive) कानून' आदि।

सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारों (types) और स्वरूप (forms) में भेद करना आवश्यक है। नियन्त्रण का हर प्रकार तीन विभिन्न मुख्य स्वरूपों में प्रकट हो सकता है

(अ) प्रतीकात्मक-सांस्कृतिक प्रतिमान जिसमें सांस्कृतिक चलन प्रतिमानों नियमों और प्रतीकों का समावेश होता है। इनके माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण का जो स्वरूप व्यक्त होता है उसे प्रधानतया नियमित स्वरूप (rather rountinized form) कहा जा सकता है।

(आ) मूल्य विचार और आदर्श। इनके माध्यम से होने वाले सामाजिक नियन्त्रण का स्वरूप अपेक्षतया अधिक स्वाभाविक या सहज (relatively more spontaneous) है।

(इ) इन मूल्यों विचारों और आदर्शों की अनुभूति इच्छा और निर्माण करना। मूल्यांकन की प्रत्यक्ष सामूहिक अनुभूति, परामर्श व, आकांक्षा के और सामूहिक निर्माण के अनुभव से सामाजिक नियन्त्रण का जो स्वरूप व्यक्त होता है उसे सबसे अधिक स्वाभाविक या सहज (most spontaneous) कहते हैं।

गुरविच के अनुसार इन स्वरूपों में से प्रथम को संगठित और दूसरे व तीसरे को सहज सामाजिक नियन्त्रण कहा जा सकता है। संगठित सामाजिक नियन्त्रण प्रतिमानों और नियमों द्वारा लागू होता है और सामाजिक नियन्त्रण का विस्तृततर प्रमाणीकृत, ढला हुआ (stereotyped) और ठोस (crystalized) स्वरूप होता है। सहज सामाजिक नियन्त्रण प्रतीकों और अप्रतिमानित स्वभाव से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे मूल्यों विचारों और आदर्शों के द्वारा तीव्र नियन्त्रण में बदल जाता

है। इसकी सबसे शक्तिशाली अभिव्यक्ति सामूहिक अनुभव, आकांक्षा और निर्माण में होती है।[1]

गुरविच के मत में सामाजिक नियंत्रण के कम से कम चार स्वरूप हैं जो उसके इन प्रधान प्रकारों के साथ जुड़े हैं —

(१) संगठित सामाजिक नियंत्रण (जो सामाजिक नियंत्रण के सहज स्वरूपों से सम्बन्ध के अनुसार या तो स्वेच्छाचारी (autocratic) हो सकता है अथवा जनतान्त्रिक)

(२) संगठन रहित सांस्कृतिक रचना और प्रतीकों के माध्यम से होने वाला सामाजिक नियंत्रण जो या तो न्यूनाधिक अंश में दैनिक व्यापार (routine) से सम्बद्ध है अथवा न्यूनाधिक रूप में नमनीय और लोचपूर्ण है (संस्कारों परम्पराओं से लेकर दैनिक अभ्यास और निरन्तर परिवर्तनशील फैशन और प्रतीक तक इस वर्ग में रखे जा सकते हैं)

(३) मूल्यों विचारों और आदर्शों के द्वारा होने वाला सहज सामाजिक नियंत्रण

(४) प्रत्यक्ष सामूहिक अनुभव आकांक्षाओं और निर्माणों (विद्रोह तथा क्रान्तियों सहित) के माध्यम से होने वाला अधिक सहज सामाजिक नियंत्रण।

इन स्वरूपों में किसका कितना उपयोग होगा और कौन कितना प्रबल रहेगा यह विभिन्न प्रकार के समाजों समूहों और सामाजिक सम्बन्धों (social bonds) तथा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर रहेगा।[2]

स्मरण रहे विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों का विभाजन जिन दो वर्गों में विभक्त किया है (कठोर और नमनीय आन्तरिक और बाह्य अचेतन अथवा निहित और सचेतन अथवा प्रकट असंस्थाकृत और संस्थाकृत, अनौपचारिक और औपचारिक आदि)[3] उनसे इस विषय को समझने में अधिक सहायता नहीं मिलती है। आइए हम तीन वर्गीकरणों का संक्षेप में विवेचन करें।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण

कार्ल मानहाइम (Karl Mannheim) के विचार में सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूप होते हैं (१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष नियंत्रण उसे कहते हैं जब व्यक्ति के व्यवहार का नियमन उन लोगों की प्रतिक्रियाओं से हो जो उसके समीप हों। हमारे माता पिता, शिक्षक साथ के विद्यार्थियों सहपाठियों

---

1 Gurvitch and Moore *op cit* p 293
2 *Ibid* p 294
3 Rigid and Elastic inward and outward unconscious or implicit and conscious of explicit uninstitutionalized and institutionalized informal and formal etc etc

पदाधिकारियों तथा साथ काम करने वाले व्यक्तियों के मतों, विचारों, प्रशंसा, निन्दा, सुझाव अथवा आग्रह आदि का हमारे व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राथमिक समूहों में सदस्यों पर ऐसा ही नियन्त्रण होता है। माध्यमिक समूहों और संस्थाकृत सम्बन्धों के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहार पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण की मुख्य विशेषता यह है कि नियन्त्रण का स्रोत व्यक्ति से बहुत दूर होता है। उससे दूर पर स्थित कोई सामाजिक अधिकरण (social authority) प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों के प्रबन्ध से हमारे व्यवहार को वांछित दिशा में अनुनय अथवा बाध्यता (compulsion) से प्रभावित करता है। स्थितियों के इन प्रभावों के पीछे भी जीवित जागृत व्यक्ति होते हैं किन्तु वे प्रभावित व्यक्ति से अदृश्य रहते हैं। इस प्रकार के नियन्त्रण के साधन कम प्रकट और अधिक सूक्ष्म होते हैं। वर्तमान जटिल समाजों में सामाजिक प्रविधियाँ (social techniques) इसी प्रकार के साधन हैं।[1] अप्रत्यक्ष नियन्त्रण में व्यक्ति के कार्य अपेक्षा विचार (outlook) एवं भावना का प्रवर्तन अथवा चेतन नियमन किया जाता है।[2]

ये अप्रत्यक्ष नियन्त्रण अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु अन्तिम अवस्था में ये प्रत्यक्ष प्रभावों (नियन्त्रण) द्वारा ही क्रियाशील होते हैं।

अप्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख साधनों में परम्परागत संस्थाओं, प्रथाओं, तर्कपूर्ण व्यवहार (rationalized behaviour), स्थितियों में परिवर्तन और सामाजिक यन्त्रों (social mechanism) का समावेश किया जा सकता है।[2]

सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण

किम्बल यंग ने सामाजिक नियन्त्रण का वर्गीकरण उसकी रीतियों (methods) के दृष्टिकोण से किया है। सामाजिक नियन्त्रण की दो मुख्य रीतियाँ हो सकती हैं: पुरस्कार अथवा दण्ड।

प्रलोभन से किए जाने वाले सामाजिक नियन्त्रण को सकारात्मक (positive) कहा जाता है और दण्ड पर आश्रित को नकारात्मक (negative)। पुरस्कार अथवा प्रलोभन कई रूपों में दिया जा सकता है। शाबाशी, प्रशंसा, वस्तु, धन या पदवी प्रदान करना पुरस्कार में शामिल हैं। व्यक्ति इनको प्राप्त कर सम्मानित अनुभव करता है।[3] इनकी प्राप्ति की आशा में लोग समाजानुमोदित व्यवहार करते हैं और सामाजिक परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों अथवा आदर्शों की अवहेलना नहीं करते

---

1 Karl Mannheum *Man and Society* Routledge and Kegan Paul London (1951) Part V (IV) p 474

2 *Ibid* 239-65

3 K Mannheim *op cit* pp 285—311 Social mechanisms may include competition division of labour distribution of power the methods of creating social hierarchy and distance and the mechanism which determine whether we shall rise or sink in th

हैं। पुरस्कार मौखिक (जैसे शाबास, वाह वाह !) भौतिक (धन वस्त्र, आभूषण, भूमि अथवा अन्य वस्तु) और प्रतीकात्मक हो सकता है। विद्यालय सांस्कृतिक समितियाँ, राज्य आदि पुरस्कार प्रदान करते हैं। दण्डात्मक नियन्त्रण की मुख्य प्रवृत्ति यह है कि व्यक्ति के अवांछित व्यवहार के लिए दण्ड दिया जाए अथवा दण्ड देने की धमकी। बच्चे को पीटना एन० सी० सी० और सेना में कैडेट या सिपाही को 'फेटीग' की सजा शारीरिक यातना कारावास अथवा मृत्यु-दण्ड सभी रूप के विभिन्न रूप हैं। दण्ड अहिंसात्मक या कम उग्र भी होता है। माँ बाप बहुधा बच्चे की शरारत से नाराज होकर उससे स्नेह नहीं करते। समुदाय द्वारा किसी दुष्कार्य के लिये व्यक्ति का बहिष्कार (boycott) और उसके सुख दुःख के प्रति अन्यमनस्कता उसकी योजनाओं की तोड़ फोड़ अथवा उसका जाति-बहिष्कार भी उपरोक्त प्रकार के दण्ड हैं। दण्ड के मौलिक रूपों में भला बुरा कहना व्यंग्य (ridicule), हँसी, उपहास (satire) आदि का समावेश होता है। शारीरिक दण्डों में जाति-बहिष्कार (या समूह बहिष्कार) सबसे गम्भीर है। हिन्दू समाज की जातियों में इस प्रकार के बहिष्कार से व्यक्ति की पूर्ण सामाजिक उपेक्षा होती है। वह अपने परिवार स्त्री, बच्चा तथा समूह से अलग हो जाता है। न उसके हाथ का कोई पानी पीता है। और न उसे कोई अपने चलन में खाना पीना देता है। यदि किसी परिवार को जाति या बिरादरी से निकाल दिया जाय तो उस परिवार की लड़कियों की शादी खाते पीते घरानों में नहीं हो सकती और लड़कों का विवाह तो ऊँचे घरानों में अनिश्चित सही हो ही नहीं सकता।

अनौपचारिक और औपचारिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रणों का अनौपचारिक और औपचारिक नियन्त्रणों में भी वर्गीकरण किया जा सकता है। हमारा प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा प्रथा और परम्परा नुमोदित व्यवहार अनौपचारिक नियन्त्रण के उदाहरण हैं। हम अपने समाज की रीति रिवाजों प्रथाओं और मूल्यों के अनुसार सहज रूप से व्यवहार किया करते हैं। हम उनके प्रभाव के प्रति अचेत अथवा अर्धचेतन भर होते हैं। इस प्रकार का व्यवहार करने की हम अभ्यस्त पड़ जाती है। इस व्यवहार को करने में किसी असुविधा अथवा रुकावट का अनुभव नहीं होता है। हम पर समाज के संस्कार इतने धीरे धीरे और स्थायी पड़ते हैं कि हमारा सारा व्यवहार स्वाभाविक-सा लगता है। अनौपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत उन नियन्त्रणों को भी मानते हैं जिनके प्रति हम सचेत होते हैं। हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि अमुक प्रकार का आचरण करेंगे तो भर्त्सना व्यंग्य बहिष्कार उपहास अथवा दण्ड के पात्र होंगे। सरल समाज में अनौपचारिक नियन्त्रण चाहे चेतन हो या अचेतन प्रभावशाली रूप से किया जाता है। परिवार पड़ोस गाँव और अन्य प्राथमिक समूहों में अनौपचारिक नियन्त्रण से ही व्यक्ति के व्यवहार का नियमन होता है। हमारे समीपस्थ लोग प्रशंसा और

तुरन्त ही हमारे व्यवहार का अनुमोदन अथवा तिरस्कार करते हैं जो उनके शब्दों, भाव भंगिमाओं और क्रियाओं से व्यक्त होता है। वर्तमान जटिल और अधिक संगठित समाजों में अनौपचारिक की अपेक्षा औपचारिक नियन्त्रण अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। माध्यमिक समूहों के सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, अवैयक्तिक और अनुबंधीय होते हैं। इसलिए प्रत्येक संस्था और समिति अपने सदस्यों के व्यवहार के नियमन के लिए निश्चित नियम और संहिताएं बनाती है। आचरण-संहिता के उल्लंघन पर निश्चित जुर्माना या दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार राज्य, स्थानीय निकायों, पंचायतों और अन्य संगठनों के कानूनों की अवहेलना पर दण्ड मिलता है।

सामाजिक नियन्त्रण के प्रतिनिधि

सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण (agencies) उसके स्वरूपों और प्रकारों से भिन्न वस्तुएं हैं। समूचा समाज, समूह अथवा अन्य सामाजिक संगठन (मन्दिर, धार्मिक सम्प्रदाय, धार्मिक मठ, क्लब, विद्यालय आदि) ही सामाजिक नियन्त्रण के नियमों का निर्माण करते हैं और वही अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए उन नियमों को लागू करते हैं। आधुनिक समाज में परिवार, राज्य, विद्यालय, आर्थिक समितियां, व्यावसायिक और श्रमिक संघ, राजनैतिक दल, धार्मिक समितियां और क्रीड़ा, मनोरंजन, ज्ञान-विज्ञान तथा कला के क्षेत्रों में स्थापित समितियां या संगठन सामाजिक नियन्त्रण के निर्माण और परिपालन के अभिकरण हैं। हमारे देश में परिवार, जाति-पंचायत और ग्रामीण पंचायत ने बहुत लम्बी अवधि तक सामाजिक नियन्त्रण के शक्तिशाली अभिकरण का काम किया है। आधुनिक जटिल समाजों में प्राथमिक समूहों और समितियों की अपेक्षा द्वितीयक समितियों की संख्या और शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई है। द्वितीयक समितियों द्वारा निर्मित और लागू किया हुआ सामाजिक नियन्त्रण अधिकांशतः अवैयक्तिक, परोक्ष और औपचारिक होता है।

सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण (समूह और समितियां) किसी प्रकार के नियन्त्रण का निर्माण कर उसे लागू कर सकती हैं। प्रत्येक समूह सिद्धान्ततः कई प्रकार के सामाजिक नियन्त्रणों को स्थापित करने का सक्रिय केन्द्र होता है। ये केन्द्र सामाजिक नियन्त्रण की सम्पूर्ण प्रक्रिया में से किसी भी अंग को उत्पन्न और लागू कर सकते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के जिस प्रकार और स्वरूप को वे चुनना चाहें चुन सकती हैं।

सामाजिक नियन्त्रण के साधन

हर प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना के लिए अनेक साधनों (means), प्रविधियों (techniques) अथवा यन्त्रों (instruments) का प्रयोग

किया जाता है। आधुनिक सभ्य समाजों में इनकी संख्या का अनुमान लगाना कठिन है। सामाजिक नियन्त्रणों की अनन्तता तथा सामाजिक स्थितियों और सामाजिक नियन्त्रण के प्रतिनिधियों की अनन्त संख्या के कारण जितने साधन इस्तेमाल किए जाते हैं वे बहुत ही विविध सापेक्षिक और लोचपूर्ण होते हैं। इनको निश्चित करना और विवरण प्रस्तुत करना समाजशास्त्र की प्रत्यक्ष विषयवस्तु नहीं है।[1] फिर यह भी निश्चित नहीं है कि सामाजिक नियन्त्रण या प्रतिनिधि किसी विशेष प्रकार या स्वरूप के साथ विशेष साधन ही प्रयोग होंगे। विभिन्न प्रकार, प्रतिनिधि या स्वरूप के साथ एक विशिष्ट प्रकार के साधन प्रयोग हो सकते हैं अथवा भिन्न प्रकार के। प्रो० गिलिन और गिलिन ने समस्त साधनों को दो वर्गों में विभक्त किया है परम्परा से प्रचलित (conventional) और विशेष रूप से निर्मित (specifically devised)। आधुनिक राजकीय नियम समितियाँ संहिताएँ यान्त्रिक साधनों से प्रचार-पत्र व पत्रिकाएँ अथवा नियन्त्रित कला आदि विशेष रूप से निर्मित साधन हैं जिनका वर्तमान समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के लिए उपयोग होता है। प्रथा जनरीतियाँ रूढ़ियाँ धर्म नीतियाँ नृत्य और स्थानीय लोकमत (public opinion) आदि साधन परम्परा से प्रचलित हैं। आधुनिक जटिल समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के परम्परागत साधनों की अपर्याप्तता और पारस्परिक संघर्ष ने उन्हें बहुत शिथिल कर दिया है। उनका उल्लंघन करके भी व्यक्ति अपने समूह की निन्दा बहिष्कार आदि से बच सकता है। अतएव औपचारिक अथवा विशेष रूप से निर्मित साधनों से नियन्त्रण स्थापित करने की आवश्यकता बढ़ गई है। इन साधनों के प्रभाव से बचने की इच्छा व्यक्ति में बहुत प्रबल होती है। क्योंकि वह उन्हें ऊपर से थोपा गया स्वाव समझता है। वह सामाजिक नियन्त्रण की अधीनता से तभी निकल भागता है जब उसे उपयुक्त अवसर मिले। इससे आधुनिक समाजों में नियन्त्रण की समस्या बड़ी कठिन है।

समाज के नियामक सिद्धान्त

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जैसे प्रकृति की व्यवस्था के निर्माण और संरक्षण में नियम या विधान (rules or laws) होते हैं वैसे ही समाज के निर्माण और संरक्षण में नियम होते हैं। सामाजिक घटनाओं के अस्तित्व और व्यवहार में वे विधान व्यक्त होते हैं। इन्हीं नियमों के कारण समाज की व्यवस्था में एकता और सुदृढ़ता बनी रहती है। किन्तु समाज के नियमों में प्राकृतिक नियमों की तुलना में कई भिन्नताएँ हैं। समाज के नियम मानदण्डात्मक (normative) होते हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि उसके सदस्यों (समूहों और व्यक्तियों) का व्यवहार कैसा हो। ये प्राकृतिक विधानों की ही भाँति सदैव सार्वभौम और एकरूप नहीं होते हैं। समाज के नियमों

---

1 Gurvitch & Moore op cit p 295

की जड़ें मानव प्रकृति में गड़ी हैं। मनुष्य का शरीर, उसकी आवश्यकताएँ और समाज की निरन्तर सावधानता (awareness) और मनुष्य तथा समाज की पारस्परिक अनुरूपता अथवा समानता सामाजिक नियमों का आधार है। चूँकि मनुष्य की इच्छाओं आवश्यकताओं में परिवर्तन होता रहता है, उनकी अभिव्यक्ति नए रूपों में होती रहती है इसलिए सामाजिक सम्बन्धों के नियामक सिद्धान्त भी स्थिर नहीं रह सकते हैं।

समाज के नियामक सिद्धान्त ऐसे प्रमाण हैं जिन्हें समूह ने सदस्यों के पारस्परिक तथा सम्पूर्ण समूह के प्रति होने वाले आचरण पर नियन्त्रण करने के लक्ष्य से स्थापित किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यों पर सामाजिक नियमों को उनके शासक वर्ग अथवा अतीत की पीढ़ियाँ थोप देती हैं। सामाजिक नियमों की तुलना ऐसे विधानों से भी करना गलत होगी जैसे स्वामी के दासों पर अथवा साम्राज्य के विजित देशों पर। इन बाहर वाले नियमों को दास और विजित देश स्वीकार करने के लिए विवश होते हैं और उनके निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं होता है। सामाजिक विधान अधिकांशतः ऐसे हैं जिनमें सम्पूर्ण समूह ने अपने बौद्धिक स्तर, शिक्षा और अनुभव पर सामाजिक जीवन की स्वीकृत सुविधाओं एवं आवश्यकताओं से अनुकूलन किया है। समाज के नियामक सिद्धान्त हमें अपने अतीत की विरासत में अवश्य मिलते हैं किन्तु उनके ही विस्तार से जितना समूह साधारण तथा उस विरासत को स्वीकार करता है। विरासत में प्राप्त नियमों में वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार संशोधन या सुधार भी किए जाते हैं।

सामाजिक नियमों की अन्तिम विशेषता यह है कि इनके साथ दायित्व (obligation) की भावना जुड़ी रहती है। उनसे जिन लोगों का नियन्त्रण होता है उनकी भावनाएँ और विवेक जागृत रहते हैं। इन नियमों की उपेक्षा, अवहेलना अथवा विरोध करने वाले लोगों की भी कमी नहीं होती है। छोटे और बड़े समूहों के बीच हितों पर संघर्ष होता है और इसी प्रकार समूह और उसके सदस्यों के बीच भी हितों पर संघर्ष हो सकता है। स्वार्थी लोगों को सामाजिक नियमों के प्रतिबन्धों में बड़ी परेशानी होती है। एक अन्य बात भी स्मरणीय है। समाज में प्रबल वर्गों या समूहों द्वारा बनाए गए नियमों का प्रतिरोध अन्य वर्ग या समूह करते हैं और अवसर पाने पर उन्हें नष्ट कर देते हैं। सामाजिक नियम न तो समान रूप में स्वीकृत होते हैं और न समान रूप से उनका पालन होता है। वे सापेक्षिक और आंशिक होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक नियमों के दो कार्य हैं (१) क्रिया और व्यवहार के सतत प्रतिरूप प्रमाणीकृत और स्वीकृत रूप प्रस्तुत करना और (२) आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने के लिए व्यक्ति और समूह पर दबाव डालना।

समस्त सामाजिक नियमों को कुछ व्यवस्थाओं (systems) में वर्गीकृत किया जाता है जिन्हें संहिताएँ (codes) कहते हैं। संहिता का अर्थ कानूनों अथवा नियमों का व्यवस्थित संग्रह है।[1] मनुस्मृति एक सामाजिक संहिता है जिसका संकलन मनु ने किया था। साधारणतया सामाजिक संहिताओं को पांच प्रकारों में विभक्त किया जाता है —*धार्मिक संहिता, आचार संहिता, कानून या विधान की संहिता,* प्रथा की संहिता, और फैशन की संहिता। सभी प्रकार की संहिताओं की सामान्य विशेषता यह है कि उनके आदर्शों (prescriptions) की अवहेलना या उल्लंघन से रक्षा करने के लिए विशेष प्रबन्ध किए जाते हैं जिन्हें सम्मोदन (sanctions) कहते हैं। किन्तु संहिता की अवज्ञा अथवा उल्लंघन के लिए समाज जो विशेष दण्ड निश्चित करता है उसे सम्मोदन कहना अधिक उपयुक्त होगा।[2] विशेषाधिकार से वंचित रखना, अधिकारों को छीन लेना, जुर्माना करना, कारावास अथवा मृत्युदण्ड देना आदि सम्मोदन के विभिन्न स्वरूप हैं। प्रत्येक प्रकार की संहिता के सम्मोदन का रूप निश्चित और पृथक होता है और प्रधान संहिताओं की आदेश शक्ति भी कम या अधिक हो सकती है। प्रत्येक संहिता की सत्ता का समान शक्तिशाली नहीं माना जाता है।

अब हम यह विचार करना है कि आधुनिक समाज में सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधन कहाँ तक प्रभावपूर्ण हैं और समुचित सामाजिक नियन्त्रण के लिए किन साधनों का पुनर्गठन करने की आवश्यकता है।

आधुनिक समाजों में नियन्त्रण के साधन[3]

आधुनिक समाजों के समस्त नियमों को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं (१) समितिक संहिताएँ (२) सामुदायिक संहिताएँ (३) आचार संहिताएँ, (४) वैधानिक संहिताएँ। इनमें से समितिक और वैधानिक संहिताओं के अन्तर्गत अनेकों नये नियम हैं। आदिम समाजों में इतने प्रकार की सामाजिक संहिताएँ नहीं थीं। रुधिर सम्बन्धी समूह के आदर्शात्मक मानकों और प्रथाओं में ही सभी प्रकार की संहिताओं के अभेदीकृत नियम समाविष्ट थे। वर्तमान सभ्य समाजों की संहिताएँ एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र और औपचारिक दृष्टि से पृथक होती हैं जिनका स्थापन और सम्मोदन पृथक संगठनों के संरक्षण में होता है। साधारणतया सामाजिक संहिताओं की संख्या और विभिन्नता समाज की जटिलता के समरूप ही होती है। अर्वाचीन सभ्यता में राज्य की संहिता सामाजिक व्यवस्था के साधारण ढाँचे का स्थिर

---

1 Code is a systematic collection of laws or rules

2. Sanction refers to the specific penalty attached by society to the violation of the code MacIver and Page op cit p 139

3 C. MacIver and Page *Society* Chapters 7 and 8 Gillin and Gillin *Cultural Sociology* Chapter 28 Elliot and Merrill *Social Disorganisation* p 13 and Mannheim *Man and Society* pp 274-310

बनाए रखती है किन्तु इनकी पूरक ऐसी अनेक सामाजिक संहिताएँ होती हैं जो अपेक्षतया अधिक लोचयुक्त होती हैं। आर्थिक संहिताएँ, व्यावसायिक सदाचार की संहिताएँ, पारिवारिक जीवन की संहिताएँ, क्रीडा-समूहों और अनौपचारिक गुटों की संहिताएँ राज्य की संहिताओं की पूरक कही जा सकती हैं। एक विचित्र बात यह है कि सन्नियमों के उल्लंघन कर्ताओं की भी अपनी संहिताएँ और उनसे सम्बद्ध सम्मोदन होते हैं। चोरों, डकैतों, जेबकतरों, बदमाशों का सारा व्यवहार उनके संसार के नियमों के अधीन रहता है। इनमें यहाँ चरम सम्मोदन बल प्रयोग है क्योंकि यदि इनके बीच का कोई संघर्ष समझौते या पंच निर्णय से तय नहीं हुआ तो विरोधी की हत्या अथवा अन्य प्रकार की हिंसा तक करने में ये लोग नहीं डरते हैं।[1]

धर्म और नीतियाँ

धर्म और नीतियों (morals) का आपस में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी संहिताओं में अन्तर करना कठिन होता है। उनकी सत्ता और सम्मोदन के आधार पर उनमें भेद अवश्य किया जा सकता है। आचरण के नियम निर्देश करना नीतियों का क्षेत्र है किन्तु इस क्षेत्र में धर्म का भी प्रवेश होता है क्योंकि वह भी आचरण सम्बन्धी नियमों का निर्देश करता है। इसलिए धर्म और नीतियों में स्पष्ट भेद दिखाना आवश्यक है। धर्म में केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच ही नहीं मनुष्य और पारलौकिक सत्ता से सम्बन्ध सन्निहित होता है। इसलिए इसका सम्मोदन अति सामाजिक (supra social) होता है। मनुष्य ईश्वर, देवता अथवा भूत प्रेत के कोप के भय से अथवा नरक की यातनाओं से बचने के लिए अथवा स्वर्ग से दूर हो जाने के भय से धार्मिक नियमों को नहीं तोड़ता है। अपने साथी मनुष्यों के प्रति दया, क्षमा, सहानुभूति और सहनशीलता दिखाते समय भी उसमें यही भावना रहती है कि ईश्वर के बन्दों को प्रेम या सहायता करना ईश्वर की आज्ञा का पालन है। 'ईश्वर के प्रयोजनों' के अनुकूल ही मनुष्य अपने कार्यों और विचारों को बनाने का प्रयास करता है। धर्मानुकूल आचरण न करने पर स्वयं पापी (sinner) होने की भावना होती है।

नीतियों का सम्मोदन सामाजिक होता है। जब हम कोई अनैतिक (immoral) कार्य करते हैं तो हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि हमारे दुराचार से बड़ा सामाजिक अनिष्ट हो जायगा। हमें यह अनुभव होता है कि हमने कोई गलती की है। धार्मिक की अपेक्षा आचार-संहिता में विवेकशीलता का प्राधान्य है। हमारा विवेक (reason) हमें बताता है कि कौन आचरण नैतिक है और कौन अनैतिक। किन्तु साधारणतया लोगों के विचार में धर्म और नीतियाँ मिली जुली सी रहती हैं। वे धार्मिक आचरण को नैतिक आचरण भी मानते हैं। भारत में धर्म का बड़ा

1 MacIver and Page have attempted a classification of codes and sanctions in their *Society* on page 143

सङ्कुचित श्रथ नहीं है जो पाश्चात्य समाजों में 'रेलिजन' का है। भारतीय धर्म व्यक्ति के सत्य शिव सुंदर जीवन बिताने की शैली है। हमारे समस्त सदाचरण (righteousness) का समावेश धर्म में होता है। हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के समस्त अंगों प्रत्यंगों पर धर्म का प्रभाव माना जाता है।

आचार-संहिताएँ सामाजिक हैं और अन्य समस्त सामाजिक संहिताओं की भाँति याज्ञिक सामाजिक सम्बन्धों और जीवन-ढंगों के बारे में विचारों को प्रकट करती हैं। धार्मिक संहिता केवल अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक स्थितियों पर विचार प्रकट करती है। इसका उद्देश्य ऐसे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना है जिसमें मानव प्रयोजन पारलौकिक सत्ता के प्रयोजनों के अधीन है।

आचार-संहिता और धार्मिक संहिता में कौन मौलिक है। कॉम्ट के मत में धर्म मौलिक है और उसी से आचार-संहिता का आविर्भाव हुआ है। इसके विपरीत दुर्खीम, टॉनीज आदि विचारकों के मत में सामाजिक और आचार नियमों को 'पवित्र' बनाने के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई। इन दोनों विचारों में से किसे ठीक माना जाए इस पर आज भी निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता है। धर्म में ऐसे तत्व मिलते हैं जिनका उद्गम सामाजिक और नैतिक विचारों में है और इन दोनों विचारों पर धर्म की धारणाओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। हमारे विचार में धर्म और नीतियों में से किसकी प्राथमिकता (priority) है जैसे प्रश्न का उत्तर मिल जाने से भी हमारा प्रयोजन सफल नहीं होता है।

धर्म और नीतियों में सदैव पूर्ण सामञ्जस्य नहीं होता है। दोनों की संहिताओं में धार्मिक संहिता अधिक रूढ़िवादी होती है। आचार-संहिता परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती है। ज्यों ज्यों समाज का विकास हुआ है लोग आचार नियमों को बुद्धि, विवेक या तर्क पर कसते रहे हैं और उन नियमों का सर्वाधिक प्रचलन रहा है जो विवेक और बुद्धि के सामने खरे उतरे। विज्ञान की प्रगति से भी नैतिक नियमों में प्रगतिशीलता आती है। किन्तु धार्मिक संहिता ने बहुधा विचार-स्वातंत्र्य को रोका है, विवेक और बुद्धि से उद्वेग को प्रभावित होने से रोका है और परिवर्तनशील समाज को सनातन रूढ़ियों और धार्मिक विचारों को मानने को बाध्य करने का प्रयास किया। संसार और मनुष्य की उत्पत्ति और विकास के बारे में नए वैज्ञानिक सिद्धान्तों को धर्मविरुद्ध कहा गया। धर्म ने जनस्वास्थ्य, तलाक और संततिनिग्रह आदि सामाजिक विषयों में भी उन्नति अथवा नए दृष्टिकोण का विरोध किया। (भारत में सतीप्रथा, देवदासी प्रथा, बाल विवाह और अस्पृश्यता के विरोध के जितने प्रयत्न किए गए, धर्म ने उन्हें अधार्मिक कहा।) यूरोप और अमरीका में कुत्सित रोगों (venereal diseases) के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों का भी धर्म ने विरोध किया। किन्तु धीरे धीरे धार्मिक संहिता और

आचार-संहिता का पारस्परिक विरोध मिटने लगा है। आज धर्म का बहुत कुछ संचालन सामाजिक और नैतिक प्रयोजनों के अनुकूल हो रहा है। धर्म स्थापित नैतिकताओं (moralities) को प्रमाणित या दृढ़ करता है और नवीन नैतिकताएँ धर्म में यथावश्यक संशोधन करती हैं। विशेषकर आधुनिक समाजों के धर्म में मानववाद की प्रवृत्ति दृढ़तर हो रही है, धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है और उसमें पारलौकिकता का प्रभाव कम हो रहा है। इन सब कारणों से धर्म और नीतियों में सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार सापेक्ष सामंजस्य बढ़ रहा है। धर्म स्वयं एक सामाजिक आचार-पद्धति (social ethics) लागू करते पाए जाते हैं।

प्रथा और कानून

कानून या विधान एक ऐसी संहिता है जिसे राज्य लागू करता है। विधान का परिपालन कराने के लिए राज्य का बल प्रयोग का अनन्य अधिकार है। विधान की अवज्ञा राज्य की अवज्ञा है। इसलिए राज्य अपने नागरिकों से कानूनों का परिपालन हर सम्भव उपाय से कराता है। कानून की रक्षा के लिए पुलिस और न्यायालय होते हैं। विधान के निर्माण और संशोधन अथवा रद्द करने का अधिकार भी राज्य ही को होता है। किन्तु आधुनिक समाजों में विशिष्ट कानूनों (अधिनियमों) की वैधानिकता (legality) संविधान (Constitution) पर निर्भर करती है। एक अधिनियम की एक अथवा अधिक धाराएं अथवा सम्पूर्ण अधिनियम अवैध घोषित कर दिया जाता है यदि उनमें तथा संविधान की धाराओं में विरोध है। इस वैधानिकता अथवा अवैधानिकता का अन्तिम निर्णय देश का सर्वोच्च न्यायालय करता है।

प्रथा एक सामूहिक कार्य विधि है जिसका क्रमिक विकास हुआ है। इसके निर्माण, घोषणा, परिपालन और रक्षा के लिए कोई निश्चित सत्ता (अधिकरण) नहीं होती है। प्रथा को सभी लोग स्वीकार करते हैं इसलिए वह कायम रहता है। अपने बड़ों को नमस्ते करना, होटल या रेस्त्राँ में कर्मचारियों को बख्शीश (tipping) देना, बच्चे के जन्म और नामकरण संस्कार पर सम्बन्धियों पड़ोसियों और मित्रों को बुलाना और प्रीतिभोज देना पड़ोसियों तथा परिचितों के सुख-दुःख के अवसरों पर उनके यहाँ जाना आदि सभी प्रथाएँ हैं, इन्हें मानने का निर्देश कोई विशिष्ट सत्ता नहीं देती है। समस्त सामाजिक नियमों में प्रथाएँ (रीति रिवाज) सबसे अधिक सहज (स्वच्छानुरूप) होती हैं किन्तु फिर भी वे सबसे अधिक बाध्यता पूर्ण (compelling) होती हैं। उनका सम्मोदन बल प्रयोगी सत्ता से नहीं वरन् अनेक प्रकार के अनौपचारिक सामाजिक दबावों से होता है। वे हमारे जीवन में ऐसे घुल मिले होते हैं। हमारे समस्त दैनिक कार्य जीवन पर्यन्त उन्हीं के प्रभाव में होते रहते हैं। प्रथाओं में सनातन परिवर्तन भी स्वाभाविक रूप से होता रहता है और अनावश्यक प्रथाएँ धीरे धीरे निष्क्रिय होकर लुप्त हो जाती हैं।

आधुनिक समाज में प्रथा की महत्ता वैसी नहीं रही जैसी सरल अथवा आदिम समाजों में थी। सरल समाजों में पृथक वैधानिक संहिता की जरूरत नहीं पड़ती है, समस्त जीवन-व्यापार प्रथाओं से ही नियमित हो जाता है। प्रथा के परिपालन कराने के लिए उन समाजों में जनमत, समूह मत और समूह नियन्त्रण बड़े शक्तिशाली होते हैं और इनसे कोई व्यक्ति बच नहीं सकता, दूसरे, इन समाजों में कभी कोई नवीन स्थिति नहीं पैदा होती जिसके लिए उपयुक्त प्रथा न मौजूद हो। प्रथा के पीछे परम्परा का भार होता है जिससे प्रत्येक अवसर का निर्णय प्रथा कर लेती है, प्रत्येक के अधिकारों और कर्तव्यों को निश्चित करती है और सभी लोगों के पारस्परिक हितों और दावों का समायोजन कर लेती है। सारांश यह है कि सरल समाजों में जीवन के समस्त व्यापार का नियमन प्रथाएँ करती हैं। प्रथा ही राजा है। किन्तु आधुनिक जटिल समाज में प्रथा 'राजा' नहीं बनी रह सकती है। वह निर्बल हो गई है और इसलिए सामाजिक नियन्त्रण के लिए अपर्याप्त है। अन्य सामाजिक संहिताओं और विशेषकर कानून से प्रथा की सहायता और परिपुष्टि करना आवश्यक हो जाता है।

आधुनिक विराट समाजों में सदैव प्रथानुमोदित व्यवहार करना बड़ा कठिन है। शीघ्र परिवर्तित समाज की आवश्यकताएँ पुरानी प्रथाओं से पूरी नहीं हो पातीं और प्रथाओं में शीघ्र उपयोजन करने की क्षमता नहीं होती है। दूसरे आधुनिक समाज में प्रायः विजातीय समूहों, विविध विशेष हितों और लोगों के साधनों में भारी विषमता के कारण आए दिन संघर्ष होते रहते हैं। प्रथा इन संघर्षों का निराकरण नहीं कर पाती है। यदि सभी लोग अपने अपने हितों की पूर्ति का प्रयत्न शान्तिपूर्ण वातावरण में कर पाएँ तो विशेष कानून और उनके परिपालन के लिए विशेष संस्था होना आवश्यक है। तीसरे, भिन्न भिन्न समूहों, जाति-समूहों, समुदायों और वर्गों की प्रथाएं भी भिन्न भिन्न होती हैं। इनकी अनेकता के कारण आधुनिक समाजों की एकता और व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हो सकती इसलिए उन सबके ऊपर कानून की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक प्रवृत्तियों की सुदृढ़ता के लिए समरूप नियमों या कानूनों की आवश्यकता है। चौथे, आधुनिक सभ्य समाजों में सम्पूर्ण संगठन शक्ति (power) पर आश्रित है। राज्य सर्वोपरि है। वह अन्य समस्त संगठनों और संस्थाओं को अपने अधीन रखना चाहता है। अतएव प्रथाओं के ऊपर कानून थोपना अनिवार्य है। सामाजिक प्रगति के लिए भी यह आवश्यक है कि कानून की सहायता से ऐसी प्रवृत्तियों को रोका जाए जो वर्ग या समूह विशेष के स्वार्थों के लिए जनसाधारण के हितों की बलि देने में नहीं हिचकतीं। आर्थिक विकास, औद्योगीकरण, नगरीकरण, राष्ट्रीय राज्यों का उदय, राज्य के कल्याणकारी कार्य तथा समाजवादी विचारधारा के विकास के कारण आधुनिक समाजों में प्रायः कानून बन गए हैं। नागरिकों के जीवन का शायद कोई

पहलू नहीं है जिससे सम्बद्ध कोई कानून न हो। अनेकानेक कानूनों की जटिलता और आकार का परिणाम यह है कि साधारण नागरिक तो समस्त कानूनों को समझने का स्वप्न भी नहीं देख सकता है। वकील जो वैधानिक संहिता का विशारद है वह इस संहिता की एक छोटी सी शाखा से ही परिचित हो सकता है।

इस स्थिति में कानून और प्रथा का संघर्ष अनिवार्य है। समुदाय की कुछ प्रथाओं का बहुत व्यापक प्रचलन होता है। यदि कानून इन पर आक्रमण करता है तो उसे विस्तृत बल प्रयोग का सहारा लेना पड़ता है। फिर भी उसका परिपालन अत्यधिक कठिन होता है क्योंकि बहुमत के उसके पक्ष में होने पर भी उसे पूर्ण पुष्टि नहीं मिलती है। कानून केवल जोर-जबरदस्ती से बाह्य रूप से पालन करा सकता है वह किसी के मन पर शासन नहीं कर सकता। हमारे देश के अस्पृश्यता निवारण (अपराध) अधिनियम, बाल विवाह निषेध अधिनियम आदि के परिपालन की बड़ी कठिन समस्या है। यदि किसी कानून का प्रतिरोध व्यापक प्रथा-सम्मत मनोवृत्ति से होता है तो कानून की सफलता संदिग्ध है। ऐसी स्थिति में कानून पालन की अपेक्षा उसका भंग अधिक किया जाता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि कानून का उद्देश्य किसी प्रचलित प्रथा का उन्मूलन है तो वह अन्ततः सफल होकर रहेगा।

ऐतिहासिक काल में अनेक कानूनों का आधार प्रथाएँ रही हैं। आज भी कानूनों की सहायता के लिए प्रथाएँ पूरक बन सकती हैं। प्रथाएँ कितनी भी कमजोर और अप्रचलित हो जायें वे हमारे सामाजिक जीवन के अधिकांश व्यापार को नियमित करती रहेंगी। समाज की प्रत्येक स्थिति का नियन्त्रण कानून से नहीं हो सकता और यदि हो भी सके तो भी वहाँ कानून का हस्तक्षेप अनावश्यक है, जहाँ प्रथा ही सबसे उपयुक्त नियामक है। परिवार, पड़ोस, मन्दिर, सभा-समितियों और सामुदायिक व्यापारों में अनेक कार्यों का सर्वोत्तम नियमन प्रथा से होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारे वर्तमान समाजों से प्रथा का सर्वथा उन्मूलन न आवश्यक है और न सम्भव।

फैशन

प्रथा सम्मत विषय पर समाजानुमोदित भिन्नताएँ फैशन कहलाती हैं। हमारी संस्कृति के विशेषकर उन पहलुओं पर फैशन का प्रभाव पड़ता है जो समूह के विचार से मौलिक मूल्यों से अपेक्षतया उदासीन हैं। मन, विश्राम, मनोरंजन, पहनावा, सब प्रकार के आभूषण (शृंगार), घर की सजावट, बातचीत का ढंग, जनप्रिय संगीत, साहित्य और कला में फैशन प्रचलित है। इन क्षेत्रों में फैशन प्रथा का पूर्णतया अतिक्रमण नहीं करता है प्रत्युत उसका पूरक है। हम हिन्दुस्तानी आदमी कुरता धोती, पजामा-कुरता, पैन्ट-कमीज या सूट आदि पहनते हैं किन्तु कुरता के अनेक डिजाइन हैं। धोती बाँधने के अनेक फैशन हैं। हमारे खाने के अनेक फैशन हैं। स्त्रियों की साड़ी,

वाली ब्लाउज, शृंगार, चूड़ियाँ, घड़ी चप्पल या सैण्डल, वेश शैलियों में आपको परिवर्तित कर देने वाले फैशन दिखेंगे। इसी प्रकार, अन्य क्षेत्रों में फैशनों की आश्चर्य जनक अनन्तता मिलेगी। सभ्यता की उन्नति ने फैशनों की संख्या और प्रसरण गति को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया है। किन्तु फैशन कोई स्थायी वस्तु नहीं है। उसकी एक शक्तिशाली लहर से तुलना की जा सकती है। इस लहर के सामने जो भी आया वही उसके साथ बह गया। फैशन नवीनता का पोषक है और परम्परा का विरोधी। यह प्रथासम्मत प्रकार में निरंतर संशोधन करता रहता है और कभी-कभी संशोधन का यह क्रम उस प्रकार का बिल्कुल नया स्थानापन्न ढूँढ लेता है। फैशन के व्यापक प्रभाव में हमारी मनोवृत्ति ऐसी बन जाती है जिससे कई प्रथाओं के प्रति हमारी भक्ति कम हो जाती है।

फैशन सामाजिक जीवन की सतह पर ही क्षण-भंगुर हल्ला करता है किन्तु स्पष्ट उपेक्षणीय परिवर्तनों के पीछे अधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ कार्यरत रहती हैं। फैशन का संबंध सामाजिक जीवन की बाह्यता और ऊपरी चमक-दमक (superficialities) से है। इससे किसी प्रकार की उपयोगिता नहीं मिलती है और न यह हमारे विवेक से आग्रह करता है किन्तु फिर भी यह सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह समाज के सदस्यों की दो विरोधी आवश्यकताओं को पूरा करता है नवीनता की आवश्यकता और समरूपता की आवश्यकता। फैशन हम नवीनता का प्रयोग और हमारी भिन्न प्रकट होने की भावना (feeling of distinction) का प्रसार करता है। यह समूह को नई वस्तुओं, आस्थाओं अथवा शैलियों की खोज करने का भी एक प्रभावशाली यंत्र है। हम प्रथा और प्रान्त तथा दैनिक कार्यकलाप की एकरसता (monotony) से ऊब उठते हैं। इस एकरसता को दूर कर ताजगी और रंगीनी देने का काम फैशन करता है। अतएव, फैशन सामाजिक संरचना की स्थिरता में भी परिवर्तनशीलता का पोषक होकर सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ

हम प्रत्येक समूह या समाज में कुछ ऐसे अभ्यास देखते हैं जो सर्वत्र प्रचलित होते हैं। घर के चौके में बैठकर खाना, स्त्री और पुरुषों के रहन-सहन के लिए घर में पृथक्-पृथक् प्रबन्ध, अपने मेहमानों को चौपाल या बाहरी कमरे में ठहराना अपने से बड़े अथवा मित्र से भेंट होने पर उन्हें रामजी या नमस्ते करना, आदि कुछ ऐसे तरीके या रीतियाँ हैं जो साधारणतया सभी भारतीय मानते हैं। ये सतत प्रयत्न से अथवा विचारपूर्वक नहीं निर्मित किए गए हैं ये तो कुछ सतत अनुभव होने वाली समस्याओं के लिए जनसाधारण द्वारा परीक्षण और त्रुटि से निर्मित समाधान हैं। समूह के जीवन प्रतिमान में ये रीतियाँ मिल जुल जाती हैं और लोग द्वारा अनुसरण अधिक मनोरंजक और स्वाभाविक रूप में किया करते हैं। इन रीतियों का

जनरीतियाँ अथवा लोकरीतियाँ कहते हैं। स्पष्ट है कि जनरीतियों के अनुरूप व्यवहार करने से मनुष्यों पर सामाजिक नियन्त्रण होता है। यह नियन्त्रण अचेतन और स्वतः चालित होता है और व्यक्ति को यह कभी नहीं अनुभव होता कि वह ऐसा करने के लिए बाध्य है। व्यक्ति इनकी उपेक्षा करता है, उस पर लोग हँसते हैं किन्तु स्वयं उसे भी अपने व्यवहार पर पश्चाताप होता है। जनरीतियों का नियन्त्रण असंगत और अनौपचारिक है।

रूढ़ियाँ ऐसी जनरीतियाँ और प्रथाएँ होती हैं जिनका पालन करना सामाजिक कर्तव्य माना जाता है। उनके विपरीत आचरण करना समाज के लिए अनिष्टकर माना जाता है। समाज जिन कार्यों अथवा व्यवहारों को सही उचित और सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक समझता है उन्हें रूढ़ियाँ कहते हैं। हमारे समाज में पुरुषों के बीच में स्त्रियों का सिर ढक कर रहना सजातीय विवाह करना पातिव्रत धर्म का पालन गुरु विद्वान और माता पिता का आदर करना रूढ़ियाँ हैं। रूढ़ियों का उल्लंघन बड़ी गंभीर बात है। उल्लंघनकर्त्ता की घोर निन्दा होती है और उसको समाज से बहिष्कृत तक कर दिया जाता है। रूढ़ियों का न पालन करने से समाज का अनिष्ट हो जायगा अथवा समाज के कोप और बहिष्कार का सामना करना पड़ेगा इस भय से व्यक्ति रूढ़ियों का पालन करता रहता है। रूढ़ियों का पालन करने के लिए व्यक्ति अन्तर से भी विवश होता है। वास्तव में रूढ़ियाँ आचरण की एक अलिखित संहिता है। रूढ़ियों का नियन्त्रण प्रायः स्वच्छिक अनौपचारिक और असंगठित कहा जा सकता है। रूढ़ियों के परिपालन के लिए कोई औपचारिक संगठन नहीं होता है और न कानून की भांति वे व्यक्ति को बल प्रयोग से विवश ही करती हैं। परन्तु रूढ़ियाँ फिर भी सामाजिक नियन्त्रण का बहुत महत्वपूर्ण साधन हैं।

रूढ़ियों के स्थायित्व के लिए सिद्धान्तशिक्षण (indoctrination) और आदतनिर्माण (habituation) की प्रक्रियाएँ कायम रहती हैं। उत्सव (ceremony), शास्त्रोक्त कर्म विधि (ritual) और प्रतीक भी रूढ़ियों का पोषण और संरक्षण करने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार देश या समाज में संस्थापित सत्ता (राज्य और उसके विभिन्न अभिकरण) भी रूढ़ियों का समर्थन करता है। कई बार नेता भी इन रूढ़ियों के परिपालन के लिए समाज को संगठित और प्रेरित करता है। किन्तु कभी-कभी कुछ रूढ़ियों का विरोध सत्ता और नेतृत्व दोनों ही मिलकर करते हैं और कभी-कभी नेतृत्व जिस रूढ़ि का विरोध करता है सत्ता उसका समर्थन करती है।[16]

---

16 MacIver & Page *op cit* pp 147 154

रूढ़ियाँ चिरस्थायी नहीं होती हैं। उनमें भी समय की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन आता है। आधुनिक समाज में रूढ़ियाँ अधिक लोचपूर्ण हो गई हैं और जो रूढ़ि अब भी कठोर है उसकी बार-बार अवहेलना होती है।

संस्थाएँ

संस्थाओं का एक प्रधान कार्य सामाजिक नियन्त्रण करना है। हमारे समाज में वे इस *नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। संस्थाओं के व्यवहार प्रतिमानों* में नैतिक शिक्षा का सबसे बड़ा भंडार होता है। परिवार, राज्य, मन्दिर, विद्यालय और आर्थिक संस्थाएँ स्थितियों की समाज स्वीकृत परिभाषा करके व्यक्ति को अच्छे बुरे उचित अनुचित या उपयोगी अनुपयोगी आचरण की प्रशिक्षा देती हैं। जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून तथा अन्य साधनों को सामूहिक सम्बन्धों द्वारा लागू किया जाता है किन्तु जीवन के मूल विषयों से सम्बन्धित सबसे अधिक नियन्त्रणों का संचरण सामाजिक संस्थाएँ करती हैं। हर सामाजिक संस्था आवश्यक रूप से आदर्शात्मक है। वह अपने सदस्यों के व्यवहार को एक निश्चित आदर्श प्रतिमान के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करती है और उन्हें आचरण के लिए सकारात्मक और नकारात्मक सम्मान प्रदान करती है। संस्थाएँ दोनों प्रकार के अनौपचारिक और औपचारिक नियन्त्रणों की शक्तिशाली साधन हैं। संस्थाकृत नियन्त्रण असंस्थाकृत नियन्त्रण की अपेक्षा स्वभावतः अधिक प्रभावी होता है। आधुनिक जटिल समाज में संस्थाकृत नियन्त्रण का अत्यधिक विस्तार हो गया है।

बलप्रयोग और सामाजिक नियन्त्रण

अन्य समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के पीछे अनेक अंशों और प्रकारों में बलप्रयोग (force or coercion) प्रचलित है। हमें पग पग पर इस बात का आभास होता रहता है कि यदि हम समाज द्वारा मान्य प्रतिमानों के विपरीत आचरण करेंगे तो दण्ड सजा भर्त्सना निन्दा व्यंग्य जाति-बहिष्कार आदि को भोगेंगे। बचपन में हम अनेक बातों की शिक्षा लेते समय माँ-बाप या अन्य सम्बन्धियों से मार भी खानी पड़ती है। प्रारम्भिक विद्यालयों में थप्पड़ और तमाचों से स्वागत की जाता है। शारीरिक बल प्रयोग का कानूनी अधिकार राज्य का ही है किन्तु उसका गैरकानूनी प्रयोग अत्यधिक प्रचलित है। राज्य के कानून और पुलिस अथवा अन्य औपचारिक संस्थाओं के नियम भी ऐसी मारपीट को नहीं रोक पाते जो सामाजिक व्यवहार के अगणित अवसरों पर हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि हमारे सभ्य समाजों में भी शारीरिक बलप्रयोग का प्रचलन इतना व्यापक क्यों बना है? गैर-सरकारी स्तर पर थोड़ा शारीरिक बलप्रयोग नितान्त आवश्यक है। मनुष्य मारपीट से सबसे अधिक डरता है क्योंकि इससे उसे शारीरिक यातना का अनुभव होता है। इस प्रकार के बलप्रयोग को पशुता की विरोधता कहा जा

सकता है। हाँ, यही है भी। परन्तु मनुष्य के बहुत से आचरण पशुओं जैसे ही होते हैं और उन पर नियन्त्रण पाने का यही तरीका सबसे प्रभावी है। इस सबसे अधिक भय इसी का होता है। दूसरा कारण यह है कि जब सामाजिक नियन्त्रण के अन्य साधनों की अवहेलना हो तब फिर बलप्रयोग ही अकेला चारा है। तीसरे, कुछ मनुष्य कई बार इतने उच्छृङ्खल हो जाते हैं कि वह दूसरों की असुविधा, अपमान और हानि का ख्याल नहीं करते हैं। उच्छृङ्खलता पर नियन्त्रण शारीरिक बलप्रयोग से करना आवश्यक है। आत्मरक्षा के लिए दूसरे की हत्या करने से मृत्यु-दण्ड नहीं मिलता। चोर, बदमाश, गुण्डे अथवा मनचले नीच मनुष्यों के दुष्कृत्यों का सामना शारीरिक बलप्रयोग से ही किया जा सकता है। पुलिस और कचहरी की सहायता लेने का या तो अवसर नहीं होता अथवा उनकी शिथिलता के कारण स्वयं ही उनसे निपटने के लिए तत्पर होना पड़ता है।

सामाजिक व्यवस्था में शारीरिक बल का सर्वथा उन्मूलन असम्भव है। समाज के शत्रुओं तथा समाज विरोधी शक्तियों का मुकाबला करने के लिए समाजीकृत शारीरिक शक्ति सदा बनी रहेगी। किसी भी समाज के नागरिकों के अधिकारों और दायित्वों की रक्षा के लिए यह शक्ति आवश्यक है। हालाँकि कुछ सभ्य देशों में शारीरिक बलप्रयोग के चरम रूप—फाँसी की सजा—का उन्मूलन कर दिया गया है किन्तु पुलिस और फौज को अब भी अधिकार है कि वे शान्ति और व्यवस्था पर आक्रमण करने वालों की जान ले लें। भारत जैसे अहिंसावादी देश में भी सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था में बलप्रयोग का निश्चित स्थान है। महाभारत के प्रणेता वेदव्यास ने दस्युदल या शत्रुदल को दबाने के लिए दण्ड (शस्त्र) के प्रयोग को ही राष्ट्रधर्म कहा है।[1] बिना शक्ति के कानून की अवज्ञा ही होगी, उसका पालन नहीं। किन्तु अकेले बलप्रयोग से सामाजिक व्यवस्था कभी नहीं बनी रहेगी। इस उद्देश्य की पूर्ति में शक्ति केवल एक सीमित साधन है।[2]

सामाजिक नियन्त्रण के सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी में 'सामाजिक नियन्त्रण' विषय पर काफी साहित्य प्रकाशित हुआ है। जिन *समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न पहलुओं पर विचार* किया है उनमें से रॉस अग्रगण्य हैं। रॉस ने सर्वप्रथम १९०१ ई० में इस विषय पर व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किए। तत्पश्चात् १९२५ ई० में लुम्ले ने और १९३० तथा

---

1 अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसङ्करे।
सम्प्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽस्ति महाबली।
ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन्।

१९५० के बीच की अवधि में लण्डिस, बर्नार्ड और रुसक ने 'सामाजिक नियन्त्रण' की समाजशास्त्रीय विवेचना की। पिछले दो दशकों में टालकाट पारसन्स और रावर्ट मर्टन ने इस विषय से सम्बन्धित कई बातों का महत्वपूर्ण विश्लेषण किया है।[1] यहाँ हम उपरोक्त प्रमुख लेखकों के सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

रास ने दो प्रकार के समाज बताए (अ) प्राकृतिक समाज (natural society) और (आ) वर्गाश्रित समाज (class based society)। एक प्राकृतिक समाज वह व्यवस्था है जिसमें आधारभूत मानव चेष्टाएं बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र कार्य करती रहती हैं। वह पूर्ण प्रतियोगी समाज को स्वाभाविक (प्राकृतिक) समाज कहता था। वर्गाश्रित समाज वह व्यवस्था है जिसमें व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण का केन्द्र वह वर्ग है जो शेष समुदाय के साधनों का उपयोग करके जीवित रहता है। उस समाज में वास्तविक सामाजिक नियन्त्रण न होकर केवल वर्ग नियन्त्रण होता है। वर्ग नियन्त्रण का तात्पर्य परजीवी वर्ग द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये शक्ति का प्रयोग है। रास उपरोक्त दोनों प्रकार के समाजों को दो चरम उदाहरणों (extreme examples) के रूप में देखता है इन दोनों छोरों के बीच अनेक प्रकार के समाज होते हैं जिनमें सामाजिक नियन्त्रण की समस्त संभावनाएं मौजूद रहती हैं।

सामाजिक नियन्त्रण वह ढंग है जिसमें समाज के हित में सामाजिक घटनाओं की व्यवस्था की जाती है। स्वतन्त्र रूप से स्थापित समाज व्यवस्था में सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती। ज्यों ही समाज में संस्थाकरण (institutionalization) प्रारम्भ हो जाता है त्यों ही सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ने लगती है। अर्थात् जटिल समाजों में नियन्त्रण की जरूरत पड़ती है। रॉस के विचार से सिद्धान्ततः राज्य सामाजिक नियन्त्रण का एक माध्यम है न कि उसका स्थान। सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता कुछ लोगों के हितों तथा शेष जनसाधारण के हितों के बीच सम्बन्धों की सुव्यवस्था करने के लिये पड़ती है। इस सन्दर्भ में रास ने सामाजिक नियन्त्रण के तीन नियमों (laws) का उल्लेख किया और यह बताया कि जनतन्त्रीय समाज में आर्थिक हितों तथा नौकरशाही के सन्दर्भ में सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया तथा साधन इससे प्रभावित होते हैं। जनतन्त्र में व्यक्तिगत हितों पर नियन्त्रण करने के लिए जो नौकरशाही राज्यशक्ति के माध्यम से नियन्त्रण करती है वही धीरे बहुत महत्वपूर्ण सामाजिक शक्ति का स्थान ले जाती है।

---

1 E A Ross *Social Control* (1901) F E Luntry *The Means of Social Control* (1925) P H Landis *Social Control* (1939) L L Berned *Social Control in its Sociological Aspects* (1939) J S Roucek *Social Control* (1947) T Parson *Social System* (1949) R K Merton *Social Theory and Social Structure* (1949)

रास ने सामाजिक नियन्त्रण के आधारों (grounds) साधनों (means) तथा सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था (system) का विवेचन किया है। नियन्त्रण के लिए आधारभूत मनोवैज्ञानिक भावना के रूप में सहानुभूति, न्याय भावना, सामाजिकता (sociability) और रोष (resentment) को रास बहुत महत्वपूर्ण मानता है। ये साधन ऐसे हैं जो एक प्राकृतिक व्यवस्था को जन्म देते हैं जिसमें सामाजिक नियन्त्रण एक क्रियाशील घटना नहीं रहती। नियन्त्रण के साधनों में जनमत, कानून, विश्वास, सामाजिक सुझाव (शिक्षा सहित), प्रथा, जन [illegible] कला, व्यक्तित्व प्रबुद्धता, भ्रम, सामाजिक मूल्यांकन आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। अन्त में रास ने सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक नियन्त्रण के स्थान को [illegible] सबसे अधिक उपयुक्त सामाजिक नियन्त्रण की सामाजिक नैतिक समस्या पर विचार प्रकट किये हैं। उसके अनुसार सरलतम और नैतिक [illegible] व्यवस्था ही सबसे उपयुक्त हो सकती है।[1]

टालकाट पारसन्स के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत उन यान्त्रिकताओं (mechanism) का समावेश होना चाहिए जो मनुष्यों के विचलित व्यवहार की उन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करती हैं जो सामाजिक व्यवस्था की एकसूत्रता और एकबद्धता का विनाश करती हैं। सामाजिक व्यवस्था के भीतर अन्तःक्रिया की प्रक्रिया के स्थिर सन्तुलन को प्राप्त करने और बनाए रखने के ढंग का विश्लेषण करना ही सामाजिक नियन्त्रण का परिचय है। ऐसी कोई समाज व्यवस्था नहीं है जिसमें सम्पूर्ण सन्तुलन हो। व्यावहारिक रूप में कोई भी समाज न तो पूर्णतः सन्तुलित है और न एकदम सूत्रबद्ध। प्रत्येक समाज व्यवस्था की एक अंग विचलित व्यवहार प्रवृत्तियाँ (deviant behaviour tendencies) होती हैं।

पारसन्स के विचार में स्पष्ट है कि न एकदम सूत्रबद्ध समाज व्यवस्था की सामान्य अन्तःक्रिया की प्रक्रियाओं में सामाजिक नियन्त्रण की सदा आधारभूत यान्त्रिकताएँ विद्यमान रहती हैं। उदाहरण प्रकार की समाजव्यवस्था में [illegible] केन्द्रीय [illegible] की घटनाएँ [illegible] प्रेरणा का [illegible] एकसूत्रबद्धता और विभिन्न व्यक्तिगत कर्ताओं की क्रियाओं तथा मनोवृत्तियों का पारस्परिक समन्वयकरण। क्रिया की कर्ता की विभिन्न भूमिकाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहार के समन्वयकरण के [illegible] में समायोजन व एकतात्मक बने रहते हैं। सामाजिक जीवन में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं और सामाजिक सम्बन्धों के [illegible] का संगठन होता है। समन्वयकरण का प्रारम्भिक काम इन विभिन्न क्रियाओं और सम्बन्धों को व्यवस्थित करना होता है जिससे वे एक पर्याप्त समन्वित ढाँचे का निर्माण कर सकें जिसमें कर्ता का समायोजन हो सके और जिससे सामाजिक [illegible] पर न्यूनतम [illegible] पड़ जाय। इस व्यवस्था

1 Don Martindale, The Nature and Types of Sociological Theory, pp. 32-23

को स्थापित करने के लिए दो रास्ते अपनाये जाते हैं। पहले में प्रत्येक विशिष्ट क्रिया के लिए विशिष्ट समय निश्चित किया जाता है और दूसरे में सम्याकृत प्राथमिकताएं निश्चित कर दी जाती हैं। प्रत्येक आधुनिक समाज में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करने के लिए समय नियत रहता है और जब अनेक विरोधी अथवा विजातीय आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न उठता है तो उनमें से किसे पहले किया जाय और किसे बाद में इसके लिए कुछ समाजानुमोदित प्रथाएँ और मूल्यताएँ होती हैं। इन दोनों से सामाजिक जीवन में विरोध और संघर्ष के अवसरों को न्यूनतम करने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। समाज की प्रथाओं और चलनों द्वारा विभिन्न क्रियाओं और सम्बन्धों के नियमन को हो पारसन्स संस्थाकरण (institutionalisation) कहता है। वह यह स्वीकार करता है कि संस्थाकरण के कार्यों को सामाजिक नियन्त्रण की यान्त्रिकताएं नहीं कहा जा सकता। ये तो केवल सामाजिक नियन्त्रण का आधार है।

सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया एक निरन्तर प्रक्रिया है जो एक संस्थाकृत व्यवस्था में सामाजिक अन्तःक्रियाओं के सामान्य माध्यम से क्रियारत रहती है। साधारण सामाजिक जीवन में मनुष्यों के व्यवहार को नियमित करने के लिए सुझाव निन्दा प्रताड़ना स्वीकृति अथवा अस्वीकृति और गपशप तथा राय ही ऐसी सहज विधियाँ हैं जिनसे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है। जब ये विधियाँ अथवा साधन अपर्याप्त सिद्ध होते हैं तभी जटिल औपचारिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है। धर्म के क्षेत्र में कर्मकाण्ड (ritual) नियामक का कार्य करता है और युवकों के समूह में अथवा अन्य समूहों या संगठनों में उन संगठनों की अपनी संस्कृतियाँ हैं जो साधारणतया अपने सदस्यों के व्यवहार का नियन्त्रण करती हैं। उनके अतिरिक्त पारसन्स सामाजिक नियन्त्रण की कुछ अन्य यान्त्रिकताएं बताता है जैसे विलगाव (insulation) और पृथक्करण (isolation)। जब समाज या संस्कृति के किसी भाग या अन्य समाज या संस्कृति से पृथक कर उसे बाहरी प्रभावों से अपेक्षतया अछूता बचाकर संस्था का मानस्थान किया जाता है तो इसे पृथक्करण कहते हैं। विलगाव की प्रक्रिया का अभिप्राय सामाजिक संरचना की गुत्थी के लिए उसे विघटनकारी शक्तियों से दूर रखना होता है। आधुनिक समाज में इन दोनों प्रक्रियाओं का सामाजिक नियन्त्रण में पूर्व की अपेक्षा कम महत्व होता जा रहा है।

सामाजिक व्यवस्था में विचलित व्यवहार को रोकने के लिए साधारणतया मर्यादित व्यवहार करने के लिए पुरस्कार और विचलित व्यवहार के लिए दण्ड की व्यवस्था करने के अतिरिक्त अतियोजित और अधिकाशत अचेतन यान्त्रिकताओं की एक जटिल व्यवस्था भी पाई जाती है। पारसन्स इन यान्त्रिकताओं को तीन वर्गों में विभक्त करता है —

(१) गम्भीर हानि की अवस्था तक पहुँचने के पूर्व ही अनिवार्यतः विचलित व्यवहार या प्रवृत्तियों का उदय होते ही उन्हें रोक देने वाली।

(२) विचलित व्यवहार करने की प्रेरणा देने वाली प्रवृत्तियों का दूसरों पर प्रभाव पड़ने से रोकने के लिए विभाग कर देने वाली।

(३) ऐसी द्वैतीयक सुरक्षाएँ जो विभिन्न दशाओं में गम्भीर विचलन की प्रक्रियाओं में परिवर्तन को पराजित कर देती हैं।[1]

---

1 T Parsons *Social System*, G cocoe (1952) pp. 297 321

३१

सामाजिक परिवर्तन

समाज की रचना में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। हमारे समाज का जो रूप आज है वह १०० वर्ष पहले नहीं रहा होगा और जो अब है वह अगले १०० या १८० वर्षों के बाद नहीं रहेगा। समाज अपने सदस्यों के बीच विद्यमान सम्बन्धों का क्रम है। उसमें अनेक क्रियाएँ होती हैं। ये सदैव बदलती रहती हैं। १९४७ ई० से पूर्व भारत पराधीन था। पराधीन भारत में संस्थायें, प्रथायें, सामाजिक मूल्य और रंग सभी पर हमारी पराधीनता के प्रभाव से आक्रान्त थे। स्वाधीनता होते ही भारतीय समाज की इस व्यवस्था में भारी और तीव्र परिवर्तन हुए हैं। पहले की कितनी ही संस्थाएँ, प्रथाएँ, मूल्य आदि विलीन हो गए हैं। हमारे रहन सहन, भाषा, रीति रिवाजों, आर्थिक संस्थाओं, राजनीति, शिक्षा तथा संस्कृति सभी में रूपान्तर हुआ है। इसी प्रकार प्रत्येक समाज निरन्तर बदलता रहता है। इतिहास साक्षी है कि समाजों की उन्नति और अवनति कब हुई है। हर समाज को अपने अन्दर और बाहर की बदलती हुई दशाओं से अनुकूलन करना पड़ा है। प्राकृतिक पर्यावरण में जो अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं उन्हें कौन नहीं जानता।

जिन दशाओं पर मानव जीवन आश्रित होता है वे सदैव परिवर्तित होती रहती हैं। इन परिवर्तित दशाओं में उपार्जन करने पर मानव जीवन को बदलना ही पड़ता है। फिर स्वयं मनुष्य उपरोक्त दशाओं में जान-बूझकर परिवर्तन करता रहता है और तदनुरूप अपने समाज और जीवन में यथाधार परिवर्द्धन करता है।

अर्थ और परिभाषा

सामान्य स्थूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है कि समाज के बहुत लोग आज ऐसे कार्य कर रहे हैं जो कुछ दिनों के पहले के उनके अथवा उनके पूर्वजों के कार्यों से भिन्न हैं। यदि कुछ मानव व्यवहार संशोधित हो रहा है तो यह समाज

में होने हुए परिवर्तन का संकेत है।[1] जब मनुष्य वे वे ढङ्ग बदलने लगते हैं जिनमें वे अपना निर्वाह करते हैं परिवार का भरण-पोषण करते हैं बच्चों को शिक्षा देते हैं अथवा अपने शासन प्रबन्ध को चलाते हैं और पूजा करते हैं, तो इन सबको ही हम सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य है 'समाज में परिवर्तन' किन्तु 'समाज में परिवर्तन क्या होता है' इस समझना इतना सरल नहीं जितना शायद प्रतीत होता है। सामाजिक परिवर्तन के बारे में अनेक परस्पर विरोधी एवं भ्रामक मत प्रचलित हैं। आधुनिक युग में इस विषय की सर्वोत्तम व्यावहारिक विवेचन आगबर्न ने की है। पर उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी है। हाँ उनके सम्पूर्ण विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि वह समाज की पार्थिव और अपार्थिव दोनों संस्कृतियों [redacted] परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानते हैं।[2] यह बहुत व्यापक अर्थ है।

मकाइवर और पेज ने 'सामाजिक संगठन में परिवर्तन' मात्र को सामाजिक परिवर्तन कहा है। समाजशास्त्री की रुचि उन परिवर्तनों में है जो सामाजिक सम्बन्धों में होते हैं।[3] वे सामाजिक परिवर्तन को, सांस्कृतिक परिवर्तन जो एक व्यापक क्रिया है का केवल एक भाग मानते हैं। इस भाग में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहा जाना चाहिए।[4]

गिलिन और गिलिन के विचार से सामाजिक परिवर्तनों से तात्पर्य जीवन के स्वीकृत ढंग में अन्तर पड़ने से है। ये परिवर्तन चाहे ही भौगोलिक दशाओं में हुए हों या सांस्कृतिक सज्जा जनसंख्या की संरचना या विचारधाराओं में परिवर्तन हों और चाहे वे समूह में प्रसरण या आविष्कार से हुए हों।[5] इस परिभाषा को स्वीकार करने में आपत्ति है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन का पर्याय बना देती है। हम पहले कह चुके हैं कि सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक का एक अंश मात्र है। दूसरा दूसरे से कम व्यापक है। किंग्सले डेविस ने सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की रचना और कार्य में होने वाले रूपान्तरों को सामाजिक परिवर्तन कहा है। सामाजिक परिवर्तन की यह धारणा काफी स्पष्ट है।

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में भेद

समाज में वे सभी परिवर्तन सामाजिक हैं जिनमें व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों में संशोधन हो जाता है तथा जो सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों

1 F F Merrill & H W Eldredge *Culture and Society* (Prentice Hall 195* p 512
2 William F Ogburn *Social Change* (Viking Press New York 1938
3 Our sociological focus of interest is the particular change of social relationships Maclver & Page *op cit* p 629
4 *Ibid* [redacted] 511
5 Gillin and Gillin *Culture Sociology* (1948 Edition) pp 561 62.

अथवा पहलुओं के रूप रचना और कार्य बदल कर उसका एक नया चित्र प्रस्तुत करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन का एक उदाहरण दीजिए। नगरीकरण के बढ़ने से परिवार का आकार छोटा हो रहा है। उसमें स्त्रियों की स्थिति ऊँची हो रही है। उसके सभी सदस्य एक ही घर में नहीं रहते हैं। वे अपने मूल स्थान पर ही अथवा दूर दूसरा घर बनाकर रहते हैं। परिवार के कमाने वाले सदस्यों का बहुधा तबादला होता रहता है। इन सब दशाओं ने परिवार की स्थिरता को बहुत कम कर दिया है। इसी प्रकार की अन्य दशाओं के कारण पारिवारिक विघटन हो रहा है। यह सामाजिक परिवर्तन का एक उदाहरण है। शिक्षा के प्रसार, नगरीकरण एवं जनतान्त्रिक व्यवहार की प्रौढ़ता के कारण भारत की कठोर जाति प्रथा बहुत कुछ शिथिल हो गई है। यह भी सामाजिक परिवर्तन हुआ।

सांस्कृतिक परिवर्तन उपरोक्त परिवर्तन से अधिक व्यापक है। संस्कृति की किसी शाखा (कला विज्ञान प्रविधि, दर्शन आदि को सम्मिलित करते हुए) में तथा सामाजिक संगठन के रूपों और नियमों में हरेक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन है।[1] संगठित श्रमिक संघों के विकास से मिल मालिक और मजदूर के सम्बन्धों में जो परिवर्तन आया है वह सामाजिक है। परन्तु हिन्दी की देवनागरी लिपि में संशोधन, या इसी प्रकार के सांस्कृतिक तथ्यों में परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन होते हैं। इस विषय पर सांस्कृतिक पर्यावरण के अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है।[2]

गतिहीन और गत्यात्मक समाज

जब मानव व्यवहार को निर्धारित करने वाले मूलभूत सामाजिक प्रतिमान एक पीढ़ी से दूसरी तक सार रूप से अपरिवर्तित रहते हों तो समाज को गतिहीन कहा जाता है। इसके विपरीत इन प्रतिमानों में जब शीघ्र परिवर्तन होने की प्रवृत्ति होती है तो समाज को गत्यात्मक कहते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि ये शब्द सापेक्षिक हैं। समाज एक जीवित यथार्थ है। उसमें परिवर्तन आना नितान्त स्वाभाविक है। वह या तो उन्नति करेगा या अवनति अपने स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। यह कहना भूल होगा कि आदिम समाज गतिहीन है और आधुनिक समाज गत्यात्मक। कोई भी समाज न पूर्ण गतिहीन और न पूर्ण गत्यात्मक हो सकता है। हाँ, जिन समाजों में तीव्र परिवर्तन होता है वह सरलता से अनुभव किया जा सकता है। सभी आधुनिक समाजों में परिवर्तन की गति एक ही नहीं होती। यदि किसी समाज में व्यवहार इतनी शीघ्रता से बदलेगा जैसे कि परमाणु अनुसंधान तो फिर उस समाज का जीवित रहना पूर्ण असम्भव हो जाएगा।[3]

1 Kingsley Davis *Human Society* (Macmillan New York 1949) p 622.
2 For a detailed discussion consult MacIver & Page *op cit* p 511
3 Merrill & Eldredge *op cit* p 511

परिवर्तनशील समाज की प्रकृति को किसी विशिष्ट क्षण में विद्यमान समाज रचना का अध्ययन कर नहीं जाना जा सकता। उसका समकालीन पहलू अतीत को छिपाये है और उसमें भविष्य के पहलू के भी बीज हैं। इसलिए उसकी प्रकृति के समझने के लिए हम ऐतिहासिक क्रियाओं का अध्ययन करना चाहिए जिनमें से होकर समाज गुजरा है और अपनी निरन्तरता में भी रूपान्तरित होता रहा है अर्थात् हम परिवर्तन की क्रिया का अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक परिवर्तन एक निरन्तर चलने वाली क्रिया है।

कुछ प्रश्न

सामाजिक परिवर्तन के विषय को भली भाँति समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। ये प्रश्न कौन से हैं? यदि किसी समाज में होने वाले परिवर्तनों को समझना चाहते हैं तो ये प्रश्न उठते हैं (१) इन परिवर्तनों का क्या रूप है? (२) क्या इनमें कोई क्रमबद्धता है? (३) इन परिवर्तनों की दर क्या है? अथवा क्या सभी सामाजिक परिवर्तनों की समान गति होती है अथवा विभिन्न परिवर्तनों की विभिन्न गति होती है? (४) समाज में परिवर्तनों का क्या स्रोत है? (५) इन परिवर्तनों को उत्पन्न करने के लिए कौन सी शक्तियाँ या दशाएँ उत्तरदायी हैं अर्थात् इनके कारण कौन से हैं? और अन्तिम प्रश्न जो मानव समाज के लिए बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण है, यह है क्या इन परिवर्तनों की कोई दिशा है? ये समाज को किसी लक्ष्य की ओर लिए जा रहे हैं या अन्त में समाज को भयंकर विपत्ति में ढकेल देंगे? इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना अत्यावश्यक है क्योंकि इनकी सफलता ही सामाजिक परिवर्तनों पर मनुष्य के नियन्त्रण की सम्भावना उत्पन्न कर सकती है।

प्रस्तुत अध्याय में इन समस्याओं (प्रश्नों) का समाधान करने की चेष्टा में कुछ सैद्धान्तिक सुझाव या संकेत देने का प्रयास है। यदि इन समस्याओं का कुछ स्पष्टीकरण हो सका और कुछ सम्भावनाओं का सुझाव दिया जा सका तो हमारा उद्देश्य सफल हो सकेगा।

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक अन्तःक्रिया

समूह में अनेक व्यक्ति रहते हैं। इनका परस्पर सम्पर्क होता है। किन्तु जब तक यह सम्पर्क केवल भौतिक रहेगा उनमें किसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध नहीं स्थापित होंगे। जब वे एक दूसरे के व्यवहार का अनुभव करते हैं और तदनुरूप कार्य करते हैं तो उनके सम्पर्क भौतिक न रह कर मानसिक हो जाते हैं। इन्हीं बार-बार के सम्पर्कों से उन लोगों में अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस क्रिया से ये स्थापित हुए हैं उसे सामाजिक अन्तःक्रिया कहते हैं।

सामाजिक अन्तःक्रिया और सामाजिक परिवर्तन में निश्चित ही गहरा सम्बन्ध है। सारा सामाजिक परिवर्तन सामाजिक अन्तःक्रिया से ही होता है। समाज की

रचना में अन्त क्रिया होना स्वाभाविक है। पति पत्नी में, परिवार तथा अन्य समूहों और समितियों के सदस्यों में अन्त क्रिया होती रहती है। इसी क्रिया के कारण सामाजिक परिवर्तन सम्भव होता है।

परन्तु सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक अन्त क्रिया एक नहीं है। अन्त क्रिया की प्रतिमानित दशाओं को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।[1]

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन परिवर्तन

यद्यपि समाज में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है परन्तु सभी परिवर्तन स्थायी परिवर्तन नहीं रहते। कुछ परिवर्तन अस्थायी रूप में होते हैं और कुछ स्थायी। अस्थायी परिवर्तन बहुत बार अन्त क्रिया का ही रूप होते हैं। इसलिए बुद्धिमत्ता की बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन हम दीर्घकालीन दृष्टिकोण से ही करें। सामाजिक परिवर्तन का विचार करते समय अवधि का स्पष्ट निर्देश कर देना वाञ्छनीय है।

सम्पूर्ण समाज में सामाजिक परिवर्तन को मालूम करना नितान्त कठिन है

सभी समाजों में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करना नितान्त कठिन है। कारण यह है कि विभिन्न समाजों में अनेक प्रकार से भिन्नताएं होती हैं। स्पेंगलर सारोकिन और बनडिक्ट जैसे महान् विद्वानों को इस कार्य में असफलता मिली है। शायद एक समाज के विभिन्न भागों में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण करना अपेक्षाकृत सरल और लाभदायक है क्योंकि सम्भव है इस विश्लेषण से सम्पूर्ण समाज के परिवर्तनों पर कुछ प्रकाश पड़ सके।

सामाजिक परिवर्तनों की एक विशद सूची बना लेने से हम निश्चय ही समाज के परिवर्तनों की सूचना मिल जाती है परन्तु उससे हमारा वैज्ञानिक उद्देश्य पूरा नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर हम सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन मात्र कर के सन्तोष नहीं कर सकते चाहिए। इसका पर्यावरण और लाभप्रद अध्ययन विश्लेषण करके ही हो सकता है। विश्लेषण में सामाजिक परिवर्तन के तथ्यों को सम्बन्धित करके उन्हें संगठित किया जाय। तत्पश्चात् उनका इस प्रकार से निरूपण करें कि वे वैज्ञानिक प्रामाणिकता के योग्य हो सकें। सामाजिक परिवर्तन अत्यन्त विविध और निरन्तर परिवर्तनशील विषय है। इसमें वैज्ञानिक क्रमबद्धता नाना विश्लेषणात्मक पद्धति (रीति) से ही सम्भव है।

सामाजिक परिवर्तन के द्योतक अन्य शब्द

समाज में परिवर्तन के ढंग (modes) तथा गुण के सूचक कई शब्द हैं

---

1 Social change does not refer to social interaction but rather to the normative conditions of interaction Davis *op cit* p 623

प्रयोग किया जाता है। इनमें भेद करने के लिए इनका ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए।[1]

प्रक्रिया—निरन्तर होने वाले सामाजिक परिवर्तन को प्रक्रिया कहते हैं। प्रक्रिया का अर्थ वह निरन्तर परिवर्तन है जो परिस्थिति में आरम्भ से मौजूद शक्तियों की क्रिया से निश्चित ढंग से होता है। जिस तरीके से समूह के सदस्यों के सम्बन्धों के चरित्र में एक स्पष्ट रूपान्तरण होता है उसे समूह की प्रक्रिया कहते हैं। जब दो समूह या सम्प्रदाय परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो उनमें अन्य क्रियाओं से परिवर्तन होता है। यदि दोनों में विरोध होता है तो संघर्ष शुरू होता है और कमजोर समूह को या तो समायोजन करना पड़ता है अथवा उसको शक्तिशाली समूह परिपाचन कर लेता है। इसी प्रकार समूह या संगठनों में सहकारिता, प्रतिस्पर्धा, एकीकरण या विघटन होता है। इन परिवर्तनों की बाबत खास बात यह है कि इनमें एक के बाद दूसरी क्रिया लगातार होती रहती है और परिवर्तन का क्रम कुछ काल तक चलता रहता है। इस प्रकार के परिवर्तनों में कोई निश्चित दिशा नहीं होती। विरोध उपयोजन में और उपयोजन विरोध के संघर्ष में परिणत हो सकता है। संगठन विघटन में तथा विघटन व्यवस्था में परिणत हो सकता है। एक दिशा ऊपर नीचे आगे-पीछे, एकीकरण या विच्छिन्नता की ओर हो सकती है। साथ ही ये परिवर्तन गुण-दोष रहित होते हैं। परिवर्तन की दो स्थितियों के सापेक्षिक गुणों का अर्थ प्रक्रिया में निहित नहीं है। प्रक्रिया वह निश्चित क्रमिक तरीका है जिसमें एक स्थिति या अवस्था दूसरी में विलीन हो जाती है।

विकास—जब परिवर्तन में निरन्तरता तथा दिशा दोनों रहते हैं तो उसे विकास कहा जाता है। जबकि क्रिस्टाला के विकास परिवर्तन के समझने की महत्त्वपूर्ण कुंजी माना गया है। मकाइवर कहता है कि जिस व्यवस्था या जीवित पदार्थ में हम विकास न मिले उसके कुल का अध्ययन केवल इतिहासज्ञ कर सकता है वैज्ञानिक नहीं। विकास का अर्थ वृद्धि से अधिक है। वृद्धि में दिशा का संकेत तो मिलता है किन्तु सिर्फ उसके संख्यात्मक चरित्र में वृद्धि से मात्रात्मक परिवर्तन मात्र है। जब किसी नगर अथवा देश की जनसंख्या बढ़ती है तो उसे नापा जा सकता है। मनुष्य की ऊँचाई तथा साधनों की संख्या में वृद्धि उसमें मात्रात्मक परिवर्तन का संकेत करते हैं। विकास में वस्तु के अन्तर्निहित गुण के प्रकट प्रस्फुट होकर उसके आकार (size) और रचना दोनों में परिवर्तन होता है। विकास होने में वस्तु की रचना और कार्यों में अन्तर आता है। जो अंग या कार्य पहले हमारी नजर में नहीं आते वे विकास होने पर स्पष्ट हो जाते हैं। विकास उस परिवर्तन को कहते हैं जब एक स्थिति का रूपान्तरण इस प्रकार होता है कि उस स्थिति के अन्तर्हित सभी

1 Transition transformation mobility dynamism etc. are used to signify change in society

गए प्रत्यय, गुण कार्य अपनी नई दशा में प्रस्फुटित होकर अलग अलग स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। विकास का एक निश्चित रूप एकीकरण की ओर होता है। विकास के धारक परिवर्तन का सामाजिक आदर्श में मूल्यांकन नहीं होता यद्यपि विकसित वस्तुओं को हम कम या अधिक समुन्नत और उच्चतर या निम्नतर कहते हैं। उद्विकास से भिन्न जुनन शब्द हैं—उन्नति अधोगति, अवनति। किसी मापक का ऊपर इन सभी से उच्चतर निम्नतर या आगे-पीछे का भाव प्रकट होता है।

प्रगति – विकास में उच्चतर निम्नतर या आगे पीछे का भाव तो प्रकट होता है किन्तु उससे अधिक अच्छा-बुरा का भाव कभी नहीं प्रकट होता। विकास का मूल्यांकन समाज द्वारा प्रतिष्ठित नैतिक आदर्शों के आधार पर नहीं होता। 'प्रगति' में आदर्शात्मक मूल्यों का भाव निहित है। प्रगति का प्रयोग गुणात्मक तथा किसी दिशा में होने वाले परिवर्तन के लिए जरूर किया जाता है किन्तु यह परिवर्तन समाज द्वारा निर्दिष्ट मूल्यों तथा आदर्शों को प्राप्त कर चुका हो और कर रहा हो। 'प्रगति' में विकास की दशा किसी लक्ष्य की ओर होनी चाहिए। यह आदर्श निर्धारित किसी गन्तव्य की ओर हम न जाय। यह गन्तव्य या लक्ष्य नैसर्गिक शक्तियों द्वारा नहीं बनता। यह बनता है हमारी सामाजिक मूल्यताओं में। क्या प्रगति है और क्या अधोगति इसका निर्णय विभिन्न व्यक्ति और समूह अपनी मानसिकता तथा अनुभव के अनुसार करते हैं। यदि विकास द्वारा हुए परिवर्तन को हम सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से अच्छा या बुरा समझते तो विकास को भी हम प्रगति या अधोगति कह सकते हैं।

उपयोजन आदि—उपयोजन समायोजन अनुकूलन सात्मीकरण तथा उनके विपर्यय किसी वस्तु या व्यवस्था में स्वयं परिवर्तन के द्योतक नहीं हैं। किन्तु ये दो या अधिक वस्तुओं या व्यवस्थाओं में परस्पर परिवर्तित सम्बन्धों के द्योतक हैं।

सुधार—नई परिस्थितियों में समाज की पुरानी व्यवस्था में जब जान बूझकर कोई परिवर्तन किया जाता है तो उसे सुधार कहते हैं। सुधार हमेशा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस परिवर्तन की निश्चित दिशा होती है। सुधार में समाज की पूरी व्यवस्था या उसके किसी अंग की कमियों दोषों और बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। सुधार के लिए किए गए परिवर्तनों में गुण-दोष का विचार होता है। वे सम्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों होते हैं। सुधार लाने के लिए व्यक्तियों या समूह द्वारा आन्दोलन चलाया जाता है। आन्दोलन की सफलता दो प्रकार से होती है। पहले समाज या समूह के अधिक से अधिक लोग प्रस्तावित सुधारों को स्वेच्छा से अपना लें। दूसरे प्रस्तावित सुधारों को समाज में लाने के लिए राज्य कानून बनाये। विकसित तथा अधिक सभ्य देशों में या समाजवादी समाजों में समाज सुधार मुख्यतः कानूनों के जरिये से किया जाता है। इसे नियोजित समाज परिवर्तन भी कहते हैं।

क्रान्ति—समाज में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक व्यवस्थाएँ होती हैं। जब इनमें से किसी में परिवर्तन धीरे धीरे या क्रमशः एक स्थिति से दूसरी स्थिति में न होकर बहुत तीव्र गति से तथा क्रमहीन होता है तो उसे क्रान्ति कहा जाता है। क्रान्ति में विकास की निरन्तरता टूट जाती है। विकास में परिवर्तन निरन्तर तथा क्रमबद्ध होता है इसलिए एक स्थिति तथा दूसरी स्थिति में कोई अन्तर नहीं रहता और न किसी समय परिवर्तित वस्तु या व्यवस्था में अनिश्चित अवस्था अर्थात् संक्रान्ति काल ही रहती है। क्रान्ति में चूँकि निरन्तरता भंग हो जाती है इसलिए पहली तथा दूसरी स्थिति के बीच में अन्तर या व्यवधान रहता है जिसमें अनिश्चितता या अस्पष्टता पाई जाती है। संक्रान्ति काल में बदलने वाली वस्तु का कोई स्पष्ट रूप नहीं होता। इस अवधि के बीतने के बाद ही कुछ स्पष्टता या निश्चितता देखी जा सकती है।

चाहे जिस क्षेत्र में क्रान्ति हो उसका व्यापक प्रभाव समाज के दूसरे अंगों पर पड़ता है। समाज या संस्कृति के सभी अंगों में एकदम क्रान्ति नहीं होती। यही कारण है कि औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस तथा रूस की राजनैतिक क्रान्ति या भारत की आर्थिक सामाजिक क्रान्ति का नाम सुनाई देता है। क्रान्ति के बीज समाज के सारे अंगों में रहते हैं। किन्तु जो अंग सांस्कृतिक पश्चाद्गमन का सबसे अधिक शिकार होता है उसी में क्रान्ति की ज्वाला सबसे पहले भड़कती है। क्रान्तियों के भड़कने का एक विशिष्ट समय, मास या वर्ष हो सकता है किन्तु उनका प्रारम्भ बहुत पहले से होता है। मानव इतिहास में जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं उन सबका प्रारम्भ कम से कम तीन पीढ़ियाँ पहले हुआ है। इससे स्पष्ट है कि जब सांस्कृतिक पश्चायन अधिक होता है तभी व्यवस्था में सामंजस्य लाने के लिये तीव्र गति से परिवर्तन होता है। क्रान्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए ले बान ने लिखा है कि किसी राष्ट्र का मन या उसकी संस्थाएँ जितनी स्थिर होंगी उतनी ही तीव्र वहाँ की क्रान्ति होगी। जो राष्ट्र धीरे धीरे परिवर्तन करता रहता है वहाँ क्रान्तियाँ भयानक नहीं होतीं।

विज्ञान के क्षेत्र की क्रान्तियाँ अन्य क्रान्तियों से भिन्न होती हैं। भाप से चलने वाले यन्त्रों, डीज़ल इंजिनों, रश्मियों, अणु के विभाजन ने विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति की है। ऐसी क्रान्ति वास्तव में बड़े भिन्न भिन्न आविष्कारों के मिलने पर सहसा तीव्र परिवर्तन उपस्थित करती है। ले बॉन वैज्ञानिक क्रान्ति को विचार द्वारा संचालित मानता है।

क्रान्तियाँ हिंसात्मक (उग्र) तथा शान्तिमय होती हैं। जिस क्रान्ति में हिंसात्मक उपायों या साधनों का इस्तेमाल होता है उसमें जानमाल को भारी क्षति पहुँचती है। रूस तथा फ्रांस की क्रान्तियाँ हिंसात्मक थीं। भारत की १८५७ ई० की राज्य क्रान्ति भी इसी श्रेणी में आती है। किन्तु भारत का स्वाधीनता संग्राम

जिससे हम १९४७ में आजाद हुए शान्तिमय क्रान्ति थी। विनोबा भावे भूदान में जिस सर्वोदय समाज की स्थापना का आन्दोलन कर रहे हैं वह शान्तिमय क्रान्ति की नीव है। दक्षिणी पूर्वी एशिया में बुद्ध धर्म का प्रसार शान्तिमय धार्मिक क्रान्ति थी।

सामाजिक परिवर्तन की गति की दर

समाज की व्यवस्था में विरोधी शक्तियों का सतुलन होता है। उनमें से कुछ परिवर्तन चाहती हैं जब कि अन्य उनका विरोध करते हैं। यदि इन दोनों प्रकार की शक्तियों में से कोई अधिक प्रबल नहीं है और दोनों ही एक दूसरे की तुलना में समान रहती हैं तो समाज में स्थिरता रहती है। जब परिवर्तन चाहने वाली शक्तियाँ प्रबल होती हैं तो उनके विस्तार से परिवर्तन की दर का आभास होता है।[1]

परिवर्तन की दर के दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम, विभिन्न समाजों में अथवा एक ही समाज में विभिन्न समयों में परिवर्तन कितनी शीघ्रता से हो रहा है। जैसे आधुनिक भारत में मध्य कालीन भारत की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है। अथवा भारत और चीन की अपेक्षा दक्षिणी एशिया के अन्य देश धीरे धीरे बदल रहे हैं। परिवर्तन की दर का दूसरा अर्थ यह है एक समाज के विभिन्न भागों में बहुधा एक ही समय में परिवर्तन कितनी शीघ्रता से हो रहा है।

परिवर्तनों की दरों की तुलना करना अत्यन्त कठिन है। पहली कठिनाई यह है कि सम्पूर्ण समाज में परिवर्तन नापने का कोई तरीका उपलब्ध नहीं। हाँ एक समाज के विभिन्न अंगों और दूसरे के उन्हीं अंगों में निश्चित समयों पर परिवर्तन की गति की तुलना की जा सकती है। जैसे धर्म परिवार आर्थिक संस्थाएं संस्कृति आदि के परिवर्तन की दर की तुलना करना अपेक्षतया सरल है। इसमें लाभ यह है कि एक ही प्रकार की वस्तुओं में तुलना की जा रही है। अन्त में दो समाजों की इन अवधियों में सापेक्षिक परिवर्तन दर का योग किया जा सकता है। पर इसमें भी विविध क्षेत्रों में परिवर्तन की दर का नापने की रीतियाँ मालूम करना अत्यधिक कठिन होगा।

एक समाज के विभिन्न भागों जैसे यातायात और संचार शिक्षा राजनैतिक संस्थाएं धर्म या व्यापार में परिवर्तन की सापेक्षिक दरों को मालूम करना नितान्त सरल है यद्यपि यह सभी परस्पर अनुबन्धीय हैं।[2]

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

हर समाज में परिवर्तन की अनेक विधायें एक साथ कार्य करती हैं। कहीं पर समायोजन हो रहा है तो दूसरी ओर संघर्ष चल रहा है। कहीं पर एक संस्था समूह

---

1 To the extent that forces favouring change prevail a rate of change result Davis op cit p 676
2 K. Davis op cit pp 626-27

या व्यक्ति दूसरे पर प्रभुत्व जमा बैठा है तो दूसरी ओर इस प्रकार के प्रभुत्व को उखाड़ फेंका जा रहा है। यदि एक समूह नए लक्ष्यों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील है तो दूसरा प्राचीन आदर्शों को वापस लाने पर तुला है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक समाज में एक ही साथ परिवर्तन की इतनी क्रियायें काम किया करती हैं कि यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि क्या सम्पूर्ण समाज में एक इकाई की भाँति (फिर चाहे यह एक राष्ट्र हो अथवा सांस्कृतिक क्षेत्र या एक विशेष सभ्यता) किसी गति को खोजा जा सकता है? क्या स्वयं समाज परिवर्तन की किन्हीं विशाओं से गुजरता है? और यदि हाँ तो इन विशाओं का क्या कोई निश्चित स्वभाव या दिशा है? विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन के दो रूप बताये हैं —(१) चक्रिक, और (२) विकासशील।[1]

चक्रिक परिवर्तन—सामाजिक परिवर्तन को चक्रिक क्रिया मानने वाले विद्वानों का विचार है कि समाज, संस्कृतियाँ, सभ्यतायें अथवा संस्थायें जन्म लेती हैं और उन्नति करके अवनति पर पहुँचती हैं और अन्त में उनकी मृत्यु हो जाती है। साम्राज्य बनते और बिगड़ते हैं। समाजों अथवा संस्कृतियों के जीवन चक्र को वे मनुष्य के जीवन चक्र के अनुरूप मानते हैं।

विकासशील परिवर्तन—अन्य विचारकों का मत है कि समाजों का विकास होता है जिसमें उनके गुप्त या प्रच्छन्न पक्ष या चरित्र प्रकट हो जाते हैं। समाज की प्रकृति से सम्बन्धित विविध वस्तुओं की गुप्त भावनायें धीरे धीरे प्रकट हो जाती हैं। समाज के सभी परिवर्तन निरन्तर एक दिशा में होते रहते हैं। उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों में प्रथम शायद सबसे प्राचीन है। इनमें से कौन सामाजिक परिवर्तन की क्रिया का सत्य या यथार्थ विश्लेषण करता है?

कभी कुछ विद्वान चक्रिक और विकासवादी सिद्धान्तों को दूसरे के बिल्कुल विपरीत मानते हैं। यह अतिरेक है और यथार्थ से बहुत दूर है।

An extreme statement of the cyclical hypothesis would be that social phenomena of whatever sort (whether specific traits or whole civilizations) recur again and again, exactly as they were before. An equally extreme statement of the linear hypothesis would be that all aspects of society change continually in a certain direction never faltering, never repeating themsel[illegible]

सम्भवतः उपरोक्त चक्रिक स्थितियों का स्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज में परिवर्तन की हर प्रवृत्ति में थोड़ी बहुत समानता (चारित्र) पाई जाती है। कोई भी वस्तु पूर्णतः पूर्व का ढंग न रहकर परिवर्तित होती है।

1 MacIver & Page, op. cit., pp. 523[illegible]

और इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि एक घटना पूर्णतया पहले जैसी नहीं हो सकती। कोई भी वस्तु या संस्था परिवर्तित होकर अपनी शुद्ध पूर्व स्थिति पर नहीं पहुँचती है। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन की दोनों परिकल्पनायें कदापि वर्णनीय नहीं हो सकती।

हम कभी भी सामाजिक परिवर्तन के बारे में सब कुछ नहीं जान सकते। हम सिर्फ वही ज्ञात कर सकते हैं जो अवलोकन योग्य है। इसलिये यह घोषणा कि परिवर्तन का कोई विशिष्ट ढंग सदैव से विद्यमान रहा है, अनुभव सिद्ध ज्ञान से परे है। सामाजिक परिवर्तन की चरम प्रकृति की बात करना केवल दर्शन की गलियों में घूमना है। इस प्रकार की पहेलियों का समाज विज्ञान में कोई स्थान नहीं है।

समाज परिवर्तन के अवलोकन से उसमें प्रवृत्तियाँ और चपलतायें दोनों ही मिलते हैं। यह जानने के लिए कि कौन परिवर्तन रेखिक (linear) है अथवा चक्रिक, हम उस विचाराधीन समयावधि (span of time) के सन्दर्भ में देखना होगा।[1]

परिवर्तन की दिशा

परिवर्तन आगे पीछे दोनों दिशाओं में हो सकता है। दिशा को जानने के लिए परिवर्तन के कारकों को ज्ञात करना आधारभूत है। यह भी सम्भव है कि परिवर्तन की दिशा अपरिवर्तित रहे परन्तु परिवर्तन की दर में शीघ्रता या शिथिलता आ जाय। कई बार अवलोकनकर्त्ता किसी परिवर्तन में दिशा का अनुमान कर लेता है। ऐसे अनुमान परिवर्तन के तथ्यों के वास्तविक गुण से सम्बंधित नहीं होते। वे तो व्यक्ति की इच्छाओं से निर्धारित होते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोग स्त्रियों द्वारा पर्दे के बहिष्कार को भारतीय समाज की अधोगति का साक्ष्य मानते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के ढंग

परिवर्तन का ढंग उसके विषय के अनुसार अलग अलग होता है। यहाँ हम तीन प्रकार के ढंगों का वर्णन करेंगे।

(१) जब कोई आविष्कार होता है तो अपने अन्तिम रूप में आने से पहले वह अस्थिर विचार की अवस्थाओं से होकर गुजरता है। संस्कृति के परिच्छेद में हमने देखा था कि एक नया सांस्कृतिक उपकरण कितने ही पूर्वगामी उपकरणों का मौलिक या सुधरे रूप में मेल होता है। कोई भी आविष्कार सहसा नहीं हो जाता और आविष्कार हो जाने पर भी उसमें बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। ग्रामोफोन, या

---

1 We cannot know anyth ng about all social change We can know only abou the social change that is observable Any claim that a mode of change has always persisted and always will persist clearly goes beyond empirical knowl dg Indeed whether a giv n change is cyclical or liner depends largely on the pan of time und r consi l ration Davis op cit p 62

रेडियो या मोटर कार को ही देखिए। तान्त्रिक परिवर्तन की यह विशेषता इसी प्रकार किसी कला या विज्ञान में भी क्रमिक विकास या उन्नति होती है। ज्ञान विज्ञान के भण्डार में क्रमशः वृद्धि होती है। उसमें समनुरूपता और एकीकरण धीरे धीरे आता जाता है। जब कभी क्रान्तिकारी परिवर्तन भी होते हैं तो वे उस विज्ञान के कलेवर में अधिक पूर्णता से समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन ढंग को हम ऐसी रेखा से दिखा सकते हैं जो क्रमशः ऊपर की ओर उठती जाती है तथा जिसकी दिशा हमेशा एक ही रहती है। यातायात के साधनों की कार्यक्षमता (efficiency) इसी प्रकार बढ़ी है।

(२) दूसरे ढंग का परिवर्तन जन-संख्या की वृद्धि तथा कमी या आर्थिक क्रियाओं की उन्नति अवनति में दिखाई देता है। शहरों की जनसंख्या बढ़ती है और कभी-कभी घट जाती है। जनसंख्या की वृद्धि की दर में उतार चढ़ाव आते हैं। इसी प्रकार देश में उत्पादन की दर भी बढ़ती घटती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी उतार चढ़ाव होता रहता है।

(३) परिवर्तन का तीसरा ढंग लयदार या चक्र के समान होता है। सुबह दोपहर शाम का क्रम या मौसमों में परिवर्तन लयदार है। जीवन में भी यही क्रम मालूम पड़ता है। जीवन मृत्यु के क्रम को चक्रिक कहा जाता है। व्यापार में उत्थान-पतन का क्रम भी चक्रिक होता है। किन्तु सांस्कृतिक परिवर्तनों, सामाजिक आन्दोलनों तथा फैशन में परिवर्तनों का ढङ्ग एक वक्र में दिखाया जा सकता है।

परिवर्तन के उपरोक्त ढंग परिस्थितियों के संख्यात्मक पहलू को दिखा सकते हैं। किन्तु परिवर्तन विषय के गुण में भी होता है। गुणात्मक पहलू को हम किसी प्रकार की रेखाओं या चित्रों में नहीं दिखा सकते। संस्कृति के गुणात्मक परिवर्तनों को हम संख्याओं में नहीं नाप सकते। दूसरे गुणात्मक परिवर्तन कई प्रकार के होते हैं। इसलिए परिवर्तन के ढंगों को सूक्ष्म विश्लेषण से समझना चाहिए। उनमें अनेक जटिलताएं होती हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कारण

समाज में परिवर्तन लाने वाली स्थायी दशाओं को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) बाह्य दशाएं जिन पर मनुष्य का निश्चित और पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता है जैसे प्राकृतिक और जैविक दशाएं।

(२) आन्तरिक दशाएं जिनकी सृष्टि और नियन्त्रण स्वयं मनुष्य परिस्थितियों और समय के अनुसार करता है जैसे प्रौद्योगिक अथवा उपयोगी (utilitarian) और सांस्कृतिक दशाएं।

प्राकृतिक, जैविक और प्रौद्योगिक एवं सांस्कृतिक दशाओं में से प्रत्येक एक प्रकार के कारकों की सामूहिक क्रिया की प्रतिनिधि होती है। इसलिए प्रत्येक दशा में एक प्रकार के कारकों का समावेश होता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के कारकों को भी चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) प्राकृतिक कारक, (२) जैविक कारक (३) प्रौद्योगिक कारक, एवं (४) सांस्कृतिक कारक।

समाज-परिवर्तन की स्थायी दशायें

मनुष्य हमेशा से अपने प्राकृतिक पर्यावरण में सुधार और परिवर्तन करता आया है। वह ऐसा इस वातावरण पर नियन्त्रण करने के लक्ष्य से करता है। नदियों पर पुल, पहाड़ों में सुरंगें, जंगलों की सफाई, ट्रैक्टर से खेती, रेल, मोटर या जहाज अथवा अन्य मशीनों के निर्माण से उसने अपने बाह्य पर्यावरण को नियन्त्रित किया है। उसके नियन्त्रण के हर कदम ने उसके तथा पर्यावरण के सम्बन्ध को बदला है। इस सम्बन्ध में परिवर्तन से मनुष्य मनुष्य के सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता है। एक उदाहरण लें। कपड़ा बुनने के लिए पहले व्यक्तिगत रूप से जुलाहे या उनके परिवार काम में लगे रहते थे। किन्तु जब कपड़ा बुनने की मशीनों का आविष्कार हुआ तो एक फैक्टरी में सैकड़ों हजारों स्त्री पुरुष एक साथ मिलकर काम करने लगे। इनके परस्पर सम्पर्क से उनमें नए सम्बन्ध बने, नई संस्थायें और संगठन विकसित हुए। यही सामाजिक परिवर्तन है। इन नई संस्थाओं तथा संगठनों का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है और समाज की व्यवस्था परिवर्तित होती है। मशीनों के उपयोग से जो श्रम-संघ तथा बच्चों से सम्बन्धित कानून या औद्योगीकरण वाले देशों की समाज व्यवस्था में उनसे बहुत परिवर्तन हुए। मकाइवर कहता है कि इस तरह मनुष्य अपने पर्यावरण को बदल कर सामाजिक-परिवर्तनों की डोरी खींचता या जन्म देता है। कुछ सामाजिक सम्बन्ध तो उसकी सभ्यता उस पर लाद देती है और कुछ वह अपनी सभ्यता पर लादता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन के स्रोत पर्यावरण से मनुष्य के बदलते हुए सम्बन्ध के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणामों से गहरे होते हैं। हर सामाजिक समूह के सांस्कृतिक मूल्य उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल बाह्य पर्यावरण को अनवरत बदलते रहते हैं, तान्त्रिक साधनों का नियन्त्रण, निर्माण और निर्देशन करते हैं तथा विरोधी सांस्कृतिक मूल्यों से संघर्ष में जीत जाते हैं। इस प्रकार समाज की स्वयं प्रकृति में अस्थिरता निहित है।[1]

प्राकृतिक पर्यावरण—प्राकृतिक पर्यावरण और शक्तियों से समाज में परिवर्तन होता है। हमारी पृथ्वी का धरातल धीरे धीरे बदला करता है। कुछ भौगोलिक परिवर्तन बहुत धीमे होते हैं और कुछ भारी और अचानक होते हैं जैसे तूफान, भूकम्प आदि। प्रकृति में ऋतुओं के बदलने के अतिरिक्त तापमान, आर्द्रता, हवाओं आदि में थोड़ी अवधि में परिवर्तन होते रहते हैं। ये और इसी तरह के होने वाले प्राकृतिक

1 MacIver & Page, *op. cit.*, p. 513

परिवर्तनों पर मनुष्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। किन्तु वे मनुष्य-समाज को बदल देते हैं। ये सामाजिक परिवर्तन मनुष्य के पर्यावरण से उपयोजन के परिणाम हैं।

जलवायु, भूमि में रासायनिक तत्वों आदि में परिवर्तन समाज को बहुत धीरे धीरे उत्पन्न हैं। इनका प्रभाव एक प्रकार से नगण्य सा और अप्रत्यक्ष होता है। हंटिंगटन जलवायु में परिवर्तन से सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तन बताता है। जूलियन हक्सले भी जलवायु तथा भूमि के रासायनिक तत्वों में परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध जोड़ता है।

एक दूसरे प्रकार के पर्यावरणी-परिवर्तन मनुष्य की क्रिया के परिणाम होते हैं। वह भूमि को जोतता है और खेती करता है, नदियों पर पुल बनाता है और उनसे नहरें निकालता है, पहाड़ों को सुरंग लगाकर खोखला करता है, विस्तृत जंगलों को हरे भरे मैदानों में परिवर्तित कर देता है। इन सबसे उसके समाज में परिवर्तन होते हैं—जनसंख्या बढ़ती है, जीवनस्तर ऊँचा होता है, उसकी सभ्यता और संस्कृति में उन्नति होती है। किन्तु जब अपने लालच और मूर्खता में वह प्रकृति की शक्तियों का बेजा शोषण करता है तो उसका भौगोलिक पर्यावरण उसके लिए अकिंचन बन जाता है। उसमें फिर जनसंख्या की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति नहीं रहती। इसका परिणाम बड़ा घातक होता है। शहर खण्डहर हो जाते हैं, सभ्यताएं मलीन या लुप्त हो जाती हैं और विशाल भू भाग रेगिस्तान या ऊसर मैदान हो जाते हैं। पूर्वी भूमध्यसागर के तटों पर दक्षिणी इटली, यूनान, फिलस्तीन और मिस्र आदि में जनसंख्या ने घट ही नहीं बल्कि व्यापार के साथ राजधानियों तथा संस्कृति के केन्द्र और सामाजिक संस्थाओं की सारी व्यवस्था ही नष्ट हो गई।

हर सभ्यता अपने पर्यावरण के साधनों का शोषण करती है। अन्य बातों के अलावा, इन साधनों की समाप्ति या उनकी प्रतिस्थापन शक्ति की योग्यता पर सभ्यता की जिन्दगी, उसका कायम रहना और उसकी उन्नति निर्भर रहती है। हमारी आधुनिक सभ्यता के सामने भी यह प्रश्न है कि कोयला, तेल आदि धातुओं के समाप्त हो जाने पर वह क्या करेगी? जल पानी की शक्ति से बिजली बना कर बिजली की पूर्ति अपरिमित कर दी है। उसी तरह भाप शक्ति की परिमितता को सभ्यता के विनाश में बाधक न बनने के लिए मनुष्य ने अणुशक्ति की खोज करली है। अणुशक्ति के घरेलू तथा औद्योगिक उपयोग से भविष्य में भारी सामाजिक परिवर्तन होने की सम्भावना है।

हम पहले कह चुके हैं कि भौगोलिक पर्यावरण सामाजिक क्रियाओं के लिए रंगमंच है। इस रंगमंच में परिवर्तन होने पर उस पर होने वाली क्रियाओं में भी परिवर्तन आता है।

(२) जैविक दशायें—समाज से जैविक निर्णायकों में उसकी जनसंख्या की रचना, विवरण, जन्म मरण संख्या और शारीरिक तथा मानसिक गुण और एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी का आना सम्मिलित होते हैं। समाज में परिवर्तन का स्थायी स्रोत उसकी जैविक निधि है। जीवशास्त्री कहते हैं कि स्त्री पुरुष के संयोग से जो सन्तान पैदा होती है वह अपने माता पिता दोनों की विशेषताओं को रखते हुए भी उनसे भिन्न होती है। अर्थात् मनुष्यों की हर पीढ़ी शारीरिक और मानसिक गुणों की दृष्टि से पहली पीढ़ी से भिन्न होती है। वंशानुक्रमण जिसे हम स्थिर या संरक्षक शक्ति समझते हैं उसमें भी परिवर्तन आते रहते हैं। एक ही माँ बाप की भिन्न भिन्न सन्तानों में पूर्ण समानता कभी नहीं पाई जाती। समाज की जनसंख्या बढ़ने तथा संचार के साधनों की उन्नति से नाना प्रकार के सम्पर्क स्थापित हो जाते हैं जिससे विभिन्न और असमान स्त्री-पुरुषों का समागम या रुधिरमिश्रण बढ़ जाता है। जटिल सभ्यताओं में यह रुधिर मिश्रण बहुत तेज बढ़ जाता है और परिणामतः मनुष्यों की पीढ़ियों के शारीरिक और मानसिक गुणों में भारी परिवर्तन आ जाते हैं। क्या यह बदल समाज में कोई परिवर्तन नहीं लाता?

समाज परिवर्तन की जैविक दशायें परिवर्तन के अन्य कारकों से मिलकर बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। हर समाज की अपनी विरासत होती है। इसकी प्रकृति संचयी संग्रहात्मक है। समाज में जो नए सदस्य प्रवेश करते हैं उन्हें अपने जीवन रक्षण और उन्नति करने के लिए नई दशाएँ नहीं निर्माण करनी पड़ती। वे सामाजिक विरासत का उपयोग करते हैं किन्तु इस उपयोग में उन्हें अपने अनुभव के सहारे सुधार तथा अस्वीकार करने की गुंजाइश रहती है। बस, यही सम्भावना समाज परिवर्तन का स्रोत है। हम जानते हैं कि वयस्कों की हर पीढ़ी अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के अनुसार सामाजिक विरासत का उपयोग करती है और अपने कर्मों से उसकी वृद्धि करती है।

तीसरे जनसंख्या की संरचना अनवरत बदला करती है। उसमें स्त्रियों, पुरुषों, बच्चों, तरुणों तथा वृद्धों का अनुपात हमेशा बदला करता है। मनुष्य अपनी भौतिक अवस्थाओं की उन्नति कर जीवन-स्तर को ऊँचा करने की धुन में सचेष्ट से लगा है। जीवनस्तर के ऊँचे होने से मनुष्य की औसत आयु बढ़ जाती है, जन्म-स्तर बढ़ती तथा मृत्यु-स्तर घटती है जिससे जनसंख्या में वृद्धि की दर बढ़ जाती है। जनसंख्या के घटने बढ़ने से समाज की संस्थायें और मूल्य बदलते हैं उसी प्रकार उसकी वृद्धि से नई समस्यायें आती हैं नव समस्या का जन्म होता है तथा नए भय और सामाजिक संघर्षों का प्रारम्भ होता है।

आन्तरिक दशायें

(१) प्राकृतिक व्यवस्था—प्राकृतिक पर्यावरण तथा जैविक दशायें में समाज के परिवर्तन का स्रोत प्रकट है किन्तु समाज-परिवर्तन में यहाँ मनुष्य का

निश्चित और पूरा हाथ नहीं है। तात्त्विक दशायें समाज परिवर्तन की ऐसी दशायें हैं जिनका निर्माण निश्चयपूर्वक मनुष्य की क्रियाओं से हुआ है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य एक सभ्यता का सृजन करता है। जिन विविध यन्त्रों का वह उपयोग करता है इन सबसे उसके समाज में गहरे और विस्तृत परिवर्तन होते हैं। अपनी एक आवश्यकता की पूर्ति कर वह कितनी ही नई आवश्यकताओं को जन्म देता है। जब हम उत्पादन बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक ढंग से कृषि करते हैं तो ट्रैक्टर तथा अन्य औजार, सिंचाई आदि के लिये नए उपाय निकालते हैं साथ ही इन [illegible] के बेचने के लिए नई संस्थाएँ, नए कानून और नए रीति-रिवाज बनाते हैं। हमारे गाँव में लोग अधिकतर कच्चे तथा छप्पर के मकानों में रहते हैं यदि [illegible] ईंट और सीमेंट के मकानों में रहना शुरू करें तो उन्हें अपनी पुरानी आदतें बदलनी पड़ेंगी। इस प्रकार जब हम अपनी पुरानी आवश्यकताओं की पूर्ति नए साधनों से करते हैं तो अनेक नई जरूरतों की उत्पत्ति करते हैं। यातायात के साधनों ने समुदायों के चरित्र, रीति-रिवाजों, सामाजिक मूल्यों, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं सभी को बदल दिया है। मनोरंजन का नया साधन सिनेमा ही लीजिए। इसने हमारे जीवन के सभी पहलुओं में काफी परिवर्तन किया है। आधुनिक युग अणुशक्ति का है। विज्ञान विशारदों की आशा है कि निकट भविष्य में ही अणुशक्ति के शान्तिकालीन उपयोग से मनुष्य का समस्त पर्यावरण पर अभूतपूर्व नियन्त्रण हो जायगा, हर चीज का उत्पादन असीमित मात्रा में होगा और मनुष्य का जीवन अत्यधिक समृद्ध हो जाएगा। यदि ऐसा हुआ तो औद्योगीकरण से भी अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन हमारे समाज में आ जायेंगे। तात्त्विक उन्नति से समाज में इतने अधिक और व्यापक परिवर्तन होते हैं कि वेबलन इसको सामाजिक-परिवर्तन का मुख्य कारण मानता है।

उपयोगिता वाले तन्त्रों और युक्तियों से एक दूसरी तरह से भी सामाजिक परिवर्तन होता है। ज्योंही हम किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक नई मशीन या युक्ति का प्रयोग करते हैं हमारे तथा समाज के अन्य सदस्यों के बीच के पुराने सम्बन्धों में या तो सुधार हो जाता है या बिल्कुल नए सम्बन्ध बन जाते हैं। उदाहरण के लिये कारखानों को ले लीजिए। इनमें काम करने के लिए गाँव शहर से विभिन्न जातियों और वर्गों के तथा विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के लोग आकर एक साथ रहते हैं। परस्पर सम्पर्क से उनमें नए सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उनकी आदतों, रहन-सहन, बातों और रुचियों में बहुत परिवर्तन हो जाते हैं। अनेक संयुक्त परिवार तथा घर टूट जाते हैं। इसी तरह से जब कभी नए साधनों का प्रयोग होता है, मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों तथा संस्थाओं में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। फिर नए सामाजिक व्यवहार नए [illegible] को जन्म देते हैं जिनसे नए आविष्कार होते हैं। शताब्दी [illegible] लिखता है कि प्रकृति को नियन्त्रण में लाने की मनुष्य की इच्छा

अपनी स्वयं की प्रकृति अभिव्यक्त करने की उसकी बाह्य इच्छा द्वारा सचालित होती है। इस नए आविष्कार से उसे ऐसा करने के लिए अच्छा हुआ अवसर मिलता है। जिसमें सामाजिक अवस्था में तकनीकी आती है।[1]

आधुनिक सभ्यता में तीव्र सामाजिक परिवर्तन होने का एक कारण यह भी है कि इन साधनों को सिर्फ साधन ही समझते हैं। साध्य की पूर्ति के लिए उनमें कोई भी और कभी भी परिवर्तन किया जा सकता है। यदि कोई विशिष्ट साधन साध्यपूर्ति में सफल नहीं हो तो उसे स्थान देने में हम कोई सकोच नहीं होता। साधनों के परिवर्तन सशोधन अथवा परित्याग में आधुनिक मानव कोई सास्कृतिक विरोध नहीं पाता। अर्थात् वह किसी यन्त्र या साधन में कोई लगाव नहीं रखता। मनुष्य अपनी आविष्कारक प्रतिभा का स्वतन्त्र तथा अबाधित उपयोग करता है। इससे तान्त्रिक दशा में परिवर्तन बड़ी तेजी से होता है जो हमारे समाज को भी अत्यधिक गतिशील बनाता है।

(२) सास्कृतिक व्यवस्था—मनुष्य की मूल्यनाओं का निर्माण बाह्य कारकों या तान्त्रिक दशाओं पर ही निर्भर नहीं है। ये मूल्यनाएं स्वय ऐसी शक्तियाँ हैं जो सामाजिक परिवर्तन को सचालित करती हैं। हर समाज का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भिन्न होता है। दर्शाया एक ही तन्त्र का उपयोग होते हुए भी विभिन्न समाजों में उसका उपयोग उनके दृष्टिकोणों या मूल्यनाओं के अनुसार होता है। औद्योगीकरण और नगरीकरण का विविध स्वरूप समाज के हितों द्वारा निर्धारित होता है।

सस्कृति प्रकृति से ही परिवर्तनशील है। इसके दो पहलू होते हैं, एक में मूल्यना तथा दूसरे में अभिव्यक्ति है। अनुभव के बदलने के साथ मूल्यनाएं भी बदलती हैं अनुभव चाहे सन्तुष्टि से या असन्तुष्टि से जुड़ा हो। हर युग में महत्वपूर्ण वस्तुओं की अपनी मूल्यनाएं होती हैं जिसकी उसका साहित्य विचार तथा सामाजिक आन्दोलन प्रकट करते हैं। समय के साथ इन मूल्यनाओं में भी परिवर्तन होता है। जिसको वर्तमान पीढ़ी पसन्द करती है उसको अगली पीढ़ी घृणा कर सकती है। इस कथन की सत्यता हम ललित कला साहित्य दर्शन आदर्शों तथा प्रचलित फैशनों में बदलती हुई शैलियों से सिद्ध हो जायगी। अभिव्यक्ति का कोई ढग अपने लक्ष्य को पूर्णतया और अन्तिम रूप से प्राप्त नहीं कर पाता। एक समय में जो सन्तुष्टि करता है तो दूसरे समय उस वस्तु से दूसरे में सन्तुष्टि की खोज की जाती है।

इसके अतिरिक्त हर जटिल समुदाय में सास्कृतिक दिशा में भारी विविधता (variety) होती है। उसके छोटे बड़े समूह परिवार वर्ग व्यावसायिक समूहों धार्मिक और राजनीतिक समूहों के सास्कृतिक हित—मूल्यनाएं अनुकरणाएं रुढ़ियाँ आदि—एक दूसरे से भिन्न नहीं परस्पर विरोधी भी होते हैं। हर समूह अपने

1 Ibid , p. ...

सांस्कृतिक हितों को बढ़ावा देना चाहता है और अवसर पाते ही ऐसा करता है। किसी भी एक समय समाज में सर्वोपरि सम्मान मिलता है तो दूसरे समय उसे ही कोई कौड़ी मोल नहीं पूछता। इसी प्रकार विभिन्न सभ्यताओं में भी परस्पर सांस्कृतिक संघर्ष होता रहता है। इसी संघर्ष में नई मूल्यताएँ बनती हैं और तदनुरूप समाज में परिवर्तन होते हैं। सामाजिक मूल्यताओं से सामाजिक परिवर्तन कम होता है। इसके दो उदाहरण दीजिए। भारत में अभी तक विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता था। पति-पत्नी एक दूसरे से असन्तुष्ट होते हुए भी विवाह विच्छेद करना अनैतिक तथा अधार्मिक समझते थे। अब यदि धीरे धीरे विवाह एक सामाजिक अनुबन्ध (social contract) माना जाने लगेगा तो विवाह विच्छेदों की संख्या अवश्य बढ़ जायगी। विवाह विच्छेद को धर्म के खिलाफ नहीं कहा जाएगा। दूसरा उदाहरण लगभग २० वर्ष पहले यूरोप के प्रगतिशील समाजों में भी सन्तति निग्रह के हर तरीके को अनैतिक समझा जाता था किन्तु आज भारत जैसे देश में भी जहाँ सन्तान का होना न होना ईश्वर की कृपा पर निर्भर माना जाता है सन्तति निग्रह और परिवार नियोजन को अपनाया जा रहा है। यदि भारत में परिवार नियोजन को सफल बनाया तो बहुत सम्भव है कि हमारी जनसंख्या की वृद्धि उसी अनुपात में हो जिसमें हमारे साधन बढ़ें और हम गरीबी से मुक्त हो जाएँ।

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिरोध

आगबर्न तथा निमकॉफ ने सामाजिक परिवर्तन की निम्न बाधाएँ बताई हैं—(१) आविष्कारों का अभाव (२) उन आविष्कारों के निर्माण की कठिनता जिनको समाज शीघ्र स्वीकार कर लेता है (३) आविष्कारों को अपनाने का विरोध (४) परिवर्तन के विरोधी रुख तथा (५) सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ।

जो समाज जितना विकसित होगा उसकी संस्कृति भी उतनी ही विकसित होगी। विकसित संस्कृति में अनेक उपकरण होते हैं इसलिए उनके संयोग मेल की सम्भावना मौजूद रहती है। ऐसी संस्कृति में अधिक आविष्कार होते हैं। क्योंकि हर आविष्कार भिन्न भिन्न प्रचलित सांस्कृतिक उपकरणों का एक नया संयोग होता है। इसलिए सभ्य समाजों में तात्त्विक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के आविष्कारों की संख्या बहुत अधिक होती है और इसमें लगातार वृद्धि होती जाती है। ये समाज बहुत परिवर्तनशील होते हैं। इसके विपरीत पिछड़े या अविकसित समाजों में आविष्कारों की संख्या अपेक्षतया कम होने से सामाजिक परिवर्तन में बाधा पड़ती है।

ऐसे आविष्कारों को समाज शीघ्र स्वीकार नहीं कर लेता इसलिए जो अनुपयोगी आविष्कार होते हैं वे समाज में स्वीकृत नहीं होते। उनसे सामाजिक परिवर्तन बहुत कम या प्रायः नहीं के बराबर होता है। किन्तु यह स्मरण रहे कि आविष्कर्ता एक

आविष्कारों का ही निर्माण करने का प्रयास करते हैं जिन्हें समाज स्वीकार करे और आविष्कर्ताओं को अपने परिश्रम का पुरस्कार मिले।

दोनों भौतिक तथा सामाजिक आविष्कारों का विरोध प्रारम्भ में होता है। इस विरोध की मात्रा आविष्कार की उपयोगिता पर निर्भर है। यदि समाज की आवश्यकता की पूर्ति के लिये कोई आविष्कार उपयोगी है तो उसे फौरन बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु जिन आविष्कारों का विरोध होता है उनके कई कारण हैं। यदि कोई आविष्कार उपयोगी भी हो परन्तु यदि प्रचलित व्यवस्था से काम चल जाता है तो नवीन आविष्कार को शीघ्र नहीं अपनाया जाता। दूसरे, नये आविष्कार को अपनाने में प्रचलित व्यवस्था को नष्ट करना पड़ता है जिससे अधिक आर्थिक हानि हो सकती है। तीसरे अज्ञानता तथा गरीबी भी आविष्कारों को समाज में नहीं प्रचलित होने देते। चौथे मनुष्य की आदतें भी नए आविष्कारों के प्रचार में बाधा डालती हैं। पुरानी व्यवस्था में रहते रहते मनुष्य की आदतें उसी के अनुकूल बन जाती हैं। नए आविष्कार नई व्यवस्था के निर्माण की सम्भावना अपने साथ लाते हैं जिसमें मनुष्य की पुरानी आदतें काम न देंगी। पुरानी आदतों को छोड़कर नई बनाना बहुत कठिन तथा अरुचिकर लगता है। जितनी पुरानी आदत होगी उसे छोड़ना उतना ही कठिन तथा अरुचिकर लगेगा। इसलिए बूढ़े पुराने लोग नए विचारों और नई व्यवस्था का विरोध करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन का विरोध अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से भी किया जाता है। लोगों को नवीनता के प्रति सन्देह और भय होता है। वे प्रचलित रीतिरिवाज, विचारों तथा सम्पत्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम रखते हैं। वे अपने पुराने रस्मों और आदर्शों को नहीं बदलना चाहते। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को यह भय होता है कि नये आविष्कारों से उनके प्रतिष्ठित हितों पर आघात होगा। वे अपने हितों की सुरक्षा के लिये नये आविष्कारों के विरोध में प्रचार करते हैं।

कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ भी परिवर्तन में बाधा डालती हैं। कुछ समाजों की व्यवस्था इतनी रूढ़िवादी होती है कि वे न दूसरे समाजों से सम्पर्क बढ़ाना चाहते और न दूसरी संस्कृतियों का प्रभाव ही अपने ऊपर पड़ने देते। उनकी सामाजिक पृथकता की नीति उनमें परिवर्तन को रोकती है। दूसरे जो समाज आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए निर्धन होते हैं वे उन्नत और अधिक समृद्ध समाजों से कम सम्पर्क स्थापित कर पाते हैं। अथवा बुद्धि और ज्ञान होते हुए भी धनाभाव में भौतिक आविष्कार नहीं कर पाते। तीसरे राजनीतिक परिस्थितियाँ भी सामाजिक परिवर्तन में बाधा डाल सकती हैं। कुछ शासक ऐसे होते हैं जो न तो अपने नागरिकों को विदेश जाने देते हैं और न विदेशियों को अपने देश में। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक आदान प्रदान में बाधा पड़ती है और परिवर्तन नहीं होते। जिन समाजों में राजकीय व्यवस्था में गड़बड़ी होती है वहाँ आविष्कारों के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं मिल पाता। अन्त

में यदि शासन देश के अधिकाधिक धन को चूस कर उसे जनता के लाभार्थ नहीं खर्च करता तो समाज-सेवाओं तथा प्रचार के साधनों में उन्नति नहीं हो सकती। इससे सामाजिक परिवर्तन में बाधा पड़ेगी।

सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण से कुछ निष्कर्ष

(१) समाज के किसी अंग में होने वाला एक परिवर्तन दूसरा तथा अन्य अंगों में अनेक परिवर्तनों को जन्म देता है। ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज' में रेडियो के कारण होने वाले १५० परिवर्तनों की सूची दी है।

(२) समाज के केवल प्रत्यक्ष परिवर्तन को ही हम सारा परिवर्तन नहीं समझना चाहिए। एक परिवर्तन एक ही साथ कई अंगों में परिवर्तन नहीं लाता वरन् उसमें सैकड़ों वर्षों तक—कभी-कभी युगों तक—अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। वह नए व्यवहारों को जन्म देता है और पुरानी क्रियाओं में परिवर्तन करता रहता है। एक आविष्कार धीरे धीरे पूरे समाज पर प्रभाव डालता है। एक लेखक ने एक उदाहरण देकर इस बात को बहुत अच्छी तरह से समझाया है। जर्मनी में छपाई का आविष्कार १८ वीं शताब्दी में हुआ था। इससे बाइबिल छापी गई जिससे जन-साधारण को पढ़ने को मिला। जब पोप के आदेश बाइबिल के आदेशों से भिन्न मालूम हुए तो पोप का विरोध हुआ और सुधार आन्दोलन शुरू हुआ। बाइबिल तथा उसकी टीकाएँ पढ़कर मनुष्य को स्वयं धर्म क्षेत्र में चिंतन करने का अधिकार मिला। इस अधिकार का प्रयोग धीरे धीरे उसने राजनैतिक क्षेत्र में किया। पोप के विरुद्ध विद्रोह करने के बाद निरंकुश शासकों के खिलाफ विद्रोह शुरू हुआ। राजतन्त्र को उखाड़ फेंका गया और यूरोप में जनतन्त्र की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता तथा समानता के आदर्शों की प्रतिष्ठा करने के लिए भयानक क्रान्तियाँ हुईं। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त ने पूँजीवाद को जन्म दिया जिससे समाजवाद तथा साम्यवाद का जन्म तथा विकास हुआ। इस प्रकार छपाई के आविष्कार का परिणाम केवल १५ वीं शताब्दी में ही समझना उचित नहीं है। यद्यपि उपरोक्त परिवर्तनों का कारण केवल छपाई का आविष्कार ही नहीं है उसमें अन्य अनेक कारणों का मेल हुआ है। फिर भी यह ध्यान देना है कि एक नए विचार, आविष्कार या आन्दोलन का प्रभाव सिर्फ एक बार ही नहीं होता बल्कि अनवरत तथा कई वर्षों या युगों तक थोड़ा या अधिक प्रभाव होता रहता है।

(३) समाज के केवल एक स्थान पर परिवर्तन नहीं होता। प्रत्येक स्थान पर कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। भिन्न भिन्न स्थानों पर परिवर्तन भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कारण भी एक नहीं बल्कि अनेक हैं। फिर भी इन कारणों का एक प्रकार से मेल होता है तथा उनका महत्व या योग भी विभिन्न अनुपात में होता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तनों, जो गुणात्मक तथा संख्यात्मक होते हैं, जिनके

कई कारण होते हैं तथा जिनकी शृंखला में क्रम और दिशा दोनों स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते, का विश्लेषण करना कोई आसान काम नहीं है।

(४) जिस प्रकार एक कारण से कई परिवर्तन होते हैं उसी प्रकार कई कारणों से एक ही परिवर्तन होता है। प्रजातन्त्र का विकास सिर्फ छापाखाना नहीं स्वतन्त्रता तथा समानता के विचार और यातायात एवं संचार के साधनों में उन्नति आदि भी हैं। संक्षेप में प्रजातन्त्र या अन्य किसी परिवर्तन के निर्माण में अनेक परिस्थितियाँ जिम्मेदार होती हैं। सामाजिक व्यवस्था पर परिस्थितियों एवं विचार दोनों का प्रभाव पड़ता है।

(५) सामाजिक परिवर्तन का कुछ शक्तियाँ विरोध करती हैं। समाज में परिवर्तन करने वाले कारकों तथा परिवर्तन विरोधी शक्तियों में खींचा-तानी चला करती है। किस समाज में किस समय कितने परिवर्तन होंगे यह परिवर्तन के कारकों तथा विरोधी शक्तियों के सतुलन से मालूम हो सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

कुछ दार्शनिकों इतिहासकारों अर्थशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सिद्धान्तों अथवा नियमों का प्रतिपादन कर की है।[1] उनका विचार है कि इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार समाज में परिवर्तन होते हैं। इनमें से कुछ विद्वान तो यह मानते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं की प्रकृति में ही परिवर्तन की प्रवृत्ति रहती है जो मानव सम्बन्धों में प्रकट होती है। हीगल कौम्त हरबर्ट स्पेंसर और स्पेंगलर आदि पाश्चात्य एवं कुछ प्रमुख यूनानी विद्वानों के विचार इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे वर्ग के विद्वानों का विचार है कि समाज में सतुलन बनाये रखने वाली संस्थाओं की व्यवस्था में प्रत्येक परिवर्तन का परिणाम समाज में परिवर्तन होता है। अतः भौगोलिक जैविक आर्थिक अथवा सांस्कृतिक दशाओं में जब भी कोई परिवर्तन होता है तो समाज में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इनमें कुछ विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि समाज की दशाओं की जटिल व्यवस्था में किसी एक कारक—आर्थिक औद्योगिक भौगोलिक अथवा जैविक में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का प्राथमिक कारण है। यही एक कारक समाज के समस्त पहलुओं में परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए किसी एक कारक को ही प्राथमिक (अथवा निर्णायक) मानने वाले सिद्धान्तों को निर्धारणवादी कहा जाता है।[2] मार्क्स तथा अन्य आर्थिक निर्धारणवादियों ने सामा

---

1 Sorokin *Contemporary Sociological Theories* (1928) and Barnes and Becker *Social Thought from Lore to Science* (1938)

2 By deterministic theories we mean here any doctrines that regard human behaviour and changes in human behaviour as primarily to be explained by environmental external or material conditions MacIver and Page *Society* p 528

जिक परिवर्तन को उत्पन्न करने में आर्थिक शक्तियों तथा दशाओं को प्राथमिक कहा है। ऑगबर्न और वेब्लन आदि विद्वानों ने प्रौद्योगिक कारकों को सामाजिक परिवर्तन का निर्धारक माना है। मैक्स वेबर तथा उसके अनुयायी संस्कृति को यही महत्त्व देते हैं। किन्तु कुछ अन्य विचारक निर्धारणवाद में विश्वास नहीं करते हैं। उनका विश्वास है कि सामाजिक परिवर्तन के सभी कारक समान महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें से कभी एक और कभी दूसरा तथा कभी कई साथ-साथ मिल कर समाज में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। अब आइए इन विभिन्न प्रकार के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करें।

स्वचालित सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों में भी इतनी सत्यता हो सकती है कि चूँकि मानव-समाज जीवित वस्तुओं के व्यवहार और पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है इसलिये उसमें सावयवी सिद्धान्त पर परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है। किन्तु समाज पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। इस पर्यावरण में परिवर्तन होने पर समाज में परिवर्तन आना आवश्यक है। इसी प्रकार समाज की रचना में जनसंख्या आर्थिक सांस्कृतिक तथा प्रौद्योगिक दशायें भी आधारभूत हैं। इनका समाज के संगठन से अन्तःसम्बन्ध है। यदि इनमें से किसी एक अथवा सबमें परिवर्तन होगा तो समाज में समवर्ती परिवर्तन आवश्यक हो जाएगा। अतीत और वर्तमान समाजों का ऐसा ही अनुभव है इसके साक्ष्य भी समाजों के व्यवहार में मिलते रहते हैं। अतएव इन विद्वानों का विचार बहुत कुछ सत्य है जो यह मानते हैं कि सामाजिक संगठन में भौगोलिक जैविक सांस्कृतिक अथवा आर्थिक प्रौद्योगिक दशाएँ तथा शक्तियाँ न्यूनाधिक सन्तुलन बनाए रखती हैं। इनमें से एक अथवा अधिक में परिवर्तन आने से यह सन्तुलन बिगड़ जाता है जो परिवर्तन को प्रकट करता है। निर्धारणवादी सिद्धान्त इन आधारभूत कारकों में सभी को समान शक्तिशाली न मानकर किसी एक को सबशक्तिशाली और समाज के समस्त पक्षों में परिवर्तन का उत्पादक मानते हैं। इनमें से आर्थिक प्रौद्योगिक एवं सांस्कृतिक कारकों को प्राथमिक कारण बताने वाले सिद्धान्तों का कुछ विस्तार से विवेचन करना आवश्यक होगा।

मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद

मार्क्स का विचार है कि समाज में ऐतिहासिक परिवर्तन होते रहते हैं। समाज का सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास इन्हीं परिवर्तनों का इतिहास है। इन परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए उसने 'ऐतिहासिक परिवर्तन की भौतिकवादी धारणा' की सृष्टि की है। इसका वर्णन स्वयं मार्क्स के शब्दों में देना आवश्यक है।

'मनुष्यों के जीवन के सामाजिक उत्पादन में उनमें निश्चित सम्बन्ध बन जाते हैं जो अनिवार्य हैं तथा उनकी इच्छा से स्वतन्त्र हैं। ये उत्पादन के सम्बन्ध हैं जो उनके भौतिक उत्पादन की शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के समान ।

होते हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से समाज की आर्थिक रचना का निर्माण होता है जो वास्तविक नींव है जिस पर वैधानिक और राजनैतिक अधिरचना खड़ी होती है तथा जिसके समरूप ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन के उत्पादन का ढंग साधारणतया सामाजिक राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती वरन् इसके प्रतिकूल उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारक है। समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास की किसी अवस्था पर उनमें तथा उत्पादन के विद्यमान सम्बन्धों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उत्पादन के विद्यमान सम्बन्धों का ही वैधानिक नाम सम्पत्ति से सम्बद्ध है जिनमें भौतिक उत्पादन की शक्तियाँ अभी तक कार्यशील रही हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के रूपों में ये सम्बन्ध उनकी शृङ्खलाओं में बदल जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का एक युग प्रारम्भ होता है। आर्थिक नींव के परिवर्तन से सम्पूर्ण विशाल अधिरचना में न्यूनाधिक तीव्रता से रूपान्तर होते हैं। उत्पादन की आर्थिक दशाओं में रूपान्तर जो प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति निश्चित होते हैं तथा उपरोक्त रूपान्तरों में भेद है। वैधानिक राजनैतिक धार्मिक सौन्दर्यात्मक अथवा दार्शनिक—संक्षेप में विचारात्मक रूपों के परिवर्तनों में मनुष्य उपरोक्त संघर्ष के प्रति चेतन होते हैं और उसे संग्राम में समाप्त करते हैं। मनुष्यों में यह चेतना भौतिक जीवन के विरोधों से आती है। इसका आधार सामाजिक उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के बीच में उपस्थित संघर्ष है। मोटे तौर पर एशियाटिक प्राचीन सामन्तवादी और वर्तमान पूँजीवादी उत्पादन रूपों को समाज के आर्थिक निर्माण में प्रगतिशील युग कहा जा सकता है।[1]

मार्क्स के शब्दों में मार्क्स के सिद्धान्त का सारांश यह है —

आर्थिक शक्तियों से समाज की रचना बनती है जिसमें समस्त परिवर्तन आर्थिक परिवर्तनों के परिणाम हैं। मनुष्य के आर्थिक जीवन में जो प्रारम्भिक सम्बन्ध बनते हैं वे अनिवार्य हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र हैं। इन प्राथमिक सम्बन्धों का निर्धारण आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया से होता है। ये शक्तियाँ स्वयं औद्योगिक विकास की अवस्था से निर्धारित होती हैं। सम्बन्धों की उपरोक्त व्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक संगठन—मनुष्य के सामाजिक वैधानिक राजनैतिक, बौद्धिक आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यात्मक जीवन और उसकी संस्थाओं—की निर्धारक है। सामाजिक संगठन में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है क्योंकि औद्योगिकी के विकास की अवस्था में परिवर्तन से उत्पादन की आर्थिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन होता है जिन पर

---

1 Karl Marx *Contribution to the Critique of Political Economy*, (preface quoted in V. I. Lenin's Marx Engels-Marxism (Moscow) 1951) pp. 26-27

सामाजिक संगठन की सम्पूर्ण अधिरचना खड़ी है किन्तु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थायें क्रमशः विभिन्न नई आर्थिक माँग के प्रतिकूल होती हैं। वह पुरानी व्यवस्था की विचारधाराएँ और निहित स्वार्थ जकड़े रहते हैं। इस स्थिति में निर्धन और शोषित लोगों का उत्पीड़न अधिक बढ़ जाता है जो उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बना पुरानी नौकरशाही तथा अनुपयोगी समाज व्यवस्था से संघर्ष करा देता है। शोषित व पुरानी व्यवस्था को क्रान्ति से उखाड़ फेंकते हैं और उसके स्थान पर समाज की नई अवस्था आ जाती है। ऐसी क्रान्तियाँ प्राचीन समाज में होती रही हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी जब तक शोषकों के वर्ग का उन्मूलन नहीं हो जाता और एक वर्ग विहीन (सर्वहारा) समाज की स्थापना नहीं हो जाती। वर्ग तथा वर्ग संघर्ष के उन्मूलन से मनुष्य मुक्ति के युग में प्रवेश करेंगे जिसमें मानवता का नियन्त्रण भौतिक शक्तियों के हाथों न होकर स्वयं मनुष्यों के पास होगा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मार्क्स का विश्वास है कि सामाजिक परिवर्तन का निर्धारण आर्थिक सम्बन्धों के संघर्ष से होता है और ये सम्बन्ध प्रौद्योगिकी के विकास की अवस्थाओं पर आश्रित हैं। इसलिए मार्क्स के सिद्धान्त को आर्थिक प्रौद्योगिक निर्धारणवाद कहा जाता है। यद्यपि मार्क्स और एंजिल्स ने सामाजिक व्यवस्था और उसमें होने वाले परिवर्तनों का आधार आर्थिक ही माना है परन्तु अपने पत्रों तथा पत्र व्यवहार में उन्होंने इस बात पर बल देकर आपत्ति की है कि उनके सिद्धान्तों का यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक कारकों के अतिरिक्त अन्य सबको पूर्णतया गौण एवं कारणत्व विहीन माना जाए।

समालोचना—मैकाइवर तथा अन्य विद्वानों ने मार्क्स के इस ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ की हैं वे समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए महत्वपूर्ण हैं।

मैकाइवर ने लिखा है कि—(१) मार्क्स तथा एंजिल्स ने इस पर तो निरन्तर बल दिया कि मनुष्य का बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन, उसके ज्ञान तथा धर्म और परिवार, राज्य तथा अन्य सामाजिक संस्थाएँ आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब अथवा उसकी छाया है परन्तु इस प्रतिछाया का ही प्रदर्शन करने का प्रयत्न नहीं किया है। उसने सामाजिक कारणत्व के जटिल प्रश्न का कहीं भी समाधान नहीं किया। (२) मार्क्स ने इसका कारण नहीं बताया कि 'उत्पादन' की सामाजिक अवस्था से सामाजिक परिवर्तन का मालिक रूप जो समाज के सम्पूर्ण इतिहास में विद्यमान रहा है क्या कार्य बढ़ गया है? (३) मानव समाजों के इतिहास में तथा वर्तमान अवस्थाओं में ऐसे अनेक साक्ष्य मिलते हैं जो यह निःसन्देह सिद्ध करते हैं कि सांस्कृतिक स्तर पर बड़े कारक समाज में परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं जिनका कारण आर्थिक दशाएँ अथवा शक्तियाँ कदापि नहीं है। (४) सभी निर्धारणवादी सिद्धान्तों की भाँति मार्क्स का सिद्धान्त अत्यन्त मनो-

विज्ञान पर आश्रित है। यह इसकी प्राणनाशक निर्बलता (fatal weakness) है। आर्थिक प्रक्रिया तथा सामाजिक परिवर्तन में अति न्यून प्रत्यक्ष, सरल और पर्याप्त सम्बन्ध है। उत्पादन पद्धति में परिवर्तनों से मनुष्य के व्यवहार बदल जाते हैं परन्तु उत्पादन पद्धति में कैसे परिवर्तन आता है? मार्क्स इसका उत्तर नहीं देता। क्या उत्पादन की परिवर्तनशील प्रविधि स्वतः परिवर्तित होती है और सरल निर्धारणात्मक रीति से प्रथम कारण है? मार्क्स संस्थाओं में संलग्न रहने की प्रति सरल समझता है और परिवार, व्यवसाय तथा राष्ट्र की मुख्यताएँ और भक्तियाँ पूर्णतया आर्थिक वर्ग के आधीन मानता है। ऐसी भावना भ्रम है क्योंकि वैधानिक तथा राजनैतिक कारक सदैव आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करते रहे हैं और इसी प्रकार धर्म भी। (४) सामाजिक कारणत्व की प्रधान समस्या का आर्थिक निर्धारणवाद से समाधान नहीं हो पाता। आर्थिक कारकों को सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि परिवर्तनों में निश्चय ही शक्तिशाली और गहराई तक जाने वाला स्वीकार करना चाहिए। आर्थिक परिवर्तनों तथा सामाजिक परिवर्तनों में सह-सम्बन्ध तो है किन्तु आर्थिक परिवर्तनों को कारण तथा दूसरों को परिणाम नहीं कहा जा सकता।[1]

मकाइवर का विचार है कि मार्क्स के सिद्धान्त की सच्ची शक्ति केवल एक ईमान में है। इसने संसार को पूँजीवादी सभ्यता के आन्तरिक गम्भीर दोषों के कारण क्रान्तिकारी प्रयत्न से 'साम्यवादी समाज की स्थापना' में परीक्षण करने को प्रेरित किया है। उसमें एक धार्मिक विचारधारा की शक्ति है न कि वैज्ञानिक सत्यता की।[2] मार्क्स उन पैगम्बरों की पंक्ति में खड़ा है जिनके पूर्व कथनों ने संसार में क्रान्ति कर दी है किन्तु ठीक उन पूर्व कथनों के अनुसार नहीं।[3]

सारोकिन का विचार है कि मार्क्स का सिद्धान्त पूर्णतया अवैज्ञानिक है। विज्ञान का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि कारण-कार्य में समरूप सम्बन्ध ही होता है। किन्तु मार्क्स ने एक ही कारण से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को परस्पर विरोधी बताया है। आर्थिक कारण से दो प्रभाव उत्पन्न होते हैं जो परस्पर विरोधी हैं।[4]

मैक्स वेबर ने सिद्ध किया है कि आर्थिक व्यवस्था पर धर्म का भी प्रभाव पड़ता है। भारत और चीन के इतिहास इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

सारांश यह है कि मार्क्स का निर्धारणवादी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन के विविध कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा महत्त्व को भुलाकर केवल आर्थिक कारकों को प्राथमिक स्थान देता है। मनुष्य के समाज में संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्व है जो

---

1 *Sorokin*, pp. 560-63
2 The true strength of Marxism is the strength of a creed and not the validity of a science. *Ibid.*, p. 563
3 *Ibid.*, p. 563
4 Such an equation [implied in Marxian analysis, i.e. f (*E*)—A and [illegible] opposed to A] is a logical nonsense. It contradicts the fundamental principal of science—the uniform connection of cause and effect. *Contemporary Sociological Theories*, p. 234

आर्थिक-व्यवस्था को सदैव प्रभावित करती है। आर्थिक कारकों तथा सामाजिक परिवर्तन के कारण प्रभाव का सरल निर्धारक सम्बन्ध नहीं ढूंढा जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन की प्रौद्योगिकीय व्याख्या

मार्क्स के अनुसार समाज में परिवर्तन का प्राथमिक कारण आर्थिक व्यवस्था है जिस पर प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार मार्क्स सामाजिक परिवर्तन में उत्पादन प्रविधि में परिवर्तनों का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मानता है। टर्नर, आगबर्न तथा अन्य विद्वानों ने सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तनों तथा प्राविधिक परिवर्तनों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध की व्याख्या की है।[1] किन्तु कुछ अन्य विद्वानों, प्रमुखतया वेबलन, ने समाज में परिवर्तनों का निर्धारक प्रौद्योगिकी को माना है। इसे प्रौद्योगिक निर्धारणवाद का सिद्धान्त कहते हैं।

वेबलन का सिद्धान्त इस प्रकार है

किसी बदलती हुई परिस्थिति में सामाजिक रचना का उपयोजन, परिवर्तन और विकास समुदाय के अनेक वर्गों अथवा अलग-अलग व्यक्तियों के विचारों की आदतों में परिवर्तन से होता है। समुदाय को निरन्तर नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जिनसे बाध्य होकर व्यक्तियों को मानसिक आयोजन करना पड़ता है जो सामाजिक विकास की सारभूत प्रक्रिया है। मनुष्य को अपने विचारों की पुरानी धारणा तथा प्रचलित संस्थाओं में बाह्य दशाओं की आवश्यकता के कारण परिवर्तन करना पड़ता है। ये बाह्य दशाएँ भौतिक पर्यावरण हैं। प्रत्येक समुदाय एक आर्थिक अथवा औद्योगिक यन्त्र है जिसकी रचना में आर्थिक संस्थाओं का समावेश होता है। किन्तु ये संस्थाएँ भौतिक पर्यावरण पर आश्रित हैं जो काम की प्रविधि में परिवर्तन होने से परिवर्तित होता है।

अर्थात् मनुष्य के काम की प्रविधि में परिवर्तनों से उसके भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन आते हैं। इनसे बाध्य होकर मनुष्य को विचार की पुरानी धारणा का संशोधन अथवा त्याग करना पड़ता है। विचार की परिवर्तित धारणाएँ अथवा नये विचार सामाजिक रचना में परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार समाज में परिवर्तन और विकास होता रहता है।[2]

समालोचना—(१) वेबलन ने काम की प्रविधियों और विचार की धारणा में कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर गलती की है। विचार की धारणा का निर्माण कई दशाओं पर आश्रित है। यही कारण है कि एक समूह अथवा वर्ग के सभी लोगों के काम की सामान्य प्रविधियाँ होने पर भी उनके विचार और दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भिन्नता का कारण बहुधा सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक भेद होते हैं।

---

1 F J Turner The Frontier in American History quoted by MacIver and Page in their Society p 565

2 Cf T Veblen's The Instinct of Workmanship and The Theory of Leisure Class

(२) विचार की आदतों तथा संस्थाओं (अथवा संस्कृति) में परिवर्तन दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क से भी हो सकता है।

(३) समान प्रौद्योगिक स्तर पर रहने वाले व्यक्तियों में परस्पर विरोधी विचार धाराएं मिलती हैं। मनुष्य को आदतों की गठरी मात्र नहीं कहा जा सकता। वह अनेक आदतों को छोड़ देता है और नई आदतों को अपना लेता है चाहे ऐसा करने की आवश्यकता उस बाह्य पर्यावरण के कारण न भी प्रतीत हुई हो।

(४) यह सिद्धान्त भी प्रौद्योगिकी को सामाजिक परिवर्तन का निश्चायक मानकर समाज की रचना की जटिलता को अति सरलता से समझाने का व्यर्थ प्रयास करता है। आधुनिक युग में प्रौद्योगिक परिवर्तनों के समाज में अति गम्भीर और व्यापक परिवर्तन अवश्य होते हैं परन्तु प्रौद्योगिकी पर संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीति के आदर्शों और लक्ष्यों का प्रभाव भी कम व्यापक नहीं है।

मार्क्स तथा वेबलन के सिद्धान्तों की तुलना

मार्क्स के सिद्धान्त में नैतिकता की स्पष्ट झलक है। वह सामाजिक विकास का लक्ष्य समाजवाद की स्थापना में प्रस्तुत करता है। इसलिए निर्धारणवादी के भेष में वह एक आदर्शवादी पैगम्बर है। उसने सामाजिक विकास के जिस लक्ष्य की कल्पना की है वह समाज में एक नवीन सामंजस्य स्थापित करेगा तथा मानव आत्मा को महान मुक्ति दिलाएगा। वेबलन ने किसी प्रकार के आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं की। उसने तो सच्चे निर्धारणवादी की भाँति समाज के विकास की प्रक्रिया की व्याख्या की है। वह प्रौद्योगिकी अथवा सभ्यता के विकास, समृद्धि तथा अनेकरूपता से ही जीवन की उत्कृष्टता को सम्बन्धित करता है।

दूसरे, वेबलन ने केवल प्रचलित जीवन की योजना के प्रधान लक्षणों का अर्थ स्पष्ट किया है। उसने समृद्ध व्यापारी वर्ग, आर्थिक अशान्ति तथा आधुनिक आर्थिक व्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी के सम्बन्धों की व्याख्या की है। मार्क्स ने, इसके विपरीत समाज के ऐतिहासिक विकास की व्याख्या प्रस्तुत की है और भावी समाज व्यवस्था के लिए पूर्वकथन किए हैं।

तीसरे, मार्क्स प्रौद्योगिकी को सामाजिक परिवर्तन का केवल अप्रत्यक्ष कारण मानता है। किन्तु वेबलन उसे समाज में परिवर्तन का प्राथमिक और प्रत्यक्ष कारण कहता है।

संस्कृति सामाजिक परिवर्तन की निश्चायक

मैकाइवर तथा आगबर्न जैसे लेखक इस विचार से सहमत हैं कि समाज में परिवर्तनों का निश्चय उसकी संस्कृति से होता है। मनुष्य के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, इच्छाओं तथा परम्पराओं और समाज के सम्बन्धों और संस्थाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम स्पष्ट कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन का संचालन तथा दिशा निर्देशन संस्कृति के परिवर्तनों से होता है। सभ्यता के विकास से समाज में जो

परिवर्तन होते हैं उनसे कहीं अधिक मात्रा में परिवर्तन संस्कृति की उन्नति में होते हैं। फिर संस्कृति सभ्यता को भी तो प्रभावित करती है। मैक्स वेबर ने यह सिद्ध किया है कि संस्कृति सभ्यता पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डालकर समाज में परिवर्तनों को प्रेरणा देती है। प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आरम्भिक रूपों तथा पूँजीवाद के विकास में उन्होंने स्पष्ट सम्बन्ध दिखाया है। इसी प्रकार चीन तथा भारत के धर्म तथा संस्कृति का वहाँ के आर्थिक जीवन पर प्रभाव दिखाया है। समाज के आचरण के आदर्श और मूल्य (नीतियाँ) उसकी अर्थ-व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डालते हैं। सच तो यह है कि समस्त सांस्कृतिक परिवर्तनों से सामाजिक परिवर्तन होना स्वाभाविक है। संस्कृति और समाज के परिवर्तनों में अति घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कुछ लोग पूर्णतया यह नहीं मानते कि संस्कृति में प्रौद्योगिकी के कारण परिवर्तन हो जाता है किन्तु संस्कृति पुनः प्रौद्योगिकी को प्रभावित कर उसकी दिशा और स्वभाव को निश्चित करती है। सभ्यता के समस्त ज्ञान का उपयोग करने में इस संस्कृति से पथ प्रदर्शन मिलता है। आज भौतिक सभ्यता इतनी अधिक समृद्ध है कि प्रौद्योगिकी की सहायता से हजारों मील प्रति घण्टा की रफ्तार से राकेट अथवा भू-उपग्रह छोड़े जा सकते हैं। इन दोनों का प्रयोग मनुष्य के सुख-समृद्धि की वृद्धि के लिए भी हो सकता है और उसके सर्वनाश के लिए भी।

अन्त में एक बात कहें मार्क्स की। सामाजिक विकास के मार्क्सवादी सिद्धान्त को आदर्शवादियों ने इस युग समाज-दर्शन में व्यक्त किया जो संसार की एक तिहाई मानवता के सम्पूर्ण जीवन में क्रान्ति कर चुका है। संसार में समाजवादी सिद्धान्तों की विजय से शोषण और अन्याय का बहिष्कार आधुनिक युग की एक युगान्तरकारी प्रगति है।

मनुष्य के संकुचित दृष्टिकोणों के कारण प्रजातीय भेदभाव तथा जाति-नीति के भेद और अस्पृश्यता, धर्मान्धता और धर्म असहिष्णुता के अनेक क्रूर सामाजिक समस्याएँ तथा प्रथाएँ बनी रहीं। संस्कृति में उदारता, सहिष्णुता तथा मानवता के विचारों तथा मान्यताओं से इन सामाजिक कुरीतियों का कुचलन होता है।

औद्योगिक क्रान्ति से सभ्यता और प्रौद्योगिकी का जो विकास हुआ उसके कारण समाज में भयानक और कुरूप परिवर्तन हुए। नगरीकरण के प्रसार से बस्तियों में गन्दगी, बेकारी, आर्थिक अशान्ति, नये-नये रोग तथा बुराइयाँ, व्यभिचार तथा अपराध बढ़े। श्रमिकों तथा मजदूरों का घोर शोषण हुआ। दूसरे लोगों ने पुरानी संस्कृति के विरुद्ध समस्त धार्मिक कुप्रथाओं तथा सामाजिक रोगों को दूर करने के लिए आन्दोलन चलाया। इन्होंने मनुष्यों, व्यभिचार, अपराध, शोषण, विषमता एवं अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई। नये मूल्यों के अनुसार समाज की व्यवस्था की स्थापना की जाने लगी। प्रौद्योगिकी तथा रचना का इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग किया गया। मानव को नई दिशा मिली। यह मानव को

सविधा बनी। जीवन को अधिकाधिक सुख-सुविधामय तथा प्रयोजन-पूर्ण बनाने में वह जुट गई। मनुष्य को अपनी प्रकृति की व्यंजना के विविध नए अवसर मिले। इस विश्लेषण से सिद्ध हो गया है कि संस्कृति प्रौद्योगिकी (अथवा सभ्यता) को विशिष्ट दिशा में परिवर्तित करती है जिससे वांछित सामाजिक परिवर्तन सम्भव हो जाते हैं। संस्कृति ही इस परिवर्तन की गति और सीमाएँ निश्चित करती है।

सन्तुलन और सामाजिक परिवर्तन

निर्धारणवादी सिद्धान्तों की समालोचना करते हुए हमने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का कोई अकेला नियम नहीं बन सकता। सामाजिक परिवर्तन के कारणों की पर्याप्त व्याख्या सामाजिक सन्तुलन के विचार की सहायता से हो सकती है।

सामाजिक व्यवस्था एक गतिशील सन्तुलन है। सामाजिक सांस्कृतिक स्तर की घटनाएँ जैविक तथा रासायनिक स्तर की वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न हैं। समाज मनुष्यों से बना है जिनमें मचारात्मक अन्तःक्रिया होती है। दूसरे सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में प्रधान तत्व इस प्रकार हैं —(१) सामाजिक कार्य के तत्व—भावनाएं, मूल्य और ध्येय, साधन तथा दशाएं (२) इन तत्वों के संयोग को निश्चित करने वाले विभिन्न प्रकार के कार्य—प्रौद्योगिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक-नैतिक और व्यंजनात्मक आदि (३) विभिन्न स्थितियों में इन कार्यों को करने के लिये प्रतिमान, रूढ़ व्यवहारविधियाँ और निषेध—जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, विधान और संस्थाएँ तथा (४) इन सिद्धान्तों को व्यक्त करने तथा बनाए रखने वाली अन्तःक्रिया की मानसिक प्रक्रियाएं। समाज के विषय में इसी तरह की किसी योजना की सहायता से उसमें सन्तुलन पर विचार किया जा सकता है। साधारणतया बाह्य हस्तक्षेप की अनुपस्थिति में समाज में सन्तुलन का प्रश्न उसके निर्णायक कारकों पर निर्भर रहेगा। प्रत्येक समाज का सन्तुलन स्वचालित है। उसमें थोड़ी गड़बड़ी तो स्वयं ठीक हो जाती है।

समाज के निर्णायक तत्वों में से किसी एक अथवा अधिक में परिवर्तन होगा तो समाज में परिवर्तन हो जाएगा। सभी निर्णायक तत्व परस्पर निर्भर हैं। यदि प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो शीघ्र ही उसका प्रभाव आर्थिक दशाओं पर पड़ेगा जिसका पुनः राजनीति तथा विचारों पर। इसी प्रकार परिवर्तन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। समाज में सम्पूर्ण परिवर्तनों को समझने के लिए सामाजिक सन्तुलन के प्रधान परिवर्तनीय तत्वों पर विचार करना होगा। प्रधान परिवर्तनीय तत्वों में जो पारस्परिकता पाई जाती है। वे निश्चित हो सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के स्वभाव पर आधारित होगी। सामाजिक सन्तुलन पर किसी बाहरी कारक के आघात से उसमें स्थायी अथवा अस्थायी गड़बड़ी आ सकती है जिसे सुधारने का प्रयत्न समाज की आन्तरिक शक्तियाँ करती हैं। अतएव सामाजिक परिवर्तन के कारणों की अधिक स्पष्ट तथा यथार्थ विवेचना सन्तुलन के विचार की सहायता से होनी सम्भव है।

३२

सामाजिक विकास और प्रगति

पिछले अध्याय में यह संकेत किया था कि प्रत्येक समाज में एक साथ परिवर्तन की अनेक प्रक्रियायें होती रहती हैं। कहीं पर संघर्ष, प्रतिकूलता एवं प्रतियोगिता की प्रबलता है तो अन्यत्र व्यवस्थापन, आत्मसात्करण और एकीकरण की बड़ी शक्तिशाली प्रवृत्ति काम करती रहती है। समाज के कुछ वर्गों में नई वस्तुओं को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने की लगन है तो दूसरे वर्गों में प्रत्येक नवीनता का विरोध करने की तत्परता है। इसी प्रकार समाज में अनेक प्रकार तथा अनेक ढंग के परिवर्तन होते हैं। अतएव स्वाभाविकतया यह प्रश्न उठता है कि क्या सम्पूर्ण समाज में इन समस्त परिवर्तनों का कोई विशिष्ट स्वभाव अथवा दिशा है? अनेक समाजशास्त्रियों एवं समाज दार्शनिकों ने इसी प्रश्न को सामने रखकर समाज की चाल में किसी साधारण योजना अथवा परिवर्तन का प्रतिमान ढूँढने का प्रयास किया है। यदि समाज के परिवर्तन में इस प्रकार की साधारण योजना अथवा प्रतिमान ढूँढा जा सके और सामाजिक परिवर्तन के इस विशेष प्रकार को नियमित करने वाले नियम ज्ञात हो सकें तो मोटे तौर पर सामाजिक पूर्वकथन सम्भव हो सकेगा जिसकी तुलना वैज्ञानिक पूर्व कथन के अन्य प्रकारों से की जा सकेगी।

सामाजिक परिवर्तन के कुछ सिद्धान्त

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमानों अथवा साधारण दशाओं के ज्ञात करने के प्रयास के फलस्वरूप अनेक सिद्धान्त विकसित हुए हैं किन्तु इनमें से तीन सिद्धान्त अत्यधिक प्रसिद्ध हैं —(१) समरेखिक (२) चक्रिक और (३) विकासवादी।

समरेखिक परिवर्तन—सामाजिक परिवर्तन का समरेखिक सिद्धान्त उन विद्वानों ने प्रतिपादित किया है जो यह विचार करते हैं कि प्रकृति की शक्तियों, भाग्य एवं ईश्वर ने समाज का ध्येय निश्चित कर दिया है और समाज उसी की ओर निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है। इतिहास में तो अनेक उत्थान-पतन अथवा भयंकर विपदाएँ

हुए हैं उनसे समाज की निरन्तर चाल में कोई अन्तर नहीं आया है। यह सिद्धान्त दार्शनिक और ब्रह्माण्ड सम्बन्धी है समाजशास्त्रीय नहीं। शुद्ध समाजशास्त्रीय आधार पर इसे सिद्ध अथवा असिद्ध नहीं किया जा सकता। यद्यपि यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि समाज में समय के साथ चलने की प्रवृत्ति है तो भी समरेखिक विचार से सहमत नहीं हुआ जा सकता। समाज के अतीत के उत्थान पतन और उन्नति अवनति की एक लम्बी कहानी है। समाज में परिवर्तन करने वाली शक्तियों को देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि वह सदैव निरन्तर गति से एक आगे ध्येय की ओर बढ़ रहा है सम्भवतः बचपना होगा।

चक्रिक परिवर्तन—मानव जाति के महान साहित्य एवं पुराणों में सर्वत्र इस विचार को प्रतिपादित किया गया है। हिन्दू विचारक संसार को कालचक्र के समान मानते हैं। संसार का विनाश और उत्थान होता है। प्रलय से विलय और सृष्टि से उत्थान सम्पन्न होते हैं। ब्रह्माण्ड का यह परिवर्तन स्वयं ही बारम्बार होता रहता है। वर्ष की ऋतुओं के क्रम में यही चक्रिक प्रवृत्ति अथवा लय दृष्टिगोचर होती है। स्पेंगलर ने यह सिद्ध किया था कि संसार की समस्त संस्कृतियाँ वसन्त, ग्रीष्म शरद तथा शीत ऋतुओं की भाँति क्रमिक अवस्थाओं से गुजरती हैं। टायनबी ने भी 'इतिहास का एक अध्ययन' नामक पुस्तक में इसी से मिलता जुलता विचार प्रकट किया है। संसार की सभी महान सभ्यताओं का उदय और पतन परिवर्तनों के एक निश्चित प्रतिमान में हुआ है। टायनबी के उत्तर में उनका उदय और उत्थान होता है फिर वे संकट-काल में आती हैं और अन्ततः उनका पतन हो जाता है। समाज में इन लयबद्ध परिवर्तनों के प्रतिमानों की अति सरलता से यह विश्वास कर बैठते हैं कि समाज में उदय उत्थान-पतन एक पूर्व निश्चित मशीन के अनुसार ही होते हैं। ज्योतिष इतिहास एवं अर्थशास्त्र में इस प्रकार के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। किन्तु आज इन विचारों पर कोई विश्वास नहीं करता।

इस सिद्धान्त में कुछ सत्यता है। समाज की अनेक व्यवस्थाओं जैसे फैशन, कला, शासन, उद्योग-व्यापार आदि में कभी कभी लयबद्ध अथवा चक्रिक परिवर्तन अवश्य होते हैं। परन्तु समस्त सामाजिक परिवर्तनों में इस प्रकार का नियम मिलना और उसे सिद्ध करना अति कठिन है। [illegible] सम्भवतः ऐसा विषय या तथ्य पर [illegible] है कि इतिहास में पुनरावृत्ति होती है और कभी दुबारा नहीं होता है। समाज के वर्तमान परिवर्तनों में से कुछ अतीत घटनाओं के समान तथा कुछ असमान होते हैं। [illegible] तथा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक परिवर्तन सिद्धान्त ने [illegible] सिद्ध किया है। समाज की प्रत्येक अवस्था पूर्व अवस्था से निर्धारित होती है परन्तु उसमें एक सामाजिक परिवर्तन का साधारण चक्र का कोई पता नहीं लगता है।

विकासवादी परिवर्तन— समाज के निरन्तर एक दिशा में विकसित होते रहने का विचार आधुनिक युग की विचारधारा का एक अभिन्न अंग है। अंग्रेजी ने इसे

ल्यूशन शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के e olvere से हुई है जिसका अर्थ 'प्रकट करना अथवा क्रमिक उन्नति करना' है। संस्कृत का विकास शब्द एवोल्यूशन का पर्यायवाची है। विकास का अर्थ विस्तार एवं मानवी प्रयत्न की आन्तरिक वृद्धि से है। विद्वत् समाज में इसके विकास से भिन्न कुछ अर्थों वाले शब्दों की लम्बी सूची है। प्रगति तथा विकास पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। एक निश्चित वांछित लक्ष्य की ओर बढ़ना प्रगति है। अच्छा स्वास्थ्य बनाना, असमानताओं का निवारण, पाठक साहित्य की उन्नति करना, कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर बढ़ना आदि परिवर्तन प्रगति के द्योतक हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रगति का एक नैतिक अर्थ है। परम नैतिक मूल्यों की ओर बढ़ना, जिनकी प्राप्ति के लिए मानव जाति युगों युगों से प्रयत्न करती रही है, प्रगति कही जाती है। अर्थात् विकास नीति निरपेक्ष क्रमिक उन्नति है और प्रगति नीति-सापेक्ष क्रमिक उन्नति।

सामाजिक परिवर्तन के विकासवादी सिद्धान्तों की प्रसिद्धि विशेषकर १९वीं शताब्दी में हुई। किन्तु प्राचीन काल में यूनान, चीन तथा भारत के कुछ विद्वानों ने संसार को विकासशील कहा था। १९वीं शताब्दी में समाज के विकासवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन डार्विन के विकासवादी जीवशास्त्र से प्रेरित हुआ। हर्बर्ट स्पेन्सर समाज में परिवर्तनों की विकासवादी व्याख्या करने में अग्रगण्य था।

चार्ल्स डार्विन ने जैविक विकास का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना लाभदायक होगा। डार्विन ने यह सिद्ध किया कि समस्त जीवों में अस्तित्व के लिए संघर्ष होता है जिसमें केवल वे जीव बच पाते हैं जो सर्वोत्तम (सबसे अधिक योग्य) होते हैं। पर्यावरण में सफल समायोजन भी सबसे अधिक योग्य जीव ही कर पाते हैं। पर्यावरण में परिवर्तन होने पर (दूसरे स्थान को निष्क्रमण होने पर) समायोजन की प्रक्रिया में जीव के शरीर में कभी-कभी उत्परिवर्तन आ जाते हैं जिनसे वह अधिक सरलता से समायोजन कर लेता है। ये उत्परिवर्तन वंशानुक्रमण के द्वारा पीढ़ियों में चलते जाते हैं या जीवों की जातियों में अन्तरण हो जाता है। अतएव जातियों में समरूपता से भिन्नता और सरलता से जटिलता आती जाती है। प्राणि जगत में परिवर्तन की इस प्रक्रिया को उसने विकास कहा। उसके विकासवाद के आधार में योग्यतम का अतिजीवन (survival of the fittest) तथा प्राकृतिक वरण के दो नियम हैं। अधिकतम योग्य के अतिजीवन को प्राकृतिक प्रवरण का नियम भी कहते हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने इन्हीं दो सिद्धान्तों—प्राकृतिक प्रवरण का नियम तथा [illegible] वरण के नियम—को सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में प्रयोग किया। उसका विचार है कि समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड में इन दोनों नियमों से परिवर्तन हो रहा है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य घटनाएँ

हुई है उनम समाज की नीवों तथा समाज का विकास ब्रह्माण्ड के विकास का ही नानिर और ब्रह्मा न म योग्यतम का अतिजीवन' तथा भेदकरण का नियम' पर इा सिद्ध यथप्रकार य दाना नियम समाज की घटनाओं म भी लागू होत हैं। कर लिया जाए ब्रह्माण्ड विकास का मानवीय अथवा सास्कृतिक पहलू है। 'विकास विचार मे महत्व । को यहाँ उद्धृत कर दाा उपयुक्त हागा । वह लिखता है —

उन्नति प्रवृत्ति ा म एकीकरण' दृष्टिगत हाना है जा पिण्ड या राशि की सरल या त्वरतर पिण्ड के मिलाप और पुन मिलाप स सम्पन्न हाना है। सजातीयत्व स और त्व म परिवर्तन के विपुल उदाहरण हैं। सरल जनजाति जा सब भागा म

गानी है स रचना और काय सम्बन्धी असमानताओं म भरपूर राष्ट्र का सभ्य त्म म हाना है। प्रगतिशील एकीकरण और विजातीयत्व स सयाग म वृद्धि होती कती है साथ-साथ निश्चितता म भी वृद्धि हानी ह। प्रारम्भ मे सामाजिक गठन अनिश्चित होना है परन्तु उन्नति स ाम निश्चित प्रबन्ध आत जात हैं जो धन धन अधिकतर निश्चित हो जात ह सभी सस्थाएँ प्रारम्भ म एक म मिली रहती हैं लकिन य धीर धीरे एक दूसर स पृथक और विशिष्ट हा जाती हैं तथा उनकी विविध निमायक रचनाओं न भी स्पष्ट भेद दृष्टिगत हान लगते हैं। इस तरह, समाज क हर पहलू म विकास की प्रक्रिया कायरत रहता है। इसम वृहत्तर आकार अधिकतर सयोग अनवरतता और निश्चित की ओर प्रगति होती जाती है।[1]

हाबहाउस न समाज के विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि स्मान प्रगतिशीलता म मा ायपूर्णता स्वतन्त्रता और पारस्परिकता जस आदि त्व्यपा की आर जा रहा ै। किन्तु इतिहास म मिल हुए साक्ष्य इस सिद्धान्त का पर्याप्त और निश्चित ढङ्ग स विरुद्ध है। उच्चतम सभ्यताओं म भी स्त्रियां की दयनीय स्थिति स्वतन्त्रता का अपहरण तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रबलता एस ही कुछ तथ्य हैं। इस सिद्धान्त म विकास तथा प्रगति क विचारा का मिश्रण है। इसी प्रकार का दूसरा सिद्धान्त समरेखिक विकासवाद है। मॉगन बकोफन स्पेंसर हैडन तथा टाइलर आदि विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया था कि प्रत्येक समाज का विकास बर्बरावस्था बबरता और सभ्यता की अवस्थाओं म हाना है। आर्थिक सगठन म शिकार पशुपालन, कृषि हस्तकला तथा उद्योग की अवस्थाए क्रमश आई हैं। समाज की दिया की अन्य शाखाओं म भी इसी तरह का अवस्थाओं की कल्पना की ग। परिवार का विकास यौन स्वच्छन्दता समूह विवाह मातृसत्तात्मक पितृसत्ता- त्मक तथा व्यक्तिगत एक विवाही परिवार का क्रमिक अवस्थाओं म बताया गया। धर्म क विकास को जादू टोना पूजा बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद की अवस्थाओं स

[1] H Spencer *Principles of Sociology* 3 vols (London 1895) vol I p 585

हुआ। सम्पत्ति, राज्य तथा नीतियों में भी विचार की प्रक्रिया क्रमिक अवस्थाओं में दृष्टिगोचर हुई। किन्तु संसार के समाजों का विकास इन स्पष्ट क्रमिक अवस्थाओं से सर्वत्र कदापि नहीं हुआ है। आधुनिक समाजों की कुछ संस्थाएँ प्राचीन एवं आदिम समाजों में विशुद्ध रूप में पाई गई हैं। इसलिए समाजशास्त्रियों (स्पेंसर कोम्टे हॉबहाउस मुलर-लायर और दुर्खीम आदि) तथा मानवशास्त्रियों (मार्गन वेस्टरमार्क हैडन, टायलर लेवि ब्रूहल आदि) ने प्रारम्भ में जो विकासवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे वे आज पूर्णतया स्वीकृत नहीं किए जाते हैं किन्तु फिर भी कुछ मानवशास्त्री और समाजशास्त्री विकासवाद को नया आधार प्रदान करने का उत्कट प्रयत्न कर रहे हैं। वे पूर्वगामी विकासवादियों द्वारा प्रयुक्त तुलनात्मक विश्लेषण की रीति का आलोचना-हीन प्रयोग नहीं करते हैं।

आधुनिक विकासवादी मानवशास्त्री यह मानते हैं कि समस्त मानव समाज में सरलता और अस्पष्टता से जटिलता तथा विशिष्टता की ओर विकास हुआ है। किन्तु मरडाक और गोल्डनवीजर ने इन मानवशास्त्रियों के तर्कों को छिद्रता और निष्कर्षों को गलत सिद्ध किया है।[1] आधुनिक समाजशास्त्री सामाजिक विकास में विश्वास तो करते हैं किन्तु विकास के विचार में नैतिक प्रगति का समावेश नहीं करते। मैकाइवर और पेज के अनुसार विकास वह प्रक्रिया है जिससे वस्तु में प्रच्छन्न सभी सम्भावनाएँ क्रमशः अथवा धीरे धीरे प्रकट हो जाती हैं। विकास शब्द वृद्धि को नहीं कहते हैं। विकास में वस्तु के आकार में वृद्धि होने के अतिरिक्त उसकी रचना में भी परिवर्तन होता है। यह संरचनात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन की एक निरन्तर और एक दिशा में होने वाली प्रक्रिया है जिससे वस्तु (या समाज) की आन्तरिक विशेषताएँ प्रकट होकर भिन्न और स्पष्ट हो जाती हैं। अतएव विकास की मूल विशेषता अन्तरण (जिसमें एकीकरण का अर्थ समाविष्ट है) है। समाज में अन्तरण अधिकतर श्रम विभाजन कार्यात्मक समितियों की संख्या और विविधता में वृद्धि सामाजिक संचार के साधनों (विशेषकर भाषा) में अधिकतर विभिन्नता और जटिलता में व्यक्त होता है।[2]

उपर्युक्त लेखकों ने सामाजिक विकास के अनेक उदाहरणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि सामाजिक विकास का प्रयोग इतना प्रचलित है कि लोग इसके मनमाने अर्थ लगाने लगते हैं। सामाजिक विकास की सही धारणा को समझने के लिए आदिम समाजों के विकास की साधारण दशाओं को जानना आवश्यक है। आदिम समाजों के विकास की निम्न दशाएँ हैं[3]—

---

1 G P Murdock Social Structure (1949) p 187 and Goldenweiser's article in *Encyclopaedia of Social Sciences* on Evolution.

2 MacIvar and Page *op cit* p 527

3 *Ibid* pp 597 98

राजनैतिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक रचना का मिलाप जो विभिन्न सामुदायिक संस्थाओं में विकसित हो जाता है।

(२) विभिन्न सामुदायिक संस्थाएं

राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक कार्यविधियाँ जो विभिन्न समितियों में परिणत हो जाती हैं।

(३) विभिन्न समितियाँ

राज्य, आर्थिक निगम, परिवार और विद्यालय आदि।

मैकाइवर ने सामाजिक विकास में भेदकरण की प्रक्रिया को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हुए परिवार, राज्य, अर्थव्यवस्था, धर्म, भाषा, विधान आदि अनेक सामाजिक क्रियाओं में अति जटिल और निश्चित भिन्नता की ओर संकेत किया है। किन्तु जिन्सबर्ग ने लिखा है कि इसमें गम्भीर सन्देह है कि विकास समाज को सरल से जटिल बनाने का क्रमिक चाल है।[1] यद्यपि भाषा, धर्म, अर्थ तथा राज्य में आज अपूर्व भिन्नता और विशेषीकरण है। किन्तु एक विश्व भाषा, मानववाद अथवा राष्ट्रीय धर्म तथा विश्व राज्य की स्थापना के लिए होने वाले आन्दोलनों को कौन नहीं जानता। समाज की प्रत्येक क्रिया में विशेषीकरण तथा भिन्नता के साथ साथ मिलाप की प्रवृत्ति काम कर रही है। साम्यवादी समाजों में राज्य ने बहुत सी विशिष्ट संस्थाओं के पृथक पृथक कार्यों को ग्रहण कर लिया है। क्या इस प्रवृत्ति से सरलीकरण की ओर बढ़ना परिलक्षित नहीं होता? इस प्रकार विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। विभिन्न मानव समाजों में विकास की प्रवृत्तियाँ दिखाने के लिए अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। और यदि विकास की प्रवृत्ति की उपस्थिति का यह सिद्धान्त स्वीकार कर लें तो एक प्रकार निश्चय नियम सहित "विकास का" वास्तविक रूप नहीं मिल सकता।[2]

इन सब कारणों से कुछ आधुनिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक विकासवाद को कम रूप में स्वीकार करना उचित समझा है। वे विकास को सामाजिक परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिसमें निरन्तर आबद्ध रूप में कुछ नवीनता उत्पन्न होती है।[3] समाज की प्रत्येक अवस्था पूर्वगामी अवस्था से निरन्तर परिवर्तन द्वारा उत्पन्न होती है फिर भी बाह्य कारणों का प्रभाव पड़ना सम्भव है। इस अर्थ में सामाजिक विकास समाज में मनुष्य का वह विकास है जिसके साथ समाज की समस्त क्रियाओं, उपयोगिता और स्थिरता का क्रम रहता। मनुष्य का विकास प्रमुखतया उसके मानसिक विकास से निश्चित है। मनुष्य के मस्तिष्क का विकास मन्द गति से नहीं

1 M Ginsberg *Studies in Sociology* (1932) p 78
2 P Gisbert *Fundamentals of Sociology* (1957) p 365
3 Sa h as C Levi Strauss M Ginsberg and C C North

वरन् सरलता और समन्वय में भी होता है।[1] इस धारणा की सहायता से समाज की चाल की माप के आदर्श तो नहीं मिल सकते परन्तु इससे समाज वैज्ञानिकों और समाज कार्यकर्ताओं को मनुष्य की पूर्णता की ओर ले जाने वाले एक व्यावहारिक लक्ष्य को निश्चित करने में सहायता अवश्य मिलेगी।

सामाजिक विकास और प्राकृतिक प्रवरण

प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों जैसे स्पेन्सर तथा उनके अनुयायियों ने प्राकृतिक प्रवरण को सामाजिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक माना था। प्राकृतिक प्रवरण उस क्रिया का नाम है जिसमें प्रकृति अपने नियमों की सहायता से कुछ जीवों को चुन कर उन्हें (जीवित रहने तथा बढ़ने) प्रोत्साहित करती है और दूसरों को तिरस्कृत कर देती है। जीवों में वंशानुसंक्रमण के नियमों के आधीन स्थायी और अस्थायी परिवर्तन (भेद) होते रहते हैं। स्थायी भेदों को निश्चित उत्परिवर्तन कहते हैं जो वंशानुगत रूप में हस्तान्तरित भी हो सकते हैं। जीवन के अस्तित्व के संग्राम में सफलता के लिए जीव को अपने पर्यावरण से तथा अपनी जाति के दूसरे जीवों से अथवा एक जाति को दूसरी जाति से संघर्ष करना पड़ता है। जीव को प्रकृति की कठोरताओं जलवायु तथा ऋतुओं के परिवर्तन से संघर्ष करना पड़ता है अथवा भोजन शरण या साथी पाने के लिए संग्राम करना पड़ता है। इस संग्राम में वही जीव जीवित बच रहता है जो योग्यतम होता है अर्थात् परिस्थिति योग्य (उपयुक्ततम) का ही अतिजीवन सम्भव होता है। अतियोग्यतम जीव साथ में पर्यावरण की आवश्यकताओं के कारण जो परिवर्तन होते हैं वे आगामी पीढ़ी में तथा सतत् बने रहते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन उत्परिवर्तनों का संचय होता रहता है और इस प्रकार पुरानी जातियों की अपेक्षा नवीन जातियों में भेद आते जाते हैं। नवीन जातियों के विकास में यही होती है। संक्षेप में यही प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त है।

समय-समय पर जातियों में परस्पर संघर्ष तथा पर्यावरण से संघर्ष के कारण उनके निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों का नाश हो जाता है जिससे उनमें सन्तुलन बना रहता है। कभी-कभी इस सन्तुलन के नष्ट होने की भी आशंका हो सकती है किन्तु वे प्राणी जो बहुत अधिक संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं संघर्ष में नष्ट हो जाते हैं। पर कट्टर जीवशास्त्री भी इस बात को आज नहीं कह सकते कि जो जाति जीवित बचती है वह सदा अधिक योग्य होगी।

---

1 'In this sense social evolution would be the evolution of man in society with all its conquests, reversals and stagnation ... As society is primarily a mental phenomenon, the question of social evolution may be finally reduced to the problem of mental evolution ... but the human mind does not always proceed by differentiation but also by simplification and synthesis.' Gisbert, op. cit., pp. 365-67.

समालोचना—प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त का आधार—प्राणियों तथा जातियों में सतत् संघर्ष—लगभग असत्य है। जीवों में सहयोग के होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरे, जो जातियाँ जीवित रह जाती हैं क्या वे ही सबसे अधिक योग्य हैं? पर्यावरण कई प्रकार के होते हैं और उनसे उपयोजन के ढंग भी कई हो सकते हैं। और जीव या जाति अपने पर्यावरण से उपयोजन शक्तिशाली होकर ही नहीं करती, चालाकी, साहस तथा छद्मभेष कुछ ऐसे तरीके हैं जो सभी प्राणी अपनाते हैं। अति ऊँची जन्मदर भी कुछ जातियों को बनाये रख सकती है। तीसरे, एक जाति के अन्दर सावयवी योग्यता की व्याख्या प्राकृतिक पर्यावरण से तो की जा सकती है किन्तु यह नियम इस बात को नहीं बता सकता कि भेद विशेषकर उत्परिवर्तन, कैसे उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक विकसित प्रकारों अथवा जातियों में ही उत्परिवर्तन क्यों होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी यह सिद्धान्त नहीं दे पाता। इन दोषों के कारण यह सिद्धान्त प्राणी जगत के विकास की पर्याप्त व्याख्या नहीं कर सकता। सम्भवतः इस सिद्धान्त को प्राणिजगत की लोप प्रक्रिया को देखकर निष्कर्ष की भाँति निकाला गया है, यह तथ्य नहीं है।

मानव समाज के परिवर्तनों तथा विकास की व्याख्या प्राकृतिक प्रवरण से करने का प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ। इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले समाजशास्त्रियों ने यह घोषित किया कि वही मनुष्य और समूह जीवित रहकर उन्नति कर सकते हैं जिनमें पर्यावरण से समायोजन करने की योग्यतम क्षमता है। दूसरे शब्दों में अस्तित्व के जीवन संग्राम में उन्हीं का अतिजीवन सम्भव हो सकता है जो योग्यतम हैं। प्रत्येक पीढ़ी में पूर्व की पीढ़ी के योग्यतम व्यक्ति ही आ पाते हैं। यदि प्रकृति के नियमों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाए तो ये मनुष्यों तथा समूहों में स्वतः प्राकृतिक प्रवरण करते रहेंगे और वह दिन दूर नहीं जब संसार में सर्वोत्तम समाज होगा। इसी विश्वास ने अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों को निर्बाध प्रतियोगिता का सिद्धान्त प्रतिपादित करने को प्रेरित किया। समाज में व्यक्ति-व्यक्ति तथा समूह-समूह और समाजों के बीच परस्पर निरन्तर प्राकृतिक प्रवरण कार्य करता रहा। प्रकृति की शक्तियों एवं जनित शक्तियों को सर्वोपरि माना गया और समाज की बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों को गौण। समाज का एक विनाशकारी व्यवस्था स्वीकार किया जिसमें मनुष्य 'प्राकृतिक' पर्यावरण में केवल एक पशु था।[1] ऐसी सामाजिक व्यवस्था में शक्ति का दुरुपयोग और भीषण शोषण होना अनिवार्य था। निर्बल का कोई अधिकार न था। उसे तो सबल का शिकार होने का ही अधिकार मिला। सबल राष्ट्रों तथा प्रजातियों ने निर्बल राष्ट्रों और जातियों को नष्ट करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार मान लिया।

---

1 A. G. Keller: *Social Evolution* (1947) p. 260 quoted by Gisbert op. cit. p. 20

परन्तु मानव समाज में प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त बिल्कुल लागू नहीं होता है। मनुष्यों तथा जातियों में परस्पर संग्राम का बड़ा दुखदायी अनुभव संसार को हुआ है। निर्बाधावादी अर्थव्यवस्था में घोर शोषण और अनिश्चितता तथा राष्ट्रों के बीच महासमर और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष आधुनिक युग का अभिशाप है। दूसरे, क्यों व्यक्ति को सर्वोत्तम माना जाए? अतिजीवन के संग्राम में विजयी व्यक्ति सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक गुणों में निकृष्टतम भी हो सकता है। संसार में अनेक परोपकारी, सहृदय, ईमानदार तथा जनसेवक व्यक्तियों का जीवन अल्पायु में ही समाप्त हो गया तो क्या वे सर्वोत्तम नहीं थे। सुकरात, सिकन्दर, विवेकानन्द, सुभाष तो ऐसे संसार में आज भी अति सम्मान से याद किए जाते हैं। इन लोगों के अन्तर्जीवन का यह अभिप्राय नहीं है कि सज्जनता की और नैतिक भावनाएँ स्थायी नहीं होतीं। तीसरे, अतिजीवन की अधिक क्षमता का मानवीय तथा सामाजिक भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं वरन् उनसे विरोध हो सकता है। मनुष्य सम्भवतः जैविक दृष्टि से प्राणीजगत में सबसे निर्बल है फिर भी उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। जैविक अतिजीवन की क्षमता समाज को उत्कृष्ट नहीं बना सकती। उसके लिए तो मानवीय योग्यता अपूर्व है। चौथे प्राणि जगत में संघर्ष ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य जाति का तो अस्तित्व बिना सहयोग के नहीं रह सकता। इसलिए प्रतियोगिता, संघर्ष, प्रतिकूलता और विरोध केवल मनुष्यों और समूहों में प्राथमिक सहयोग की नींव पर टिक सकते हैं। यदि प्राकृतिक पर्यावरण को समाज में प्राथमिकता मिल जाय तो फिर समाज की मौलिक सुदृढ़ता ही नष्ट हो जाएगी और सामाजिक संस्थाएँ तथा स्वयं सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। पाँचवें, प्राकृतिक प्रवरण का नियम समाज में बहुत बाधा है, मनुष्य अपने प्राकृतिक पर्यावरण की चुनौती का विविध प्रकार से उत्तर दे सकता है। यह पर्यावरण केवल उसे प्रभावित करता है और उसकी सामाजिक क्रियाओं में कुछ सीमाएँ नहीं करता है किन्तु मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता उसकी प्रतिभा, विचार तथा इच्छा पर निर्भर है। प्रकृति के नियमों को मनुष्य ने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से बदल ही नहीं डाला वरन् उनमें से बहुतों का प्रभाव बिल्कुल नष्ट कर डाला है। मनुष्य की मृत्यु प्राकृतिक कारणों से कम, सामाजिक कारणों से अधिक होता है। युद्ध में योग्य तम वीरों, योद्धाओं और सेनापतियों का भी सफाया हो जाता है किन्तु दूसरी ओर मृत्यु-दर में औषधियों, पौष्टिक भोजन तथा आरोग्य विज्ञान की सहायता से कमी करके प्राकृतिक प्रवरण के प्रभाव को न्यूनतम कर दिया जाता है। मानव समाज में ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जिससे अतिजीवन का प्रश्न तथा उत्पादन का समान हो जाय।

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के समाज में प्राकृतिक प्रवरण का बोलबाला नहीं हो सकता। मनुष्य का पर्यावरण सामाजिक पर्यावरण है जो सभ्यता के विकास के साथ प्राकृतिक पर्यावरण पर हावी होता जाता है। इसलिए सम्भवतः मनुष्य के विकास में प्राकृतिक प्रवरण नहीं, सामाजिक प्रवरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

समालोचना—प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त का आधार—प्राणियों तथा जातियों में सतत् संघर्ष—लगभग असत्य है। जीवों में संघर्ष के होने की धारणा नहीं की जा सकती। दूसरे, जो जातियाँ जीवित रह जाती हैं क्या वे ही सबसे अधिक योग्य हैं? पर्यावरण कई प्रकार के होते हैं और उनसे उपयोजन के ढंग भी कई हो सकते हैं। और जीव या जाति अपने पर्यावरण में उपयोजन शक्तिशाली हो कर ही नहीं करते। चालाकी साहस तथा छद्मभेष कुछ ऐसे तरीके हैं जो सभी प्राणी अपनाते हैं। अति ऊँची जन्मदर भी कुछ जातियों को बनाये रख सकती है। तीसरे एक जाति के अन्दर सापेक्षी योग्यता की व्याख्या प्राकृतिक पर्यावरण में तो की जा सकती है किन्तु यह नियम हमें कभी नहीं बता सकता कि भेद विशेषकर उत्परिवर्तन, कैसे उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक विभिन्न प्रकारों अथवा जातियों में ही उत्परिवर्तन क्यों होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी यह सिद्धान्त नहीं दे पाता। इन दोषों के कारण, यह सिद्धान्त प्राणी जगत में विकास की पर्याप्त व्याख्या नहीं कर सकता। सम्भवतः इस सिद्धान्त को प्राणिजगत की लोप प्रक्रिया को देखकर निष्कर्ष की भाँति निकाला गया है यह तथ्य नहीं है।

मानव समाज में परिवर्तनों तथा विकास की व्याख्या प्राकृतिक प्रवरण से करने का प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ। इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले समाजशास्त्रियों ने यह घोषित किया कि वही मनुष्य और समूह जीवित रहकर उन्नति कर सकते हैं जिनमें पर्यावरण में समायोजन करने की योग्यतम क्षमता है। दूसरे शब्दों में अस्तित्व के जीवन संग्राम में उन्हीं का अतिजीवन सम्भव हो सकता है जो योग्यतम हैं। प्रत्येक पीढ़ी में पूर्व की पीढ़ी के योग्यतम व्यक्ति ही बच पाते हैं। यदि प्रकृति के नियमों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता तो वे मनुष्यों तथा समूहों में स्वतः चयन प्रवरण करते रहेंगे और वह दिन दूर नहीं जब संसार में सर्वोत्तम समाज होगा। इसी विश्वास ने अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों को निर्बाध प्रतियोगिता का सिद्धान्त प्रतिपादित करने को प्रेरित किया। समाज में व्यक्ति व्यक्ति तथा समूह समूह और समाजों के बीच परस्पर निरन्तर 'प्राकृतिक प्रवरण' कार्य करने लगा। प्रकृति की यान्त्रिक एवं उचित नीतियों को सर्वोपरि माना गया और समाज की बौद्धिक नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों को गौण। समाज का एक नियतिवादी व्यवस्था स्वीकार किया जिसमें मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण में केवल एक पशु था।[1] ऐसी सामाजिक व्यवस्था में शक्ति का दुरुपयोग और भीषण शोषण होना अनिवार्य था। निर्बल का कोई अधिकार न था। उसे तो सबल का शिकार होने का ही अधिकार मिला। समस्त राष्ट्रों तथा प्रजातियों ने निर्बल राष्ट्रों और जातियों को नष्ट करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार मान लिया।

---

1 A. G. Keller *Social Evolution* (1947) p. 260 quoted by Gisbert *op. cit.* p. 20

परन्तु मानव समाज में प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त बिल्कुल लागू नहीं होता है। मनुष्यों तथा जातियों में परस्पर संग्राम का बड़ा दुःखदायी अनुभव संसार को हुआ हैं। निर्बाधवादी अर्थव्यवस्था में घोर शोषण और अनिश्चितता तथा राष्ट्रों के बीच महासमर और प्रजातीय संघर्ष आधुनिक युग का अभिशाप हैं। दूसरे किस व्यक्ति को सर्वोत्तम माना जाए? अतिजीवन के संग्राम में विजयी व्यक्ति सामाजिक नैतिक और बौद्धिक गुणों में निकृष्टतम हो सकता है। संसार में अनेक परोपकारी महापुरुष, ईमानदार तथा ईश्वरभक्त व्यक्तियों का जीवन अल्पायु में ही समाप्त हो गया तो क्या वे सर्वोत्तम नहीं थे। सुकरात सिकन्दर विवेकानन्द सुभाष तो शायद संसार में आज भी अति सम्मान से याद किए जाते हैं। इन लोगों के अल्पजीवन का यह अभिप्राय नहीं है कि सज्जनता की और नैतिक भावनाएं स्थायी नहीं होतीं। तीसरे अतिजीवन की जैविक क्षमता का मानवीय तथा सामाजिक भावनाओं में कोई सम्बन्ध नहीं वरन् उसमें विरोध हो सकता है। मनुष्य सम्भवतः जैविक दृष्टि से प्राणीजगत में सबसे निर्बल है फिर भी उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। जैविक अतिजीवन की क्षमता समाज को उत्कृष्ट नहीं बना सकती। उसके लिए तो मानवीय क्षमता अपूर्व है। चौथे प्राणि जगत में संघर्ष ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य जाति का तो अस्तित्व बिना सहयोग के नहीं रह सकता। इसलिये प्रतियोगिता संघर्ष प्रतिकूलता और विरोध केवल मनुष्यों और समूहों में पारस्परिक सहयोग की नींव पर स्थिर रहते हैं। यदि प्राकृतिक पर्यावरण को समाज में प्राथमिकता मिल जाय तो फिर समाज की मौलिक सुदृढ़ता ही नष्ट हो जायगी और सामाजिक कल्याण तथा स्वयं सामाजिक जीवन विघटित होने लगेंगे। पाँचवें प्राकृतिक प्रवरण का नियम समाज में बहुत थोड़ा है मनुष्य स्वयं प्राकृतिक पर्यावरण की चुनौती का विविध प्रकार से उत्तर दे सकता है। यह पर्यावरण केवल कम प्रभावित करता है और उसकी सामाजिक क्रियाओं में कुछ सीमायें नहीं करता है किन्तु मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता उसकी प्रतिभा विचार तथा इच्छा पर निर्भर है। प्रकृति के नियमों को मनुष्य ने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से बदल दिया नहीं तो उसने कम से कम उनको उसने बिल्कुल नष्ट कर डाला है। मनुष्य की मृत्यु प्राकृतिक कारणों से कम सामाजिक कारणों से अधिक होती है। युद्ध में श्रेष्ठतम वीरों योद्धाओं और सेनापतियों का भी सफाया हो जाता है किन्तु दूसरी ओर मृत्यु से औषधियों पौष्टिक भोजन तथा अगाध विज्ञान की स्थापना से कभी कभी प्राकृतिक प्रवरण के प्रभाव को न्यूनतम कर दिया जाता है। मानव समाज में ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जिसमें अतिजीवन का भय तथा उत्तरजीविता दर समान हो जाय।

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के समाज से प्राकृतिक प्रवरण का बहिष्कार नहीं हो सकता। मनुष्य का पर्यावरण सामाजिक पर्यावरण है जो सभ्यता के विकास के साथ प्राकृतिक पर्यावरण पर हावी होता जाता है। इसलिये आज मनुष्य के विकास में प्राकृतिक प्रवरण नहीं, सामाजिक प्रवरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक प्रवरण

सामाजिक प्रवरण (social selection) वह प्रक्रिया है जिसमें समाज के वधानों तथा परिस्थितियों में एक निश्चित ध्येय अथवा आदर्श के अनुसार कुछ व्यक्ति समूह) दूसरों की अपेक्षा चुन लिए जाते हैं और उन्हें प्रोत्साहन तथा कायम रहने अवसर मिलते हैं। जनसंख्या और उसके विभिन्न समूहों का उत्पादन तथा अति-जीवन दरें इसी प्रक्रिया पर आश्रित हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है, सामाजिक प्रवरण वह प्रक्रिया है जिसमें मानव समाज के अन्तर्गत उत्पन्न शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों में क्रियाशील होकर सम्पूर्ण जनसंख्या तथा उसके विभिन्न समूहों की भिन्न-भिन्न उत्पादन तथा अतिजीवन दरें प्रभावित करती हैं।[1]

सामाजिक प्रवरण समाज में क्रियाशील उन शक्तियों का निर्माण है जिन्हें मनुष्य नियन्त्रित अथवा मुक्त कर सकता है। इन शक्तियों में पार्थिव शक्तियाँ और सम्बन्धों तथा मनुष्य की सम्पूर्ण सफलताओं में सन्निहित अपार्थिव तत्त्व शामिल होते हैं। अन्ततः सामाजिक प्रवरण मनुष्य की सदा से रही संस्कृति और सभ्यता की शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव के कारण कार्यशील होता है। मनुष्य जब बुद्धिमान बनता है क्योंकि वह अपनी योजनाओं तथा उपकरणों की सहायता से प्राकृतिक पर्यावरण के सम्भाव्य प्रभावों का समाधान करता रहता है।

जब औद्योगिक उन्नति प्रारम्भ विकसित होती है तो मनुष्य प्रकृति की सभी शक्तियों का दास बन जाता है। जब उसे प्रकृति मिलती है तो दूसरे समय नितान्त सब नए अभाव। प्राकृतिक शक्तियाँ तथा व्यवस्था सब मनुष्य की बड़ी संख्या का संहार करते हैं। इस स्थिति में प्राकृतिक प्रवरण सबसे शक्तिशाली होता है और मनुष्य के साधन उपार्जन करना अथवा मरना के अतिरिक्त कोई चारा नहीं होता है किन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य की सभ्यता उन्नत होती है वह औद्योगिक साधनों की सहायता से प्रकृति की शक्तियों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाता जाता है। इससे मनुष्य के जीवन में प्राकृतिक प्रवरण का महत्त्व कम हो जाता है और सामाजिक प्रवरण निरन्तर अधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है। इस अवस्था के आते ही पर्यावरण जीवन का आच्छादन मिट जाता है। प्राकृतिक पर्यावरण का अधिकांश भाग औद्योगिक साधनों में परिवर्तित हो जाता है जो मनुष्य की रचना एवं बनावट का अपूर्व परिचय देते हैं। इससे भला प्राकृतिक प्रवरण की शक्ति और क्षेत्र क्यों न सीमित सङ्कुचित हो जाएगा।

---

1 In so far as forces generated within human society and operating through social relationships create conditions which affect the reproduction and survival rates of the population as a whole and differentially with the various groups within it we can term the process social selection." Society p. 543

सामाजिक प्रवरण ताप अथवा अतिजीवन की सीमाओं को लांघ जाता है। इसमें मनुष्य द्वारा स्थापित अथवा स्वीकृत मूल्य होते हैं जिनके आधार पर मनुष्य अथवा समूह की समाज में प्रस्थिति निश्चित होती है और उसे सम्मान अथवा अनादर मिलता है। भारत में लगभग १० वर्ष पूर्व तक जमींदार अथवा राजा के घराने का कोई भी निरक्षर व्यक्ति समाज में सम्मानित होता था। किन्तु आज समाज साक्षरता तथा शिक्षा को अधिक महत्त्व देता है। लगभग ५० वर्ष पूर्व पूँजीवादी लोग श्रमिक संघ के नेताओं को अराजकता उत्पन्न करने का दोषी ठहराते थे किन्तु आज उन्हें समाज और अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार समाज की विभिन्न प्रथाओं एवं संस्थाओं का मामला है। समय और काल के अनुसार इनका प्रवरण होता है। जो आज आवश्यक है सम्भवतः वही १० वर्ष बाद अथवा शीघ्र ही बिल्कुल व्यर्थ हो जाए। भारत में जाति-व्यवस्था की रूढ़ियाँ और अस्पृश्यता ५० वर्ष पूर्व समाज के स्थायित्व तथा सुदृढ़ता की परिचायक थी। परन्तु आज उन्हें जनतन्त्र का विरोधी और इसलिए समाज के लिए हानिकारक बताया जाता है।

प्राकृतिक प्रवरण का कार्य-क्षेत्र बहुत संकुचित है। सामाजिक प्रवरण का कार्य-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। सामाजिक प्रवरण एक ही स्थिति के अनेक समाधान जुटा देता है। रोग अथवा किसी अन्य प्राकृतिक शक्ति के कारण से निर्बल या विकलांग व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक उन्नति करके उन प्राकृतिक अभावों पर काबू पाने के विविध अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। अब मनुष्य अधिक स्वस्थ और प्रसन्नतापूर्ण जीवन बिता सकता है। मनुष्य की औसत जीवन अवधि बढ़ गई है। कुछ प्राकृतिक दुर्घटनाएँ में जो लोग अतिजीवन में बहुत असमर्थ होते थे वे भी आज समाज के अन्य स्वस्थ व्यक्तियों की भाँति जीवन का सुख चैन लूट रहे हैं।[1]

प्राकृतिक प्रवरण में शारीरिक सहनशक्ति तथा शक्ति गुणों को श्रेष्ठ माना जाता है। इसके विपरीत इन अथवा इन जैसे गुणों को सामाजिक प्रवरण में विशेष महत्त्व नहीं मिलता यदि वे समाज के मूल्यों के अनुकूल नहीं होते हैं। सामाजिक प्रवरण में उन्हीं लोगों को बढ़ावा मिलता है जिनमें समाज के उद्देश्यों तथा नियमों के अनुसार आचरण करने की क्षमता होती है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि प्राकृतिक प्रवरण तथा सामाजिक प्रवरण दोनों ही किसी समय समुद्देश्यीय न रहते हों फिर भी इनकी गतियाँ एक दूसरे से बिल्कुल पृथक होंगी। जनसंख्या में निर्बलता अथवा किसी विशेष रोग को बढ़ने से रोकने के लिए बन्ध्यीकरण, सन्तति निग्रह अथवा निरोधात्मक औषधि आदि उपायों का सहारा लिया जा सकता है। प्राकृतिक प्रवरण ऐसे उद्देश्य की पूर्ति में 'योग्यतम के अतिजीवन' के नियम से सापेक्षता अथवा निर्बलों का नाश कर देगा।

1 Gisbert op cit p 324

'प्राकृतिक प्रवरण' तथा 'सामाजिक प्रवरण' में अंतिम भेद यह है कि 'सामाजिक प्रवरण' का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है वह समाज की वस्तुस्थिति का द्योतक है। सामाजिक जीवन में एक आदर्श या योजना होती है जिस पर पुनः धीर चिंतन विचार में लाने से सहमति हो जाती है और जिसके अनुसार कुछ वस्तुओं का त्याग या लोप कर दिया जाता है तथा दूसरों को बनाए रखा जाता है। प्रकृति जीवों में प्रवरण करते समय किसी योजना अथवा आदर्श के अनुसार नहीं चलती। उसका कार्य तो अंधा और अनिश्चित होता है। प्रकृति के नियम तथा विधान अवश्य होते हैं किन्तु उनका चेतन पालन वह नहीं कर पाती। वे तो शायद कुछ निश्चित होते हैं और दैवी शक्ति उनका संचालन करती है। अतएव प्राकृतिक प्रवरण का प्रकृति के परिवर्तन के लिए प्रयोग गलत और अनुचित है।

सामाजिक प्रवरण के ढंग

सामाजिक प्रवरण दो प्रकार से अर्थात दो ढंगों (modes or ways) में कार्यशील होता है (१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष ढंग।

अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण—जब समाज के मनुष्यों में उत्पादन और प्रतिजीवन के संतुलन का यत्न का कोई इरादा न हो लेकिन सामाजिक संगठन स्वयं ही ऐसा कर दे तो अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण होता है। कुछ वर्गों में ज्यादा निर्धन एवं उनकी संतान में अधिक मृत्युएं होती हैं और कुछ में कम। शीशा और सीमेंट के कारखानों तथा कोयला की खानों के मजदूरों और उनके बच्चों में मृत्युएं अधिक होती हैं क्योंकि प्रतिजीवन के कम अवसर होते हैं। मजदूरों के काम करने की स्थिति सामाजिक है किन्तु वे प्रकृति की प्राणघातक शक्तियों को सुगम ढंग से सम्भव बनाती हैं। समाज का जीवन स्तर उन्नत होने से उसके विभिन्न वर्गों के बच्चों में मृत्युएं भिन्न भिन्न दशाओं में घट जाती हैं। यहाँ प्रकृति की प्राणघातक शक्तियों का प्रभाव कम होता है समाज की दशाएं रोक लगती हैं। विभिन्न व्यवसायों के लोगों में भिन्न भिन्न जो मृत्युदर का होना अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण है। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि विभिन्न समूहों की सापेक्षिक जननता भिन्नता की निश्चायक सामाजिक स्थितियाँ आर्थिक उत्तराधिकार के नियम औद्योगिक उन्नति की आवश्यकताओं के अनुसार धन सम्पत्ति का वितरण स्त्रियों के रोजगार के अवसर तथा व्यवसायों के लिए प्रशिक्षण आदि—ये सब ऐसे प्रकट कारक हैं जिनमें परिवर्तन होने से सामाजिक प्रवरण का [illegible] प्रभावित होता है। गाँव और नगरों की स्थितियों में अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण प्रचलित है।

प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण—समाज में कुछ निश्चित परिवर्तन होते हैं जिनका सामाजिक प्रवरण पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है। स्वास्थ्य एवं आरोग्य के विकास के लिए निश्चित सुविधाएं निरोधात्मक औषधि प्रदान कर एवं भौतिक जीवन के खतरों को दूर कर समाज मृत्युदर को कम कर सकता है। इसी प्रकार, नर हत्या, शिशु

हत्या तथा भ्रूण हत्या के विरुद्ध विधान बनाकर मृत्युदर को कम किया जा सकता है। विवाह और तलाक सम्बन्धी अनेक विधानों में तथा सन्तति निग्रह का प्रचार करके जन्म दर को अधिक नियन्त्रित किया जा सकता है। कर मुक्तियां, मजदूरी भत्ता तथा बहुत अयोग्य लोगों की पृथकता तथा बन्ध्योकरण में भी जन्मदर पर नियन्त्रण हो सकता है। किन्तु विधानों की अपेक्षा रूढ़ियों का नियन्त्रण अधिक सप्रभावित होता है जिसे व्यक्ति और समूह स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। समाज की रूढ़ियां एवं प्रथाएं निश्चित करती हैं जिनके अनुसार विवाह की आयु तथा परिवार का आकार इत्यादि निश्चित होता है। आधुनिक समाजों में ऊँचे व्यवसाय वाले लोगों में परस्पर विवाह होना भी रूढ़ियों का परिणाम है। डाक्टर-नर्स, प्रोफेसर-प्रोफेसर, वकील-वकील, अभिनेता-अभिनेता तथा कलाकारों में विवाह अधिक होना रूढ़ियों के कारण सम्भव हुआ है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रवरण ऐसा कोई तो निर्णय करता है कि किन्हें पैदा होना है और किन्हें अतिजीवित रहना। परन्तु युद्ध, शान्ति, गृह युद्ध, युद्ध विधान, धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियाँ और आर्थिक शोषण तथा सामाजिक विषमता सामाजिक प्रवरण को सदैव वांछित नहीं रहने देते। युद्ध और क्रान्तियां तथा राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से होने वाले अपराधों में बहुधा योग्यतर व्यक्ति ही नष्ट हो जाते हैं। नागरिक दुर्बलता, रोग, दुराचार तथा वर्णसंकृति को समाज की रूढ़ियाँ और विश्वास पलने और स्थायी बने रहने देते हैं जिनके कारण जनसंख्या और उसके विभिन्न समूहों की उत्पत्ति और अतिजीवन दरें समाज के सर्वोत्तम हित में नहीं होतीं। परन्तु आधुनिक समाजों में समाजवादी लक्ष्यों के अनुसार आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए नियोजन से सामाजिक प्रवरण पूर्णतया समाज हितकारी बन सकेगा ऐसी आशा की जाती है। यद्यपि ऊपर हमने प्राकृतिक और सामाजिक प्रवरण के भेदों का सार संकेत किया है फिर भी भेदों को संक्षेप में प्रस्तुत करना लाभदायक होगा।

मकाइवर और पेज ने सामाजिक और प्राकृतिक प्रवरण में निम्नलिखित भेद किए हैं —

प्राकृतिक प्रवरण	सामाजिक प्रवरण
(१) यह केवल मृत्युदर के द्वारा ही कार्यशील होता है। पर्यावरण में उपस्थित प्राणियों में चुनाव करके केवल योग्यतम को अस्तित्व बनाए रहने देता है। अयोग्य अथवा उपयोगिता की समता में हीन को लोप कर देता है।	(१) यह मृत्युदर को प्रभावित करता है किन्तु इसका विशेष कार्य जन्मदर के द्वारा होता है। यह निश्चय करता है कि किन्हें जन्म लेना है।

(२) यह मृत्यु तथा अपने प्रयोजन का विनाश देता है और इसलिए केवल निकृष्ट प्रतिजीवित रहता है यही निश्चय करता है। यह प्रधानतया नाशकारी है।	(२) यह अनेक विकल्प प्रदान करता है। यह केवल नाशकारी नहीं है, यह अंशतः सृजनात्मक और अंशतः विनाशात्मक है। यह निश्चय करता है कि कौन जन्म लेता है और कौन प्रतिजीवित रहता है।
( ) यह केवल पर्यावरण से उपयोजन चाहता है। इसमें केवल एक प्रमाप होता है। जैसा भी पर्यावरण हो प्राणी को उसी से उपयोजन करना अनिवार्य है। इसमें अनुराग का प्रश्न ही नहीं उठता।	(३) यह वस्तुतः अधिक विविधतापूर्ण हो सकता है। इसका अनेक अनुरागों से सम्बन्ध हो सकता है जिनका निर्णय प्रमाणों से होता है।
(४) यह सामाजिक विरासत में उत्पन्न उदासीनता से बचते हुए क्षेत्र पर अन्धी गति पर रहता है। यह उन दिशाओं का निर्धारण करता है जिनमें मानवता चल सकती है।	(४) यह समाज में अनुरूप अपना प्रमाण रख लेता है। यह सामाजिक विरासत के अंतर्गत कार्य करता है और उसकी उदासीनता को अपना सहायक बना लेता है। यह इन सीमाओं में अपनी दिशा निश्चित करता है।
(५) प्राकृतिक अवस्था के सामने प्राणी या तो निष्क्रिय रहता है अथवा केवल प्रतिरोध करता है। उसकी प्रकृति और इच्छा की इसमें कोई अभिव्यक्ति नहीं होती है।	(५) यह प्रधानतया स्वच्छन्द है और मनुष्य के प्रयोजनों अथवा अनुरागों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम है।

सामाजिक प्रगति

सामाजिक प्रगति का अर्थ सामाजिक परिवर्तन की उस प्रक्रिया से है जिसमें समाज अथवा कोई अंग किसी पूर्व निर्धारित (अथवा अभीष्ट) लक्ष्य या आदर्श की ओर बढ़े। किसी निश्चित ध्येय अथवा आदर्श की ओर बढ़ने के लिए समाज में जो क्रमिक उन्नति होती है उसे प्रगति कहते हैं। मैकाइवर के अनुसार प्रगति में सामाजिक परिवर्तन की दिशा का ही नहीं वरन् किसी अन्तिम लक्ष्य की ओर ले जाने वाली दिशा का विचार सन्निहित है।[1] अतएव विकास और प्रगति दोनों एक दूसरे से पृथक हैं। हाँ यह सम्भव है कि समाज का जो विकास हो रहा हो

1 When we speak of progress we imply not merely direction but direction toward some final goal, some destination determined ideally, not simply by the objective consideration of the forces at work. *Society*, p. 52.

वह हमारी मान्यताओं की भी पूर्ति करे। यदि विकासशील परिवर्तन हमारे प्रिय मूल्यों अथवा अन्तिम लक्ष्य की दिशा की ओर बढ़ रहा है तो उसे हम प्रगति कहते। विकास से वांछित परिवर्तन होना प्रगति है। विकास सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें समाज निरन्तर एक दिशा की ओर बढ़ रहा है किन्तु इस दिशा के मूल्यांकन का किसी प्रमाण से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ भारत का पूर्व ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक विकास हुआ है परन्तु उसकी प्रगति अवश्य ही नहीं हुई है। समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की ओर यदि भारत बढ़ रहा है तो निश्चय ही यह प्रगति कर रहा है। प्रगति में इस प्रकार श्रेष्ठतर अथवा अधिक वांछित परिवर्तन के भाव शामिल होते हैं। ग्रागबर्न ने कहा है कि प्रगति का अर्थ श्रेष्ठतर परिवर्तन से है और इसलिए इसमें मूल्य निर्णय का अवश्यमेव समावेश होता है।[1] हाबहाउस के विचार भी मैकाइवर तथा ग्रागबर्न के समान हैं। मैं सामाजिक प्रगति से सामाजिक जीवन में उन गुणों की वृद्धि समझता हूँ जिन्हें मनुष्य मूल्यों अथवा विचार युक्त मूल्यों से जोड़ सकें।[2]

लिण्डबर्ग के अनुसार प्रगति का अर्थ उस दिशा में विकास अथवा उन्नति है जो मूल्य को विचार युक्त लगभग सन्तुष्ट करता है। इन सब परिभाषाओं में मैकाइवर की परिभाषा सर्वोत्तम है। प्रगति, साधारण तौर पर, एक वांछित ध्येय की ओर उन्नति करना है। इस प्रकार प्रगति की प्रवृत्ति उन बातों पर निर्भर है साध्य की प्रकृति और उसके तथा हमारे बीच में दूरी।

प्रगति मूल्यों पर निर्भर है जो स्वयं मनुष्य की धारणाओं पर निर्भर है। विभिन्न मनुष्य एक ही वस्तु से भिन्न भिन्न मूल्य समझते हैं। वही कुछ के लिए श्रेष्ठ हो सकती है और वही दूसरों के लिए हीन। भारत के अधिकांश लोग साम्यवादी दल की उन्नति को देश की प्रगति का सूचक मानते हैं किन्तु दूसरे लोग इसे देश की अधोगति का सूचक। आधुनिक सभ्यता का भी सब समान मूल्यांकन नहीं। कुछ लोग इसे मानव प्रगति कहते हैं किन्तु दूसरे लोग इसे अवनति का कारण मानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मूल्यों का कोई प्रामाणिक मापक नहीं है। मूल्य वह वस्तु या विचार है जो वांछित माना जाता है तो प्राप्त करने के योग्य समझा जाए फिर चाहे वास्तव में उसे प्राप्त करने का यत्न किया जाए अथवा नहीं। इस स्थिति में यह ध्येय के चुनाव को प्रभावित करता है। मूल्य का स्थान मुख्यतया भावनाओं में है। भावनाएँ अनुभव के व्यापक आधार पर जिनसे कोई वस्तु मूल्यवान और इतनी मूल्यवान प्रतीत होती है। मूल्य समाज की संस्कृति से निश्चित होता

---

1 Progress means change for the better and hence must imply a value judgment. *A Handbook of the Sociology* p 603

2 By social progress (I mean) the growth of social life in respect of those qualities to which human beings can attach or can rationally attach values. *Social Evolution and Political Theory* p 8

है। किसी वस्तु अथवा घटना को देखने के अपने दृष्टिकोण को हम मूल्य कह सकते हैं। यद्यपि मूल्यों का निर्धारण सामूहिक जीवन की प्रथाओं, परम्पराओं आदि से होता है किन्तु उनमें व्यक्ति का वैयक्तिक निर्णय भी शामिल रह सकता है। यही कारण है कि समाज के सभी अथवा अधिकांश लोगों के पूर्णतया समान मूल्य नहीं होते। अहिंसा को ही ले लीजिए। एक परिवार के सभी सदस्य भी तो अहिंसा को एक अच्छा मूल्य नहीं मानते। एक बात और है मूल्यों में स्थान तथा समय के परिवर्तन से परिवर्तन आना आवश्यक है। इन कारणों से एक समाज के अन्तर्गत अथवा मानव समाज में प्राथमिक या मूलभूत मूल्यों के बारे में सामान्य विचारों का अभाव है।

प्रगति की धारणा प्रत्येक समाज में प्रत्येक काल में प्रचलित रही है। सम्भवतः प्राचीन काल में भारत, चीन, मिस्र आदि देशों में प्रगति का अर्थ व्यक्ति और समूह की सुख-समृद्धि और स्वतन्त्रता में बहुत वृद्धि के समकक्ष था। यूनानी दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू प्रगति का अर्थ समाज की ऐसी अवस्था से लेते थे जिसमें सभी आवश्यक संस्थाएं सामान्य अच्छाई की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों और जिससे मनुष्य निर्णय तथा स्वतन्त्रता से प्राप्त और भोग कर सकें। यह 'अच्छे जीवन' अथवा आनन्द की धारणा थी। साधारणतः जनसाधारण को प्रगति से समाज की एक ऐसी अवस्था के ध्येय का बोध होता है जो जीवन की हर पद्धति में—दोनों पार्थिव और नैतिक रूप में—हर प्रकार से समृद्ध हो, जिसमें मनुष्यों की सर्वोत्तम उन्नति हो सके।

विकासवादी समाजशास्त्रियों (कोम्त, स्पेंसर तथा वार्ड) के विकासवादी सिद्धान्तों में सामाजिक प्रगति की उत्कृष्ट आशा का समावेश है। वे वास्तव में सामाजिक विकास को सामाजिक प्रगति मानते थे। इसी प्रकार १९वीं सदी से लेकर आज तक औद्योगिक और प्रौद्योगिक उन्नति से जो अपूर्व गौरवमयी या शानदार सभ्यता का विकास हुआ है उससे प्रभावित होकर अनेक इतिहासकार, दार्शनिक और समाजशास्त्री सभ्यता की उन्नति को मानवता की प्रगति (सामाजिक प्रगति) कहते हैं। यदि विचार किया जाए तो इसे प्रगति कहना उचित भी प्रतीत होता है। सभ्यता के विकास ने मनुष्य को आज ऐसे ध्येयों तक पहुँचा दिया है जिन्हें उसके पूर्वज न प्राप्त करने योग्य समझते थे। प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण, अधिक स्वास्थ्य, कला और विज्ञान की उन्नति, समृद्ध जीवन, संयुक्त राष्ट्र संघ और मानव धर्म की प्रतिष्ठा आदि विद्यमान अवस्था के ऐसे लक्षण हैं जो शायद मानव समाज की किसी भी पूर्वगामी अवस्था में नहीं थे। भारत में सत्ताधारी दल जनमत का स्पष्ट प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इसने भारत की सामाजिक प्रगति के लिए कुछ सामाजिक ध्येयों को प्राप्त करने का निश्चय किया है। यदि हम इन ध्येयों के निकट पहुँच जाएं तो क्या हम प्रगति नहीं करेंगे? वस्तुतः सामाजिक ध्येयों की प्राप्ति अथवा उनके प्रयत्न में सफलता ही प्रगति है। इसी प्रकार रूस तथा अमरीका

ने जो उन्नति की है वह अधिकांशतः उनकी सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप है। वहाँ भी प्रगति हुई है।

किन्तु क्या इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव समाज प्रगति कर रहा है? मेरा उत्तर है अवश्य। हाँ रूस और अमरीका अथवा भारत और चीन में कौन अधिक प्रगतिशील है इसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके सदैव दो उत्तर होंगे। आधुनिकता को जो लोग पसन्द नहीं करते हैं, जो प्राचीनता अथवा अतीत के गुण गाया करते हैं उन्हें हम प्रतिक्रियावादी या रूढ़िवादी कहते हैं। और शायद वे लोग हमें भी इसी उपाधि से विभूषित करते हैं। संसार में सम्भवतः कभी भी परम्परावादी और आधुनिकताप्रिय लोगों में प्रगति पर कोई समझौता न हो पायेगा।

यदि सामाजिक प्रगति का कोई निश्चित और सर्वमान्य अर्थ नहीं तो फिर इसके लक्षण भी कैसे निश्चित और स्थिर हो सकते हैं? कुछ विचारकों ने सामाजिक प्रगति का प्रमुख लक्षण समाज का अधिकतम कल्याण माना है। अन्य विद्वान, अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई, 'अधिकतम आनन्द', उच्चतम जीवन स्तर, अधिकतम आध्यात्मिक उन्नति' आदि को प्रगति के लक्षण मानते हैं। इन्हीं आधारों पर सामाजिक प्रगति की कसौटियों की सूची में आर्थिक कल्याण में वृद्धि, अधिकतम लोगों की भलाई में वृद्धि, सुख-समृद्धि में वृद्धि तथा नैतिक उन्नति, आध्यात्मिकता को प्राप्त करने की अधिक तत्परता अथवा जीवन स्तर की उन्नति आदि को सम्मिलित करते हैं। इनमें से किसको सच्ची कसौटी माना जाए। फिर यदि इनमें से अधिक अथवा सभी उपलब्ध हों तो क्या प्रगति निश्चय ही समझनी चाहिए?

यद्यपि इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना कठिन है फिर भी निम्न दशाओं का होना एक आधुनिक समाज की प्रगति का सूचक हो सकता है

(१) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण प्रभुता,
(२) समृद्ध संस्कृति और उन्नत सभ्यता जिसमें मनुष्य का प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों पर अधिकाधिक नियन्त्रण हो तथा देश में भौतिक समृद्धि की दशाएं विद्यमान हों
(३) जनसाधारण को जीवन की सुख-सुविधाएँ अधिकाधिक मात्रा में सुलभ हो जायें व अधिकतम अवसर सुलभ हों।
(४) समाज व्यवस्था में अन्याय, विषमता तथा शोषण का लोप हो और केवल ऐसी दशाएँ प्रोत्साहित की जाएँ जो मनुष्य के सम्मान को बढ़ाएँ, सामाजिक सुरक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हो
(५) मनुष्य को मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध हों,

है। किसी वस्तु अथवा घटना को देखने के अपने दृष्टिकोण को हम मूल्य कह सकते हैं। वैसे तो मूल्यों का निर्धारण सामूहिक जीवन की प्रथाओं, परम्पराओं आदि से होता है किन्तु उनमें व्यक्ति का वैयक्तिक निर्णय भी शामिल रह सकता है। यही कारण है कि समाज के सभी अथवा अधिकांश लोगों के पूर्णतया समान मूल्य नहीं होते। अहिंसा को ही ले लीजिए। एक परिवार के सभी सदस्य भी तो अहिंसा को एक अच्छा मूल्य नहीं मानते। एक बात और है मूल्यों में स्थान तथा समय के परिवर्तन से परिवर्तन आना आवश्यक है। इन कारणों से एक समाज के अन्तर्गत अथवा मानव समाज में प्राथमिक या मूलभूत मूल्यों के बारे में सामान्य विचारों का अभाव है।

प्रगति की धारणा प्रत्येक समाज में प्रत्येक काल में प्रचलित रही है। सम्भवतः प्राचीन काल में भारत, चीन, मिस्र आदि देशों में प्रगति का अर्थ व्यक्ति और समूह की सुख-समृद्धि और स्वतन्त्रता में बहुत वृद्धि के समकक्ष था। यूनानी दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू प्रगति का अर्थ समाज की ऐसी अवस्था से लेते थे जिसमें सभी आवश्यक संस्थाएँ सामान्य अच्छाई की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों और जिसे मनुष्य निर्णय तथा स्वतन्त्रता से प्राप्त और भोग कर सकें। यह 'अच्छे जीवन' अथवा आनन्द की धारणा थी। आजकल जनसाधारण को प्रगति से समाज की एक ऐसी अवस्था के ध्येय का बोध होता है जो जीवन की हर पद्धति में—दोनों पार्थिव और नैतिक रूप से—हर प्रकार से समृद्ध हो, जिसमें मनुष्यों की सर्वोत्तम उन्नति हो सके।

विकासवादी समाजशास्त्रियों (कॉम्ट, स्पेंसर तथा वार्ड) के विकासवादी सिद्धान्तों में सामाजिक प्रगति की उत्कृष्ट आशा का समावेश है। ये वास्तव में सामाजिक विकास को सामाजिक प्रगति मानते थे। इसी प्रकार १९वीं सदी से लेकर आज तक औद्योगिक और प्रौद्योगिक उन्नति से जो अपूर्व गौरवमयी या शानदार सभ्यता का विकास हुआ है उससे प्रभावित होकर अनेक इतिहासकार, दार्शनिक और समाजशास्त्री सभ्यता की उन्नति को मानवता की प्रगति (सामाजिक प्रगति) कहते हैं। यदि विचार किया जाए तो इसे प्रगति कहना उचित भी प्रतीत होता है। सभ्यता के विकास ने मनुष्य को अनेक ऐसे ध्येयों तक पहुँचा दिया है जिन्हें उसके पूर्वजों ने प्राप्त करने योग्य समझा था। प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण, अधिक ध्यान से कला और विज्ञान की उन्नति, समृद्ध जीवन, संयुक्त राष्ट्र संघ और मानव धर्म की प्रतिष्ठा आदि विद्यमान अवस्था के ऐसे लक्षण हैं जो शायद मानव समाज की किसी भी पूर्वगामी अवस्था में नहीं थे। भारत में सत्ताधारी दल जनमत का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इसने भारत की सामाजिक प्रगति के लिए कुछ सामाजिक ध्येयों को प्राप्त करने का निश्चय किया है। यदि हम इन ध्येयों के निकट पहुँच जाएँ तो क्या हम प्रगति नहीं करेंगे? वस्तुतः सामाजिक ध्येयों की प्राप्ति अथवा उनके प्रयत्न में सफलता ही प्रगति है। इसी प्रकार रूस तथा अमरीका

न जो उन्नति की है वह अनिवार्यतः उनकी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है। वहाँ भी प्रगति हुई है।

किन्तु क्या इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव समाज प्रगति कर रहा है? मेरा उत्तर है अवश्य। हाँ रूस और अमरीका अथवा भारत और चीन में कौन अधिक प्रगतिशील है इस निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। इसके सम्बन्ध दो उत्तर होंगे। आधुनिकता को जो लोग पसन्द नहीं करते हैं जो प्राचीनता अथवा अतीत के गुण गाया करते हैं उन्हें हम प्रतिक्रियावादी या रूढ़िवादी कहते हैं। और शायद ये लोग हम भी इसी उपाधि से विभूषित करते हैं। संसार में सम्भवतः कभी भी परम्परावादी और आधुनिकताप्रिय लोगों में प्रगति पर कोई समझौता न हो पायेगा।

यदि सामाजिक प्रगति का कोई निश्चित और सर्वमान्य अर्थ नहीं तो फिर इसके लक्षण भी कम निश्चित और स्थिर हो सकते हैं? कुछ विचारकों ने सामाजिक प्रगति का प्रमुख लक्षण समाज का अधिकतम कल्याण माना है। अन्य विद्वान अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई 'अधिकतम आनन्द', उच्चतम जीवन मान 'अधिकतम आध्यात्मिक उन्नति आदि को प्रगति के लक्षण मानते हैं। इन्हीं आधारों पर सामाजिक प्रगति की कसौटियों की सूची में आर्थिक कल्याण में वृद्धि अधिकतम लोगों की भलाई में वृद्धि सुख-समृद्धि में वृद्धि तथा नैतिक उन्नति, आध्यात्मिकता को प्राप्त करने की अधिक तत्परता अथवा जीवन मान की उन्नति आदि को सम्मिलित करते हैं। इनमें से किसको सच्ची कसौटी माना जाए। फिर यदि इनमें से अधिक अथवा सभी उपलब्ध हों तो क्या प्रगति निश्चय ही समझनी चाहिए?

यद्यपि इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना कठिन है फिर भी निम्न दशाओं का होना एक आधुनिक समाज की प्रगति का सूचक हो सकता है :

(१) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण प्रभुता

(२) समृद्ध संस्कृति और उन्नत सभ्यता जिससे मनुष्य का प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों पर अधिकाधिक नियन्त्रण हो तथा देश में भौतिक समृद्धि की दशाएँ विद्यमान हों

(३) जनसाधारण को जीवन की सुख-सुविधाएँ अधिकाधिक मात्रा में सुलभ हों तथा कार्य के अधिकतम अवसर सुलभ हों।

(४) समाज व्यवस्था से अन्याय विषमता तथा शोषण का नाश हो और केवल ऐसी दशाएँ प्रोत्साहित की जाएँ जो मनुष्य के सम्मान को बढ़ाएँ सामाजिक सुरक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हो

(५) मनुष्य की मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए आवश्यक अवसर उत्पन्न हों,

(६) जीवन की मूलभूत मान्यताओं में प्रत्येक मनुष्य का विश्वास और कर्तव्य बने,

(७) समाज विरोधी प्रवृत्तियों का यथासम्भव दमन हो,

(८) एक वर्गविहीन, स्वस्थ और सुदृढ समाज की स्थापना हो,

(९) संसार के सभी समाजों में पारस्परिक भ्रातृभाव, सद्भावना और सहयोग हो, तथा

(१०) सभ्यता और ज्ञान विज्ञान का उपयोग शान्ति, और मानव कल्याण के हित में ही हो।

मैकाइवर आदि कुछ आधुनिक समाजशास्त्री इस मत को प्रकट करते हैं कि समाजशास्त्र में सामाजिक प्रगति का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं है क्योंकि सामाजिक प्रगति का आधार—निर्पेक्ष नैतिक मूल्य—ही अनुपस्थित है।" मेरे विचार में इन लोगों की धारणा सत्य नहीं है। क्योंकि समस्त मानवता की नैतिक संहिताओं में कुछ सामान्य मूलभूत नियम सर्वव्यापी हैं। जिन्सबर्ग भी लिखता है कि नैतिक वस्तुओं में विषयता का परम्परागत रूप से स्वीकृत लक्षण देश, काल में सार्वभौमिकता है।[1] दूसरे, उपरोक्त धारणा से सहमति का अर्थ होगा कि हम मानव प्रकृति तथा इतिहास को सर्वाधिक निराशापूर्ण समझें क्योंकि मनुष्य के सतत सद्प्रयत्नों से भी सामाजिक प्रगति नहीं आ सकती, वह केवल मृगमरीचिका, भ्रमी छाया और कोरी कल्पना मात्र रहेगी। हमारा विश्वास है कि समाजशास्त्र में प्रगति की धारणा को बनाए रखना ही मानव के हित में है। उससे वह सदैव आशान्वित रहेगा और नए नए आदर्श तय करता रहेगा। तभी वह प्रयत्न और नियोजन (planning) कर कर्मयोगी बना रहेगा। गीता का सन्देश है कि मनुष्य का कर्मयोगी होना उसके लिए परम कल्याणकारी है। मनुष्य के समाज में 'सामाजिक पराकाष्ठा के काल्पनिक चित्रों' (utopias) का कितना भारी महत्त्व रहा है इसका अनुमान हम 'सर्वोदय' तथा 'साम्यवाद' की मधुर कल्पनाओं से लगा सकेंगे।

---

1 Ginsberg *Reason and Unreason in Society* (London 1947) p 303

सामाजिक विघटन और पुनर्गठन

'सामाजिक संगठन' शीर्षक वाले अध्याय में हमने सामाजिक संगठन का अर्थ स्पष्ट किया है। सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिससे समाज के भागों में—व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं और समुदायों में—परस्पर तथा पूरे 'समाज के साथ एक सार्थक ढंग से सम्बन्ध होता है।'[1] इलियट और मेरिल ने लिखा है, "सामाजिक संगठन वह दशा या स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाएँ अपने स्वीकृत अथवा उपलक्षित उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही हैं।"[2] इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक संगठन की प्रकृति का वर्णन कर सकते हैं। इसके दो लक्षण होते हैं —

(१) निश्चित कार्य और प्रस्थिति—सामाजिक संगठन में निर्मायक भागों के बीच में सम्बन्ध निश्चित होते हैं और उनके तथा सम्पूर्ण समाज के बीच में भी निश्चित सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार भागों (व्यक्ति और समूह) के नियत कार्य, भूमिका और प्रस्थिति का निश्चित हो जाना स्वाभाविक ही है। इस निश्चितता में महत्त्वपूर्ण सामाजिक संगठन का साधारण कार्य-व्यापार चला करता है और इसके अभाव में इस क्रिया में बाधा पड़ जाती है। सामाजिक संरचना अन्तःसम्बन्धित संस्थाओं, प्रतिनिधियों तथा सामाजिक प्रतिमानों और समूह में हर व्यक्ति की प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं के एक विशिष्ट प्रबन्ध को कहते हैं। इन समस्त तत्त्वों में जितना सामञ्जस्य होता है और समाज के सदस्य में अपनी प्रस्थितियों और भूमि

---

1 Social organisation is the system by which the parts of a society are related to each other and to the whole society in a meaningful way. Jones *Basic Sociological Principles* p 195

2 Social organisation is a state of being, a condition in which the various institutions in a society are functioning in accordance with their recognized or implied purposes. Elliot and Merrill *Social Disorganisation* Harper Bros. New York (1950) p 4

कार्यों को अपनाने की जितनी इच्छा होगी उतना ही सामाजिक संगठन होगा। यदि समाज के सदस्यों की प्रस्थितियाँ और भूमिकाएँ निश्चित सामाजिक नियमों (संहिताओं) द्वारा निर्धारित हैं और वे उनके अनुसार आचरण करते हैं तो प्रत्येक सदस्य अपने स्वार्थों का पूरा करते हुए भी सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होता है। इससे सभी सदस्यों में सहकारिता और अन्तर्निर्भरता की भावना सजग रहती है और वे व्यष्टि को समष्टि के अधीन करने को तत्पर रहते हैं। इन स्थितियों में सामाजिक व्यवस्था का अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और सुदृढ़ हो जाना स्वाभाविक है। सामाजिक संस्थाएँ, प्रतिमान और प्रशासकीय संगठन भी स्थिर रहते हैं और परम्परात्मक नियमों या नियन्त्रणों के अधीन वे सम्पूर्ण समाज के साथ सामञ्जस्य पूर्ण एकता में आबद्ध होते हैं।

(२) उद्देश्यों लक्ष्यों तथा कार्यक्रमों की एकमतता—सामाजिक संगठन के विविध भागों की भूमिकाओं और प्रस्थितियों की निश्चितता बनाये रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि उनके उद्देश्यों, लक्ष्यों और कार्यक्रमों की अनेकता में एकता तथा सामंजस्य बना रहे। प्रत्येक भाग के वैयक्तिक प्रयोजन को अपने सम्पूर्ण समाज के प्रयोजन में विलीन या एकीकृत कर देने से ही सामाजिक व्यवस्था बनी रह सकती है। सभी भागों के कार्य यथासम्भव समग्र समाज के प्रयोजन के अनुरूप होने हैं प्रतिकूल नहीं। समाज के विभिन्न भागों के प्रयोजनों तथा समग्र समाज के प्रयोजन में सामंजस्य की स्थिति को एकमतता कहा जाता है। अतः समाज के संगठन के लिये आवश्यक है कि उनके सदस्यों और संस्थाओं की कुछ मूल परिस्थितियों की परिभाषाओं से सामान्य सहमति हो उनके उद्देश्य और भावनाएँ समान हों। सामाजिक संगठन मूलतः उसके सदस्यों की आस्था भावनाओं तथा सामाजिक रुचियों की एकमतता में सन्निविष्ट है। सङ्गठित समाज में सामाजिक मूल्यों और उसके सदस्यों की सामाजिक मनोवृत्तियों में भी सामंजस्य होता है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसमें केवल अपेक्षाकृत संगठित समाज की प्रकृति का संकेत मिलता है। कोई भी ऐतिहासिक समाज पूर्णतया संगठित कभी नहीं रहा है। विभिन्न समाजों में सामाजिक संगठन के न्यूनाधिक अंश ही मिल सकते हैं। पूर्ण संगठित समाज केवल काल्पनिक वस्तु हो सकती है। अतएव सामाजिक संगठन भी एक सापेक्षिक प्रत्यय या विचार है।

सामाजिक विघटन

सामाजिक संगठन की प्रकृति को समझ लेने के पश्चात् सामाजिक विघटन की प्रकृति को समझना सरल है। चूँकि समाज का कोई यथार्थ समाज पूर्णतया संगठित नहीं है इसलिये यह कहना उपयुक्त है कि सभी समाजों में सामाजिक विघटन का कुछ अंश (अथवा सामाजिक संगठन का कुछ अंशों में अभाव) सदैव मौजूद रहता है। किन्तु समाजशास्त्र में पूर्ण सामाजिक संगठन में केवल कुछ अंशों के विघटन का

सामाजिक विघटन नहीं कहते हैं। सामाजिक विघटन भी एक सापेक्षिक विचार है। किसी समाज को विघटित तब कहेंगे जब उसकी व्यवस्था बनाए रखने वाली शक्तियों के सन्तुलन में परिवर्तन आने से सामाजिक संरचना भंग (छिन्न विच्छिन्न) हो जाती है जिससे परम्परात्मक व्यवहार प्रतिमान अपर्याप्त सिद्ध होते हैं और सामाजिक नियन्त्रण के स्वीकृत स्वरूप प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर पाते हैं।[1] समाज गत्यात्मक है। परिवर्तनशीलता उसकी प्रकृति है। इसलिए समाज के संघटक तत्वों में निरन्तर पुनर्प्रबन्ध होता रहता है। इन पुनर्प्रबन्धों से सामाजिक परिवर्तन होता है जिससे संस्थाओं के सम्बन्धों और व्यवहार प्रतिमानों में जो पहले सामाजिक संरचना के अभिन्न भाग थे विच्छिन्नता आ जाती है। जब परिवर्तन की गति तीव्र होती है तो विच्छिन्न प्रतिमानों के स्थान पर नए प्रतिमानों की स्थापना होना कठिन हो जाता है। फलत सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसमें एक समूह के सदस्यों के बीच के परस्पर मनोगत्यात्मक सम्बन्ध भंग हो जाते हैं और उनके स्थान पर ऐसे सम्बन्ध बनते हैं जिनसे निराशा इच्छाओं का दमन चिन्ता और दुःख उत्पन्न होते हैं। इसलिये इस प्रक्रिया को समूह के विच्छेद की प्रक्रिया कहना उपयुक्त होगा। परिवार समुदाय (ग्राम या नगर) राष्ट्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विच्छेद ही सामाजिक विघटन है। अनेक व्यक्ति का सम्बन्ध अनेक समूहों से रहता है। जब एक या दो समूहों का विच्छेद हो जाता है तो व्यक्ति को अपने जीवन में उन समूहों के प्रतिमानों का विघटन भोगना पड़ता है किन्तु दूसरे समूहों में उसकी सार्थक निरन्तरता बनी रहती है। परन्तु यहाँ स्मरण रखने की विशेष बात यह है कि प्रत्येक सामाजिक घटना जिसे हम अनिष्ट कहते हैं सामाजिक विघटन नहीं है। सभी सामाजिक दोषों अनैतिक और असाधारण घटनाओं अथवा तथ्यों के लिए सामाजिक विघटन का प्रयोग करना अनुपयुक्त है। हम आगबर्न और निमकॉफ के इस कथन से सहमत हैं सामाजिक विघटन वह दशा है जिसमें या तो सामाजिक संरचना भंग हो जाती है अथवा सफलता से कार्य नहीं कर सकता है। सामाजिक विघटन का अर्थ किसी सामाजिक इकाई जैसे समूह संस्था या समुदाय के कार्यों का विच्छेद है।[2] अर्थात् किसी समूह या संस्था के विभिन्न भागों के सामंजस्यपूर्ण समायोजन का अन्त और उसकी साधारण क्रिया का विच्छेद ही सामाजिक विघटन है।

---

1 Social disorganisation occurs when there is a change in the equilibrium of forces a breakdown of the social structure so that former patterns no longer apply and the accepted forms of social control no longer function effectively Elliott and Merrill op cit p 20
Fairchild's Dictionary of Sociology defines this concept as follows — "Social disorganization is the derangement and malfunctioning of established group behaviour patterns institutions or controls" p 280

2. Social disorganisation refers to the disruption of the function of some social unit such as a group an institution or a community *A Handbook of Sociology* p 600 (Summary)

सामाजिक विगठन भी एक सापेक्षिक विचार है। इसे सामाजिक सगठन के प्रसग म ही समझा जा सकता है। जसे कोई समाज पूण सगठित नहीं होता है उसी प्रकार कोई समाज पूण विगठित नहीं होता है। विभिन्न समाजो म भिन्न भिन्न अश का विगठन रहता है।

प्रत्येक समाज मे सगठन, विगठन और पुनगठन की प्रक्रिया निरन्तर कायशील रहती है। समाज (या सस्था) का स्थायित्व विगठन और पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओ का एक गत्यात्मक सन्तुलन है।

सरल समाजो म सामाजिक नियन्त्रण अधिक प्रभावपूण होता है और परिवतन की वाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियाँ भी कम क्रियाशील होती है इसलिए उनम अपेक्षाकृत अधिक सगठन (या अपेक्षाकृत कम विगठन) है। परन्तु आधुनिक जटिल समाजो म परिवतन बहुत वेग स होता है और सामाजिक नियन्त्रण भी शिथिल पड जाता है इसलिए इनम अपेक्षाकृत अधिक विगठन होता है। निरन्तर क्रमय परिवतन होने के कारण इन समाजो म जब तक एक विगठित क्षेत्र म पुन व्यवस्था कायम नही हो पाती तब तक नई परिस्थितियाँ दूसरे क्षेत्रो म विगठन उत्पन्न कर देती हैं। दूसर विभिन्न क्षेत्रो म परिवतन की असमान गति होने के कारण सार समाज म अनिश्चितता और अव्यवस्था तथा गडबडी उत्पन्न होती हैं। इसस समूह का एकीकरण छिन्न भिन्न हो जाता है। अत आधुनिक गत्यात्मक समाजो म विगठन की उपस्थिति उनका एक साधारण लक्षण है। विगठन के तत्व स्वय गत्यात्मक समाज के भीतर होते हैं। वही तत्व जो सामाजिक सरचना म गत्यात्मकता लाते हैं, उनके विगठन के कारण बन जाते हैं।[1]

सामाजिक विगठन की प्रकृति

सामाजिक सगठन का अभाव सामाजिक विगठन है। सामाजिक सगठन की दशा की विपरीत दशा को ही सामाजिक विगठन कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक विगठन होने पर सामाजिक सरचना की दशा म परिवतन आते हैं (१) भूमिकाओ और प्रस्थितियो की अनिश्चितता और (२) एकमतता का अभाव।[2]

(१) भूमिकाओं और प्रस्थितियों की अनिश्चितता—गत्यात्मक समाज म सामाजिक सरचना के विभिन्न तत्वो म तीव्र परिवतन होता रहता है। प्रस्थितियो और भूमिकाओ की अनिश्चितता बढ जाती है और अधिकाश लोगो को ऐसी स्थितियो का सामना करना पडता है जिनमें पूव-स्थापित प्रतिमानो के अनुसार व्यवहार नही किया जा सकता है। समाज के सम्बन्धो म इतना क्रमय परिवतन होता है कि नए पयप्त प्रतिमानो की स्थापना भी नहीं हो सकती है। अत व्यक्ति को अपनी प्रस्थि

1 Elliot and Merrill op cit p 22
2. Ibid pp 22 25

स्थितियों और भूमिकाओं से चिपके रहना बिल्कुल साधारण बात हो जाती है। यदि वे नई भूमिकाओं को अभिनीत करने का प्रयास करते हैं तो उनमें साधारण मनुष्य बहुधा असफल रहता है और कई बार ये नई भूमिकाएँ समाज के लिए संकटमय होती हैं। इससे प्रस्थिति और भूमिका के बारे में अति अनिश्चितता और द्विविधा उत्पन्न हो जाते हैं जिनका परिणाम सामाजिक विघटन होता है।

विघटित समाज की पहली विशेषता है कि सामाजिक भूमिकाओं की अपेक्षाओं को अधिकांश व्यक्ति पूरा नहीं कर पाते हैं। सामाजिक जीवन में उनके सम्मुख ऐसे प्रतिमान प्रस्तुत किए जाते हैं जिनको यथार्थ में प्राप्त करना असम्भव-सा होता है। उनकी महत्वाकांक्षा को निरन्तर उत्पन्न किया जाता है। उन्हें यह आश्वासन दिया जाता है कि वह समाज में उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है, वह राष्ट्रपति बन सकता है, देश का सबसे प्रतिष्ठित लेखक बन सकता है अथवा प्रख्यात इंजीनियर, प्रोफेसर, डाक्टर आदि और जीवन में सब प्रकार की सुख-समृद्धि उसके चरणों पर लोट सकती है। किन्तु इन सभी भूमिकाओं में अत्यल्प व्यक्ति ही पहुँच सकते हैं। परिस्थितियाँ केवल कुछ लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं और बहुधा जब व्यक्ति इनमें से किसी भूमिका को अभिनीत करने की तैयारी करता है तो वह रूढ़ियों और कानूनों की अवहेलना करता पाया जाता है। क्योंकि उच्चतम आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह जब कठिन होकर चोरी, धोखाधड़ी, और अन्य अवैध और समाज विरोधी कार्य कर बैठता है। यदि ऐसे अवैध और समाज विरोधी कृत्यों की वृद्धि हो जाती है तो समाज निश्चय ही विघटित हो जायगा।

स्थिर और सरल अथवा अविकसित समाजों में प्रस्थिति और भूमिका का निश्चय प्रथा से होता है। यहाँ व्यक्ति को समूह द्वारा स्वीकृत प्रतिमान के विरुद्ध आचरण करने का कोई अवसर ही नहीं मिलता है। व्यक्ति की प्रस्थिति समाज द्वारा निर्धारित प्रदत्त होती है, वह उसके उपयुक्त ही व्यवहार करता है और बाल्यकाल से प्रौढ़ता तक उसका व्यवहार अपने पूर्वजों जैसा ही रहा है। परन्तु आधुनिक जटिल समाजों में बहुमुखी परिवर्तन ने हमारे समाज के पुराने प्रतिमानों को तोड़ दिया है। हमारे जीवन की समस्त स्थितियाँ और तरीके हमारे पूर्वजों से भिन्न हैं। हमारे पेशे, रहन-सहन के ढंग, सामाजिक सम्बन्ध आदि सभी तो नवीन हैं। फिर भला पुरानी भूमिकाओं से नई स्थितियों के उपयुक्त सफल आचरण कैसे कर सकें? हम यह चाहने पर भी कि पुराने सम्मानित प्रतिमानों के अनुकूल आचरण हो ऐसा नहीं कर पाते हैं क्योंकि हमारी स्थितियाँ हमें पुरानी प्रस्थितियों और भूमिकाओं के अनुकूल आचरण नहीं करने देतीं। ये अनचाही स्थितियाँ सामाजिक संरचना को विघटित करती हैं। परस्पर विषम भूमिकाएँ अभिनीत करने में जो व्यक्ति को अपमान, पराजय और असुरक्षा का सामना करना पड़ता है।

विगठित समाज के परम्परागत आदर्शों और मूल्यों के अनुकूल आचरण करना अधिकांश व्यक्तियों के लिए असम्भव होता है परन्तु फिर भी वे उनका उल्लंघन नहीं करते। किन्तु कुछ थोड़े से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जान या अज्ञान में उनका उल्लंघन करते हैं और इस प्रकार अवैध व्यवहार करते हैं। अन्य लोगों की भाँति वे इस बात से समायोजन नहीं कर पाते कि समाज द्वारा आश्वासित ऊँची प्रस्थितियों को प्राप्त करने में वे असमर्थ हैं। वास्तव में गत्यात्मक समाज में प्राप्त प्रस्थितियों की अपेक्षा उपलब्ध प्रस्थितियों की संख्या बहुत अधिक होती है। सैद्धान्तिक रूप से ऐसे समाज में गतिशीलता बहुत अधिक होती है। किन्तु व्यवहार में केवल कुछ भाग्यशाली और समर्थ लोग होते हैं जो अपनी नीची प्रस्थितियों से निकल कर उच्च प्रस्थितियों को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए ऊँची प्रस्थितियों को प्राप्त करने में प्रयत्न में विफलता, मानसिक पराजय तथा अपव्यय बहुत अधिक होता है। तब वैयक्तिक विगठन ही अधिकतया अवश्यम्भावी परिणाम है।

(२) एकमतता का अभाव—प्रस्थिति और भूमिकाओं की अनिश्चितता और सामाजिक अपेक्षाओं तथा व्यक्ति की उपलब्धियों में निराशाजनक अन्तर समाज के विभिन्न तत्वों के उद्देश्यों, लक्ष्यों और कार्यों की एकमतता को भंग कर देता है। लगातार बदलती हुई परिस्थितियों में व्यक्ति की अपनी परम्परागत प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं की अनिश्चितता आ जाती है उसे दूसरों की प्रस्थिति और भूमिका का भी निश्चित ज्ञान नहीं रहता है। यह स्थिति सामाजिक सम्बन्धों में अनिश्चितता और विशृङ्खलता लाती है। फलतः लोगों में सहयोग और सामाजिकता की भावना के स्थान पर प्रतियोगिता और व्यक्तिवाद की भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं। समाज की विभिन्न इकाइयों के प्रयोजनों, लक्ष्यों और कार्यक्रमों में एकमतता का अभाव समाज की एकता और सुदृढ़ता का विच्छिन्न कर देता है और सामूहिक जीवन की कार्यकुशलता अत्यधिक शिथिल पड़ जाती है। संघटक तत्वों के व्यक्तिगत प्रयोजन व्यापक के प्रयोजनों को चुनौती देते हैं और बहुधा उन पर अपनी प्रबलता स्थापित करते हैं।

सामाजिक विगठन के कारण

समाजशास्त्र में आज से बहुत पहले ही निर्धारणवादी सिद्धान्तों का बहिष्कार हो गया है। अब यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक सामाजिक घटना के अनेक कारण होते हैं। सामाजिक विगठन के भी अनेक कारण होते हैं। इसलिए सामाजिक विगठन का इस दृष्टिकोण से विश्लेषण करने वाले सिद्धान्त-बहुकारणवादी सिद्धान्त ही पर्याप्त कहे जा सकते हैं। इलियट और मेरिल ने सामाजिक विगठन के आधारभूत कारणों की व्याख्या करते हुए उन सामाजिक प्रक्रियाओं पर बल दिया है जो सामाजिक विगठन को उत्पन्न करती हैं। अन्य लेखकों (गाथाकमल मुखर्जी, गिलिन ...न और ओगबर्न) ने भी पूर्णाधिक रूप से इसी दृष्टिकोण का

अपनाया है। हम इस विषय का विश्लेषण उन दशाओं और प्रक्रियाओं की विवेचना से करेंगे जो मूलतः सामाजिक विगठन के लिए उत्तरदायी हैं —

(१) सांस्कृतिक विजातीयत्व और विषमताएँ—आधुनिक जटिल और विशाल समाजों में विजातीयत्व का अंश बहुत अधिक होता है। एक समाज में अनेक प्रकार के छोटे और बड़े समूह होते हैं जिनमें भाषा, संस्कृति, आर्थिक हितों और राजनैतिक हितों आदि की बड़ी भिन्नता होती है। एक समाज में अनेक सदस्यों के अवसर और उपलब्धियाँ समान नहीं होती हैं। एक समूह के भीतर भी सभी संस्थाएँ और समितियाँ एक दूसरे के प्रतिकूल हितों की सिद्धि के लिए कार्य करती हैं। इसलिए समग्र समाज अथवा उसके समूहों के उद्देश्यों आदर्शों और कार्यक्रमों में एकता का अभाव होता है। समाज के संघटकों में असामंजस्य होता है। प्रत्येक समूह और उपसमूह समाज की प्रचलित व्यवस्था में इच्छित परिवर्तन करना चाहता है। जब तक इच्छित परिवर्तन न हो जाए अथवा जब प्रयास विफल हो जाए तो उनके सदस्य निराश, अनिश्चित और असन्तुष्ट रहते हैं। उनके व्यवहार बहुधा समाज विरोधी होते हैं जो सामाजिक संरचना में गम्भीर असमायोजन उत्पन्न कर देते हैं। आर्थिक राजनैतिक धार्मिक और सांस्कृतिक संघर्षों का परिणाम भी सामाजिक विगठन होता है। धनी और निर्धनों पूँजीपतियों अथवा श्रमिकों अथवा सम्पन्न किसानों और भूमिहीन मजदूरों के आर्थिक संघर्ष समाज के सामंजस्य और व्यवस्था के लिए बड़े खतरनाक होते हैं। राजनैतिक दलों के बीच के अवांछित संघर्ष दो धार्मिक सम्प्रदायों का खुला संघर्ष और उन्नत तथा अवनत संस्कृतियों का संघर्ष समाज की एकता को भंग कर देता है। वास्तव में विभिन्न समूहों की संस्कृतियों में भिन्नता कई बार लोगों में दूसरी संस्कृति के लोगों के जीवन आदर्शों और मूल्यों के प्रति प्रकट अथवा अप्रकट वैमनस्य, घृणा एवं असहिष्णुता होती है और जब कभी इसकी विस्फोटक स्थिति आ जाती है समाज का विगठन होना अवश्यम्भावी है। भारत में १९४७ ई० के हिन्दू मुस्लिम दंगे राज्य पुनर्गठन के प्रश्न पर भाषाई विवाद और दक्षिणी अफ्रीका और अमरीका में श्वेत लोगों तथा नीग्रो के प्रजातीय संघर्ष सभी सांस्कृतिक संघर्ष के परिणाम कहे जा सकते हैं। हमारे देश में सवर्णों तथा अछूतों और विभिन्न जातियों के सम्प्रदायवादी संघर्ष भी ऐसे ही उदाहरण हैं। अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि समाज में सांस्कृतिक विजातीयत्व होगा। उसमें सामाजिक विगठन के अपेक्षाकृत अधिक अवसर आएँगे यदि इस विजातीयत्व को स्थान में सामंजस्य और एकता के प्रयत्न असफल होते हैं। ऐसे समाजों में आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक विषमताओं का निराकरण करने पर ही सकारात्मक एकीकरण चालित हो सकता है।

(२) वेगमय सामाजिक परिवर्तन—सामाजिक विगठन को उत्पन्न करने वाली दूसरी दशा वेगमय सामाजिक परिवर्तन है। आधुनिक उन्नत समाजों में परिवर्तन बहुत अधिक वेग से होते हैं। सामाजिक संरचना का पार्थिव आधार (material bas…)

सामाजिक विघटन के अन्य प्रमुख स्वरूपों की जानकारी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विघटनों का सर्वेक्षण कर देने से ही हो सकती है। सामाजिक विघटन के महत्वपूर्ण क्षेत्र ये हैं : परिवार, समुदाय, संस्थाएँ, समूह तथा समितियाँ। समुदाय के अन्तर्गत जातियों (और प्रजातियों), वर्गों, आर्थिक संघों, राजनैतिक दलों धार्मिक समुदायों आदि में सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जो विघटन होता है उसे सामाजिक विघटन कहा जाता है।

प्रत्येक क्षेत्र में विघटन के कई स्वरूप होते हैं। परिवार में तलाक, परित्याग, दरिद्रता, बेकारी और आत्महत्या तथा वैयक्तिक विघटन के विभिन्न स्वरूप। सामुदायिक क्षेत्र में प्रजातिक संघर्ष, जातीय-संघर्ष, साम्प्रदायिक झगड़े दंगे, सांस्कृतिक संघर्ष, बेकारी, दरिद्रता, वेश्यावृत्ति, वर्ग संघर्ष और भ्रष्टाचार आदि। इसी प्रकार, बेकारी, पूँजीपति और श्रमिक संघर्ष, और आर्थिक संकट और दरिद्रता आर्थिक क्षेत्र में विघटन के उदाहरण हैं। राजनैतिक क्षेत्र के अन्तर्गत विघटन के प्रमुख रूप हैं राजनैतिक दलों का परस्पर संघर्ष, भ्रष्टाचार, न्याय का हनन और सामाजिक आर्थिक शोषण तथा भ्रष्टाचार का प्रोत्साहन। सांस्कृतिक क्षेत्र में कला की उद्देश्यहीनता, व्यावसायिक मनोरंजन का पतन, शिक्षा की निरुद्देश्य और अव्यवस्थित होना, बौद्धिक भ्रष्टाचार तथा अनुशासनहीनता आदि और धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक अल्पसंख्यकों पर अत्याचार, तीर्थ स्थानों धर्म-स्थानों तथा पुजारियों में अनैतिकता और व्यभिचार आदि सामाजिक विघटन के स्वरूप माने जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शीत युद्ध, महायुद्ध, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को प्रमुख स्वरूप कह सकते हैं।

यदि हम विचार कर देखें तो समस्त सामाजिक विघटन को निम्नलिखित प्रधान प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं : सामाजिक (पारिवारिक, सामुदायिक, संस्थागत) आर्थिक राजनैतिक धार्मिक और सांस्कृतिक।

ऊपर हमने सामाजिक विघटन के कितने ही स्वरूपों का वर्णन किया है। इससे शायद पाठकों को यह भ्रम हो जाए कि सामाजिक जीवन में किसी भी पहलू में जो भी असम्बन्ध और अनैतिक या अवांछित है वह सब सामाजिक विघटन के अन्तर्गत आता है। परन्तु ऐसी धारणा बनाना गलती है। साधारण सामाजिक जीवन में अनेक ऐसी घटनाएं या क्रियायें होती हैं जिन्हें हम अनैतिक या कुत्सित और अवांछित कह सकते हैं किन्तु वे अल्पस्थायी होती हैं और सामान्य ढंग से स्वयं मिट जाती हैं। अतएव प्रत्येक अनिष्ट क्रिया या घटना को सामाजिक विघटन नहीं कहते। सामाजिक विघटन का स्वरूप वे क्रियायें और घटनायें हो सकती हैं जो दीर्घकालीन हैं तथा जिनके परिणाम में समाज की व्यवस्था की सुरक्षा और स्थिरता के लिए निश्चित खतरा उत्पन्न हो गया है। यदि समूह या संस्था के सामाजिक सम्बन्धों का पूर्व स्थापित प्रतिमान भंग हो जाए और उसके स्थान पर कोई नया और मूर्त प्रतिमान न स्थापित हो पाए तो समूह या संस्था विघटित हो जाएगी।

समूह का विच्छेद सामाजिक विघटन है और इसकी अनेक शाखाएँ हैं और अनेक स्वरूप। सामाजिक विघटन एक जटिल प्रक्रिया है।

सामाजिक विघटन की माप

इलियट और मेरिल के विचार से सामाजिक विघटन के निर्देश[1] सामाजिक विघटन की माप का एक सरल उपाय है। पारिवारिक विघटन का निर्देश तलाक या परित्याग, आर्थिक विघटन के निर्देश, भिखमंगों की संख्या, बेकारी, औद्योगिक संघर्ष, वैयक्तिक विघटन के निर्देश बाल और प्रौढ़ अपराध, पागलपन, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या आदि कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार से राजनैतिक और सांस्कृतिक विघटन के भी कुछ निर्देश हैं। इन निर्देशों की एक विशिष्ट समाज में व्यापकता व सापेक्षिक प्रभाव का बहुत-कुछ विश्वासी संकेत माना जा सकता है। यदि उस समाज में इन निर्देशों के अतिरिक्त पाप, राजनैतिक भ्रष्टाचार, अपराध और सांस्कृतिक संघर्ष भी विद्यमान हैं तो उसके विघटित होने में किसी प्रकार की शंका ही नहीं है। सामाजिक विघटन के ये निर्देश साधारणतया सभी समाजों में न्यूनाधिक अंश में मिलते हैं। इसलिए उनमें सामाजिक विघटन का कितना अंश या विस्तार है यह कुछ प्रमुख सामान्य निर्देशों की दर या विस्तार की तुलना करके निर्धारित हो सकता है।

बोगार्डस के विचार में सामाजिक विघटन की माप एक समाज के सदस्यों और समूहों के बीच की सामाजिक दूरी के आधार पर की जा सकती है। जिस समाज में सामाजिक दूरी लोगों की अपेक्षा अधिक होगी वह उन सबकी अपेक्षा अधिक विघटित होगा।

एक अन्य समाजशास्त्री ने सामाजिक विघटन के इन मापकों का आधार निम्नांकित निर्देशों को बताया है

(१) सम्मिलन का अंश

(२) समूह या संस्था के सदस्यों और कर्मचारियों में बेचैनी या गड़बड़ी की दशा तथा

(३) पदोन्नति का अंश तथा प्रवृत्तियों का प्रवेश।

परन्तु गिलिन और गिलिन उपर्युक्त निर्देशों की अधिक उपयोगिता नहीं समझते हैं। उनके विचार से ये सभी संकेत मुख्य स्थितियों की उत्पत्ति हैं और यह भी सिर्फ एक मान्यता है कि ये सामाजिक विघटन के संकेत हैं। समाज में व्यक्ति, समूहों और संस्थाओं का पृथक् अस्तित्व नहीं है। समाज के किसी भी भाग में विघटन का तथाकथित निर्देश कई घटनाओं का निर्देश हो सकते हैं। अतएव, बेकारी, कुप्रभाव, रोग, तलाक, गतिशीलता, अशिक्षा तथा बीमारी सभी एक विघटित समाज के विभिन्न

---

1 एक निर्देश वह अपेक्षाकृत सरल घटना है जो एक जटिल घटना की उपस्थिति का संकेत देती है।

पहलुओं के निर्देश हैं। उदाहरणार्थ, अपराध व्यक्ति, समूह और समुदाय सभी के विगठन का सकते हैं।[1]

सामाजिक विगठन एक अपर्याप्त धारणा

समाज में विगठन उत्पन्न करने वाली प्रधान प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन है। गत्यात्मक समाजों में परिवर्तन निरन्तर और अधिक वेगमय है। इसमें जो नई सामाजिक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें लोगों को नई भूमिकाएँ अभिनीत करनी पड़ती हैं। पुरानी भूमिकाएँ मिटती जाती हैं। नई प्रस्थितियों और भूमिकाओं के अनुकूल व्यवहार करने में सभी को कठिनाई होती है और इसलिए बहुधा हम नई दशाओं को अवांछित और 'असाधारण' कहते हैं। परन्तु यदि नई दशाओं से उपयुक्त समायोजन करने में कठिनता हो अथवा विभिन्न मूल्यनाओं के कारण सामाजिक सम्बन्धों में भी न्यूनाधिक विशृङ्खलता आ जाए तो क्या इन दशाओं को सामाजिक विगठन कहना वैज्ञानिक होगा? हम सब भली भाँति जानते हैं कि मनुष्य के संसार में परिवर्तन से अस्थायी अपसमायोजन और दुःखमयी कठिनाइयाँ सदैव आया ही करती हैं परन्तु इनसे समायोजन करने के प्रयत्न भी निरन्तर होते रहते हैं और उनमें ज्ञान विज्ञान की प्रगति से क्रमशः अधिकाधिक सफलता भी मिलती है। फिर, अस्थायी 'अनिष्ट' दशाओं को सामाजिक विगठन मानना कहाँ तक वैज्ञानिक है? बहुत सम्भव है कि जिन दशाओं को हम सामाजिक विगठन कहते हैं वे भविष्य में सामाजिक वृद्धि के लिए नया सामाजिक संगठन मात्र हों।

अनेक आधुनिक समाज शास्त्री 'सामाजिक विगठन' की धारणा को अधिक वैज्ञानिक एवं उपयोगी नहीं मानते हैं।[2] उनके विचार से अस्थायी (अथवा दीर्घ कालिक) कष्टमयी सामाजिक दशाओं को सामाजिक समस्याएँ कहना चाहिए। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इन समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना अधिक लाभप्रद होगा। हम इस विचार से सहमत हैं।

सामाजिक समस्याएँ

हमारे देश में आज निर्धनता बेकारी भिक्षावृत्ति वेश्यावृत्ति अपराध नशाखोरी, जनसंख्याधिक्य राष्ट्रीय नैतिक पतन, अनुशासनहीनता अज्ञानता, रोग साम्प्रदायिकता अस्पृश्यता आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं। अन्य तो सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की आन्तरिक समस्याएँ हैं जैसे आर्थिक क्षेत्र में मिलों और मजदूरों की समस्या अथवा राजनैतिक क्षेत्र में व्यापारी और सरकारी वर्ग के सम्बन्ध और राष्ट्रीय भाषा की समस्याएँ। किन्तु समाजशास्त्र में उन सबको सामाजिक समस्याएँ नहीं कहते हैं। निर्धनता बेकारी, आर्थिक संकट भ्रष्टाचार व्यापारी मनोरंजन,

---

1. Gillin & Gillin *Cultural Sociology* p. 745
2. J. F. Cuber *Sociology* p. 579

युद्ध, धार्मिक संघर्ष और राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि ऐसी समस्याएँ हैं जिनकी उपस्थिति से समुदाय या समाज के सामञ्जस्य, सुदृढ़ता और प्रगति को खतरा होता है इसलिए ये राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक समस्याएँ होते हुए भी सामाजिक हैं। अस्तु हम भारत की सामाजिक समस्याएँ उन दशाओं को कहेंगे जिनकी उपस्थिति से हमारे समाज के मूल्यों को निस्सन्देह खतरा उत्पन्न हो जाए और जिनमें रचनात्मक कार्यों से परिवर्तन करने की गुञ्जाइश सोची जा सकती है। सामाजिक समस्या सामाजिक प्रक्रियाओं अथवा संस्कृति का वह असमायोजन है जिसे सुधारने के लिए सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए। वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्यों अथवा समूहों के व्यवहार से उत्पन्न दशाएँ जो आधारभूत सामाजिक मूल्यों को चुनौती हैं तथा जिस चुनौती के प्रति सचेत होकर समाज के कष्टसम्पन्न लोग संगठित रचनात्मक कार्य करने की गुञ्जाइश सोचते हैं सामाजिक समस्याएँ कही जाएँगी। एक सामाजिक समस्या के तीन तत्व हो सकते हैं (अ) सामाजिक स्थिति, (आ) मूल्य निर्णय और (इ) उपयुक्त सामाजिक कार्य।[1] सामाजिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब गत्यात्मकता के कारण बहुत अधिक संख्या में लोग अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिकाओं में कार्य करने में असमर्थ होते हैं।

सामाजिक समस्याओं के निर्धारण में मूल्यों का केन्द्रीय स्थान है। मूल्यों के महत्त्व के आधार पर ही सामाजिक समस्याओं को कम या अधिक गम्भीर कहा जाता है। चूँकि मूल्यों का अभिन्न सम्बन्ध समाज और काल से है इसलिए समस्या की कम या अधिक गम्भीरता का निर्णय प्रत्येक समाज और समय के लिए समान रूप से नहीं हो सकता है। जनसंख्याधिक्य हमारे लिए अति गम्भीर समस्या है परन्तु आस्ट्रेलिया के लिए उतना नहीं है। सामाजिक समस्याओं के दो पहलू होते हैं विषयक और मानक। विषयक पहलू में उन दृश्य व्यवहारों का समावेश होता है जिनसे सामाजिक समस्या की उपस्थिति का ज्ञान होता है। इन व्यवहारों या स्थितियों की दार्शनिक परिभाषा सामाजिक समस्या का अन्तरंग पहलू है। अमुक सामाजिक स्थिति बुरी, गम्भीर और हानिकर है अथवा नहीं यह परिभाषा और निर्णय पर आश्रित है। बहुधा सभी समूह इस पर एकमत नहीं हो पाते कि अमुक सामाजिक स्थिति एक समस्या है।

सामाजिक समस्याओं पर जो समाजशास्त्रीय अध्ययन और अनुसन्धान हुआ है उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) सामाजिक समस्याओं में ऐसी सामाजिक दशाओं का समावेश किया जाता है जो प्रचलित मूल्यों की परिभाषा से समस्याएँ हैं फिर चाहे ने किस रूप से बाह्य के विस्तृत समस्याएँ न हों।

---

1 Merrill & Eldredge Culture and Society p 517

(२) प्रत्येक सामाजिक समस्या के अनेक कारण होते हैं।

(३) सामाजिक समस्याओं के समाधान के उपायों का प्रभाव अनेक दिशाओं में पड़ता है और प्रारम्भ में इसका पूर्वकथन करना असम्भव हो सकता है।

(४) सामाजिक परिवर्तन से समस्याओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समस्याएँ सामाजिक परिवर्तन का परिणाम होती हैं और दूसरी स्वयं सामाजिक परिवर्तन लाती हैं और सामाजिक समस्याओं के निराकरण से कुछ सामाजिक परिवर्तन भी होता है।

(५) सभी सामाजिक समस्याओं का समस्त समूह पर समान प्रभाव नहीं पड़ता है। कुछ समस्याएँ यथार्थ में वर्ग-समस्याएँ होती हैं परन्तु उन्हें सुलझाने के लिये साधारण समाज की समस्याएँ बना दिया जाता है।

(६) विभिन्न सामाजिक समस्याओं का आपस में सम्बन्ध होता है। वे बहुधा एक दूसरे की गम्भीरता बढ़ाती हैं और कभी कभी नई समस्याओं को भी उत्पन्न करती हैं।

(७) कुछ सामाजिक समस्याएँ सामाजिक नियन्त्रण (कानून) से भी उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि साधारणतया लाभकारी कानूनों के साथ कई बार अवांछित परिणाम भी प्रकट हो सकते हैं। नशानिरोध और वेश्यावृत्ति निरोध अधिनियमों में ऐसे अवांछित परिणामों की आशंका है।

(८) व्यक्तिगत रूप से मनुष्य सामाजिक समस्याओं के प्रभाव से बाहर नहीं रह पाता है। बहुधा ये हमको चारों ओर से घेर लेती हैं।

आधुनिक मनुष्य सामूहिक सामाजिक दशाओं के प्रति अति सवेदनशील है। इसलिये अनेक और अधिक गंभीर सामाजिक समस्याओं की उपस्थिति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया जाता है। समस्त आधुनिक मनुष्य वर्तमान समाज व राष्ट्र की दशा के प्रति अधिक जागरूक है। इसके दो कारण हो सकते हैं। हम जनतन्त्रीय विचारों के प्रभाव से अपने सामाजिक दायित्वों को अच्छी तरह समझते हैं और दूसरे सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण करने की शक्ति का हमें ज्ञान हो गया है। हम परिस्थितियों के दास बनने को तैयार नहीं हैं और यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण करने में समर्थ है।

आधुनिक सभ्य समाजों की अनेक गंभीर समस्याओं से चिन्तित होकर कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारा युग अतीत की तुलना में अधिक कष्टकर और इसलिए कम अच्छा है। बहुत लोगों को स्वर्णिम अतीत का स्वप्न दर्शन की प्राप्ति होती है। परन्तु यह कटु सत्य है कि अतीत चाहे जितना सुनहरा रहा हो वह फिर वापस नहीं लाया जा सकता है। हम वर्तमान से भविष्य की ओर जाते हैं न कि अतीत की

ओर। हमारा वर्तमान समाज केवल एक भिन्न प्रकार का समाज है। इसमें परिवर्तन बड़ा वेगमय है और हमारी व्यक्तिगत असुरक्षाएँ भी अधिक साधारण हैं जिनके कारण हम नये मूल्यों के अनुरूप सामूहिक जीवन के प्रति अधिक गत्यात्मक पद्धति से देखना पड़ता है। परन्तु इतने पर भी यह बहुत सम्भव है कि हमारा नया समाज अधिक सुखमय जीवन बिताने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करेगा। सामाजिक पुनर्निर्माण और पुनर्नियोजन के आयोजित प्रयत्न इस दिशा में आशा के सुदृढ़ स्तम्भ हैं।

सामाजिक पुनर्गठन

पिछले पन्नों में इस बात पर बल दिया गया है कि आधुनिक जटिल समाजों में तीव्र परिवर्तन होने के कारण उनमें अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये समस्याएँ समाज के संगठनों में पूर्व स्थापित समन्वय और सन्तुलन बिगाड़ देती हैं। सामाजिक संगठन में इस सन्तुलन को पुनः स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। कुछ सन्तुलन तो स्वतः मिट जाता है और शेष को मनुष्य के चेतनायुक्त प्रयत्नों से ठीक करना जरूरी हो जाता है। आदि काल से मनुष्य सामाजिक समस्याओं का जैसे-तैसे समाधान करता रहा है। वर्तमान ज्ञान विज्ञान के विकास से उसको वह शक्ति और साधन प्राप्त हो गए हैं जिनका व्यवहार उसकी जटिल समस्याओं के न्यूनाधिक समाधान में बहुत ही प्रभावी होता है।

सामाजिक समस्याओं की उपस्थिति से समाज में जहाँ-तहाँ विगाड़ आ जाते हैं। उनके सुधार के प्रयत्नों को सामाजिक सुधार कहते हैं। हमारे देश में १९वीं शताब्दी में जो समाज सुधार आन्दोलन चले उनका उद्देश्य गंभीर सामाजिक समस्याओं का यथेष्ट समाधान करना था। इनकी सफलता का ही परिणाम है कि राज्य ने समय-समय पर सतीप्रथा, बालविवाह, [illegible], अस्पृश्यता और वेश्यावृत्ति का प्रतिबंध पारित कर दिया है। बच्चों और स्त्रियों के कल्याण, हरिजनों तथा आदिवासियों के उत्थान, श्रमिकों के आर्थिक और सामाजिक कल्याण, अनाथ, रोगियों, अपराधियों आदि के पुनर्वास के लिये राज्य ने जो सामाजिक विधान बनाये हैं उनसे जनता द्वारा किये गये सुधार प्रयत्नों को बड़ा योग मिला है। किन्तु प्रकृति में ये समाजसुधार सामाजिक पुनर्गठन के बहुत सीमित प्रयत्न हैं। वर्तमान काल में समाज-कार्य ने समाज-सुधार को वैज्ञानिक और व्यवस्थित बनाने में विशेष सहायता दी है। परन्तु हमारे जटिल समाजों में एक साथ कई गंभीर समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। कुछ पुरानी समस्याएँ भी सर्वथा [illegible] में भयानक रूप धारण कर लेती हैं। इन समस्याओं का यथाशीघ्र और प्रभावपूर्ण समाधान करने में समाज-सुधार और समाज-सेवा के प्रयत्न बहुत अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। थोड़ी सी असावधानी और [illegible] से समाज की भारी हानि हो सकती है। जनता के बड़े भाग को सर्वथा कष्ट सहन पड़ सकते हैं और संकटापन्न स्थिति आ पहुँचती है जिससे समाज की स्थिरता, स्वतंत्रता और संस्कृति

ही स्तर में पड़ जाएँ। इसलिए गत्यात्मक समाजों में उत्पन्न असमायोजनों और गड़बड़ियों के निराकरण के लिये व्यापक कार्यक्रमों का बनाना अनिवार्य समझा जाने लगा है। इन कार्यक्रमों का निर्माण सुनिश्चित सामाजिक नीतियों के अनुकूल होता है और सामुदायिक स्तर पर निश्चित किए गए लक्ष्यों की यथाशीघ्र प्राप्ति के लिये राज्य, निजी कल्याणकारी संस्थाओं तथा सर्वसाधारण जनता के सक्रिय और स्वेच्छिक सहयोग से केन्द्रीय समन्वयकारी नेतृत्व में उन कार्यक्रमों के परिपालन में जुटना पड़ता है। इन कार्यक्रमों की प्रगति और सफलता से समाज के पुनर्निर्माण अथवा पुनर्गठन की आशा की जाती है। अतएव सामाजिक पुनर्निर्माण में एक व्यापक और आयोजित कार्यक्रमों तथा विधियों का समावेश होता है जो समाज की कमजोरियों, अपर्याप्तताओं, अभावों और असमायोजनों का निराकरण कर एक शुद्ध सशक्त और यथासम्भव सन्तुलित समाज की स्थापना के लक्ष्य से राज्य जनता और कल्याणकारी संस्थाओं के सक्रिय सहयोग से संचालित हो। यद्यपि सामाजिक पुनर्निर्माण के लक्ष्य की प्राप्ति दीर्घकाल में ही हो सकती है फिर भी यह सामाजिक प्रक्रिया के रूप में तभी प्रारम्भ हो जाता है जब समाज में वांछित परिवर्तन करने के लिये चेतना-युक्त व्यापक प्रयत्न प्रारम्भ किए जाएँ।

सामाजिक पुनर्निर्माण शान्तिमय वैधानिक और विकासवादी उपायों से हो सकता है और हिंसात्मक उग्र और क्रान्तिकारी उपायों से भी। सहज ढंग से जनता को समय की माँग के प्रति जागरूक कर हृदय और विचार परिवर्तन की स्वतन्त्रता देकर समाज के पुनर्निर्माण में सक्रिय स्वेच्छिक सहयोग देने का आग्रह किया जाता है। दूसरे कानूनों और अन्य उपायों से जनसाधारण को राज्य सम्पन्न कार्यों में सहयोग करने को अनुनय आग्रह और दबाव से तैयार किया जाता है। इसमें विरोध और राजनीतियों के विपरीत प्रयत्नों को सर्वथा कुचल दिया जाता है। रूस में १९१७ ई० की क्रान्ति सामाजिक पुनर्निर्माण का दूसरा रूप था। पूर्वी यूरोप और उसके इण्डोचीन उत्तरी कोरिया आदि साम्यवादी देशों में उग्र क्रान्तिकारी ढंग से समाज का पुनर्निर्माण सर्वोत्तम ढंग माना जाता है क्योंकि उनके विचार से यह तरीका वर्गगत हितों, स्वार्थियों और समाज विरोधी तत्त्वों को सफलता से कुचल सकता है। यहाँ राज्य सर्वेसर्वा है और समाज के समस्त हितों का रक्षक माना जाता है। भारत, ब्रह्मा, लंका, मिस्र आदि एशियाई देशों तथा पश्चिमी यूरोप के समाजवादी देशों में समाज पुनर्निर्माण के लिए अहिंसात्मक वैधानिक और विकासवादी ढंग को सर्वोत्तम कहा जाता है। इनका विश्वास है कि वैधानिक और विकासवादी उपायों से समाज की दुर्बलताओं और समस्याओं का स्थायी समाधान हो सकता। किसी वर्ग का दमन और बलात् लादी गयी व्यवस्था के आधार में असन्तोष और प्रतिशोध भावना को दबा छोड़ सकते हैं। इन देशों में राष्ट्रीय समाजवाद अथवा

सर्वोदय (भारत) की स्थापना के लिए केन्द्रीय सञ्चालन और निर्देशन से समग्र आयोजना चल रही है। भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ इस दिशा में सबल साहसिक प्रयास हैं। साम्यवादी देशों में भी समग्र आयोजना लागू की जाती है। वास्तव में ये देश इस बात में समाज के अग्रगामी हैं। अभी तक प्राप्त सूचना सामग्री के अनुसार यह कहा जा सकता है कि साम्यवादी देशों को पुनर्निर्माण में जितनी शीघ्र स्थायी और महत्वपूर्ण सफलताएँ मिली हैं उनकी तुलना में गैर साम्यवादी देश बहुत पीछे हैं परन्तु दोनों दलों के पुनर्निर्माण में मानवता के लिए अधिक कल्याणकारी मार्ग कौन होगा इसका निर्णय दस बीस वर्षों के बाद ही करना सम्भव होगा।

